शुक्लयजुर्वेद—माध्यन्दिनसंहिता

वेदार्थपारिजातभाष्यसमन्विता

भाष्यप्रणेतारः
अनन्तश्रीविभूषिताः स्वामिकरपात्रमहाराजाः

११—१५ अध्यायात्मको भागः

प्रकाशकः
श्रीराधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थानम्
कलकत्ता • वृंदावनम्

शुक्लयजुर्वेद-माध्यन्दिनसंहिता

वेदार्थपारिजातभाष्यसमन्विता

[११-१५ अध्यायात्मको भागः]

भाष्यप्रणेतारः

अनन्तश्रीविभूषिताः स्वामिकरपात्रमहाराजाः

सम्पादको भाष्यनिष्कर्षलेखकश्च

पं० व्रजवल्लभद्विवेदो दर्शनाचार्यः

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये

सांख्ययोगतन्त्रागमविभागाध्यक्षचर आचार्यश्च

प्रकाशकः

श्रीराधाकृष्णधानुका-प्रकाशनसंस्थानम्

कलकत्ता • वृन्दावन

श्रीवृन्दावनम्　　प्रथमसंस्करणम्　　संवत् २०४८

प्रकाशक—
श्रीराधाकृष्णधानुका-प्रकाशनसंस्थानम्
कलकत्ता · वृन्दावन

•

मूल्य : ११०.९० रूप्यकाणि

•

•

पुस्तकप्राप्तिस्थानम्—

१. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल्स लिमिटेड
नं० ४ लार्ड सिन्हा रोड, कलकत्ता—७०००७१

२. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
ब्रह्मकुटीर, डी० २५/१८ नारद घाट
वाराणसी (उ० प्र०)

३ श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
धर्मसंघ विद्यालय रमणरेती, वृन्दावन
मथुरा (उ० प्र०)

४. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल्स लिमिटेड
४०१/४०४ राहेजा सेन्टर
२१४, नारीमन पोइन्ट, बम्बई ४०००२१

५. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल्स लिमिटेड
ई० ४/२४, ईस्ट पटेल नगर
दिल्ली—८

मुद्रक—
केशव मुद्रणालय
खजुरी, वाराणसी

॥ श्रीहरिः ॥

प्रकाशकीय वक्तव्य

अनन्तश्रीविभूषित पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज द्वारा विरचित यजुर्वेदसंहिता के ११–१५ अध्यायों के भाष्य को मन्त्रार्थ और भाष्यनिष्कर्ष के साथ प्रकाशित करते हुए हमें बहुत हर्ष का अनुभव हो रहा है। इससे पूर्व प्रथम तीन अध्यायों का और चालीसवें अध्याय (ईशावास्योपनिषद्) का भाष्य अनुवाद सहित प्रकाशित हो चुका है, यह आप लोगों को विदित ही है।

प्रकाशन कार्य विस्तृत है। कई कठिनाइयों के कारण प्रकाशन का कार्य त्वरित गति से नहीं हो पा रहा था। अब चतुर्थ और पञ्चम अध्याय वाला भाग और छठे से दसवें अध्याय तक का भाग अलग-अलग प्रेसों में छप रहा है। इसी तरह से १५ से २० अध्याय का और २१ से २५ अध्याय का भाग भी प्रेसों में दे दिया गया है। प्रगति समुचित है। यथाशीघ्र आप लोगों को ये दोनों भाग प्राप्त हो सकेंगे। हम इस प्रयत्न में हैं कि विक्रम संवत् २०४८ के अन्त तक पूरा भाष्य विज्ञ पाठकों के करकमलों तक पहुँचा दिया जाय।

विदित हो, पूज्यपाद श्री स्वामीजी महाराज की अद्वितीय कृति देश के जिन सन्तों, विद्वानों, उच्च शिक्षाविदों और अधिकारियों के पास पहुँचती है, वे अत्यन्त प्रभावित होकर हम लोगों को शेष भाग शीघ्र प्रकाशित करने की सत्प्रेरणा प्रदान करते हैं।

भाष्यभूमिका के लेखक, अनुवादक, समय-समय पर उचित परामर्शदाता, प्रूफ पुनरीक्षक, प्रेसकापी साधक, अनुच्छेद (पैराग्राफ) के निर्धारक के रूप में और प्रकाशन सम्बन्धी सभी साज-सज्जा को तैयार कर इस अमूल्य ग्रन्थरत्न को सबके सम्मुख प्रस्तुत करने वालों के रूप में जिन-जिन महानुभावों ने अपनी अहैतुकी कृपा से इस कार्य को सम्पन्न किया है, उन सभी परम सम्माननीय, आत्मीय, पूज्य आचार्य, विद्वन्मूर्धन्यों के चरणकमलों में धन्यवाद और अभिनन्दनस्वरूप नतमस्तक होकर हम सदा ही कृपा की आशा रखते हैं। जिनके चरणों में धन्यवाद प्रस्तुत करते हैं, वे हैं—

(१) अनन्तश्री जगद्गुरु शङ्कराचार्य पुरी पीठाधीश्वर स्वामी निरञ्जनदेव तीर्थजी महाराज

(२) स्वामी श्री निश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज

(३) पण्डित श्री मार्कण्डेय ब्रह्मचारीजी

(४) पण्डित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदीजी

(५) पण्डित श्री जनार्दन पाण्डेयजी

(६) पण्डित श्री राजवंशी द्विवेदीजी

केशव मुद्रणालय के सुयोग्य प्रबन्धक तथा सहृदय कर्मचारियों के स्नेहपूर्ण सौजन्यभरे मुद्रणादि कार्यों के सम्पादन को स्मरण कर इन्हें बहुत धन्यवाद देते हैं।

वृन्दावन धाम
रामनवमी
२०४८ वि० सं०

निवेदक
हनुमानप्रसाद धानुका
अध्यक्ष
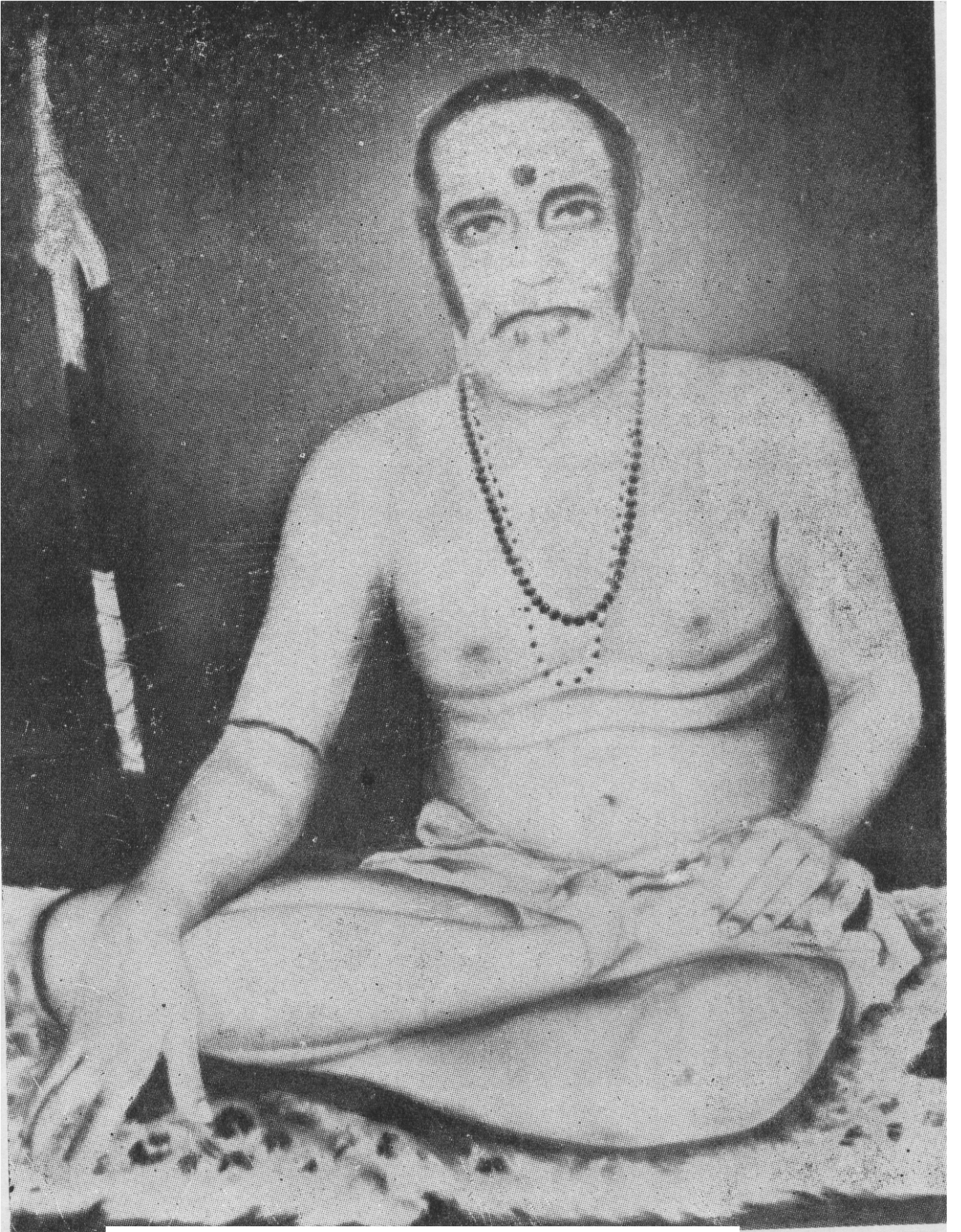
परब्रह्मस्वरूप
धर्मसम्राट् पूज्यपाद स्वामी श्री करपात्री जी महाराज

पंचाध्यायी (११-१५) भाष्यनिष्कर्ष

करपात्रमहाभागान् पुरीपीठाधिपांस्तथा ।
नमस्कृत्य विचारोऽयं प्रस्तुतो भाष्यसंश्रयः ॥

अनन्तश्रीविभूषित स्वामी करपात्री जी महाराज द्वारा रचित 'वेदार्थपारिजात' नामक ग्रन्थ का दो खण्डों में प्रकाशन हो चुका है । सायण की ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका की पद्धति से यह ग्रन्थ लिखा गया है । ९०८ पृष्ठों के इसके प्रथम खण्ड में नैयायिक, बौद्ध, जैन आदि प्राचीन दार्शनिकों के मतों के साथ स्वामी दयानन्द, पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु और पण्डित भगवद्दत्त जैसे आधुनिक आर्यसमाजी विद्वानों के वेदविषयक विचारों का खण्डन किया गया है और ९०९ से २२७४ पृष्ठों के द्वितीय खण्ड में बेवर, मैक्डानल जैसे पाश्चात्य वैदिक विद्वानों के सिद्धान्तों की समीक्षा के बाद स्वामी दयानन्द की ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में प्रतिपादित विषयों का और पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा पूर्वमीमांसा के शाबरभाष्य के भाष्यानुवाद में वर्णित मतवादों का अतिविस्तार से खण्डन किया गया है । यह विशाल ग्रन्थ एक प्रकार से स्वामीजी महाराज के यजुर्वेद भाष्य की भूमिका है । भाष्य का नाम भी उन्होंने 'वेदार्थपारिजात' ही रखा था ।

उक्त विशाल भूमिका के दो खण्डों के अतिरिक्त अब तक यजुर्वेद भाष्य के प्रथम और अन्तिम अध्याय तथा २-३ अध्याय भी प्रकाश में आ चुके हैं । इनमें मन्त्रार्थ के अतिरिक्त संक्षेप अथवा विस्तार से भाष्यसार भी दिया गया है । इसी पद्धति से चौथे-पाँचवें अध्याय वाले खण्ड का तथा ६-१० अध्यायों का भी अनुवाद और सम्पादन कार्य प्रायः पूरा हो गया है, किन्तु एक अथवा दूसरे कारणों से उसका मुद्रण अत्यन्त शिथिल गति से चल रहा है । इसी शिथिलता को देखते हुए दसवें अध्याय से आगे भाष्यसार देने की योजना को स्थगित कर दिया गया है । इसको इसलिये भी रोकना पड़ा है कि इसमें स्वामीजी महाराज के भाष्य के उत्कृष्टतम अंशों से हिन्दी पाठक पूरी तरह से परिचित नहीं हो पाते थे । अब पाँच-पाँच अध्याय के प्रत्येक खण्ड के साथ इस तरह की महत्त्वपूर्ण सामग्री को संकलित करने की योजना बनाई गई है, किन्तु प्रथम दस अध्यायों का मुद्रण अभी पूरा नहीं हो पाया है, अतः ११ से १५ अध्यायों के इस खण्ड में प्रथमतः इसके महत्त्वपूर्ण अंशों का निष्कर्ष याज्ञिक प्रक्रिया के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है । ४-५ अध्यायों वाले भाग का मुद्रण पूरा हो जाने पर प्रथम पाँच अध्यायों का तथा ६-१० अध्यायों वाले भाग में इनकी भी विशिष्ट सामग्री का याज्ञिक प्रक्रिया के साथ संक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न किया जायगा, ताँकि पूरी संहिता और उसके भाष्य का आस्वाद हिन्दी पाठक भी ले सकें ।

भाष्यरचना की सामान्य पद्धति

प्रस्तुत भाष्य की सामान्य विशेषता यह है कि यहाँ प्रारम्भ में कात्यायन श्रौतसूत्र और उसके भाष्य के आधार पर मन्त्रों का विनियोग बताया गया है और इस प्रसंग में आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण आदि के भी प्रमाण दिये गये हैं । इसके बाद कात्यायन की सर्वानुक्रमणी के आधार पर प्रत्येक मन्त्र के ऋषि, देवता और छन्द का निरूपण किया गया है । छन्दों के प्रसंग में पिंगल-छन्दःशास्त्र को भी आवश्यकता के अनुसार प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है । मन्त्रार्थ का निरूपण करते समय उव्वट, सायण और महीधर के भाष्य-वचनों को यथावसर उद्धृत किया गया है । स्तोम की आवृत्ति के प्रकार को जानने के लिये सामसूत्र का उल्लेख है । विशिष्ट वैदिक और लौकिक शब्दों की व्याख्या के प्रसंग में निघण्टु, निरुक्त और दुर्गाचार्य के निरुक्त-भाष्य के अतिरिक्त देवराज यज्वा और स्कन्द स्वामी के व्याख्यानों को भी प्रस्तुत किया गया है । अमरकोश, विश्वप्रकाश, मेदिनीकोश, कल्पद्रुम, अनेकार्थसंग्रह, हैमकोश जैसे कोश-ग्रन्थों को भी यहाँ यथावसर उद्धृत किया गया है ।

मन्त्रार्थ का निरूपण करने के बाद उस अर्थ की पुष्टि के लिये शतपथ ब्राह्मण को और उसके हरि स्वामी एवं सायण कृत भाष्यों को भी प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्रधानतः यहाँ माध्यन्दिन शाखा के ब्राह्मण को ही उद्धृत किया गया है, किन्तु इसकी पुष्टि के लिये कभी-कभी काण्व शाखा के शतपथ ब्राह्मण को भी प्रस्तुत किया गया है। शतपथ ब्राह्मण को हम इन शाखाओं का प्रथम भाष्य मान सकते हैं। यहाँ मन्त्रों का विनियोग भी बताया गया है और इसी के आधार पर कात्यायन श्रौतसूत्र की रचना हुई, ऐसा हम मान सकते हैं। उव्वट आदि के भाष्यों का भी प्रधान आधार शतपथ ब्राह्मण ही है।

इस प्रकार श्रुति-सूत्र-भाष्य सम्मत मन्त्रार्थ को दिखाने के बाद प्रायः प्रत्येक मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ भी दिखाया गया है और ऐसा करते समय विभिन्न उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता के अतिरिक्त वाल्मीकि रामायण, महाभारत, मनुस्मृति, भागवत महापुराण, अध्यात्म रामायण, भुशुण्डि रामायण, संक्षेपशारीरक, भक्तिरसायन जैसे महनीय ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य अनेक पुराणों के और आचार्य नरहरि के भी वचन प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

अन्त में स्वामी दयानन्द कृत मन्त्रार्थ की निःसारता को प्रबल युक्तियों के सहारे दिखाया गया है। प्रत्येक मन्त्र का भाष्य करते समय यहाँ प्रायः यही क्रम स्वीकार किया गया है। कहीं-कहीं इस क्रम में कुछ बदलाव देखने को मिलता है। जैसे कि कहीं-कहीं मन्त्र का आध्यात्मिक अथवा दयानन्दीय व्याख्यान नहीं दिया है अथवा उसको देने में विपर्यय कर दिया गया है। भाष्य का सम्पादन करते समय उस क्रम को ज्यों का त्यों रहने दिया गया है। हम यहाँ पूरे भाष्य को इन्हीं चार विभागों में बाँट कर प्रथमतः याज्ञिक प्रक्रिया के, ततः शतपथ ब्राह्मण के, तब आध्यात्मिक प्रक्रिया के और अन्ततः स्वामी दयानन्द के व्याख्यान की समालोचना के प्रसंग में आये विशेष अवधेय प्रसंगों के निष्कर्ष को क्रमशः प्रस्तुत कर रहे हैं।

अग्निचयन

जिस याग में विशेष विधान से इष्टकाओं (ईंटों) को जमाकर चिति बनाई जाती है, वह अग्निचयन याग है। इस याग में आहवनीय-स्थानीय उत्तरवेदि न बना कर तत्स्थानीय चिति बनाई जाती है। अग्निचयन के मन्त्र माध्यन्दिन संहिता के ११ से १८ अध्याय पर्यन्त उपलब्ध हैं, किन्तु इस अध्याय में ११-१५ अध्याय तक के विषयों का ही विवरण दिया जा रहा है। इन अध्यायों में क्रमशः उखा-संभरण, उखा-धारण और प्रथम से लेकर पंचम चिति तक के इष्टकोपधान के मन्त्र वर्णित हैं। प्रथम चिति के द्रष्टा प्रजापति, द्वितीय के देवगण, तृतीय के इन्द्राग्नी और विश्वकर्मा, चतुर्थ के ऋषिगण और पंचम चिति के द्रष्टा परमेष्ठी हैं। यतः प्रथम चिति के द्रष्टा प्रजापति हैं, अतः भाष्यकार ने प्रथमतः यहाँ शतपथ ब्राह्मण के षष्ठ काण्ड के प्रथम तीन अध्यायों में वर्णित प्रजापतिकृत शुष्क और आर्द्र मृत्तिका, सिकता, शर्करा, अश्म, लोह, सुवर्ण, ओषधि और वनस्पति की सृष्टि का वर्णन किया है। हम आगे देखेंगे कि ये पदार्थ चयन याग के मुख्य उपादान हैं। अग्नि पद से इस प्रकरण में इष्टकाओं से बनाये गये अग्नि के आधार स्थान [1]स्थण्डिल का

१. अमरकोश (२।७।१८) में यज्ञ के लिये परिष्कृत की गई भूमि के अर्थ में स्थण्डिल और चत्वर शब्द प्रयुक्त हैं। चत्वर चबूतरे को कहते हैं। 'सती माई का चौरा' यहाँ चौरा शब्द चत्वर के अर्थ में प्रयुक्त है। इस तरह से यज्ञ-याग आदि के लिये परिष्कृत की गई भूमि ही स्थण्डिल है। अभिनवगुप्त ने बाह्य पूजा के प्रसंग में मण्डल, स्थण्डिल, पट, अक्षसूत्र, पुस्तक, लिंग, तूर, पट, पुस्त, प्रतिमा और मूर्ति— इन ११ स्थानों का विधान बताया है (तन्त्रालोक, ६।२-४)। यहाँ जयरथ ने स्थण्डिल का अर्थ याग के लिये परिगृहीत भूप्रदेश, तूर का अर्थ पात्र आदि में उत्कीर्ण आधारविशेष, पुस्त का अर्थ लेप आदि से बनाई गई आकृति और मूर्ति का अर्थ गुरु आदि की आकृति किया है। स्पष्ट है कि प्रतिमा शब्द से यहाँ देवमूर्ति का तथा मूर्ति शब्द से गुरु आदि की प्रतिकृति का ग्रहण किया गया है। इन स्थानों में अपने इष्टदेव का अर्चन ही याग है। यज्ञ शब्द होम या हवन का वाचक है। इसमें प्रधानतया अग्नि में आहुति दी जाती है।

ग्रहण किया जाता है। चयन याग की प्रक्रिया को बताते हुए यहाँ संक्षेप में उखा-संभरण की विधि भी वर्णित है और प्रसंगवश बताया गया है कि यजुर्वेद में पठित छन्दोबद्ध ऋचाओं को [1]छत्रिन्याय से यजुःशब्द से ही अभिहित किया जाता है। हम यहाँ अध्याय विभाग से इन सभी विषयों का भाष्य की पद्धति से निरूपण करने जा रहे हैं।

एकादश अध्याय : उखा-सम्भरण

अग्नि को रखने के लिये मिट्टी की बनी मंजूषा को उखा कहते हैं। इसका विधिपूर्वक निर्माण ही उखा-सम्भरण शब्द से कहा जाता है। एकादश अध्याय में यह विधि मन्त्रों के साथ वर्णित है। जो व्यक्ति चयन याग करना चाहता है, वह पहले फाल्गुन कृष्ण प्रतिपदा के दिन पौर्णमासेष्टि करके पुरुष, अश्व, गाय, अवि (भेड़) और अज— इन पाँच पशुओं का आलभन कर उनके सिर पर घृत का लेप कर आगे बताई गई विधि से इसका प्रथम चिति पर उपधान करने के लिये किसी सुरक्षित स्थान में रख देता है। तब इनके धड़ों और यज्ञशेष सामग्री को तालाब के जल में छोड़ देता है। इसी तालाब से वह उखा और इष्टकाओं के निर्माण के लिये मिट्टी और जल भी ले लेता है। तब फाल्गुन कृष्ण अष्टमी के दिन उखा-सम्भरण किया जाता है। इसके लिये आहवनीयाग्नि और दक्षिणाग्नि की स्थापना कर आहवनीयाग्नि की पूर्व दिशा में पहले से बनाये हुए चतुष्कोण गर्त में तालाब से लाई मिट्टी का एक पिण्ड बनाकर रखा जाता है, इस मृत्पिण्ड और आहवनीयाग्नि के बीच में वल्मीक (बांबी) की मिट्टी रखी जाती है। आहवनीय स्थान से दक्षिण में अश्व, गर्दभ और अज के सिरों को पूर्वाभिमुख मूँज की रस्सी से बाँधकर रखा जाता है। आहवनीय स्थान से उत्तर दिशा में बाँस की बनी हुई दोनों तरफ से तीखी अभ्रि को स्थापित किया जाता है। यह अभ्रि सुवर्ण की बनी हुई भी हो सकती है। तब गार्हपत्य अग्नि में घृत का संस्कार कर जुहू और स्रुवा का संमार्जन कर स्रुवा में आठ बार घृत लेकर आहवनीय अग्नि में परिस्तरण और समिदाधान पूर्वक अध्वर्यु निरन्तर आहुतियाँ देता है। आहुति देते समय 'युञ्जानः' (११।१–८) इत्यादि आठ मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। इन मन्त्रों में सविता देवता की स्तुति की गई है। इन मन्त्रों का अर्थ यहाँ ग्रन्थ में ही दे दिया गया है। यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि जो मन्त्र जिस कार्य में विनियुक्त है, उस विधि के अनुष्ठान के समय उस मन्त्र का उच्चारण आवश्यक है। मन्त्र उस विधि का स्मारक माना जाता है। ऐसा करने से विधि में किसी प्रकार के विपर्यय की सम्भावना नहीं रह जाती।

प्रस्तुत अध्याय की प्रथम आठ कण्डिकाओं से सविता देवता के निमित्त आहुति समर्पित करने के बाद अध्वर्यु ९-१० कण्डिकाओं से बाँस या सुवर्ण की बनी अभ्रि को हाथ में लेता है और ११ वीं कण्डिका से उसे अभिमन्त्रित करता है। बाँस अथवा सोने से बनी दोनों तरफ से तीखी यह अभ्रि यज्ञीय कार्य के लिये गर्त (गड्ढा) के खनन में विनियुक्त है। इसके बाद की तीन (१२-१४) कण्डिकाओं से अध्वर्यु उस अभ्रि को हाथ में लिये हुए ही एक-एक कण्डिका का उच्चारण करता हुआ क्रमशः अश्व, गर्दभ और अज का तृण से स्पर्श करता है और आगे के दो (१५-१६) मन्त्रों से एक-एक कर इनका स्पर्श किये बिना ही हाथ से मारने का डर दिखा कर इनको पूर्व दिशा की ओर हाँक देता है।

---

१. ग्रीष्म अथवा वर्षा ऋतु में अनेक मनुष्य जब एक साथ चलते हैं, तो कुछ लोगों के हाथ में छतरी रहती है, कुछ बिना छाते के ही होते हैं। इन सबके लिये 'छत्रिणो यान्ति' यह औपचारिक प्रयोग किया जाता है। ठीक उसी तरह से यजुर्वेद में यजुर्मन्त्रों के साथ ऋचाएँ भी पठित हैं। यजुर्मन्त्रों के साथ पठित इन ऋचाओं को भी उसी पद्धति से 'यजुष्' शब्द से ही अभिहित किया जाता है।

इतना कार्य कर लेने के बाद [1]वल्मीकवपा, अर्थात् बाँबी के ऊपरी हिस्से की छिद्र वाली मिट्टी को लेकर, जिसे कि पहले से ही मृत्पिण्ड और आहवनीय स्थान के बीच में रखा हुआ है, उसके छिद्रों में से मृत्पिण्ड का निरीक्षण करता है। ऐसा करते समय 'अन्वग्नि' (११।१७) इत्यादि मन्त्र का उच्चारण किया जाता है। तब 'आगत्य' (११।१८) इत्यादि मन्त्र से अश्व का अभिमन्त्रण कर 'आक्रम्य' (११।१९) इत्यादि मन्त्र से मृत्पिण्ड के ऊपर अश्व के बायें पैर को रखा जाता है। तब 'द्यौस्ते' (११।२०) कण्डिका को पढ़ते हुए अध्वर्यु अपना दाहिना हाथ अश्व की पीठ पर रखता है। इस विधि को यहाँ उन्मर्शन[2] नाम दिया गया है। इसके बाद 'उत्क्राम' (११/२१) मन्त्र से उसको मृत्पिण्ड से अलग कर देता है और 'उदक्रमीत्' (११।२२) मन्त्र से अश्व को पुनः अभिमन्त्रित कर रासभ और अज के साथ खड़ा कर देता है।

अब अध्वर्यु मृत्पिण्ड के समीप बैठकर 'आ त्वा जिघर्मि' (११।२३-२४) इत्यादि दो मन्त्रों से मृत्पिण्ड पर बने अश्व-पद पर दो आहुतियाँ देता है और 'परि वाजपतिः' (११।२५-२७) इत्यादि तीन कण्डिकाओं का पाठ करता हुआ अभ्रि से मृत्पिण्ड पर तीन रेखायें खींचता है। तब अभ्रि से ही 'देवस्य त्वा' (११।२८) मन्त्र से मृत्पिण्ड के चारों तरफ की भूमि को खोदता है और 'अपां पृष्ठम्' (११।२९) मन्त्र से मृत्पिण्ड के उत्तर भाग में कृष्णाजिन और पुष्करपर्ण (पद्मपत्र) बिछाता है। यहाँ शतपथ ब्राह्मण (६।४।१।९) में कृष्णाजिन और पुष्करपर्ण का उत्तराधरभाव पृथिवी और आकाश के दृष्टान्त से समझाया गया है। पुष्करपर्ण को स्वच्छ कर लेने के उपरान्त आगे के दो मन्त्रों से (११।३०-३१) कृष्णाजिन और पुष्करपर्ण को छूकर 'पुरीष्योऽसि' (११।३२) मन्त्र से मृत्पिण्ड का भी स्पर्श करता है और अपने दोनों हाथों से उसे उठाकर 'त्वामग्ने' (११।३२-३७) इत्यादि छः ऋचाओं से कृष्णाजिन पर बिछाये पुष्करपर्ण पर रख देता है। तब 'अपो देवीः' (११।३८) मन्त्र से मृत्पिण्ड के गर्त में जल डालता है और 'सं ते' (११।३९) मन्त्र से उस गर्त में वायु को प्रेरित करता है। इतना कर लेने के बाद अध्वर्यु 'सुजातः' (११।४०) मन्त्र से बिछाये गये कृष्णाजिन और पुष्करपर्ण के चारों कोनों को पकड़ कर दोनों हाथों से ऊपर उठाते हुए 'उदुत्तिष्ठ' (११।४१) मन्त्र का उच्चारण करता है। तब चुपचाप अपने भी उठ खड़ा होता है और 'ऊर्ध्व ऊषुण' (११।४२) मन्त्र से दोनों हाथों को पूर्व दिशा की तरफ कर मृत्पिण्ड को उधर झुका देता है। इस तरह से अध्वर्यु उस मृत्पिण्ड को अपनी नाभि तक ले जाकर उसे हाथों में उठाये हुए ही क्रमशः अश्व, गर्दभ और अज को 'स जातः, स्थिरो भव, शिवो भव' (११।४३-४५) इन तीन मन्त्रों से अभिमन्त्रित करता है और इनका स्पर्श किये बिना इनके ऊपर मृत्पिण्ड को उठाकर 'प्रैतु वाजी, वृषाग्निम्, ऋतं सत्यम्' (११।४६-४७) इन दो कण्डिकाओं में स्थित तीन मन्त्रों का क्रमशः जप करता है। इतना कर लेने के उपरान्त वह देवकार्य एवं पितृकार्य से विमुख उच्छृङ्खल [3]अनद्धापुरुष का निरीक्षण करता है। तब 'ओषधयः' (११।४८) इस मन्त्र से उखा-संभरण के लिये आहवनीय स्थान की उत्तर दिशा में पाँच हाथ के गृह का निर्माण कर आच्छादित प्रदेश में उस मृत्पिण्ड को रख देता है।

सायणाचार्य यहां (११।४७) उद्धनन कर्म का भी निर्देश करते हैं। मृत्पिण्ड को जिस स्थान पर रखा जाता है, वह कहीं उच्छिष्ट स्थल न हो, इस आशंका की निवृत्ति के लिये वहाँ की ऊपर की मिट्टी, घास आदि को साफ कर दिया जाता है। वैदिक परिभाषा में इसी को उद्धनन कहा जाता है। उद्धनन करने के बाद उस स्थान पर जल का छिड़काव कर वहाँ बालू बिछा कर और चारों तरफ से ढँक कर पूर्व दिशा की ओर द्वार बना दिया जाता है और वहीं मृत्पिण्ड को 'ओषधयः' (११।४८) मन्त्र से स्थापित किया जाता है। इतना करने के बाद अध्वर्यु कृष्णाजिन में मूंज की

---

१. "वल्मीकस्योन्नतत्वेनाभिवृद्धोऽवयवो वपा" (पृ० २१ का भाष्य देखिये)।
२. "उन्मर्शनं नाम अश्वपृष्ठस्योपरि पाणिधारणम्" (पृ० २५)।
३. "देवपितृकार्यविमुखमनद्धापुरुषम्, उच्छृङ्खलमिति यावत्" (पृ० ५९)।

रस्सी से बँधे हुए मृत्पिण्ड को वहाँ बिखेर देता है और 'वि्राजमा' (११।४९) मन्त्र से अज के रोयों को लेकर उक्त तीनों पशुओं को ईशान दिशा की ओर हांक देता है।

इतना सब कर लेने के बाद अध्वर्यु दक्षिणाग्नि में पलाश की छाल के साथ पकाये जल में से ऊपर के फेन को निकाल कर दूसरे पात्र में रख लेता है और उससे 'आपो हि ष्ठा' (११।५०-५२) इत्यादि तीन मन्त्रों का पाठ करते हुए मृत्पिण्ड का सेचन करता है। तब 'मित्रः संसृज्य' (११।५३) मन्त्र से पूर्वगृहीत अज के लोमों को और 'रुद्राः संसृज्य' (११।५४) मन्त्र से शर्करा, लोहचूर्ण और पाषाणचूर्ण को उस बिखरे हुए मृत्पिण्ड पर डाल कर 'संसृष्टाम्' (११।५५-५७) इत्यादि तीन मन्त्रों से इन सब वस्तुओं को मृत्पिण्ड के साथ भलीभाँति मिला देता है। अब इसी सामग्री से पहले यजमान की प्रथम परिणीता पत्नी (महिषी) बारह अंगुल की अषाढासंज्ञक इष्टका का निर्माण करती है और तब यजमान स्वयं ही उखा का निर्माण करता है। एकपशु पक्ष और पंचपशु पक्ष में उखा का परिमाण भिन्न-भिन्न होता है। एकपशु पक्ष में यह प्रादेशमात्र चतुरस्र और उतनी ही ऊँची होती है। पंचपशु पक्ष में पाँच प्रादेश के नाप की चतुरस्र बनाई जाती है। 'वसवस्त्वा' (११।५८) मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान उखातल को बनाता है और जल मिली मिट्टी के लेप से उसे चिकनी कर देता है। तब उद्धि[1] की सहायता से उखा का निर्माण करता है। इस प्रकार बनी उखा की ऊँचाई को तीन हिस्सों में बांट कर ऊपर के तीसरे भाग में मेखला बनाई जाती है। मेखला के ऊपर चारों दिशाओं में 'अदित्यै रास्नासि' (११।५९) मन्त्र से स्तन का आकार बनाया जाता है। इस प्रकार उखा का निर्माण कर उसे भूमि पर रख दिया जाता है। विश्वज्योति नामक तीन इष्टकाओं का निर्माण भो यजमान ही करता है।

तब अध्वर्यु 'वसवस्त्वा' (११।६०) इत्यादि कण्डिका के सात यजुर्मन्त्रों से दक्षिणाग्नि से जलाई गई अश्व की सात लीदों से उखा को धूपित करता है। इसके बाद 'अदितिष्ट्वा' (११।६१) इत्यादि यजुर्मन्त्रों से अषाढा, उखा और विश्वज्योति इष्टकाओं को पकाने के लिये अभ्रि से चौकोर गड्ढा खोदता है। इनको पकाने लायक पर्याप्त इन्धन उस गड्ढे में भर कर उन तीनों को एक-एक कर गड्ढे में रख उनके ऊपर भी इन्धन रख देता है और दक्षिणाग्नि से लाई अग्नि से उसे प्रज्वलित कर देता है। उखा आदि का पाक हो जाने पर दण्ड आदि से ऊपर के इन्धन में छिद्र बना कर उसमें से उखा को देखता हुआ 'वरूत्री' (११।६१) आदि तीन यजुर्मन्त्रों का पाठ करता है। 'मित्रस्य' (११।६२) मन्त्र से पालाश इन्धन का [2]प्रक्षेप करता है और 'देवस्त्वा' (११।६३) से पाकानन्तर भस्मीभूत इन्धन को हटा देता है। पहले अषाढा को निकाल कर उखा का मुँह ऊपर करता है। 'उत्थाय' (११।६४) प्रभृति मन्त्र से उखा को दोनों हाथों से ऊपर उठा कर गड्ढे के बाहर निकाल लेता है। इसके बाद बिना मन्त्र का उच्चारण किये विश्वज्योति इष्टकाओं को बाहर निकालता है। अब 'वसवस्त्वा' (११।६५) इत्यादि कण्डिका के चार यजुर्मन्त्रों से उखा में चार बार बकरी का दूध भरता है। इस प्रकार उखा-संभरण की विधि सम्पन्न होती है।

इसके बाद अन्य इष्टकाओं का निर्माण कर पाँच औद्ग्रभण संज्ञक आहुतियाँ दी जाती हैं। औद्ग्रभण होम के बाद कृष्णाजिन दीक्षा से लेकर दण्डोच्छ्रयण पर्यन्त कर्म का अनुष्ठान कर ईशानाभिमुख अध्वर्यु अथवा यजमान मुंजकुलाय अथवा शणकुलाय को उखा में डाल कर उसे प्रदीप्त आहवनीय अग्नि में तपाता है। अग्नि के प्रज्वलित हो जाने पर 'द्रुवन्नः' (११।७०-८२) इत्यादि तेरह मन्त्रों से उसमें घृताक्त प्रादेशप्रमाण तेरह समिधाओं की आहुतियाँ दी जाती हैं। पाँच समिधाएँ [3]धमन, विकंकत, उदुम्बर, अपरशुवृक्ण वृक्ष अर्थात् [4]दीमक आदि के लग जाने से और अपने आप

---

१. "उद्धिशब्दो मृत्पिण्डप्रदेशवाची" (पृ० ७३)।
२. "उपवापोऽवटे प्रक्षेपः, उद्वापस्तत ऊर्ध्वं नयनम्" (पृ० ८४)।
३. "क्रमुको धमनः, धनुरुपादानभूतो वृक्षविशेषः" (पृ० ९५)।
४. "उपजिह्विका उपदीपका" (पृ० १००), "वम्रशब्दः पिपीलिकासदृशं क्षुद्रजीवमाचष्टे" (पृ० १००)।

पत्रनवेग आदि से गिरे वृक्षों की होती हैं तथा बाकी बची आठ समिधाएँ पलाश की ली जाती हैं। उक्त तेरह ऋचाओं में से बारहवीं क्षत्रिय यजमान के लिये और तेरहवीं पुरोहित यजमान के लिये दी जाती हैं। अन्त में अध्वर्यु 'अन्नपतेऽन्नस्य' (११।८३) मन्त्र से यजमान को व्रतनिर्वाहार्थं दूध देता है। उस समय यजमान उख्य अग्नि में समिधा का आधान करता है।

द्वादश अध्याय : उखा-धारण

ग्यारहवें अध्याय की उखा-सम्भरण की विधि का निरूपण करने के बाद अब बारहवें अध्याय की उखा-धारण की विधि बताई जा रही है। शतपथ ब्राह्मण (६।७।१।२३) में उखा के विषय में कहा गया है कि स्थाली ही उखा का नाम धारण कर लेती है। उखा, कुम्भी, स्थाली—ये पर्यायवाची शब्द हैं। तीनों में मिलकर छः अक्षर होते हैं और इस प्रकार ये छः ऋतुओं के बोधक हैं। छः ऋतुओं से ही संवत्सर बनता है। यहाँ सर्वप्रथम यजमान अपने कण्ठ में सोने के गोल २१ दानों के हार को 'दृशानो रुक्म'[1] (१२।१) मन्त्र से धारण करता है। इसमें शुक्ल और कृष्ण रोम वाले कृष्ण मृगचर्म के टुकड़े शणसूत्र से गुंथे रहते हैं। यहाँ शतपथ ब्राह्मण (६।७।१।९-११) में बताया गया है कि सुवर्ण को नाभि से ऊपर के अंग में ही धारण किया जाता है। तब यजमान गरम उखा को दो गोल [2]इण्ड्वाओं (ईंडुणी=गेंडुरी) से 'नक्तोषासा' (१२।२) मन्त्र का उच्चारण करता हुआ पकड़ता है। यहाँ शतपथ ब्राह्मण में उखा की सूर्य के रूप में और आदित्य के आगे-पीछे चलते रात-दिन की इण्ड्वाओं के रूप में कल्पना की गई है। इसी मन्त्र के उत्तरार्ध से आहवनीय अग्नि के ऊपर स्थित उखा को उठा कर अध्वर्यु आसन्दी की तरफ ले जाता है और उद्गाता आहवनीय की पूर्व दिशा में भूमि पर स्थापित [3]प्रादेशप्रमाण (१० अंगुल) चार पायों वाली औदुम्बरी आसन्दी (प्रतिष्ठा) पर [4]अरत्नि-प्रमाण मूँज की रस्सी से बने चार कोनों वाले शिक्य (सिकहर) पर उस उखा को रखता है। यहाँ दोनों गेंडुरियों में सन की डोरी बाँध कर सिकहर बना दिया जाता है और इसकी डोरियों में मिट्टी पोत दी जाती है। अन्यथा आग की गरमी से डोरी जल सकती है। तब छः[5] रस्सियों के सहारे लटक रहे उस शिक्य-पाश को यजमान 'विश्वा रूपाणि' (१२।३) मन्त्र का उच्चारण करता हुआ अपने कण्ठ में लटकाता है। भाष्यकार के अनुसार ग्रामीण भाषा में शिक्य के आधार काष्ठ को 'बिठयी' कहा जाता है। संस्कृत में

---

१. "रुक्म आभरणविशेषः" (पृ० १११)।

२. "इण्ड्वे इति तस्योखाधारणसाधनभूतौ परिमण्डलौ पदार्थविशेषौ" (पृ० ११५)।

३. फैलाये गये अँगूठे और तर्जनी के मध्य भाग के प्रमाण को प्रादेश कहते हैं। यह दस अंगुल के बराबर होता है। देखिये अमरकोश—"प्रादेशतालगोकर्णास्तर्जन्यादियुते तते" (२।६।८३)।

४. कोहनी से कनिष्ठा (कानी) अंगुली के छोर तक का माप, लम्बाई नापने का पैमाना। देखिये अमरकोश—"अरत्निस्तु निष्कनिष्ठेन मुष्टिना" (२।६।८६)।

५. यहाँ भाष्य में प्रतिष्ठा, आसञ्जन और उद्याम शब्द प्रयुक्त हैं। इनके अर्थ वहाँ इस तरह से बताये गये हैं—शिक्यस्य अधस्ताद्वर्ती उद्यामाधारः पाशरचितोऽवयवविशेषो ग्रामीणभाषायां 'बिठयी' इति। स एवात्र प्रतिष्ठाशब्देनोक्तः। आसज्यते बध्यतेऽस्मिन्नित्यासञ्जनं शिक्याधारः काष्ठविशेषः" (पृ० ११७), "उद्यामशब्देन शिक्यदामान्युच्यन्ते" (पृ० ११८)। इसी मन्त्र (१२।३) के भाष्य में उख्य अग्नि की प्रशंसा के प्रसंग में उखा के विषय में यह कहा गया है—"सा स्थाली यदुखा नाम धृतवती। उखा, कुम्भी, स्थाली—इति तस्या नाम। मिलित्वा षडक्षराणि भवन्ति। षड् वा ऋतवः। षड् ऋतवः संवत्सर इति" (पृ० ११९)।

इसके लिये प्रतिष्ठा शब्द है। तब 'सुपर्णोऽसि' (१२।४) मन्त्र से दोनों हाथों से शिक्य के साथ उख्य अग्नि को मृत्पिण्ड के समान उठाये हुए यजमान पूर्व दिशा की ओर चलता है। वह त्रिविक्रम विष्णु की तरह 'विष्णोः क्रमोऽसि' (१२।५) कण्डिका में स्थित तीन यजुर्मन्त्रों से तीन डग भरता है। ऐसा करते समय दाहिने पैर को पहले उठाता है और उख्य अग्नि को प्रत्येक पदक्रम के समय नाभि से ऊपर रखता है। तब मृत्पिण्ड के समान ही 'अक्रन्ददग्निः' (१२।६) मन्त्र से ऊर्ध्वबाहु यजमान उख्याग्नि को पूर्व दिशा की ओर कुछ झुकाता है। फिर आगे के चार मन्त्रों (१२।७-१०) से चार बार में उस उख्याग्नि को क्रमशः धीरे-धीरे नीचे उतारता है। उसे नाभि तक उतार लेने के बाद 'आ त्वाहार्षम्' (१२।११) मन्त्र से अभिमन्त्रित करता है। तब 'उदुत्तमम्' (१२।१२) मन्त्र से शिक्यपाश और रुक्मपाश को उखा के ऊपर से उतार लेता है और 'अग्रे बृहन्' (१२।१३) मन्त्र से बाहुओं को ऊपर उठाये आग्नेय दिशा की ओर उख्याग्नि को ले जाता है। वहाँ 'हंसः शुचिषद्' (१२।१४) मन्त्र से अग्नि को उतार कर आसन्दी पर रख देता है। तब यजमान 'सीद त्वम्' (१२।१५-१७) इत्यादि तीन ऋचाओं से अग्नि का उपस्थान करता है। इसके बाद एकादश ऋचा वाले (१२।१८-२८) वात्सप्र अनुवाक से भी अग्नि का उपस्थान किया जाता है। यहाँ कुछ आचार्य आसन्दी के ऊपर स्थित अग्नि का ११ ऋचाओं से तथा अन्य आचार्य १२ ऋचाओं (१२।१८-२९) से उपस्थान (प्रार्थना) का विधान करते हैं।

अग्नि का उपस्थान करने के उपरान्त 'वनीवाहन' नामक कर्म का अनुष्ठान किया जाता है। उख्याग्नि को उत्तर दिशा में गाड़ी की ईषा (फड़) को पूर्वाभिमुख कर यजमान वहाँ स्थापित उख्याग्नि में वनीवाहन नामक समिधा का 'समिधाऽग्निम्' (१२।३०) मन्त्र से आधान करता है। इस पूरे कर्म का अनुष्ठान यजमान को ही करना है, अध्वर्यु को नहीं। तब ईषादण्ड के दक्षिण में खड़ा यजमान आसन्दी सहित उख्याग्नि को उठा कर 'उदु त्वा' (१२।३१) मन्त्र से ईषादण्ड के पूर्व भाग में स्थापित कर देता है। इसके बाद गार्हपत्य के पश्चिम भाग में स्थित गाड़ी में चुपचाप बैलों को जोत कर 'प्रेदग्ने' (१२।३२) मन्त्र से पहले प्राची दिशा में चल कर तब अभीष्ट स्थान की ओर प्रस्थान करता है। चलते समय अक्ष (पहियों में लगी धुरी) के आवाज करने पर 'अक्रन्ददग्निः' (१२।३३) मन्त्र का पाठ किया जाता है। इसके बाद उत्तर दिशा में पाँच भूसंस्कारों से संस्कृत स्थान पर अग्नि को शकट से उतार कर स्थापित किया जाता है और 'प्र प्रायम्' (१२।३४) मन्त्र से उख्य अग्नि में समिधा दी जाती है।

इस प्रकार वनीवाहन कर्म की समाप्ति के बाद तालाब आदि के पास जाकर यजमान पलाश आदि के पत्तों से सायंकाल और प्रातःकाल उखा के पास से हटाई गई भस्म को 'आपो देवीः' (१२।३५) मन्त्र से जल में प्रवाहित कर देता है। तब दुबारा दो मन्त्रों (१२।३६-३७) से भस्माभ्यवहरण करता है। आगे की चार ऋचाओं (१२।३८-४१) से जल में प्रक्षिप्त भस्म में से थोड़ी भस्म अनामिका अंगुलि से ग्रहण करता है। तालाब से वापस आकर यजमान अनामिका से गृहीत भस्म को बिना किसी मन्त्र का उच्चारण किये उखा में डाल कर 'बोधा मे' (१२।४२-४३) इत्यादि दो मन्त्रों से अग्नि का उपस्थान करता है। तब प्रायश्चित्त के रूप में समिधा को ही स्रुचा मान कर उसे घी में डुबो कर उख्याग्नि में घृत की आहुति देता है। इसे प्रायश्चित्ति कर्म कहा जाता है। घृत की आहुति देने के उपरान्त 'पुनस्त्वा' (१२।४४) मन्त्र से उस समिधा की भी उख्याग्नि में आहुति दे दी जाती है।

इसके उपरान्त गार्हपत्य अग्नि का चयन किया जाता है। पहले पलाश की शाखा से गार्हपत्य स्थान की चारों दिशाओं का 'अपेत वीत' (१२।४५) कण्डिका के चार यजुर्मन्त्रों से व्युदूहन (संमार्जन) किया जाता है। यहाँ गार्हपत्य शब्द से शालाद्वार्य का ग्रहण किया जाता है। चिति का स्थान भी गार्हपत्य शब्द से ही उक्त है। इस स्थान में गिरे-पड़े तृण-पत्र आदि को बुहार देना ही वैदिक भाषा में व्यूहन अथवा व्युदूहन तथा लौकिक भाषा में संमार्जन कहा जाता है।

जिस पलाश की शाखा से व्युदूहन किया गया, उसे उत्तर दिशा की ओर फेंक दिया जाता है और गार्हपत्य के चितिस्थान में ऊषर भूमि से लाई गई मिट्टी 'संज्ञानमसि' (१२।४६) मन्त्र से डाली जाती है। जिस भूमि को सूंघकर पशु चाटने लगे, समझ लेना चाहिये कि यह ऊषर भूमि है। इसमें फसल नहीं उगती। अध्वर्यु इस मिट्टी से बनाये मण्डल की दक्षिण दिशा में उत्तराभिमुख बैठ कर मण्डल के बीच में अर्धबृहती संज्ञक छः अँगुल ऊँची, बारह अँगुल चौड़ी और चौबीस अँगुल लम्बी चार इष्टकाओं को दक्षिण-उत्तर दिशाओं की ओर 'अयं सो' (१२।४७-५०) इत्यादि मन्त्रों का उच्चारण करते हुए रखता है। तब अध्वर्यु अर्धबृहती इष्टकाओं की परिक्रमा कर उत्तर दिशा में जाकर दक्षिणाभिमुख हो पश्चिम में पश्चिमाभिमुख पादप्रमाण पद्या नामक दो इष्टकाओं का दो मन्त्रों (१२।५१-५२) से दक्षिण और उत्तर दिशाओं में उपधान करता है। तब उत्तर दिशा से घूम कर दक्षिण दिशा में आ जाता है और उत्तराभिमुख हो पूर्व में तिरछी (तिरश्ची = वक्रा) इष्टकाओं को 'चिदसि' (१२।५३) कण्डिका के दो यजुर्मन्त्रों से उत्तर और दक्षिण दिशा की ओर रखता है। इसके बाद तीन लोकम्पृणा इष्टकाओं का चुपचाप तथा बाकी दस का 'लोकं पृण' (१२।५४) इत्यादि मन्त्र के उच्चारण के साथ उपधान किया जाता है अथवा पहले दो इष्टकाओं का, तब दस तथा अन्त में एक लोकम्पृणा इष्टका का उपधान करते समय तीन बार इस मन्त्र की आवृत्ति की जाती है। इस तरह से गार्हपत्याग्नि की इक्कीस इष्टकाओं का उपधान पूरा हो जाता है। इष्टकाओं के उपधान के समय सादन[1] और सूददोहसाभिवदन नामक दो क्रियाओं को अवश्य करना चाहिये। 'चिदसि' (१२।५३) इत्यादि मन्त्र से इष्टकाओं को स्थापित किया जाता है। यही सादन कर्म है। तब इष्टकाओं के ऊपर हाथ रख कर 'ता अस्य' (१२।५५) इत्यादि मन्त्र से उनको दृढ़ता से स्थिर किया जाता है, दबाया जाता है। इसे ही सूददोहसाभिवदन कहते हैं। ये दोनों संस्कार प्रत्येक इष्टकाओं के अनिवार्य रूप से किये जाते हैं।

इसके बाद चात्वाल प्रदेश से मिट्टी लाकर उसे 'इन्द्रं विश्वा (१२।५६) मन्त्र से गार्हपत्य चिति के ऊपर डाला जाता है। इसकी [2]पुरीष संज्ञा है। इस पुरीष के निवपन द्वारा गार्हपत्य चिति को यहाँ स्थापित इष्टकाओं के बराबर ऊँचा कर 'समितम्' (१२।५७-६०) इत्यादि चार मन्त्रों से गार्हपत्य चिति के बीच में उख्याग्नि को स्थापित किया जाता है। तब उस खाली उखा में ऊपर तक सिकता (बालू) भर दी जाती है और उसको शिक्य से अलग कर 'मातेव' (१२।६१) मन्त्र से अग्नि के समान स्थापित उख्याग्नि के उत्तर में अरत्निमात्र दूर गार्हपत्य चिति के ऊपर रख कर सिकता से भरी हुई उखा पर बिना ही मन्त्रोचार के चुपचाप दूध का सेचन किया जाता है। तब अध्वर्यु नैर्ऋत्य दिशा में राजसूय प्रकरण में हविष्यासन्न होम में प्रदर्शित स्थल पर जाकर 'असुन्वन्तम्' (१२।६२-६४) इत्यादि तीन ऋचाओं से निर्ऋति देवता वाली, पकाते समय काली पड़ी, तुषों से पकाई गई लक्षणहीन पादमात्री तीन इष्टकाओं को स्वयं दक्षिणाभिमुख होकर पहली इष्टका को उत्तर दिशा में और अन्य दो इष्टकाओं को दक्षिण दिशा में स्थापित करता है। इन इष्टकाओं के उपस्पर्शन, सादन और सूददोहसाभिवदन नामक संस्कार नहीं किये जाते। इसके उपरान्त 'यं ते' (१२।६५) इत्यादि मन्त्र से शिक्य (सिकहर), शण से बना रुक्मपाश, दोनों इंड्वाएं (इंडुणी = गेंडुरी) और आसन्दी—इन सबको नैर्ऋत्य इष्टकाओं के पीछे फेंक दिया जाता है। तब आत्मा और नैर्ऋती इष्टकाओं के बीच में चुपचाप जल छिड़क कर ब्रह्मा, यजमान और अध्वर्यु 'नमः' (१२।६५) मन्त्र का उच्चारण करते हुए उठ खड़े होते हैं और वहाँ से बिना उस ओर देखे 'निवेशनः' (१२।६६) मन्त्र का पाठ करते हुए यज्ञशाला में आ जाते हैं।

---

१. "उपहितानामिष्टकानां स्थिरीकरणं सादनम्, उपहितानामिष्टकानामुपरि हस्तं निधाय 'अस्य' इति मन्त्रपठनं सूददोहसाभिवदनम्" (पृ० १६७)। "उपहितानामिष्टकानां 'चिदसि' इति मन्त्रेण स्थिरीकरणं सादनम्, इष्टकानामुपरि हस्तं निधाय 'ता अस्य' इति कण्डिकापठनं सूददोहसाभिवदनम्" (पृ० १७४-१७५, १८०)।

२. "इष्टकासन्धिषु छिद्रपूरणार्थाः पांसवः पुरीषम्" (पृ० १८२)। पहले (११।७२) इस शब्द की प्रकरण के अनुसार भिन्न व्याख्या की गई है—"पुरीषशब्देन बहुपुरीषाः पशव उच्यन्ते" (पृ० ९८)।

अब अध्वर्यु शालाद्वार्य अर्थात् यज्ञशाला के द्वार पर प्रज्वलित गार्हपत्य अग्नि के पास आता है और 'सीरा युञ्जन्ति' (१२।६७-६८) इत्यादि दो मन्त्रों से चित्याग्नि की दक्षिण श्रोणि के पास पश्चिमाभिमुख खड़ा हो छः, दस अथवा चौबीस बैलों से जुते हुए उदुम्बर काष्ठ के बने हल को [1]अभिमन्त्रित करता है। यहाँ छः बैल छः ऋतुओं से, बारह बैल बारह मासों से और चौबीस बैल चौबीस पक्षों से संयुक्त संवत्सर की सम्पत्ति के द्योतक हैं। इसके बाद हल के आगे लम्बी मूँज की रस्सी बाँध कर उसको बैलों के कन्धों पर रखे जुए से कस दिया जाता है। बैल अग्निशाला से बाहर ही रहते हैं। यज्ञस्थल का कर्षण करते समय उस हल को अध्वर्यु के द्वारा नियुक्त हलवाहे उठाते हैं। चिति स्थान में परिश्रित् के पास चार ऋत्विक् दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और पूर्व दिशा में 'शुनम्' (१२।६९-७२) इत्यादि चार मन्त्रों का उच्चारण करते हुए चार रेखाएँ खींचते हैं। कर्षण संस्कार के पूरा हो जाने के बाद अध्वर्यु बैलों को हल से अलग कर ईशान दिशा की ओर 'विमुच्यध्वम्' (१२।७३) मन्त्र से उसी तरह हाँक देता है, जैसे कि पूर्व प्रकरण में अज, अश्व आदि पशुओं को हाँक दिया गया था। बाद में सुत्या कर्म की समाप्ति के अवसर पर यजमान इन बैलों को हल के साथ अध्वर्यु को दान कर देता है।

अब संस्कृत जुहू को पाँच बार घृत से भर कर कृष्ट भूमि की आत्मा के मध्य में स्थापित कुशस्तम्ब[2] पर स्रुवा को ऊपर कर 'सजू:' (१२।७४) मन्त्र से आहुति देता है। एक जड़ से निकली अनेक शाखाओं वाली कुशा को कुशस्तम्ब कहा जाता है। तब 'या ओषधीः' (१२।७५-८९) इत्यादि पन्द्रह ऋचाओं से चमसपात्र से सर्वौषधियों का वपन और जलसेचन किया जाता है। एक-एक चमस के साथ एक-एक ऋचा का पाठ किया जाता है। धान्यवपन भी चमस से ही किया जाता है, खाली हाथ से नहीं। चमस उदुम्बर काष्ठ का बनाया जाता है। 'या ओषधीः' इत्यादि पन्द्रह ऋचाओं के बाद की 'मुञ्चन्तु' (१२।९०-१०१) इत्यादि बारह ऋचाओं से ओषधियों की स्तुति की जाती है। ये बारह मन्त्र अनारभ्याधीत कहलाते हैं। लिंग के अनुसार ही इनका विनियोग किया जाता है। वस्तुतः इन मन्त्रों में ओषधियों की स्तुति की गई है। इस प्रकार इन सत्ताईस मन्त्रों से ओषधियों का वपन, जलसेचन एवं स्तवन करने के बाद अध्वर्यु 'मा मा हिंसीः' (१२।१०२-१०५) इत्यादि चार मन्त्रों से पूर्व आदि चारों दिशाओं में स्फ्य की सहायता से वेदि के बाहर अनूकान्तों में [3]पद्याप्रमाण चार लोकेष्टकाओं को स्थापित करता है। फिर 'अग्ने तव' (१२।१०६-११) इत्यादि छः ऋचाओं से उत्तर वेदि पर सिकता (बालू) बिछा कर पक्ष और पुच्छ को छोड़ कर चिति के मध्य भाग को पूरी तरह से ढंक देता है और 'आप्यायस्व' (१२।११२-११३) इत्यादि दो ऋचाओं से चिति के मध्य भाग, आत्मा पर बिछाई गई सिकता का स्पर्श करता है। यहाँ के तीसरे मन्त्र 'आप्यायस्व' (१२।११४) का विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र में वर्णित नहीं है। इस प्रकार यहाँ उखाधारण की प्रक्रिया समाप्त होती है। इस समय पूर्व दिशा में श्वेत अश्व, उसके अभाव में अश्वेत अश्व और इन दोनों के अभाव में अनड्वान् (बैल) को उपस्थिति में अग्नि की स्तुति के लिये प्रेरित होता 'आ ते वत्सः' (१२।११५-११७) इत्यादि तीन ऋचाओं से अग्नि की स्तुति करता है।

---

१. "अभिमन्त्रणं नाम मन्त्रेण स्मर्यमाणस्यार्थस्य ईक्षणपूर्वकमनुसन्धानम्। उक्तं हि—"मन्त्रमुच्चारयन्नेव मन्त्रार्थत्वेन संस्मरेत्। सेक्षणं तन्मना भूत्वा स्यादेतदनुमन्त्रणम्॥ एतदेवाभिमन्त्रणलक्षणं चेक्षणावधि।" (पृ० २००)।

२. "एकमूलोऽनेकशाखः स्तम्ब इत्युच्यते। दर्भाणां स्तम्बो दर्भस्तम्बः" (पृ० २०९), "काण्डशब्दः स्तम्बवाची" (पृ० २७५)।

३. अध्यर्धा, अर्धपद्या, अर्धपादभागा, अर्धबृहती, अर्धोत्सेधा, पद्या, चतुर्भागा, जंघामात्री, पादभागा, पादोनपद्या, बृहती, वक्रा आदि इष्टकाओं के परिमाण का सचित्र विवरण "कात्यायन यज्ञपद्धति विमर्श" (पृ० २९९-३०१) में देखिये।

त्रयोदश अध्याय : प्रथम चित्याधान

बारहवें अध्याय में उखाधारण, गार्हपत्यचयन, क्षेत्रकर्षण, औषधवपन आदि की विधियाँ बताई गई हैं। अब तेरहवें अध्याय में प्रथम चिति के उपधान से सम्बद्ध पुष्करपर्ण आदि के उपधान की प्रक्रिया बताई जा रही है। यजमान उत्तरवेदि के प्रोक्षण से पुरीषादि संभारनिवपनान्त कर्म का सम्पादन कर तदुपरान्त उत्तरवेदि के पीछे खड़ा हो 'मयि गृह्णामि' (१३।१) मन्त्र का जप करता है। इसके बाद अध्वर्यु कुशस्तम्ब के ऊपर पुष्करपर्ण (कमलिनीपत्र) का उखासंभरण में बताई गई पद्धति से 'अपां पृष्ठमसि' (१३।२) मन्त्र से स्थापन और मार्जन करता है। उस पुष्करपर्ण पर पहले कण्ठ में पहने गये सौवर्ण रुक्म (स्वर्णाभूषण) को 'ब्रह्म जज्ञानम्' (१३।३) मन्त्र का पाठ करते हुए पूर्वाभिमुख अध्वर्यु मृत्पिण्ड के नीचे रखता है और 'हिरण्यगर्भः' (१३।४-५) आदि दो ऋचाओं से पूर्वाभिमुख हो उत्तान स्थिति में [1]सुवर्णमय पुरुष (हिरण्यगर्भ) की प्रतिमा को स्थापित करता है। द्वितीय मन्त्र में अन्य धातु के योग से बनाई गई इस सुवर्ण प्रतिमा को 'द्रप्स' नाम दिया गया है। जब इसके लिये अग्नि में आहुति दी जाती है, तो यह आकाश, अन्तरिक्ष और पृथिवी - इन तीनों स्थानों में व्याप्त हो जाता है। इसके बाद यजमान उस स्वर्णप्रतिमा का उपस्थान करता हुआ 'नमोऽस्तु' (१३।६-८) इत्यादि तीन ऋचाओं का पाठ करता है। अध्वर्यु पाँच बार जुहू में संस्कृत घृत भर कर चिति के मध्य भाग में जाकर वहाँ स्थापित हिरण्यपुरुष के पास बैठ कर पूर्वादि चार और पाँचवीं ऊर्ध्व दिशा में 'कृणुष्व पाजः' (१३।९-१३) इत्यादि पाँच मन्त्रों से प्रत्येक दिशा में हिरण्यपुरुष के ऊपर एक-एक आहुति देता है। [2]प्रतिसर शब्द से यहाँ राक्षसों के नाशक अग्निदेवता वाले मन्त्रों का ग्रहण किया जाता है। इनके अतिरिक्त यहाँ [3]श्रीपर्णी, औदुम्बरी आदि समिधाओं की भी आहुतियाँ दी जाती हैं। तब अगले दो मन्त्रों (१३।१४-१५) से उत्तर दिशा में [4]दधि से भरे स्रुक् का उपधान किया जाता है।

इसके बाद सुवर्णमय पुरुष के ऊपर पाषाणमयी सच्छिद्र स्वयमातृण्णा[5] नामक इष्टका का आधान 'ध्रुवासि' (१३।१६-१९ इत्यादि चार मन्त्रों से किया जाता है। पुरुष के प्रयत्न के बिना ही जिस पाषाण में छिद्र बन गये हों, उसे स्वयमातृण्णा कहा जाता है। इसके बाद अध्वर्यु उत्तराभिमुख हो स्वयमातृण्णा के ऊपर 'काण्डात्' (१३।२०-२१) इत्यादि दो मन्त्रों से दूर्वेष्टका का उपधान करता है। इष्टकाएँ तो मिट्टी की ही बनती हैं, तो भी यहाँ दूर्वा में इष्टका शब्द का प्रयोग गौण रूप से किया गया है। दूर्वा पशुओं की पुष्टि का साधन है, अतः गौण रूप से उसे भी पशु मान कर स्वयमातृण्णा के ऊपर उसका उपधान किया जाता है। इस दूर्वेष्टका के आगे द्वितीय पद्यालोक में 'यास्ते' (१३।२२-२३) इत्यादि दो ऋचाओं से द्वियजुःसंज्ञक पद्याप्रमाण इष्टकाओं का उपधान किया जाता है। इसके बाद विराट्, स्वराट् आदि दो यजुर्मन्त्रों (१३।२४) से द्वियजुःसंज्ञक इष्टकाओं से अव्यवहित पूर्व भाग में रेतःसिग्

१. "एष हिरण्यपुरुषः सूर्यमण्डलान्तर्वर्ती हिरण्यगर्भः। अपञ्चीकृतभूततत्कार्याभिमानी परमेश्वरो हिरण्यगर्भः" (पृ० २५५)।

२. "राक्षसान् प्रति अस्त्ररूपेण सरन्ति गच्छन्तीति प्रतिसराः" 'कृणुष्व पाजः' (१३।९-१३) इत्याद्याः (पञ्च) मन्त्राः" (पृ० २६१)। 'विन्यस्तमङ्गलमहौषधिरीश्वरायाः स्रस्तोरगप्रतिसरेण करेण पाणिः" (५।३३) इस किरातार्जुनीय के श्लोक में वैवाहिक कङ्कण के लिये यह प्रयुक्त है। कोशग्रन्थों में अश्वों के कण्ठ में ओषधियुक्त प्रतिसर के बाँधने का उल्लेख मिलता है।

३. "काश्मर्यः, काश्मरी, श्रीपर्णी, गम्भारिरिति समानार्थाः। कुम्भेर, खम्भारी इति लोके प्रसिद्धो वृक्षविशेषः" (पृ० २६५)।

४. इन्द्रस्य स्वकीयो रसः सानाय्यम्। वृत्रवधानन्तरमिन्द्रशरीरान्निर्गतस्य पृथिव्यामोषधिवीरुदात्मना परिणतस्य पशुभिर्भक्षणेनात्मन्याहृतस्येन्द्रसम्बन्धिनो वीर्यस्यैव पयोरूपेण परिणामात् तद्विकारभूतं दध्यपि परम्परया इन्द्रस्य स्वकीयो रसः" (पृ० २६७)।

५. पुरुषप्रयत्नमन्तरेण स्वत एव छिद्रयुक्ता शर्करा क्षुद्रपाषाणविशेषः, सा स्वयमातृण्णा" (पृ० २६९)।

नामक दो पद्याप्रमाण इष्टकाओं का उपधान अनूक की उत्तर और दक्षिण दिशाओं में किया जाता है और इनके भी पूर्व भाग में 'प्रजापतिष्ट्वा' (१३।२४) इस यजुर्मन्त्र से विश्वज्योति नामक प्रथम पद्याप्रमाण इष्टका का, जिसका कि निर्माण स्वयं यजमान ने किया है, उपधान अध्वर्यु उदङ्मुख होकर अनूक में करता है। इस विश्वज्योति इष्टका के सामने इसी से लगी हुई दो ऋतव्या पद्याप्रमाण इष्टकाओं को 'मधुश्च' (१३।२५) इत्यादि यजुर्मन्त्र से अनूक की दोनों ओर स्थापित करता है। इसके बाद पत्नी द्वारा बनाई गई अषाढासंज्ञक पद्याप्रमाण इष्टका को ऋतव्या इष्टकाओं के आगे अनूक स्थान में 'अषाढासि' (१२।२६) मन्त्र से स्थापित किया जाता है।

इस प्रकार इष्टकाओं का उपधान कर लेने के बाद 'मधुव्वाता' (१३।२७-२९) इत्यादि तीन मन्त्रों से कूर्म पर दधि, मधु और घृत का लेप किया जाता है। इसके बाद के 'अपां गम्भन्' (१३।३०-३२) इत्यादि तीन मन्त्रों से अषाढा से दक्षिण दिशा में अरत्नि-प्रमाण दूर स्थान में दो [1]पद्यालोकों को छोड़ कर तीसरे पद्यालोक में पहले से स्थापित अवका (शेवाल) में पुरुष के सामने कूर्म का उपधान करता है। इन तीन ऋचाओं में से बीच की 'त्रीन् समुद्रान्' (१३।३१) ऋचा से कूर्म को हिलाया जाता है। तीसरी ऋचा के पाठ के साथ कूर्म का उपधान कर उसे अवका से ढँक दिया जाता है। स्वयमातृण्णा के उत्तर में एक अरत्नि-प्रमाण दूर स्थान में स्थित तृतीय पद्यालोक में उदुम्बर की लकड़ी से बने प्रादेशमात्र-प्रमाण ऊखल और मुषल को 'विष्णोः कर्माणि' (१३।३३) मन्त्र से रखा जाता है। इसमें ऊखल [2]चतुःस्रक्ति (चौकोर) और बीच में से सिकुड़ा हुआ रहता है। इसको उत्तर दिशा में और गोल मुषल को दक्षिण दिशा में स्थापित किया जाता है। यहाँ शतपथ ब्राह्मण में [3]उदुम्बर और [4]उलूखल शब्दों की प्रवृत्ति का निमित्त बताया गया है। अब ऊखल के ऊपर बिना किसी मन्त्र का उच्चारण किये उखा को स्थापित किया जाता है और [5]उपशया नामक मिट्टी को पीस कर उखा के सामने जमीन पर फैला कर उस पर 'ध्रुवाऽसि' (१३।३४-३५) इत्यादि दो मन्त्रों का उच्चारण करते हुए उखा को रख दिया जाता है। तब आगे की दो ऋचाओं से (१३।३६-३७) उखा के मध्य में दो आहुतियाँ दी जाती हैं।

ऊपर पाँच पशुओं की चर्चा हो चुकी है। इनमें से प्रत्येक पशु के शिर पर स्थित सात छिद्रों में सात-सात सुवर्ण खण्डों को 'सम्यक् स्रवन्ति' (१३।३८-४०) इत्यादि तीन मन्त्रों का यथाक्रम से उच्चारण करते हुए रखा जाता है। एक मुख, दो नासिका, दो आँख और दो कान—इन सात स्थानों में ये सात सुवर्ण-खण्ड रखे जाते हैं। पाँच पशुओं में से हिरण्यपुरुष का उखा के मध्य में, अश्व का ईशान कोण में, अवि (भेड़) का वायव्य कोण में, गाय का आग्नेय कोण में और अज का नैर्ऋत्य कोण में शिर स्थापित किया जाता है। प्रत्येक पशु के शिर को स्थापित करते समय क्रमशः 'आदित्यं गर्भम्' (१३।४१-४५) इत्यादि पाँच मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। अब 'चित्रम्' (१३।४६) इत्यादि ऋचा के आधे-आधे भाग का उच्चारण कर पुरुष के शिर पर दो आहुतियाँ दी जाती है। आगे के 'इमं मा' (१३।४७-५१) इत्यादि पाँच मन्त्र उत्सर्ग संज्ञक हैं। अध्वर्यु चित्याग्नि से उत्तर वेदि के बाहर दाहिनी ओर खड़ा होकर उत्तर की

---

१. पद्याप्रमाण इष्टकाओं का जहाँ उपधान किया जाता है, उस स्थान को पद्यालोक कहते हैं।

२. "चतस्रः स्रक्तयः कोणा यस्य तत् चतुःस्रक्ति" (पृ० २९५)।

३. "तस्मादुदुम्भर उदुम्भरो ह वै तमुदुम्बर इत्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवा''''तमेव देवा उदुम्बर इति परोक्षमाचक्षते" (पृ० २९६)।

४. "मे उरू अधिकमकरद् अकार्षीदिति यदब्रवीत्, तस्मादुरूकरं देवा उलूखलमिति परोक्षमाचक्षते" (पृ० २९६)।

५. "उपशया नाम उखाभेदे सति तत्प्रतिसन्धानार्थं प्रागवशेषिता मन्त्रसंस्कृता मृत्" (पृ० २९८)।

तरफ मुख कर इन पाँच मन्त्रों से क्रमशः पुरुष आदि के शिर का उपस्थान करता है। कपशु पक्ष में पाँचों मन्त्रों से एक ही पशु-शीर्ष का उपस्थान किया जाता है।

अब वेदि के बाहर से अग्नि के पास आकर अर्धचित अग्नि का 'त्वं यविष्ठ' (१३।५२) इत्यादि मन्त्र से अध्वर्यु उपस्थान करता है। तब 'अपां त्वेमन्' (१३।५३) इत्यादि कण्डिका में स्थित बीस यजुर्मन्त्रों का उच्चारण करते हुए अध्वर्यु अग्नि के पास आता है। वहाँ स्वयमातृण्णा के अपर भाग से पूर्वानूकान्त के पास आकर चारों दिशाओं के अनूकान्तों में क्रमशः पाँच-पाँच कर पन्द्रह अपस्यासंज्ञक और पाँच छन्दस्यासंज्ञक इष्टकाओं का उपधान करे। इसके बाद 'अयं पुरः' (१३।५४-५७) इत्यादि चार मन्त्रों से चारों दिशाओं में क्रमशः दस-दस प्राणभृत् संज्ञक इष्टकाओं का और 'इयमुपरि' (१३।५८) मन्त्र से मध्य भाग में लोकम्पृणा इष्टकाओं का उपधान किया जाता है। अन्त में आत्मा[1] के मध्य में स्वयमातृण्णा के ऊपर चात्वाल से पुरीष का ग्रहण कर उसका निर्वपन किया जाता है, अर्थात् इष्टकाओं के छिद्रों में उसे भर कर बराबर कर दिया जाता है। इस प्रकार भूलोक रूप इस प्रथम चिति के उपधान की प्रक्रिया पूरी होती है।

चतुर्दश अध्याय : द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ चित्याधान

इस अध्याय में द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ चितियों के उपधान के मन्त्र और विधियाँ उपदिष्ट हैं। इनमें से द्वितीय चिति की आश्विनी संज्ञक इष्टकाओं का 'ध्रुवक्षिति' (१४।१-५) आदि पाँच मन्त्रों से रेतःसिग् वेला[2] में उपधान किया जाता है। तब 'शुक्रश्च शुचिश्च' (१४।६) मन्त्र से उत्तराभिमुख अध्वर्यु प्रथम चिति में उपहित ऋतव्या इष्टकाओं के ऊपर अनूक के दोनों तरफ दो ऋतव्या पद्याप्रमाण इष्टकाओं का उपधान करता है। इसके बाद 'सजूर्ऋतुभिः' (१४।७) इस कण्डिका में स्थित पाँच यजुर्मन्त्रों से वैश्वदेवीसंज्ञक पाँच इष्टकाओं का पूर्व आदि चारों दिशाओं और मध्य में उपधान करना चाहिये। इसी तरह से 'प्राणं मे पाहि' (१४।८) इस कण्डिका के पाँच यजुर्मन्त्रों से प्राणभृत् नाम की पाँच इष्टकाओं का भी इसी क्रम से पूर्व आदि चारों दिशाओं में और मध्य में उपधान किया जाता है। इसी कण्डिका के 'अपः पिन्व' (१४।८) इत्यादि पाँच यजुर्मन्त्रों से अपस्यासंज्ञक पाँच इष्टकाओं का भी इसी क्रम से उपधान विहित है। तब 'मूर्धा वयः' (१४।९) और 'अनड्वान् वयः' (१४।१०) इन दो कण्डिकाओं के १९ यजुर्मन्त्रों से दक्षिण, उत्तर और पश्चिम अनूकान्तों में पाँच-पाँच तथा पूर्व दिशा में चार [3]वयस्यासंज्ञक इष्टकाओं का उपधान किया जाता है। मन्त्रों में वयः शब्द के जुड़े होने से इनका नाम वयस्या है। इन्हीं को छन्दस्या भी कहा जाता है। इतनी इष्टकाओं का उपधान कर लेने के बाद प्रथम चिति के समान ही यहाँ भी दक्षिण श्रोणि से प्रारम्भ कर पहले दो तथा बाद में दस-दस लोकम्पृणा इष्टकाओं का प्रदक्षिणा क्रम से उपधान कर [4]पक्षपुच्छचयन, पुरीषनिवाप और [5]सात ऋचाओं द्वारा इस द्वितीय चिति का उपस्थान किया जाता है।

---

१. चिति के मध्य के चतुरस्र भाग को चिति की आत्मा कहते हैं। आत्मा की दोनों तरफ दक्षिण और उत्तर भाग में दो पक्ष तथा पश्चिम भाग में पुच्छ की स्थिति मानी जाती है।

२. रेतःसिग् वेला, ऋतव्या वेला इत्यादि स्थलों पर प्रयुक्त वेला शब्द का अर्थ किनारा है। इन इष्टकाओं के किनारे-किनारे, अर्थात् इनसे सटा कर इन स्थानों में विहित इष्टकाओं का उपधान किया जाता है।

३. "वयःशब्दोपेतैर्मन्त्रैरुपधेया इष्टका वयस्या इत्युच्यन्ते" (पृ० ३५६)।

४. ऊपर १ संख्या की टिप्पणी देखिये।

५. अठारहवें अध्याय की ६८ से ७४ संख्या तक की सात ऋचाओं से अग्नि का उपस्थान किया जाता है।

इस प्रकार चतुर्दश अध्याय के प्रारम्भ की दस कण्डिकाओं में द्वितीय चिति की उपधान-विधि को बताने के उपरान्त ११ वीं कण्डिका से लेकर २२ वीं तक तृतीय चिति की उपधान-विधि वर्णित है। तृतीय चिति में पहले 'इन्द्राग्नी' (१४।११) और 'विश्वकर्मा त्वा' (१४।१२) इन दो मन्त्रों से चिति के मध्य भाग आत्मा में स्वयमातृण्णा का उपधान और स्तवन किया जाता है। इसके बाद वैश्वदेवी इष्टकाओं के समान प्रत्येक दिशा में रेतःसिग् वेला में अनूकों के ऊपर पाँच दिश्या इष्टकाओं का उपधान होता है। 'राज्ञ्यसि' (१४।१३) मन्त्र में दिशाओं के नाम होने से इस मन्त्र से उपहित इष्टकाओं को भी दिश्या[1] कहा जाता है। तब 'विश्वकर्मा त्वा' (१४।१४) मन्त्र से प्रथम चिति में उपहित विश्वज्योति नामक इष्टका के ऊपर यजमान द्वारा बनाई गई द्वितीय विश्वज्योति नामक पद्या इष्टका का उत्तराभिमुख अध्वर्यु उपधान करता है। इसके बाद 'नभश्च नभस्यश्च' (१४।१५) मन्त्र से पूर्व स्थापित पुरीषाच्छन्न ऋतव्या इष्टकाओं के ऊपर अवका (शैवाल) को स्थापित कर उसके ऊपर पूर्व प्रदर्शित अर्धोत्सेध पद्याप्रमाण दो ऋतव्या इष्टकाओं के अनूक के उभय पार्श्व में उत्तराभिमुख ध्वर्यु अउपधान करता है। इसी तरह की अन्य दो ऋतव्या इष्टकाओं का 'इषश्च' (१४।१६) इत्यादि कण्डिका से उपधान होता है। इस तरह से तृतीय चिति में ऋतव्या इष्टकाओं की संख्या चार होती है, जब कि अन्य चितियों में ये दो-दो ही होती हैं। अब आत्मा के पूर्व भाग में 'आयुर्मे' (१४।१७) इत्यादि कण्डिका से प्राणभृत् नाम की दस इष्टकाओं का उपधान किया जाता है। 'मा छन्दः' (१४।१८–२०) इत्यादि तीन कण्डिकाओं से तीनों अप्ययों में अर्थात् पक्ष, पुच्छ और आत्मा के सन्धि-स्थानों में अनूक की दोनों तरफ बारह-बारह छन्दस्या संज्ञक इष्टकाओं का उपधान विहित है। इसके बाद 'मूर्धासि' (१४।२१) इस कण्डिका के सात यजुर्मन्त्रों से सात वालखिल्य इष्टकाओं का प्राणभृत् संज्ञक इष्टकाओं के आस-पास उपधान करे और 'यन्त्री राट्' (१४।२२) कण्डिका के सात यजुर्मन्त्रों से बारह छन्दस्या इष्टकाओं के अपर भाग में अन्य सात वालखिल्य इष्टकाओं का उपधान विहित है।

'आशुस्त्रिवृत्' से लेकर अध्याय समाप्ति पर्यन्त चतुर्थ चिति के उपधान मन्त्र सविधि वर्णित हैं। प्रथम कण्डिका में १८ यजुर्मन्त्र हैं। इनमें से चार का मृत्युमोहिनी के उपधान में और बाकी १४ मन्त्रों का अर्धपद्या इष्टकाओं के उपधान में विनियोग विहित है। पूर्वानूकान्तों में विहित दक्षिणोत्तर दिशा के मध्य में उत्तराभिमुख जंघामात्री उत्तरेष्टका का उत्तराभिमुख अध्वर्यु उपधान करता है। तब 'अग्नेर्भागोऽसि' (१४।२४) मन्त्र से पूर्वानूकान्त में विहित जंघा और नाभि के मध्य में जंघामात्री दक्षिणेष्टका का उपधान किया जाता है। उत्तरेष्टका का उपधान पहले हो चुका है। इस कण्डिका में दस यजुर्मन्त्र हैं। इनमें से चार मृत्युमोहिनी और छः पद्याप्रमाण इष्टकाओं के उपधान में विनियुक्त हैं। ये दस इष्टकाएँ 'स्पृत' नाम से प्रसिद्ध हैं। अब उत्तराभिमुख अध्वर्यु उत्तर दिशा से लेकर दक्षिण पर्यन्त विस्तृत छः पद्या इष्टकाओं का 'वसूनां भागः' (१४।२५-२६) इत्यादि दो कण्डिकाओं के छः यजुर्मन्त्रों से उपधान करता है। तब 'सहश्च सहस्यश्च' (१४।२७) मन्त्र से अनूक के दोनों भागों में दो पद्या इष्टकाओं का उपधान किया जाता है। अन्त में 'एकयाऽस्तुवत' (१४।२८-३१) इत्यादि चार मन्त्रों में स्थित १७ यजुर्मन्त्रों से सभी दिशाओं में रेतःसिग् वेला में [2]सृष्टिसंज्ञक सत्रह इष्टकाओं का उपधान विहित है। इनमें से अनूक के दक्षिण में ९ और उत्तर में ८ का उपधान किया जाता है। इस पद्धति से प्रत्येक तीन दिशाओं में चार-चार तथा दक्षिण दिशा में पाँच इष्टकाओं का आधान सम्पन्न होता है और इस तरह से यह तृतीय चिति में आधेय इष्टकाओं की विधि पूरी होती है। पुरीषनिवपन और सात ऋचाओं से प्रस्तुत चिति का उपस्थान पूर्ववत् किया जाता है।

---

१. "दिक्शब्दोपेतैर्मन्त्रैरुपधेयत्वादासामिष्टकानां दिश्या इति संज्ञा" (पृ० ३६६-३६७)।

२. "सृष्टिशब्दोपेतमन्त्रैरुपधेयत्वात् सृष्टिशब्दवाच्यता" (पृ० ३९४)।

पंचदश अध्याय : पंचम चिति का आधान

चौदहवें अध्याय में द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ चिति के उपधान की विधि और मन्त्रों को बताने के बाद पन्द्रहवें अध्याय में पंचम चिति के उपधान की विधि बताई गई है। पंचम चिति में प्रत्येक दिशा में आत्मा के प्रान्त भागों में आश्विनी संज्ञक इष्टकाओं के समान असपत्न संज्ञक पाँच पद्याप्रमाण इष्टकाओं का उपधान 'अग्ने जातान्' (१५।१-३) इत्यादि तीन कण्डिकाओं के 'अग्ने जातान्, सहसा जातान्, षोडशी, चतुश्चत्वारिंशः, अग्ने पुरीषम्' इन पाँच यजुर्मन्त्रों से किया जाता है। इसके बाद 'एवच्छन्दः' (१५।४-५) इत्यादि दो कण्डिकाओं में विद्यमान ४० यजुर्मन्त्रों से चारों दिशाओं में उक्त इष्टकाओं से संलग्न दस-दस विराट् संज्ञक पद्याप्रमाण इष्टकाओं का उपधान अनूक के उभय भाग में किया जाता है। इसके बाद अषाढा वेला की सभी दिशाओं में स्तोमभाग नाम की २९ इष्टकाओं का उपधान 'रश्मिना सत्याय' (१५।६-९) इत्यादि चार कण्डिकाओं में स्थित २९ मन्त्रों से किया जाता है। इनमें से पूर्वानूक के दक्षिण में १५ और उत्तर में १४ स्तोमभाग इष्टकाओं का उपधान किया जाता है। इन इष्टकाओं का उपधान करने से पूर्वानूक में स्थान का अभाव हो जाता है, अतः पूर्वानूक को छोड़कर बाकी तीन दिशाओं के अनूकों पर ऋतव्या वेला में 'राज्यसि' (१५।१०-१४) इत्यादि पाँच मन्त्रों से आश्विनी इष्टकाओं के समान ही नाकसद् नामक पाँच इष्टकाओं का आधान करे। उपधान के अनन्तर इन इष्टकाओं के ऊपर चात्वाल की मिट्टी डाल कर उनके ऊपर चारों दिशाओं में और मध्य में पंचचूडा नाम की पाँच इष्टकाओं का उपधान 'अयं पुरः' (१५।१५-१९) इत्यादि पाँच मन्त्रों से करे।

इसके बाद 'अग्निर्मूर्धा' (१५।२०-२२) इत्यादि तीन मन्त्रों से गायत्री आदि नामों वाली छन्दस्या संज्ञक तीन-तीन इष्टकाओं का आधान किया जाता है। इनमें से मध्यमा पद्या अनूक पर और उसकी दोनों तरफ दो अर्धपद्या इष्टकाएँ रहती हैं। छन्दस्या इष्टकाओं में सबसे पहले पूर्व दिशा के अनूकान्त में उदङ्मुख अध्वर्यु तीन गायत्री संज्ञक इष्टकाओं का उपधान करता है। तब पूर्व दिशा में रेतःसिग् वेला में त्रिष्टुप्संज्ञक तीन इष्टकाओं को उत्तराभिमुख रखते समय 'भुवो यज्ञस्य' (८५।२३-२५) इत्यादि त्रिष्टुप्छन्दस्का तीन ऋचाओं का पाठ किया जाता है। इसके पीछे रेतःसिग् वेला में तीन जगती छन्दस्का इष्टकाओं का दक्षिणाभिमुख उपधान किया जाता है। इस समय 'अयमिह' (१५।२६-२८) इत्यादि जगती छन्द की तीन ऋचाओं का पाठ किया जाता है। इसके बाद अनुष्टुप् संज्ञक इष्टकाओं का उपधान इसी पद्धति से 'सखायः' (१५।२९-३१) इत्यादि अनुष्टुप् छन्द के तीन मन्त्रों से किया जाता है। तब अषाढा इष्टका के आगे उत्तराभिमुख अध्वर्यु बृहती नामक तीन इष्टकाओं का उपधान 'एना वः' (१५।३२-३४) इत्यादि तीन ऋचाओं से करता है। यहाँ भाष्यकार ने प्रगाथ का लक्षण बताया है। दो ऋचाओं का शास्त्रीय विधि से प्रग्रथन कर जब तीन ऋचाएँ बना दी जाती हैं, तो उसे प्रगाथ कहते हैं। भाष्यकार ने यहाँ (१५।३२) उदाहरण देकर इस विषय को समझाया है। इसके आगे 'अग्ने वाजस्य' (१५।३५-३७) इत्यादि तीन ऋचाओं से उष्णिक् नामक तीन अर्धपद्या इष्टकाओं का उत्तराभिमुख अध्वर्यु उपधान करता है। तब 'भद्रो नः' (१५।३८-४०) इत्यादि तीन मन्त्रों से बृहती इष्टकाओं के आगे ककुप्संज्ञक इष्टकाओं का उपधान करता है। अब दक्षिण दिशा के अनूकान्त में पंक्तिसंज्ञक तीन इष्टकाओं का उपधान 'अग्नि तम्' (१५।४१-४३) इत्यादि तीन मन्त्रों से पश्चिम दिशा में प्राङ्मुख खड़ा अध्वर्यु करता है। इसी तरह से उत्तर के अनूकान्त में उत्तराभिमुख तीन पदपंक्ति नामक इष्टकाओं का उपधान पूर्वाभिमुख अध्वर्यु 'अग्ने तम्' (१५।४४-४६) इत्यादि तीन ऋचाओं से करता है।

पुरीष शब्द वाले मन्त्र (१५।३) से उपहित असपत्ना नाम वाली पाँचवीं इष्टका पुरीषवती कहलाती है। उसके सामने अतिच्छन्दस नाम की पद्याप्रमाण इष्टका का 'अग्नि होतारम्' (१५।४७) मन्त्र से प्राङ्मुख हो उपधान किया जाता है। इसके बाद अनूकान्त में तीन द्विपदा संज्ञक इष्टकाओं का आधान 'अग्ने त्वम्' (१५।४८) इस कण्डिका के तीन यजुर्मन्त्रों से दक्षिणाभिमुख हो किया जाता है। तब मध्योपहित इष्टका वाले गार्हपत्य के ऊपर 'येन ऋषयः' (१५।४९-५६) इत्यादि आठ ऋचाओं से गार्हपत्य की पद्धति से ही चिति का पुनः आधान किया जाता है।

इस प्रकार चिति का पुनः उपधान करने के बाद पंचम चिति की शेष इष्टकाओं का आधान इस प्रकार किया जाता है—पहले अनूक के उभय पार्श्व में उदङ्मुख हो दो ऋतव्या पद्येष्टकाओं का अध्वर्यु 'तपश्च' (१५।५७) इत्यादि मन्त्र से उपधान करता है। फिर यजमान निर्मित विश्वज्योति इष्टका का उपधान पूर्वोपहित तृतीय विश्वज्योति इष्टका के ऊपर 'परमेष्ठी' (१५।५८) इत्यादि मन्त्र से करता है। इसके बाद आत्मा की दाहिनी तरफ आग्नेय कोण के पश्चिम में अरत्निमात्र दूर के दो लोकों को छोड़कर तृतीय लोक से आरम्भ कर प्रथम चिति के समान लोकम्पृणा इष्टकाओं का आधान 'लोकम्पृण' (१५।५९-६१) इत्यादि तीन मन्त्रों से करे।

इसके बाद पंचम चिति को पुरीष से ढककर शर्करामयी परस्पर जुड़ी हुई छिद्रवाली विकर्णी स्वयमातृण्णा नामक दो इष्टकाओं का दक्षिणोत्तर दिशाओं में उत्तराभिमुख अध्वर्यु उपधान करे और उत्तर दिशा में अनूक की रेखा के बीच में 'प्रेथदश्व' (१५।६२) इत्यादि मन्त्र से विकर्णी इष्टका का उपधान करे। तब 'आयोष्ट्वा' (१५।६३-६४) इत्यादि दो मन्त्रों से विकर्णी इष्टका के दक्षिण में स्वयमातृण्णा का उपधान करे। अन्त में इष्टकाचित सपक्षपुच्छ अग्नि का पश्चिम, उत्तर, पूर्व, दक्षिण और पुनः पश्चिम दिशाओं में स्थापित जल से भरे हुए एक-एक पात्र में सुवर्ण के एक हजार टुकड़ों को डाल कर उनसे प्रोक्षण करे। अग्नि के पश्चिम में पूर्वाभिमुख, उत्तर में दक्षिणाभिमुख, पूर्व में पश्चिमाभिमुख, दक्षिण में उत्तराभिमुख और पुनः पश्चिम में पूर्वाभिमुख हो प्रोक्षण विधि सम्पन्न की जाती है। प्रत्येक बार प्रोक्षण करते समय सुवर्ण के २०० टुकड़े डाले जाते हैं। इस अध्याय की अन्तिम कण्डिका 'सहस्रस्य' (१५।६५) के पाँच यजुर्मन्त्रों से यह विधि सम्पन्न की जाती है।

शतपथ ब्राह्मण के अवधेय अंश

११ से १५ अध्यायों के मन्त्रों का यह विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र के १६-१७ अध्यायों के आधार पर दिया गया है। भाष्यकार ने कात्यायन के उक्त विनियोगों का समर्थन शतपथ ब्राह्मण के ६-८ काण्डों के वचनों को विस्तार से उद्धृत कर किया है। साथ ही मन्त्रों की विशिष्ट शब्दावली की व्याख्या भी शतपथ ब्राह्मण के वचनों के आधार पर प्रस्तुत की है। भाष्यकार ने ११ वें अध्याय का आरम्भ शतपथ के षष्ठ काण्ड के प्रथम दो अध्यायों के विषयों को अतिसंक्षेप में दिखाते हुए किया है। मिट्टी खोदने के लिये काठ की अभ्रि बनाई जाती है। ११ वें अध्याय के ११ वें मन्त्र में हिरण्मयी शब्द को देखकर कुछ आचार्यों का कहना है कि यह अभ्रि सुवर्ण की बनाई जानी चाहिये, किन्तु शतपथ में इस मत का खण्डन कर इस शब्द की व्याख्या भिन्न प्रकार से की गई है।

'आपो हि ष्ठा' (११।५०) मन्त्र के भाष्य में शतपथ को उद्धृत करते हुए बताया गया है कि उखा के निर्माण के लिये उपयोग में लाई जाने वाली मिट्टी में पलाश की छाल का उबला हुआ पानी इस लिये मिलाया जाता है कि वह मजबूत बने, अनायास ही टूट न जाय। इस मन्त्र की व्याख्या में उद्धृत शतपथ ब्राह्मण की नौ (६।१।३।१०-१८) कण्डिकाओं में कुमार अग्नि के रुद्र, शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव और ईशान—इन आठ नामों की चर्चा की गई है और बताया गया है कि उखा-संभरण में प्रयुक्त होने वाले अग्नि, जल, औषधि, वायु, विद्युत्, पर्जन्य, चन्द्रमा और आदित्य इन्हीं के रूप हैं। यहाँ औषधि शब्द पृथिवी का और पर्जन्य प्रजापति रूप यजमान का सूचक है। इस प्रकार हमें यहाँ पुराणों में वर्णित अष्टमूर्ति शिव के दर्शन होते हैं। अथर्ववेद के व्रात्य सूक्त में रुद्र के सात ही नाम मिलते हैं। वहाँ अशनि नाम नहीं है। पुराणों में और पुष्पदन्त के शिवमहिम्नस्तव में अशनि के स्थान पर भीम नाम मिलता है।

'अदित्यै रास्नासि' (११।५९) मन्त्र के भाष्य में शतपथ ब्राह्मण को बहुत विस्तार से उद्धृत किया गया है और सोदाहरण समझाया गया है कि उखा के चार ही स्तन क्यों बनाने चाहिये, दो अथवा आठ क्यों नहीं। गाय के चार स्तन होते हैं। दो स्तन वाले अजा, वडवा आदि तथा आठ स्तन वाले शुनी, शूकरी आदि पशु गाय की अपेक्षा हीन कोटि के माने जाने जाते हैं। इसीलिये दो स्तन अथवा आठ स्तन वाले पशु को यहाँ मान्यता नहीं दी गई है। इसी

प्रकार आठवें मन्त्र के भाष्य में शतपथ के प्रमाण से यह बताया गया है कि घोड़े की लीद से ही क्यों उखा को धूप देनी चाहिये। याज्ञिक प्रक्रिया में अवट (गड्ढा) खनन जैसी विधियों का अनुष्ठान क्यों करना चाहिये, इस तरह की अनेक विधियों का समर्थन शतपथ में पुरावृत्त, अर्थात् पूर्वकालीन घटनाओं के आधार पर किया गया है। औद्ग्रभण जैसे नामों की व्युत्पत्तियाँ भी यहाँ बताई गई हैं। यज्ञ को पांक्त क्यों कहते हैं? सात चितियां कौन-कौन सी होती हैं? इस तरह के विषयों को भी यहाँ शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय संहिता आदि के वचनों को विस्तार से उद्धृत कर स्पष्ट किया गया है (पृ० ९०)।

बारहवें अध्याय के प्रथम मन्त्र में उद्धृत ब्राह्मण में यह बताया गया है कि सुवर्ण का धारण नाभि के ऊपर के भाग में ही करना चाहिये। आज भी लोक में इस नियम का पालन किया जाता है। गार्हपत्य-चयन के प्रसंग में (१२।४६) उल्बसंस्तव, पशुसंस्तव, निवपन, परिश्रयण आदि विषयों को शतपथ के अनेक वचनों की सहायता से समझाया गया है। एक स्थान पर पुरुष का परिमाण [1]व्याममात्र, चार अरत्नि बताया गया है तथा अन्यत्र[2] १२० अंगुल का। अनेक विषयों को आख्यायिकाओं के द्वारा निरूपित करने वाले शतपथ ब्राह्मण के वचन भी यहाँ ५८-६२ मन्त्रों की व्याख्या में विस्तार से उद्धृत हैं। ११५ वें मन्त्र की व्याख्या में उद्धृत ब्राह्मण में ऋक्शाखा के अध्येताओं के मत की समालोचना कर अपने सिद्धान्त की स्थापना की गई है। यहाँ यह भी बताया गया है कि कुछ कर्मों में मन्त्रों का उच्चारण [3]उपांशु रूप में क्यों करना चाहिये।

अग्निग्रहण, सत्यसामगान, पुष्करपर्णोपधान आदि विधियों का शतपथ में संग्रह और विस्तार से वर्णन किया गया है। १३ वें अध्याय के पहले ही मन्त्र में भाष्यकार ने शतपथ के प्रमाण से बताया है कि अग्नि के ग्रहण से अध्वर्यु अग्नि के समान हो जाता है। इसी कारण से अध्वर्यु के द्वारा उत्पादित चित्याग्नि भी साक्षात् अग्निरूप हो जाती है। यहाँ अग्निग्रहण की गर्भाधान से और चयन की प्रसव से तुलना की गई है। दूसरे मन्त्र के भाष्य में पुष्करपर्ण की आकाश से और रुक्म की सूर्यमण्डल से तुलना है। इसी प्रकार चतुर्थ मन्त्र के भाष्य में रुक्म के मध्य में स्थापित किये जाने

---

१. अपने दोनों हाथों को पूरी तरह से दोनों तरफ फैला देने के बाद जितनी लम्बाई होती है, उसका नाम व्याम है। देखिये अमरकोश—"व्यामो बाह्वोः सकरयोस्ततयोस्तिर्यगन्तरम् (२।६।८७)। व्याममात्र ही पुरुष की लम्बाई होती है। यह लम्बाई चार अरत्निप्रमाण होती है, जो कि ९६ अंगुल के बराबर होती है। घेरण्डसंहिता में भी यहीं कहा गया है—"षण्णवत्यङ्गुलीमानं शरीरं कर्मरूपकम्" (५।८१)। भाष्यकार ने व्याम शब्द की व्युत्पत्ति भिन्न प्रकार से की है—"व्यायम्यतेऽस्मिन् बाहुद्वयमिति व्युत्पत्त्या व्यायाम इति शब्दो निष्पद्यते, स एवात्र वर्णलोपेन व्याम इत्युच्यते। स च तिर्यक्प्रसारितौ बाहू यावत्परिमाणौ भवतस्तस्य परिमाणविशेषस्य संज्ञा। चतुररत्निर्व्याम इति प्रसिद्धम्" (पृ० १८४)। अमरकोश की टीका में इससे भिन्न तीन व्युत्पत्तियां दी गई हैं। उन्हें वहीं देखना चाहिये।

२. विंशत्यधिकशताङ्गुलिपरिमितः पुरुषः, तस्य दशमोंऽशः पादः, स प्रमाणं यासां ताः पादमात्र्यः। तदुक्तं कात्यायनेन—"पञ्चारत्निर्दशवितस्तिर्विंशतिशताङ्गुलः पुरुषो द्वादशाङ्गुलं पदम्" (का० शु० ८२) (पृ० १९०)। अमरकोश में—"ऊर्ध्वविस्तृतदोःपाणिनृमाने पौरुषं त्रिषु" (२।६।८७) इस प्रकार इसका लक्षण बताया है।

३. शास्त्रों में जप के वाचिक (भाष्य), उपांशु और मानस नामक तीन प्रकार बताये गये हैं। वाचिक जप में मन्त्रों का उच्चारण दूसरों को भी सुस्पष्ट सुनाई पड़ता है। उपांशु जप चुपचाप किया जाता है। यह दूसरों को नहीं सुनाई पड़ता। मानस जप भावनात्मक होता है। इसमें शारीरिक अवयवों का कोई योगदान नहीं रहता। तन्त्रशास्त्र के अतिरिक्त मनुस्मृति (२।८५) में भी इनका वर्णन है। वहाँ बताया गया है कि विधि यज्ञ से जप यज्ञ (वाचिक) दस गुना श्रेष्ठ है। उपांशु जप सौ गुना और मानस जप हजार गुना श्रेष्ठ माना जाता है।

वाले हिरण्मय पुरुष को हिरण्यगर्भ से अभिन्न माना है। अष्टम मन्त्र के भाष्य में यज्ञ और नमस्कार की समान महिमा गाई गई है। नवें मन्त्र की व्याख्या के प्रसंग में बताया गया है कि प्रतिसर शब्द यहाँ राक्षसों का नाश करने वाले मन्त्रों के लिये प्रयुक्त हुआ है। यहाँ शतपथ के प्रमाण से इसकी विस्तृत व्याख्या की गई है। आगे के भाष्य में उदुम्बर आदि वृक्षों की उत्पत्ति को आख्यायिकाओं के सहारे समझाया गया है। स्वयमातृण्णा, द्वियजुः, रेतःसिक्, विश्वज्योति, ऋतव्या, अषाढा नामक इष्टकाओं का स्वरूप भी यहाँ विस्तार से वर्णित है।

इसी तरह से २७-३१ मन्त्रों के भाष्य में कूर्मोपधान की प्रक्रिया भी शतपथ के आधार पर ही विस्तार से बताई गई है। आगे के मन्त्रों के भाष्य में उदुम्बर, उलूखल, मुसल, उखा आदि शब्दों को प्रवृत्ति के निमित्तों की व्याख्या प्रस्तुत कर इनके उपधान की विधि विस्तार से प्रदर्शित है। ३८ वें मन्त्र में उद्धृत शतपथ के वचन में सात शीर्षण्य प्राणों की चर्चा आई है। भाष्यकार ने यहाँ बताया है कि एक वाणी, दो नेत्र, दो श्रोत्र और दो नासिका के छिद्रों को मिला कर शीर्षण्य प्राणों की संख्या सात होती है। इसी तरह से ५४ वें मन्त्र में दस प्राणों की चर्चा आती है। वहाँ सात शीर्षण्य प्राणों के अतिरिक्त पायु, उपस्थ और नाभि की गिनती की गई है। ४१-४५ मन्त्रों के भाष्य में पाँच पशुओं के शिरों के उपधान की प्रक्रिया समझाई गई है। शाक्त तन्त्रों में पंचमुण्डी आसन पर देवमूर्ति की स्थापना और आराधना वर्णित है। इस याज्ञिक प्रक्रिया से पंचमुण्डी आसन की प्रक्रिया का विश्लेषण किया जाना चाहिये। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्रों में पाँच पशुशीर्षों के समान ही पाँच प्राणभृत्संज्ञक इष्टकाओं की उपधान विधि भी शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से ही वर्णित है।

चतुर्दश अध्याय में द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ चितियों के प्रसंग में आश्विनी, ऋतव्या, वैश्वदेवी, प्राणभृत्, अपस्या, वयस्या, छन्दस्या, दिश्या आदि इष्टकाओं के उपधान की विधियों का तो विस्तार से वर्णन किया ही गया है, साथ ही अनेक विशिष्ट शब्दों की व्याख्या भी यहाँ की गई है। सात वालखिल्या इष्टकाओं की व्याख्या का प्रसंग भी विशेष रूप से अवलोकनीय है (पृ० ३७६-३७७)। यहाँ वालखिल्या पद की व्युत्पत्ति बता कर इनकी प्राणों से अभिन्नता प्रदर्शित की है। यहाँ सात प्राणों की एक भिन्न ही व्याख्या की गई है कि दो कोहनियों के ऊपर के और दो नीचे के अंगों के साथ शिर, ग्रीवा और नाभि—शरीर के ऊर्ध्व भाग के ये सात अंग ही सात प्राण हैं। इसी तरह से दो घुटनों के ऊपर के और दो नीचे के अंगों के साथ दो पैर और नाभि का अधोभाग—शरीर के अधोभाग के ये सात अंग भी प्राण शब्द से ही कहे गये हैं (पृ० ३७७)। शतपथ ब्राह्मण में इनको पुरस्तात्प्राण और पश्चात्प्राण कहा गया है। चतुर्थ चिति के उपधान के प्रसंग में यहाँ संवत्सर रूप कालपुरुष का और तप, अभीवर्त, वर्चस्, संभरण, योनि, गर्भ, ओजस्, क्रतु, प्रतिष्ठा, ब्रध्नस्यविष्टप, नाक, विवर्त और धर्त्र नामक विशेषणों से विशिष्ट नवदश, सविंश, द्वाविंश, त्रयोविंश, चतुर्विंश, पंचविंश, त्रिणव, एकत्रिंश, त्रयस्त्रिंश, चतुस्त्रिंश, षट्त्रिंश, अष्टाचत्वारिंश और चतुष्टोम नामक तेरह स्तोमों की विशेष रूप से व्याख्या की गई है (पृ० ३८५)। इसी तरह से स्पृत नामक (पृ० ३८८-३८९) और सृष्टिसंज्ञक (पृ० ३९३-३९४) इष्टकाओं के उपधान का प्रकार भी उसी पद्धति से वर्णित है।

पन्द्रहवें अध्याय में प्रथमतः पाँचवीं चिति में आधेय पाँच असपत्ना नाम की इष्टकाओं के साथ छन्दस्या इष्टकाओं का स्वरूप विस्तार से बताया गया है। स्तोमभाग इष्टकाओं के उपधान के प्रसंग में स्तोमभाग शब्द का अर्थ बताते हुए इससे सम्बद्ध मन्त्रों की तीन प्रकार से व्याख्या की गई है। यहाँ त्रिविध जंगम और त्रिविध स्थावर अन्नों की भी व्याख्या की गयी है कि पिता, माता और पुत्र—ये जंगम अन्न हैं और तप, वृष्टि और बीज स्थावर अन्न। इसी तरह से नाकसत् और पंचचूडा (पृ० ४१९) इष्टकाओं की उपधान-विधि भी शतपथ ब्राह्मण के सहारे ही समझाई गई है।

मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ

प्रस्तुत भाष्य में प्रत्येक मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ भी बताया गया है, इस बात का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। मन्त्रगत पदों से, विभक्तियों और वचनों से स्वाभाविक रूप से सूचित होने वाले परमात्मा के सामान्य और विशेष विभिन्न रूपों को स्मरण किया गया है। इनमें सविता, मित्र, सूर्य, अग्नि, जल, वायु, हिरण्यगर्भ, विष्णु, शिव, सोम (साम्ब सदाशिव), पशुपति, रुद्र, कालरुद्र, प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परमात्मा, भोक्ता जीव, प्रत्यगात्मा, जीवेश्वर, अदिति, श्रुति, पृथिवी, चिद्रूपा परा देवता, मृत्यु, निर्ऋति, औषधि, महामाया, ब्रह्मविद्या आदि के साथ ही सीताराम, राधाकृष्ण, रुक्मिणीकृष्ण, बलरामकृष्ण, श्रीकृष्ण, श्रीराम, रामलक्ष्मण, राजा रामचन्द्र, परमात्मा राम, पार्वती, परमेश्वर, गौरीशंकर, लक्ष्मीनारायण, नृसिंह, सीता, जनकनन्दिनी, राजराजेश्वरी त्रिपुरसुन्दरी आदि प्रमुख हैं। कहीं-कहीं मनुष्य की जिज्ञासा वृत्ति को, अपने इष्टदेव को, उपासक (साधक) को, भोक्ता जीव को, अपनी बुद्धि को और इन्द्रियों को भी संबोधित किया गया है। आध्यात्मिक अर्थ में धीर मनुष्य के हृदयाकाश में स्थित ब्रह्म को स्मरण किया जाय, यह तो अति-स्वाभाविक है। एक मन्त्र में चक्रवर्ती राजा दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ से उत्पन्न हुए चारों पुत्रों और कौशल्या आदि इनकी माताओं का उल्लेख है। अन्यत्र अन्नमय आदि कोशों में स्थित पुरुष को संबोधित किया गया है। एक मन्त्र में बताया गया है कि अन्य देवताओं की आराधना में बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है, भगवान् तो इतने करुणामय हैं कि गजेन्द्र के आह्वान पर वे अपने शीघ्रगामी गरुड़ को भी छोड़कर स्वयं दौड़ पड़ते हैं। अन्यत्र बताया गया है कि भगवान् के सभी रूप वेदान्त की दृष्टि से बौद्ध हैं, अर्थात् कल्पनामात्र सार हैं। निर्गुण, निराकार और सगुण, साकार ये दोनों भगवान् के रूप हैं। अयोध्या, वृन्दावन आदि धामों में भगवान् का साकार स्वरूप ही विराजमान है।

११ वें अध्याय के ६१ वें मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ विशेष रूप से देखने लायक है। यहाँ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुति के सहारे और दुर्गासप्तशती के प्रमाण से मन्त्र की व्याख्या की गई है। योगसूत्र को भी यहाँ उद्धृत किया गया है। आध्यात्मिक अर्थ के प्रसंग में अन्यत्र भी अनेक शास्त्रों के वचन उद्धृत किये गये हैं; यह बात हम प्रारम्भ में ही बता चुके हैं। यहाँ यह भी प्रार्थना की गई है कि हमारी चित्तवृत्ति ब्रह्माकार में परिणत हो जाय। ज्ञानाग्नि इस सारे संसार को अपना ग्रास (कौर) बना ले। इसी अध्याय के ७०-७१ संख्या के मन्त्रों में ज्ञानाग्नि का वर्णन विशेष रूप से मिलता है। एक मन्त्र की व्याख्या में बताया गया है कि भगवान् विश्वनाथ अथवा विष्णु को भक्त श्रद्धापूर्वक छप्पन भोग समर्पित करते हैं। इस प्रकार यहाँ भगवान् के व्यावहारिक और पारमार्थिक दोनों ही रूपों की चर्चा हुई है।

१२ वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में बताया गया है कि भक्तों के द्वारा आराधित परमेश्वर ब्रह्मात्मबोध रूप सुवर्ण की वर्षा करता है। अगले मन्त्र में माया, परमात्मा और ब्रह्मज्ञान रूप शिशु की चर्चा की गई है। अगले एक मन्त्र में राम रूप अग्नि और ईं चिद्रूपिणी कामकला की स्तुति है। एक ही भगवान् के इन्द्र, वरुण, यम आदि अनेक रूप हैं, ऐसा बताते हुए यहाँ एक मन्त्र में कहा गया है कि माया, राग और कर्ममय तीन बन्धनों से व्यक्ति छुटकारा तभी पाता है, जब वह उस सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की उपासना करता है। 'हंसः शुचिषद्' मन्त्र के भाष्य में बताया गया है कि इस मन्त्र की व्याख्या काठकोपनिषद् के भाष्य (५।२) में भगवत्पाद शंकराचार्य ने स्वयं की है। 'दिवस्परि' मन्त्र की व्याख्या में ज्ञानाग्नि की तीन अवस्थाओं का निरूपण है और आगे के अनेक मन्त्रों में इस ज्ञानाग्नि की ही चर्चा है। एक मन्त्र (१२।४५) में दिखाया गया है कि जप, ध्यान आदि के सहारे हो व्यक्ति भौम, आन्तरिक्ष और दिव्य, अर्थात् भूमि, अन्तरिक्ष और स्वर्ग की तरफ से आने वाले विघ्नों को दूर कर सकता है। परमेश्वर सम्यक् ज्ञान प्रदान कर ब्रह्मविद् साधकों की सहायता करता है। आगे बताया गया है कि वेदान्तियों के मत से साभासा बुद्धि ही बन्ध और मोक्ष दोनों का कारण बनती है। अन्यत्र (१२।६४) अविद्या, काम और कर्म को बन्ध का हेतु बताया गया है। आगे के मन्त्र में कहा गया है कि अविद्या और विद्या शक्तियाँ ही बन्ध और मोक्ष का कारण हैं। ६९ वें मन्त्र के भाष्य में बताया गया है

कि परिष्कृत बुद्धिरूप भूमि में ही गुरु के उपदेश रूपी बीज बोये जा सकते हैं। ज्योति पद से अपर ब्रह्म और परब्रह्म दोनों का ही ग्रहण किया गया है। एक (१२।७५) मन्त्र में बताया गया है कि अधिष्ठान सत्ता के अतिरिक्त कल्पित सत्ता को वेदान्त स्वीकार नहीं करता, अतः यह सारा संसार ब्रह्म का ही विवर्त है। चिति शक्ति कुण्डलिनी की भी यहाँ (१२।८३-८५) चर्चा आई है। एक अन्य मन्त्र (१२।९५) में बताया गया है कि शान्त स्वभाव के व्यक्ति के लिये यहाँ कोई भी परेशानी नहीं बच पाती। सारा संसार ही उसके लिये नन्दन वन के समान हो जाता है। अगले मन्त्रों में विरति की प्रशंसा की गई है। भक्ति को भी यहाँ (१२।१०५) ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण माना गया है। भगवान् राम के लिये यहाँ कहा गया है कि काक, गृध्र, वानर, भालू, निषाद, कोल, भील, किरात आदि के साथ देवताओं और ऋषियों के मनोरथों को भी वे पूरा करते हैं (१२।१०७)।

१३ वें अध्याय के तीसरे मन्त्र में सत्यज्ञानादिलक्षण ब्रह्म की व्याख्या की गई है। इस अध्याय में अग्नि आदि शब्दों के प्रतिनिधि के रूप में श्रीराम का वर्णन अतिविस्तार से अनेक घटनाओं को प्रस्तुत करते हुए किया गया है। बुद्धि, माया, प्रकृति, विराट् पुरुष, कालात्मक भगवान्, भगवती राजराजेश्वरी, ब्रह्मचिन्तनपरायण साधक, भक्तजन आदि का उल्लेख करते हुए यहाँ वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्म का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। हिरण्यश्मश्रु, हिरण्यकेश, सर्वान्तर्यामी भी यहाँ सम्बोधित है। बृहदारण्यक प्रतिपादित ब्रह्म का तो यहाँ निरूपण है ही, राम के कार्य की सिद्धि के लिये समुद्र को लाँघने वाले हनुमान् के प्रति देवताओं की शुभकामना भी यहाँ अभिव्यक्त की गई है। अग्नि की ब्रह्माग्नि के रूप में व्याख्या तो अनेक स्थानों पर की ही गई हैं, कहीं-कहीं इस शब्द से हनुमान् को भी सम्बोधित किया गया है। परमेश्वर की सर्वात्मकता का प्रतिपादन भी अनेक स्थानों पर हुआ है।

१४ वें अध्याय में सर्वप्रथम जीव की ब्रह्मात्मज्ञाननिष्ठा को संबोधित किया गया है। चौथे मन्त्र के भाष्य में इस विषय को विशेष रूप से समझाया गया है। जल के जैसे हिम, कल्लोल आदि विविध रूप हैं, उसी तरह से चितिरूपा भगवती ही संसार में नाना नाम-रूपों में भासित होती है। भगवद्भजन में लगे हुए साधक के सभी सहायक हो जाते हैं। कालशक्ति, प्रत्यगभिन्न ब्रह्मचिति और चिद्रूपा भगवती को भी यहाँ संबोधित किया गया है। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्रों में परमात्मा को प्रजापति के रूप में स्मरण किया गया है।

१५ वें अध्याय में अग्नि के रूप में परमेश्वर की और नाना रूपों में भगवती राजराजेश्वरी की स्तुति की गई है। यही परमा चिति है, परदेवता है, चिदानन्दस्वरूपा है। इसके प्रसाद से प्राप्त ज्ञानाग्नि साधनचतुष्टयसम्पन्न अधिकारियों को श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा परम पद को प्राप्त कराती है। उद्गाता, होता आदि भक्तजन इसी की स्तुति करते हैं। अग्निस्वरूप परमेश्वर राम, कृष्ण आदि के रूप में प्रकट होते हैं। ३२ वीं संख्या के मन्त्र में भक्तों को विशेष रूप से संबोधित किया गया है। आगे बताया गया है कि तप के प्रभाव से चित्त को एकाग्र कर वसिष्ठ आदि ऋषिगण ब्रह्मात्मक परमानन्द की अनुभूति करते हैं। भगवान् अग्निस्वरूप परमात्मा ही हमें वेदवाणी का अभिप्राय समझाने में समर्थ होते हैं। भगवान् राम के दिव्य धाम अयोध्या का अथर्ववेद में उल्लेख है। ५३ वें मन्त्र में भाष्यकार आचार्य नरहरि के मत को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मधुसूदन सरस्वती के भक्तिरसायन नामक ग्रन्थ में किया गया है और इसकी भूमिका में हमने इस सिद्धान्त को सुपुष्ट प्रमाणों के आधार पर स्थापित किया है।

स्वामी दयानन्द के भाष्य की समालोचना

वेदार्थपारिजातकार ने स्वामी दयानन्द के भाष्य का यहाँ तिलशः खण्डन किया है। स्वामी दयानन्द के भाष्य के अनुसार संहिता के मन्त्रों में परस्पर कोई अनुस्यूति नहीं है। कभी वे मनुष्य को संबोधित करते हैं, कभी पति-पत्नी को, कभी राजा और सेनापति को तो कहीं किसी योगी, विद्वान् अथवा वीर योद्धा को। २४, ३६ और ४८ वर्ष की उम्र तक

ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाले त्रिविध ब्रह्मचारियों का ये वसु, रुद्र और आदित्य शब्दों से ग्रहण करते हैं। अध्यापक, वैद्य, सन्तति, स्त्री-पुरुष, विदुषी अध्यापिका, विदुषी कन्या, ब्रह्मचारिणी कुमारी, ब्रह्मचारी कुमार, कुमार, कुमारी, गृहस्थ, सभापति, यजमान, पुरोहित, राजप्रजाजन, उपदेशक, परीक्षक आदि को ये मनमाने तरीके से संबोधित करते रहते हैं। कहीं ये बिजली के उत्पादन की बात करते हैं, तो अन्यत्र शिल्पविद्या, भूगर्भविद्या, अग्निविद्या, योगविद्या आदि की। इतना ही नहीं, बिना प्रसंग के ही ये नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र को भी घसीट ले आते हैं, योगियों की और नाडियों की चर्चा करने लगते हैं। अनेक मन्त्रों में वे पति-पत्नी के अत्यन्त लौकिक संवाद को सुनाने लगते हैं। भाष्यकार ने देवताधिकरण की व्याख्या के प्रसंग में भूमिका में विस्तार से मनुष्यों से भिन्न देवयोनिविशेष की स्थापना की है, किन्तु स्वामी दयानन्द ने अग्नि, इन्द्र आदि शब्दों की सब जगह मनुष्यपरक व्याख्या की है। विचित्र बात यह है कि इन शब्दों का भी कोई एक अर्थ नहीं किया है। गन्धर्व आदि देवयोनियों का तो इन्होंने पूरी तरह से अपलाप कर दिया है और जड़ ओषधियों की प्रार्थना में मन्त्र का विनियोग बताया है।

गौण अर्थ का सहारा तो इन्होंने प्रायः प्रत्येक मन्त्र की व्याख्या में लिया है। अनेक स्थलों पर इनकी अपनी हिन्दी और संस्कृत व्याख्या और भावार्थ में भी अन्तर देखने को मिलता है, भावार्थ का मूल अर्थ से कोई दूर का भी सम्बन्ध नजर नहीं आता। ये सायण, महीधर आदि के भाष्यों का खण्डन करने का प्रयत्न करते हैं, विशेष रूप से यह दिखाना चाहते हैं कि उनके द्वारा प्रस्तुत व्याकरण शास्त्र सम्बन्धी व्युत्पत्तियाँ ठीक नहीं हैं। रथन्तर साम, बृहत्साम आदि वैदिक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्यायें हमें ताण्ड्यमहाब्राह्मण जैसे ग्रन्थों में मिलती हैं। इन श्रुतिसूत्रशास्त्रसम्मत अर्थों का परित्याग कर स्वामी दयानन्द ने मनमाना अर्थ किया है। ऐसे सभी स्थलों पर स्वामी करपात्रीजी महाराज ने सही अर्थों को प्रदर्शित कर बताया है कि इन मन्त्रों की सही व्याख्या का ज्ञान हमें शतपथ ब्राह्मण, कात्यायन श्रौतसूत्र आदि की सहायता से ही हो सकता है तथा हरिस्वामी, उव्वट, सायण, महीधर आदि आचार्यों ने अपने-अपने भाष्यों में तदनुसार ही अर्थ किया है।

प्रस्तुत भाष्य में बताया गया है कि स्वामी दयानन्द ने स्थान-स्थान पर जिस विद्युत् विज्ञान की चर्चा की है, वहाँ किसी विधि का खुलासा नहीं किया गया है कि उखा-सम्भरण से किस तरह से बिजली पैदा होगी। जहाँ शिल्पविद्या का सूचक कोई पद नहीं है, वहाँ भी इस विद्या को खोज निकाला गया है। राजा, सेना, सेनापति आदि की चर्चा भी इसी प्रकार पूरी तरह से अप्रासंगिक लगती है। मीमांसा शास्त्र में बताया गया है कि विधि अज्ञात अर्थ का ज्ञापन करती है। ऐसे प्रसंगों में स्वामी दयानन्द ने सर्वत्र रागप्राप्त गृहनिर्माण, वस्त्रधारण जैसी अत्यन्त लौकिक बातों का उल्लेख किया है, जिनकी कि अज्ञातज्ञापकता किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं की जा सकती। आश्चर्य यह है कि यज्ञ की अदृष्टार्थता को भी इन्होंने अस्वीकार कर दिया है।

स्वामी दयानन्द ने सविता, वायु, अग्नि आदि देववाचक पदों की ही नहीं; असुर, राक्षस, अज आदि विभिन्न योनियों और पशुओं के वाचक शब्दों की भी मनुष्यपरक ही व्याख्या की है। यम और यमी का अर्थ न्यायकर्ता न्यायाधीश किया है। भारतीय संस्कृति की लम्बी परम्परा को अस्वीकार कर देने के सिवाय इसका क्या प्रयोजन हो सकता है। 'गायत्री' जैसे पवित्र शब्द की भी इन्होंने अनोखी व्याख्या की है। 'घोरे' शब्द को ये पत्नी का संबोधन बताते हैं। 'द्विषः' शब्द का अर्थ शत्रु होता है, पर यहाँ इसका अर्थ 'व्यभिचारिणी स्त्री' किया गया है। 'स्वाहा' शब्द का अर्थ सत्य किया है। इसी तरह से 'उद्धाप' का अर्थ गर्भधारण और प्राणपोषिका बुद्धि का अर्थ आसुरी माया बताया है। इनके मत से प्राणरूप वायु मिल कर सूर्य को उत्पन्न करती है, यज्ञ का प्रयोजन वायु की शुद्धि है। पारिजातकार ने इन्हीं सब प्रसंगों को देखकर यह निष्कर्ष निकाला है कि स्वामी दयानन्द ने वेद की इस प्रकार की व्याख्या के बहाने लोकायतिक

(चार्वाक) दर्शन का ही प्रसार किया है। इसी का यह प्रभाव है कि पुनरुत्थान के नाम पर भारतीय संस्कृति की लम्बी बिरासत को आज नकारा जा रहा है।

वैदिक परम्परा के अनुसार वेदों में व्यक्तिविशेष का आख्यान वर्णित है, इस बात को नहीं माना जाता। सनातनी दृष्टि में यह एक अपसिद्धान्त है, क्योंकि इस तरह से तो वेद भी इतिहास के ग्रन्थ हो जायँगे। इस विषय को पारिजातकार ने अपने भूमिका भाग में विशेष रूप से स्थापित किया है और प्रस्तुत भाष्य में भी प्रसंगवश अनेक स्थानों पर दयानन्दीय व्याख्या की समालोचना करते समय इस ओर इंगित किया है।

स्वामी करपात्री जी महाराज ने स्वामी दयानन्द के भाष्य में निर्मूलाध्याहार, निर्मूल व्यत्यय, गौणार्थाश्रयण, श्रुतिसूत्रविरोध, अर्थाप्रसिद्धि, मन्त्रबाह्य पदव्याख्यान, अज्ञातज्ञापकता का अभाव, निघण्टु विरोध आदि दोषों की उद्भावना की है। इनके व्याख्यान को कल्पनामात्रप्रसूत, कपोलकल्पित, व्याख्यानाभास, अनर्गल और उपहासास्पद बताया है और कहा है कि यह सारा द्रविड़ प्राणायाम केवल मूर्ख जनों की प्रतारणा के लिये है। भास्करराय ने ऐसे प्रसंगों के लिये शिष्यदन्धन शब्द का प्रयोग किया है। स्वामी दयानन्द के भाष्य में शब्दों की अनर्गल व्युत्पत्तियों को देखकर पारिजातकार को किसी वैयाकरण की व्याघ्र शब्द की व्युत्पत्ति याद आ जाती है। 'जो विशेष रूप से सूंघता है' इस व्युत्पत्ति के आधार पर व्याघ्र की खोज में निकला वैयाकरण जैसे उसका भोजन बन जाता है, उसी तरह से स्वामी दयानन्द की ये व्युत्पत्तियाँ कभी-कभी बड़ी अनर्थकारी हो जाती हैं।

व्याकरणगत व्युत्पत्तियों को लेकर स्वामी दयानन्द ने अनेक स्थलों पर सायण, महीधर आदि आचार्यों पर वृथा आक्षेप किये हैं। ऐसे सभी स्थलों पर हमारे भाष्यकार ने प्राचीन आचार्यों की व्युत्पत्ति को युक्तियुक्त और व्याकरण-सम्मत बताया है और उन पर किये गये आक्षेपों का तिलशः खण्डन कर दिया है। ११ वें अध्याय में ऐसे प्रसंग अनेक स्थलों पर देखे जा सकते हैं। पृ० १० और २७-२८ पर सायणाचार्य पर किये गये आक्षेपों का अत्यन्त प्रौढ़ युक्तियों के सहारे परिहार किया गया है। पृ० ३५-३६, ४६, ५३-५४ पर दिये गये परिहार भी विशेष रूप से अवलोकनीय हैं। पृ० ५४ पर भाष्यकार ने 'कणेहत्य' शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द का प्रयोग वे तब करते हैं, जब कि किसी बात का उन्होंने बहुत विस्तार न किया हो। वे कहते हैं कि इस समाधान से यदि आप पूरी तरह से सन्तुष्ट नहीं हुए हैं, तो अमुक स्थान पर इस विषय का विस्तार देखिये। इसी प्रकार के प्रसंग अगले अध्यायों में भी (पृ० १११-११३, १२६, १७६, २०४, २१६, २२३, २६६) मिलते हैं। व्याकरण के परिनिष्ठित विद्वानों के लिये ये प्रसंग विशेष रूप से अवलोकनीय हैं।

इन सामान्य बातों के अतिरिक्त हम पाठकों का ध्यान ११-१५ अध्यायों के दयानन्दनीय भाष्य की वेदार्थ-पारिजातकार द्वारा दिखाई गई विशेष त्रुटियों की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं। ११वें अध्याय के पहले ही मन्त्र में भूगर्भ विद्या की और दूसरे मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार की बिना प्रसंग के चर्चा की गई है। २९ वें मन्त्र की व्याख्या में स्वामी दयानन्द ने योनि शब्द का अर्थ संयोग और विभाग को जानने वाला किया है तथा समुद्र में स्थित पदार्थों की जानकारी से इसे जोड़ा है। बिजली के संयोग और विभाग को जानने वाला समुद्र में स्थित पदार्थों को कैसे जान लेगा, इसकी प्रकिया वहाँ नहीं बताई गई। वस्तुतः दयानन्द वेद को धर्म ग्रन्थ न मानकर कहीं उसमें से अर्थशास्त्र निकालते हैं, कहीं कलाकौशल की चर्चा करते हैं। वायुयान, जलयान, भूगर्भशास्त्र, सामुद्रिक विज्ञान, इन सारे आधुनिक विज्ञानों की चर्चा इनके भाष्य में कर दी गई है, किन्तु केवल शब्दों को तोड़-मरोड़ कर कोई अर्थ निकाल देने मात्र से तो ये सब वैज्ञानिक प्रयोग सिद्ध होने से रहे।

इसी तरह से ४१ वें मन्त्र में 'व्यवहार' का अर्थ 'हिंसनीय व्यवहार' किया है, किन्तु इसमें कोई प्रमाण नहीं दिया। देह आदि की विशेष चेष्टाओं का ही तो नाम व्यवहार है। ये तो हिंसनीय और अहिंसनीय दोनों ही प्रकार के हो

सकते हैं। फिर उनको हिंसनीय व्यवहार में ही सीमित कर देने के लिये कोई कारण चाहिये। इस कारण को यहाँ नहीं दिखाया गया है। ६१ वें मन्त्र की व्याख्या में अवट का अर्थ शिशु, उखा का कन्या और अदिति का अर्थ अध्यापिका किया है। वास्तव में अवट का अर्थ गर्त (गड्ढा), उखा का यज्ञीय पात्रविशेष और अदिति का अर्थ देवमाता है। दयानन्दीय अर्थों का खण्डन करते समय जैसे हमारे भाष्यकार ने वाल्मीकि रामायण और शतपथ ब्राह्मण आदि का प्रमाण दिया है, वैसा कोई प्रमाण स्वामी दयानन्द ने अपने अर्थों का समर्थन करने के लिये प्रस्तुत नहीं किया है। शाब्द नय में मनमानी नहीं चल सकती। शतपथ ब्राह्मण में इस मन्त्र के अनेक पदों का अर्थ स्वयं ही प्रदर्शित कर दिया गया है। बिना प्रमाण के इन परम्परा प्राप्त अर्थों को छोड़ देने से अराजकता ही फैल सकती है।

७३ वें मन्त्र में 'दारूणि' पद प्रथमा विभक्ति के बहुवचन का रूप है। स्वामी दयानन्द ने इसको बदल कर 'दारुणि' कर दिया है, जो कि सप्तमी विभक्ति के एकवचन का रूप है। वेद को अनुश्रव कहा जाता है, अर्थात् इसको किताब से पढ़ा नहीं जाता, किन्तु गुरुमुख से सुना जाता है। गुरु जिस पद का जैसा उच्चारण करता है, उसी तरह का उच्चारण शिष्य भी करता है। इस छापाखाने के युग में भी वेद की यह परम्परा सुरक्षित है। परम्परा-प्राप्त पाठ को बदलना एक प्रकार की उच्छृङ्खलता ही तो है। इसी तरह से ८० वें मन्त्र में पठित 'मस्मसा' पद को बदल कर स्वामी दयानन्द ने 'भस्मसा' कर दिया है। ८१ वें मन्त्र के भाष्य में वे ब्रह्मकुल और क्षत्रकुल की चर्चा करते हैं, किन्तु उनकी यह व्याख्या वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त को न मानने के कारण उनके सिद्धान्त के विपरीत पड़ती है। इसी तरह से स्वामी दयानन्द श्राद्ध आदि का भी निषेध करते हैं, किन्तु ८२ वें मन्त्र की व्याख्या में जो कुछ उन्होंने कहा है, वह उनके इस सिद्धान्त के विपरीत जाता है। ८२ वें मन्त्र में रोग-निवारण के लिये वैद्यों और वैज्ञानिकों से प्रार्थना की गई है। वैद्य और वैज्ञानिक तो पैसा लेकर काम करते हैं, खाली प्रार्थना से वे पिघलने वाले नहीं हैं। यदि वे ऐसा करें भी, तो भूखों मर जायंगे। वास्तव में यहाँ रोगनिवृत्ति के लिये अग्नि आदि देवताओं से प्रार्थना की गई है। स्वामी दयानन्द तो देवताओं को मानते नहीं, अतः उनको यह निराला अर्थ करना पड़ा है।

बारहवें अध्याय के दूसरे मन्त्र में दिव्य प्राणों को विद्युत् का धारक बताया गया है, किन्तु यह नहीं बताया गया कि ये दिव्य प्राण हैं क्या ? द्यावापृथिवी शब्द का अर्थ माता और धाता बताना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इनमें मन्त्रगत 'समनसा' इत्यादि विशेषणों की संगति नहीं बैठेगी। इनमें समानविज्ञानवेद्यता नहीं है और न इनमें दिन और रात की कोई समानता है। तीसरे मन्त्र की व्याख्या में सूर्य को ज्ञानसम्पन्न और जगत् का उत्पादक बताया गया है, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इनके मत में सूर्य जड़ पदार्थ है। उसमें ज्ञानवत्त्व और जगत्कर्तृत्व नामक चेतन-धर्म कैसे रह सकते हैं। चौदहवें मन्त्र की व्याख्या में भी यहाँ अनेक विसंगतियाँ बताई गई हैं। पहले (११।६१) उखा का अर्थ कन्या किया गया था, यहाँ १६ वें मन्त्र में 'उखा' का अर्थ 'प्राप्त प्रजा' किया है और इस अर्थ के समर्थन में इनके किसी अनुयायी ने शतपथ ब्राह्मण को उद्धृत किया है। यह पूरी तरह से निरर्थक है। उखा-सम्भरण के प्रसंग में इस प्रकरण की व्याख्या ऊपर की जा चुकी है। उखा-सम्भरण प्राजापत्य कर्म हो सकता है, किन्तु 'उखा' शब्द का अर्थ 'प्राप्त प्रजा' करने के लिये अभी भी प्रमाण की अपेक्षा है, वह आपने दिया नहीं है। यहाँ की २१ वीं कण्डिका पहले छठी संख्या पर भी आ चुकी है। स्वामी दयानन्द ने एक ही मन्त्र के दो अलग-अलग अर्थ किये हैं। इन दोनों ही अर्थों की अप्रासंगिकता भी यहाँ दिखा दी गई है।

३८ वें मन्त्र की व्याख्या में पुरुष (जीव) को सूर्य के समान ज्योतिष्मान् बताया है। जीव तो नीरूप है, तब वह ज्योतिष्मान् कैसे हो सकता है ? फिर इनके मत में तो जीव अणु है, व्यापक नहीं। वह सूर्य के जैसे ज्योतिष्पुंज स्वरूप कैसे हो सकता है ? 'मातृभिः' इस बहुवचन पद से भी उसकी संगति नहीं बैठेगी। जीव की चर्चा ८५ वें मन्त्र में भी इन्होंने की है। यह जीव अमूर्त है। व्याधि इसको कैसे पकड़ सकती है ? व्याधि से भी देह का ही नाश होता है,

जीव का नहीं। स्वामी दयानन्द 'देव' पद से प्रायः विद्वान् मनुष्य का ग्रहण करते हैं। ४९ वें मन्त्र में उन्होंने इस पद का अर्थ विद्यार्थी किया है। देवता जब स्वयं विद्वान् हैं, तो उनको विद्यार्थी बनने की क्या आवश्यकता आ पड़ी ? अज्ञात विधि के ज्ञापक वेद में लौकिक व्यवहारों का प्रतिपादन नहीं हो सकता। देवयोनि मनुष्ययोनि से भिन्न है, इस विषय पर यहाँ अनेक स्थलों पर प्रकाश डाला जा चुका है। ५५ वें मन्त्र की व्याख्या में भी इस विषय को दिखाया गया है। यहाँ पृश्नि शब्द के अर्थ पर निरुक्त, अमरकोश आदि के प्रमाण से विचार कर दयानन्दीय अर्थ की असंगतता को दिखाया गया है। ६३ वें मन्त्र के भाष्य में पति-पत्नी के लोकप्रसिद्ध अर्थ को ही बता कर यह कहा गया है कि यम और यमी अर्थात् न्यायाधीश और न्यायकर्त्री से प्रेरित होकर वे ऐसा करते हैं। क्या स्वामी दयानन्द वेद में से आधुनिक 'कोर्ट मेरिज' को निकालना चाहते हैं। इसी तरह से ६५ वें मन्त्र में वे दम्पती के संवाद का वर्णन करते हैं। निर्ऋति पद का अर्थ पृथिवी तुल्य स्त्री किया है। इस मन्त्र का भाष्य असंगत वाक्यावलियों के समूह का एक अच्छा उदाहरण है। ७० वें मन्त्र में काष्ठमयी सीता को घृत, दुग्ध, मधु आदि लगाने का क्या प्रयोजन है ? और उसकी स्तुति किस लिये की जा रही है, यह भी यहाँ नहीं बताया गया है।

स्वामी दयानन्द देवयोनि को स्वीकार न करते हुए भी उनकी सनातनी प्रज्ञा की बात अपनी व्याख्या (१२।१०९) में करते हैं। प्रज्ञा तो अनित्य है, वह सनातन कैसे हो सकती है ? ११२ वें मन्त्र के सोम पद का अर्थ सोम के समान कान्तियुक्त राजपुरुष किया है। स्पष्ट ही यहाँ गौण अर्थ का ग्रहण किया गया है। अन्वयानुपपत्ति और तात्पर्यानुपपत्ति के बिना गौण अर्थ का सहारा नहीं लिया जाता। यहाँ ऐसी कोई बात नहीं है। सोम की सी कान्ति वाले राजपुरुष का यहाँ कोई प्रसंग भी नहीं है। ११३ वें मन्त्र में मनुष्य रूप सोम से संयुक्त होने की बात कही गई है। कोरे आशीर्वाद से कोई सोम से संयुक्त नहीं हो सकता। अभिमानी शत्रु के निवारण में समर्थ वीर भी कोरे आशीर्वाद से नहीं बनते। वे तो धनुर्वेद का ठीक से अभ्यास करने से ही बन सकते हैं। ११४ वें मन्त्र के विषय में पारिजातकार ने विकल्प उठाया है कि इस मन्त्र में जीव को आनन्द का उपदेश करने वाला व्यक्ति अल्पज्ञ है या सर्वज्ञ ? अल्पज्ञ के उपदेष्टा होने पर वेद पौरुषेय हो जायगा। सर्वज्ञ इस तरह का उपदेश नहीं कर सकता, क्योंकि जो सर्वज्ञ है, वह किसी भी प्रकार की प्रार्थना क्यों करेगा ? सुहृत् का वाचक मित्र शब्द सदा नपुंसक लिंग में प्रयुक्त होता है, इस बात को स्वयं दयानन्द भी स्वीकार करते हैं। तब भी यहाँ (१२।११४) इन्होंने पुल्लिंग में मित्र पद का प्रयोग किया है।

स्वामी दयानन्द ने कहा है कि 'अपां पृष्ठमसि' (१३।२) मन्त्र की व्याख्या शतपथ ब्राह्मण (७।४।९।१) में की गई है, किन्तु वास्तव में यह व्याख्या वहाँ नहीं मिलती। तृतीय मन्त्र की व्याख्या में नाना प्रकार की आपत्तियाँ उठाई गई हैं। 'अम' शब्द का प्रयोग सचिव के अर्थ में कहीं भी देखने को नहीं मिलता (१३।९)। इसी तरह से समुद्र शब्द का अर्थ 'जार' करने में तथा सुपर्ण पद को पतिपरक मानने में भी कोई प्रमाण नहीं है (१३।१६)। इष्टका पद का अर्थ यहाँ (१३।२१) दृढ़ शरीर वाली स्त्री किया है। यदि ऐसा ही अर्थ अभिप्रेत होता, तो यहाँ इष्टका के स्थान पर शैली शब्द का प्रयोग होता। प्राण और अपान पदों का अर्थ भी यहाँ (१३।२४) मनमाना कर दिया गया है। 'अपां गम्भन्' (१३।३०) मन्त्र की व्याख्या में वसन्त ऋतु में मेघोदय की बात कही गई है। वास्तव में मेघोदय की कल्पना वर्षा ऋतु के लिये उचित है। वसन्त में तो उसे असमय की वर्षा कहा जाता है। यहाँ ३१ वें मन्त्र की संस्कृत और हिन्दी में जो व्याख्या की गई है, उनमें आपस में ही विरोध है। यहाँ 'त्रीन् समुद्रान्' अथवा 'स्वर्गान्' की जो व्याख्या हुई है, वह भी उनके मत के विपरीत है, क्योंकि वे स्वर्ग आदि लोकों की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। इसी प्रकार इन्द्र पद का अर्थ जीव करना और कर्मों को स्पर्शयोग्य बताना भी गलत है। कर्म तो अमूर्त होते हैं, उनका स्पर्श कैसे किया जा सकता है (१३।३३)। 'इषे राये' (१३।३५) मन्त्र में कूपसदृश कोमलता का उल्लेख मिलता है, किन्तु कूप की कोमलता न तो वेद में प्रसिद्ध है और न लोक में ही।

अग्नि शब्द का अर्थ विद्वान् अथवा विद्युत् करना भी निष्प्रमाण है। इसी तरह ज्योति शब्द का अर्थ न्याय का प्रकाश करना भी अप्रामाणिक है (१३।३९)। मनुष्य की शक्ति सीमित है। वह असंख्य सुखों को किसी भी तरह से नहीं दे सकता (१३।४०)। प्रतिमा पद का अर्थ सूर्य करने पर उसके लिये स्त्रीलिंग का प्रयोग कैसे किया जा सकता है (१३।४१)। अद्रिबुघ्न शब्द का अर्थ मेघाकाश अथवा सूक्ष्म मेघ भी कहीं नहीं मिलता (१३।४२)। आत्मा से आकाश आदि के क्रम से अग्नि की उत्पत्ति उपनिषदों में वर्णित है, किन्तु स्वामी दयानन्द 'यो अग्निम्' (१३।४५) इत्यादि मन्त्र में अग्नि से अग्नि की उत्पत्ति बताते हैं, यह असंगत है। वैदिक परम्परा में तो यहाँ तात्पर्यानुपपत्ति के आधार पर लक्षणा वृत्ति का सहारा लेकर पृथिवी के शोक से अग्निदेवताक अज की उत्पत्ति मानी गई है। इसी तरह से 'इमं मा' (१३।४७) मन्त्र में भी अनेक असंगतियाँ हैं। सनातनी पद्धति से तो देवता अनन्त शक्तियों से सम्पन्न हैं, अतः उनके प्रसाद से सब कुछ सिद्ध हो सकता है।

'इममूर्णायुम्' (१३।५०) मन्त्र की व्याख्या में अवि (भेड़) को प्रजा का आदिम उत्पत्तिनिमित्त बताया है, किन्तु इसमें कोई प्रमाण नहीं दिया और न कोई पद्धति ही बताई। अगले मन्त्र में शरभ पद की शल्यार्थकता में भी कोई प्रमाण नहीं दिया गया। कोश ग्रन्थों में तो यह पद सिंह को भी मार डालने वाले अष्टापद नामक पशु के लिये प्रयुक्त हुआ है। इसी तरह से 'त्मना' (१३।५२) शब्द से मनुष्य अथवा पशु का ग्रहण करना निर्मूल है। आगे के मन्त्र में गायत्रीनिर्मित स्वच्छ अर्थ की चर्चा की गई है, किन्तु यह स्वच्छ अर्थ है क्या ? इसका कुछ पता नहीं चलता। इसी पद्धति से इस अध्याय के अन्तिम कुछ मन्त्रों के दयानन्दीय अर्थ की असमंजसता पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

अन्तिम मन्त्र की व्याख्या में बहुत ही स्पष्ट रूप से बताया गया है कि स्वामी दयानन्द वैदिक वाङ्मय से किस तरह से अपरिचित हैं। ताण्ड्य महाब्राह्मण में स्तोम के स्वरूप और उनके भेदों का निरूपण हुआ है। छान्दोग्य उपनिषद् में बताया गया है कि पाञ्चभक्तिक साम के अन्तिम भाग की संज्ञा 'निधन' है। शाक्वर, रैवत आदि भी साम के ही भेद हैं। इन सब शब्दों की यहाँ शास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत न कर मनमाना अर्थ कर दिया गया है। इस तरह से यह दयानन्दीय व्याख्यान पूरी तरह से निष्प्रमाण है।

१४ वें अध्याय के दूसरे मन्त्र में आये 'स्योने' शब्द को स्वामी दयानन्द ने संबोधन पद माना है, जब कि निरुक्त के प्रमाण से सुखार्थक स्योन शब्द का प्रयोग नपुंसक लिंग में किया गया है, स्त्रीलिंग में नहीं। वास्तव में यह सप्तमी के एकवचन का रूप है। 'कुलायिनी' शब्द का अर्थ भी यहाँ निरर्थक कल्पनाओं पर आश्रित है, क्योंकि किसी कोश आदि का प्रमाण नहीं दिया गया है। तीसरे मन्त्र के पदों का भी एक दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। चौथे मन्त्र की व्याख्या में 'पृष्ठ' पद और 'अप्स' शब्द का अर्थ निरर्गल लगता है। पाँचवें मन्त्र में 'विश्वकर्मा' पद का अर्थ सामान्य मनुष्य, पति अथवा ऋषि में से कोई भी संभव नहीं है। अनेक मन्त्रों के भावार्थ में और संस्कृत तथा हिन्दी अर्थ में परस्पर बड़ी भिन्नता है, यह तो पहले ही बताया जा चुका है। आठवें मन्त्र में स्त्रीपुरुष आदि की प्रार्थना से प्राणरक्षा की बात कही गई है। यहाँ भाष्यकार ने तीन विकल्प प्रस्तुत कर इस अर्थ का खण्डन कर दिया है। आगे के मन्त्रों में आये वयस् और छन्दस् शब्दों के भी बिना प्रमाण के मनमाने अर्थ किये गये हैं। इनको कथमपि प्रमाण नहीं माना जा सकता। १२ वें मन्त्र में भी 'विश्वकर्मा' पद का अर्थ पति किया है। इसी प्रकार पृष्ठ, प्रतिष्ठा, अन्तरिक्ष जैसे शब्दों के अर्थ भी लौकिक और वैदिक परम्परा के विरुद्ध दिये गये हैं। मास, ऋतु, पृथिवी, अन्तरिक्ष, जल, औषधि—ये सब जड़ पदार्थ हैं। इनकी प्रार्थना से मनुष्य कैसे समर्थ हो सकता है (१४।१६)।

१८ वें मन्त्र की व्याख्या में एक ही छन्दस् शब्द के मनमाने अनेक अर्थ किये हैं, किन्तु उनमें कोई प्रमाण नहीं दिया है कि एक ही शब्द के ये अनेक अर्थ कैसे हो गये। पृथिवी आदि जड़ पदार्थों में स्वतन्त्रता नहीं रह सकती और न मनुष्य के लिये बकरी, बैल, अश्व आदि अनुकरणीय ही हो सकते हैं (१४।१९)। २३-२४ मन्त्रों की व्याख्या में

विविध संख्यावाची शब्दों के और विविध स्तोमों के निराले ही अर्थ दिये गये हैं। इनमें भी कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया। यह पहले ही बताया जा चुका है कि सामवेद में विविध संख्याओं से सम्पन्न स्तोमों का विधान किया गया है। कहीं-कहीं तो गौण अर्थ का सहारा लेने के उपरान्त भी मन्त्रार्थ की असंगति दूर नहीं होने पाती। ऐसा लगता है कि स्वामी दयानन्द जैसे सामवेद उपदिष्ट स्तोमों से एक दम अपरिचित हैं। २८ वें मन्त्र में प्राण, अपान, व्यान आदि तथा नाग, कूर्म, कृकर आदि प्राणों के द्वारा स्तुति की बात कही गई हैं। जड़ प्राण आदि के द्वारा यह कैसे संभव हो सकता है। आपके सिद्धान्त के विरुद्ध होने से इनको चेतन जीव का अधिष्ठाता भी नहीं मान सकते। ३० वें मन्त्र में शूद्र और आर्य शब्द का एक साथ प्रयोग हुआ है। इससे स्पष्ट होता है कि ये दोनों भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं। आर्यसमाजी तो सभी को आर्य मानते हैं। इस आपत्ति का परिहार स्वामी दयानन्द ने नहीं किया और इस प्रकार वे स्वयं ही अपने प्रतिपादित सिद्धान्त के विपरीत इस मन्त्र की व्याख्या करते हैं। सनातनी दृष्टि से तो यहाँ वैश्य वाचक अर्य शब्द है, आर्य नहीं। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र के भाष्य में २९ अंगों की सूचना दी गई है, किन्तु यह नहीं बताया गया कि ये २९ अंग कौन-कौन से हैं।

१५ वें अध्याय के पहले मन्त्र में 'वरूथ' शब्द का अर्थ आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक सुख किया गया है। यह उनकी मनमानी कल्पना है। निघण्टु (३।४) में गृह के पर्यायवाची नामों में इसकी गणना है। स्वयं स्वामी दयानन्द ने भी अपनी उणादि वृत्ति में वरूथ शब्द का यह अर्थ नहीं बताया है। इसी तरह से यहाँ तीसरे और छठे मन्त्र की व्याख्या में भी अनेक असंगतियाँ बताई गई हैं। १०-११ मन्त्रों में पुनः बताया गया है कि स्वामी दयानन्द वैदिक शब्दों की मर्यादा से सर्वथा अपरिचित हैं। सामविधान, ताण्ड्यमहाब्राह्मण आदि को इन्होंने देखा होता, तो त्रिवृत्स्तोम, रथन्तर साम, उक्थ, शस्त्र, प्रउग आदि शब्दों के अर्थों से अवश्य परिचित होते और तब उनको इस प्रकार के अप्रामाणिक अर्थों की शरण न लेनी पड़ती। १४-१६ मन्त्रों की व्याख्या में भी यहाँ अनेक प्रकार की असंगतियाँ दिखाई गई हैं। पुंजिकास्थला, रथस्वन, रथचित्र जैसे शब्दों का अर्थ भी यहाँ स्पष्ट नहीं किया गया है।

इसी तरह से प्रतीक शब्द का अर्थ प्रतीति करना और प्रतीति का अर्थ वृद्धि करना भी पूरी तरह से असंगत है (१५।२७)। वेद मनुष्य को धन की याचना का उपदेश कभी नहीं कर सकता, किन्तु यहाँ अनेक स्थलों पर ऐसा किया गया है। मुख्यार्थ का बाध होने पर ही लक्षणा वृत्ति का सहारा लिया जाता है, इस बात को वेदार्थपारिजातकार अनेक बार बता चुके हैं, किन्तु इस अध्याय के ४२ वें मन्त्र के भाष्य में स्वामी दयानन्द के मत का खण्डन करते समय उत्तर-मीमांसा (वेदान्त) के आनन्दमयाधिकरण के आधार पर शास्त्रीय पद्धति से गंभीर विचार प्रस्तुत किया गया है। ४४ वें मन्त्र में प्रज्ञान और बोध का उपमानोपमेयभाव बताया गया है। ये दोनों शब्द तो एक ही अर्थ को बताते हैं। तब इनमें परस्पर भेदबोधक यह संबन्ध कैसे बन सकता है। ४९ वें मन्त्र में यहाँ सत्र शब्द को लेकर विचार हुआ है। स्वयं स्वामी दयानन्द ही अपनी अलग-अलग व्याख्याओं में इसके परस्परविरोधी अर्थ बताते हैं। शत्रुओं को तो कोई भी तिरस्कृत करना चाहता ही है। इसके लिये किसी उपदेश की क्या आवश्यकता है (१५।५१)। वात, व्रजन, आयु आदि शब्दों के अर्थ भी यहाँ (१५।६२-६३) बिना कोश, व्याकरण, व्यवहार, आप्तवचन आदि को उपस्थापित किये मनमाने ढंग से कर दिये गये हैं।

क्रमुक (धमन), विकङ्कत, उदुम्बर (गूलर) और पलाश की समिधा के अतिरिक्त यहाँ (पृ० ९५-१०२) उपजिह्विका (दीमक) और वम्र (चींटी) भक्षित वृक्षों की समिधा का भी विधान है। अपरशुवृक्त्र शब्द का यहाँ प्रयोग हुआ है, अर्थात् कुल्हाड़ी से काटी गई लकड़ी का उपयोग यज्ञीय कार्य में नहीं करना चाहिये। यह एक समृद्ध वैदिक यज्ञीय संस्कृति का सूचक है कि धर्म कार्य के लिये भी हरे वृक्षों को नहीं काटा जाता था। एक है आज की अर्थप्रधान संस्कृति, जिसने बहुत बड़े भूभाग को वृक्षविहीन बना कर सारी प्रजा को अनावृष्टि और अतिवृष्टि की विभीषिका में डाल दिया है।

यहाँ चोर (गुप्त एवं प्रकट), स्तेन, मलिम्लुच आदि चोरों के विविध भेदों का (पृ० १०५, १९१) तथा अराति, द्वेषी, निन्दक नामक तीन प्रकार के शत्रुभेदों का सूक्ष्म अन्तर बताया गया है (पृ० १०६)। मलिम्लुच के प्रसंग में राक्षसी (पृ० १०५) दंष्ट्रा का भी उल्लेख हुआ है। अग्नि, वायु और सूर्य नामक तीन धामों की तो यहाँ (१२।१९) चर्चा है ही, निरुक्त (९।२८) प्रतिपादित स्थान, नाम और जन्म नामक तीन धामों का भी विवरण मिलता है (पृ० १३८, २१३)। गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि, अतिप्रणीत, धिष्ण्य, अन्वाहार्यपचन, आग्नीध्रीय आदि अग्नियों की भी प्रसंगवश चर्चा हुई है (पृ० १३८)। इसी तरह से अमीव (पृ० ११०), व्याघ्र (पृ० १२२), त्व (पृ० १५८), सुम्न (पृ० २००), पृष्टि (पृ० २९५) और अष्ठीवत् (पृ० ३९७) जैसे शब्दों की निरुक्ति भी यहाँ दी गई है।

पाणिनि के धातुपाठ में दो हजार से अधिक धातुएँ हैं। लौकिक संस्कृत में इनमें से बहुत कम धातुओं का प्रयोग मिलता है। इस भाष्य में स्थान-स्थान पर शब्दव्युत्पत्ति के प्रसंग में इनको उद्धृत किया गया है। इन सबकी यदि एक सूची बना दी जाय, तो स्पष्ट हो सकता है कि वैदिक साहित्य में लोक में कैसी-कैसी अप्रचलित, अपरिचित धातुओं का उपयोग हुआ है। क्षीरस्वामी आदि विभिन्न प्राचीन आचार्यों के द्वारा बताये गये इन धातुओं के विविध अर्थों का भी प्रसंगवश यहाँ उल्लेख किया गया है (पृ० ३८८)।

वेदों में विविध चितियों का विधान है। उनमें से यजुर्वेद की प्रस्तुत संहिता के ११–१८ अध्यायों में सुपर्ण चिति का ही विस्तार किया गया है। 'सुपर्णोऽसि गरुत्मान्' (१२।४) मन्त्र के भाष्य में रूपकालंकार के माध्यम से अग्नि की सुपर्ण से समानता दिखाई गई है। यहाँ (१२।५) विष्णु के तीन क्रमों का भी वर्णन है और कूर्म पुरुष (१३।३०-३३) का भी। इनमें हम विष्णु के त्रिविक्रम (वामन) और कूर्म अवतारों को देख सकते हैं। इस संहिता के १२ वें अध्याय के २७ मन्त्रों (१२।७५-१०१) का विनियोग औषधियों की स्तुति में किया गया है। यह स्तुति अपने आप में आयुर्वेद के ज्ञान से परिपूर्ण है। षाट्कौशिक शरीर की भी यहाँ (१२।६१) चर्चा आई है और भाष्य में बताया गया है कि जीव के षाट्कौशिक शरीर को त्वचा, मांस और रुधिर माता से प्राप्त होते हैं। वाचस्पति मिश्र की सांख्यतत्त्वकौमुदी भी इसका समर्थन करती है। वहाँ बताया गया है—'मातृतो लोमलोहितमांसानि, पितृतस्तु स्नाय्वस्थिमज्जानः' (३९ का०)।

इस प्रकार यहाँ ११ से १५ अध्याय तक के मन्त्रभाष्य में उपदर्शित चतुर्विध विषयों को हमने संक्षेप में प्रस्तुत किया है। आशा है इससे हिन्दी पाठकों को भी इस अतिविशिष्ट भाष्य के विषयों का कुछ न कुछ आस्वाद अवश्य मिलेगा। अभी इतना ही कहकर हम अपनी लेखनी को विश्राम दे रहे हैं।

वाराणसी
अधिक वैशाखपूर्णिमा, संवत् २०४८

विद्वद्वशंवद
व्रजवल्लभ द्विवेदी

विषय-सूची

प्रतिपाद्य विषय		पृष्ठ संख्या
प्रकाशकीय वक्तव्य		३
पंचाध्यायी(११–१५)भाष्यनिष्कर्ष		५–३०

एकादश अध्याय : उखा-संभरण

द्वादश अध्याय : उखा-धारण

त्रयोदश अध्याय : प्रथम चित्युपधान

कण्डिका संख्या पृष्ठ संख्या

पञ्चदश अध्याय : पंचम चिति का उपधान

एकादशोऽध्यायः

श्रीरामं परमेश्वरं त्रिजगतामात्मानमेवाव्ययं
वाञ्छाकल्पतरुं सदा प्रणमतामानन्दकन्दं हरिम्।
सीतालक्ष्मणवायुपुत्रसहितं नित्यं नवं सुस्थितं
सेवे शाश्वतमप्रमेयमनघं तल्लब्धये केवलम् ॥

षष्ठकाण्डस्य प्रथमेऽध्याये हिरण्यगर्भकर्तृका सृष्टिरुक्ता 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादिना, तत्र प्रश्नोत्तराभ्यामृषय एवासत्पदवाच्यत्वेनोक्ताः 'तत्र प्राणा वा ऋषयः' इत्यादिना, केवलं लिङ्गशरीरमेवासीदिति निर्धारितम्। तत्र मध्यमप्राणस्य सर्वेन्द्रियपोषणद्वारा इन्द्रशब्दवाच्यत्वमुक्त्वा विराट्पुरुषस्य चित्याग्नेश्च साम्यमुक्तम्। सप्तपुरुषसम्पिण्डितस्य चित्याग्नेः शिरसो दर्शनं भवति। ते प्राणात्मका ऋषय एकैकानि स्वाश्रयप्रधानानि सप्तशरीराणि सृष्ट्वा परस्परमब्रुवन्—इत्थमेकैकप्रधानशरीरा अचाक्षुषमिदं स्थूलं शरीरमुत्पादयितुं न शक्ष्यामः, अचक्षुषो वचनव्यापाराभावात्, अवचनस्य वचनासम्भवात्, इन्द्रियाणां प्रतिनियतव्यापारत्वादभिन्नशरीरत्वे कर्मकर्तृत्वं नोपपद्यते, अत एकं पुरुषं सर्वेन्द्रियाश्रयं करवाम इत्यालोच्य एतान् सप्तपुरुषानेकमकुर्वन्। तत्र नाभेरूर्ध्वं द्वौ पुरुषौ स्थापितवन्तः। नाभेरर्वाग् द्वौ स्थापितवन्तः। एवं मध्ये देहे चत्वारः। द्वौ पुरुषौ दक्षिणोत्तरपक्षौ सम्पन्नौ। एकः पुरुषः प्रतिष्ठा पुच्छमासीत्। एवं शिरोवर्जितस्यैकस्य पुरुषस्य सप्तभिः पुरुषै रूपं सम्पन्नम्। तेषां पुरुषाणां श्रीभूतो यो रसस्तमूर्ध्वमुपरिभागे समुदितमकार्षुः। स एकीभूतः सारोऽस्य शिरोऽभूत्। तस्मात् श्रीसमुदूहनेन शिरःशब्दनिष्पत्तिः। यद्वा तस्मिन्निष्पादिते शिरसि प्राणः अश्रयत्तस्मात् शिरः। सर्वस्मिन् देहे तेऽश्रयन्त। तस्माद्देहोऽपि शरीर उच्यते। स एव पुरुषः प्रजापतिरभवत्। स सप्तभिः पुरुषैर्निष्पन्न एकः पुरुषो विराट् प्रजापतिरभूत्। एवं लिङ्गशरीराभिमानिहिरण्यगर्भकर्तृका विराडुत्पत्तिरुक्ता। तस्य विराजोऽग्निरूपतोक्ता। 'स यः स पुरुषः प्रजापतिरभवदयमेव स योऽयमग्निश्चीयते' (श० ६।१।१।५)। स चीयमानोऽग्निः सप्तपुरुषसम्मितो भवति। हिरण्मयः शकुनिर्ब्रह्मनाम इति पक्षित्वेन पुच्छशब्दव्यवहारः। चित्याग्नेः सप्तपुरुषीयपक्षत्वं दशमे वक्ष्यते। आपस्तम्बोऽपि तथैवाह—'चतुर आत्मनि पुरुषान् मिमीते पुरुषं दक्षिणे पक्षे पुरुषं पुच्छे पुरुषमुत्तर इति तदुह वै सप्तविधमेव चिन्वीत सप्तविधो वाव प्राकृतोऽग्निः' (आप० श्रौ० १६।१।७)। तस्य विराडात्मकस्य सप्तपुरुषसम्मितस्य चित्याग्नेः शिरो दर्शयितुमाह—अथ यश्चितेऽग्निर्निधीयत इत्यादि।

'अथ यश्चितेऽग्निर्निधीयते यैवैतेषाꣳ सप्तानां पुरुषाणाꣳ श्रीर्यो रसस्तमेतदूर्ध्वꣳ समुदूहन्ति तदस्यैतच्छिरः। तस्मिन्नेतस्मिन् सर्वे देवाः श्रिताः। अत्र हि सर्वेभ्यो देवेभ्यो जुह्वति तस्माद्वेवैतच्छिरः' (श० ६।१।१।७)। चिते ऐष्टके चितेऽग्नौ। अग्निराहवनीयो निधीयते। या वा एतेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीः यश्च रसः, स एवायमग्निरित्यध्याहारः। चित्याग्नेरण्डात्मकत्वाद् निधीयमानस्याग्नेर्हिरण्यगर्भात्मकत्वमित्यर्थः। शेषं स्पष्टम्। ततश्चयनोपयुक्तायाः सृष्टेराम्नानं तस्यां त्रयीलक्षणस्य ब्रह्मणोऽपामाण्डस्य चोत्पत्तिरुक्ता। आण्डा''' अग्न्यश्वरासभाजानां पशूनामुत्पत्तेः कथनम्। ततः पृथिव्या उत्पत्तिमुक्त्वा तत्सकाशात् शुष्कार्द्रभावेन द्विविधमृत्तिकाः, सिकतं वालुकाः, शर्करा अल्पपाषाणाः, अश्मानं स्थूलपाषाणम्, अयः, हिरण्यं सुवर्णम्, ओषधिः,

वनस्पतय इत्येतैर्नवभिरिमामाच्छादितवान् । भूमिसृष्टेरनन्तरं प्रजापतिरिदं जगदधिकं भवेदिति कामयित्वा अग्निना पृथिवीं मिथुनत्वेन समयोजयत् । तयोः संयोगेन अण्डं जातम् । वाय्वन्तरिक्षयोर्मिथुनाद् आदित्यस्य तद् अभ्यमृशत्, नानात्वेन पुष्टं भवत्विति त्रिवारमण्डमभिलक्ष्याब्रवीत् । तत्राण्डस्यान्तर्गर्भाद् वायुर्जातः । अथ गर्भोदकं कपाललिप्तरसः कपालानि च पक्षिमरीच्यन्तरिक्षलोकात्मकान्यभूवन् । अथ वाय्वन्तरिक्षयोर्मिथुनत्वेन सङ्गात् पुनरेकमण्डमुत्पन्नम् । तत आदित्य उत्पन्नः । स एष यशोरूपः । पूर्ववद् गर्भोदकादीनि मेघरश्मिद्युलोकात्मकानि जातानि । तृतीयपर्याये आदित्यद्युलोकयोर्मिथुनत्वेन गर्भः समजनि । तं प्रजापती रेतो बिभृहीति रेतोरूपत्वेन धारयेति गर्भमवसृष्टवान् । अत्रापि गर्भोदककपाललिप्तरसतत्कपालानि नक्षत्रावान्तरदिङ्महादिगात्मकानि सम्पन्नानि ।

पुनश्च प्रजापतिरेषु लोकेषु प्रजाः सृजेयमिति विचार्य स्वकीयवाङ्मनसयोर्मिथुनीभवनेन स्वयमष्टद्रप्सरूपगर्भवानभवत् । ततोऽष्टाभ्यो द्रप्सेभ्योऽष्टौ वसवः सञ्जाताः । तानष्टवसूनस्यां भूमौ निहितवान् । पुनर्वाङ्मनसयोर्युग्मेन एकादशरुद्रान् सृष्ट्वा तानन्तरिक्षे स्थापितवान् । द्वादशादित्यांश्च सृष्ट्वा तान् द्युलोके उपदधाति स्म । विश्वान् देवान् दिक्षु निहितवान् । केषाञ्चिद्रीत्या अग्निपूर्वा पूर्वोक्ता वसुरुद्रादिसृष्टिः । अपरेषां ब्रह्मविदां रीत्या प्रजापतिरेव लोकत्रयं सृष्ट्वा पृथिव्यां प्रतिष्ठितः सन् पक्वा अन्नरूपा ओषधीः प्राश्य गर्भीभूत्वा स ऊर्ध्वेभ्यः प्राणेभ्यो देवान् सृष्टवान् । अवाचीनेभ्यः प्राणेभ्यो मर्त्याः प्रजा इति । अत्र सर्वोत्पादकस्य प्रजापतेश्चित्याग्निरूपताया आख्यायिकया प्रदर्शनम् । प्रसङ्गाद्धितोपहितशब्दयोरर्थप्रदर्शनं चितिसंख्याप्रदर्शनपुरस्सरं सार्थवादं प्रजापतेश्चित्यत्वप्रदर्शनम्, चित्योपरि निधीयमानस्याहवनीयस्याग्नेरादित्यरूपत्वाभिधानम्, इष्टकाशब्दनिर्वचनम्, अक्ताक्ष्यमतेन यजुष्मतीष्टका भूमस्त्वेनोपधेयाः, ताण्ड्यमतेन लोकम्पृणेष्टका भूयस्त्वेनोपधेया इति सोपपत्तिकमभिधाय दूषयित्वा सिद्धान्तपक्षनिरूपणम्, इष्टकायाश्चतुःस्रक्तित्वरूपगुणस्याभिधानम् । द्वितीयाध्याये पञ्चपश्वालम्भपक्षं विधातुं प्रजापतिवृत्तान्तकथनं पशूनामग्न्यात्मकत्वादिकथनम् । तृतीये चायनीयमन्त्राणां विनियोगकथनम् ।

यु॒ञ्जा॒नः प्र॑थ॒मं मन॑स्त॒त्त्वाय॑ सवि॒ता धियः॑ ।
अ॒ग्नेर्ज्योति॑र्नि॒चाय्य॑ पृथि॒व्या अध्याभ॑रत् ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—सबको प्रेरणा देने वाले प्रजापति ने आरम्भ में मन को एकाग्र कर अग्नि के तेज को और इष्टका आदि के ज्ञान को पाँच पशुओं में प्रविष्ट जान कर बुद्धिपूर्वक मानस भूमि में धारण किया ॥ १ ॥

इत आरभ्याष्टादशाध्यायपर्यन्तमग्निचयनाङ्गमन्त्रा निरूप्यन्ते । 'प्रजापतिः प्रथमां चितिमपश्यत्, प्रजापतिरेव तस्या आर्षेयम् । देवा द्वितीयां चितिमपश्यन्, देवा एव तस्या आर्षेयम् । इन्द्राग्नी च विश्वकर्मा च तृतीयां चितिमपश्यन्, त एव तस्या आर्षेयम् । ऋषयश्चतुर्थीं चितिमपश्यन्, ऋषय एव तस्या आर्षेयम् । परमेष्ठी पञ्चमीं चितिमपश्यत्, परमेष्ठ्येव तस्या आर्षेयमिति' (श० ६।२।३।१०) इति श्रुतेः पञ्चचित्यात्मकाग्निसम्बन्धिमन्त्राणां प्रजापत्यादय ऋषयः, सोऽग्निरेव देवता, विविधानि छन्दांसि, तत्तच्चितिषु विनियोगः । तत्राग्निपदेन इष्टकाभिः सम्पादितम् अग्न्याधारभूतं विशिष्टं स्थण्डिलमुच्यते । चयनयागं चिकीर्षुः फाल्गुनकृष्णप्रतिपदि पौर्णमासेष्टिं कृत्वा पुरुषाश्वगोऽव्यजानालभ्याजेन यागं कृत्वा पञ्चानां शिरांसि घृताक्तानि प्रथमचितावुपधानार्थं क्वचित् संस्थाप्य तेषां कबन्धान् यज्ञशेषं च मृद्युक्ते तडागादिजले प्रास्येत् । उखार्थमिष्टकार्थं च मृदं जलं च तत एवादेयम् । ततः फाल्गुनकृष्णाष्टम्यामुखासम्भरणम् ।

तदर्थमाहवनीयदक्षिणाग्नी उद्धृत्याहवनीयात् प्राक्कृते चतुष्कोणे गर्ते ततस्तडागाद् मृत्पिण्डमानीय भूसमं स्थापयेत् पिण्डाहवनीयान्तराले सच्छिद्रां वल्मीकमृदं निदध्यात्। आहवनीयाद् दक्षिणदेशे अश्वगर्दभाजाः प्राङ्मुखाः प्रागपरा मुञ्जरसनाबद्धाः स्थाप्याः। आहवनीयोत्तरे वैण्वी उभयतस्तीक्ष्णा कल्माषी हिरण्मयी वाभ्रिः स्थाप्या' इति महीधराचार्यः। 'अष्टगृहीतं जुहोति सन्ततमुद्गृह्णन् युञ्जान इति' (का० श्रौ० १६।२।७)। गार्हपत्ये घृतं संस्कृत्य जुहूं स्रुवं च सम्मृज्य स्रुच्यष्टगृहीतमाज्यमाहवनीये परिस्तरणसमिदाधानपूर्वं सन्ततमविच्छेदेन उद्गृह्णन् ऊर्ध्वं गृह्णन् अध्वर्युः 'युञ्जानः' इत्याद्यष्टमन्त्रैः सवितृदेवत्यैर्जुहुयात्। सान्तत्यं चाष्टर्चान्ते स्वाहाकारपर्यन्तम्। एतेषां यजुष्ट्वं यजुर्वेदे पाठात्; अन्यथा पादबद्धानां यजुष्ट्वानुपपत्तेः। यद्वा यजुःसंहितापठिता मन्त्राश्छत्रिन्यायेन यजुःशब्देनोच्यन्ते। अत्राष्टमो मन्त्रो यजुः, 'यजुरष्टमाभिर्ऋग्भिरेकामाहुतिं जुहोति' (आप० श्रौ० १६।१।४) इत्यापस्तम्बोक्तेः। आद्या अनुष्टुप्, तृतीयः सप्ताक्षरः। अष्टानां सविता ऋषिः। सवितैव देवतापि।

अथ मन्त्रार्थः—सविता सर्वस्य स्वकार्यार्थे प्रेरकः परमेश्वरः सूर्यः प्रथममादौ अग्निचयनविषये मनः ज्ञानसाधनभूतं चित्तं युञ्जानः समादधानः कर्मविषयं ज्ञानमुत्पादयितुमात्मना संयुक्तं कुर्वन् वा अनन्तरं धियो बुद्धीः प्राणान् वा तत्वाय तनित्वा विस्तार्य, इष्टकाविषयाणि वा ज्ञानानि तनित्वा। तनोतेः क्त्वाप्रत्यये इडभावपक्षे 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (पा० सू० ६।४।२४) इति नलोपे 'क्त्वो यक्' (पा० सू० ७।१।४७) इति यगागमे रूपम्। यद्वा एकं वाक्यम्, प्रथमं मनोज्ञानसाधनं धियं तत्कार्यं ज्ञानं च। 'तत्वाय' इति चतुर्थी। छान्दसस्तकारलोपः। तत्वं नामाग्नित्वम्। शतपथे प्रकृतत्वात् तच्छब्देनाग्निः परामृश्यते। तस्य भावस्तत्वम्[1] अग्निभावस्तस्मै अग्निभावाप्तये मनो ज्ञानं च नियुञ्जानः। अग्नेर्निचीयमानस्य सम्बन्धि ज्योतिः पञ्चसु पशुषु प्रविष्टं तेजो निचाय्य दृष्ट्वा सकलानां कर्मणां साधनभूतं निश्चित्य वा। 'चायृ पूजानिशामनयोः' इति निपातनात्। निशामनं दर्शनम्। पृथिव्याः पशुशरीरान्वितायाश्चितताया अधि उपरि विशिष्टदेशं प्रति आभर। ततः पशुभ्यः सकाशाद् अग्निं तेज आहृतवान्। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा० सू० वा० ८।२।३२) इति हकारस्य भकारः। अध्याहृतवान् आनीतवान् वाग्निम् इष्टकां कृत्वा चितवानग्निम्। श्रुतौ प्रजापतिः कर्तृत्वेनोपदिष्टः। इदानीन्तना अपि यजमानास्तदनुकृत्य कर्तारो भवन्ति।

तत्र ब्राह्मणम्—'ताᳪ संततां जुहोति संतता हि ता आप आयन्नथ यः स प्रजापतिस्त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशदेष स यैरेतद्यजुर्भिर्जुहोति' (श० ६।३।१।१०)। आहुतिसाधनान् मन्त्रान् प्रशंसति—अथ यः स प्रजापतिस्त्रय्या विद्ययेति। पूर्वं प्रजापतिरपः सृष्ट्वा त्रयीमय्या विद्यया सह ता अपः प्रविष्टवान्। अत इदानीमपि मन्त्राणां त्रयीरूपत्वात् तैर्होमकरणं प्रजापतेर्बहुधोत्पत्तये विद्यया सहोदकप्रवेशसमानम्, 'सोऽकामयताभ्योऽद्भ्योऽधि प्रजायेयेति, सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्' (श० ६।१।१।१०) इति श्रुतेः। 'तद्यानि त्रीणि प्रथमानि। इमे ते लोका अथ यच्चतुर्थं यजुस्त्रयी सा विद्या जगती सा भवति जगती सर्वाणि छन्दाᳪसि सर्वाणि छन्दाᳪसि त्रयी विद्याथ यानि चत्वार्युत्तमानि दिशस्तानीमे च वै लोका दिशश्च प्रजापतिरथैषा त्रयी विद्या' (श० ६।३।१।११)। यानि प्रथमानि त्रीणि यजूंषि तानि पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकात्मकानि, चतुर्थो मन्त्रस्त्रयीविद्यात्मकः। त्रयीत्वं छन्दोद्वारा प्रतिपादयति—जगती सर्वाणि छन्दांसीति। 'युञ्जते मनः' (वा० सं० ११।४) इति चतुर्थो मन्त्रो जगतीछन्दस्कः, जगत्याः सर्वछन्दोमयत्वात् त्रय्याश्च तत्सम्भवात्

१. चिन्त्यमिदम्, तत्वायेति पदैक्यात्, तत्र पदच्छेदाभावात्। तनोतेस्त्वाप्रत्ययेन तत्वायेति रूपे सिद्धे पुनश्छान्दसतकारलोपादिकथनं गौरवावहमेव।

चतुर्थस्यास्य त्रयीरूपत्वम् । इमानि चत्वारि यजूंषि प्रागादिमहादिशः, संख्यासाम्यात् । इमे वै लोका इत्यादिना सप्तानां मन्त्राणां प्रजापतिरूपत्वमेकस्यास्त्रयीरूपत्वं च प्रदर्शितम् । 'स जुहोति युञ्जानः प्रथमं मन इति प्रजापतिर्वै युञ्जानः स मन एतस्मै कर्मणेऽयुङ्क्त तद्यन्मन एतस्मै कर्मणेऽयुङ्क्त तस्मात् प्रजापतिर्युञ्जानः' (श० ६।३।१।१२) । होममनूद्य प्रथमामृचं विधत्ते—स जुहोतीति । मन्त्रं प्रतिपादमनूद्य व्याचष्टे—प्रजापतिर्वै युञ्जान इति । अत्र सवितृपदेन धात्वर्थमात्रमाश्रित्य प्रजापतिरुच्यते । स एतस्मै कर्मणेऽयुङ्क्त । 'तत्वाय सविता धिय इति । मनो वै सविता प्राणा धियोऽग्नेर्ज्योतिर्निचाय्येत्यग्नेर्ज्योतिर्दृष्ट्वेत्येतत्पृथिव्या अध्याभरदिति पृथिव्यै ह्येनदध्याभरति' (श० ६।३।१।१३) । अग्नेर्ज्योतिः पशुषु दृष्ट्वेत्यादिकं सर्वं पूर्ववद् व्याख्येयम् । 'स एतान् पञ्च पशूनपश्यत् पुरुषमश्वं गामविमजं यदपश्यत्तस्मादेते पशवः' (श० ६।२।१।२), 'स एतान् पञ्च पशून् प्राविशत्', 'स एतान् पञ्च पशूनपश्यत्' (श० ६।२।१।३-४) । तेषु पशुषु तादात्म्येन प्रविष्टमेतमग्निं प्रजापतिरप्यद्राक्षीत् ।

अध्यात्मपक्षे—धियः सविता प्रेरको भूत्वा साधको मनः अन्तःकरणं युञ्जानः समाहितं कुर्वाणः प्रथमं ब्रह्मात्मतत्त्वप्राप्तये पृथिव्याः पृथिव्युपलक्षिताया भूतप्रकृतेः अधि उपरि मनः सङ्कल्परूपा वृत्तीः (श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्ये २।१), धियो निश्चयात्मिका वृत्तीश्च आभरद् धारयेत् । किं कृत्वा ? अग्नेः परमेश्वरस्य सम्बन्धि ज्योतिर्देहादिषु जीवरूपेण व्याप्तं प्रकाशं निचाय्य विविच्येति ।

दयानन्दस्तु—'यः सविता ऐश्वर्येच्छुः मनुष्यः प्रथममादौ तत्त्वाय तेषां परमेश्वरादीनां पदार्थानां भावा मनोऽन्तःकरणस्य मननात्मिका वृत्तीर्धियो धारणात्मिका अन्तःकरणवृत्तीः, युञ्जानः योगाभ्यासं भूगर्भविद्यां च कुर्वाणः, अग्नेः पृथिव्यादिस्थाया विद्युतो ज्योतिः प्रकाशं निचाय्य निश्चित्य पृथिव्या अधि उपरि आ समन्ताद् भरद् धरेत् स पदार्थविद्याविच्च जायते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणात् । नहि सवितृपदमैश्वर्येच्छुं बोधयति, तादृशेऽर्थे तस्याशक्तेः । ऐश्वर्यार्थकस्य सूतेरैश्वर्यवानित्यर्थो भवति, नैश्वर्येच्छुरिति । तत्त्वाय इत्यस्य परमेश्वरादीनां पदार्थानां भावायेत्यर्थोऽप्यनर्थ एव, तेषां भावस्य स्वतः सिद्धत्वात् । यत्तु—'तस्य भावस्तत्त्वं तस्मै, तादर्थ्ये चतुर्थी, परमेश्वरादीनां तत्त्वज्ञानायेति यावत्' इति, तदपि तुच्छम्, तत्त्वशब्दस्य तत्त्वज्ञानार्थतानुपपत्तेः । कथं पृथिव्या उपरि पृथिव्यादिस्थाया विद्युतः प्रकाशस्य धारणमित्युक्त्या भूगर्भविद्या सिद्ध्यति ? यद्यपि पृथिव्यामग्नौ च नानाशक्तयः सन्ति, सुवर्णादीनां धातूनां तत्र सत्त्वमप्यस्ति, तथापि नात्र मन्त्रे तन्निरूपणं दृश्यते ॥ १ ॥

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे । स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—संसार को अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त कराने वाले सविता देव की आज्ञा में वर्तमान हम एकाग्र मन से स्वर्ग के साधनस्वरूप यज्ञीय कार्यों को सम्पन्न करने में अपनी सामर्थ्य के अनुसार प्रयत्न करते हैं ॥ २ ॥

गायत्री । सवितुर्देवस्य प्रजापतेः सवे प्रसवे आज्ञायां वर्तमाना वयं यजमाना युक्तेन इन्द्रियार्थेभ्यो निगृहीतेनैकाग्रेण मनसा स्वर्ग्याय स्वर्गाय हितं स्वर्ग्यं तस्मै स्वर्गसाधकाय कर्मणे शक्त्या स्वसामर्थ्येन, यतामह इति शेषः । युक्तेन कर्मविषये एकाग्रेण मनसा । अन्यत्र प्रसृते मनसि कर्म कर्तुं न शक्यते. अतः कर्मणि युक्तेन मनसा सहिताः सवितुर्देवस्य सवे अभ्यनुज्ञाने वर्तमाना वयमनुष्ठातारः, स्वर्ग्याय स्वर्गाय हितमिति स्थितौ 'तस्मै हितम्' (पा० सू० ५।१।५) इति हितार्थे यत् प्रत्ययः । अथवा स्वर्ग्याय स्वर्गेयाय स्वर्गे लोके गीयमानायाग्नये वा । शक्त्या कर्मकरणसामर्थ्येन तदर्थं द्रव्यसामर्थ्येन च प्रयतनीये इति शेषः । नित्ये कर्मणि यथा शक्नुयात्तथा कुर्यादिति प्रकारवाचिना यथाशब्देन शक्तेर्यथासम्भवतोक्तिः । काम्ये यदा शक्नुया-

तदा कुर्यादिति पूर्वोक्तेः सम्पूर्णता चोक्ता। तत्र ब्राह्मणम्—'युक्तेन मनसा वयमिति मन एवैतदस्मै कर्मणे युङ्क्ते। नह्ययुक्तेन मनसा किञ्चन सम्प्रति शक्नोति कर्तुं देवस्य सवितुः सव इति देवेन सवित्रा प्रसूता इत्येतत्स्वर्ग्याय शक्त्येति यथैतेन कर्मणा स्वर्गं लोकमियादेवमेतदाह शक्त्येति शक्त्या हि स्वर्गं लोकमेति' (श० ६।३।१।१४) इति।

अध्यात्मपक्षे—वयं साधका युक्तेन नियतेन समाहितेन मनसा चित्तेन देवस्य द्योतनात्मकस्य सवितुः परमेश्वरस्य सर्वोत्पादकस्य सवे अभ्यनुज्ञायां वर्तमाना स्वर्ग्याय स्वर्गाय परमात्मप्राप्तये हितं स्वर्ग्यं ब्रह्मात्मसाक्षात्कारात्मकं ज्ञानं तस्मै तदर्थं शक्त्या यथासामर्थ्यं प्रयतामह इति शेषः। 'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥' इति रीत्या परमेश्वरसुखस्यैव स्वर्गत्वम्, अन्यस्यानन्तरं ग्रस्यमानत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे योगं तत्त्वविद्यां च जिज्ञासवो मनुष्याः, यथा वयं योगिनो युक्तेन कृतयोगाभ्यासेन मनसा विज्ञानेन शक्त्या सामर्थ्येन च देवस्य सर्वद्योतकस्य सवितुरखिलजगदुत्पादकस्य परमेश्वरस्य प्रसवे जगदाख्येऽस्मिन्नैश्वर्ये स्वर्ग्याय स्वः सुखं गच्छति येन तद्भावाय ज्योतिराभरेम तथा यूयमप्याभरत' इति, तदपि विशृङ्खलमेव, वाचकलुप्तोपमालङ्कारस्य प्रकृते सत्त्वे मानाभावात्। योगजिज्ञासवः सम्बोध्या योगिनश्च वक्तार इत्यपि साध्यमेव। स्वः सुखं प्राप्यते येन तत्साधनं सुखेतरदेव वक्तव्यम्। हिन्दीभाषायां तदर्थे सुखप्राप्त्यर्थमित्यस्य कथङ्कारं समन्वयः? एवमन्यदप्यूह्यम्॥ २॥

युक्त्वाय सविता देवान् स्वर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥ ३॥

मन्त्रार्थ—सारे जगत् को प्रेरणा देने वाले सविता देवता सभी देवताओं को स्वर्ग में प्रेरित करने वाले तथा इन्द्रिय गणों का दमन करने वाले हैं। यज्ञ आदि कर्मों के अनुष्ठान से स्वर्ग प्रकाशित होता है, इसको वे भली-भाँति जानते हैं। वे सविता देवता महान् आदित्य नामक आत्मज्योति का संस्कार करने वाले और सभी देवताओं में अग्रस्थानीय अग्निदेव को शुभ कर्मों में संयुक्त कर प्रेरित करने वाले हैं॥ ३॥

अनुष्टुप्। द्वितीयपादः सप्तार्णस्तेनैकोना। सविता सर्वस्य प्रसविता तान् प्रसिद्धान् देवान् प्रसुवाति प्रसौति प्रेरयति। 'षु प्रेरणे'। किं कृत्वा? युक्त्वाय प्रकृते अग्निचयने कर्मणि संयोज्य। क्त्वो यकि रूपम्। कीदृशान् देवान्? धिया बुद्ध्या कर्मणा वा दिवं यतः, दीव्यति प्रकाशते यः स दिवस्तम् 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा० सू० ३।१।१३५) इति कप्रत्ययः। द्योतमानं स्वः स्वर्गं यतो गच्छतः। यत इति 'इण् गतौ' इत्यस्य शत्रन्तस्य रूपम्। पुनः कीदृशान्? बृहद् महद् ज्योतिरादित्यलक्षणमात्मत्वेन करिष्यतः संस्कुर्वतः। कीदृशः सविता? अन्येन कर्मणा स्वर्गं गच्छतो देवान् अग्निकर्मणि सविता प्रेरयिता। यद्वा सविता प्रजापतिः, तान् इन्द्रियलक्षणान् स्वविषयद्योतकान् देवान् प्रसुवाति प्रकर्षेण अग्निकर्मणि प्रेरयति। किं कृत्वा? देवान् क्रीडापरत्वेन चपलान् मनसा विषयेभ्यो युक्त्वाय नियम्य। पुनः कीदृशान् देवान्? स्वर्यतः स्वर्गं गच्छतः स्वर्गं गन्तुमुद्यतान्। पुनः कीदृशान्? बृहत् प्रौढं ज्योतिश्चीयमानस्याग्नेस्तेजो धिया तत्तदिष्टकादिविषयया प्रज्ञया दिवं द्योतमानं करिष्यतः कर्तुमुद्यतान्। यद्वा तादृशान् युक्त्वाय मनसा युक्त्वा स्थित इति विशेषः। बृहज्ज्योतिरग्न्यात्मकं सूर्यात्मकं च करिष्यतः संस्करिष्यत आत्मत्वेन भावयतः।

तत्र ब्राह्मणम्—'युक्त्वाय सविता देवानिति। मनो वै सविता प्राणा देवाः स्वर्यतो धिया दिवमिति स्वर्गं हैनां लोकं यतो धियैतस्मै कर्मणे युयुजे बृहज्ज्योतिः करिष्यत इत्यसौ वा आदित्यो बृहज्ज्योतिरेष उ एषोऽग्निरेतं वेते संस्करिष्यन्तो भवन्ति सविता प्रसुवाति तानिति सवितृप्रसूता एतत्कर्म करवन्नित्येतत्' (श० ६।३।१।१५)। तृतीयं मन्त्रं विधत्ते—युक्त्वायेति। मन्त्रं व्याचष्टे—मनो वा इति। मन्त्रे मनो वै सविता प्राणा वै देवा उक्ताः। स्वर्यतो धिया दिवमित्यस्याभिप्रायमाह—स्वर्गं हैनां लोकं यतो धियैतस्मै कर्मणे युयुज इति। बृहज्ज्योतिः करिष्यत इत्यस्याभिप्रायमाह—असौ वा आदित्यो बृहज्ज्योतिः। एष उ एषोऽग्निः। एतं वेते संस्करिष्यन्तो भवन्तीति। शेषस्य तात्पर्यमाह—सवितृप्रसूता एतत्कर्म करवन्निति। करवन्निति पञ्चमो लकार उदाहृतः।

अध्यात्मपक्षे—सविता सूते सर्वमुत्पादयतीति परमेश्वरः, तान् प्रसिद्धानिन्द्रियलक्षणान् देवान् क्रीडापरत्वेन बहिर्मुखान् धिया बुद्ध्या युक्त्वा विषयेभ्यो नियम्य प्रसुवाति प्रकर्षेण सौति प्रेरयति, प्रत्यक्चैतन्याभिन्ने परमात्मनीति शेषः। कीदृशान् देवान्? स्वर्यतः सुखं स्वर्गं वा गन्तुमुद्यतान्। पुनः कीदृशान्? ज्योतिः प्रत्यक्चैतन्यं बृहद् महत् परमात्मज्योतिः करिष्यतः। अतद्व्यावृत्त्या परिच्छिन्नत्वेन प्रतीयमानं पूर्णत्वेनापरिच्छिन्नत्वेन व्यञ्जयन्ति।

दयानन्दस्तु—'यान् सविता योगपदार्थविज्ञानस्य प्रसविता परमात्मनि मनो युक्त्वा युक्तं कृत्वा धिया प्रज्ञया दिवं विद्याप्रकाशं स्वर्यतः स्वर्गस्य प्रापकान् बृहद् महद् ज्योतिर्विज्ञानं करिष्यतः, ये करिष्यन्ति तान्, देवान् दिव्यान् गुणान् प्रसुवाति उत्पादयेत् ताननन्योऽपि सविता प्रसुवेत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अनुपपत्तेः, वाक्यानामसम्बद्धत्वात्, हिन्दीव्याख्यानस्य संस्कृतव्याख्यानविरुद्धत्वाच्च। योगपदार्थविज्ञानस्य को वा रचयितेत्यनुक्तेः। स्वर्यतः सुखस्य प्रापकाः के भवन्ति? गुणा वा अन्ये वा? प्रापका इत्यस्योपलब्धार इत्यर्थकत्वेऽपि नोपपत्तिः, गुणस्योपलब्धृत्वायोगात्॥ ३॥

यु॒ञ्जते॒ मन॑ उ॒त यु॑ञ्जते॒ धियो॒ विप्रा॒ विप्र॑स्य बृह॒तो वि॑प॒श्चितः॑।
वि होत्रा॑ दधे वयुना॒विदेक॒ इन्म॒ही दे॒वस्य॑ सवि॒तुः परि॑ष्टुतिः॥ ४॥

मन्त्रार्थ—अतिमहान् महापण्डित ब्राह्मण यजमान के लिये होता का कार्य करने वाले अध्वर्यु आदि इस अग्निचयन कार्य में मन नियुक्त करते हैं, उसकी बुद्धि को नियुक्त करते हैं। एक अद्वितीय प्रज्ञा वाले और ऋत्विक्-यजमान के अभिप्राय को जानने वाले देव सविता ने इस सारे जगत् का निर्माण किया है। सबके प्रेरक सविता देव की सभी वेदों में महान् स्तुति सुनाई पड़ती है॥ ४॥

जगती। विप्रस्य ब्राह्मणस्य विशेषेण प्राति पूरयति दक्षिणान्नदानादिना इति विप्रः, तस्य यजमानस्य सम्बन्धिनो विप्रा मेधाविन ऋत्विजः, मनो युञ्जते स्वकीयं मनः प्रथमं विषयेभ्यो निवर्त्य समाहितं कुर्वते। उतापि च धियं इष्टकादिविषयाणि ज्ञानानि युञ्जते सम्पादयन्ति। कीदृशस्य विप्रस्य? बृहतः प्रभोरग्निचयनोद्योगेनाभिवृद्धस्य तथा विपश्चितो विदुषः प्रयोगाभिज्ञस्येत्यर्थः। यद्वा 'विप इति वाङ्नाम' (निघण्टु १।११।४१)। विपं सकलशाखागतान् मन्त्रानेकत्र कर्मणि रान्ति सञ्चिन्वन्तीति विप्राः। कथंभूता विप्राः? होत्रा होमशीलाः। जुह्वतीति होत्राः, कर्मतत्परा इत्यर्थः। किञ्च, सर्वमेतत् सवित्रात्मकत्वाद् दिव्यमित्याह—एक एव सविता विदध इति सर्वमिदं विरचितवान्। कीदृशः सविता? वयुनाविद् वयुनानि विज्ञानानि

वेत्तीति ऋत्विग्यजमानाभिप्रायज्ञः। सर्वज्ञत्वात् सर्वं कर्तुं क्षम इत्यर्थः। 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः। कथमेक एव सर्वं कृतवानिति न विस्मेतव्यम्, यतः सवितुर्देवस्य परिष्टुतिः परितः सर्ववेदेषु श्रूयमाणा स्तुतिः, मही महती, अचिन्त्यं माहात्म्यमित्यर्थः। यद्वा विप्रा मेधाविनो देवाः, विप्रस्य मेधाविनः प्रजापतेरग्न्यात्मकस्य विस्रस्तस्य पुनःसन्धानार्थं मनो युञ्जते कर्मार्थमेकाग्रं कुर्वन्ति। उतापि च धियो बुद्धीः प्राणान् वा युञ्जते। वयुनावित् 'वयुनम् इति प्रज्ञानाम' (निघण्टु ३।११।१०)। इह तु ज्ञाने लक्षणया वर्तते। वेदनस्य वेदनायोगाच्च ज्ञातसकलज्ञेय इत्यर्थः। एक इद् एव चीयमानोऽग्निः, होत्राः सप्तहोत्रकाणां प्रथितयाज्या विदधे चकार, तदिदं सवितुर्देवस्य मही महती परिष्टुतिः।

अत्र ब्राह्मणम्—'युञ्जते मन उत युञ्जते धिय इति। मनश्चैवैतत्प्राणांश्चैतस्मै कर्मणे युङ्क्ते विप्रा विप्रस्येति प्रजापतिर्वै विप्रो देवा विप्रा बृहतो विपश्चित इति प्रजापतिर्वै बृहन् विपश्चिद्धि होत्रा दध इति यद्वा एष चीयते तदेष होत्रा विधत्ते चिते ह्येतस्मिन् होत्रा अधिविधीयन्ते वयुनाविदित्येष हीदं वयुनमविन्ददेक इदित्येको ह्येष इद७ं सर्वं वयुनमविन्दन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिरिति महती देवस्य सवितुः परिष्टुतिरित्येतत्' (श० ६।३।१।१६)। मन्त्रं व्याचष्टे—युञ्जते मन इत्यादिना। स्पष्टोऽर्थः। यद्वा य एष चीयते स ह्येतत्कर्माणि करोति। तदेव द्रढयितुमाह—चिते ह्येतस्मिन्निति। 'चिते' अग्नौ होतृमैत्रावरुणादिक्रियाणां विधानात् तस्यैव कर्तृत्वमुपचरितम्।

अध्यात्मपक्षे—विप्रस्य मेधाविनः सामान्येन सर्वज्ञानवतो बृहतो महतो विपश्चितो विशेषेण पश्यश्चासौ चिच्चेति विपश्चित् तस्य, सर्वविशेषज्ञानवतः परमेश्वरस्य सम्बन्धिनो विप्रा मेधाविनो जीवाः साधका मनः सङ्कल्पविकल्पात्मकं चेतः, उतापि धियो बुद्धीश्च प्राणान् वा युञ्जते प्रत्यक्चैतन्याभिन्ने परमात्मन्येव समादधते। कीदृशा विप्राः ? होत्रा होमशीला अनलसाः पुरुषार्थपरायणाः। कुतस्तत्र मनो दधत इति। तत्र हि एकोऽसहायः, इद् एव, विदधे सर्वमिदं विरचयति। ननु कथमेक एव सर्वमपारं जगन्निर्माति ? तत्राह—वयुनाविद् ज्ञातज्ञेयः सर्वज्ञः, अतो नास्ति जगन्निर्माणे काचिदनुपपत्तिः। सर्वज्ञतापि कथं तस्येत्याशङ्क्याह—देवस्य सर्वद्योतकस्य सवितुर्जगदुत्पत्तिस्थितिलयलीलस्य तस्य परिष्टुतिः परितः सर्वेषु वेदेषु विद्यमाना स्तुतिः, मही महती सर्वोपरि विराजमानाऽस्ति, तस्याचिन्त्यमहिमत्वात्।

दयानन्दस्तु—'ये होत्रा दातुं शीलाः, विप्रा मेधाविनः, यस्य बृहतो महतो विपश्चितोऽखिलविद्यायुक्तस्य इव वर्तमानस्य विप्रस्य सर्वशास्त्रविदो मेधाविनः सकाशात् प्राप्तविद्याः सन्तो या सवितुर्देवस्य जगदीश्वरस्य मही महती परिष्टुतिः परितः सर्वतः स्तुवन्ति यया सा अस्ति, तत्र यथा मनो युञ्जते परमात्मनि तत्त्वज्ञाने वा समादधते, उतापि धियो बुद्धीर्युञ्जते, तथा वयुनाविद् वयुनानि प्रज्ञानानि वेत्ति स एक असहाय इद् एव, इदमहं विदधे' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विपश्चित इव वर्तमानस्य विप्रस्य इत्यसङ्गतेः। अखिलविद्यायुक्तस्य सर्वशास्त्रविदश्चात्यन्ताभेदे उपमानोपमेयत्वायोगात्। किञ्च, निरर्थकमिदं दृष्टान्तोपादानम्, यद्यसहाय एव मनः समाधातुं शक्यते। लुप्तोपमालङ्कारोऽपि प्रकृते निर्मूल एव। वयुनानि प्रज्ञानानि वेत्तीत्यसङ्गतम्, ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वेन ज्ञानत्वायोगात्॥ ४॥

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥ ५॥

मन्त्रार्थ—हे पत्नी और यजमान ! तुम्हारे निमित्त 'नमः' इस उक्ति के साथ पुरातन महर्षियों के द्वारा अनुष्ठित अग्निचयन नामक आत्मज्योति को बढ़ाने वाले शुभ कर्म का मैं अनुष्ठान करता हूँ। ब्राह्मण जाति को अन्न से तृप्त करता हूँ। पण्डित यजमान की कीर्ति उसी तरह से दोनों लोकों में व्याप्त हो, जैसे यज्ञ भाग में प्रवृत्त हुई आहुति दोनों लोकों को प्राप्त होती है। मरणधर्मरहित प्रजापति के पुत्र सभी देवगण यजमान की उस कीर्ति को सुनें, जो दिव्य स्वर्ग में भी फैली हुई है ॥ ५ ॥

त्रिष्टुप्। हे पत्नीयजमानौ, वां युवयोरर्थे नमोभिरन्नैः, इदानीं हुतैर्घृतैः सहितं पूर्व्यं पुरातनैर्महर्षिभिरनुष्ठितं ब्रह्म परिवृढमग्निचयनाख्यं कर्माहं युजे युनज्मि सम्पादयामि। यद्वा नमोभिर्नमस्कारपूर्वकैरिष्टकोपधानादिभिर्युजे सम्पादयामि। यद्वा ब्रह्मशब्देन प्राणाः सप्त ऋषयो ब्राह्मणाश्चोच्यन्ते। वां युवाभ्यामर्थे पूर्व्यं पुरातनं ब्रह्म ब्राह्मणजातिं नमोभिरन्नैर्युजे योजयामि। अन्तर्भावितणिजर्थो बोध्यः। ब्रह्म ब्राह्मणांश्चाहं तैरन्नैस्तर्पयामीत्यर्थः। 'इयमाहुतिरन्नशब्देनोच्यते' इत्युव्वटाचार्यः। किमर्थमिति चेत्तत्राह—तस्मिन् सम्पादिते सति विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः। सूरेर्विदुषो यजमानस्य श्लोको यशो व्येतु विविधं लोकद्वयं व्याप्नोतु। 'व्यवहिताश्च' (पा० सू० १।४।८२) इति 'वि एतु' अनयोर्व्यवधानम्। कथमिव ? पथ्येव। पथोऽनपेता पथ्या यज्ञभागप्रवृत्ता आहुतिर्यथा लोकद्वयं व्याप्नोति, एवं याजमानं यश उभयलोकसञ्चारि भवत्वित्यर्थः। किञ्च, विश्वे सर्वे अमृतस्य अमरणधर्मणः प्रजापतेः परमेश्वरस्य पुत्रा देवाः शृण्वन्तु याजमानं यशः। के ते ? ये दिव्यानि दिवि भवानि धामानि स्थानानि, आतस्थुः अधिष्ठितवन्तः, तेऽस्य यशः शृण्वन्त्विति सम्बन्धः। यद्वा हे पत्नीयजमानौ, वां युवाभ्यामर्थाय नमोभिरन्नैः सहितं पूर्व्यं पुरातनं संहितं ब्रह्म ब्रह्मणि युजे युक्तवान् सविता। अत्रान्नवाचिना नमःशब्देन आहुतिरभिधीयते। तया आहुत्या पत्नीयजमानयोर्बुद्धीः प्राणान् एकस्मै ब्रह्मणे युङ्क्ते इत्यर्थः।

यद्वा 'युजे' इति लडुत्तमैकवचने रूपम्। अहमध्वर्युर्युजे योजयामीत्यर्थः। किमर्थमिति तदाह—सूरेः कर्मविदुषो यजमानस्य श्लोकः कीर्तिर्व्येतु उभयत्र देवेषु मनुष्येषु च प्रसृता भवत्वित्येतदर्थम्। तत्र दृष्टान्तः—पथ्येव। यथा पथो यज्ञमार्गादनपेता आहुतिरुभयत्र प्रसारिणी भवति, एवं श्लोकः सर्वत्र प्रसरत्विति। शेषं पूर्ववत्। तथा च ब्राह्मणम्—'युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिरिति। प्राणो वै ब्रह्म पूर्व्यमन्नं नमस्तत्तदेषैवाहुतिरन्नमेतयैव तदाहुत्यै तेनान्नेन प्राणानेतस्मै कर्मणे युङ्क्ते विश्लोक एतु पथ्येव सूरेरिति यथोभयेषु देवमनुष्येषु कीर्तिश्लोको यजमानस्य स्यादेवमेतदाह शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा इति प्रजापतिर्वा अमृतस्तस्य विश्वे देवाः पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुरितीमे वै लोका दिव्यानि धामानि तद्य एषु लोकेषु देवास्तानेतदाह' (श० ६।३।१।१७) इति। एतद्ब्राह्मणानुसार्येव पूर्वोक्तं व्याख्यानम्। प्रजापतिरूपः प्राण एवात्र ब्रह्मपदेन ग्राह्यः। अन्नमेव नमःशब्देन। तदप्याहुतिरूपमेव। आहुतिरूपेणान्नेन एतस्मै चयनरूपाय कर्मणे प्राणान् युङ्क्ते। शेषं स्पष्टमेव।

अध्यात्मपक्षे—हे सीतारामौ रुक्मिणीकृष्णौ लक्ष्मीनारायणौ गौरीशङ्करौ वा, वां युवाभ्यामर्थे नमोभिरभीष्टैरन्नैः पूर्व्यं पूर्वैराराधितं ब्रह्म ब्राह्मणकुलं युजे योजयामि, तर्पयामीत्यर्थः। किमर्थम् ? यथा सूरेः सर्वज्ञस्य श्रिया सहितस्य नारायणस्य सीतया सहितस्य रामस्य राधया सहितस्य कृष्णस्य गौर्या सहितस्य शङ्करस्य वा श्लोको यशो दिक्षु विदिक्षु च व्येतु प्रसृतमपि विशेषेण प्रसरत्विति। अमृतस्य तव परमेश्वरस्य विश्वे सर्वे पुत्राः सर्वे जीवाः शृण्वन्तु श्रुत्वा पूता भवन्तु, ये दिव्यानि दिवि भवानि धामानि स्थानानि आतस्थुरधिष्ठितवन्तो गोलोकवैकुण्ठकैलासाख्यानि धामानि, ये वा कैवल्यं परमं पदमास्थितास्तेऽपि शृण्वन्तु। यतो

मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते, 'यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च' (नृ० पू० ता० २।१७) इति श्रुतेः। अत्र 'ब्रह्मवादिनः' इति पदेन मुक्ता गृहीता भगवत्पूज्यपादैः।

दयानन्दस्तु 'योगजिज्ञासून् संबोध्य कथयति भवन्तो यथा श्लोकास्तथा सत्यवाक्संयुक्तोऽहं नमोभिः सत्कारैर्यत्पूर्व्यं पूर्वैर्योगिभिः प्रत्यक्षीकृतं ब्रह्म बृहद् व्यापकं युजे आत्मनि समादधे तद् वां युवयोर्योगानुष्ठात्रुपदेशकयोः सकाशात् श्रुतवन्तौ सूरेर्विदुषः पथ्येव यथा पथि साध्वी गतिर्व्येतु प्राप्नोतु यथा ये विश्वे पुत्राः सुसन्ताना आज्ञापालका इव प्राप्तमोक्षा विद्वांसोऽमृतस्य योगेन दिवि सुखप्रकाशे भवानि धामानि स्थानानि आतस्थुः आस्थितवन्त एतां योगविद्यां शृण्वन्तु' इति, तदपि न युक्तम्, निर्मूलकल्पनाप्रधानत्वात्, योगजिज्ञासोः सम्बोध्यत्वे प्रमाणाभावात्। पत्नीयजमानयोस्तु सम्बोध्यत्वं श्रुतिसूत्रसिद्धम्। श्लोकशब्दस्यापि त्वदुक्तोऽर्थोऽप्रामाणिक एव। पूर्व्यमित्यस्यापि तादृशार्थत्वं निर्बीजमेव। हिन्दीभाष्यविरोधोऽपि। संस्कृतव्याख्याने तु तयोः सकाशात् श्रुतवन्तौ इत्यर्थः कृतः। हिन्दीव्याख्याने च 'वाम्' इत्यस्य योगानुष्ठानोपदेशका इति व्याख्यानमिति परस्परं विरुद्धयते, अस्पष्टार्थता च। भावार्थस्तु सर्वत्रैव मूलादसम्पृक्त एव॥ ५॥

यस्य॑ प्र॒याण॒मन्व॒न्य इद्य॒युर्दे॒वा दे॒वस्य॑ महि॒मान॒मोज॑सा।
यः पार्थि॑वानि विम॒मे स ए॑त॒शो रजा॑ᳪसि दे॒वः स॑वि॒ता म॑हित्व॒ना॥ ६॥

मन्त्रार्थ—अन्य देवता जिस सविता देवता की प्रवृत्ति को, महिमा को अपने तपोबल से जान पाते हैं, जिस परमात्मा ने सभी लोकों का निर्माण किया है, वह परमात्मा अपनी महाभाग्य महिमा के प्रभाव से इस स्थावरजंगमात्मक लोक में प्राण रूप से प्रविष्ट होकर व्याप्त है॥ ६॥

सावित्री जगती। तस्मात् सविता प्रजापतिरेवात्राभिधीयते। व्यवहितपदप्रायमिदं मन्त्रवाक्यम्। अन्ये देवा यस्य देवस्य द्योतनशीलस्य सवितुः प्रजापतेः प्रमाणं प्रवृत्तिमनुययुरिद् अवश्यमनुगच्छन्त्येव। अन्ये देवा यस्य च देवस्य महिमानं महत्त्वं महाभाग्यं विभूतिं वा ओजसा बलेनानुययुः। यश्च सविता पार्थिवानि रजांसि पृथिवीप्रभृतींस्त्रिलोकान् विममे मिमीते विरचयति, 'लोका रजांसीत्युच्यन्ते' (नि० ४।१९) इति यास्कोक्तेः। यद्वा यः सविता पार्थिवानि पृथिवीगतानि रजांसि परमाणून् विममे विशेषेण गणयित्वा निश्चितवान्, स देवो महित्वना स्वकीयेन महाभाग्येन एतश एतज्जगत् स्थावरजङ्गमप्राणिरूपेण शेते व्याप्नोतीति एतशः सविता। महित्वना महेर्महतो भावो महित्वना महत्त्वम्। भावे छान्दसस्त्वन्प्रत्ययः। यद्वा एतश इत्यश्वनामसु पठितम्। स देवोऽश्वरूपेण सर्वं जगदवष्टभ्य स्थितः। अश्वमेधीयस्याश्वस्य प्रजापतिरूपेण वर्णनं दृश्यते, 'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः' (श० १०।६।४।१) इति श्रुतेः, 'सूरादश्वं वसवो निरतष्ट' (वा० सं० २९।१३) इति वक्ष्यमाणमन्त्रवर्णाच्च। यद्वा एति सर्वत्र गच्छतीति एतशः, यः सविता महित्वना महत्त्वेन सर्वं व्याप्तवान्। यद्वा अन्ये देवा यस्य देवस्य द्योतनशीलस्य प्रजापतेः प्रयाणं प्रथमगमनकर्मानुष्ठानमनुलक्ष्य ओजसा वीर्येण महत्त्वं महिमानं चयनात्मकं यज्ञं ययुरन्वगच्छन्, प्रजापत्यनुष्ठानानन्तरं सर्वे देवाश्चयनाख्यं कर्म कृतवन्तः। यः सविता पार्थिवानि पृथिव्यामवस्थितानि वस्तूनि सर्वं वस्तुजातं विममे स्वीयैस्तेजोभिर्ज्ञानात्मकैः प्रकाशैर्व्यनक्ति। 'माङ् माने'। स देव एतशः सर्वत्र चरणशीलः। यद्वा मत्वर्थीयप्रत्ययलोपे एतशोऽश्ववान्। अन्यत् पूर्ववत्। अत्र ब्राह्मणम्—'यस्य प्रयाणमन्वन्य इद्ययुरिति। प्रजापतिर्वा एतदग्रे कर्माकरोत्ततो देवा अकुर्वन् देवा देवस्य महिमान·······' (श० ६।३।१।१८)। मन्त्रं प्रतिपादमनूद्य व्याचष्टे-यस्येति। यद्वा एतशोऽश्ववान् सविता आदित्यो देवो रजांसि पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकान् सविता तानेष स्वमहिम्ना विमिमीते।

अध्यात्मपक्षे—यस्य देवस्य ब्रह्मणः सर्वेश्वरस्य प्रयाणं प्रवृत्तिमनु पश्चाद् अन्ये देवा ययुः, इत् एव, अधिष्ठानसत्तास्फूर्तीरनु सर्वेषां सत्तास्फूर्तिमत्त्वम्, 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (क० उ० ५.१५) इति श्रुतेः। यस्य महिमानं लोकोत्तरमाहात्म्यमोजसा तपसा अनुययुरवगतवन्तः, यश्च देवः पार्थिवानि रजांसि परमाणून् तत्सम्बन्धिनो लोकान् वा विममे मिमीते विरचयति जानाति वा, स सविता सर्वस्य प्रसविता देवः स्वप्रकाशः परमेश्वरो महित्वना स्वकीयेन माहात्म्यातिशयेन एतशो जगत्त्रयं व्याप्नोति।

दयानन्दस्तु—'हे योगिनः, युष्माभिर्यस्य परमेश्वरस्य महिमानं स्तुतिविषयं प्रयाणं प्रयान्ति सर्वाणि सुखानि येन तत् प्रकृष्टं यानमनु पश्चाद् अन्ये देवा विद्वांसो ययुः प्राप्नुयुः, य एतशः सर्वं जगदितः स्वव्याप्त्या प्राप्तः। 'इणस्तशुनौ' (उ० ३।१४७) इति साधुः। सविता सर्वस्य निर्माता देवो दिव्यस्वरूपो भगवान् महित्वना स्वमहिम्ना। अत्र बाहुलकाद् औणादिक इत्वनच्प्रत्ययः। ओजसा पराक्रमेण पार्थिवानि पृथिव्यां विदितानि रजांसि सर्वान् लोकान् विममे विमानयानवन्निर्मिमीते, स इद एव सततमुपास्यो मन्तव्यः' इति, तदपि न, अध्याहारबाहुल्यात्। यत्तु—'सायणाचार्येण व्यत्ययेन नाभावो व्याख्यातः, सोऽशुद्धः, पक्षान्तरे 'सुपां सुलुक्……' (पा० सू० ७।१।३९) इत्याजादेशो नकारोपजनश्चेति' तदपि चिन्त्यम्। अन्यत्र 'महित्वनम्' (ऋ० सं० १।१६६।१२) इत्यादिप्रयोगदर्शनात्, 'महित्वन' इत्यन्तोदात्तप्रातिपदिकस्य निर्विवादत्वाच्च' इति, तदपि न, प्रथमे हेत्वनुक्तेः, प्रतिज्ञामात्रेण वस्त्वसिद्धेः, 'वा छन्दसि सर्वे विधयः' इति युष्माभिरपि छान्दसत्वाश्रयणात्। पक्षान्तरीयदोषोऽपि तथाविध एव, महित्वनमित्यत्र तथात्वाभावेऽपि प्रकृते तथात्वे बाधाभावात्, महित्वनेत्यत्राद्युदात्तत्वस्य साम्प्रदायिकत्वात्॥ ६॥

देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु॥ ७॥

हे सबके प्रेरक सविता देव ! यज्ञ को प्रेरित करो, यजमान को भी सौभाग्य के निमित्त प्रेरित करो। स्वर्ग में स्थित दूसरे के चित्त में वर्तमान ज्ञान का शोधन करने वाले, वाणी को धारण करने वाले सविता देवता हमारे चित्तवर्ती ज्ञान को ब्रह्मज्ञान से पवित्र करें। वाणी के पति सविता देव हमारी वाणी को मधुरता से भर दें, हमारी वाणी उन्हें भली लगे॥ ७॥

त्रिष्टुप्। हे देव सवितः, यज्ञं प्रसुव प्रकर्षेण प्रेरय यज्ञपतिं यजमानं भगाय सौभाग्याय। किञ्च, दिव्यो दिवि भवः स्वर्गस्थः, केतपूः केतं परचित्ते वर्तमानं ज्ञानं पुनाति शोधयतीति केतपूः। गन्धर्वो गां वेदलक्षणां वाचं धारयतीति। सविता नोऽस्माकं केतं चित्तवर्ति पुनातु विषयोपरागबाधेन नित्यज्ञानात्मकब्रह्मत्वापादनेन शोधयतु। वाचो वाण्याः पतिः सविता नोऽस्माकं वाचं स्वदतु अस्मदुक्ता वाक् तस्मै रोचताम्। अत्र ब्राह्मणम्—'देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगायेति। असौ वा आदित्यो देवः सविता यज्ञो भगस्तमेतदाह प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगायेति दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनात्वित्यसौ वा आदित्यो दिव्यो गन्धर्वोऽन्नं केतोऽन्नपूरन्नं नः पुनात्वित्येतद्वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदत्विति वाग्वा इदं कर्म प्राणो वाचस्पतिः प्राणो न इदं कर्म स्वदत्वित्येतत्' (श० ६।३।१।१९)। असौ वा आदित्यो देवः सविता स एव गन्धर्वः केतोऽन्नं वाग्वा इदं कर्म प्राणो वाचस्पतिः प्राणो देव इदं नः कर्म स्वदत्विति।

अध्यात्मपक्षे—हे देव, दीव्यतीति देवः स्वप्रकाशस्तत्सम्बुद्धौ। सवितर्जगदुत्पादक, यज्ञं ज्ञानरूपं प्रसुव यज्ञपतिं यज्ञस्य ज्ञानस्य पतिः पालकस्तं प्रसुव उत्पादय। किमर्थम् ? भगाय अनैश्वर्यनिवारणाय ब्रह्मात्मतापत्तिलक्षणसौभाग्याय। भवान् दिव्यो गन्धर्वो गोः पृथिव्या धारकः, केतपूः केतं ज्ञानं पुनातीति, नः केतं ज्ञानं पुनातु, वाचस्पतिर्भवान् नो वाचं स्तुतिलक्षणां स्वदतु।

दयानन्दस्तु—हे देव सत्ययोगविद्ययोपासनीय सवितर्भगवन्, त्वं नो भगाय अखिलैश्वर्याय यज्ञं सुखानां सङ्गमकं व्यवहारं प्रसुव उत्पादय। यज्ञपतिं तादृशस्य यज्ञस्य पालकं प्रसुव। दिव्यो दिवि शुद्धगुणकर्मसु साधुर्गन्धर्वो यो गां पृथिवीं धारयति स केतपूः, यः केतेन विज्ञानेन पुनाति स भवान् नोऽस्माकं केतं विज्ञानं पुनातु पवित्रीकरोतु। वाचस्पतिः सत्यविद्यान्विताया वेदवाण्याः पतिः प्रचारेण रक्षकः, नोऽस्माकं वाचं वाणीं स्वदतु स्वदतां स्वदिष्ठां करोतु। व्यत्ययेन परस्मैपदम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मुख्यार्थत्यागेन गौणार्थाश्रयणात्। नहि सुखजनकव्यवहारे यज्ञपदप्रयोगः, योगोपयुक्तभोजनपानव्यवायादिषु तथा प्रयोगापत्तेः। विद्यापदेन यथार्थज्ञानमिष्यते चेत्, तदा सा सत्यैव भवति नासत्या। स्वदिष्ठामित्यत्रापि गौणार्थतैव ॥ ७ ॥

इमं नो देव सवितर्यज्ञं प्रणय देवाव्यꣳ सखिविदꣳ सत्राजितं धनजितꣳ स्वर्जितम्। ऋचा स्तोमꣳ समर्धय गायत्रेण रथन्तरं बृहद् गायत्रवर्तनि स्वाहा ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—हे सविता देव ! सब देवताओं को तृप्त करने वाले, सबको मित्र बनाने वाले यजमान को जानने वाले, सम्पूर्ण अन्य यज्ञ कार्यों को वश में करने वाले, द्वादशाह आदि को वश में करने वाले, गो आदि के रूप में धन को जीतने वाले, यज्ञ के फल से स्वर्ग को जीतने वाले हमारे इस यज्ञ को सम्पन्न करो। हे देव ! स्तोत्र की कारणभूत सामाधार ऋचा से त्रिवृत् आदि को समृद्ध करो, गायत्री छन्द से रथन्तर साम को और बृहत् साम को सम्पन्न करो। यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ ८ ॥

आऽवसानाद्यजुः। प्राजापत्या जगती। हे सवितर्देव, नोऽस्माकमिमं यज्ञं प्रणय प्रापय। कथंभूतम् ? देवाव्यं देवा अव्यन्ते तर्प्यन्ते यस्मिन्नसौ देवावीः, तम्। 'अव प्रीणनादौ'। 'अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः' (उ० ३।१५८) इत्यौणादिकेन ईप्रत्ययेन रूपसिद्धिः। सखिविदं सखायं स्वनिष्पादकं यजमानं वेत्तीति सखिवित्, तम्। 'विद् ज्ञाने'। सखीनृत्विजो विन्दते प्राप्नोतीति वा सखिवित्तम्। 'विद्लृ लाभे'। सखायो विद्यन्ते यस्मिन्निति वा सखिवित्तम्। 'विद् सत्तायाम्'। सत्राजितं सत्राणि द्वादशाहादीनि जयति वशीकरोतीति सत्राजित्तम्। छान्दसो दीर्घः। तत्तदनुष्ठाने तेषामपि चीयमानाग्निसापेक्षत्वात्। यद्वा सत्राशब्दः सत्यवाची। सत्रा सत्यं ब्रह्म जयति फलरूपेण प्राप्नोतीति सत्राजित्तम्। 'सत्रा इति सत्यनामसु' (निघ० ३।१०।३)। धनजितं धनं गवादिरूपं फलरूपेणार्जयतीति धनजित्तम्। स्वर्जितं स्वः स्वर्गं जयति फलत्वेन सम्पादयतीति स्वर्जित् तम्। हे सवितः, ऋचा स्तोत्रहेतुसामाधारभूतया ऋचा सह स्तोमं त्रिवृदादिकं समर्धय समृद्धं कुरु। 'ऋच्यध्यूढꣳसाम' इति रीत्या ऋचामेव सामाधारत्वात्। गायत्रेण साम्ना सह रथन्तरं साम समर्धय बृहत्साम च समर्धय। कीदृशं बृहत् ? गायत्रवर्तनि गायत्रं सामैव वर्तनिर्मार्गो यस्य तत्। बृहत्साम्नो गायत्रं साम वर्त्मभूतमित्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'इमं नो सवितर्यज्ञं प्रणयेति। असौ वा आदित्यो देवः सविता यद्‌ु वा एष यज्ञियं कर्म प्रणयति तदनार्तꣳ स्वस्त्युदृचमश्नुते देवाव्यमिति यो देवानवदित्येतत् सखिविदꣳ सत्राजितं धनजितꣳ स्वर्जितमिति य एतत्सर्वं विन्दादित्येतदृचेत्यृचा स्तोमꣳ समर्धय गायत्रेण रथन्तरं बृहद् गायत्रवर्तनीति सामानि स्वाहेति यजूꣳषि सैषा त्रयी विद्या प्रथमं जायते यथैवादोऽमुत्राजायतैवमथ यः सोऽग्निरसृज्यतैष स योऽत ऊर्ध्वमग्निश्चीयते' (श० ६।३।१।२०)। प्रणयेति पदस्यार्थमाह—यद्‌ु वा इति। यज्ञियं कर्म प्रणयति प्रकर्षेण नयति। तदेवाह—तत्सवित्रा प्रणीतं कर्म अनार्तम् अनुपहतं स्वस्ति क्षेमेण उदृचं समाप्तिम् अश्नुते। देवाव्यंपदं व्याचष्टे—देवानवतीति तर्पयतीत्यर्थः। अस्य यजुषस्त्रयीविद्यात्वमुपपादयितुमाह—ऋचेति। अस्मिन् यजुषि ऋचा स्तोमं समर्धय गायत्रेण रथन्तरं बृहद् गायत्रवर्तनि स्वाहेति कण्डिकायां पठ्यते। तत्र ऋचेतिपदेन ऋग्वेदोऽभिधीयते। स्तोम-गायत्र-रथन्तर-बृहदादिभिः पदैः सामान्युच्यन्ते। स्वाहेतिपदेन यजुर्वेदोऽभिधीयते। अत एवैष मन्त्रो वेदत्रयात्मकत्वात् त्रयी विद्या। अत्र त्रय्याः कः प्रसङ्गः ? इत्यत आह—यथैवादोऽमुत्रेति। अद इति स्थितिक्रियाविशेषणम्। अमुत्रेति विप्रकृष्टवचनः। यथा प्रागध्यायादौ सर्वसृष्टेः पुरा त्रयी विद्या उत्पन्ना, एवमेतद्यजुरपि। 'स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्याम्' (श० ६।१।१।८) इति श्रुतेः। पूर्वं योऽग्निः सृष्टः, अथ यो गर्भेऽन्तरासीत् तमग्निमसृजत्। स सृष्टोऽग्निरेव चीयमानोऽग्निरित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे सवितः प्रपञ्चोत्पादयितः ! देव सृष्ट्यादिक्रीडापरायण ! नोऽस्माकमिमं त्वदुपासनलक्षणं यज्ञं प्रणय प्रापय। कीदृशं तम् ? देवाव्यम्, देवा अव्यन्ते तर्प्यन्तेऽनेनेति देवावीस्तम्। सखिविदं सखायं परमात्मानं विन्दते लभते येन तम्। सत्राजितं सत्रा सत्यं ब्रह्म जयति प्राप्नोति येन तम्। धनजितं धनं दैवीसम्पद्रूपं जयति येन तम्। स्वर्जितं स्वो ब्रह्मानन्दाख्यं सुखं जयति प्राप्नोति येन तम्। हे सवितः, ऋचा स्तोत्रहेतु-सामाधारभूतया सह स्तोमं त्रिवृदादिकं बृहद् रथन्तरं च स्वोपासनायां प्रवर्तितं समर्धय सफलय, भगवत्स्तुतावेव तेषां साफल्यात्, 'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति' (ऋ० सं० १।१६४।३९) इति मन्त्रवर्णात्। कीदृशं बृहत् ? गायत्रवर्तनि गायत्रं साम वर्तनिर्मार्गो यस्य तत् तादृशं बृहत्।

दयानन्दस्तु—'हे देव सवितर्जगदीश, त्वं न उक्तं वक्ष्यमाणं च देवाव्यं देवान् दिव्यान् गुणान् विदुषो गुणान् वा अवति येन स देवावीस्तं सखिविदं सखीन् सुहृदो विन्दति येन तं सत्राजितं सत्रा सत्यं जयत्युत्कर्षति येन तम्, धनजितं धनं जयत्युत्कर्षति येन तं स्वर्जितं स्वः सुखं जयत्युत्कर्षति येन तम्, ऋचा ऋग्वेदेन स्तोमं स्तूयते यस्तं यज्ञं विद्याधर्मसंगमयितारं प्रणय प्रापय। गायत्रेण गायत्रीप्रभृतिच्छन्दसैव गायत्रवर्तनि गायत्रस्य वर्तनिर्मार्गो वर्तनं यस्मिन् तद् बृहद् रथन्तरं रथं रमणीयैर्यानैस्तरति येन तं समर्धय वर्धय। स्वाहा सत्यया क्रियया वाचा वा' इति, हिन्दीभाष्ये च 'तं मार्गं सम्यग् वर्धय' इति, तत्सर्वं यत्किञ्चित्, मुख्यार्थत्यागेन काल्पनिकार्थप्रतिपादनात्, ब्राह्मणेन अन्यथा व्याख्यातत्वाच्च। रथन्तरबृहदादिसामविशेषास्ताण्ड्यब्राह्मणादौ प्रसिद्धाः, तदतिक्रम्य मार्गपरत्वेन व्याख्यानस्य तद्विरुद्धत्वेनोपेक्षणीयत्वात् ॥ ८ ॥

देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्। आद॑दे गाय॒त्रेण॒ छन्द॑साङ्गि-रस्वत्पृ॑थि॒व्याः स॒धस्था॑द॒ग्निं पु॑री॒ष्य॑मङ्गि॑रस्वदाभ॑र॒ त्रैष्टु॑भेन॒ छन्द॑साङ्गि॑रस्वत् ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—हे अभ्रि ! सबके प्रेरक सविता देव की प्रेरणा से, गायत्री छन्द के प्रभाव से, अश्विनीकुमारों की भुजाओं से, पूषा देवता के हाथों से तुमको अंगिरावंशी ऋषियों के समान ग्रहण करता हूँ। अंगिरावंशियों के समान त्रिष्टुप् छन्द के प्रभाव से पृथ्वी के उत्संग के भीतर से पशुओं की हितकारिणी अग्नि का आहरण करता हूँ ॥ ९ ॥

'देवस्य त्वेत्यभ्रिमादाय हस्त आधायेत्येनामभिमन्त्रयते' (का० श्रौ० १६।२।८)। देवस्य त्वेति कण्डिकाद्वयात्मकेन मन्त्रेण वैणवीमभ्रिमादाय 'हस्त आधाय'इत्येकादश्या कण्डिकया ऋचा एनामभिमन्त्रयते। देवस्य त्वेति प्रजापतिः साध्या वा ऋषयः। सावित्रं यजुः। तच्च व्याख्यातमेव। आददे इति अभ्रिर्देवता अतिधृतिश्छन्दः। हे अभ्रे, सवितुर्देवस्य प्रसवे प्रेरणे सति, अश्विनोः सम्बन्धिभ्यां मणिबन्धपर्यन्ताभ्यां बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां साङ्गुलिभ्यां कराभ्यां साधनभूताभ्यां गायत्रेण छन्दसा सहायभूतेन युक्तः सन् त्वा त्वामहमाददे गृह्णामि। अत्राभ्रिशब्देनोभयतस्तीक्ष्णीकृतोऽरत्निप्रमाणको वैणवो दण्डविशेष उच्यते। तत्र दृष्टान्तः—अङ्गिरस्वत्। अङ्गिरोभिस्तुल्यमङ्गिरोवदिति प्राप्ते 'अयस्मयादीनि छन्दसि' (पा० सू० १।४।२०) इति भसंज्ञायां रुत्वाभावे अङ्गिरस्वदिति रूपम्। यथा पूर्वमङ्गिरस ऋषयस्त्वामगृह्णन् तद्वदहं गृह्णामीति सम्बन्धः। हे अभ्रे, त्वं गृहीता सती पृथिव्याः सधस्थादुत्सङ्गाद् अग्निमाभर आहर। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा० सू० वा० ८।२।३२) इति हस्य भः। त्रैष्टुभेन छन्दसा कृत्वा अङ्गिरस्वद् अङ्गिरसो यथा अग्निमाजह्रुः। अङ्गिरस्वदित्यस्य पुनर्वचनं दृष्टान्तार्थातिशयार्थम्। 'अहो रमणीयाहो रमणीयेति। अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' (नि० १०।४२) इति यास्कोक्तेः। कथंभूतमग्निं पुरीष्यं 'पशवो वै पुरीषम्' (श० ६।३।१।३८) इति श्रुतेः पुरीषेभ्यः पशुभ्यो हितः पुरीष्यस्तं पशव्यम्। यद्वा पुरीषशब्देन पांसुरूपा शुष्का मृदुच्यते, तदर्हतीति पुरीष्योऽग्निः। मृदमादायोखां कृत्वा तस्यामग्निः स्थाप्यतेऽतोऽग्नेर्मृदश्चाभेदोपचारेण मृदाहरणमेवाग्न्याहरणमित्यभिप्रायेण पुरीष्यमग्निमाभरेत्युच्यते। अयं चोपचारोऽग्निचयनप्रकरणे सर्वत्रानुवर्तिष्यत इति काण्वभाष्ये सायणाचार्यः।

तत्र ब्राह्मणम्—'दक्षिणत आहवनीयो भवति। उत्तरत एषाभ्रिरुपशेते वृषा वा आहवनीयो योषाभ्रिर्दक्षिणतो वै वृषा योषामुपशेतेऽरत्निमात्रेऽरत्निमात्राद्धि वृषा योषामुपशेते' (श० ६।३।१।३०)। अथाहवनीयाग्न्यभ्र्योः स्त्रीपुंसात्मना प्रशंसा। स्त्रिया दक्षिणप्रदेशे वृषा पुरुष उपशेते। स्त्रीपुरुषयोर्मध्ये श्वासादिसञ्चाराय संबाधपरिहारायारत्निमात्रोऽवकाशो युक्त इत्यरत्निमात्र्या अभ्र्या व्यवधानस्वरूपता युक्ता। 'सा वैणवी स्यात्…………' (श० ६।३।१।३१) अग्निर्देवेभ्य उत्क्रम्य वेणुं प्रविष्टवान्। अतः स ससुषिरः सच्छिद्रो वेणुः। यथान्ये मां न जानीयुस्तथा स्वाच्छादनाय यानि वर्माणि पार्श्वयोरकरोत् तानि पर्वाणि सन्धयः। वेणोः प्रवेशकाले यत्र यत्र प्रदेशेऽग्निर्ददाह तानि कल्माषाणि कृष्णबिन्दुचिह्नान्यभवन्। 'सा कल्माषी स्यात्' (श० ६।३।१।३२)। अतः सा अभ्रिः कल्माषी कल्माषकवलितवेणुमयी कर्तव्या। कल्माषालाभेऽन्यरूपोऽपि ग्राह्यः। अतोऽग्निरूपमृत्तिकाखनने अग्निरूपाभ्रिकरणं स्यात्। 'प्रादेशमात्री स्यात्। प्रादेशमात्रꣳ हीदमभि वागवदत्यरत्निमात्री त्वेव भवति बाहुर्वा अरत्निः। बाहुनो वै वीर्यं क्रियते वीर्यसम्मितैव तद् भवति' (श० ६।३।१।३३)। प्रादेशप्रमाणत्वमरत्निप्रमाणत्वं च कल्पितं यस्मादिदानीं वागिन्द्रियं प्रादेशप्रमाणमभिलक्ष्यते प्रथमं ताल्वोष्ठपुटव्यापारेण प्रादेशपर्यन्तं वाचमुच्चार्य ततो देशसंयोगविभागाभ्यां परश्रोत्रं गृह्णाति। यद्वा जिह्वैव वागुच्यते सा प्रादेशमात्री। वाक्पदेन प्राणवायुर्वा लक्ष्यते। स हि नासापुटान्निर्गच्छन् प्रादेशपर्यन्तं गच्छतीत्यागमसिद्धम्। स्वाभिमतमाह—अरत्निमात्री त्वेव स्यादिति। बाह्वेकदेशत्वादरत्नेः समुदायभूतो बाहुरेकदेशेनापि व्यवह्रियते। 'यद्वेवोभयतः क्ष्णुत्' (श० ६।३।१।३५-३६)। निशितपार्श्वद्वयी सा कार्या। एतया अभ्र्या निशिताग्रया मद्रूपमग्निमनुविद्य एभ्यो लोकेभ्यः सकाशाद् देवा अखनन् तथैवायं यष्टा एतया लोकत्रयसकाशाद्

मृदात्मकमग्निं खनति । अग्नेः खननव्यापारे प्रथममवक्षेपणमुत्क्षेपणं मध्ये सञ्चारक्रिया चेति व्यापारत्रयेण लोकत्रयाग्नेः खननम् । तदेवाह—'स यदिति खनति । तदेनमस्माल्लोकात् खनत्यथ यदूर्ध्वोच्चरति तदमुष्माल्लोकादथ यदन्तरेण सञ्चरति तदन्तरिक्षलोकात् सर्वेभ्य एवैनमेतदेभ्यो लोकेभ्यः खनति' (श० ६।३।१।३७)। 'तामादत्ते। देवस्य....अङ्गिरस्वदिति सवितृप्रसूत एवैनामेतदेताभिर्देवताभिरादत्ते गायत्रेण छन्दसाऽथो अस्यां गायत्रं छन्दो दधाति पृथिव्याः सदस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदाभरेति पशवो वै पुरीषं पृथिव्या उपस्थादग्निं पशव्यमग्निवदाभरेत्येतत् त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदिति तदेनां त्रैष्टुभेन छन्दसाऽऽदत्तेऽथो अस्यां त्रैष्टुभं छन्दो दधाति' (श० ६।३।१।३८)। अभ्रेरादानं विधत्ते—तामादत्त इति । उत्तरत्र त्रिभिरादत्त इत्यादाने त्रित्वसंख्याविशिष्टानां मन्त्राणां विधानम् । अग्निं त्रिभिर्मन्त्रैराददीतेत्यर्थः । प्रथममन्त्रं विधत्ते—देवस्य त्वेति । मन्त्रस्तूक्तार्थः । मन्त्रस्य तात्पर्यार्थमाह—सवितृप्रसूत इति । द्वितीयं मन्त्रं विधत्ते—पृथिव्या इति । मन्त्रं व्याचष्टे—पशवो वै पुरीषमिति ।

अध्यात्मपक्षे—हे जिज्ञासे सुमते वा, त्वा त्वां सवितुर्देवस्य प्रसवे प्रेरणे अश्विनो रामलक्ष्मणयोर्हस्ताभ्यां कृपाकटाक्षाभ्यां पूष्णः सर्वपोषकस्य शिवस्य हस्ताभ्यां वराभयरूपाभ्यामहं गायत्रेण छन्दसा सहायभूतेनाङ्गिरस्वद् अङ्गिरोभिस्तुल्यं (ते यथा त्वामगृह्णन् तथाहं) त्वामाददे गृह्णामि । तथा गृहीता त्वं पृथिव्याः प्रकृतिलक्षणायाः सदस्थादुत्सङ्गात् सर्वजीवपशुहितमग्निं ज्ञानरूपं त्रैष्टुभेन छन्दसा अङ्गिरोवदाभर, यथाङ्गिरसोऽग्निमाजह्रुस्तथा त्वं ज्ञानाग्निमाहर ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, अहं यं त्वा देवस्य सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामङ्गिरसा अङ्गिरोभिरङ्गारैस्तुल्यमाददे स त्वं गायत्रेण गायत्रीनिर्मितेनार्थेन छन्दसा पृथिव्याः सधस्थात् सहस्थानात् तलात् अङ्गिरस्वत् त्रैष्टुभेन त्रिष्टुभा निर्मितेनार्थेन छन्दसा स्वच्छन्देन अङ्गिरस्वत् प्राणैस्तुल्यं पुरीष्यं पुरीष उदके साधुम्। पुरीष इत्युदकनामसु (निघ० १।१२)। अग्निं विद्युदादिस्वरूपमाभर आधर' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गायत्रेण छन्दसा त्रैष्टुभेन छन्दसा वा कोऽर्थो निष्पद्यत इत्यस्यानुक्तेः । कथं चैकशब्देनैकत्र अङ्गारैस्तुल्यार्थग्रहणमन्यत्र च प्राणैस्तुल्यार्थग्रहणमिति । सर्वथाप्यश्विनोर्बाहुभ्यामित्यादीनामप्यर्थः पूर्वं खण्डित एव ॥ ९ ॥

अभ्रिरसि नार्यसि त्वया वयमग्निꣳ शकेम खनितुꣳ सधस्थ आ जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—हे वैणवि, तुम उखा निर्माण करने के लिये मिट्टी खोदने का साधनभूत काष्ठविशेष हो, तुम अभ्रि नाम वाली हो, स्त्रीरूप हो । तुम्हारे द्वारा हम अंगिरावंशियों के समान जगती छन्द के प्रभाव से पृथ्वी की गोद में छिपकर बैठी हुई अग्नि को खनन द्वारा प्राप्त करने में समर्थ हों ॥ १० ॥

अभ्रिरसि, उखां निर्मातुं मृत्खननहेतुभूतकाष्ठविशेषोऽसि । यद्वा हे अभ्रे, त्वं वज्ररूपासि, 'वज्रो वा अभ्रिः' (श० ६।३।१।३९) इति श्रुतेः । नारी असि स्त्रीरूपासि । स्त्रीत्वारोपस्तस्यास्तत्कर्तृकहिंसोपशमनार्थः । यद्वा न विद्यतेऽरिः शत्रुर्यस्याः सा नारी । खननकालेऽश्मादिना तव कुण्ठीभावो नास्तीत्यर्थः । किञ्च, त्वया अभ्र्या साधनभूतया युक्ता वयं सधस्थे पृथिव्या उत्सङ्गे वर्तमानमग्निं जागतेन छन्दसा खनितुं शकेम शक्ता भवेम । शक्नोतेर्व्यत्ययेन शप् । अङ्गिरस्वदिति दृष्टान्तः । शेषं पूर्ववत् । अत्र ब्राह्मणम्—'अभ्रिरसीति । अभ्रिर्ह्येषा तदेनꣳ

सत्येनादत्ते नार्यसीति वज्रो वा अभ्रिर्योषा नारी न वै योषा कञ्चन हिनस्ति शमयत्येवैनामेतदहिꣳसायै त्वया वयमग्निꣳ शकेम खनितुꣳ सधस्थ एतीदं वै सधस्थं त्वया वयमग्निꣳ शकेम खनितुमस्मिन् सधस्थ इत्येतज्जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वदिति तदेनां जागतेन छन्दसाऽऽदत्तेऽथो अस्यां जागतं छन्दो दधाति' (श० ६।३।१।३८) । तृतीयं मन्त्रं विधत्ते—अभ्रिरसीति । अभ्रिर्वज्रः, हननसाधनत्वादुभयोर् अभ्रिनामासि । नार्यसीत्यस्य तात्पर्यमाह— न वै योषा कञ्चन हिनस्तीति । यथा योषा स्त्री न कञ्चन पुरुषं हिनस्ति, एवमभ्रेः स्त्रीत्वात् सा न कस्यापि हन्त्रीत्यर्थः । सधस्थपदं विवृणुते—इदं वै सधस्थमिति । त्वया वयमग्निं मृद्रूपं खनितुं शकेमेति ।

अध्यात्मपक्षे—हे सुमते जिज्ञासे वा, त्वमभ्रिरसि वज्रवदज्ञानभेदनशीलासि । नारी नरस्य जीवस्य सहधर्मिणीव सहयोगिनी असि । 'मर्मी सज्जन सुमति कुदारी । ज्ञान विराग नयन उरगारी ।। भावसहित जो खोदे प्राणी । पाव भक्ति मणि सब सुख खानी ।।' वज्रोपमया त्वया युक्ता वयं सधस्थे प्रवृत्तिलक्षणायाः प्रकृतेरुत्सङ्गे वर्तमानमग्निं ज्ञानरूपं सर्वकर्मदाहकं खनितुम् अज्ञानादिकमपसार्य प्राप्तुं शक्ता भवामः । वेदपुराणादिपावनपर्वतेषु भगवतः कथामयेष्वाकरेषु सुमतिरूपया अभ्र्या खनित्वा ज्ञानविरागरूपाभ्यां नयनाभ्यां प्राप्तुं शकेम शक्ता भवेम ।

दयानन्दस्तु—'हे शिल्पिन्, त्वया सह सधस्थे समानस्थाने वर्तमाना वयं खनका या अभ्रिरयोमयं खननसाधनं भवसि नार्यसि नरस्य स्त्रीव साध्यसाधिका, यां गृहीत्वा जागतेन जगत्या विहितेन साधनेन छन्दसा अङ्गिरस्वत् प्राणैस्तुल्यम् अग्निं विद्युदादिं खनितुं आशकेम शक्नुयाम, तां त्वं निमिमीष्व' इति । तथा कश्चित् 'मन्त्रेऽस्मिन् अग्निपदेन तैजसस्य सुवर्णस्य निर्माणोपदेशं मनुते' तदुभयमपि तुच्छम्, तादृशशब्दमात्रेण एतदर्थासम्भवात्, जागतेन छन्दसा कीदृशं साधनं विहितमित्यस्य वक्तव्यत्वात् ।। १० ।।

हस्त॑ आ॒धाय॑ सवि॒ता बिभ्र॑दभ्रिꣳ हि॑र॒ण्ययी॑म् । अ॒ग्नेर्ज्योति॒र्निचाय्य॑ पृथि॒व्या अध्याभ॑र॒दानु॑ष्टुभेन॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वत् ।। ११ ।।

मन्त्रार्थ—प्रेरक सविता देव ने अंगिरा ऋषि के समान सुवर्ण की अभ्रि को हाथ में लेकर उसे धारण करते हुए अग्नि की ज्योति का निश्चय करके कि वह कहाँ छिपी है, भूमि के उदर में से अनुष्टुप् छन्द के प्रभाव से उसका आहरण किया है ।। ११ ।।

अनुष्टुप् यजुरन्ता । आनुष्टुभेनेत्यादि यजुः । तस्य त्रिष्टुप् छन्दः । तृतीयचतुर्थपादयोर्व्यूहेन पूर्तिः । अभ्रिदेवत्या । सविता सर्वप्रेरकः प्रजापतिर्हस्ते हिरण्ययीं हिरण्यमयीं हितरमणीयां स्वर्णमयीं वा । अथवा हिरण्यपदेनामृतं छन्दश्चोच्यते । अमृतमयीं प्रागुक्तगायत्रत्रैष्टुभजागतानुष्टुभछन्दोरूपां वा एनामभ्रिमाधाय अवस्थाप्य बिभ्रत् तामेव धारयन् अग्नेः सम्बन्धि ज्योतिर्निचाय्य निभाल्य दृष्ट्वा पृथिव्या अधि भूमेः सकाशाद् आनुष्टुभेन छन्दसा आभरद् आहृतवान् । अङ्गिरस्वद् इति पूर्ववत् ।

तत्र ब्राह्मणम्—'त्रिभिरादत्ते···त्रिभिरादायाथैनां चतुर्थेनाभिमन्त्रयते···अथास्यां चतुर्थेन···अथास्यां चतुर्थेन वीर्यं दधाति' (श० ६।३।१।४०) । त्रिभिर्मन्त्रैरादत्ताया अभ्रेश्चतुर्थेन मन्त्रेणाभिमन्त्रणं विधत्ते— त्रिभिरादायैनामित्यादिना । अभिमन्त्रणं नाम वीर्याधानमिति प्रशंसति—चतुर्थेनेति । 'हस्त आधाय सवितेति । हस्ते ह्यस्याहिता भवति बिभ्रदभ्रिमिति बिभर्ति ह्येनाꣳ हिरण्ययीमिति हिरण्मयी ह्येषा छन्दोमय्यग्नेर्ज्योतिर्निचाय्येत्यग्नेर्ज्योतिर्दृष्ट्वेत्येतत् पृथिव्या अध्याभरदिति पृथिव्यै ह्येनदध्याभरत्यानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदिति

तदेनामानुष्टुभेन छन्दसादत्तेऽथोऽस्यामानुष्टुभं छन्दो दधाति तान्येतान्येव छन्दाᳩस्येषाभ्रिरारम्भायैवेयं वैणवी क्रियते' (श० ६।३।१।४१)। मन्त्रं व्याचष्टे —हस्ते ह्यस्याहितेति। हिरण्ययीति पदव्याख्याने हिरण्मयी ह्येषा या छन्दोमयीत्युक्तम्। तदुपपादयति – तान्येवैतान्येवेति। आरम्भाय आलम्भनाय। केचित्तु मन्त्रगतहिरण्ययीपदबलेन अभ्रिमपि हिरण्यनिर्मितामिच्छन्ति। तत्पक्षमनूद्य दूषयति—तदु तथा न कुर्यात्। 'यद्वा एषा छन्दाᳩसि तेनैषा हिरण्यममृतᳩ हिरण्यममृतानि छन्दाᳩसि' (श० ६।३।१।४२)। पूर्वोक्तछन्दोमयत्वमिहोपदिशति—छन्दाᳩस्येषाभ्रिरिति।

अध्यात्मपक्षे—सविता देहेन्द्रियादिसर्वप्रेरकः साधको हस्ते क्रियाशक्तौ हिरण्मयीं ज्योतिर्मयीं छन्दोमयीं वा सुमतिरूपामभ्रिमवस्थाप्य तामेव बिभ्रद् अग्नेः स्वप्रकाशस्य तत्पदार्थस्य ज्योतिः स्वरूपभूतं ज्योतिर्निचाय्य निभाल्य दृष्ट्वा आनुष्टुभेन छन्दसा पृथिव्याः प्रकृतिलक्षणाया भूमेः सकाशादाहृतवान्।

दयानन्दस्तु—'सविता ऐश्वर्यप्रसाधकः शिल्प्यानुष्टुभेन अनुष्टुब्विहितार्थयुक्तेन छन्दसा हिरण्मयीं तेजोमयीमभ्रिं हस्ते आधाय बिभ्रत् सन्नङ्गिरस्वद् अङ्गिरसा प्राणेन तुल्यस्य अग्नेर्विद्युतो ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अधि आभरद् धरेत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वस्यैतस्य वर्तमानविद्युद्विज्ञानेन गतार्थत्वात्। न चानेन मन्त्रेणानेन विज्ञानेन कोऽपि विद्युत आविर्भावं कर्तुं प्रभवति। अत्रानुष्टुप्छन्दसा तेजोमय्या अभ्र्या वा प्रयोगोऽपेक्षितः, तदन्तरापि तदुपपत्तेः॥ ११॥

प्रतूर्तं वाजिन्नाद्रव वरिष्ठामनु संवतम्। दिवि ते जन्म परममन्तरिक्षे तव नाभिः पृथिव्यामधि योनिरित्॥ १२॥

मन्त्रार्थ—हे शीघ्रगामी अश्व, तुम इस श्रेष्ठ यज्ञभूमि को लक्ष्य करके शीघ्र आओ। तुम्हारा द्युलोक में आदित्य रूप से उत्कृष्ट जन्म है, अन्तरिक्ष में तुम्हारी नाभि है, पृथ्वी के ऊपर तुम्हारा स्थान है, अर्थात् भूमि पर तुम्हारा निवास-स्थान प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। इस प्रकार विष्णु के विराट् रूप से अश्व की तुलना कर यहाँ उसकी स्तुति की जाती है॥ १२॥

'अश्वप्रभृतींश्च प्रत्यृचं प्रतूर्तं युञ्जाथां योगे योग इति' (का० श्रौ० १६।२।९)। ऋक्त्रयेण प्रत्यृचं तृणेनाश्वगर्दभाजानभिमन्त्रयतेऽभ्रिहस्त उपविष्ट एव। आस्तारपङ्क्तिः। अश्वदेवत्या। नाभानेदिष्टस्यार्षम्। यस्या अन्त्यौ द्वादशकावाद्यावष्टकौ साऽऽस्तारपङ्क्तिः। संवतं संवन्यते संभज्यते मृद्ग्रहणार्थं सेव्यत इति संवत्। 'वन संभक्तौ' क्विपि रूपम्। मृत्खननयोग्या भूमिः, वरिष्ठा श्रेष्ठा, पाषाणाद्यभावेनातिप्रशस्तत्वात्। हे वाजिन्, शीघ्रगामिन्नश्व! वरिष्ठां श्रेष्ठां संवतं भूमिमभिलक्ष्य प्रतूर्तम् अतितूर्णं शीघ्रमाद्रव आगच्छ। त्वरतेरेतद्रूपं प्रकर्षेण तूर्तं तूर्णम्। हे वाजिन्, ते तव दिवि द्युलोके आदित्यरूपेण परममुत्कृष्टं जन्म भविष्यति। यद्वा ते जन्म दिवि रोहितादिदेवाश्वरूपेण प्रसिद्धम्। 'रोहितेन त्वाग्निर्देवतां गमयतु' (तै० सं० १।६।४।३), '....एते वा देवाश्वाः' (तै० ब्रा० ३।३।७।४), 'रोहितेन त्वाग्निर्देवतां गमयत्वित्याहैते वै देवाश्वाः' (तै० सं० १।७।४।३) इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेः। अन्तरिक्षे तव नाभिर् उदरम्। यद्वा नाभिशब्देन कृत्स्नं शरीरमुपलक्ष्यते। इदमपि पृथिव्यामधि उपरि योनिः स्थानम्, इत् एव, पादावेवेत्यर्थः। इति पृथिव्यां निवासः प्रत्यक्षमेव। यद्वा नियुन्नामका वाय्वश्वास्तदीयं रथं वहन्तोऽन्तरिक्षे सञ्चरन्ति, तद्रूपेणैवास्यान्तरिक्षवर्तित्वम्। प्रजापतिर्विराड्रूपेणाश्वोऽत्र स्तूयते, 'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः' (१।१।१) इति बृहदारण्यकश्रुतेः।

तत्र ब्राह्मणम्—'हस्त एषाभ्रिर्भवत्यथ पशूनभिमन्त्रयते। एतद्वा एषु देवा अन्वेषिष्यन्तः पुरस्ताद्वीर्य-मदधुस्तथैवैष्वयमेतदन्वेषिष्यन् पुरस्ताद् वीर्यं दधाति' (श० ६।३।२।१)। पूर्वमाहवनीयस्य दक्षिणप्रदेशे त्रिवृन्मुञ्जरशनाबद्धाः प्राङ्मुखा येऽश्वगर्दभाजास्तिष्ठन्ति, तेषामिदानीं यथाक्रममभिमन्त्रणं समन्त्रकं विधित्सुरभि-मन्त्रणं वीर्यात्मना प्रशंसति—हस्त एषाभ्रिर्भवतीति। तेनाभ्रि हस्ते गृहीत्वैव पशूनभिमन्त्रयते। 'सोऽश्वमभि-मन्त्रयते। प्रतूर्तं वाजिन्नाद्रवेति यद्वै क्षिप्रं तत्तूर्तमथ यत्क्षिप्रात् क्षेपीयस्तत्प्रतूर्तं वरिष्ठामनु संवतमितीयं वै वरिष्ठा संवदिमामनु संवतमित्येतद्दिवि ते जन्म परममन्तरिक्षे तव नाभिः पृथिव्यामधि योनिरिदिति तदेनमेता देवताः करोत्यग्निं वायुमादित्यं तदश्वे वीर्यं दधाति' (श० ६।३।२।२)। हे वाजिन्नश्व, वरिष्ठामतिशये-नोर्वीम् अनु संवतं सम्पूर्वाद् वनतेः क्विपि 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति' (पा० सू० ६।४।३७) इति नलोपे तुकि रूपम्। अस्माभिः क्रियमाणं संभजनमनुलक्ष्य भूमिं प्रतूर्तं 'ज्वरत्वर-स्रिव्यविमवामुपधायाश्च' (पा० सू० ६।४।२०) इत्यूठि 'नसत्तनिषत्तानुत्तप्रतूर्तसूतगूर्तानि छन्दसि' (पा० सू० ८।२।६१) इति निष्ठातस्य नत्वाभावेन निपातनम्। अतिक्षिप्रमाद्रव आगच्छ। ते तव परमं जन्म दिवि आदित्यरूपेण, अन्तरिक्षं तव नाभिर्वायुरूपेण, पृथिव्यां तव योनिरुत्पत्तिस्थानम्, अग्न्यात्मकत्वेन अश्वस्य लोकत्रयाभिमानिदेवतात्वेन स्तूयते। अत्र प्रतूर्तपदं व्याचष्टे—यद्वै क्षिप्रं तत्तूर्तम् अथ क्षिप्रादपि क्षेपीयः क्षिप्रतरं तत्प्रतूर्तम्। उत्तरार्धस्य तात्पर्यमाह—तदेनमेता देवताः करोत्यग्निं वायुमादित्यमिति। अभिमन्त्रणफलमाह—तदश्वे वीर्यं दधातीति।

अध्यात्मपक्षे—हे वाजिन्, वाज्यभेदेन संवत्सरात्मकप्रजापतिभावापन्नोपासक! त्वं वरिष्ठां सर्वश्रेष्ठां संवतं संभजनीयामुपासनाभूमिकां निष्ठां प्रतूर्तमतिक्षिप्रम् आगच्छ प्राप्नुहि। तया ते तव दिवि सूर्यरूपेण परममुत्कृष्टं जन्म भविष्यति, अन्तरिक्षे तव नाभिः कृत्स्नं शरीरं पृथिव्यामधि उपरि योनिः पादौ इत् एव, तव त्रैलोक्यात्मकविराड्भावापत्तिर्भविष्यतीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे वाजिन् प्रशस्तज्ञानयुक्त, यस्य ते तव शिल्पविद्यया दिवि सूर्यप्रकाशे परमं जन्म प्रादुर्भावः, तवान्तरिक्षे नाभिः पृथिव्यामधि उपरि योनिः निमित्तं प्रयोजनमस्ति, स त्वं विमानान्यधिष्ठाय वरिष्ठामतिशयेन वरां संवतं सम्यग्विभक्तां गतिं प्रतूर्तम् अतितूर्णमिदमन्वाद्रव आगच्छ' इति, तदपि श्रुतिविरुद्ध-त्वादुपेक्ष्यमेव, श्रुत्या अस्य मन्त्रस्याश्वाभिमन्त्रणे विनियुक्तत्वेन वाजिपदस्याश्वपरत्वनिश्चयात्। किञ्च, वाजि-पदस्य प्रशस्तज्ञानयुक्तेत्यर्थोऽसङ्गत एव। संवतमित्यस्य सम्यग्विभक्तां गतिमिति व्याख्यानमपि विसङ्गतमेव, वनतेर्गतिपरत्वायोगात्। न च शिल्पिबोधकं किञ्चिदपि पदं मन्त्रे दृश्यते। कथं च शिल्पविद्यया मनुष्यस्य दिवि परमं जन्म त्वद्रीत्या सम्भवति? कथं च तस्यान्तरिक्षे बन्धनम्? कथं वा पृथिव्याम्? किं निमित्तम्? किं वा प्रयोजनम्? अधीत्यस्याधिष्ठानार्थोऽपि चिन्त्यः॥ १२॥

युञ्जाथा ँ रासभं युवमस्मिन् यामे वृषण्वसू। अग्निं भरन्तमस्मयुम्॥ १३॥

मन्त्रार्थ—हे अध्वर्यु और यजमान, तुम दोनों इस अग्निकार्य में अपने हितकारी अग्निरूप **मृत्तिका को वहन करने वाले रासभ को इस कार्य में नियुक्त करो॥ १३॥**

गर्दभदेवत्या गायत्री कुश्रिदृष्टा। गर्दभमभिमन्त्रयते। हे वृषण्वसू, वृषा यागनिष्पादनद्वारा फलाभिवर्षण-निमित्तभूतं वसु धनं ययोस्तौ यजमानौ दम्पती युवं युवामस्मिन् यामे मृद्ग्रहणरूपे नियमविशेषे निमित्तभूते सति रासभं गर्दभं युञ्जाथां बध्नीतम्। कथंभूतं रासभम्? अग्निं भरन्तम् अग्निहेतुं मृदं वोढुं समर्थम्। अस्मयुम्

अस्मभ्यं कामयमानम् अस्मद्धितैषिणम् । यद्वा हे अध्वर्युयजमानौ वृषण्वसू वृषा सेक्ता रासभो वसु धनं ययोस्तौ । कथं भूतम् ? अग्निं भरन्तम् अग्निं संहरन्तं अस्मयुम् अस्मान् कामयमानम् अस्मभ्यं फलं वा कामयमानम्, यद्वा याते रूपम्, अस्माभिः प्रेषितो यातीत्यस्मयुस्तम् । 'अस्मत्प्रेषितम्' (श० ६।३।२।३) इति श्रुतेः । तादृशम् अस्मिन् यामे यायते गम्यते प्राप्यते देवैरिति, यान्ति सङ्गच्छन्ते यत्र परस्परं देवा इति वा यामं कर्म, तस्मिन् । युवं युवां युञ्जाथां बध्नीतम् । तत्र ब्राह्मणम्—'अथ रासभम् । युञ्जाथाᳬ रासभं युवमित्यध्वर्युं चैतद्यजमानं चाहास्मिन् यामे वृषण्वसू इत्यस्मिन् कर्मणि वृषण्वसू इत्येतदग्निं भरन्तमस्मयुमित्यग्निं भरन्तमस्मत्प्रेषितमित्येतद्रासभे वीर्यं दधाति' (श० ६।३।२।३) । रासभाभिमन्त्रणं समन्त्रकं विधत्ते-अथेति । युवमिति द्विवचनेन अध्वर्युयजमानावुच्येते । मन्त्रं व्याचष्टे—युञ्जाथामिति । अध्वर्युं चैतद्यजमानं चाह—यामे कर्मणी इति । अस्मयुमिति पदस्यार्थमाह—अस्मत्प्रेषितमिति । अस्मदुपपदाद् यातेः 'मृगय्वादिभ्यश्च' (उ० १।३७) इति कुः प्रत्ययः ।

अध्यात्मपक्षे—वृषण्वसू वृषणं शीलं पुण्यं वसु ययोस्तौ वृषण्वसू, तत्सम्बोधने हे वृषण्वसू हे रामलक्ष्मणौ, युवं युवां अस्मिन् यामे त्वदाराधननियमविशेषे रासभं रासभवद्विषयपरायणं स्वान्तं युञ्जाथां स्वस्वरूपे बध्नीतम् । कीदृशम् अग्निम् ? ज्ञानरूपं भरन्तं हरन्तम् अस्मयुम् अस्मत्प्रेषितम् ।

दयानन्दस्तु—'हे वृषण्वसू सूर्यवायू इव शिल्पिनौ शिल्पितत्स्वामिनौ, युवं युवाम् अस्मिन् यामे ग्रामे रासभं जलाग्न्योर्वेगगुणाख्यमश्वम् अस्मयुम् अस्मान् यापयितारं भरन्तं धरन्तम् अग्निं प्रसिद्धं विद्युतं वा युञ्जाथाम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, शिल्पिनोः शिल्पितत्स्वामिनोश्च द्वित्वस्याकिञ्चित्करत्वाद् निर्मूलत्वाच्च । सिद्धान्ते तु अध्वर्युं चैतद्यजमानं चेति श्रुतिसिद्धम् अध्वर्युयजमानयोर्द्वित्वम् । तथैव रासभपदस्य जलाग्न्योर्वेगगुणाख्यमश्वमित्यपि निर्मूलम् । अन्यदपि गौणार्थकल्पनमेव ॥ १३ ॥

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे । सखाय इन्द्रमूतये ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—परस्पर मित्रता को प्राप्त हुए हम सब ऋत्विक् और यजमान प्रत्येक कर्म में उत्साहवान् और बलवान् अज का रक्षा के निमित देवता और पितरों की तृप्ति के लिये अन्नप्राप्ति के लिये किये जा रहे इस यज्ञ कर्म में आह्वान करते हैं ॥ १४ ॥

अजदेवत्या गायत्री शुनःशेपदृष्टा । योगे योगे युज्यतेऽनुष्ठीयत इति योगः कर्म, तस्मिन् कर्मणि कर्मणि, तत्तत्कर्मणि । तवस्तरं तव इति बलनाम (निघ० २।९।५) । बलवत्तरम्, तवो बलमस्यास्तीति तवस्वि, अत्यन्तं तवस्वि तवस्वरम्, तरपि विनो लुक्, उत्साहवन्तम् । अजम् अजत्वजातिविशिष्टम् । इन्द्रम् इन्द्रियवन्तं वीर्यवन्तं वा इन्द्रियप्रदं वा । ऊतये अवनाय रक्षणाय । वाजे वाजे मनुष्याणामन्नेऽन्ने दातव्ये स्थिते सति, तत्तदन्नप्राप्तिनिमित्तं वा । सखायः समानख्यानाः परस्परं सख्यं प्राप्ता ऋत्विग्यजमाना वयं हवामहे आह्वयामः । अत्र ब्राह्मणम्—'अथाजम् । योगे-योगे तवस्तरं वाजे-वाजे हवामह इत्यन्नं वै वाजः कर्मणि-कर्मणि तवस्तरमन्नेऽन्ने हवामह इत्येतत्सखाय इन्द्रमूतय इतीन्द्रियवन्तमूतय इत्येतत्तदजे वीर्यं दधाति' (श० ६।३।२।४) । अजाभिमन्त्रणं विधत्ते—अथाजं योगे योग इति । मन्त्रगतयोगवाजेन्द्रपदानि व्याचष्टे—अन्नं वै वाज इत्यादि ।

अध्यात्मपक्षे—वयमास्तिका योगे योगे तत्तल्लौकिकवैदिककर्मसु वाजे वाजे तत्तदभीष्टान्नादिप्राप्तिनिमित्तं तवस्तरं बलवत्तमम् इन्द्रं परमात्मानं हवामहे, तस्यैवातिशयैश्वर्यबलवत्त्वोपपत्तेः ।

दयानन्दस्तु—'हे सखायः, यथा वयमूतये रक्षणाद्याय योगे योगे युञ्जते यस्मिन् तस्मिन् वाजे वाजे संग्रामे संग्रामे तवस्तरमत्यन्तं बलयुक्तम् इन्द्रं परमैश्वर्ययुक्तं राजानं हवामहे, तथा यूयमप्येतमाह्वयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशाह्वानस्य रागप्राप्तत्वादुपदेशासङ्गतेः, 'सखायः' इत्यस्य स्वारस्यासङ्गतेः, उक्तश्रुति-व्याख्यानविरोधाच्च ॥ १४ ॥

प्रतूर्वन्नेह्यवक्रामन्नशस्ती रुद्रस्य गाणपत्यं मयोभूरेहि। उर्वन्तरिक्षं वीहि स्वस्ति गव्यूतिरभयानि कृण्वन् पूष्णा सयुजा सह ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व, तुम शत्रुगण का वध करते हुए, शत्रुओं की कीगई निन्दा का निवारण करते हुए हमारे निकट आओ, हमारे सुख के कारण होते हुए रुद्र देवता के गणपतित्व को प्राप्त करो। हे रासभ, तुम भयरहित होकर चलो, हमें अभय प्रदान करते हुए, ऋत्विक् यजमान आदि के रोगों को दूर करने वाले योगी के समान पृथ्वी के साथ विस्तीर्ण अन्तरिक्ष लोक को प्राप्त करो ॥ १५ ॥

'अनुपस्पृशन्नुत्क्रमयत्येनान् प्राचः प्रतिमन्त्रं प्रतूर्वन्नुर्वन्तरिक्षं पृथिव्याः सधस्थादिति' (का० श्रौ० १६।२।१०)। अस्पृशन्नश्वादीन् हस्तमुद्यम्य भयं दर्शयन् प्राचो गमयति। विराड्रूपा त्रिष्टुब् यजुर्मध्या। उर्वन्तरिक्षं वीहीत्येतावद्यजुः। त्रय एकादशाक्षराश्चतुर्थोऽष्टाक्षरः पादो यस्याः सा विराड्रूपा। अत्र द्वितीयः पादो द्वादशार्णस्तेनैकाधिका। ऋचो मध्ये यजुः। अस्याः पूर्वार्धस्याश्वो देवता। हे अश्व, एहि आगच्छ। किं कुर्वन्? प्रतूर्वन् विरोधिनः शत्रून् हिंसन्। तूर्वतिर्वधकर्मा। प्रकर्षेण त्वरमाणो वा। अशस्तीः अपकीर्तीः भ्रातृव्यादिभिः क्रियमाणाः पाप्मनो वा अवक्रामन् पादैरवष्टम्भयन् निवारयन्। रुद्रस्य पशुपतेर्यद् गाणपत्यं पशुसमूहपतित्वं तस्मादागत्य मयोभूः अस्माकं सुखं भावयन्। एहि आगच्छ। यद्वा आगमने को गुण इत्याशङ्क्याह—मयोभूः मयः सुखं भावयतीति मयोभूः, अस्मभ्यं सुखं भावयन् सन् रुद्रस्य गणवतो गाणपत्यमेहि आसमन्तात् प्राप्नुहि, अत्रागमनेन गणपतित्वलाभः सेत्स्यतीत्यर्थः। उर्वन्तरिक्षं यजुःसहितोत्तरार्धस्य रासभोत्क्रमणे विनियोगः। हे रासभ, अभयानि ऋत्विग्यजमानानां विनाशहेतुभ्यो व्याघ्रादिभ्यो भयपरिहाराणि कृण्वन् कुर्वन् सयुजा समानयोगिन्या पूष्णा पृथिव्या सह, यद्वा सयुजा सहायभूतेन पूष्णा पोषकेण सह। उर्वन्तरिक्षं रक्षोभिरनाकुलितं वीहि विशेषेण प्राप्नुहि, 'इयं वै पूषा' (श० ६।३।२।८) प्रति श्रुतेः। सह युङ्क्ते या सा सयुक् तया सयुजा पूष्णेत्यनुषङ्गः। कीदृशस्त्वम्? स्वस्तिगव्यूतिः स्वस्ति विनाशरहितो गव्यूतिः क्रोशद्वयोप-लक्षितो मार्गो यस्य सः, भयवर्जितप्रभूतयवसोदकमार्गः सन् आगच्छेत्यर्थः। 'नैकः प्रपद्येताध्वानम्' (म० ४।६०) इति। यद्वा गव्यूतिं गोसञ्चरभूमिं क्षेमेण कुर्वन् न्यायात् पूष्णा सहेत्युक्तिः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनान् प्राच उत्क्रमयति। तदेनमेतैः पशुभिरन्विच्छति नोपस्पृशत्यग्निरेष यत्पशवो नेन्मायमग्निर्हिनसदिति' (श० ६।३।२।६)। सूत्रमूलभूतमिदं ब्राह्मणवाक्यम्। पशून् प्राङ्मुखानुद्गमयेत्। उद्गमितैः पशुभिर्मृद्रूपमग्निमन्विष्टवान् भवति। नोपस्पृशतीति 'यत्' यतः 'पशवोऽग्निः' यतोऽग्निस्पर्शनेन हिंसा स्यात् सा मा भूदिति। हिनसदिति हिंसेः पञ्चमलकारे रूपम्। 'सोऽश्वमुत्क्रमयति। प्रतूर्वन्नेह्यव-क्रामन्नशस्तीरिति पाप्मा वा अशस्तिस्त्वरमाण एह्यवक्रामन् पाप्मानमित्येवद्रुद्रस्य गाणपत्यं मयोभूरेहीति रौद्रा वै पशवो या ते देवता तस्यै गाणपत्यं मयोभूरेहीत्येतत्तदेनमश्वेनान्विच्छति' (श० ६।३।२।७)। 'अथ रासभम्। उर्वन्तरिक्षं वीहि स्वस्तिगव्यूतिरभयानि कृण्वन्निति यथैव यजुस्तथा बन्धुः। पूष्णा सयुजा सहेतीयं वै पूषानया सयुजा सहेत्येतत्तदेनꣳ रासभेनान्विच्छति' (श० ६।३।२।८) इति।

अध्यात्मपक्षे—हे भगवन् इष्टदेव, त्वमेहि अस्मद्धृदयमागच्छ। किं कुर्वन्? कामक्रोधादीन् रिपून् तुर्वन् हिंसन् विनाशयन्। कीदृशस्त्वम्? मयोभूरस्माकं मयः सुखानि भावयन्। रुद्रस्य रोदकस्याहङ्कारस्य गाणपत्यं देहेन्द्रियप्राणादिस्वामित्वं यत् तत्त्वमेहि आसमन्तात् प्राप्नुहि। हे देव, अभयानि साधकस्य मम बाह्याभ्यन्तरशत्रुकृतभयपरिहारं कुर्वन्। सयुजा समानयोगिन्या पूष्णा पोषयित्र्या मम जनन्या स्वशक्त्या सह उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षं हृदयाकाशमागच्छ, 'यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' (छा० उ० ८।१।३) इति श्रुतेः। कीदृशस्त्वम्? स्वस्तिगव्यूतिः स्वस्ति विनाशरहितो गव्यूतिः गव्यूत्युपलक्षितो मार्गो यस्य स निर्विघ्नक्षेममार्ग आगच्छेत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, स्वस्तिगव्यूतिस्त्वं स्वस्ति सुखेन सह गव्यूतिर्मार्गो यस्य सः। सयुजा पूष्णा यत्समानं युनक्ति तेन सहितः पूष्णा पुष्टेन स्वकीयेन सैन्येन सह अशस्तीः अप्रशस्ताः शत्रुसेनाः प्रतूर्वन्नेहि शत्रुदेशानवक्रामन्नेहि। मयोभूः मयः सुखं भावयन् त्वं रुद्रस्य शत्रुरोदकस्य स्वसेनापतेर्गाणपत्यं गणानां सेनासमूहानां पतित्वमेहि। अभयानि स्वराज्ये सेनायां चाविद्यमानं भयं येषु तानि कृण्वन् सम्पादयन् उर्वन्तरिक्षं उरु आकाशं वीहि विविधतया गच्छ' इति, तत्सर्वमसङ्गतमेव, निर्मूलत्वात्, राजन्निति सम्बोधने बीजानुपलम्भात्। श्रुतौ तु सोऽश्वमुत्क्रमयतीति स्पष्टमश्वस्य प्रसङ्गः। तथैव सयुजा पूष्णेत्यत्र पुष्टेन स्वकीयेन सैन्येनेत्यपि चिन्त्यम्। रुद्रस्य स्वसेनापतेरित्यपि निर्मूलमेव, तदतिरिक्तस्यापि तद्वाच्यत्वसम्भवेन सेनापत्यर्थे विनिगमनाविरहात्॥ १५॥

पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदाभराग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदच्छेमोऽग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद् भरिष्यामः॥ १६॥

मन्त्रार्थ—हे अभ्रि! तुम भूमि के स्थान से पशु सम्बन्धी अग्नि का अंगिरा ऋषि के समान आहरण करो। हम पशु सम्बन्धी अग्नि को अंगिरा के समान प्राप्त करने के लिये अभिमुख होते हैं। हम पशु सम्बन्धी अग्नि को अंगिरा के समान संपादित सुसंस्कृत करेंगे॥ १६॥

अजोत्क्रमणे विनियोगः। यजुः। आसुरी गायत्री। आग्नेयी। हे अभ्रे! त्वं पृथिव्या भूमेः सधस्थात् खनितुं योग्यात्, कृत्स्नापि मृत्तिका मिलित्वा सह तिष्ठति वर्तते यत्रासौ सधस्थः प्रदेशविशेषः, तस्मात् प्रदेशात् पुरीष्यं पांसुरूपं शुष्कमृत्तिकायोग्यं यद्वा पुरीष्यं पशव्यं पशुषु हितं 'पशवो वै पुरीषम्' इति श्रुतेः। तादृशीमग्न्यवस्थानहेतुभूतां मृदमाभर आहर। तत्र दृष्टान्तः—अङ्गिरस्वत्, यथा पूर्वमङ्गिरस ऋषयोऽग्निमाहृतवन्तस्तद्वत्। त्रिषु अग्निषु दीप्यमानेषु उखार्थं ब्रह्म-यजमाना-ध्वर्यवश्चतुष्कोणश्वभ्रस्थं मृत्तिकापिण्डं प्रति गच्छन्ति, अश्वगर्दभाजा अपीति। पुरीष्यमग्निं वयं ब्रह्मयजमानाध्वर्यवः, अङ्गिरस्वद् अङ्गिरस इव अच्छ अभिमुखम् इमः गच्छामः। 'अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः' (नि० ५।२८) इति यास्कोक्तेः। 'अनद्धा पुरुषमीक्षते देवपितृमनुष्यापार्थकमग्निं पुरीष्यमिति' (का० श्रौ० १६।२।१३)। देवपितृमनुष्याणां निष्प्रयोजनोऽनद्धापुरुषस्तं यं कञ्चित् पुरुषं पश्येत्। आग्नेयं यजुः। आसुर्यनुष्टुप्। पशव्यं पशुषु हितं पुरीष्यं अङ्गिरस इव वयं ब्रह्मयजमानाध्वर्यवः, भरिष्यामः सम्पादयिष्यामः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथाजं पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदाभरेति पृथिव्या उपस्थादग्निं पशव्यमग्निवदाभरेत्येतत्तदेनमजेनान्विच्छति' (श० ६।३।२।९)। अजोत्क्रमणं विधत्ते—अथाजमिति। अन्यत् पूर्ववत्। सर्वमेतत्सोपपत्तिकं ब्राह्मणे निरूपितम्। तथाहि—'प्रदीप्ता एतेऽग्नयो भवन्ति। अथ मृदमच्छयन्तीमे वै लोका

एतेऽग्नयस्ते यदा प्रदीप्ता अथैत इमे लोकाः पुरो वा एतदेभ्यो लोकेभ्योऽग्रे देवाः कर्मान्वैच्छंस्तद्यदेतानग्नीनतीत्य मृदमाहरति तदेनं पुरेभ्यो लोकेभ्योऽन्विच्छति' (श० ६।३।३।१)। 'अग्निषु ज्वलत्सु पिण्डं गच्छन्त्यग्निं पुरीष्य-मिति' (का० श्रौ० १६।२।११)। गार्हपत्यादिषु त्रिष्वग्निषु ज्वलत्सु अग्निं पुरीष्यमिति मन्त्रेण ब्रह्मयजमाना-ध्वर्यवो गच्छेयुरिति विधत्ते—प्रदीप्ता इति। एते गार्हपत्यादयोऽग्नयः प्रदीप्ता भवन्ति। अथ मृदमच्छयन्ति मृत्पिण्डमभिलक्ष्य गच्छन्ति ब्रह्मादयः। 'अच्छ गत्यर्थवदेषु' (पा० सू० १।४।६९) इत्यच्छशब्दस्य गतिसंज्ञा। अग्निषु प्रदीप्तेष्वभिगच्छन्तीत्यग्निसान्निध्यं प्रशंसति—इमे वा लोका इति। अग्रे पूर्वं देवा एभ्यो लोकेभ्यः पुरः पूर्वस्मिन् प्रदेशे लोकानां पुरःप्रदेशे कर्म चयनमन्विष्टवन्तः। तत् तस्माद् एतान् लोकत्रयात्मकान् अग्नीन् अतीत्य आदीप्य प्रज्वाल्य मृदमाहरेयुः। अग्निषु ज्वलत्सु मृदानयनं लोकानां पुरोदेशे मृद्रूपमग्निं कृतवन्तो भवन्ति। 'प्राञ्चो यन्ति। प्राची हि दिगग्नेः स्वायामेवैनमेतद्दिश्यन्विच्छति स्वायां दिशि विन्दति' (श० ६।३।३।२)। गच्छतामध्वर्युप्रभृतीनां प्राङ्मुखत्वं विधत्ते—प्राञ्चो यन्तीति। आहवनीयस्याग्नेः प्राची दिक् स्वा भवति। 'ते प्रयन्ति। अग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदच्छेम इत्यग्निं पशव्यमग्निवदच्छेम इत्येतत्' (श० ६।३।३।३)। अभिगमनमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—ते प्रयन्त्यग्निमिति। 'अथानद्धापुरुषमीक्षते। अग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद् भरिष्याम इत्यग्निं पशव्यमग्निवद् भरिष्याम इत्येतत्तदेनमनद्धापुरुषेणान्विच्छति' (श० ६।३।३।४)। यथा पशुभिः पुरीष्यस्याग्नेरन्वेषणं कृतं तथैवानद्धापुरुषेणापि तदन्वेषणमकारि। पूर्वं श्रुतौ (श० ६।३।१।२४) पुरुषपशोः प्रतिनिधित्वेन अनद्धापुरुष उक्तः, तस्येदानीं विनियोगमाह—अथानद्धापुरुषमिति। अनद्धापुरुषनिरीक्षणं तेनाग्नेरन्वेषणमित्येतत्।

अध्यात्मपक्षे—हे देव, पृथिव्याः प्रकृतेः सधस्थादुत्सङ्गात् पुरीष्यं सर्वजीवपशुषु हितमग्निं ब्रह्मज्ञानाग्निं ब्रह्मरूपमेवाग्निमङ्गिरस्वद् यथा अङ्गिरस ऋषयोऽग्निमाहृतवन्तस्तथा मदर्थमाहर आनय, परमेश्वरकृपयैव तत्प्राप्तिसम्भवात्। त्वत्कृपया वयं सर्वे साधका जिज्ञासवोऽङ्गिरस इव पुरीष्यमग्निमच्छेम आभिमुख्येन इमो गच्छामः। तद्वदेव वयं तं भरिष्यामो धरिष्यामः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा वयं पृथिव्याः सधस्थात् सहस्थानाद् अङ्गिरस्वद् अङ्गिरसा सूर्येण तुल्यं पुरीष्यं यः सुखं पृणाति स पुरीषस्तत्र साधुं सुखजनकमन्तरिक्षस्थं विद्युतं वा अच्छेम अच्छ उत्तमरीत्या इमः गच्छामः। यथा चाङ्गिरस्वत् प्राणैस्तुल्यं पुरीष्यमग्निमन्तरिक्षे वाय्वादिस्थं भरिष्यामो धरिष्यामः, तथा त्वमप्य-ङ्गिरस्वत्पुरीष्यमग्निमाभर' इति, तदपि यत्किञ्चित्, श्रुतिविरुद्धत्वात्, तत्रासम्बोधनीयत्वात्, उखासम्भरणस्य प्रकृतत्वाद् अत्र विद्युन्निर्माणाप्रसक्तेः ॥ १६ ॥

अन्व॒ग्निरु॒षसा॒मग्र॑मख्य॒दन्वहा॑नि प्रथ॒मो जा॒तवे॑दाः। अनु॒ सूर्य॑स्य पुरु॒त्रा च॑ र॒श्मीननु॒ द्यावा॑पृथि॒वी आत॑तन्थ ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—जो अग्नि उषा काल से पहले अग्नि रूप से प्रकाशित रहा, सबको जानने वाला वह अग्नि मुख्य रूप से दिन को प्रकाशित करता हुआ, सूर्य की किरणों को बहुत प्रकार से प्रकाशित करता हुआ, स्वर्ग और पृथ्वी को क्रम से सब प्रकार प्रकाशित करता हुआ स्थित है। उस सर्वप्रकाशक लोकस्रष्टा अग्नि को हम देखते हैं ॥ १७ ॥

'वल्मीकवपामादाय छिद्रेण पिण्डमीक्षतेऽन्वग्निरिति' (का० श्रौ० १६।२।१४)। वल्मीकस्योन्नतत्वेनाभि-वृद्धोऽवयवो वपा। सा पिण्डाहवनीयान्तराले स्थापितास्ति। तां सच्छिद्रां वपां गृहीत्वा तत्स्थाने स्थित्वा

तस्याश्छिद्रेण पिण्डं पश्यति। अग्निदेवत्या त्रिष्टुप् पुरोधोदृष्टा। प्रजापतिरूपेणात्राग्निः स्तूयते। उषसामुषःकालानामग्रमुपक्रममन्वख्यद् अनुक्रमेण प्रकाशितवान्। जातवेदाः जातं जातं यो वेद वेदयति वा सोऽयमग्निर्जातवेदाः प्रथमो मुख्यः सन् अहानि दिवसानि अन्वख्यत् प्रकाशितवान्। सूर्यस्य रश्मीन् किरणान् पुरुत्रा बहुधा अन्वख्यत्। किञ्च, द्यावापृथिवी उभे अपि क्रमेण आततन्थ आतेनिथ, आततान सर्वतो व्याप्तवान्। पुरुषव्यत्ययः। 'बभूथाततन्थजगृम्भववर्थेति निगमे' (पा० सू० ७।२।६४) इति निपातः। सर्वप्रकाशको लोकस्रष्टा योऽग्निस्तमग्निं पश्याम इति शेषः। यद्वा उषसामग्रमादित्यमनुलक्ष्याग्निः, अन्वख्यद् अनुदीप्यते। कथंभूतः सः? प्रथम आद्यः, जातवेदा जातप्रज्ञः, 'जातानि भूतानि वेत्तीति वा, जाते जाते विद्यते जायत इति वा जातवेदाः' (नि० ७।५) इति यास्कोक्तेः। अहानि अनुलक्ष्य दीप्यते पुरुत्रा बहुषु देशेषु सूर्यस्य रश्मीननुलक्ष्य दीप्यते। एवं पारोक्ष्येणोक्त्वा चतुर्थपादेनाग्निं सम्बोध्याह—स त्वमग्ने द्यावापृथिवी अनुलक्ष्य आततन्थ स्वतेजसा आतेनिथ व्याप्तवान्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ वल्मीकवपा सुषिरा व्यध्वे निहिता भवति। तामन्वीक्षत इयं वै वल्मीकवपेयमु वा इमे लोका एतद्वा एनं देवा एषु लोकेषु विग्राहमैच्छंस्तथैवैनमयमेतदेषु लोकेषु विग्राहमिच्छति' (श० ६।३।३।५)। अत्र सूत्रम्—'पिण्डमपरेण व्यध्वे वल्मीकवपां छिद्रां निदधाति' (का० श्रौ० १६।२।३)। अर्थाद् अश्वादिपशूनां त्रिवृन्मुञ्जाभिधानीबन्धनात् पूर्वं मृत्पिण्डस्य पश्चिमदेशे व्यध्वे पिण्डाहवनीययोरर्धपथे सच्छिद्रवल्मीकवपा निधेयेत्युक्तम्। इदानीं वपामादाय छिद्रेण पिण्डमीक्षतेऽन्वग्निरिति। तदिदं विधिद्वयं दर्शयति—अथ वल्मीकवपेति। पूर्वमेव व्यध्वे सुषिरायाः सच्छिद्राया वल्मीकवपायाः स्थापनं सूचयितुं निहितेति भूतकालवाचि निष्ठान्तं पदम्। 'इयं वै वल्मीकवपा' इत्यादिब्राह्मणस्यायमर्थः—वल्मीकवपा नाम 'इयं' भूमिः, तत्कार्यत्वात्। भूमिर्हि सर्वे लोकाः, तत्प्रमुखत्वात्, इतरेषां कर्मभूमित्वेन विशिष्टत्वाच्च। पूर्वं देवा एनमग्निमेषु सर्वलोकेषु विग्राहमैच्छन् विगृह्यात्रास्तीति सर्वत्रान्विष्टवन्तः। इदानीं तच्छिद्रेण पिण्डनिरीक्षणं सर्वलोकेषु मृद्रूपस्याग्नेर्विगृह्यान्वेषणमिति। 'अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदिति। तदेनमुषःस्वैच्छन्नन्वहानि प्रथमो जातवेदा इति तदेनमहःस्वैच्छन्ननु सूर्यस्य पुरुत्रा च रश्मीनिति तदेनꣲ सूर्यस्य रश्मिष्वैच्छन्ननु द्यावापृथिवी आततन्थेति तदेनं द्यावापृथिव्योरैच्छंस्तमबिन्दंस्तथैवैनमयमेतद्विन्दति तं यदा परापश्यत्यथ तामवास्यत्यागच्छन्ति मृदम्' (श० ६।३।३।६)। मन्त्रस्तु व्याख्यातः। मन्त्रस्य तात्पर्यमाह—तदैनमुषःस्विति। यदा परापश्यतीति यदा पिण्डं छिद्रेण पश्येत्, तदा मृदमवस्यति निश्चिनोति। अथ तां मृदमनुलक्ष्य गच्छेदिति।

अध्यात्मपक्षे—अग्निः परमेश्वर उषसामग्रमुपक्रममादित्यं वा अन्वख्यद् अनुक्रमेण प्रकाशयति। कीदृशोऽग्निः? जातवेदाः, जातं जातं वेत्ति वेदयति वा, सर्वज्ञः सर्ववेदयिता वा, तदनुग्रहेणैव शरीरिणामपि ज्ञानोत्पत्तेः। अयमग्निः प्रथमो मुख्यः, सर्वकारणत्वात् सर्वेश्वरत्वाच्च। अहानि दिनानि चान्वख्यत् प्रकाशयति। किञ्च, सूर्यरश्मीन् किरणांश्च पुरुत्रा बहुधा अन्वख्यत्। स एव द्यावापृथिवी उभे अप्यनुक्रमेण आसमन्ताद् आततन्थ व्याप्तवान्। पूर्ववत् पुरुषव्यत्ययः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, त्वं यथा प्रथमो जातवेदा यो जातेषु विद्यते स सूर्यः अग्निः पावकः, उषसामग्रं पूर्वमहानि दिनानि, अख्यत् प्रख्यापयति। सूर्यस्य पुरुत्रा बहून् रश्मीन् आततन्थ तनोति द्यावापृथिवी चान्वख्यत्, तथा विद्याव्यवहारानन्वातनु' इति, तदपि न किञ्चित्, सर्वत्र लुप्तोपमालङ्कारेणैव निर्वाहे उपमावाचकेवादिप्रयोगवैयर्थ्यापत्त्या प्रकृते तद्बोधकपदाभावेन तथात्वमित्यनुपपत्तेः, कथमग्निर् उषःकालान् प्रथममहानि प्रख्यापयतीत्यस्याप्युपपादनीयत्वात्। विद्याव्यवहाराद्यध्याहारोऽपि निर्मूलः॥ १७॥

आगत्य वाज्यध्वानꣳ सर्वा मृधो विधूनुते ।
अग्निꣳ सधस्थे महति चक्षुषा निचिकीषते ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—यह वेगवान् अश्व मार्ग में आकर सब संग्रामों को कम्पित करता है, उत्कृष्ट पृथ्वी के स्थान में वर्तमान होकर स्थिर चक्षु से अग्नि को देखता है ॥ १८ ॥

'आगत्येत्यभिमन्त्रयतेऽश्वम्' (का० श्रौ० १६।२।१६)। आगत्येति मन्त्रेण मृत्पिण्डान्ते तिष्ठन्नश्वमभिमन्त्रयते। अश्वदेवत्यानुष्टुप्। वाजी वेजनवान् बलवान् वेगवान् वायमश्वः, अध्वानं मार्गमागत्य प्राप्य सर्वाः सर्वान् मृधः पाप्मनो मार्गश्रमादीन् बाधकान् विधुनुते विकम्पयति विनाशयति, 'पाप्मा वै मृधः' (श० ६।३।३।८), 'अश्वः स्यत्वा विधूनुते' (श० ६।३।३।८) इति श्रुतेः। ततो विगतश्रमः सन् यत्र पांसवः सहावतिष्ठन्ते तत्स्थानं सधस्थम्, तस्मिन् पृथिव्या महति विस्तीर्णे सधस्थे वर्तमानमग्निमयमश्वश्चक्षुषा दृष्ट्वा अग्निहेतुं मृदं निचिकीषते नितरां चेतुं सम्पादयितुमिच्छति। यद्वा छान्दसोऽयं धातुः पश्यत्यर्थः। मृदं तद्रूपमग्निं चक्षुषा निचिकीषते पश्यति।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथाश्वमभिमन्त्रयते। एतद्वै देवा अब्रुवन् पाप्मानमस्यापहनामेति श्रमो वै पाप्मा श्रममस्य पाप्मानमपहनामेति तस्य श्रमं पाप्मानमपाघ्नंस्तथैवास्यायमेतच्छ्रमं पाप्मानमपहन्ति' (श० ६।३।३।७)। अश्वाभिमन्त्रणं विधत्ते—अथाश्वमिति। पूर्वं देवाः पथि श्रान्तस्याश्वस्य श्रमलक्षणं पाप्मानमपहतवन्तः। एवमभिमन्त्रणेन पथि श्रान्तस्याश्वस्य श्रमापनयनं भवति। 'आगत्य वाज्यध्वानमिति। आगतो ह्यस्याध्वा भवति सर्वा मृधो विधूनुत इति पाप्मा वै मृधः सर्वान् पाप्मनो विधूनुत इत्येतत्तस्माद् हैतदश्वः स्यत्वा विधूनुतेऽग्निꣳ सधस्थे महति चक्षुषा निचिकीषत इतीदं वै महत्सधस्थमग्निमस्मिन् महति सधस्थे चक्षुषा दिदृक्षत इत्येतत्' (श० ६।३।३।८)। द्वितीयं पादं व्याचष्टे—पाप्मा वै मृध इति। कथमश्वविधूननमित्युपपादयति—तस्माद् हैतदिति। स्यत्वा इति स्यन्दतेः क्त्वाप्रत्यये इडभावे नलोपे च कृते रूपम्। अध्वानं गत्वा स्वशरीरं विधूनुते कम्पयति। तथा च वाजी बलवानश्वोऽध्वानमागत्य सर्वा मृधः सर्वान् पाप्मनः श्रमादीन् विधूनुते प्रकम्पयति, गात्रविधूननेन नाशयतीत्यर्थः। ततो विगतश्रमः सन् पृथिव्या महति विस्तीर्णे सधस्थे उत्सङ्गे वर्तमानमग्निं चक्षुषा निचिकीषते दिदृक्षते।

अध्यात्मपक्षे—वाजी वाजमन्नमस्यास्तीति भोक्ता जीवः, अध्वानं संसारमागत्य सर्वा मृधः सर्वान् पाप्मनः स्वधर्मानुष्ठानपूर्वकेण भगवदाराधनेन विधूनुते प्रकम्पयति। महति सधस्थे सह स्थाने अग्निं परमेश्वरं चक्षुषा प्रसिद्धेन बाह्येनान्तरेण ज्ञानमयेन च निचिकीषते दिदृक्षते।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन् राजन्, भवान् यथा वाज्यश्वोऽध्वानमागत्य सर्वा मृधः संग्रामान् विधूनुते कम्पयति, यथा गृहस्थश्चक्षुषा महति सधस्थे सहस्थानेऽग्निं निचिकीषते चेतुमिच्छति, तथा सर्वान् संग्रामान् विधुनोतु गृहे गृहे विद्यानिचयं करोतु' इति, तदपि चिन्त्यम्, मूले राजन् गृहस्थ इति शब्दयोरभावेन तादृशव्याख्यानस्यावैदिकत्वात्। गृहे गृहे विद्यानिचयोऽपि निर्मूल एव ॥ १८ ॥

आक्रम्य वाजिन् पृथिवीमग्निमिच्छ रुचा त्वम् ।
भूम्या वृत्वाय नो ब्रूहि यतः खनेम तं वयम् ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व ! तुम भूमि पर आक्रमण करके, दीप्ति आदि के द्वारा अग्नि को पहचान कर, भूमि के प्रदेश को छूकर हमसे यह कहो कि यह देश अग्नि के हेतु मृत्तिका ग्रहण के योग्य है, तुम्हारे बताये हुए देश से मृत्तिका का खनन कर हम अग्नि को प्राप्त कर सकते हैं ।। १९ ।।

'आक्रम्येत्यनेन पिण्डमधिष्ठापयति' (का० श्रौ० १६।२।१७)। आक्रम्येत्यनेन मन्त्रेण पिण्डस्योपरि अश्वस्य सव्यं पादं निदध्यात्। अश्वदेवत्यानुष्टुप्। हे वाजिन् अश्व, पृथिवीमाक्रम्य अधिष्ठाय पादस्पर्शेन परीक्ष्य रुचा दीप्त्या बुद्धिवृत्त्या कृत्वा त्वमिच्छ अग्नेरन्वेषणं कुरु। अग्निहेतुं मृदं निश्चिन्वित्यर्थः। भूम्या वृत्वाय भूमेः प्रदेशं स्पृष्ट्वा। क्त्वो यकि धातोः स्पर्शनार्थे वृत्तिः। नोऽस्माकमयं प्रदेशोऽग्निहेतुमृद्योग्य इति ब्रूहि। यद्वा वृत्वा वरणं कृत्वा दृष्ट्वेत्यर्थः। यतो यस्मात् प्रदेशाद् वयं तमग्निं मृदं खनेम, यद्वा यतः प्रदेशात्तादृशी मृल्लभ्येत, तं प्रदेशं वयं खनेम खननमवदारणं करवाम। यद्वा पृथिवीमाक्रम्य रुचा चक्षुषा, 'चक्षुर्वै रुक्' (श० ६।३।३।११) इति श्रुतेः। अग्निमिच्छ कुत्र तिष्ठतीत्यन्वेषणं कुरु। 'भूम्याः' इति कर्मणि षष्ठी। भूमिं वृत्वाय स्पृष्ट्वा भूप्रदेशं स्पर्शयित्वा नो ब्रूहि, यतः प्रदेशान्मृद्रूपमग्निं खनेम।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमाक्रमयति। एतद्वा एष एतं देवेभ्योऽनुविद्य प्राब्रवीद्यथायमिहेत्येवम्' (श० ६।३।३।९)। आक्रम्येति मन्त्रेण पिण्डमश्वेनाधिष्ठापयतीत्यर्थः। तद् विधत्ते—अथैनमाक्रमयतीति। मृत्पिण्डमश्वेनाक्रामयेदित्यर्थः। पूर्वं यथाश्व एतमग्निस्थानमनुविद्य लब्ध्वा देवेभ्योऽयमग्निरिह देशे तिष्ठतीति पादाक्रमणेन प्राब्रवीत्, एवमश्वेन पिण्डाधिष्ठापनं नाम तस्मादग्नेर्वेदनमित्यर्थः। 'यद्वेवाक्रमयति। एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इममिह रक्षाꣳसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तस्मा एतं वज्रमुपरिष्टादभिगोप्तारमकुर्वन्नमुमेवादित्यमसौ वा आदित्य एषोऽश्वस्तथैवास्मा अयमेतं वज्रमुपरिष्टादभिगोप्तारं करोति' (श० ६।३।३।१०)। आक्रमणं प्रकारान्तरेण स्तोतुमनुवदति—यद्वेवेति। देवा रक्षोभ्यो भीतवन्तः, एतं वज्रं वज्ररूपमश्वमादित्यमुपरिष्टाद् उपरिभागे अभिगोप्तारं रक्षकमकुर्वन् आदित्यस्याश्वरूपता 'तस्याश्वः श्वेतो दक्षिणा' (श० २।६।३।९) इति कण्डिकायाम्, तथा 'अथैभ्यः सूर्यं दक्षिणामानयन्' (श० ३।५।१।१९) इति कण्डिकायां च श्रुतौ श्रुता। तथैवास्मै पिण्डरूपायाग्नयेऽयमनुष्ठाताऽश्वाक्रमणेनैतं वज्ररूपमश्वमादित्य उपरिष्टादभिगोप्तारं कृतवान् भवति। 'आक्रम्य वाजिन्। पृथिवीमग्निमिच्छ रुचा त्वमिति चक्षुर्वै रुगाक्रम्य त्वं वाजिन् पृथिवीमग्निमिच्छ''''चक्षुषेत्येतद् भूम्या वृत्वाय नो ब्रूहि यतः खनेम तं वयमिति भूमेस्तत्स्पाशयित्वाय नो ब्रूहि यत एनं खनेमेत्येतत्' (श० ६।३।३।११)। मन्त्रगतं 'रुचा' इति पदं 'वृत्वाय' इति पदं च व्याचष्टे—चक्षुर्वै रुगिति, भूमेस्तत् स्पाशयित्वायेति 'स्पश बाधनस्पर्शनयोः' इति भौवादिकस्य रूपम्। क्त्वो यक्।

अध्यात्मपक्षे—हे वाजिन् साधक, पृथिवीमाक्रम्यासनेनाधिष्ठाय अग्निं परमेश्वरमिच्छ। रुचा वेदान्त-विचारेण तदन्वेषणं कुरु। भूम्या भूमिमुत्कृष्टां ज्ञानभूमिकां वृत्वा स्वीकृत्य नोऽस्मान् तं वेदपुराणादि पावनं पर्वतं ब्रूहि, यतो वयं खनेम भक्तिज्ञानमयं मणिं खनेम खनित्वा लभेमहि।

दयानन्दस्तु—'हे वाजिन् विद्वन् सभेश, त्वं रुचा प्रीत्या शत्रूनाक्रम्य पृथिवीं भूमिराज्यम् अग्निमग्निविद्यां चेच्छ। भूम्याः क्षितेर्मध्ये नोऽस्मान् वृत्वाय स्वीकृत्य ब्रूहि भूगर्भविद्यामुपदिश, यतो वयं तं भूगोलं खनेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वाजिन्नित्यस्य विद्वदाद्यर्थाभावात्, आक्रम्येति क्रियाया उपस्थितं पृथिवीमिति कर्मपदमपहाय शत्रूनित्यध्याहारस्याप्रामाणिकत्वात्, भूगर्भाग्निविद्योपदेशस्यापि तथाविधत्वात् ।। १९ ।।

द्यौस्ते॑ पृ॒ष्ठं पृ॑थि॒वी स॒धस्थ॑मा॒त्मान्तरि॑क्षꣳ समु॒द्रो योनिः॑ ।
वि॒ख्याय॒ चक्षु॑षा॒ त्वम॒भि ति॑ष्ठ पृतन्य॒तः ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व ! स्वर्ग तुम्हारा पृष्ठ है, भूमि पात्र है, अन्तरिक्ष जीवात्मा है और समुद्र का जल तुम्हारी उत्पत्ति का कारण है। तुम नेत्रों से उखा के योग्य मृत्तिका को देखकर संग्राम करने की इच्छा करने वाले शत्रु, राक्षस आदि को मृत्तिका में छिपा हुआ जानकर चरणों से आक्रमण कर उनको नष्ट कर दो ॥ २० ॥

'द्यौस्त इति पृष्ठस्योपरि पाणिं धारयन्ननुपस्पृशन्' (का० श्रौ० १६।२।१८)। अश्वस्य स्पर्शमकुर्वन्न-ध्वर्युर्दक्षिणं हस्तमश्वपृष्ठस्योपरि धारयन् द्यौस्त इति मन्त्रं पठेत। आर्षी बृहती। अश्वदेवत्या। हे अश्व ! यस्य ते द्यौः द्युलोकः पृष्ठमुपरिभागः। पृथिवीलोकस्तव सधस्थम् अग्निना सहावस्थानम्, पादावित्यर्थः। अन्तरिक्ष-लोकस्त आत्मा मध्यशरीरम्। मध्यशरीरवर्ती जीवात्मा वा। समुद्रः उदकं तव योनिः जन्मस्थानम्। 'अप्सु योनिर्वा अश्वः' इति श्रुतेः। स त्वमेवं स्तूयमानश्चक्षुषा विख्याय उखायोग्यां मृदं विलोक्य पृतन्यतः संग्रामं कर्तुमिच्छतः शत्रून् राक्षसादीन् पाप्मनोऽस्यां मृदि गूढरूपेणावस्थितान् आतिष्ठ पादेनाक्रम्य विनाशय। पृतनामिच्छन्ति पृतन्यन्ति 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) इति क्यचि 'कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः' (पा० सू० ७।४।३९) इति पृतनाशब्दस्यान्तलोपे शतरि द्वितीयाबहुवचने रूपसिद्धिः।

तथैव ब्राह्मणमाह—'अथैनमुन्मृशति। एतद्वा एनं देवाः प्रोचिवाꣳसं वीर्येण समार्धयंस्तथैवैनमयमेत-त्प्रोचिवाꣳसं वीर्येण····समर्धयति द्यौस्ते पृष्ठं पृथिवी सधस्थमात्मान्तरिक्षꣳ समुद्रो योनिरितीत्थमसीत्थमसीत्ये-वैतदाह विख्याय चक्षुषा त्वमभितिष्ठ पृतन्यत इति विख्याय चक्षुषा त्वमभितिष्ठ सर्वान् पाप्मन इत्येतन्नोपस्पृशति वज्रो वा अश्वो नेन्मायं वज्रो हिनसदिति' (श० ६।३।३।१२)। अश्वाभिमन्त्रणं विधत्ते—अथैनमुन्मृशतीति। प्रोचिवांसम्, अत्राग्निरस्तीति। उन्मर्शनं नाम अश्वपृष्ठस्योपरि पाणिधारणम्। मन्त्रं विधत्ते—द्यौस्त इति। इत्थमसीत्थमसीति 'द्युलोकात्मासि' 'पृथिव्यात्मासि' इत्याद्यर्थो वीप्साकृतः। पृतन्यत्पदं व्याचष्टे- सर्वान् पाप्मन इति। अश्वमस्पृशन्नेव 'उत्क्राम' (वा० सं० ११।२१) इति मन्त्रेणाश्वोत्क्रामणं कारयेदित्यर्थः। तद् विधत्ते—नोपस्पृशतीति।

अध्यात्मपक्षे—साधकाय विराडुपासनमुपदिशन्नाह—हे सौम्य, द्यौस्ते पृष्ठम्, पृष्ठद्युलोकयोरभेदानुसन्धानं कुर्वित्यर्थः। तथैव पृथिवीपादयोरभेदश्चिन्त्यः। अन्तरिक्षमात्मा मध्यशरीरमिति विभावनीयम्। समुद्रो योनि-रिति तयोरभेदश्चिन्त्यः। अहमस्मि विराड्रूपो द्यौर्मे पृष्ठं पृथिवी मे पादौ अन्तरिक्षमात्मा मध्यदेशः समुद्रः परमात्मा एव मम योनिः कारणम्। स त्वं चक्षुषा ज्ञानमयेन विख्याय विलोक्य पृतन्यतः पाप्मनः, अभितिष्ठ विनाशय।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन् राजन्, यस्य ते तव द्यौः प्रकाश इव विनयः पृष्ठम्। अर्वाग्व्यवहारः पृथिवी भूमिरिव सधस्थं सहस्थानम्। अन्तरिक्षमाकाश इवाक्षयोऽक्षोभ्य आत्मा स्वरूपं समुद्रः सागर इव योनिः निमित्तं स त्वं चक्षुषा विख्याय प्रसिद्धीकृत्य पृतन्यतः पृतनामिच्छतो जनस्य अभितिष्ठ आभिमुख्येन तिष्ठ' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मुख्यार्थत्यागस्यैव दोषत्वात् द्यौरित्यस्य प्रकाश इव विनयः, पृष्ठमित्यस्य अर्वाग्व्यवहार इत्यर्थकरणं च निर्मूलमेव। पृथिवी ते सहस्थानं किमित्यस्पष्टमेव। यद्याकाशमिवाक्षोभ्य आत्मा, तदा तस्य नित्यत्वेन कथं निमित्तसापेक्षत्वम् ? ऐश्वर्यप्रसिद्धिं कृत्वा पृतन्यतोऽभिमुखे तिष्ठेरपि निरर्थकम्, प्रसिद्धेस्तत्रानुपयोगात् ॥ २० ॥

उत्क्राम महते सौभगायास्मादास्थानाद् द्रविणोदा वाजिन् ।
वयꣳ स्याम सुमतौ पृथिव्या अग्निं खनन्त उपस्थे अस्याः ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व ! तुम धन देने वाले हो, हमारे भाग्य की वृद्धि के लिये इस स्थान से चल पड़ो। हम इस पृथ्वी के ऊपरी हिस्से पर अग्नि के खनन का उद्योग करते हुए सानुग्रह श्रेष्ठ बुद्धि को प्राप्त करें ॥ २१ ॥

'उत्क्रामेत्युत्क्रमयति' (का० श्रौ० १६।२।१९) । उत्क्रामेति मन्त्रेण पिण्डतोऽश्वमुत्क्रमयेत्, पृथक् कुर्यादित्यर्थः। विराडश्वदेवत्या । दशार्णचतुष्पादा विराट्पङ्क्तिः। द्वितीय एकादशार्णस्तेनैकाधिका । हे वाजिन्नश्व, त्वं द्रविणोदा धनप्रदः, द्रविणो धनं ददातीति द्रविणोदाः, द्रविणस् इति सान्तः शब्दः। त्वं मे मम महते विशालाय सौभगाय सौभाग्याभिवृद्धयर्थम् अस्मात् स्थानात् खननप्रदेशादुत्क्राम उद्गच्छ, उद्गतो भव । भगशब्द ऐश्वर्यवचनः। शोभनो भग ऐश्वर्यं यस्यासौ सुभगस्तस्य भावः सौभगं तस्मै। वयं तु त्वयि उद्गते पृथिव्याः सुमतौ शोभनायां सानुग्रहायां बुद्धौ स्याम तिष्ठेम । कीदृशा वयम् ? अस्याः पृथिव्या उपस्थे उपरिभागे क्रोडे, अग्निमग्निहेतुं मृदं खनन्तः खनितुमुद्योगं कुर्वाणाः स्यामेत्यनुषङ्गः ।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमुत्क्रमयति । एतद्ध देवा अब्रुवन् किमिममभ्युत्क्रमिष्याम इति महत्सौभगमिति तं महत्सौभगमभ्युदक्रमयꣳस्तथैवैनमयमेतन्महत्सौभगमभ्युत्क्रमयत्युत्क्राम महते सौभगायेत्युत्क्राम महते सौभगमित्येवत्तस्मादु हैतदश्वः पशूनां भगितमोऽस्मादास्थानादिति यत्रैतत्तिष्ठसीत्येतद् द्रविणोदा इति द्रविणꣳ ह्येभ्यो ददाति वाजिन्निति वाजी ह्येष वयꣳ स्याम सुमतौ पृथिव्या अग्निं खनन्त उपस्थे अस्या इति वयमस्यै पृथिव्यै सुमतौ स्यामाग्निमस्या उपस्थे खनन्त इत्येतत्' (श० ६।३।३।१३) । उत्क्रमणस्य प्रयोजनं वक्तुं देवानां प्रश्नमाह—किमिममिति । किं प्रयोजनमुद्दिश्य अभ्युत्क्रमिष्याम इत्यर्थः। प्रयोजनमाह—महत्सौभगमिति । मन्त्रं विधत्ते—उत्क्रामेति । उक्तार्थो मन्त्रः। अश्वस्य सौभाग्यमाह—तस्मादु हैतदश्वः पशूनामिति । ये पशवो व्यापनशीलाः शीघ्रगामिनस्तेषां मध्येऽसावश्वो भगितमः अतिशयेन भगवान्, राजवाहनत्वात् । अस्मात् स्थानादिति व्याचष्टे—यत्रैतत्तिष्ठति तत उत्क्रामेत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे वाजिन्नन्नवन् भोक्तः, त्वमस्माद् आस्थानाद् गृहाश्रमाद् उत्क्राम उद्गच्छ। उपरि वानप्रस्थाश्रमं संन्यासाश्रमं वा गच्छ स्वीकुरु । किमर्थम् ? महते सौभगाय ब्रह्मात्मभावप्राप्तये ब्रह्मलोकप्राप्तये वा । कीदृशस्त्वम् ? द्रविणोदाः, द्रविणांसि विद्याबलराज्यधनादीनि ददाति स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं ब्राह्मणादिस्वत्वमापादयतीति द्रविणोदाः, भगवच्चरणपङ्कजसमर्पणबुद्धया दानादिपरायणद्रविणोपलक्षितसर्वत्यागी । यूयमन्ये वयं च सर्वे पृथिव्या माधव्या धरित्र्यास्तज्जनिताया जनकनन्दिन्याः सुमतौ शोभनायां सानुग्रहायां बुद्धौ स्याम। अनुग्रहयुक्ताया बुद्धेर्गोचरा भवेम। किं कुर्वन्तः ? अग्निं सर्वराक्षसचमूदाहकं श्रीरामं सर्वाधिष्ठानम् अस्या उपस्थे उत्सङ्गे खनन्तः अन्वेषयन्तः ।

दयानन्दस्तु—'हे वाजिन् विद्वन् प्राप्तैश्वर्य, यथा द्रविणोदा धनप्रदोऽस्याः पृथिव्या भूमेरस्माद् आस्थानाद् निवासस्थानस्य सकाशाद् उपस्थे सामीप्ये अस्या अग्निं खनन्तोऽग्निविद्यामन्वेषयन्तो वयं महते सौभगाय शोभनैश्वर्याय सुमतौ शोभनप्रज्ञायां प्रवृत्ताः स्याम, तथा त्वमुत्क्राम' इति, तदपि तुच्छम्, अन्यस्योन्नत्यान्यस्यैश्वर्यप्राप्त्यसम्भवात् । किञ्चास्मादास्थानादित्यनेनैवाभीष्टसिद्धौ पृथिव्या अस्मादिति योजनायासवैयर्थ्यात् । आस्थानं निवासस्थानमिति त्वदुक्तोऽर्थः। नहि त्वद्रीत्या पृथिव्या अन्यत्र निवासस्थानं सम्भवति । अग्निमित्यस्य अग्निविद्यामिति कथमर्थः ? विद्याग्न्योर्विषयविषयिभावेन भेदस्यावश्यं भावित्वात् । 'सुमतौ प्रवृत्ताः स्याम' अत्रापि प्रवृत्ता इत्यध्याहारोऽप्रामाणिक एव ।

यत्तु—'सायणाचार्येण द्रविणोदा इति पदं क्विबन्तं साधितम्, तदशुद्धमेवास्ति, निरुक्तकारस्य द्रविणोदसमिति व्याख्यानविरोधात्' इति, एतदेवाशुद्धम्, द्रविणोद इत्यकारान्तः, द्रविणोदा इत्याकारान्तः, द्रविणोदसमिति सकारान्तः। एतेषां त्रयाणामपि समानार्थानां पाठानां ऋग्वेदसंहितायां दर्शनेनादोषात्, 'द्रविणोदा द्रविणसः' (ऋ० सं० १।१५।७) इति मन्त्रव्याख्याने यास्कोक्तिमुद्धृत्य सायणाचार्येण विचारितत्वात्। यत्तु 'प्रकृतमन्त्रव्याख्याने यास्केन सकारान्तोऽयं शब्द इति व्याख्यातम्, तदपेक्ष्याशुद्धत्वोक्तिः' इति, तदपि तुच्छम्, यास्केन तथा व्याख्यानेऽपि क्विबन्तव्याख्यानस्याशुद्धत्वानुपपत्तेः, अन्यथा ब्राह्मणविरुद्धत्वेन त्वद्रीत्या सर्वस्यैव दयानन्दीयव्याख्यानस्याशुद्धत्वापत्तेः। यत्तु 'यास्केन 'दसु उपक्षये' इत्येतस्येदं रूपं निरुक्ते सकारान्तस्वीकारात्' इति, तदपि मन्दम् 'दसु उपक्षये' इत्यस्य रूपत्वेऽर्थान्तरापत्तेः, 'बलधनयोर्दातृतमः' (नि० ८।१) इति निरुक्तविरोधात्। ऋत्विजोऽत्र द्रविणोदस उच्यन्ते। हविषो दातारस्ते इति च तत्र दानार्थकप्रयोगेण 'दसु उपक्षये' इत्यसङ्गतेः।

सायणाचार्येण तु नैरुक्तः पक्षोऽपि प्रदर्शितः। तथाहि—तमेतं मन्त्रं यास्क एवं निर्वक्ति—'द्रविणोदाः कस्मात्? धनं द्रविणमुच्यते यदेनमभिद्रवन्ति बलं वा द्रविणं यदेनेनाभिद्रवन्ति तस्य दाता द्रविणोदास्तस्यैषा भवति। द्रविणोदा द्रविणसः' (नि० ८।१) .... 'द्रुद्रक्षिभ्यामिनन्' (उ० २।२०८) नित्त्वादाद्युदात्तो द्रविणशब्दः, तद्ददातीति द्रविणोदाः। 'क्विप् च' (पा० सू० ३।२।७६) इति क्विप्। पूर्वपदस्य सकारोपजनश्छान्दसः। रुत्वोत्वे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्। देवविशेषणत्वेन एकवाक्यतापक्षे द्वितीयायाः स्वादेशः। एवम्—'द्रविणोदा द्रविणसो ग्रावहस्तासो अध्वरे। यज्ञेषु देवमीळते॥' (ऋ० सं० १।१५।७) 'यज्ञेषु देवमीळते। याचन्ति स्तुवन्ति वर्धयन्ति पूजयन्तीति वा' (नि० ८।२) इति नैरुक्ता अप्यर्थं विविधतयोपपादयन्ति। अथवा 'द्रविणसस्तस्मात्पिबत्विति द्रविणोदाः' (नि० ८।२) इत्यतः प्रथमैकवचनादपरिणतादेव द्रविणस इत्यस्य पञ्चम्येकवचनेन सोऽभिधानत्वेन सामर्थ्यमुन्नीय पिबत्वित्याख्यातमध्याहृत्यात्रैव समापयाञ्चकार। यथा यं देवं द्रविणोदसमध्वरेषु यज्ञेषु ग्रावहस्तास ऋत्विज ईळते, स देवो द्रविणोदा द्रविणसः सोमाद् द्रविणसंभोक्तुरादाय स्वमंशं पिबत्वित्येतदाशास्महे। सर्वमेतत् 'द्रविणोदा यस्तं द्रविणस इति द्रविणसादिन इति वा द्रविणसानिन इति वा द्रविणसस्तस्मात्पिबतिवति वा' (नि० ८।२) इत्यनेनोक्तम्।

सायणाचार्यस्तु—'अध्वरेऽग्निष्टोमे प्रकृतिरूपे यज्ञेषु विकृतिरूपेषु उक्थ्यादिषु च देवमग्निमीळते ऋत्विजः स्तुवन्ति। कीदृशा ऋत्विजः? द्रविणसो ग्रावहस्तासोऽभिषवसाधनपाषाणधारिणः। कीदृशं देवम्? द्रविणोदाः धनप्रदम्। क्विबन्तपाठे द्रविणोदा इति द्वितीयान्तमेव पदम्। प्रथमान्तोऽपि द्रविणोदा इत्येव। तदप्याह सायणाचार्यः। यद्वा धनप्रदोऽग्निः सोमं पिबतिवति शेषः। एवं नैरुक्तप्रकरणं जानानोऽपि सायणः प्रकारान्तरेण व्याख्यातवान्। 'द्रसु उपक्षये' इत्यस्मादपि द्रविणसशब्दो दानार्थकः कथमुपपद्यत इत्यपि सायण आह—'अथवा द्रविणमात्मन इच्छन्ति द्रविणस्यन्ति, 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यो लालसायां सुग्वक्तव्यः' (पा० सू० म० ७।१।५१।२) इति क्यचि सुगागमः। द्रविणस्यते सम्पदादित्वाद् भावे क्विप्, अतो लोपः 'क्वौ लुप्तं न स्थानिवत् भवति' (पा० सू० म० १।१।५८।२) इति तस्य स्थानिवत्त्वप्रतिषेधाद् यलोपः। एवं द्रविणस्शब्दो धनेच्छावचनः। द्रविणेच्छां दस्यति यथेव धनप्रदानेन उपक्षयतीत्यर्थे 'दसु उपक्षये' इत्यस्माद् अन्तर्भावितण्यर्थात् 'क्विप् च' (पा० सू० ३।२।७६) इति क्विपि द्रविणोदःशब्दः सकारान्तो भवति। तथा 'द्राविणोदसाः प्रवादा भवन्ति' (नि० ८।२) इति नैरुक्तो व्यवहार उपपद्यते। अतो द्रविणोदस्शब्दो भिन्नवाक्यत्वे स्वार्थे प्रथमान्तः, एकवाक्यत्वे तु व्यत्ययेन द्वितीयार्थोऽपि भवति। द्रविणस इत्यत्रापि वाक्यभेदपक्षे द्रविणसः सोमस्येत्यर्थे सकारोपजनश्छान्दसः। आद्युदात्तत्वं नियमेन स्थितम्। ऋत्विग्विशेषणत्वेन एकवाक्यत्वपक्षे तु

क्यजन्तात्क्विप् । अतो लोपादिपूर्ववत् । अत्र पक्षे क्यचः चित्त्वेनान्तोदात्तत्वे प्राप्ते व्यत्ययेनाद्युदात्तत्वम् । तथा च निरुक्तदृष्ट्याप्ययं मन्त्रार्थः सङ्गच्छते, सायणदृष्ट्यापि । यदि क्विबन्तोऽपि भवत्येव, तदा यास्केन सकारान्ताभ्युपगमेऽपि तथा व्याख्याने का बाधा ? ॥ २१ ॥

उदक्रमीद् द्रविणोदा वाज्यर्वाकः सुलोकँ सुकृतं पृथिव्याम् ।
ततः खनेम सुप्रतीकमग्निँ स्वोरुहाणा अधि नाकमुत्तमम् ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ — इस चंचल धनप्रद अश्व ने पृथ्वी की ऊपरी परत पर उतर आये सुन्दर लोक को पुण्यवान् किया है । उस देश से दुःखरहित श्रेष्ठ स्वर्गलोक पर आरोहण करने की इच्छा करने वाले हम सुन्दर सुख देनेवाले पुरीष्य अग्नि का मृत्पिण्ड से खनन करने का उद्योग करते हैं ॥ २२ ॥

'उदक्रमीदित्यभिमन्त्रयते' (का० श्रौ० १६।२।२०) । मृत्पिण्डादुत्तरितपादमश्वम् उदक्रमीदिति मन्त्रेणाभिमन्त्रयते । आश्वी त्रिष्टुप् । द्रविणोदा यागकरणे धनप्रदो वाजी अन्नप्रदोऽर्वा अरणशीलो गमनकुशलश्चञ्चलो वाऽयमश्वः, यस्मात् स्थानाद् उदक्रमीद् उदगच्छद् ऊर्ध्वं पादविक्षेपमकरोत्, तं स उत्क्रान्तोऽश्वः सुकृतम् आक्रमणेन यागबाधकान् राक्षसानाहत्य सुष्ठु शोभनं कृतं पुण्यवन्तं सुलोकं सुष्ठु शोभनं लोकं स्थानं खननप्रदेशे अकः अकरोत् । ततस्तस्मात् प्रदेशाद् अग्नियोग्यां मृदं वयं खनेम । कीदृशमग्निम् ? सुप्रतीकं सु शोभनं प्रतीकं मुखं यस्य तं सुमुखम् । खनितारो वयं कीदृशाः ? स्वः स्वर्गम् अधिरुहाणा आरोहणं कुर्वाणा आरोहणकामाः । कीदृशं स्वः ? नाकं कं सुखम्, न कं अकम् दुःखम्, न अकं नाकम्, यत्र गतानां दुःखं नास्ति सर्वदा सुखमयं तत् । अधीत्युपरिभावे ऐश्वर्ये वा । उत्तममुत्कृष्टम् । करोतेर्लङि 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इति तिलोपे अक इति रूपम् । शतपथे सायणाचार्यरीत्या स्वकार्यकारणयोरुभयोरपि साधुत्वं द्योतयितुमुभयत्र सुशब्दप्रयोगः । हे अश्व, त्वं पृथिव्यां सुकृतं सुष्ठु निष्पादितं सुलोकं शोभनं लोकम् अकः अकरः । 'मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृच्कृगमिजनिभ्यो लेः' (पा० सू० २।४।८०) इति च्लेर्लुकि गुणे सिलोपे रूपम् । यद्यपि प्रथमपुरुषैकवचने तिलोपे च समानं रूपम्, तथापि अकरः सुलोकमिति ब्राह्मणव्याख्यानुसारेण मध्यमपुरुषानुसारि व्याख्यानम् । सुप्रतीकं शोभनावयवम् ।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमुत्क्रान्तमभिमन्त्रयते । एतद्वा एनं देवाः प्रोचिवाँसं यथा ददिवाँसं वन्देतैवमुपास्तुवन्नुपामहयंस्तथैवैनमयमेतदुपस्तौत्युपमहयत्युदक्रमीदित्युद्ध्यक्रमीद् द्रविणोदा इति द्रविणँ ह्येभ्यो ददाति वाज्यर्वेति वाजी च ह्येषोऽर्वा चाकः सुलोकँ सुकृतं पृथिव्यामित्यकरः सुलोकँ सुकृतं पृथिव्यामित्येतत्ततः खनेम सुप्रतीकमग्निमिति तत एनं खनेमेत्येतत्सुप्रतीकमिति सर्वतो वा अग्निः सुप्रतीकः स्वोरुहाणा अधि नाकमुत्तममिति स्वर्गो वै लोको नाकः स्वर्गं लोकँ रोहन्तोऽधि नाकमुत्तममित्येतत्तं दक्षिणतोपसंक्रमयति यत्रेतरौ पशू भवतस्ते दक्षिणतः प्राञ्चस्तिष्ठन्ति स य एवामुत्र दक्षिणतः स्थानस्य बन्धुः सोऽत्र' (श० ६।३।३।१४) । अकः सुलोकमित्येतद् व्याचष्टे—अकरः सुलोकमिति । अन्तिमं पादं व्याचष्टे—स्वर्गो वै लोको नाक इति । अभिमन्त्रितस्याश्वस्य रासभाजाभ्यां सहावस्थापनं विधत्ते—तं दक्षिणोपसंक्रमयतीति । दक्षिणशब्दादाचिप्रत्यये कृते रूपं दक्षिणेति । 'स य एवामुत्र दक्षिणतः स्थानस्य' इत्यनेन पूर्वमश्वरासभाजपशुविधानं प्रस्तुत्य त्रिवृन्मुञ्जेन बद्धाः 'ते प्राञ्चस्तिष्ठन्ति' इत्युपक्रम्य 'ते दक्षिणतस्तिष्ठन्त्येतद्वै देवा अबिभयुः' (श० ६।३।१।२८-२९) इति यद् ब्राह्मणमुक्तम्, सोऽत्र बन्धुर्ब्राह्मणमिति ब्राह्मणातिदेश इति सायणाचार्यः ।

अध्यात्मपक्षे—वाजी अन्नवान् भोक्ता साधको द्रविणोदाः सन् दानयागादिभिस्त्यागशीलः सन् उदक्रमीद् ऊर्ध्वं ब्रह्म ब्रह्मलोकं वा अक्रमीद् गतवान्। कीदृशो वाजी ? अर्वा अरणशीलः पुरुषार्थपरायणः। कीदृशं लोकम् ? सुलोकं सुष्ठुतया लोक्यते अपरोक्षतया दृश्यते वृत्तिव्याप्त्या इति सुलोकं ब्रह्म। शोभनं वा लोकं ब्रह्मणः सगुणस्य लोकं विशिष्टं धाम यतः पृथिव्यां मर्त्यलोके सुकृतं शोभनं पुण्यकर्मोपासनादिलक्षणम् अकः कृतवान्, ततस्तस्मात् कारणाद् वयं सर्वेऽपि, उत्तमम् उत्कृष्टं स्वः स्वर्गं मोक्षाख्यं सुखं नाकं दुःखासम्भिन्नमधिरुहाणा अधिरोहन्तः सुप्रतीकं शोभनावयवं शोभनमुखमग्निं परमेश्वरं सगुणं साकारं शोभनानि प्रतीकानि यस्य तं विविधप्रतीकोपलक्षितं निर्गुणं निराकारं वा ब्रह्म खने सुमतिकुद्दालकेन वेदवेदान्तादिशास्त्रलक्षणं पावनं पर्वतं खनित्वा ज्ञानविरागाभ्यामक्षिभ्यामन्विष्य प्राप्नुमः।

दयानन्दस्तु—'हे भूगर्भविद्याविद् विद्वन्, द्रविणोदा धनदाता भवान् यथा अर्वा अश्वः, तथा पृथिव्यामध्युदक्रमीद् उत्तमतया क्रमणं कुर्यात्। सुलोकं द्रष्टव्यं सुकृतं धर्माचारेण प्राप्यम् उत्तममतिश्रेष्ठं नाकम् अविद्यमानदुःखम्, अकः सिद्धं कुर्यात्। ततः स्वः सुखं रुहाणाः प्रादुर्भवन्तो वयमप्यस्यां सुप्रतीकं शोभना प्रतीतिर्यस्य तम् अग्निं व्यापकं विद्युदाख्यं खनेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नात्र भूगर्भविद्याविदः सम्बोध्यन्ते, मानाभावात्, न स धनदाता भवति, अश्वस्तु अदृष्टविधया धनदाता भवत्येव। न चादृष्टप्रकारस्त्वयाऽभ्युपेयते, न चाश्वोत्क्रमणं मनुष्योन्नतौ दृष्टान्तः सम्भवति। न चासति हेतौ लकारव्यत्ययोऽपि। न च मूले दार्ष्टान्तोक्तिः। स्वर्गलोकं रोहन्त इति पूर्वोक्तब्राह्मणविरुद्धं चैतद् व्याख्यानम्। सुप्रतीकमित्यस्य शोभना प्रतीतिर्यस्येत्यप्यपव्याख्यानम्, प्रतीतिप्रतीकयोर्भिन्नत्वात्॥ २२॥

आ त्वा जिघर्मि मनसा घृतेन प्रतिक्षियन्तं भुवनानि विश्वा।
पृथुं तिरश्चा वयसा बृहन्तं व्यचिष्ठमन्नै रभसं दृशानम्॥ २३॥

मन्त्रार्थ—हे अग्ने ! तुम सम्पूर्ण भुवनों में निवास करते हुए तिर्यक् प्रमाण ज्योति से विस्तीर्ण धूम से महान् अवकाशवान्, विविध अन्नों से परिपूर्ण, उत्साहसम्पन्न और प्रत्यक्षगोचर हो। मैं श्रद्धायुक्त चित्त से घृत द्वारा तुम्हें प्रदीप्त करता हूँ॥ २३॥

'उपविश्य मृदमभिजुहोत्या त्वा जिघर्मीति व्यतिषक्ताभ्यामृग्भ्यामाहुती स्रुवेणाश्वपदे' (का० श्रौ० १६।२।२२)। अध्वर्युः पिण्डसमीपे उपविश्य मृत्पिण्डस्योपरि जायमाने अश्वपदे अश्वपदमुद्रायाम् आ त्वा जिघर्मीति द्वाभ्यामृग्भ्यां व्यतिषक्ताभ्यां परस्परं संश्लिष्टाभ्यां स्रुवेण द्वे आहुती जुहुयात्। तत्र आ त्वा जिघर्मीति (वा० सं० ११।२३) पूर्वस्याः पूर्वार्धं 'मर्यश्रीः' (वा० सं० ११।२४) इत्युत्तरस्या उत्तरार्धं पठित्वा एकाहुतिः, 'आ विश्वत' (वा० सं० ११।२४) इत्युत्तरस्याः पूर्वार्धं 'पृथुं तिरश्चा' (वा० सं० ११।२३) इति पूर्वस्या उत्तरार्धं पठित्वा द्वितीयाहुतिरित्येवं व्यतिषङ्गः कार्यः। गृत्समदृष्टे आग्नेय्यौ द्वे त्रिष्टुभौ। हे अग्ने, मनसा श्रद्धात्मना चेतसा घृतेन आज्येन च त्वा त्वां जिघर्मि आजुहोमि दीपयामि, आसिञ्चामि च। 'घृ क्षरणदीप्त्योः'। कीदृशं त्वाम् ? विश्वा सर्वाणि भुवनानि प्रतिक्षियन्तं प्रत्येकं सर्वत्र भूतेषु निवसन्तम् 'क्षि निवासगत्योः'। तिरश्चा पृथुं तिरोऽञ्चतीति तिर्यक् तेन तिर्यगञ्चनेन ज्योतिषा पृथुं विस्तीर्णम्, वयसा धूमेन बृहन्तं महान्तम्, 'इतो वा अयमूर्ध्वँ रेतः सिञ्चति धूमँ सामुत्र वृष्टिर्भवति' इति श्रुतेः। अत एव व्यचिष्ठं व्यापनवन्तम् अवकाशवन्तम्। व्यचोऽवकाशः सोऽस्यास्तीति व्यचवान्, अतिशयेन व्यचवान् व्यचिष्ठस्तम्। यद्वा तिरश्चा तिर्यक्प्रमाणेन पृथु विस्तृतमिति बहुदेशव्याप्तिः। वयसा वयउपलक्षितेन कालेन बृहन्तम्। अनेन बहुकालव्याप्ति

रुक्ता, देशकालानवच्छिन्नमित्यर्थः । अन्नैर्हुतैर्घृतादिभिर्भृशमुत्साहवन्तं दृशानं दर्शनीयं दृश्यमानं वा । अदृश्या अन्या देवता अयं तु दृश्य इत्यर्थः । तादृशमग्निं त्वां जिघर्मीति सम्बन्धः । यद्वा हे अग्ने, त्वामहं मनसा श्रद्धावता चेतसा ध्यायन् घृतेन आज्येन आजिघर्मि आक्षारयामि दीपयामि वा । व्यचिष्ठम् अतिशयेन विविधमञ्चनं गमनं यस्य तादृशम् । शेषं पूर्ववत् ।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथोपविश्य मृदमभिजुहोति । एतद्वै देवा अब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्ते चेतयमाना एतामाहुतिमपश्यंस्तामजुहवुस्ताᳫं हुत्वेमाँल्लोकानुखामपश्यन्' (श० ६।३।३।१५) इति । एतदेव 'उपविश्य मृदमभिजुहोत्या त्वा जिघर्मीति व्यतिषक्ताभ्यामाहुती स्रुवेणाश्वपदे' (का० श्रौ० १६।२।२२) इति पूर्वोद्धृतसूत्रेण कात्यायनः सूत्रितवान् । व्यतिषङ्गश्चैकस्याः पूर्वार्धम् इतरस्या उत्तरार्धमित्येका ऋक् । एवमितरावप्यर्धर्चौ संयोजनीयौ । एवं व्यतिषक्ताभ्यामृग्भ्यामश्वस्य पदे द्वे आहुती जुहुयात् । तदिदं सार्थवादं विधत्ते—अथोपविश्येति । उपविश्येति मृत्संस्कारत्वादुपवेशः । प्रथमाहुतिं हुत्वा लोकत्रयात्मिकामुखामपश्यन् । 'तेऽब्रुवन् चेतयध्वमेवेति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवन् ते चेतयमाना एतां द्वितीयामाहुतिमपश्यंस्तामजुहवुस्ताᳫं हुत्वा विश्वज्योतिषोऽपश्यन्नेता देवता अग्निं वायुमादित्यमेता ह्येव देवता विश्वं ज्योतिस्तथैवैतद्यजमान एते आहुती हुत्वेमांश्च लोकानुखां पश्यत्येताश्च देवता विश्वज्योतिषो व्यतिषक्ताभ्यां जुहोतीमांश्च तल्लोकानेताश्च देवता व्यतिषजति' (श० ६।३।३।१६) । द्वितीयाहुतिं हुत्वा विश्वज्योतिर्नामिष्टकां दृष्टवन्तः । विश्वज्योतिस्संज्ञकानां तिसृणामिष्टकानां देवतासम्बन्धमाह–अग्निं वायुमादित्यमिति । व्यतिषक्ताभ्यामृग्भ्यां हवनेन त्रीन् इमांल्लोकान् एता अग्नि वाय्वादित्यस्वरूपा देवताश्च व्यतिषक्तवान् भवति । पृथिवीलोकस्याग्निम् अन्तरिक्षलोकस्य वायुं द्युलोकस्यादित्यमिति । 'यद्वेवैते आहुती । जुहोति । मृदं च तदपश्च प्रीणाति ते इष्ट्वा प्रीत्वाऽथैने सम्भरति व्यतिषक्ताभ्यां जुहोति मृदं च तदपश्च व्यतिषजति' (श० ६।३।३।१७) । प्रकारान्तरेणाहुतिद्वयं प्रशंसति—यद्वेवैते इति । आहुतिद्वयेन मृदमपश्च प्रीणितवान् भवति । यतो व्यतिषक्ताभ्यां होमः, अतो मृदमपश्चोखार्थं संयोजयति । 'आज्येन जुहोति । वज्रो वा आज्यं वज्रमेवास्मा एतदभिगोप्तारं करोत्यथो रेतो वा आज्यᳫं रेत एवैतत् सिञ्चति स्रुवेण वृषा वै स्रुवो वृषा वै रेतः सिञ्चति स्वाहाकारेण वृषा वै स्वाहाकारो वृषा वै रेतः सिञ्चति' (श० ६।३।३।१८) इति । 'आ त्वा जिघर्मि मनसा घृतेनेति । आ त्वा जुहोमि मनसा च घृतेन चेत्येतत् प्रतिक्षियन्तं भुवनानि विश्वेति प्रत्यङ् ह्येष सर्वाणि भूतानि क्षियति पृथुं तिरश्चा वयसा बृहन्तमिति पृथुर्वा एष तिर्यङ् वयसो बृहन् धूमेन व्यचिष्ठमन्नै रभसं दृशानमित्यवकाशवन्तमन्नैरन्नादं दीप्यमानमित्येतत्' (श० ६।३।३।१९) । मन्त्रं प्रतिपादमनूद्य व्याचष्टे–आ त्वेति । व्यचिष्ठरभसपदयोर्व्याख्यानम् अवकाशवन्तमन्नादमिति । दृशानमित्यस्य व्याख्यानं दीप्यमानमिति ।

अध्यात्मपक्षे—हे देव, त्वा त्वामहं श्रद्धावता मनसा घृतैर्घृतगन्धिना स्नेहेन विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतानि प्रतिक्षियन्तं प्रत्येकं निवसन्तं सर्वान्तर्यामिणम् आसमन्ताद् जिघर्मि आसिञ्चामि दीपयामि च स्नेहयामि चिन्तयामि । कीदृशं त्वाम् ? तिरश्चा तिर्यक्प्रमाणोपलक्षितेन देशेन पृथुं विस्तीर्णं बहुदेशं देशपरिच्छेदशून्यं वयसा वयउपलक्षितेन कालेन बृहन्तं बहुकालव्याप्तं कालापरिच्छिन्नं तथा व्यचिष्ठं व्यचोऽवकाशस्तद्वान् व्यचवान् सोऽतिशयितो व्यचिष्ठः, तम् अनन्तकोटिब्रह्माण्डावस्थानोपयोग्यमवकाशवन्तम् । अन्नैर्भक्तसमर्पितैः पत्रपुष्पफलजलान्नादिभिः, रभसं सोत्साहं सुप्रसन्नं तथा दृशानं दर्शनीयं वृत्तिव्याप्त्या द्रष्टुं शक्यं लीलाविग्रहादिधारणेन परमरमणीयम् ।

दयानन्दस्तु—'हे जिज्ञासो, यथाहं मनसा घृतेनाज्येन सह विश्वा सर्वाणि भुवनानि भवन्ति येषु तानि वस्तूनि प्रतिक्षियन्तं प्रत्यक्षं निवसन्तं तिरश्चा येन तिरोऽञ्चति तेन वयसा जीवनेन पृथुं विस्तीर्णं बृहन्तं महान्तं

च सह रभसं वेगवन्तं व्यचिष्ठम् अतिशयेन विचितारं प्रक्षेप्तारं दृशानं सम्प्रेक्षणीयं वायुमाजिघर्मि, तथा त्वामप्येनं धारयामि' इति, तदेतत् सर्वथा निरर्थकम्, अस्पष्टत्वात्। मनसा घृतेन च सह सर्वाणि वस्तूनि प्रत्यक्षं निवसन्तं तिरश्चा तिर्यग्गमनेन वयसा जीवनेन विस्तीर्णं महान्तं सम्प्रेक्षणीयं वायुं च आजिघर्मि त्वामप्येनं धारयामि' इत्यस्य कोऽभिप्रायः ? मनसा घृतेन सहेत्यस्य तत्र कथमुपयोगः ? कथं वा सार्थक्यम् ? सर्ववस्तुषु तयोरप्यन्तर्भावात्। भावार्थस्तु मूलाद् दूरोत्सारितः ॥ २३ ॥

आ विश्वतः प्रत्यञ्चं जिघर्म्यरक्षसा मनसा तज्जुषेत।
मर्यश्रीः स्पृहयद्वर्णो अग्निर्नाभिमृशे तन्वा जर्भुराणः ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्ने, मैं सब ओर प्रत्यगात्मा रूप से व्याप्त होकर घृत द्वारा निष्कपट मन से तुम्हें सिंचित करता हूँ, क्रोधरहित चित्त से इस घृत का सेवन करो। मनुष्यों द्वारा सेवन करने योग्य दर्शनीय कान्तिमान् स्वरूप वाले शरीर से इधर उधर गमन करने वाली अग्नि अभिमर्शन के योग्य नहीं है ॥ २४ ॥

अहम् अग्निं विश्वतः सर्वतः प्रत्यञ्चं प्रत्यगात्मतया प्रतीयमानं सर्वतः प्रतिगतम् आ समन्ताद् जिघर्मि घृतेन हविषा आक्षारयामि दीपयामि च। सोऽप्यग्निः, अरक्षसा क्रौर्यरहितेन प्रसन्नेन महाभागेन वा चित्तेन तद् घृतं जुषेत सेवताम्। अग्निरिति साभिप्रायम्—'अग्निर्वै देवानां मृदुहृदयतमः' इत्यादि प्रसिद्धगुणख्यापनार्थम्। कथंभूतोऽयमग्निः ? मर्यश्रीः मर्यैर्मनुष्यैराश्रयणीया श्रीर्यस्य सः। पुनः कथम्भूतः ? स्पृहयद्वर्णः, स्पृहयन् स्पृहणीयो वर्णो रूपं यस्य सः, यजमानैः स्पृहणीयरूप इत्यर्थः। नाभिमृशे, अभिमृश्यत इत्यभिमृट् न अभिमृट् नाभिमृट् तस्मै। तृतीयार्थे चतुर्थी। तनोर्विशेषणमिदम्। अभिमर्शनं कर्तुमयोग्यया तन्वा (दाहकत्वात्) शरीरेण ज्वालालक्षणेन जर्भुराणः, जृम्भत इति जर्भुराणः, इतस्ततश्च गच्छन् 'जभी जृभी गात्रविनामे'। यद्वा अग्निर्नाभिमृशे भवति तन्वा ज्वालालक्षणेन शरीरेण। ईदृशमग्निं जिघर्मीति सम्बन्धः। जृम्भेरौणादिक उरणप्रत्ययः। यद्वा विश्वतः सर्वतः प्रत्यञ्चं प्रत्यगात्मतया प्रतीयमानमग्निम् अरक्षसा रक्षोदोषरहितेन सौम्येन भक्तियुक्तेन मनसा युक्तोऽहमाजिघर्मि आसिञ्चामि तद्घृतं जुषेत सेवेत। तत्र भवानग्निः। कीदृशः सः ? मर्यश्रीः मनुष्यैराश्रयणीयः। स्पृहयद्वर्णः स्पृहयन् परेषां रुचिमुत्पादयन् वर्णो यस्य (भास्करशुक्लत्वात्) सः। तन्वा शरीरेण ज्वालालक्षणेन जर्भुराणो दीप्यमानोऽग्निर्नाभिमृशे, तुमर्थे क्सेप्रत्ययः, अभिमर्शनीयो न भवति।

तत्र ब्राह्मणम्—'आ विश्वतः प्रत्यञ्चं जिघर्मीति। आ सर्वतः प्रत्यञ्चं जुहोमीत्येतदरक्षसा मनसा तज्जुषेतेत्यहीडमानेन मनसा तज्जोषायेतेत्येतन्मर्यश्री····श्रीर्ह्येष स्पृहयद्वर्णोऽग्निर्नाभिमृशे तन्वा जर्भुराण इति नह्येषोऽभिमृशे तन्वा दीप्यमानो भवति' (श० ६।३।३।२०)। मन्त्रं व्याचष्टे—आ विश्वत इति। अरक्षसेत्यस्य व्याख्यानमहीडमानेनेति, 'हेड़ होड़ अनादरे' अक्रुध्यमानेनेत्यर्थः। शेषं स्पष्टम्। 'द्वाभ्यामभिजुहोति। द्विपाद्यजमानो यजमानोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतद्व्रतोभूत७····सिञ्चतीन्द्राग्नी वै सर्वे देवाः सर्वदेवत्योऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतद्व्रतोभूत७ सिञ्चति' (श० ६।३।३।२१)। मन्त्रगतां संख्यां प्रशंसति—द्वाभ्यामभिजुहोतीति। यजमानोऽग्निरिति विराडरूपस्याग्नेर्यजमानभाविशरीरात्मकतया च तद्रूपत्वम्। मन्त्रदेवतां प्रशंसति—आग्नेयीभ्यामिति। मन्त्रयोरग्निसम्बन्धं त्रिष्टुप्छन्दश्च प्रशंसति—यावानग्निरिति। अग्निदेवत्येनाग्निरुच्यते। मन्त्रगतत्रिष्टुप्छन्दसा इन्द्रः, त्रिष्टुबिन्द्रयोः सहोत्पत्तेः, 'तमिन्द्रो देवतान्वसृज्यत त्रिष्टुप्छन्दः' (तै० सं० ७।१।१।४) इति श्रुतेः। अग्निरप्यैन्द्राग्नः। 'इन्द्राग्नी इति। इन्द्रः सर्वेषां देवानां परमः, अग्निर्देवानामवमः। उभयोर्मध्यवर्तिन्यः सर्वा देवताः' (ऐ० ब्रा० १।१) इतीन्द्राग्नी सर्वदेवतात्मकौ।

अग्निरपि सर्वदेवत्यः, तस्मिन्नेवाग्नौ सर्वदेवतोद्देश्येन हविःप्रक्षेपात्, 'अग्निर्वै सर्वा देवताः' (श० १।६।२।८) इति श्रुतेः। अग्निर्यत्परिमाणस्तावता परिमाणेन इन्द्राग्निरूपेण प्रकारान्तरेण एवं तत्संख्याकाभ्यामिन्द्राग्निरूपाभ्यां प्रीणितवान् भवति। 'अश्वस्य पदे जुहोति। अग्निरेष यदश्वस्तथो हास्यैते अग्निमत्येवाहुती हुते भवतः' (श० ६।३।३।२२)। आहुतिद्वयस्याधिकरणं विधत्ते—अश्वस्य पदे जुहोतीति। यद्यश्वस्य पदे हवनं तर्हि कथमग्निदेवत्यमन्त्रप्रयोगस्तत्राह—'अग्निरेष यदश्वः' (श० ६।३।३।२२) इति। अश्वस्याग्निरूपत्वं प्रागुक्तम्। 'स एतान् पञ्च पशून् प्राविशत्' (श० ६।२।१।३) इति।

अध्यात्मपक्षे—अहमग्निं परमात्मानमासमन्तात् जिघर्मि सिञ्चामि दीपयामि च। घृतगन्धिना प्रेमामृतेनाभिषिञ्चामि, श्रद्धावता मनसा ध्यानेन दीपयामि। यद्वा सगुणं साकारं परमेश्वरं मनसा श्रद्धावता ध्यायन् घृतेन क्षारयामि। कीदृशमग्निम्? प्रत्यञ्चं देहेन्द्रियादिभ्यो प्रतीपतयाऽच्यतेऽवगम्यते यस्तं देहादयो नानात्वेन संहतत्वेन परप्रकाश्यत्वेनावगम्यन्ते, अयं त्वेकत्वेनासंहतत्वेन स्वप्रकाशत्वेनावगम्यते। तमहमरक्षसा अक्रूरेण सौम्येन भक्तिमता मनसा जिघर्मि। यद्वा स देवोऽरक्षसा अक्रोधनेनानुग्रहवता मनसा तदस्मत्समर्पितं वस्तु जुषेत प्रीत्या सेवेत। कीदृशोऽग्निर्जुषेत? मर्यश्रीः मर्यैः श्रीयते तैराश्रयणीय इति मर्यश्रीः, अथवा मर्याणां श्रीः शोभा सम्पत्तिश्च यस्मात् सः। स्पृहयद्वर्णः स्पृहयन् स्पृहणीयो वर्णो रूपं यस्य सः प्रत्यगात्मरूपेण सर्वप्रेमास्पदत्वात्। सगुणसाकाररूपेण कोटिकन्दर्पलावण्यत्वाद् रामकृष्णादिरूपेण सर्वस्पृहणीयं तद्रूपं प्रसिद्धमेव। सर्वसाधारणैर्नाभिमृशा तन्वा स्पष्टुमशक्यया तन्वा शरीरेण जर्भुराणः। उपलक्षणमेतद्दर्शनादीनामपि। जर्भुराणोऽनेकरूपैर्जृम्भमाणोऽपि न सर्वैर्द्रष्टुं स्प्रष्टुं ग्रहीतुं च शक्यते, कृपामात्रैकलभ्यत्वात्।

दयानन्दस्तु—मनुष्यो न यथा विश्वतः सर्वतः अग्निः विद्युद् वायुश्च अभिमृशे आभिमुख्येन मृशन्ति येन तस्मै सहनशीलाय हितकारी अस्ति, यथा तन्वा शरीरेण जर्भुराणो भृशं गात्राणि विनामयत् स्पृहयद्वर्णः स्पृहयद्भिर्वर्ण्यते स्वीक्रियते यः स इव। मर्यश्रीः मर्याणां मनुष्याणां श्रीरिव श्रीर्यस्य सः, अहं यं प्रत्यञ्चं प्रत्यगञ्चतीति शरीरस्थं वायुम्। अरक्षसा रक्षोवद्दुष्टतारहितेन मनसा चित्तेन आजिघर्मि तथा जुषेत सेवेत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रत्यञ्चमिति द्वितीयान्तस्य अग्निरिति प्रथमान्तस्य कथमस्तिक्रियया योगः, न च वायुबोधकं पदान्तरमस्ति। प्रत्यञ्चमिति पदस्य वायुपरत्वमपि चिन्त्यमेव। अभिमृशन्ति येनेति व्युत्पत्त्यापि कथं सहनशीलोऽर्थः? हितकारीति कस्य पदस्यार्थः? मर्यश्रीत्वमपि तथाविधमेव, सर्वथाप्यनुपपन्नार्थमिदं व्याख्यानम् ॥ २४ ॥

परि॒ वाज॑पतिः क॒विर॒ग्निर्ह॒व्यान्य॑क्रमीत्। दध॒द्रत्ना॑नि दा॒शुषे॑ ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—अन्न का पति क्रान्तदर्शी अग्नि हवि देने वाले यजमान के निमित्त मनोहर विविध रत्न प्रदान करता हुआ यजमान द्वारा दी गई हवि को स्वीकार करता है ॥ २५ ॥

'अभ्र्या पिण्डं त्रिः परिलिखति परिवाजपतिरिति बहिर्बहिरुत्तरयोत्तरयेति' (का० श्रौ० १६।२।२३)। परिवाजपतिरित्यादिमन्त्रत्रयेण वारत्रयं मृत्पिण्डं परिलिखेत्। तत्रापि पूर्वया ऋचा एकवारं परिलिख्य उत्तरया उत्तरया पूर्वलिखिताद्बाह्यदेशे परिलिखेत्। परिवाजपतिरित्यनया प्रथमा रेखा, ततो बहिरुत्तरया परि त्वाग्न इत्यनया द्वितीया रेखा, ततोऽप्युत्तरया त्वमग्न इत्यनयर्चा तृतीया रेखेति। आग्नेयी गायत्री सोमकदृष्टा। अयमग्निर्हव्यानि विविधदेवत्यानि हवींषि परितः अक्रमीत् स्वीकृतवान्। कीदृशोऽग्निः? वाजपतिः वाजस्यान्नस्य पालयिता कविः क्रान्तदर्शी, सर्वज्ञ इत्यर्थः। किं कुर्वन्? दाशुषे हवींषि दत्तवते यजमानाय

रत्नानि रमणीयानि धनानि दधत् प्रयच्छन्। 'दाशृ दाने' इत्यस्य 'दाश्वान्साह्वान्....' (पा० सू० ६।१।१२) इति क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः। दाशतीति दाश्वान् तस्मै दधातीति दधत् 'डुधाञ् विधारणे पुष्टौ दाने' इति कल्पद्रुमोक्तेः।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनं परिलिखति। मात्रामेवास्मा एतत्करोति यथैतावानसीत्येवम्' (श० ६।३।३।२३)। परिलेखनेन अस्मै मद्रूपायाग्नये मात्रां परिच्छेदम् इयत्तां करोति कृतवान् भवति। तदेव विवृणोति—अथैतावानसीति। 'यद्वेवैनं परिलिखति। एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इममिह रक्षाᳬसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तस्मा एतां पुरं पर्य्यश्रयंस्तथैवास्मा अयमेतां पुरं परिश्रयत्यभ्र्या वज्रो वा अभ्रिर्वज्रमेवास्मा एतदभिगोप्तारं करोति सर्वतः परिलिखति सर्वत एवास्मा एतं वज्रमभिगोप्तारं करोति त्रिष्कृत्वः परिलिखति त्रिवृतमेवास्मा एतं वज्रमभिगोप्तारं करोति' (श० ६।३।३।२४)। परिलेखनं प्रशंसितुं देववृत्तान्तमाह—एतद्वै देवा एतां पुरं रेखारूपां परिश्रितवन्त इति। परिलेखने साधनं विधत्ते—अभ्र्येति। सर्वतः परिलिखतीति, चतुर्दिशं वृत्तमित्यर्थः। परिलेखनस्य त्रित्वं विधत्ते—त्रिष्कृत्व इति। त्रिवारं लेखनेन त्रिवृतं वज्रम् अस्मै मृत्पिण्डाय अभिगोप्तारं कृतवान् भवतीत्यर्थः। 'परिवाजपतिः कविः। परि त्वाग्ने पुरं वयं त्वमग्ने द्युभिरित्यग्निमेवास्मा एतदुपस्तुत्य वर्म करोति परिवतीभिः पुरीव हि पुर आग्नेयीभिरग्निपुरामेवास्मा एतत्करोति सा हैषाऽग्निपुरा दीप्यमाना तिष्ठति तिसृभिस्त्रिपुरमेवास्मा एतत्करोति तस्याद्र हैतत्पुरां परमᳬ रूपं यत् त्रिपुरं स वै वर्षीयसा छन्दसा परां परां लेखां वरीयसीं करोति तस्मात् पुरां परा परा वरीयसी लेखा भवन्ति लेखा हि पुरः' (श० ६।३।३।२५)। मन्त्रं विधत्ते-परिवाजपतिरिति। आद्या गायत्री परि त्वाग्ने पुरं वयम् इति द्वितीया अनुष्टुप्। त्वमग्ने द्युभिरिति तृतीया त्रिष्टुप्। तिस्रोऽप्याग्नेय्योऽग्निदेवत्याः। अत एभिः परिलेखनेन अग्निमेव वर्म कवचं मृत्पिण्डाय कृतवान् भवति। मन्त्रत्रयगतं परिशब्दं स्तौति—परिवतीभिरिति। यतो रेखाः पुरात्मिकाः, अतस्तासां परिशब्दयुक्ताभिः ऋग्भिः करणेन प्राकारपरिवृतपुरात्मकत्वमुक्तम्। मन्त्रगतं त्रित्वं प्रशंसति—तिसृभिस्त्रिपुरमेवेति। प्राकारत्रयपरिवृतत्वं पुरामुत्कृष्टतमत्वम्। स वै वर्षीयसेति। अयमभिप्रायः—सोऽध्वर्युर्वर्षीयसा वृद्धेन ततोऽपि वर्षीयसा वृद्धतरेण छन्दसा। उत्तरोत्तराधिकच्छन्दस्काभिर्ऋग्भिः रेखामप्युत्तरोत्तरवरीयसीं महत्तरां करोति। तस्मादुत्तरोत्तराधिकरेखात्रयकरणेन तादृग्भूतप्राकारेण पुरेण मृत्पिण्डं रक्षितवान् भवति।

अध्यात्मपक्षे—सोऽग्निः परमेश्वरो वाजपतिर्वाजस्यान्नस्य पतिः स्वामी, कविः क्रान्तोपलक्षितातीतानागतवर्तमानसर्ववस्तुदर्शनः सर्वज्ञो दाशुषे पत्रपुष्पफलादिदत्तवते भक्ताय रत्नानि आध्यात्मिकानि भक्तिज्ञानवैराग्यादीनि बाह्यानि सुवर्णादीनि दधत् प्रयच्छन् हव्यानि हवींषि पर्यक्रमीद् भक्तदत्तानि पत्रपुष्पादीनि स्वीकरोति।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यो वाजपतिरन्नादिरक्षको गृहस्थ इव कविः क्रान्तदर्शनो दाता दाशुषे दातुं योग्याय विदुषे रत्नानि सुवर्णादीनि दधद् धरन्निवाग्निः प्रकाशमानो हव्यानि होतुं ग्रहीतुं योग्यानि वस्तून्यक्रमीत् क्रामति तं त्वं जानीहि' इति, तदपि तुच्छम्, असामञ्जस्यात्। तथाहि—कोऽयं प्रापकः, किमर्थं च स ज्ञातव्य इत्यस्पष्टत्वात्। नासौ परमेश्वरः सम्भवति, तस्याप्तकामत्वेन प्राप्तव्याभावात्। न च सामान्यगृहस्थः क्रान्तदर्शनः सम्भवति, दर्शनद्रष्टव्यसत्त्वसापेक्षत्वात् ॥ २५ ॥

परि॑ त्वाग्ने॒ पुरं॑ व॒यं विप्र॑ᳬ सहस्य धीमहि ।

धृ॒षद्व॑र्णं दि॒वेदि॑वे ह॒न्तारं॑ भङ्गु॒राव॑ताम् ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—बलपूर्वक मथन करने से उत्पन्न होने वाले हे अग्निदेव, तुम सबके शरीर में पुरी रूप से स्थित हो, पालन करने वाले हो, बुद्धिसम्पन्न हो। तुम प्रतिदिन असह्य रूप वाले राक्षसदल का संहार करने वाले हो, हम सब ओर से आपका ध्यान करते हैं॥ २६॥

आग्नेयी अनुष्टुप्। वायुदृष्टा। हे सहस्याग्ने, सहसि बले भवः सहस्यः, बलेन अरणिमन्थनेन जायमानत्वात्। वयं त्वा त्वां परिधीमहि सर्वतो ध्यायामः स्वीकुर्मो वा। सम्प्रसारणं छान्दसम्। कीदृशं त्वाम्? पुरं पिपर्तीति पुरतम् अपेक्षितफलानां पूरयितारं यद्वा पुरीरूपेण स्थितम्, आग्नेय्यादिपुराणां रक्षकत्वात्। विप्रं विप्रजात्यभिमानिनं मेधाविनं वा। धृषद्वर्णं धृष्णोतीति धृषन् प्रगल्भः, 'ञिधृषा प्रागल्भ्ये' धृषन् वर्णो यस्य तम्। प्रसहनरूपम् असह्यरूपम्। दिवे दिवे प्रतिदिनं भङ्गुरावतां भङ्गुरं भञ्जनीयं पापं तदस्ति येषां ते भङ्गुरावन्तो विघातकारिणो राक्षसादयः, छन्दसि संहितायां दीर्घः, तेषां हन्तारं नाशयितारम्।

अध्यात्मपक्षे—सहसा ज्ञानध्यानादिपराक्रमेण लभ्यः सहस्यः, तत्सम्बुद्धौ। हे अग्ने, वयं त्वां परिधीमहि सर्वतो ध्यायामः। कीदृशं त्वाम्? पुरं सर्वेषामावासाश्रयं पुरमिव पुरम्। पिपर्ति पालयति भक्तानिति पूरतम्। तथा विप्रं मेधाविनं धृषद्वर्णमसह्यरूपम्। धृषन् प्रगल्भो वर्णो रूपं यस्य तम्। भङ्गुरावतां रावणादिराक्षसानां भेत्तारं विनाशयितारं त्वां ध्यायाम इत्यनुषङ्गः।

दयानन्दस्तु—'हे सहस्याग्ने, य आत्मनः सहो बलमिच्छति तत्सम्बुद्धौ हे अग्ने विद्यया प्रकाश्यमान, यथा वयं दिवे दिवे प्रतिदिनं भङ्गुरावतां कुत्सिता भङ्गुराः प्रहताः प्रकृतयो विद्यन्ते येषां तेषां पुरं येन सर्वान् पिपर्ति तत्, अग्निमिव हन्तारं धृषद्वर्णं धृषत्प्रगल्भो दृढो वा वर्णो यस्य तं विप्रं विद्वांसं त्वां परिधीमहि धरेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणस्यायुक्तत्वात्। अग्निवद् विद्यया प्रकाशमान इति सिंहो माणवक इतिवद् गौणार्थाश्रयणादेव। भङ्गुरशब्दस्य दृढस्वभावोऽर्थ इत्यप्यसाम्प्रतम्। न वा तद्वतां निश्चितनगरनिर्मितिः, अतद्वतामपि नगरे तेषां सत्त्वात्॥ २६॥

त्वम॑ग्ने द्युभि॒स्त्वमा॑शुशु॒क्षणि॒स्त्वम॒द्भ्यस्त्वमश्म॑न॒स्परि॑।
त्वं वने॑भ्य॒स्त्वमोष॑धीभ्य॒स्त्वं नृ॒णां नृ॑पते जायसे॒ शुचि॑ः॥ २७॥

मन्त्रार्थ—हे मनुष्यों के पालक अग्निदेव, तुम परम पवित्र आर्द्र भूमि को अपनी कान्ति से सुखाकर अन्धकार को दूर करने वाले हो, तुम प्रतिदिन मथन से उत्पन्न होते हो। तुम जल से बिजली के रूप में उत्पन्न होते हो, तुम एक पाषाण के दूसरे पाषाण से टकराने पर उत्पन्न होते हो, तुम वनों में अरण्य काष्ठ से और औषधियों में बाँस आदि से उत्पन्न होते हो। तुम अग्निहोत्र करने वाले मनुष्यों के घर निवास करते हो॥ २७॥

आग्नेयी त्रिष्टुप्, गृत्समददृष्टा। 'प्रथमान्त्यावेकादशार्णौ, द्वितीयतृतीयौ दशार्णौ पादौ यदा तदा पङ्क्तिरेव। तृतीयचतुर्थौ दशार्णौ यदा तदा विराट्स्थाना त्रिष्टुप्। द्वौ वा वैराजौ नवकस्त्रैष्टुभश्च विराट्स्थानेत्युक्तेः' इति महीधराचार्यः। हे भगवन्नग्ने, हे नृपते, नृणां पालक, त्वं द्युभिरहोभिर्निमित्तभूतैरभिमथ्यमानो जायसे। यद्वा द्युभिः स्वर्गनिमित्तभूतैर्याज्ञिकानां यज्ञशालासु जायसे। त्वमाशुशुक्षणिः आशु शीघ्रं शुचा दीप्त्या क्षिणोति हिनस्ति शैत्यं तमो वेति, सनोतीति वा, संभजते वेत्याशुशुक्षणिः। आर्द्रां भूमिमाशु शोषयित्वा जायसे, त्वमद्भ्यो जलेभ्यो विद्युद्रूपेण जायसे त्वमश्मनः पाषाणाच्च परिजायसे। यद्वा अश्मनः परि पाषाणस्योपरि पाषाणान्तरसङ्घट्टनेन जायसे। त्वं वनेभ्योऽरणिकाष्ठेभ्यो जायसे वनेभ्यो वंशादिभ्यो दावाग्निरूपेण वा जायसे। त्वमोषधीभ्य ओषधिकार्येभ्यो जाठरानलरूपेण वा जायसे। त्वं नृणामग्निहोत्रिणां गृहेषु जायसे पुत्रत्वेन, 'पुत्रो

ह्येष सन् स पुनः पिता भवति' इति श्रुतेः। किंभूतस्त्वम् ? शुचिः शुद्धिहेतुः, अपगतपाप्मा वाऽसि, 'पुनः पाकेन मृण्मयम्' (म० ५ १२२) इति स्मृतेः। यद्वा आशुशुक्षणिरिति पञ्चम्यर्थे प्रथमा। आशुशुक्षणेर् आदिदीपयिषोः। आ उपसर्गपूर्वकस्य शोचतेः सन्नन्तस्य रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने! हे परमात्मन् नृपते रामचन्द्र, त्वं द्युभिः स्वर्गनिवासिभिर्देवैर्निमित्तभूतैर्नृणां मध्ये श्रीरामकृष्णादिरूपेण जायसे, त्वं दैत्यदानवानां दहनायाशुशुक्षणिरग्निरूपोऽसि। 'किं वैष्णवं वा कपिरूपमेत्य रक्षोविनाशाय परं सुतेजः। अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं स्वमायया साम्प्रतमागतं वा॥' (वा० रा० सु० ५४।३८) इति रामायणोक्तेः। त्वमद्भ्यो मत्स्यकूर्मरूपेण जायसे। त्वमश्मनः पाषाणमयात् स्तम्भात् नृसिंहरूपेण जायसे। त्वं वनेभ्यो वराहरूपेण जायसे। त्वमोषधिभ्योऽर्थाय धन्वन्तरिरूपेण जायसे। त्वं शुचिः स्वभावतः पवित्रः, त्वन्नामस्मरणेन सर्वपापक्षयस्मरणात्, 'नामसङ्कीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्' (भा० पु० १२।१३।२३) इति श्रीमद्भागवतोक्तेः।

दयानन्दस्तु—'हे नृपते ! अग्ने सभाध्यक्ष, यस्त्वं द्युभिर्दिनैरिव प्रकाशमानैर्न्यायादिगुणैः सूर्य इव त्वमाशुशुक्षणिः शीघ्रं दुष्टान् क्षिणोति हिनस्ति वा यः सः, त्वमद्भ्यो वायुभ्यो जलेभ्यो वा। त्वमश्मनो मेघात् पाषाणाद्वा वनेभ्यो जङ्गलेभ्यो रश्मिभ्यो वा। ओषधिभ्यः सोमलतादिभ्यस्त्वं नृणां मध्ये शुचिः पवित्रः परिजायसे सर्वतः प्रादुर्भवसि, तस्मात्त्वामाश्रित्य वयमप्येवंभूता भवेम' इति, तदपि तुच्छम्, यथाकथञ्चिद् गौणार्थमाश्रित्यार्थवर्णनात्, राजा कथमद्भ्योऽश्मनो वनेभ्य ओषधिभ्यो जायत इत्यस्यासमाहितत्वात्, यास्कमुनिव्याख्यानप्रकारमुल्लिख्यापि तदनुगुणव्याख्यानानुरोधात्।

यास्कव्याख्यानं उव्वटादिसम्मतमेव। तथाहि—'त्वमग्ने द्युभिरहोभिस्त्वमाशुशुक्षणिः, आशु इति च शु इति च क्षिप्रनामनी भवतः, क्षणिरुत्तरः क्षणोतेराशु शुचा क्षणोतीति सनोतीति वा। शुक् शोचतेः। पञ्चम्यर्थे वा प्रथमा। तथाहि वाक्यसंयोगः, आ इत्याकार उपसर्गः पुरस्ताच्चिकीर्षितज उत्तरः। आ शुशोचयिषुरिति, शुचिः शोचतेर्ज्वलतिकर्मणोऽयमपीतरः शुचिरेतस्मादेव निषिक्तमस्मात् पापकमिति नैरुक्ताः' (नि० ६।१)। तद्रीत्यायमर्थः—हे भगवन्नग्ने, त्वं द्युभिरहोभिर्निमित्तभूतैः पौर्णमास्याद्यैरेषां मथ्यमानो नृणां जायसे। त्वमाशुशुक्षणिः आशु इति च शु इति च एते क्षिप्रनामनी शु इत्येतदत्र प्रासङ्गिकमन्यत्रोपकारं करिष्यति। तद्यथा 'शुनो वायुः शु इत्यन्तरिक्षे' (नि० ९।४)। आशुशुक्षणिरित्येतेषां पञ्चाक्षराणामाद्यमक्षरद्वयम् आ शु इत्येतत् क्षिप्रनाम। अधुना शु इत्येतत्तृतीयमक्षरमतिक्रम्योत्तरं क्षणिरित्यक्षरद्वयं निर्वक्ति—क्षणिरुत्तरक्षणः, तेष्वार्तो हि स्वार्थस्य सनोतेर्वा संभजनार्थस्य वा मध्यमं शु इत्येतदक्षरं शुचेर्दीप्त्यर्थस्य सर्वैरप्येतैरक्षरैरयमर्थो विज्ञायते—आशु शुचा दीप्त्या क्षणोति हिनस्ति यः स आशुशुक्षणिरग्निः। यद्वा आशु शुचा सनोति संभजते यः सोऽपि स एवाग्निः। क्षणिः क्षणोतेः सनोतेर्वा। शुक् शोचतेः। पञ्चम्यर्थे वा आशुशुक्षणिरित्यत्र प्रथमाविभक्तिः। कुत एतदित्याह—त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्य इत्येतान्युत्तराणि बहूनि पदानि पञ्चम्यन्तानि। तस्मादनेनापि पञ्चम्यन्तेनैव भवितव्यमिति। आशुशुक्षणिरित्येतस्याक्षरपञ्चकस्य य एष पुरस्तादाकार एष तावदुपसर्गः। यः पुनः शुशुक्षणिरिति चतुरक्षरः शब्दः, एष चिकीर्षितजः चिकीर्षितादर्थाज्जातः सन्नन्तादित्यभिप्रायः। तथा च तस्य समस्तस्यायमर्थः—यः कश्चिद् आशु शोचयिषुर् आदिदीपयिषुर्भवति स आशुशुक्षणिर्भवति। तस्मादाशुशुक्षणिस्त्वं हे अग्ने जायसे। कथं केभ्य इत्याह—त्वमद्भ्यो जायसे वैद्युतात्मना। त्वमेवाश्मनः परित इतरेतराभिघाताज्जायसे। त्वं वनेभ्यो दारुभ्यः, त्वमोषधीभ्यः शरादिभ्यः, त्वं नृणां मनुष्याणां हे नृपते मनुष्यपते अभिव्यज्यसे। शुचिः दीप्त इत्यर्थः। शुचि शोचतेर्ज्वलत्यर्थस्य। अयमपीतरः शुचिर्लौकिकः। एतस्मादेव इति वैयाकरणा मन्यन्ते। नैरुक्तास्तु पुनः निःपूर्वात् सिञ्चतेरितरः शुचिरित्येवं मन्यन्ते, निष्कृष्य हि तस्मात्

पापकमशुचित्वमन्यस्मिन् सिक्तं भवतीत्येवम् । अत्राग्निर्वार्त्रघ्न्यो वा । यः कश्चिदग्निं मथित्वा तेन किञ्चिदादिदीपयिषुर्भवति, स वा आशुशुक्षणिरिति दुर्गाचार्यः ॥ २७ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खनामि । ज्योतिष्मन्तं त्वाग्ने सुप्रतीकमजस्रेण भानुना दीद्यतम् । शिवं प्रजाभ्योऽहिंᳬसन्तं पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खनामः ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—हे अभ्रि, सबके प्रेरक सविता देव की आज्ञा में वर्तमान, अश्विनीकुमार की भुजाओं से, पूषा देवता के हाथों से पशु सम्बन्धी अग्नि को भूमि की ऊपरी परत से अंगिरा के समान खनन करता हूँ। हे अग्ने, ज्वालायुक्त सुन्दर मुख में निरन्तर वर्तमान रश्मियों से दीप्तिमान् प्रजा के उपकार के लिये शान्तरूप, कभी हिंसा न करने वाले पुरीष्य नामक अग्नि को भूमि के गर्भ से अंगिरा के समान खनन करता हूँ ॥ २८ ॥

'अभ्र्या पिण्डं खनति देवस्य त्वेति' (का० श्रौ० १६।२।२४)। अभ्र्या पिण्डं परितः खनति देवस्य त्वेति कण्डिकया। देवस्य त्वेति पूर्ववद् व्याख्येयम्। पृथिव्या इत्याग्नेयं यजुः। अत्यष्टिश्छन्दः। हे अग्ने, अहं पृथिव्याः सधस्थात् सहस्थानात् पुरीष्यं पुरीषेषु हितं पशव्यमग्निम् अङ्गिरस्वत् अङ्गिरस इव भूप्रदेशादग्निवत् खनामि। कीदृशमग्निम्? ज्योतिष्मन्तमर्चिष्मन्तं सुप्रतीकं सुमुखम् अजस्रेण अनवच्छिन्नेन अनुपक्षीणेन निरन्तरं वर्तमानेन भानुना तेजसा दीद्यतं दीप्यमानं प्रकाशमानम्। व्यत्ययेन शता पकारस्य दकारश्च। प्रजाभ्यः प्रजानामुपकाराय शिवं शान्तं तत एवाहिंसन्तं प्राणिनोऽबाधमानं त्वां पृथिव्याः सहस्थानाद् अङ्गिरस इव वयं खनामः। पुनरुक्तिरादरार्था।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमस्यां खनति। एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इममिह रक्षाᳬसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तस्मा इमामेवात्मानमकुर्वन् गुप्त्या आत्मात्मानं गोप्स्यतीति सा समम्बिला स्यात्तदस्येयमात्मा भवति यद्वेव समम्बिला योनिर्वा इयᳬरेत इदं यद्वै रेतसो योनिमतिरिच्यतेऽमुया तद्भवत्यथ यन्न्यूनं व्यृद्धं तदेवद्वै रेतसः समृद्धं यत्समम्बिलं चतुःस्रक्तिरेष कूपो भवति चतस्रो वै दिशः सर्वाभ्य एवैनमेतद्दिग्भ्यः खनति' (श० ६।३।३।२६)। पिण्डखननं विधत्ते—अथैनमस्यां खनतीति। अस्यां भूमौ एनं पिण्डं खनेदित्याधेयाधिकरणभावेन भूमिमृत्पिण्डयोः प्रतीयमानं पार्थक्यमपाकरोति—एतद्वै देवा इति। पूर्वं देवा रक्षोभीत्या तस्मै पिण्डाय इमां भूमिमेवात्मानं स्वरूपमकुर्वन्। स्वरूपं स्वरूपरक्षकं भविष्यतीति हेतोः रक्षणाय सा खन्यमाना भूमिः समम्बिला चतुर्दिशं समानविवरा कर्तव्या। अयं भावः—यावत्य उखाषाढादय इष्टकाः कर्तव्याः, तावत् परिमाणमेवेदं खनेत्। समम्बिलत्वं स्तौति–यद्वेव समम्बिलेति। इयं भूमिर्योनिः, अग्न्युत्पत्तिस्थानम्। इदम् उखाषाढाद्यर्थं खन्यमानं मृत्स्वरूपं रेतः। अतो रेतसः सम्बन्धी बिन्दुर्यावद् योनिमतिरिच्यते, तावद् उखादिपर्याप्तौ मृत् खनितुं युक्ता। चतुःस्रक्तिरेष कूप इति मृदर्थं खन्यमानः कूपश्चतुरस्रः कर्तव्यः। स्रक्तीश्चतुर्दिगात्मना स्तौति–चतस्रो वै दिश इति। 'अथैनमतः खनत्येव। एतद्वा एनं देवा अनुविद्याऽखनंस्तथैवैनमयमेतदनुविद्य खनति देवस्य त्वा सवितुः ···· अङ्गिरस्वत् खनामीति सवितृप्रसूत एवैनमेतदेताभिर्देवताभिः पृथिव्या उपस्थादग्निं पशव्यमग्निवत् खनति' (श० ६।४।१।१)। खननविधिं स्तुवन् मन्त्रं विधत्ते—अथैनमतः खनतीति। अतश्चतुस्रक्तेः कूपादनुविद्य लब्ध्वा खनति। 'द्वाभ्यां खनति····' (श० ६।४।१।३)। 'स वै खनामि' (श० ६।४।१।४), 'स वा अभ्र्या खनन्। वाचा खनामि····' (श० ६।४।१।५)। खननयन्त्र-

गतां द्वित्वसंख्यां यजमानरूपाग्न्यात्मना प्रशंसति–द्वाभ्यां खनति द्विपादिति। देवस्य त्वेति मन्त्रे खनामीत्येकवचनम्, ज्योतिष्मन्तमिति मन्त्रे खनाम इति बहुवचनम्। तत्र प्रजापतिविवक्षया एकवचनम्, देवविवक्षया बहुवचनम्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन्, सवितुः प्रसवे प्रेरणे वर्तमानोऽहम् अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां पृथिव्या भूमेः सहस्थानात् सर्वात्मत्वात् चयनीयाग्निरूपेण त्वा त्वां खनामि। कीदृशं त्वाम्? पुरीष्यं पशव्यमिति। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने शिल्पविद्यावित्, यथाहं सवितुर्देवस्य प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वां पुरस्कृत्य पृथिव्याः सधस्थात् सुखैः पूरकेषु भवं ज्योतिष्मन्तं बहूनि ज्योतींषि विद्यन्ते यस्मिन् तम्, अजस्रेण निरन्तरेण भानुना दीप्त्या दीद्यतं दीप्यमानं पुरीष्यं दीद्यतम् अग्निमङ्गिरस्वद् वायुवद्वर्तमानं खनामि तथा त्वामाश्रिता वयं पृथिव्या अन्तरिक्षात् सधस्थाद् अङ्गिरस्वत् सूत्रात्मवायुवद् वर्तमानम् अहिंसन्तम् अताडयन्तं प्रजाभ्यः प्रसूताभ्यः शिवं मङ्गलमयमग्निं खनामो विलिखामः प्रकटयामः, तथा सर्वे आचरन्तु' इति, तदपि न किञ्चित्, शतपथश्रुतिविरुद्धत्वात्। न चात्र पृथिव्यादिषु वर्तमानो विद्युदग्निरजस्रेण भानुना दीप्यमानो दृश्यते, न वा वायुः कर्तृत्वेन कर्मत्वेन वा दृष्टान्तत्वमर्हति, न वा शिल्पविदमनुसृत्य सर्वे नागरिका विद्युतं प्रादुर्भावयितुं समर्थाः, विशिष्टोपकरणैरेव निर्वर्त्यत्वात्। न च शिवत्वमेव, विद्युतोऽनिष्टकारित्वस्यापि दर्शनात्॥ २८॥

अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानम्।
वर्धमानो महाँ२ऽआ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्व॥ २९॥

मन्त्रार्थ—हे पत्र (पुष्करपर्ण), तुम जल के ऊपर रहते हो, अतः पृष्ठ रूप हो, अग्नि के निमित्त पिण्ड के कारण बनो। तुम पृथ्वी को सींचते हुए समुद्र की सब ओर से वृद्धि करते हो, समुद्र के जल में समा जाते हो। हे पत्र, तुम द्युलोक के परिमाण की विशालता के समान विस्तार को प्राप्त करो॥ २९॥

'कृष्णाजिनमास्तीर्योत्तरतः। तस्मिन् पुष्करपर्णमपां पृष्ठमिति' (का० श्रौ० १६।२।२५-२६)। मृत्पिण्डस्योत्तरभागे प्राग्ग्रीवमुत्तरलोम कृष्णाजिनमास्तीर्य तत्रापां पृष्ठमिति पादत्रयात्मकमन्त्रेण पद्मपत्रमास्तृणाति। पुष्करपत्रदेवत्या स्वराट्पङ्क्तिः। आद्यौ दशकावन्त्यावेकादशकाविति द्व्यक्षराधिका पङ्क्तिः स्वराट्पङ्क्तिः, 'द्वाभ्यां विराट्स्वराजौ' (३।६०) इति पिङ्गलोक्तेः। हे पुष्करपर्ण, त्वमपामुदकानां पृष्ठमसि, पृष्ठवदुपरि भागे वर्तमानमसि। तथाग्नेर्योनिरसि, अग्निहेतोर्मृदः कारणमसि। समुद्रमभितः पिन्वमानं प्रीतिकरम्, 'पिवि सेचने' इत्यस्य व्यत्ययेन शानचि रूपम्, धातूनामनेकार्थत्वेन प्रीतिकरमित्यर्थः। यद्वा पिन्वमानमिति समुद्रविशेषणम्। पिन्वमानं सिञ्चन्तं समुद्रमुदकमभितो वर्धमानं सद् महत् प्रभूतं भवेति शेषः। यद्वा समुद्रसमानस्य तटाकजलस्य अभितः प्रीतिकरमसि। यद्वा समुद्रं समुन्दनशीलमुदकमभितो वर्धमानं भवसि। पुष्करे वर्धमानो जात एव आसर्वतो महान्। आस्तरणाद् महत्त्वम्। अत एव 'आ' 'महान्' इति पदद्वयस्य महीयस्वेति व्याख्यानम्। किञ्च, 'वर्धमानो' 'महान्' इति व्यत्ययेन पुल्लिङ्गत्वम्, वर्धमानं महद् इति। पुष्करे उदके आसमन्तात् सीद। यद्वा पुष्करे आसमन्ताद् महत् सद् वर्धमानं वृद्धियुक्तं त्वमसि। 'विमार्ष्टयेनद्दिव इति' (का० श्रौ० १६।२।२७)। एतत् पुष्करपर्णं विमार्जनेन विमलं कुर्यात्। हे पुष्करपर्ण, त्वं दिवो द्युलोकस्य मात्रया परिमाणेन वरिम्णा उरुत्वेन प्रथस्व विस्तृतं भव। उरोर्भावो वरिमा तेन, 'प्रियस्थिर-

स्फिरोरुबहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां प्रस्थस्फवर्बंहिगर्वर्षित्रब्द्राघिवृन्दाः' (पा० सू० ६।४।१५७) इति इमनिचि उरोर्वरादेशः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनं कृष्णाजिने सम्भरति । यज्ञो वै कृष्णाजिनं यज्ञ एवैनमेतत्सम्भरति लोमतश्छन्दा१७ सि वै लोमानि छन्दः स्वेवैनमेतत्सम्भरति तत्तूष्णीमुपस्तृणाति यज्ञो वै कृष्णाजिनं प्रजापतिर्वै यज्ञोऽनिरुक्तो वै प्रजापतिरुत्तरतस्तस्योपरि बन्धुः प्राचीनग्रीवे तद्धि देवत्रा' (श० ६।४।१।६) । उत्तरतो देशे कृष्णाजिनं प्राग्ग्रीवमुत्तरलोम तूष्णीमास्तीर्य तस्मिन कृष्णाजिने 'अपां पृष्ठम्' इति मन्त्रेण पुष्करपर्णमास्तृणाति । एतत् पुष्करपर्णं दिवोमात्रयेति चतुर्थपादेन विमार्ष्टि । ततः कृष्णाजिनपुष्करपर्णे 'अपां पृष्ठम्' (वा० सं० ११ २९) इति, 'शर्म च स्थो वर्म च स्थः' (वा० सं० ११।३०) इति च द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां नालभेत । तदाह—कात्यायनः—'कृष्णाजिनमास्तीर्योत्तरतस्तस्मिन् पुष्करपर्णमपां पृष्ठमिति । विमार्ष्ट्येतद्दिव इति । आलभत उभे शर्म च स्थ 'इति' (का० श्रौ० १६।२।२५-२८) । तदिदं ब्राह्मणशेषेण विधीयते—अथैनं कृष्णाजिनमिति । यद्यपि कृष्णाजिनस्योपरि पुष्करपर्णे मृत्पिण्डसम्भरणम्, तथापि कृष्णाजिनसम्बन्धोऽप्यस्यास्तीति मत्वा तस्मिन् सम्भरणोक्तिः । लोमतः लोमवत्प्रदेशे । कृष्णाजिनास्तरणममन्त्रकमित्याह—तत् तूष्णीमिति । तदुपपादयति—यज्ञ इति । यज्ञस्य कृष्णाजिनत्वम् 'कृष्णो रूपं कृत्वोदक्रामत्' (श० १।१।४।१) इत्याम्नातम् । यज्ञस्य प्रजापतित्वं प्रजापतिदेवत्यत्वात् । प्रजापतिर्हि सकलस्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चात्मत्वेनायमीदृगिति निर्वक्तुमनर्हत्वाद् अनिरुक्तः । तद्रूपस्य कृष्णाजिनस्याप्यास्तरणमनिरुक्तममन्त्रकमित्यर्थः । ग्रीवाप्रदेशो यथा प्राचीनः स्यात्तथास्तरणीयमित्यर्थः । 'अथैनं पुष्करपर्णे सम्भरति । योनिर्वै पुष्करपर्णं योनौ तद्रेतः सिञ्चति यद्वै योनौ रेतः सिच्यते तत् प्रजनिष्णु भवति तन्मन्त्रेणोपस्तृणाति वाग्वै मन्त्रो वाक् पुष्करपर्णम्' (श० ६।४।१।७) । कृष्णाजिनस्योपरि विधातव्ये पुष्करपर्णे मृत्पिण्डसम्भरणं दर्शयति—अथैनमिति । यतोऽग्निः पुष्करपर्णाज्जातः, तस्मात् तद् योनिरूपम्, अग्निश्च रेतोरूप इदानीमुत्पद्यमानत्वात् प्रजनिष्णु प्रजननशीलम् । वाक् पुष्करपर्णम् । अग्निवाचोरन्यत्र तादात्म्यश्रवणात्, 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (तै० आ० २।४।२) इति श्रुतेः । पुष्करपर्णादग्नेर्जननात् कार्यकारणयोरभेदोपचारेण वागेव पुष्करपर्णमित्युक्तम् । 'अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेरिति । अपा१७ ह्येतत्पृष्ठं योनिर्ह्येतदग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानमिति समुद्रो ह्येतदभितः पिन्वते वर्धमानो महाँ२ ॥ आ च पुष्कर इति वर्धमानो महीयस्व पुष्कर इत्येतद्दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्वेत्यनुविमार्ष्ट्यसौ वा आदित्य एषोऽग्निर्नो हैतमन्यो दिवो वरिमा यन्तुमर्हति द्यौर्भूत्वैनं यच्छेत्येवैतदाह' (श० ६।४।१।८) । तदास्तरणे मन्त्रं विधत्ते—अपां पृष्ठमिति । 'आ' 'महान्' इति पदयोर्व्याख्यानं महीयस्वेति । यत एषोऽग्निरादित्यः, अतो लोकत्रयमस्य वरिमा उरुत्वम् । स तमादित्यात्मकमग्निं यन्तुं परिच्छेत्तुं नार्हति । अतो द्यौः द्युलोकात्मकं भूत्वा एवं मृत्पिण्डं यच्छ परिच्छिन्नं कुर्वीति पुष्करपर्णप्रार्थना । 'तदुत्तरं कृष्णाजिनादुपस्तृणाति । यज्ञो वै कृष्णाजिनमियं वै यज्ञोऽस्या१७ हि यज्ञस्तायते द्यौः पुष्करपर्णमापो वै द्यौरापः पुष्करपर्णमुत्तरो वा असावस्यै' (श० ६।४।१।९) । तत् पुष्करपर्णं भूद्युलोकात्मना प्रशंसति—यज्ञो वा इति । कृष्णाजिनपुष्करपर्णयोर्भूद्युलोकात्मकत्वेन यथा उत्तराधरभावः, एवं लोकयोरुत्तराधरभावो दृश्यत इत्याह—उत्तरो वा असावस्या इति । असौ द्यौः, अस्यै भूम्या इति ।

अध्यात्मपक्षे—हे ब्रह्मन् परमात्मन्, त्वमपां पृष्ठमसि, ततोऽप्युपरि अवस्थानात् । अग्नेर्योनिः कारणमसि । पिन्वमानं सिञ्चन्तं समुद्रं समुद्रतुल्यरश्मिव्याप्तम् अन्तरिक्षमाकाशमभितः सर्वतो वर्धमानो महान् व्यापकोऽसि, अपामग्नेराकाशस्य चाधिष्ठानत्वेन सर्वतोऽप्यधिकत्वात् । पुष्करे ब्रह्मपुरे दहराकाशगते पुण्डरीके आसीद आसीदसि तिष्ठसीति लकारव्यत्ययः । बुद्धिसाक्षितया दिवो द्युलोकस्य मात्रया परिमाणेन वरिम्णा उरुत्वे

प्रथस्व विवेकसहकारतया ब्रह्माकारया वृत्त्या अशेषोपाधिबाधसाक्षितया प्रत्यक्चैतन्याभिन्नब्रह्मात्मना अभिव्यक्तो भवेत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'सर्वतो व्याप्तस्य विद्युद्रूपस्य योनिः संयोगविभागविद् महान् पूज्यो वर्धमानो यो विद्यया क्रियाकौशलेन नित्यं वर्धते स त्वमसि। तस्मादभितः सर्वतः पिन्वमानं सिञ्चन्तम् अपां जलानां पृष्ठमाधारः पुष्करे अन्तरिक्षे वर्तमानायाः, पुष्करमित्यन्तरिक्षनामसु, दिवो दीप्तेर्मात्रया विभागेन वर्धमानं समुद्रं सम्यगूर्ध्वं द्रवन्त्यापो यस्मात् सागरात् तं तत्स्थानात् पदार्थांश्च विदित्वा वरिम्णा प्रथस्व विस्तृतसुखो भव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असङ्गतेः। योनिशब्दस्य संयोगविभागविद् इति कथमर्थः? यत्तु 'संयोगविभागयोः कर्ता, कर्तरि निःप्रत्ययः' इति, तदपि तुच्छम्, प्रमाणानुपन्यासात्। किञ्च, समुद्रतत्स्थपदार्थज्ञानप्रसङ्गे विद्युतः संयोगविभागज्ञस्य कः प्रसङ्गः? पृष्ठशब्दस्य आधार इत्यर्थः, समुद्रशब्दस्यैव अपामूर्ध्वद्रवणमित्यर्थेनान्तरिक्षे जलवर्षणं सिद्धमिति कृतमन्तरिक्षेऽभितः पिन्वमानत्वेनेति। वस्तुतस्तु दयानन्दीयभाष्यरीत्या वेदो न धर्मग्रन्थः, किन्तु अर्थशास्त्रम्, तद्रीत्या कलाकौशलस्य विविधव्यवहाराणामेव तत्र विद्यमानत्वात्। कलाकौशलवर्णनमपि नाममात्रमेव, तदाधारेण किञ्चिदपि कर्तुमशक्यत्वात्। वायुयानजलयानविद्युद्भूगर्भसामुद्रविज्ञाननामभिरेव दयानन्दो विज्ञानवर्णनं मनुते। तद्विधानस्य वर्णनं तु शून्यप्रायम्॥ २९॥

शर्म॑ च॒ स्थो वर्म॑ च॒ स्थोऽच्छिद्रे ब॒हु॒ले उ॒भे।
व्यच॑स्वती॒ संव॑साथां भृ॒तम॒ग्निं पु॑री॒ष्य॒म्॥ ३०॥

मन्त्रार्थ—हे कृष्णाजिन, हे पुष्करपर्ण, छिद्रशून्य बहुत विस्तार और अवकाश वाले तुम दोनों अग्नि के लिये सुखकारी बनो, कवच के समान अग्नि की रक्षा करो। पुरीष्य अग्नि को आच्छादित कर लो और उसे धारण करो॥ ३०॥

संव॑साथाᳬं स्व॒र्विदा॑ स॒मीची॒ उर॑सा॒ त्मना॑।
अ॒ग्निम॒न्तर्भ॑रि॒ष्यन्ती॒ ज्योति॑ष्मन्त॒मज॑स्र॒मित्॥ ३१॥

मन्त्रार्थ—हे कृष्णाजिन, हे पुष्करपर्ण हमें स्वर्ग लाभ का साधन एकत्रित मिले। निरन्तर तेजस्वान् अग्नि को भीतर उदर में धारण करते हुए हृदय रूप अपने शरीर से अग्नि को चिरकाल धारण कर आच्छादित रखो॥ ३१॥

सध्रीच्यौ कण्डिके इति कृत्वा अपरापि कण्डिका सहैव व्याख्यायते—

'आलभत उभे शर्म च स्थ इति' (का० श्रौ० १६।२।२८)। 'शर्म च स्थः' (वा० सं० ११।३०) 'संवसाथाम्' (वा० सं० ११।३१) इति मन्त्रद्वयेन कृष्णाजिनपुष्करपर्णे सहैव स्पृशेद् इति सूत्रार्थः। कृष्णाजिनपुष्करपर्णदेवत्ये द्वे अनुष्टुभौ। हे कृष्णाजिनपुष्करपर्णे, उभे युवां शं च स्थः, अग्नेः सुखकारिणी अपि भवथः, तथा वर्म च स्थः कवचवद्रक्षके अपि भवथः। चौ समुच्चयार्थौ। कीदृशे ते? अच्छिद्रे छिद्ररहिते साकल्योपेते विघ्नशून्ये वा। बहुले विस्तीर्णे। व्यचस्वती आच्छादनप्रकारवती पुटिकादिसदृशे तथाविधे युवां संवसाथां सम्यक् छिद्रमाच्छादयतम्। ततः पुरीष्यमग्निं भृतं धारयतम्। किञ्च, युवां त्मना आत्मना स्वमेव परनिरपेक्षे सति उरसा उरःसदृशेन भवदीयस्वरूपेण संवसाथाम्। कीदृशे युवाम्, स्वर्विदा स्वर्गविदौ

स्वर्गलाभसाधने ज्ञानवती समीची मृद्दृन्धनायानुकूले सम्यगञ्चने सङ्गते एकचित्ते इत्यर्थः। अजस्रमित् निरन्तरमेव ज्योतिष्मन्तमग्निम् अन्तः स्वोदरे भरिष्यन्ती धारयिष्यन्ती। यद्वा युवयोरुपरि निधीयमानस्य मृत्पिण्डस्य युवां शर्म शरणं गृहमाश्रयरूपं रक्षितृरूपं वा स्थः भवथः। 'शरणं गृहरक्षित्रोः' (अ० को० ३।३।५३)। वर्म संहननं कवचं भवथः। अच्छिद्रे सकले बहुले महाप्राणे च भवथः। अतो व्यचस्वती अवकाशवन्त्यौ भूत्वा पुरीष्यं पशव्यमग्निं संवसाथाम् आच्छादयतम् आच्छाद्य च भृतं विभृतम्। हे कृष्णाजिनपुष्करपर्णे एनमग्निं पिण्डरूपं आच्छादयतम्। स्वर्विदा यज्ञसूर्यदेवाह्वर्चनः स्वःशब्दः। स्वर्वेत्तीति स्वर्वित्, तेन स्वर्विदा रूपेण वाच्छादयतम्। यद्वा द्विवचनस्य स्थाने आकारः स्वर्विदौ। यद्वा स्वर्गविदौ भूत्वा समीची समाने सङ्गते एकचित्ते भूत्वा। यद्वा किमर्थं स्वर्विदा स्वर्गलाभाद्धेतोः, उरसा हृदयेन आत्मना स्वरूपेणावयवसंस्थानेन अग्निपिण्डमन्तर्मध्यतो भरिष्यन्ती धारयमाणे भवतम्। ज्योतिष्मन्तं तेजस्विनम् अजस्रमनुपक्षीणं कुरुतमिति शेषः। इदिति पादपूरणः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैने अभिमृशति। संज्ञामेवाभ्यामेतत्करोति शर्म च स्थो वर्म च स्थ इति शर्म च ह्यस्यैते वर्म चाच्छिद्रे बहुले उभे उभे इत्यच्छिद्रे ह्येते बहुले उभे व्यचस्वती संवसाथामित्यवकाशवती संवसाथामित्येतद्भृतमग्निं पुरीष्यमिति विभृतमग्निं पुरीष्यमिति विभृतमग्निं पशव्यमित्येतत्' (श० ६।४।१।१०)। 'संवसाथाᳩ स्वर्विदा। समीची उरसात्मनेति संवसाथामेनᳩ स्वर्विदा समीची उरसा चात्मना चेत्येतदग्निमन्तर्भरिष्यन्ती ज्योतिष्मन्तमजस्रमिदित्यसौ वा आदित्य एषोऽग्निः स एष ज्योतिष्मानजस्रस्तमेते अन्तरा विभृतस्तस्मादाह ज्योतिष्मन्तमजस्रमिदिति' (श० ६।४।१।११)। कृष्णाजिनपुष्करपर्णयोर्युगपदभिमर्शनं विधत्ते—अथैने अभिमृशतीति। एतद् एतेन अभिमर्शनेन संज्ञामेव कृतवान् भवति। मन्त्रद्वयं विधत्ते—शर्म च स्थ इति। द्वितीयमन्त्रस्योत्तरार्धं व्याचष्टे—असौ वा आदित्य इति। एते द्यावापृथिव्यौ। 'द्वाभ्यामभिमृशति। द्विपाद्यजमानो यजमानोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवाभ्यामेतत्संज्ञां करोत्यथो द्वयᳩ ह्येवैतद्रूपं कृष्णाजिनं च पुष्करपर्णं च' (६।४।१।१२)। मन्त्रगतां द्वित्वसंख्यां यजमानाग्निरूपेण प्रशंसति—द्वाभ्यामिति।

अध्यात्मपक्षे त्रिंशमन्त्रव्याख्यानम्—हे सीतारामौ, युवां भक्तानां शर्म शरणं वर्म कवचं च स्थः भवथः। उभे उभौ अच्छिद्रे अच्छिद्रौ दोषरहितौ बहुले बहुलौ सर्वार्थप्रापकौ व्यचस्वती अवकाशवन्तौ महान्तौ संवसाथाम् आच्छादयतं पुरीष्यं जीवहितकरमग्निम् अग्नेः परमेश्वरस्यांशं पालयतमित्यर्थे लिङ्गव्यत्ययः। आच्छाद्य च भृतं विभृतं धारयतम्। बिभर्तेर्बहुलं छन्दसि शपो लुक्। तथैकत्रिंशमन्त्रव्याख्यानम्—हे सीतारामौ, युवां तादृशमग्निं स्वांशभूतजीवसमूहं संवसाथां कृपादृष्टिवृष्ट्याच्छादयतम्। कीदृशौ युवाम्? स्वर्विदा स्वर्विदौ पारमार्थिकसुखप्रापयितारौ। अन्तर्भावितणिज् द्रष्टव्यः। समीची सम्यग्ज्ञातारौ सर्वज्ञौ तं ज्योतिष्मन्तं ज्ञानशक्तिमन्त्रमग्निमजस्रं उरसा अन्तःकरेण त्मना आत्मना च निरन्तरमन्तः स्वान्तरेव भरिष्यन्ती धारयमाणौ भवेतम्। लिङ्गव्यत्ययः। अजस्रमनुपक्षीणं च कुरुतमिति शेषः, युवाभ्यामुपेक्षितस्योपक्षयदर्शनात्।

दयानन्दस्तु त्रिंशे मन्त्रे—'हे स्त्रीपुरुषौ, युवां शर्म गृहं च तत्सामग्रीं च प्राप्तौ स्थः भवथः। वर्म सर्वतो रक्षणं च तत्सहापानम् उभे द्वे धर्मार्थकार्ये बहुले बहूनर्थान् लान्ति याभ्यां ते। व्यचस्वती सुखव्याप्तियुक्ते अच्छिद्रे अदोषे विद्युदन्तरिक्षे इव स्थः। तत्र गृहे भृतं धृतं पुरीष्यं पालनेषु साधुमग्निं गृहीत्वा संवसाथां सम्यग् आच्छादयतम्' इति, तदपि तुच्छम्, तयोः सम्बोधने मानाभावात्। सिद्धान्ते तु श्रुतिसूत्रानुसारि सम्बोधनम्। अध्यात्मपक्षेऽपि 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठोप० १।२।१५) इति श्रुतिरेव परमात्मनः सम्बोधने मानम्, सर्वत्र वेदे तस्यैव प्रतिपिपादयिषितत्वात्। प्राप्त्यै विद्युदन्तरिक्षे इवेति निर्मूलमेव। गृहनिर्माणादिकं च रागप्राप्तमेवेति कृतं तद्विधानेनेति। एकत्रिंशकण्डिकायां तद्व्याख्यानं यथा—'हे स्त्रीपुरुषौ, युवां यदि समीची

यौ सम्यगञ्चन्तो विजानीतस्तौ भरिष्यन्ती सर्वान् पालयन्तौ स्वविदा यौ सुखं विन्दतस्तौ सन्तौ ज्योतिष्मन्तं प्रशस्तज्योतिर्युक्तम् अन्तः सर्वेषां मध्ये वर्तमानम् उरसा अन्तःकरणेन त्मना आत्मना इत् एव अजस्रं निरन्तरं संवसाथाम् आच्छादयतम् तर्हि श्रियमश्नुवाथाम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलाध्याहारबाहुल्यात् । न च पदार्थेष्वन्तर्भूतोऽग्निर्ज्योतिष्मान् भवति, तथात्वेऽन्धकारेऽपि प्रकाशापत्तेः । न च तस्य जडमात्रस्याग्नेरन्तःकरणेनात्मना वा ग्रहणं युक्तम्, न वा तद्विदां श्रियः प्राप्तिः सम्भवति, प्रत्यक्षविरोधात् । दरिद्रा अपि मार्गेषु विद्यमानां विद्युतं पश्यन्ति न च श्रियमुपलभन्ते ॥ ३१ ॥

पुरीष्योऽसि विश्वभरा अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने । त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत । मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्ने, तुम पशुओं के हितकारी और समस्त चराचर के पालन करने वाले हो । सबसे पहले प्राण ने तुमको प्रकाशित किया था । हे अग्ने, प्राण ने जल में से मथन कर तुमको निकाला, सम्पूर्ण संसार के ऋत्विजों ने आदर से तुमको मथित किया ॥ ३२ ॥

'पिण्डं पुरीष्योऽसीति' (का० श्रौ० १६।२।२९)। पुरीष्योऽसीति मन्त्रेण मृत्पिण्डं स्पृशेत् । प्रतिष्ठा गायत्री, 'विपरीता प्रतिष्ठा' (३।१५) इति पिङ्गलोक्तेः । अस्यार्थः— यत्र प्रथमः पादोऽष्टाक्षरः द्वितीयः सप्ताक्षरः, तृतीयश्च षडक्षरः सा प्रतिष्ठा गायत्रीति । अग्निदेवत्या । अथ मन्त्रार्थः—हे मृत्पिण्ड, त्वं पुरीष्योऽसि पुरीषस्य पुरीषबहुलस्य पांसोर्योग्योऽसि । पशव्यो वासि । अत एव विश्वभरा विश्वं कृत्स्नमुखारूपं बिभर्तीति, विश्वं जगद्वा बिभर्ति धारयति पुष्णातीति विश्वभराः, 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।१८९) इत्यौणादिकोऽसुन्प्रत्ययः, सर्वधारकस्याचीयमानस्याग्नेर्विराड्रूपत्वात् । हे अग्ने, अथर्वाख्य ऋषिः प्राणो वा प्रथम इतरेभ्यः पूर्वभावी सन् त्वां निरमन्थद् निःशेषेण मथितवान् । अत्राथर्वणः प्रथमनिर्मथनं नाम प्रथमदर्शनम् । अयमभिप्रायस्तित्तिरिणोक्तः । तथाहि—'अग्निर्देवेभ्यो निलायत तमथर्वा न्वपश्यदथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्न इत्याह य एवैनमन्वपश्यत् तेनैवैनꣳ सम्भरति' (तै० सं० ५।१।४।१०) इति । 'पाणिभ्यां परिगृह्णात्येनं दक्षिणोत्तराभ्यां दक्षिणः साभ्रिस्त्वामग्न इति षड्भिः सर्वꣳ सकृद्धृत्वा पुष्करपर्णे निदधाति' (का० श्रौ० १६।२।२९)। दक्षिणोत्तराभ्यां हस्ताभ्यामेनं मृत्पिण्डं गृह्णीयादध्वर्युः । तत्र दक्षिणभागे अभ्रिसहितेन दक्षिणहस्तेन पिण्डस्य ग्रहणम्, उत्तरभागे च केवलेन सव्यहस्तेन पिण्डं गृह्णीयात् । एवं मृत्पिण्डं सर्वमपि सकृदेव प्रयत्नेन धृत्वा त्वामग्न इति षड्भिर्मन्त्रैः कृष्णाजिनोपर्यास्तृते पद्मपत्रे निदध्यात्—इति सूत्रार्थः । अग्निदेवत्यास्तिस्रो गायत्र्यो भरद्वाजदृष्टाः । हे अग्ने, अथर्वाख्य ऋषिः पुष्करादधि पद्मपत्रस्योपरि त्वां निरमन्थद् निःशेषेण मथितवान् । यद्वा पुष्करादुदकात् सकाशात्त्वां निरमन्थत, 'आपो वै पुष्करं प्राणोऽथर्वा' (श० ६।४।२।२) इति श्रुतेः, 'पुष्करपर्णे ह्येनमुपाश्रितमविन्दन्' इति तित्तिरिश्रुतेश्च । कीदृशात् पुष्करात् ? मूर्ध्नः उत्तमाङ्गवत् प्रशस्तात्, विश्वस्य सर्वस्य जगतो वाघतः वाहकात् । पुष्करपर्णेऽग्निमथनेन यज्ञनिष्पादनद्वारेण सर्वं जगन्निर्वहति । यद्वा अथर्वा अरणवान् प्राणः प्रथमः पूर्वस्त्वां निरमन्थत । वाघत इति ऋत्विङ्नामसु पठितम् । विश्वस्य सर्वस्य जगतः सम्बन्धिनो वाघत ऋत्विजस्त्वां मूर्ध्नोऽर्थादरणेः शिरसो निरमन्थतेति व्यत्ययः । यद्वा विश्वस्येति षष्ठ्येकवचनं प्रथमाबहुवचनार्थे । विश्वे सर्वे वाघत ऋत्विजो मूर्ध्नोऽरणेः शिरसो निरमन्थतेति । यद्वा अथर्वा अरणवान् प्राणः पुष्कराद् उदकात् । अधिशब्दः पञ्चम्यर्थानुवादी । मूर्ध्नः मूर्धानं कर्मणि षष्ठी । विश्वस्य मूर्धानं त्वां वाघत ऋत्विजो निरमन्थतेत्यर्थः ।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनं परिगृह्णाति । अभ्रया च दक्षिणतो हस्तेन च हस्तेनैवोत्तरतस्त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थतेत्यापो वै पुष्करं प्राणोऽथर्वा प्राणो वा एतमग्रेऽद्भ्यो निरमन्थन्मूर्ध्नो विश्वस्य वाघत इत्यस्य सर्वस्य मूर्ध्न इत्येतत्' (श० ६।४।२।२)। सूत्रसहकृतमन्त्रव्याख्यानेनोक्तार्थं ब्राह्मणम्। 'प्राणो वा अथर्वा' इत्यर्थवादादस्य सिद्धवदर्थकथनम्। तद्योऽसावग्निः पूर्वः सृष्टः, तमेतं पुरीष्योऽसीत्यनेनोक्तवान् भवति। पुष्करार्थर्वपदयोरर्थमाह—आपो वै पुष्करं प्राणोऽथर्वेति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने पशुपते सदाशिव, त्वं पुरीष्यः पुरीषेभ्यः पशुभ्यो जीवेभ्यो हितो हितभूतः पुरीष्यः पशव्योऽसि। विश्वभराः सर्वस्य धारकः पोषकः, अथर्वा ऋषिः प्राणतुल्यो वा सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदभूतो ज्ञानी प्रथमो मुख्य इतरेभ्यो वा पूर्वभावी त्वा त्वां निरमन्थत् निःशेषेण मथितवान् ध्याननिर्मन्थनाभ्यासादधिगतवान् त्वां प्राप्तवान्। हे अग्ने, त्वां पुष्कराद् हृत्पुण्डरीकाद् अथर्वा अहिंसको निर्वैरो यतिर्निरमन्थत। निर्मन्थनाभ्यासात् त्वामुपलब्धवान्। कीदृशः अथर्वा? वाघतो मेधावी विश्वस्य मूर्ध्नः मूर्धेव यः सः। यद्वा कीदृशात् पुष्करात्? विश्वस्य मूर्ध्नः, तद्वत् प्रशस्तात्, वाघतः वाहकात् परमेश्वरस्य वाहकाद् धारकात्। तत्रैव तस्योपलभ्यमानत्वेन तद्वाहकत्वं युक्तमेव॥ ३२॥

तमु॑ त्वा द॒ध्यङ्ङृषि॑: पु॒त्र ई॑धे॒ अथ॑र्वणः। वृ॒त्र॒हणं॑ पुरन्द॒रम्॥ ३३॥

मन्त्रार्थ—अथर्व के पुत्र दध्यङ् नामक ऋषि ने उस पापनाशक रुद्र रूप से पुर सम्बन्धी तीन आवरणों को भेद कर तुमको प्रज्ज्वलित किया था॥ ३३॥

तमु तमेव त्वा त्वां दध्यङ्नामा ऋषिर्मन्त्राणां द्रष्टा अथर्वणः पूर्वोक्तस्य पुत्र ईधे आदीपयति। 'त्रिइन्धी दीप्तौ'। कथंभूतं त्वाम्? वृत्रहणं वृत्रस्यावरकस्य पाप्मनो हन्तारं पुरन्दरम् असुरपुरां दारयितारम्। अथर्वणः पुत्रो दध्यङ्ङिति मन्त्रोक्ति 'दध्यङ्ङाथर्वणः' (श० ६।४।२।३) इति श्रुतिरपि समर्थयते। रुद्ररूपेण वा तिसृणां पुरां दारयितारम्। तत्र ब्राह्मणम्—'तमु त्वा दध्यङ्ङृषिः। पुत्र ईधे अथर्वण इति वाग्वै दध्यङ्ङाथर्वणः स एनं तत ऐन्ध वृत्रहणं पुरन्दरमिति पाप्मा वै वृत्रः पाप्महनं पुरन्दरमित्येतत्' (श० ६।४।२।३)। प्राणोऽथर्वा। तत्पुत्रस्थानीयो वागात्मकः प्राणः, तस्य तदधीनत्वात्। शेषं स्पष्टम्।

अध्यात्मपक्षे—तमेव पशुपतिं परमेश्वरं त्वाम् अथर्वणः प्रसिद्धस्य ब्रह्मपुत्रस्य पुत्रो दध्यङ्ङाथर्वणः प्रख्यातप्रभावः, बृहदारण्यके योऽश्विभ्यां ब्रह्मविद्यामुपदिष्टवान् कस्यचिदहिंसकस्य चतुर्थाश्रमिणः पुत्रः शिष्यो दध्यङ्नामा ऋषिर्वा प्रथमो मुख्यो निरमन्थत्। वेदवेदान्तान् मथित्वा ततः सारभूतं त्वामधिगतवान् समष्टिव्यष्टिपञ्चकोशात्मकं जगदेव वा मथित्वा ततः पञ्चकोशातीतं मुञ्जादिषीकामिव त्वामधिगतवान्। कीदृशं त्वाम्? वृत्रहणं पापनाशकम्, असुरसम्बन्धिनां पुरत्रयाणां वा दारकम्।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, यथा अथर्वणोऽहिंसकस्य विदुषो दध्यङ्ङृषिर्यो दधीन् सुखधारकानग्न्यादिपदार्थान् अञ्चति स ऋषिर्वेदार्थवित् पुत्रः पवित्रः शिष्यः सकलविद्याविद् वृत्रहणं यथा सूर्य्यो वृत्रं हन्ति तथा शत्रुहन्तारं पुरन्दरं यः शत्रूणां पुराणि दृणाति तमीधे प्रदीपयेत् तथा तं त्वा त्वां सर्वे विद्वांसो विद्याविनयाभ्यां वर्धयन्तु' इति, तदपि तुच्छमेव, धर्मब्रह्मपरस्य वेदस्य राजप्रतिपादनायोगात्। 'अहिंसकस्य विदुषो वेदार्थवित् पवित्रः शिष्यो यथा त्वां दीपयेत् तथा सर्वे विद्वांसो वर्धयन्तु' इति केन किं श्लिष्यते? दृष्टान्ते प्रकाशनमुक्त्वा दार्ष्टान्ते वर्धनकथनस्य को वाभिप्रायः? वेदार्थविद् ऋषिः प्रकाशयतीत्येतावतैव तन्महत्त्वसिद्ध्या पितृपुत्रादिवर्णनस्य किं स्वारस्यमित्यनुक्तेः॥ ३३॥

तमु त्वा पाथ्यो वृषा समीधे दस्युहन्तमम् । धनञ्जयꣳ रणेरणे ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—सन्मार्ग में वर्तमान मन को तृप्त करने वाले हे अग्ने, शत्रुओं का नाश करने वाले उन-उन संग्रामों में धन को जीतने वाले तुमको मैं प्रज्ज्वलित करता हूँ ॥ ३४ ॥

तमु तमेव त्वा त्वां पाथ्यः पथि सन्मार्गे वर्तमानो वृषा शास्त्राचार्योपदेशसंस्कृतं मन ईधे दीपयति प्रकाशयति 'मनो वै पाथ्यो वृषा' (श० ६।४।२।४) इति श्रुतेः, 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' (बृ० उ० ४।४।१९) इति श्रुतेश्च। ननु 'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्' (केनोप० १।५), 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते' (केनोप० १।४), 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै० उ० २।४।१) इत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मणो मनोवाचामगोचरत्वमेवोक्तमिति चेन्न, फलव्याप्त्यविषयत्वेऽपि वृत्तिव्याप्यत्वे स्वप्रकाशत्वाव्याघातेनादोषात्। यद्वा पाथसि अन्तरिक्षे हृदयाकाशे भवः पाथ्यः। 'पाथोनदीभ्यां ड्यण्' (पा० सू० ४।४।१११) इति पाथस्शब्दाद् ड्यणि पाथ्य इति रूपसिद्धिः। यद्वा पाथ्यनामा कश्चिदृषिः। वृषा सेक्ता मनः, त्वां समीधे प्रकाशयति। मनसैवाभिलष्य स्त्रियाꣳ रेतः सिञ्चति। कीदृशं त्वाम्? दस्युहन्तमम्, दस्यून् हन्ति दस्युहा, सोऽतिशयिता दस्युहन्तमः, तम् 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (पा० सू० ८।२।७) इति नलोपेन दस्युहतम इति प्राप्ते 'नाद्धस्य' (पा० सू० ८।२।१७) इति तमपो नुडागमः। अतिशयेन शत्रूणां हन्तारं रणे रणे प्रतिसङ्ग्रामं धनस्य जेतारम्। अत्र ब्राह्मणम्—'तमु त्वा पाथ्यो वृषा। समीधे दस्युहन्तममिति मनो वै पाथ्यो वृषा स एनं तत ऐन्ध धनञ्जयꣳ रणे रण इति यथैव यजुस्तथा बन्धुः' (श० ६।४।२।४)।

अध्यात्मपक्षे—तमु तमेव त्वां शिवं पशुपतिं पाथ्यो वृषा मनोदेवः समीधे सम्यक् प्रकाशयति अज्ञानावरणापाकरणेन स्वप्रकाशत्वेन बोधयति। कीदृशं त्वाम्? दस्युहन्तमम् अतिशयेन दस्यूनां बाह्यानां राक्षसादीनामान्तराणां कामादीनां हन्तारं रणे रणे प्रतियुद्धं प्रतिसङ्घर्षं धनस्य बाह्यस्य रत्नादेरान्तरस्य ज्ञानवैराग्यादेश्च जेतारं प्रापयितारम्, धातूनामनेकार्थत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे वीर, यस्त्वं पाथ्यः पाथस्सु जलान्नादिपदार्थेषु साधुः, वृषा वीर्यवान् रणे रणे युद्धे युद्धे विद्वान् शौर्यादिगुणयुक्तोऽसि, तं धनञ्जयं यः शत्रुभ्यो धनं जयति तं दस्युहन्तमम् अतिशयेन दस्यूनां हन्तारं तं त्वा वीरसेनया समीधे राजधर्मशिक्षया प्रदीप्यताम्' इति, तदपि न किञ्चित्, वीरस्य वीरसेनया समिन्धनस्य युक्तिशून्यत्वात्, मूले तादृशपदाभावाच्च ॥ ३४ ॥

सीदं होतः स्व उ लोके चिकित्वान् सादया यज्ञꣳ सुकृतस्य योनौ।
देवावीर्देवान् हविषा यजास्यग्ने बृहद्यजमाने वयो धाः ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—आह्वान कार्य में नियुक्त हे अग्ने, तुम चेतना से सम्पन्न हो, अपने अधिकार को जानते हो। तुम अपने स्थान कृष्णाजिन पर स्थापित हुए पुष्करपर्ण पर स्थिर हो जाओ। श्रेष्ठ कर्म के स्थान वाले यज्ञ को स्थापित कर हे अग्ने, देवताओं को प्रसन्न करने वाले तुम हवि द्वारा देवताओं का पूजन कर उन्हें तृप्त करते हो, इसलिये यजमान को बड़ी आयु दो, उसे यश से सम्पन्न करो ॥ ३५ ॥

आग्नेयी त्रिष्टुप्, देवश्रवोदेववाताभ्यां दृष्टा। हे होतः! होमनिष्पादक देवानामाह्वातर्वा मृद्रूपाग्ने, चिकित्वान् कर्मणामभिज्ञस्त्वं स्व उ। उ एवार्थे। स्वकीय एव लोके स्थाने कृष्णाजिनाख्ये उत्तरवेदिरूपे वा

त्वं सीद उपविश। यज्ञं च मे सुकृतस्य योनौ साधुकृतस्य पुण्यकर्मणः स्थाने कृष्णाजिने सादया सादय स्थापय। 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति संहितायां क्रियापदस्य दीर्घत्वम्। यज्ञे हि तन्यमाने अवघातः पेषणं सोमनिधानं च कृष्णाजिन एव भवतीत्यभिप्रायेणेदमुच्यते, 'कृष्णाजिनं वै सुकृतस्य योनिः' (श० ६।४।२।६) इति श्रुतेः। हे अग्ने, यतस्त्वं देवावीः देवानवति प्रीणाति रक्षतीति वा देवावीः, देवप्रियो देवरक्षको वाऽसि, तादृशश्च त्वं देवान् हविषा यजासि पूजयसि। अथवा देवान् सपर्यन् हविषा भावेन यजासि। यजेः पञ्चमे लकारे रूपम्। अतस्त्वं यजमाने बृहद् महद् वयो दीर्घमायुरन्नं वा धाः धेहि स्थापय।

अत्र ब्राह्मणम्—'गायत्रीभिः। प्राणो गायत्री प्राणमेवास्मिन्नेतद्दधाति तिसृभिस्त्रयो वै प्राणाः प्राण उदानो व्यानस्तानेवास्मिन्नेतद्दधाति तासां नव पदानि नव वै प्राणाः सप्त शीर्षन्नवाञ्चौ द्वौ तानेवास्मिन्नेतद्दधाति' (श० ६।४।२।५)। उक्तानां तिसृणामृचां गायत्रीछन्दस्त्वमनूद्य प्रशंसति—गायत्रीभिरिति। गायत्र्याः प्राणरूपत्वमुक्तम्। मन्त्रगतत्रित्वसंख्यां प्राणोदानव्यानात्मना प्रशंसति—तिसृभिस्त्रयो वै प्राणा इति। एकैकस्या गायत्र्या ऋचस्त्रयस्त्रयः पादाः। तासां नव पादान् सम्भूय नव प्राणात्मना प्रशंसति—तासां नव पदानीति। एतेन मन्त्रत्रयेण मृत्पिण्डस्य परिग्रहे तस्यां मृदि प्राणानेव संहितवान् भवतीत्यर्थः। 'अथैते त्रिष्टुभा उत्तरे भवतः। आत्मा वै त्रिष्टुबात्मानमेवास्यैताभ्याᳪं संस्करोति सीद होतः स्व उ लोके चिकित्वानित्यग्निर्वै होता तस्यैष स्वो लोको यत्कृष्णाजिनं चिकित्वानिति विद्वानित्येतत् सादया यज्ञᳪं सुकृतस्य योनाविति कृष्णाजिनं वै सुकृतस्य योनिर्देवावीर्देवान् हविषा यजासीति देवः सन् देवानवद् हविषा यजासीत्येतदग्ने बृहद्यजमाने वयोधा इति यजमानायाशिषमाशास्ते' (श० ६।४।२।६)। धारणमन्त्रेषु त्रिष्टुभावित्युक्तम्, तौ विधातुं तद्गतं छन्दः प्रशंसति—अथैतत्त्रिष्टुभा उत्तरे भवत इति। त्रिष्टुभ आत्मरूपत्वं प्रागुक्तम्। ताभ्यां मन्त्राभ्यां धारणेन मृत्पिण्डस्य स्वरूपमेव संस्कृतवान् भवति। मन्त्रव्याख्यानेन ब्राह्मणमुक्तार्थम्।

अध्यात्मपक्षे—हे होतः, यज्ञनिष्पादक भगवन्नग्ने, स्वकीय एव लोके लोकनीये कैलासे ब्रह्मलोके भक्तानां हृदय एव सीद उपविश। चिकित्वान् सर्वेषां कर्माणि जानन् यज्ञं प्रसिद्धं श्रौतं स्मार्तमग्निहोत्रं दर्शपूर्णमास-चातुर्मास्यज्योतिष्टोमाप्तोर्यामवाजपेयराजसूयाश्वमेधसत्रादिकम् उपासनादिलक्षणं च सुकृतस्य शुभकर्मणो योनौ फलदातरि प्रवर्तकेऽन्तर्यामिणं सादय स्थापय। देवावीः देवानां रक्षको रामकृष्णादिरूपेण देवानग्नीन्द्रादीन् हविषा यजासि पूजयसि। यजमाने देवान् देवाधिदेवं भगवन्तं यः सदा यजति तस्मिन् यजनशीले बृहद् महद् वयो धनमायुश्च धाः धेहीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने होतर्दातर्ग्रहीतः, त्वं स्वे स्वकीये सुखे लोके लोकनीये चिकित्वान् विज्ञानयुक्तः अवस्थितो भव। सुकृतस्य सुष्ठु कृतस्य धार्मिकस्य योनौ गृहे यज्ञं धर्म्यं राजप्रजाव्यवहारं सादय गमय। देवावीः देवै रक्षितः शिक्षितश्च देवान् विदुषो दिव्यगुणान् वा हविषा दानग्रहणयोग्येन न्यायेन यजासि याजयेः। यजमाने राजादौ जने बृहद् महद् वयो दीर्घं जीवनं धेहि' इति तदपि निरर्थकमेव, अर्थासङ्गतेः। यज्ञं राजप्रजाव्यवहारं हविषा दानग्रहणयोग्येन न्यायेन देवान् विदुषो दिव्यगुणान् वेत्यादयोऽर्था असङ्गता एव। नहि कथञ्चिद् धात्वर्थयोगेन घटशब्दश्चेष्टार्थको भवतीति तद्वत्। न वा राजप्रजाव्यवहारे यज्ञशब्दप्रयोगः शिष्टानाम्, नीतिधर्मादिशास्त्रेषु तथाप्रयोगादर्शनात्। नहि कश्चिन्मनुष्यो राजादौ दीर्घं जीवनं धारयितुं प्रार्थ्यते ॥ ३५ ॥

नि होता होतृषदने विदानस्त्वेषो दीदिवाँ२ असदत् सुदक्षः ।
अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः सहस्रम्भरः शुचिजिह्वो अग्निः ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं का आह्वान करने वाले, अपने अधिकार को जानने वाले, दीप्तिमान्, गमनशील, कुशल, सिद्धकर्मा, अति उत्कृष्ट बुद्धि वाले, पृथ्वी के हजारों निवासियों का पोषण करने वाले और अतिपवित्र जिह्वा वाले अग्निदेव होमनिष्पादक उत्तरवेदी रूप योग्य स्थान में भली प्रकार उपविष्ट हुए ॥ ३६ ॥

आग्नेयी त्रिष्टुप् गृत्समददृष्टा । अग्निः होतृषदने होता सीदति यस्मिंस्तद् होतृषदनं तस्मिन्, होमनिष्पादके योग्ये उत्तरवेदिरूपे न्यसदत् न्यसीदत् । व्यवहितस्यापि नीत्युपसर्गस्य असददिति क्रियया सम्बन्धः । निषण्ण इति यावत् । कीदृशोऽग्निः ? होता देवानामाह्वाता । विदानः स्वाधिकारं कर्तव्यं च जानानः । त्वेषो दीप्तिमान्, त्वेषतीति त्वेषः । 'त्विष दीप्तौ' इत्यस्मात् 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (पा० सू० ३।१।१३४) इति पचादित्वादचि त्वेष इति रूपम् । दीदिवान् देदीप्यमानः । 'दिवु क्रीडादौ' इत्यस्मात् क्वसौ 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।७) इत्यभ्यासदीर्घत्वे 'लोपो व्योर्वलि' (पा० सू० ६।१।६६) इति वकारलोपे रूपम् । होतृधिष्ण्यादौ गमनादिना क्रीडाशीलः । सुदक्षः साधु क्षिप्रकारी सुकुशलः । अदब्धव्रतप्रमतिः अदब्धमनुपहिंसितं व्रतं कर्म यस्यासा अदब्धव्रतः, प्रकृष्टा मतिर्यस्यासौ प्रमतिः, अदब्धव्रतश्चासौ प्रमतिश्चेति अदब्धव्रतप्रमतिः । वसिष्ठ वसति स्वमर्यादायामिति वस्ता, अतिशयेन वस्ता वसिष्ठः वस्तृतमः । 'तुरिष्ठेमेयःसु' (पा० सू० ६।४।१५४) इतीष्ठनि परे तृचो लोपः । सहस्रम्भरः सहस्रं सर्वजनं बिभर्तीति सहस्रम्भरः । शुचिजिह्वः शुचिः शुद्धा हवनयोग्या जिह्वा ज्वाला यस्य स शुचिजिह्वः । योऽयं नानादेवत्यानि हवींष्यभ्यवहरन्नप्युच्छिष्टं न करोति सः । यद्वा होतृषदने कृष्णाजिने निषण्णः, 'अग्निर्वै होता कृष्णाजिनꣳ होतृषदनम्' (श० ६।४।२।७) इति श्रुतेः । विदानः स्थानाभिज्ञः । दीदिवान् देवेभ्यो हविषां दाता सुदक्षः सुबलः । अदब्धव्रत प्रमतिः अदब्धव्रतेऽनुपहिंसिते कर्मणि प्रकृष्टा मतिर्यस्य सः । वसिष्ठोऽतिशयेन वासयिता वसुमत्तमः । सहस्रम्भरः सहस्रसंख्याकानि हवींषि बिभर्ति पोषयतीति । यद्वा सर्वम्भर 'सर्वं वै सहस्रम्' (श० ६।४।२।७) । यद्वा सहस्रधा व्यवह्रियमाणः, तथा चैतरेयके—'अथ यदेनमेकं सन्तं बहुधा विहरन्ति' (ऐ० ब्रा० ३।४), 'एष ह वा अस्य स्वः' (ऐ० ब्रा० १।१६) इति ।

तत्र ब्राह्मणम्—'निहोता होतृषदने विदान इत्यग्निर्वै होता कृष्णाजिनꣳ होतृषदनं विदान इति विद्वानित्येतत् त्वेषो दीदिवाꣳ२ ॥ असदत् सुदक्ष इति त्वेषो दीप्यमानोऽसदत् सुदक्ष इत्येतददब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठ इत्यदब्धव्रतप्रमतिर्ह्येष वसिष्ठ सहस्रम्भरः शुचिजिह्वोऽग्निरिति सर्वं वै सहस्रꣳ सर्वम्भरः शुचिजिह्वोऽग्निरित्येतद् द्वाभ्यामाग्नेयीभ्यां त्रिष्टुब्भ्यां तस्योक्तो बन्धुः' (श० ६।४।२।७) । मन्त्रं प्रतिपदमनूद्य व्याचष्टे—अग्निर्वै होतेति ।

अध्यात्मपक्षे—अयमग्निः रावणादिराक्षसकुलधूमकेतुर्मर्यादापुरुषोत्तमो रामः परमात्मा अग्निहोत्रादिक्रियाशीलो देवानामाह्वाता वा होतृषदने उत्तरवेद्यां नि-असदत् निषण्णः । कीदृश ? विदानः, स्वकीयं प्रत्यक्चैतन्याभिन्नं पारमार्थिकं ब्रह्मरूपं जानानो लोकसंग्रहचिकीर्षया त्वेषः स्वप्रकाशपरब्रह्मात्मना दीप्यमानो दीदिवान् देवेभ्यो हविषां दाता सुदक्षः सुकुशलः सुबलो वा अदब्धव्रतप्रमतिः अदब्धे अनुपहिंसिते व्रते प्रकृष्टा मतिर्यस्य सः । अथवा अदब्धव्रतोऽनुपहिंसितकर्मा चासौ प्रमतिश्चेति, प्रकृष्टा सर्वविषया मतिर्यस्य सः प्रमतिः सर्वज्ञः । रावणादिभिरुत्सन्नगृहाणामिन्द्रादिदेवानां वासयितृतमः सहस्रम्भरः सर्वपालकः परमेश्वरः । शुचिजिह्वः शुचिः पवित्रा जिह्वा वेदलक्षणा वाग् यस्य सः ।

दयानन्दस्तु—'यद्यग्निः पावक इव नरो मनुष्यजन्म प्राप्य होतृषदने दातॄणां विदुषां स्थाने दीदिवान् धर्म्यं व्यवहारं चिकीर्षुः, त्वेषः शुभगुणैर्दीप्यमानः, विदानो विविदिषुः सन् शुचिजिह्वः शुचिः पवित्रा सत्यभाषणेन जिह्वा वाग्यस्य सः सुदक्षः सुष्ठु दक्षो बलं यस्य सः। अदब्धव्रतप्रमतिः अदब्धैरहिंसनीयैर्व्रतैर्धर्माचरणैः प्रकृष्टा मतिर्यस्य सः। वसिष्ठः अतिशयेन वसिता। सहस्रम्भरः सहस्रमसंख्यं शुभगुणसमूहं बिभर्ति यः सः। होता शुभगुणग्रहीता सततं न्यसदत् सीदेत्तर्हि समग्रसुखं प्राप्नुयात्' इति, तदपि न युक्तम्, अध्याहारव्यत्ययादिसंश्रयणात्। 'यदि नरो मनुष्यजन्म प्राप्य····तर्हि समग्रं सुखं प्राप्नुयात्' इत्यादीनामर्थानामुत्सूत्रत्वात्।

विदान इत्यत्र आदादिकाद् 'विद् ज्ञाने' इति धातोर्लटः स्थाने व्यत्ययेन शानच् अन्त्युदात्तस्वरश्च। यत्तु केनचिद्दयानन्दीयेनोक्तम्—'पूङ्यजोः शानन्' (पा० सू० ३।२।१२८) इत्यनेन विधीयमानः शानन्प्रत्ययोऽत्र भवति, अत एव नित्वाद् आद्युदात्तता लभ्यते। अन्यथा शानचि चित्वाद् अन्तोदात्तता स्यात्। यद्यपि पूङ्यजिभ्यामेवानेन सूत्रेण शानन् विधीयते, तथाप्ययमन्येभ्योऽपि भवतीत्येतत्सूत्रसामर्थ्यलभ्येन वचनेनात्रापि तत्सिद्धिः। यदि पवमानयजमानशब्दावेव साधनीयौ स्याताम्, तर्हि शानचैव तौ प्रसाध्यौ। अत्र रूपे स्वरे च भेदो नाशङ्कनीयः, 'तास्यनुदात्तेत्····' (पा० सू० ६।१।१८६) इति शानचोऽनुदात्तत्वे शपश्च पित्त्वादनुदात्तत्वे इष्टस्वरसिद्धेर्निराबाधात्। अतश्चोक्तसूत्रं व्यर्थीभूय ज्ञापयति यदयमन्येभ्योऽपि भवतीति, तदिदं न युक्तम्, यतो हि शानचि कृते पवते यजत इति लडन्तं रूपद्वयं न स्यात्, शानचा बाधात्। न च 'वा सरूपोऽस्त्रियाम्' (पा० सू० ३।१।९४) इति वा सरूपविधिना विकल्पेन बाधः स्यादिति शङ्क्यम्, लादेशेषु वा सरूपविधिर्नास्तीति परिभाषणात्। शाननि तूक्तं रूपद्वयमपि निर्बाधं भवत्येव। किञ्च, यद्युक्तज्ञापने सूत्रकृतोऽभिरुचिः स्यात्तदा 'पूङः शानन्' इत्येव वदेद् भगवान् सूत्रकारः, तथा उक्तवचनेनैव यजिं गृह्णीयात्। अतश्छान्दसत्वेन व्यत्ययव्यवस्थयैव निर्वाहः कार्यः। ३६ ॥

सᳬसीदस्व महाँ असि शोचस्व देववीतमः।
विधूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम् ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ— हे यज्ञ के उपयोगी श्रेष्ठ अग्निदेव, तुम देवगण को बहुत प्रिय हो। इस कृष्णाजिन पर बिछाये पुष्करपर्ण पर स्थित हो जाओ, होता आदि से उपस्थापित होकर प्रदीप्त हो आहुति प्राप्ति से दर्शनीय होकर सघन धूम को छोड़ो ॥ ३७ ॥

आग्नेयी बृहती प्रस्कण्वदृष्टा। तृतीयो द्वादशार्णोऽन्येऽष्टार्णाः पादा यस्याः सा बृहती। हे मियेध्य हे मेध्य, छान्दसोऽपकर्षः, अर्थाद् मकारैकारयोर्मध्ये इयागमश्छान्दसः। मेधो यज्ञस्तमर्हतीति मेध्यस्तत्सम्बुद्धौ। हे प्रशस्त उत्कृष्ट अग्ने प्रकर्षेण स्तुत इति वा, मृद्रूप अग्ने ! संसीदस्व सङ्गत्य पुष्करपर्णे सीदस्व उपविश, सम्यग् बीजात्मनाऽवतिष्ठस्व। यस्त्वं महान् असि, अनेकक्रतुहेतुत्वात्, स त्वं शोचस्व दीप्यस्व। यतस्त्वं देववीतमः, अतिशयेन देवानामाप्यायिता। देवान् वेति तर्पयतीति देववीः, अतिशयेन देववीरिति देववीतमः। 'वी गत्यादौ' क्विप्। दर्शतं दर्शनीयमाहुतिपरिणामभूतम्। अरुषमरोषणम्, अत्युग्रमरोचमानं वा धूमं विसृज विमुञ्च। वीत्युपसर्गस्य सृजेति क्रियया सम्बन्धः, 'इतो वा अयमूर्ध्वᳬरेतः सिञ्चति धूमᳬ सामुत्र वृष्टिर्भवति' (श० ७।४।२।२२) इति श्रुतेः।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैषा बृहत्युत्तमा भवति । बृहतीं वा एष सञ्चितोऽभिसम्पद्यते यादृग्वै योनौ रेतः सिच्यते तादृग्जायते तद्यदेतामत्र बृहतीं करोति तस्मादेव सञ्चितो बृहतीमभिसम्पद्यते' (श० ६।४।२।८) । षष्ठीमृचं विधातुं तद्गतं बृहतीच्छन्दः प्रशंसति—अथैषा बृहतीति । सञ्चितः अग्निः बृहतीमभिसम्पद्यते सम्पत्त्यक्षरसंख्याको भवति । बृहतीसम्पत्तिप्रकारस्तु—संवत्सररूपोऽग्निः प्रागुक्तः । तत्र संवत्सरे द्वादश पौर्णमास्यः, द्वादश कृष्णाष्टम्यः, द्वादशामावास्याः, ताः षट्त्रिंशत् संवत्सरे धार्यमाणेऽग्नौ सम्पद्यन्ते । बृहत्यपि षट्त्रिंशदक्षरेति तत्साम्यमिति सायणाचार्यः । 'सꣳसीदस्व महाँ२॥ असीतीदमेवैतद्रेतः सिक्तꣳ सꣳसादयति तस्माद्योनौ रेतः सिक्तꣳ सꣳसीदति शोचस्व देववीतम इति दीप्यस्व देववीतम इत्येतद्विधूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतमिति यदा वा एष समिध्यतेऽथैष धूममरुषं विसृजते दर्शतमिति ददृश इव ह्येषः' (श०६।४।२।९) । मन्त्रं व्याचष्टे—इदमेवैतदिति । उत्पत्स्यमानस्याग्ने रेतोरूपत्वाद् मृत्पिण्डस्य बाहुभ्यां धारणं नाम योनौ सिक्तस्य रेतसः संसादनमित्यर्थः । धूमं विसृजेति यदुक्तं तदुपपादयति—यदा वा एष समिध्यत इति । 'ताः षट् सम्पद्यन्ते । षडृतवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद् भवति यद्वेव संवत्सरमभिसम्पद्यते तद्बृहतीमभिसम्पद्यते बृहती हि संवत्सरो द्वादश पौर्णमास्यो द्वादशाष्टका द्वादशामावास्यास्तत् षट्त्रिꣳशत् षट्त्रिꣳशदक्षरा बृहती तं दक्षिणत उदञ्चमाहरति दक्षिणतो वा उदग्योनौ रेतः सिच्यत एषो अस्यैतर्हि योनिरविच्छेदमाहरति रेतसोऽविच्छेदाय' (श० ६।४।२।१०) । परिग्रहणे विनियुक्तानां मन्त्राणां संख्यां सम्भूय संवत्सराग्न्यात्मना प्रशंसति—ताः षडिति । उक्तमर्थं विधत्ते—तं दक्षिणत उदञ्चमिति । तं मृत्पिण्डं दक्षिणतः प्रदेशाद् उदञ्चमुदङ्मुखमाहरेत्, यतो दक्षिणतः स्थितेन वामभागे स्थितायां योनौ रेतः सिच्यते । इदानीं मध्ये धार्यमाणस्याग्नेरेष मृत्पिण्डो योनिविच्छेदं विच्छेदराहित्येन मृत्पिण्डाहरणं कर्तव्यं रेतोभूतस्याग्नेरविच्छेदाय ।

अथाध्यात्मम्—हे अग्ने परमात्मन्, त्वं भक्तानां हृदयपुष्करे संसीदस्व सम्यक् सीद सदाभिव्यक्तिमान् भव । त्वं महान् अपरिच्छिन्नब्रह्मरूपोऽसि, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१।१) इति श्रुतेः । त्वं शोचस्व प्रकाशयात्मानं पवित्रय वा भक्तान् । त्वं देववीतमो देवानामतिशयेन तर्पयितासि । हे मियेध्य दुष्टानां प्रक्षेपक बाहुलकाद् औणादिक एध्यप्रत्ययो, 'डुमिञ् प्रक्षेपणे' इति सौवादिकाद् धातोः । हे प्रशस्त प्रकर्षेण स्तुत त्वम् अधूमं निर्मलं निर्दोषम् अरुषं क्रोधादिरहितं सृज स्वभक्तिदानेन सम्पादय मामिति शेषः ।

दयानन्दस्तु—'हे प्रशस्त, मियेध्य मिनोति प्रक्षिपति दुष्टानिति मियेध्यस्तत्सम्बुद्धौ । बाहुलकादौणादिक एध्यप्रत्ययः । अग्ने विद्वत्तम देववीतम देवैर्विद्वद्भिः कमनीयतम त्वं विधूमं विगतमलं दर्शतं द्रष्टव्यम् अरुषं शोभनस्वरूपं अरुषमिति रूपनामसु पठितम् । (नि० ३।७) सृज निष्पद्यस्व शोचस्व च पवित्रो भव । यतस्त्वं महान् महागुणविशिष्टो विद्वानसि तस्मादध्यापने संसीदस्व आस्व' इति, तदपि न किञ्चित्, अध्यापकातिरिक्तेऽपि प्राशस्त्योपपत्तेः । न चाध्यापकस्य दुष्टपृथक्करणे शक्तिः, तत्र शासनाधिकारात् । देवशब्दस्य जातिविशेषोऽर्थ इति साधितं भूमिकायाम् । तस्मात् विदुषां मनुष्याणां देवत्वं खण्डितमेव । न च सुन्दरसृष्टौ मनुष्याणां सामर्थ्यम्, स्रष्टुरीश्वरस्यैव तत्राधिकारात् । न चाध्यापनशब्दो मूलेऽस्ति । पुष्करपर्णे संसीदस्व । अत्र तु ब्राह्मणप्रमाणमुक्तमेव । अरुषमित्यस्यारोषणार्थत्वेऽपि सुन्दरमित्यर्थो न सिद्ध्यति । नहि रूपार्थत्वेऽपि तद्युक्तम्, कुरूपस्यापि रूपत्वाविशेषात् ॥ ३७ ॥

अपो देवीरुपसृज मधुमतीरयक्ष्माय प्रजाभ्यः ।
तासामास्थानादुज्जिहतामोषधयः सुपिप्पलाः ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, प्रजा के आरोग्य के लिए देवनशील तेजोमय अमृतरूपी जल से इस खनन प्रदेश को सिंचित करो। सिंचित स्थान से सुन्दर फल वाली औषधियों को सब प्रकार से प्राप्त कराओ ॥ ३८ ॥

'अप: श्वभ्रेऽवनयत्यपो देवीरिति' (का० श्रौ० १६।३।२)। अपो देवीरिति मन्त्रेण मृत्पिण्डगर्ते जलं प्रक्षिपेत्। अब्देवत्या न्यङ्कुसारिणी सिन्धुद्वीपदृष्टा। द्वितीयो द्वादशार्णोऽन्ये त्रयोऽष्टार्णा यस्याः सा न्यङ्कुसारिणी। हे अध्वर्यो, त्वं देवीः देवनशीलाः द्योतमाना अपो जलानि अस्मिन्नवटप्रदेशे उपसृज आसिञ्च। कीदृशीरपः ? मधुमतीः रसवतीः मधुररसोपेता आरोग्यदात्रीः। किमर्थम् ? प्रजाभ्य प्रजानाम्, विभक्तिव्यत्ययः, अयक्ष्माय अयक्ष्मणो भावोऽयक्ष्मम्, (भावप्रत्ययलोपः) तस्मै, आरोग्याय। तासां सिक्तानामपाम् आस्थानात् सुक्षेत्ररूपाद् उदकसंसृष्टभूप्रदेशाद् अस्माद् आखननप्रदेशात्, सुपिप्पलाः सुष्ठु शोभनं पिप्पलं पक्वं फलं यासां ता ओषधयः फलपाकान्ताः शाल्यादयः, आसमन्ताद् उज्जिहताम् उद्गच्छन्तु प्ररोहन्तु। शतपथीयसायणभाष्यरीत्या त्वग्निरत्र सम्बोध्यते पूर्वर्चोऽध्याहारात्। द्यौरध्वयुर्वा सम्बोधनीयः।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथ तत्राप उपनिनयति। यद्वा अस्यै क्षतं यद्विलिष्टमद्भिर्वै तत्सन्धीयतेऽद्भिरेवास्या एतत्क्षतं विलिष्ट७ं सन्तनोति सन्दधाति' (श० ६।४।३।१)। उदकनिनयनं विधत्ते—अथ तत्राप इति। एतत् प्रशंसति—यद्वा अस्यै क्षतमिति। अस्यै अस्याः पृथिव्या यत् क्षतं खण्डितं यच्च विलिष्टं क्षीणं 'लिश् अल्पीभावे' तत्सर्वं स्थलम् अद्भिः सन्धीयते। जलसन्धाने हि विषमं स्थलं समं भवति। तस्मादापः श्वभ्रे निधेयाः। 'अपो देवीरुप सृज। मधुमतीरयक्ष्माय प्रजाभ्य इति रसो वै मधु रसवतीरयक्ष्मत्वाय प्रजाभ्य इत्येतत्तासामास्थानादुज्जिहतामोषधयः सुपिप्पला इत्यपां वा आस्थानादुज्जिहत ओषधयः सुपिप्पलाः' (श० ६।४।३।२)। मन्त्रं विधत्ते—अपो देवीरिति। अयक्ष्मायेति पदं भावत्वेन व्याचष्टे—अयक्ष्मत्वायेति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, प्रजाभ्यः प्रजानाम् अयक्ष्माय यक्ष्मादिव्याधिनिवारणाय मधुमतीः रसवतीः देवीः मोदमाना अप उपसृज आसिञ्च। यत आसामपाम् आस्थानाद् उदकसंसृष्टभूप्रदेशात् सुपिप्पला ओषधय उज्जिहतामुद्गच्छन्तु। प्राणिनां कर्मानुरोधेन परमात्मन एव रसवतीनामपामुद्भावने सामर्थ्यं नान्येषाम्। यद्वा मधुमतीः मधुराणि अपः कर्माणि कीर्तनभजनध्यानादिभक्तिलक्षणानि, उपसृज भक्तेषूत्पादय। तासामपां भक्तिलक्षणानां कर्मणाम् आस्थानाद् हृदयादिप्रदेशात् प्रजाभ्यः प्रजानाम् अयक्ष्माय भवरोगनिवारणाय ओषधयो ज्ञानवैराग्यादिरूपा उद्गच्छन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे सद्वैद्य, त्वं मधुमतीः प्रशस्ता मधवो मधुरादयो गुणा विद्यन्ते यासु ताः, देवीः दिव्यानि पवित्राणि अपो जलानि उपसृज निष्पादय। यतस्तासामपामास्थानाद् आस्थायाः सुपिप्पलाः शोभनानि पिप्पलानि फलानि यासां ताः। प्रजाभ्यः पालनीयाभ्यः। अयक्ष्माय यक्ष्मादिरोगनिवारणाय उज्जिहतां प्राप्नुवन्तु' इति, तदपि न सङ्गतम्, वैद्यस्य सम्बोध्यत्वे मानाभावात्। न च वैद्या जलोत्पादने नियोज्यन्ते, तदुत्पत्तेः प्राकृतत्वात्, वर्णाश्रमिणां समेषामग्निहोत्रादिविशिष्टयज्ञनिष्पादनीयत्वात्, श्रुतिविरोधाच्च। श्रुतौ तु उखादिसम्भारणार्थं निखातश्वभ्रगतायाः पृथिव्याः क्षतनिवारणाय श्वभ्रेऽपां निनयनार्थमयं मन्त्रो विनियुक्तः ॥ ३८ ॥

सं ते॑ वा॒युर्मा॑त॒रिश्वा॑ दधातू॒त्ता॒नाया॒ हृद॑यं॒ यद्विक॑स्तम्।

यो दे॒वानां॒ चर॑सि प्रा॒णथे॑न॒ कस्मै॑ देव॒ वष॑डस्तु॒ तुभ्य॑म् ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—हे भूमि, ऊर्ध्व मुख से अवस्थित तेरा जो हृदयपिण्ड विराट् रूप से विकसित है, उस स्थान को वायु,

जलप्रक्षेप तृणादि के पूरण से सम्यक् करे। हे देव, तुम अग्नि आदि सम्पूर्ण देवताओं में प्राण भाव से विचरण करते हो। तुम्हारे निमित्त प्रजापति रूप से यह पृथ्वी वषट्कार वाली हो ॥ ३९ ॥

'सं त इति वातमपक्षिपति' (का० श्रौ० १६।३।३)। सं त इति मन्त्रेण पिण्डगर्ते वायुं प्रेरयति। त्रिष्टुप्। कण्डिकार्धं पृथिवीदेवत्यमर्धं च वायुदेवत्यम्। हे पृथिवि, उत्तानाया ऊर्ध्वाभिमुख्येन विस्तृतायास्ते तव पृथिव्या यद् हृदयं विकस्तम् अवस्करणेन खातं तद् मातरिश्वा मातरि अन्तरिक्षे श्वयति गच्छतीति श्वसितीति वा मातरिश्वा वायुः सन्दधातु सम्पूरयतु। जलप्रक्षेपेण तृणादिपूरणेन च यथापूर्वम् आसीत्, तथा सम्यक् करोतु। हे वायो, त्वं देवानामग्न्यादीनां वागादीनां वा प्राणथेन प्राणानां भावः प्राणथं तेन। भावे छान्दसः थल्प्रत्ययः। प्राणत्वेन चरसि, वायौ सत्येव वागादीनां चेष्टादर्शनात्। हे देव द्योतमान वायो, कस्मै प्रजापतये तद्रूपाय तस्मै तुभ्यं वषड् अस्तु। इयं पृथिवी वषड्भूता भवतु। वषट्कारेणाहुतिः कार्येति कृत्वा प्रशंसा, 'प्रजापतिर्वै कस्तस्मा एवैतदिमां वषटकरोति नो हैतावत्यन्याहुतिरस्ति यथैषा' (श० ६।४।३।४) इति श्रुतेः। यथा एषा आहुतिः सन्धानकरी नो ह नैव एतावती सन्धानकरी अन्याहुतिः, अन्याहुतिस्तादृशी नास्तीत्यर्थः। यद्वा घृतदुग्धदधिमधु-व्रीहियवादिमूलभूतेयं पृथिवी। अस्या एव वषट्करणेनाहुतिः सर्वोत्कृष्टा। नान्याहुतिरेतावती उत्कृष्टा यथैषेति भावः। तथा च ब्राह्मणम्—'अथैनां वायुना सन्दधाति। यद्वा अस्यै क्षतं यद्विलिष्टं वायुना वै तत् सन्धीयते वायुनै-वास्या एतत्क्षतं विलिष्टꣳ सन्तनोति सन्दधाति' (श० ६।४।३।३)। अवटे वायुपूरणं विधत्ते—अथैनामिति। एनां खननभूमिं (वायुना सन्धानं) प्रशंसति—यद्वा अस्यै क्षतमिति। यथा लोके क्षतं श्वभ्रं निम्नस्थलं वायुना सन्धीयते वायुसञ्चालितैः पर्णकण्टकादिभिः पूर्यते, तथैवात्रापीति मन्तव्यम्।

अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धे, उत्तानाया उद् ऊर्ध्वं ब्रह्म तदाभिमुख्येन विस्तृतायास्ते हृदयं मर्म यद्विकस्तं परिश्रम्यमाणाया यत् क्षतं श्रान्तं तन्मातरिश्वा सूत्रात्मा हिरण्यगर्भः सन्दधातु सन्तनोतु। मातरिश्वानं प्रार्थयते—हे वायो यस्त्वं देवानामग्न्यादीनां वागादीनां वा प्राणथेन चरसि कस्मै प्रजापतिरूपाय तुभ्यं वषट्कारोऽस्तु। वषट्कारेण इयं बुद्धिस्त्वदंशभूता त्वदनुसन्धाने समर्पितास्तु। समष्टिबुद्धिरूपेण हिरण्यगर्भेण एव अनुगृहीता बुद्धिः पुरुषार्थसाधनब्रह्मज्ञाने साफल्यमधिगच्छतीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे पत्नि, उत्तानायास्ते उत्कृष्टस्तनशुभलक्षणविस्तारो यस्या राज्ञ्याः, तस्यास्ते यद्विकस्तं विविधतया कस्यते शिष्यते यत् तद् हृदयम् अन्तःकरणं तद् यज्ञशोधिता मातरिश्वा वायुः सन्दधातु। हे देव दिव्यसुखप्रद पते स्वामिन्, यस्त्वं प्राणथेन येन प्राणन्ति सुखयन्ति तेन देवानां धार्मिकाणां विदुषां यद्विकस्तं हृदये चरसि गच्छसि प्राप्नोषि, तस्मै कस्मै सुखरूपाय तुभ्यं मत्तो वषट्क्रिया कौशलमस्तु' इति, तदपि तुच्छम्, पत्न्याः सम्बोध्यत्वे मानाभावात्। न च मातरिश्वा वायुः कस्यचित् प्रेरणया प्रार्थनया वा कस्याश्चिद् हृदयं सन्दधाति, तस्य स्वभावसिद्धत्वात्, त्वद्रीत्या तस्य जडत्वेन प्रार्थनीयत्वायोगात्। हृदयपदेन तु पुण्डरीकाकारं मांसपिण्डमेवोच्यते, बुद्धौ तु तात्स्थ्यात्तत्पदप्रयोगः। नह्युत्कृष्टविकासवतो हृदयस्य सन्धानमपेक्षितम्, क्षतस्यैव सन्धानापेक्षत्वात्। वायुरपि विदुषामविदुषां समेषामेव हृदयं चरति, न केवलं विदुषामेव। तस्मान्मुधैवैतद् यत्किञ्चित् प्रलपनम् ॥ ३९ ॥

सुजातो ज्योतिषा सह शर्म वरूथमासदत् स्वः।
वासो अग्ने विश्वरूपꣳ संव्ययस्व विभावसो ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—भली प्रकार से प्रकट यह अग्नि अपनी ज्योति के साथ सुखस्वरूप स्वर्ग के समान वरणयोग्य ग्रह कृष्णाजिन पर स्थित हो। हे दीप्तिधन वाले अग्निदेव, इस विचित्र वर्ण के कृष्णाजिन रूप वस्त्र को तुम धारण करो॥४०॥

'आस्तीर्णयोरन्तानुद्गृह्णाति सुजात इति' (का० श्रौ० १६।३।५)। सुजात इति मन्त्रेण आस्तीर्णयोः कृष्णाजिनपुष्करपर्णयोः प्रान्तानन्तभागान् चतुरोऽपि सर्वत ऊर्ध्वान् कुर्यात्। बन्धनायेति शेषः। अग्निदेवत्यानुष्टुप्। द्वितीयो नवार्णः। 'अनामिकया संवपति पुरस्तात् पश्चाद् दक्षिणत उत्तरतश्च' (का० श्रौ० १६।३।३)। अनामिकाङ्गुल्या अवटस्य पुरस्तात् पश्चाद् दक्षिणत उत्तरतश्च क्रमशो मृदं प्रक्षिपेत्। तथाह श्रुतिरपि— 'अथैनां दिग्भिः सन्दधाति' (श० ६।४।३।५) इति। अयमग्निः सुजातः सुजन्मा सुष्ठूत्पन्नः। ज्योतिषा महसा स्वकीयेन सह संयुक्तः। शर्म शरणं सुखं वा यथा स्यात्तथा स्वः स्वर्गसदृशं वरूथं वरणीयं गृहं कृष्णाजिननिर्मितम् आसदद् आसीदतु। सदेर्लुङि लृदित्वाच्च्लेरङि असददिति रूपम्। 'त्रिवृता मुञ्जयोक्त्रेणोपनह्यति वासो अग्न इति' (का० श्रौ० १६।३।६)। त्रिगुणितेन मुञ्जयोक्त्रेण दाम्ना कृष्णाजिनपुष्करपर्णयोः प्रान्तानूर्ध्वकृतान् बध्नाति वसोऽग्न इत्युत्तरार्धेन। हे विभावसो, विभाभिर्दीप्तिभिर्वासयतीति विभावसुस्तत्सम्बुद्धौ। विभा दीप्तिर्वा वसु धनं यस्यासौ विभावसुस्तत्सम्बुद्धौ। अग्ने विश्वरूपं बहुप्रकारं विचित्ररूपं वासः कृष्णाजिनरूपं संव्ययस्व परिधत्स्व। 'वेञ् संवरणे' इत्यस्य रूपम्।

तथा च ब्राह्मणम्—'अथैनां दिग्भिः सन्दधाति। यद्वा अस्यै क्षतं यद्विलिष्टं दिग्भिर्वै तत्सन्धीयते दिग्भिरेवास्या एतत्क्षतं विलिष्टꣳ सन्तनोति सन्दधाति स इमां चेमां च दिशौ सन्दधाति तस्मादेते दिशौ सꣳहिते अथेमां चेमां च तस्माद्वेवैते सꣳहिते इत्यग्रेऽथेति। अथेत्यथेति तद्दक्षिणावृत्तद्धि देवत्राऽनयाऽनया वै भेषजं क्रियतेऽनयैवैनामेतद्भिषज्यति' (श० ६।४।३।५)। कात्यायनोऽपि तथैवाह। तथोपरिष्टात् प्रदर्शितम्। तद्विधत्ते—अथैनां दिग्भिः सन्दधातीति। तत्र क्रमं विधत्ते—स इमां चेमां चेति। अत्राभिनयेन प्राक्प्रतीच्यौ विवक्षिते। तत्र कारणमाह—एते सन्निहिते इति। इमामिति लोकप्रसिद्धे प्राक्प्रतीच्याविति युज्यते। पुनरिमां चेतिपदेन दक्षिणोदीच्यौ। अत्रापि सन्निहितत्वमेव कारणम्। अथ चतुर्दिशं सन्धानप्रकारम् अभिनयेन दर्शयति— इत्यग्रेऽथेति। प्रथमे प्राचीं दिशमित्यर्थः। इतरदिक्क्रियापेक्षया अथेति पदत्रयम्। उत्तरतः समापनं प्रशंसति— तद् दक्षिणावृदिति। तद् दक्षिणावृद् दक्षिणमावृद् आवर्तनं समापनं यस्य तत्। अर्थात् तद् दक्षिणावर्तनं कर्म देवत्रा देवेषु तदर्हं भवति। अत्र कारणभूतामङ्गुलिमभिनयेन दर्शयति—अनयेति। अनया अनामिकाङ्गुल्या भैषज्यं क्रियासाधनत्वमस्याः प्रसिद्धमिति शब्दार्थः। 'अथ कृष्णाजिनं च पुष्करपर्णं च समुद्गृह्णाति। योनिर्वै पुष्करपर्णं योन्या तद्रेतः सिक्तꣳ समुद्गृह्णाति तस्माद्योन्या रेतः सिक्तꣳ समुद्गृह्यते सुजातो ज्योतिषा सह शर्म वरूथमासदत् स्वरिति सुजातो ह्येष ज्योतिषा सह शर्म चैतद्वरूथं च स्वश्चासीदति' (श० ६।४।३।६)। आस्तीर्णयोः कृष्णाजिनपुष्करपर्णयोरन्तोद्ग्रहणं विधत्ते—अथेति। उद्ग्रहणम् ऊर्ध्वकरणम्। पुष्करपर्णस्य योनित्वं प्रागुक्तमेव। तद्विधत्ते—सुजात इति। ज्योतिषा सह संयुक्तः सुजातोऽग्निः, वरूथं वरणीयं स्वः स्वर्गाख्यं शर्म शरणं गृहमासदद् आसीददिति। 'अथैनमुपनह्यति। योनौ तद्रेतो युनक्ति तस्माद्योनौ रेतोयुक्तं न निष्पद्यते योक्त्रेण योक्त्रेण हि योग्यं युञ्जन्ति मौञ्जेन त्रिवृता' (श० ६।४।३।७)। योनौ रेतोयुक्तं न निष्पद्यते न निष्पततीत्यर्थः। स्पष्टार्था कण्डिका। 'तत्पर्यस्यति। वासो अग्ने विश्वरूपꣳ संव्ययस्व विभावसविति वरुण्या वै यज्ञे रज्जुरवरुण्यमेवैनदेतत्कृत्वा यथा वासः परिधापयेदेवं परिधापयति' (श० ६।४।३।८)। पूर्वमश्वरासभाजान् पशून् प्रकृत्य ते मौञ्जीभिरभिधानीभिरभिहिता भवन्तीत्यादिना त्रिवृतो भवन्तीत्यनेन रशनाविधानमुक्तं (६।३।१।२६–२७) इति स्थले। अथ योक्त्रस्य समन्त्रं वेष्टनं विधत्ते—तत्पर्यस्यति वास इति। योक्त्रबन्धने

वासः संव्ययस्वेति वस्त्रपरिधापनोक्तेस्तात्पर्यमाह—वरुण्या वै यज्ञ इति। यज्ञे हि रज्जुर्वरुण्या वरुणदेवत्या भवति। योक्त्रपरित्यागे—'प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्' इति मन्त्रः, नैवमिह, किन्त्विह तु एतद्योक्त्रं 'अवरुण्यं कृत्वा यथा वासः परिधापयेद् एवं तत्' इत्यभिप्रायेण वासः संव्ययस्वेत्युक्तम्। पाशस्यैव हि वरुणो देवता न वाससः इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर श्रीराम श्रीकृष्ण विष्णो शिव वा, त्वं ज्योतिषा स्वकीयेन दिवाप्रकाशेन सह सुजातः शोभनजन्मासि। स्वः स्वर्गसदृशं वरूथं वरणीयगृहं नवनिर्मितं मन्दिरं हृदयरूपं वा शरणं गृहमासदद् आसीदतु। विश्वरूपं बहुप्रकारं विचित्रं वासः संव्ययस्व परिधत्स्व। हृदये मानसं नूत्नमन्दिरे तु बाह्यमेवानर्घ्यं वासो परिधेहीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे विभावसो, विविधया मया दीप्त्या सहितं वसु धनं यस्य तत्सम्बुद्धौ, अग्ने! ज्योतिषा विद्याप्रकाशेन सह सुजातः सुष्ठु प्रसिद्धस्त्वं स्वः सुखदं वरूथं वरं शर्म गृहम् आसदत् सीद। विश्वरूपं विविधस्वरूपं वासो वस्त्रं संव्ययस्व धरस्व' इति, तदपि न मनोज्ञम्, सर्वस्यापि गृहप्राप्तिवस्त्रधारणादे रागप्राप्तत्वेनाविधेयत्वात्, पूर्वोक्तब्राह्मणविरोधाच्च। मृद्रूपोऽग्निरेवात्र सम्बोधनीयः, कृष्णाजिनमेवात्र विश्वरूपं वास इत्युक्तत्वात्॥ ४०॥

उदु॑तिष्ठ स्वध्व॒रावा॑ नो दे॒व्या धि॒या। दृ॒शे च॑ भा॒सा बृ॒ह॒ता सु॑शु॒क्वनि॒राग्ने॒ याहि सुश॒स्तिभिः॥ ४१॥

मन्त्रार्थ—हे सुन्दर यज्ञ के निर्वाहक अग्निदेव! उठो, दिव्य गुण क्रीड़ा के स्वभाव वाली बुद्धि से हमारा सब प्रकार से पालन करो और श्रेष्ठ किरणों के फैलाने वाले बड़े तेज से सब प्राणियों को देखने के निमित्त सुन्दर कीर्ति के साथ यहाँ आओ॥ ४१॥

'उत्तिष्ठति पिण्डमादायोदुतिष्ठेति' (का० श्रौ० १६।३।७)। कृष्णाजिनपुष्करपर्णवेष्टितं योक्त्रबद्धं मृत्पिण्डं हस्ताभ्यां तूष्णीमादाय उदुतिष्ठेति मन्त्रेण उत्तिष्ठेत्। अग्निदेवत्या पथ्याबृहती विश्वमनोदृष्टा। तृतीयो द्वादशार्णः, अन्येऽष्टार्णाः। हे स्वध्वर, सुष्ठु शोभनोऽध्वरो यज्ञो येनासौ स्वध्वरस्तत्सम्बुद्धौ सुष्ठुयागविधारक सुप्रज्ञ अग्ने, उदुतिष्ठ उत्तिष्ठैव। उशब्दोऽप्यर्थः। अपि च उत्थाय नोऽस्मान् देव्या देवनस्वभावया क्रीडापरया बुद्धया अवा अव पालय। 'द्वचचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति मन्त्रे दीर्घः। हे अग्ने, बृहता महता भासा तेजसा सुशक्वनिः साधुशुचो रश्मीन् वनति सम्भजतीति, अथवा सुष्ठु शुचां रश्मीनां वनिता सुशक्वनिः, अत्यन्तं दीप्यमानः सन् सुशस्तिभिः शोभनीयकीर्तिभिः साधुशिष्टैरश्वैः कृत्वा वा, 'ये वोढारस्ते सुशस्तयः' (श० ६।४।३।९) इति श्रुतेः। सह दृशे सर्वैः प्राणिभिर्द्रष्टुमायाहि आगच्छ। यद्वा दृशे सर्वान् प्राणिनो द्रष्टुम्। 'दृशे विख्ये च' (पा० सू० ३।४।११) इति पश्यतेस्तुमर्थो निपातः।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमादायोत्तिष्ठति। असौ वा आदित्य एषोऽग्निरमुं तदादित्यमुत्थापयत्युदु तिष्ठ स्वध्वरेत्यध्वरो वै यज्ञ उदु तिष्ठ सुयज्ञियेत्येतदवा नो देव्या धियेति या ते दैवी धीस्तया नोऽवेत्येतद्दृशे च भासा बृहता सुशुक्वनिरिति दर्शनाय च भासा बृहता सुशुक्वनिरित्येतदाग्ने याहि सुशस्तिभिरिति ये वोढारस्ते सुशस्तय आग्ने याहि वोढृभिरित्येतत्' (श० ६।४।३।९)। क्रियां विधत्ते—अथैनमादायोत्तिष्ठतीति।

एनं मृत्पिण्डमादायोर्ध्वस्तिष्ठेत् । तत्प्रशंसति—असौ वा आदित्य इति ।[1] 'त्रेधात्मानं विकरोति—अग्निं तृतीयम्, वायुं तृतीयम्, आदित्यं तृतीयम्' (तै० ब्रा० १।७।१।२) इति श्रुतेः । मृदमादायोत्थानेनामुमादित्यमेवोत्थापितवान् भवतीति । सुशस्तिभिरिति पदं विवृणोति— ये वोढार इति ।

अध्यात्मपक्षे—हे स्वध्वर, शोभनोऽध्वरो पूजाराधनादिलक्षणो यज्ञो येन यस्य वा हे सुयज्ञ, यज्ञनिर्वाहक भगवन्नग्ने परमेश्वर, उत्तिष्ठ भक्तानामभ्युदयनिःश्रेयससम्पादनाय । देव्या जगदुत्पत्तिस्थितिलयलीलया मायया भगवत्या नोऽस्मानभीष्टपूर्तिसम्पादनेन रक्ष । हे अग्ने भगवन्, सुशस्तिभिः साधुशिष्टैरश्वैः सुकीर्तिभिर्वा कृतार्थयितुमस्मान् आयाहि आगच्छ । बृहता कोटिकोटिसूर्यतुल्येन प्रौढेन भासा महसा दृशे सर्वान् प्राणिनो द्रष्टुं दृष्ट्याऽनुग्रहीतुमायाहि । यद्वा दृशे दर्शनाय सर्वे प्राणिनो यथा त्वां पश्येयुरित्येतदर्थमायाहि । कीदृशस्त्वम् ? सुशुक्वनिः साधु शुचो ज्ञानलक्षणान् रश्मीन् वनति सम्भजति वितरतीति सुशक्वनिः, साधुतया ज्ञानरश्मिवितरणशीलः ।

दयानन्दस्तु 'हे स्वध्वर, शोभना अध्वरा अहिंसनीया माननीया व्यवहारा यस्य तत्सम्बुद्धौ, सज्जन विद्वन् गृहस्थ, त्वं सततमुत्तिष्ठ । देव्या धिया शुद्धविद्याशिक्षासम्पन्नया प्रज्ञया क्रियया वा नोऽस्मानव रक्ष । हे अग्ने अग्निवत् प्रकाशमान, सुशुक्वनिः सुष्ठु शुचां पवित्राणां वनिः सम्भक्ता त्वमु दृशे द्रष्टुं बृहता महता भासा प्रकाशेन सूर्य इव सुशस्तिभिः शोभनैः प्रशंसितैर्गुणैः सर्वा विद्या याहि प्राप्नुहि अस्मांश्च प्रापय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असङ्गतेः । तथाहि—अध्वरपदस्य हिंसनीयव्यवहारः कथमर्थः ? यतो हि व्यवहारो नाम देहादिचेष्टाविशेषा एव । कथं हि नाम ते हिंसनीया अहिंसनीया वा ? तत्र प्राणाभावात्, प्राणवियोगानुकूल-व्यापारस्य तेष्वसम्भवात् । कोऽयं प्रार्थयिता को वा प्रार्थनीयः ? नहि सामान्यो गृहस्थोऽग्निवत् प्रकाशमानो भवति सूर्य इव वा भवति । न वा तत्प्रार्थनयाऽन्यस्योपकारः सम्भवति ॥ ४१ ॥

ऊ॒र्ध्व ऊ॒ षु ण॑ ऊ॒तये॒ तिष्ठा॑ दे॒वो न स॑वि॒ता । ऊ॒र्ध्वो वाज॑स्य॒ सनि॑ता॒ यद॒ञ्जिभि॑र्वा॒घद्भि॑-र्वि॒ह्वया॑महे ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्ने, हमारी रक्षा के लिये सबके प्रेरक सूर्य देवता के समान ऊँचे स्थान में स्थित हो जाओ, हमें धनधान्य से सम्पन्न कर दो । इसी प्रयोजन से मन्त्रों का उच्चारण करने वाले हव्यवाहक ऋत्विजों के द्वारा हम आपका आह्वान करते हैं ॥ ४२ ॥

'ऊर्ध्वबाहुः प्राञ्चं प्रगृह्णात्यूर्ध्व ऊषुण इति' (का० श्रौ० १६।३।८) । ऊर्ध्व ऊषुण इति मन्त्रेण प्रसारितबाहुरध्वर्युर्बाहुद्वयं पूर्वाभिमुखं कृत्वा पिण्डं प्रागञ्चनं धारयेत् । अग्निदेवत्योपरिष्टाद्बृहती कण्वदृष्टा । यस्याश्चतुर्थः पादो द्वादशार्णोऽन्ये त्रयोदशार्णाः सोपरिष्टाद्बृहती । हे अग्ने, नोऽस्माकमूतये रक्षणाय तर्पणाय वा ऊर्ध्व एव सुष्ठु रीत्याऽवस्थितो भव । 'द्व्यचोतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति दीर्घः । 'णः' इत्यत्र 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' (पा० सू० ८।४।२७) इति नस्य णत्वम् । क इव ? देवो न सविता, सविता देव इव । यथा सविता देव ऊर्ध्वः सन्नस्मान् रक्षति तद्वत् । न इवार्थः । त्वमूर्ध्वः सन् वाजस्य अन्नस्य सनिता दाता, भवेति शेषः । 'षणु दाने' । यद् यस्मात् कारणाद् अञ्जिभिर्मन्त्राभिव्यञ्जकैर्वाघद्भिर्हव्यवाहकैर्ऋत्विग्भिः सह वयमेवंविधं त्वां विह्वयामहे विविधमाह्वयामः, तस्मादूर्ध्व एव तिष्ठेति सम्बन्धः । अञ्जन्ति व्यक्तीकुर्वन्ति ये ते अञ्जिनः,

१. अत्र श्रुतौ पाठस्तु—'स त्रेधात्मानं व्यकुरुत । अग्निं तृतीयम्, रुद्रं तृतीयम्, वरुणं तृतीयम्' (तै. ब्रा. १।७।१।२) इति ।

तैरिति सायणीया व्याख्या। उव्वटरीत्या तु अञ्जिभिर्द्रव्याणां व्यञ्जकै रश्मिभिः सहितं त्वां विह्वयामहे। कीदृशैः? वाघद्भिः हविषां वोढृभिः। ऊसू पादपूरणे।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमित ऊर्ध्वं प्राञ्चं प्रगृह्णाति। असौ वा आदित्य एषोऽग्निरमुं तदादित्यमित ऊर्ध्वं प्राञ्चं दधाति तस्मादसावादित्य इत ऊर्ध्वः प्राङ्धीयत ऊर्ध्व ऊषुण ऊतये तिष्ठा देवो न सवितेति यथैव यजुस्तथा बन्धुरूर्ध्वो वाजस्य सनितेत्यूर्ध्वो वा एष तिष्ठन् वाजमन्नꣳ सनोति यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामह इति रश्मयो वा एतस्याञ्जयो वाघतस्तानेतदाह परो बाहु प्रगृह्णाति परो बाहु ह्येष इतोऽथैनमुपावहरति तमुपावहृत्योपरि नाभि धारयति तस्योपरि बन्धुः' (श० ६।४।३।१०)। मृत्पिण्डरूपस्याग्नेरूर्ध्वं धारणं विधत्ते—अथैनमित ऊर्ध्वमिति। इतो भूमेः सकाशाद् ऊर्ध्वं प्राङ्मुखं प्रगृह्णीयात्। अन्यत् पूर्ववत्। वाजस्येत्यादेरर्थमाह ऊर्ध्वो वा एष तिष्ठन्नित्यादिनेति सायणाचार्यः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, नोऽस्माकमूतयेऽवनाय अस्माकमूर्ध्वमुपरिष्टादेव सुतरां तिष्ठ। सविता देव इव। यथा भगवान् सविता देव उपर्यवस्थितः सर्वानवति तद्वत्। स त्वमूर्ध्वः सन् वाजस्य बाह्यस्य अन्नादेरान्तरस्य ज्ञानभक्त्यादेः सनिता सम्भक्ता, भवेति शेषः। यद् यतः, अञ्जिभिः विवेकविज्ञानभक्तिव्यञ्जकैरनुग्रहरूपैः प्रकाशैः सहितं त्वां वयं विविधमाह्वयामहे।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन् अध्यापक, त्वमूर्ध्व उपस्थितो नोऽस्माकमूतये सविता न भास्कर इव ऊतये रक्षणाद्याय सु तिष्ठ सुस्थिरो भव यद् यस्त्वं अञ्जिभिः व्यक्तिकारकैः किरणैरिव वाघद्भिः युद्धविद्याकुशलैर्मेधाविभिः सह वाजस्य विज्ञानस्य ऊर्ध्वं उत्कृष्टः सनिता सम्भाजको भवसि, तमु वयं विह्वयामहे विशेषेण स्पर्धामहे' इति, तदपि तुच्छम्, अध्यापकस्य रक्षणादिकार्येषु विनियोगानर्हत्वात्। नहि भास्करः सुस्थिरत्वे दृष्टान्तत्वमर्हति, तस्य गतिशीलत्वस्य भूमिकायां साधितत्वात्। नहि विज्ञानसेवनाय युद्धविद्याकुशलानां मेधाविनां च सहभावोऽपेक्षितः। किञ्च, संस्कृतव्याख्याने विह्वयामह इत्यस्य स्पर्धामह इति विवरणं कृतम्, हिन्दीभाष्ये तु विशेषेणाह्वानमुक्तमिति परस्परासम्बद्धता च।

सनितेति प्रयोगे सायणाचार्याः 'षणु दाने' लुटि तासिः, वलादिलक्षण इट् तिपो डादेशष्टिलोपः, उदात्तनिवृत्तिस्वरेण तिबादेशस्योदात्तत्वे प्राप्ते 'तास्यनुदात्तेत्……' इति तासेः परस्य डादेशस्यानुदात्तत्वम्, धातुस्वरेण अकारस्योदात्तत्वम्, वाजस्येति सुबन्तात् परस्य सनिता इति तिङन्तस्य 'तिङ्ङतिङः' (पा० सू० ८।१।२८) इति सूत्रेणानुदात्तत्वं प्राप्तम्। 'न लुट्' (पा० सू० ८।१।२९) इति सूत्रेण तस्य निषेधः। एवं च धातुस्वरेणाकारस्योदात्तता। मध्ये इकार आगमानुदात्तत्वेनानुदात्तः। पुनः 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' (पा० सू० ८।४।६६) इति स्वरितः, अन्त्य आकारस्तु 'तास्यनुदात्तेत्……' (पा० सू० ६।१।१८६) इत्यनुदात्त एवेति स्वरप्रक्रियामाहुः। अत्र कश्चित् सनिताशब्दः षणु धातोस्तृनि सति निष्पन्न इति नित्त्वादाद्युदात्तः। लुटि आद्युदात्तता न युक्ता, कानुदात्तत्वस्य प्रत्ययस्वरापवादत्वेनोदात्तनिवृत्तिस्वरस्याबाधेन अन्तोदात्तत्वस्यैव प्राप्तेः। तथा च तैत्तिरीयसंहितायाम् 'अन्वागन्ता' (तै० सं० ५।७।७।१) इत्यत्र लुटि अन्तोदात्तत्वं दृश्यते। भट्टभास्करस्तु तथैव प्रतिपेदे। सायणोक्ता प्रक्रिया तु……'इत्याह। एतत्तु व्याकरणशास्त्ररहस्यविद्भ्यो न रोचते। तत्र कारणानि—(१) तृनि सति वाक्यपूर्तयेऽस्त्यादिक्रियापदस्याध्याहारकल्पने गौरवं स्यात्। (२) वाजस्येति कर्मणि षष्ठ्यां 'न लोकाव्ययनिष्ठा……' (पा० सू० २।३।६९) इति सूत्रेण निषेध आपद्येत। कर्ता कटानिति प्रयोगे द्वितीयावदत्रापि द्वितीया स्यात्। शेषे षष्ठी तु नोचिता, उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसीति सिद्धान्तात्। सायणमते तु कृद्योगाभावे कर्मषष्ठ्या अप्राप्तौ शेषत्वविवक्षया षष्ठी सूपपादा। एवं च वृश्चिकभिया पलायमानः

सर्पमुखे पतितः । (३) प्रत्ययस्वरापवादत्वेनोदात्तनिवृत्तिस्वरस्याबाधनादित्युक्तिस्तु अत्यन्तमुपहासास्पदा, एकशास्त्रस्यापवादोऽपरस्य बाधको न भवतीत्यत्र मानाभावात् । अत्रैव सूत्रे भाष्ये—'चित्स्वरात्तास्यादिभ्योऽनुदात्तत्वं विप्रतिषेधेन' इत्युक्त्या तास्यनुदात्तत्वस्य परत्वाच्चित्स्वरबाधकतायाः स्पष्टमुक्तत्वात् । अतः परत्वादुदात्तनिवृत्तिस्वरस्यापि बाधकता तास्यनुदात्तेदित्यस्य युज्यत एव । (४) विन्दति, खिन्दति इति भाष्यमपि नात्र पक्षे साधकम्, तस्य पूर्वपक्षयुक्तत्वात् । सिद्धान्ते तु 'विन्दोन्धिखिदिभ्यश्च लः सार्वधातुकानुदात्तप्रतिषेधात्' (पा० सू० ६।१।१६१-५) इति वचनेन भाष्यकृता तास्यनुदात्तेदित्यस्य निषेध एव कृतः । अतः प्रत्ययस्वरेणैव तत्र मध्योदात्तता भविष्यति, न तु तदुक्तेनोदात्तनिवृत्तिस्वरेणेति तदभिमतं नैव सिद्धान्तभाष्यरूढम् । 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' (पा० सू० ६।१।१६१) इति सूत्रीयं भाष्यं कणेहत्य पर्यालोचनीयम् । (५) 'अन्वागन्ता' इत्यत्र यदि अन्तोदात्तत्वमिष्यते तर्हि उदात्तनिवृत्तिस्वरस्तत्र निःशङ्कं कर्तव्यः, छन्दसि दृष्टानुविधानात् ॥ ४२ ॥

स जातो गर्भो असि रोदस्योरग्ने चारुर्विभृत ओषधीषु ।
चित्रः शिशुः परि तमाᳪस्यक्तून् प्र मातृभ्यो अधि कनिक्रदद् गाः ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्ने, तुम शोभन पूजनीय पुरोडाश आदि लक्षण वाली औषधियों को पुष्ट करने के लिये अनेक वर्ण की ज्वालाओं से विचित्र रूप धारण कर शिशु रूपी द्यावा पृथिवी के मध्य में उत्पन्न हुए हो । तुम रात्रि लक्षण अन्धकार को दूर करते हुए, औषधि वनस्पतियों के प्रकाश से अत्यन्त शब्द करते हुये शीघ्रता से चलो ॥ ४३ ॥

'अवहृत्योपरिनाभि धारयन्नश्वप्रभृतीनभिमन्त्रयते सजातः स्थिरो भव शिवो भवेति' (का० श्रौ० १६। ३।९) । अध्वर्युः पिण्डं नीचैरवतार्य नाभेरुपरि हस्ताभ्यां धारयन्नश्वगर्दभाजान् सजात इत्यावृत्क्रमेण मन्त्रैरभिमन्त्रयेत् । एकैकं पश्यन्नेकैकं मन्त्रं जपेदित्यर्थ । अश्वदेवत्या त्रितदृष्टा । अश्वमग्निबुद्धया स्तौति—हे अग्न्यात्मक अश्व, स त्वं रोदस्योर्द्यावापृथिव्योर्गर्भः सन् इदानीं जातोऽसि । कीदृशस्त्वम् ? दातव्यासु चारुः शोभनः पूजनीयो वा । ओषधीषु ओषधिवनस्पत्यादिषु पुरोडाशादिरूपासु, बिभृतः सम्भृतः, विहृतो वा । ओषधीषु दृश्योऽग्निरूपः सन् विशेषेण पोषितः । चित्रो नानावर्णाभिर्ज्वालाभिर्वा विविधरूपः, इदानीमुत्पन्नत्वात् शिशुः शंसनीयो वा । अक्तून् अक्तूनि रात्र्युपलक्षितानि । अक्तुशब्दो रात्रिवाचकः । लिङ्गव्यत्ययः । तमांसि अन्धकाराणि परि परिहरन् परीत्य अतिरोचमान इति वा तादृशस्त्वं मातृभ्य ओषधिभ्यः, अधि सकाशात् कनिक्रदद् अधिकं शब्दं कुर्वन् प्रगाः प्रकर्षेण गच्छेः । यथा शिशुर्मातरमुद्दिश्य क्रन्दन् गच्छेत् तद्वदित्यर्थः । यद्वा मातृभ्य इति चतुर्थी । शरीरस्योत्पादकत्वाद् ओषधयोऽत्र मातृपदवाच्याः । तदर्थं तद्रक्षणार्थं कनिक्रदद् अत्यर्थं हर्षशब्दं कुर्वन् प्रगाः प्रगच्छति । 'इणो गा लुङि' (पा० सू० २।४।४५) इति गादेशः । 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति कालविशेषाविवक्षायां लुङ् । अडभावश्छान्दसः । प्रेत्युपसर्गो गा इत्यनेन सम्बद्धयते ।

तथा च ब्राह्मणम्—'हस्त एष भवत्यथ पशूनभिमन्त्रयते । एतद्वा एषु देवाः सम्भरिष्यन्तः पुरस्ताद् वीर्यमदधुस्तथैवैष्वयमेतत्सम्भरिष्यन् पुरस्ताद् वीर्यं दधाति' (श० ६।४।४।१) । मृत्पिण्डसाहित्येन पश्वभिमन्त्रणं विधत्ते—हस्त एष भवतीति । एष मृत्पिण्डः, एतद् इदानीं पिण्डसम्भरणकाले पश्वभिमन्त्रणेन एषु वीर्यं देवा इव अयं यजमानोऽपि दधाति निहितवान् भवति । 'सोऽश्वमभिमन्त्रयते । स जातो गर्भो असि रोदस्योरितीमे वै द्यावापृथिवी रोदसी तयोरेष जातो गर्भोऽग्ने चारुर्विभृत ओषधीष्विति सर्वासु ह्येष चारुर्विभृत ओषधीषु चित्रः शिशुः परि तमाᳪस्यक्तूनिति चित्रो वा एष शिशुः परि तमाᳪस्यक्तूनति रोचते प्र मातृभ्यो अधि कनिक्रदद् गा इत्योषधयो वा एतस्य मातरस्ताभ्य एष कनिक्रदत्प्रैति तदश्वे वीर्यं दधाति' (श० ६।४।४।२) ।

पूर्वमश्वाभिमन्त्रणं विधत्ते—सोऽश्वमिति । मन्त्रं प्रतिपादमनूद्य व्याचष्टे—इमे वै द्यावापृथिवी इति रोदस्योर्द्यावापृथिव्योरेष जातो गर्भ इति तात्पर्यम् । परितमांस्यक्तूनित्यस्यार्थमाह—परितमांस्यक्तूनतिरोचत इति । अक्तून् रात्रिगतानि तमांसि परीत्य अतिरोचत इति । प्रमातृभ्य इत्यादेरर्थमाह—ओषधयो वा एतस्य मातर इति ; ताभ्य एष कनिक्रदत्प्रैति इत्येवमर्थकेन मन्त्रेणाभिमन्त्रणादश्वे वीर्यं दधाति यजमानः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन्, त्वं रोदस्योर्द्यावापृथिव्योर्मध्ये गर्भः सन् श्रीरामरूपेण वा जातोऽसि । कीदृशस्त्वम् ? चारुः शोभनः परमसौन्दर्यवत्त्वेन सर्वप्रेमास्पदीभूतो भवसि । ओषधीषु चक्रवर्तिदशरथस्याश्वमेधगत-पुत्रेष्टिलक्षणे यज्ञे दिव्यप्राजापत्यपुरुषदत्तपायसलक्षणास्वोषधीषु विभृतः सम्भृतः चित्रः श्यामगौररामलक्ष्मणभरत-शत्रुघ्नरूपेण विविधरूपः सन् सर्वकारणकारणभूतोऽपि तत्कालोत्पन्नत्वात् शिशुः शिशुरूपः, अक्तून् अक्तु(रात्र्यु)-पलक्षितानि सर्वाणि तमांसि तमोरूपाणि रक्षांसि परिहरन् मातृभ्यः कौशल्याकैकेयीसुमित्राभ्यः सकाशात् कनिक्रदद् रोदनशब्दं कुर्वन् प्रगाः प्रकर्षेण सम्राजो दशरथस्याङ्के, अन्यासां मातृणां वाङ्के गतवानसि ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, यस्त्वं रोदस्योर्जातः प्रसिद्धः चारुः सुन्दरः, ओषधीषु सोमादिषु विभृतो विशेषेण भृतो धृतः पोषितो वा चित्रः अद्भुतो गर्भो यो गीर्यते स्वीक्रियते सोऽर्कः, मातृभ्यो मान्यकर्त्रीभ्यः किरणेभ्यः तमांसि अन्धकारान् अक्तून् रात्रीः पर्यधि कनिक्रदत् सन् परितोऽपसारयन् गाः गच्छति तथाभूतः शिशुः गाः विद्याः प्राप्नुहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, श्रुतिविरोधात् । श्रुतौ तु 'ओषधयो वा एतस्य मातरस्ताभ्य एष कनिक्रदत् प्रैति' (श० ६।४।४।२) इति व्याख्यातम् । शिशुरित्यपि पदं चारुरित्यादिभिः समानयोगक्षेमम् । अतः शिशु गा विद्याः प्राप्नुहीति योजनमपि निर्मूलमेव ॥ ४३ ॥

स्थिरो॑ भव वी॒ड्व॑ङ्ग आ॒शुर्भ॑व वा॒ज्य॒र्वन् । पृ॒थुर्भ॑व सु॒षद॒स्त्वम॒ग्नेः पु॑रीष॒वाह॑णः ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ—हे गमन में कुशल रासभ, तुम स्थिर काय वाले हो, वेगवान् हो, अन्न को पैदा करने वाले हो । हे पुरीष्य अग्नि, तुम पृष्ठ को विस्तीर्ण करते हो, अग्निदेह रूप मृत्तिका में सुख से स्थिति के योग्य हो ॥ ४४ ॥

रासभदेवत्यानुष्टुब् उष्णिग्वेति महीधराचार्यः । इर्यति प्रति पदार्थं गच्छतीत्यर्वा रासभः, तत्सम्बुद्धौ हे अर्वन् हे अरणवन् गमनकुशल, स्थिरो निश्चलः स्खलनरहितो भव । वीड्वङ्गः वीडूनि दृढानि अङ्गानि यस्य सः, दृढाङ्गश्च भव । आशु वेगवान् सन् वाजी वेजनवान् अन्नहेतुर्भव । पृथुः विस्तीर्णपृष्ठः सन् अग्नेः सुषदः सुखेन सद्यते स्थीयते अस्मिन्निति सुषदः सुखदासनः स्वास्थेयो वा भव । कीदृशस्त्वम् ? पुरीषवाहणः पुरीषः पांसुरूपा मृत् तं वहतीति पुरीषवाहणः । अथवा पुरीषं पशव्यं यवसं वहतीति पुरीषवाहणः । 'कव्यपुरीषपुरीष्येषु ञ्युट्' (पा० सू० ३।२।६५) इति ञ्युटि रूपम् । गोमयं सैकतस्य वा वाहकत्वाद् रासभस्य पुरीषवाहकत्वं प्रसिद्धमिति सायणाचार्यः । तत्र ब्राह्मणम्—'अथ रासभम् । स्थिरो भव वीड्वङ्ग आशुर्भव वाज्यर्वन्निति । स्थिरश्च भव वीड्वङ्गश्चाशुश्च भव वाजी चार्वन्नित्येतत् पृथुर्भव सुषदस्त्वमग्नेः पुरीषवाहण इति पृथुर्भव सुशीमस्त्वमग्नेः पशव्यवाहन इत्येतत् तद्रासभे वीर्यं दधाति' (श० ६।४।४।३) । रासभाभि-मन्त्रणे मन्त्रं विधत्ते—अथ रासभमिति । मन्त्रव्याख्यानेन स्पष्टार्थं ब्राह्मणम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे अर्वन् क्रियाकुशल साधक, त्वं स्थिरो भव साधननिष्ठो भव । वीड्वङ्गो वीडूनि दृढान्यङ्गानि हस्तपादादीनि बाह्यानि शमदमादीन्याभ्यन्तराणि च यस्य सः, तादृशो भव । आशुः शीघ्रकारी, अर्थाद् अनलसो भव । वाजी पथ्यान्नवान् भव । पृथुः वस्तुतत्त्वेषु प्रसरणशीलबुद्धियुक्तो भव । त्वमग्नेः

परमेश्वरस्य सुषदः सुखासनो भव । त्वदीयहृदयकमले परमेश्वरस्यासनमस्तु । पुरीषवाहणः पुरीषं भस्म-गोपीचन्दन-व्रजरजःप्रभृति मृदं वहति धारयतीति, स तादृशो भव, संस्कारार्थं देहेन्द्रियादिशुद्ध्यर्थं तद्धारणस्य विहितत्वात् ।

दयानन्दस्तु—'हे अर्वन् पुत्र, त्वं विद्याग्रहणाय स्थिरो भव । वाजी प्राप्तनीतिः । वीड्वङ्गः वीडूनि बलिष्ठान्यङ्गानि यस्य सः । आशुः शीघ्रकारी भव । त्वमग्नेः पावकस्य सुषदः यः शोभनेषु व्यवहारेषु सीदति सः । पुरीषवाहणः पुरीषाणि पालनादीनि कर्माणि वाहयति प्रापयति सः । पृथुः विस्तृतसुखो भव' इति, तदपि न युक्तम्, अध्याहारबाहुल्यात्, पुत्रस्य सम्बोध्यत्वे मानाभावाच्च । विद्याग्रहणायेत्यादिकमपि निर्मूलमेव । विज्ञानयुक्तः स किमर्थमध्ययने नियुज्यते ? श्रुतिव्याख्यानविरोधस्तु पूर्वोक्तव्याख्यानेन स्पष्ट एव ॥ ४४ ॥

शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषीभ्यस्त्वमङ्गिरः ।
मा द्यावापृथिवी अभिशोचीर्मान्तरिक्षं मा वनस्पतीन् ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निरूप अग्नि के प्रिय शिशु अज, तुम मनुष्य सम्बन्धी प्रजाओं के निमित्त कल्याणकारी हो, शान्त स्वभाव के हो । द्यावापृथिवी को सन्तप्त मत करो, अन्तरिक्ष को सन्तप्त मत करो, वनस्पतियों को सन्तप्त मत करो ॥ ४५ ॥

अजदेवत्या पथ्याबृहती । अजमभिमन्त्रयते—हे अज, त्वं मानुषीभ्यो मनुसम्बन्धिनीभ्यः प्रजाभ्योऽर्थेभ्यः शिवः शान्तो भव । हे अङ्गिरः, अङ्गिरोरूप अज ! त्वं द्यावापृथिवी माभिशोचीः मा सन्तापय तथान्तरिक्षं माभिसन्तापयेः । वनस्पतीन् मा अभिशोचीः मा सन्तापय । 'अङ्गिरा वा अग्निराग्नेयोऽजः' (श० ६।४।४।४) इति श्रुत्याऽजस्याङ्गिरोऽग्निरूपत्वं विज्ञायते । अङ्गिरोभिर्ऋषिभिः पूर्वं सम्पादितत्वाद् अङ्गसौष्ठवाद्वाऽयमग्निरङ्गिराः । यद्वा हे अज, त्वं द्यावापृथिव्यौ अभिलक्ष्य मा शोचीः शोकं सन्तापं मा कार्षीः । तथैवान्तरिक्षं वनस्पतींश्चाभिलक्ष्य मा शोचीः, मा हिंसीरिति वा । तत्र ब्राह्मणम्—'अथाजम् । शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषीभ्यस्त्वमङ्गिर इत्यङ्गिरा वा अग्निराग्नेयोऽजः शमयत्येवैनमेतदहिꣳसायै मा द्यावापृथिवी अभिशोचीर्मान्तरिक्षं मा वनस्पतीनित्येतत्सर्वं मा हिꣳसीरित्येतत्तदजे वीर्यं दधाति' (श० ६।४।४।४) । अजाभिमन्त्रणं विधत्ते—अथाजमिति । एतद् ब्राह्मणानुसार्येव पूर्वोक्तं व्याख्यानम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे अङ्गिरोऽग्ने रुद्र, त्वं मानुषीभ्यः प्रजाभ्यः शिवो भव । द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं वनस्पतीन् माभिशोचीः मा सन्तापय, मा हिंसीर्वा । संहारदेवत्वात् सन्तापकत्वं प्राप्तम्, तस्य शिवरूपत्वेन अहिंसायै प्रार्थनाया युक्तत्वात् ।

दयानन्दस्तु—'हे अङ्गिरः, प्राण इव प्रिय सुसन्तान, त्वं मानुषीभ्यः प्रजाभ्यः शिवो भव । द्यावापृथिवी विद्युद्भूमी अभि अभ्यन्तरे मा शोचीः शोकं मा कुर्याः । तथैव अन्तरिक्षं वनस्पतीन् माभिशोचीः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असङ्गतेः । यो मानुषीभ्यः प्रजाभ्यः कल्याणकारी भवति, स कथं द्यावापृथिवादिभ्यः शोकमावक्ष्यति ? श्रुतिव्याख्यानविरोधस्तु स्पष्ट एव ॥ ४५ ॥

प्रैतु वाजी कनिक्रदन्नानदद्रासभः पत्वा। भरन्नग्निं पुरीष्यं मा पाद्यायुषः पुरा। वृषाग्निं वृषणं भरन्नपां गर्भ्ँ समुद्रियम्। अग्न आयाहि वीतये ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ—वेगवान् अश्व अतिहेषित शब्द करता हुआ वेग से गमन करे, पतनशील गर्दभ दिशाओं को शब्दायमान करता हुआ यवस के वहन के निमित्त पीछे चले। यह अश्व पशुसम्बन्धी अग्नि को धारण करता हुआ यज्ञ कर्म की समाप्ति से पहले विनाश को प्राप्त न हो, कर्म समाप्ति पर्यन्त जीवित रहे। सिंचन में समर्थ रासभ आहुति के परिणाम से फलदान में समर्थ होकर जल के मध्य मेघों में विद्युत् रूप से और सागर में वडवा के रूप से अग्नि को धारण करता हुआ यहाँ आवे। हे अग्निदेव, आप हवि के भक्षण के निमित्त यहाँ आइये ॥ ४६ ॥

'धारयत्येषामुपरि पिण्डमनुपस्पृशन् प्रैतु वाजी वृषाग्निमित्यश्वखरयोः' (का० श्रौ० १६।३।१०)। एषां पूर्वोक्तानामश्वरासभाजानामुपरि मृत्पिण्डं धारयति तानस्पृशन् प्रैतु वाजीत्यश्वोपरि वृषाग्निमिति खरोपरीति। महापङ्क्तिस्त्र्यवसाना। अष्टार्णा षट्पादा महापङ्क्तिः। अर्धर्चाविश्वदेवत्यौ। तृतीयोऽर्धर्चो रासभदेवत्यः। वाजी अश्वः प्रैतु प्रकर्षेण गच्छतु। किं कुर्वन्? कनिक्रदन् अत्यन्तं ह्रेषाशब्दं कुर्वन्। रासभश्च प्रैतु यवसवाहनार्थम्। किं कुर्वन्? नानदद् गर्दभरटितेन सर्वा दिशो नादयन्। सोपहासमिदमुच्यते। कनिक्रदन्नानदद्भयमपि यङ्लुगन्तम्। कीदृशो रासभः? पत्वा पतनशीलः। 'पत्लृ गतौ' इत्यस्मात् 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति क्वनिप्प्रत्ययः। अश्वमन्त्रे रासभोपादानं रासभोपहासार्थम्, 'तदश्वस्य यजुषि रासभं निराह तद्रासभे शुचं दधाति' (श० ६।४।४।७) इति श्रुतेः। अयमश्वः पुरीष्यमग्निं दाहकं भरन् धारयन् आयुषः कर्मणः पुरा पूर्वं मा पादि मा विनश्यतु। आयुःशब्देन तन्मूलं कर्म विवक्षितम्। यज्ञसम्बन्धेनैवाश्वादीनां स्तुतिः। यद्वा वाजी अन्नवानश्वः प्रैतु आगच्छतु। तं विशिनष्टि—कनिक्रदद् अत्यर्थं ह्रेषाशब्दं कुर्वन्। नानदत् सर्वा दिशो नादयन्। रासभः रासभ इव। अत्रोपमावाचकेवशब्दलोपो द्रष्टव्यः। पत्वा पतनशीलः। अथ रासभमन्त्रः—वृषा सेक्ता रासभोऽग्निं भरन् धारयन् सन्, प्रैत्विति शेषः। कीदृशमग्निम्? वृषणं सेक्तारं फलाभिवर्षणसमर्थम् आहुतिपरिणामेनेति। पुनः कीदृशमग्निम्? अपां गर्भम्, जलमध्येऽवस्थानात्। मेघस्थानां जलानां मध्ये विद्युद्रूपं वा। पुनः कीदृशम्? समुद्रियं समुद्रे वडवाग्निरूपेणोत्पन्नम्। यद्वा समुद्रेऽग्निचयने भवः समुद्रियः, तम्। 'त्रयो ह वै समुद्राः। अग्निर्यजुषां महाव्रत्ँ साम्नां महदुक्थमृचाम्' (श० ९।५।२।१२) इति श्रुतेः। यद्वा वृषणं वर्षकं मृद्रूपमग्निं भरन् अपां गर्भं गर्भभूतं समुद्रियं समुद्रेऽन्तरिक्षे भवमग्निं मृद्रूपं भरन् वृष सिञ्च। वृषतेर्लोटि रूपम्। ब्राह्मणे कनुप्रत्ययान्तं वृषेतिपदं व्याख्यातम्। तद्रीत्या वृषा रेतसः सेक्ता रासभो वृषणमग्निं भरन् तिष्ठतीत्यध्याहारः। तृतीयपादेऽग्निः सम्बोध्यते—हे अग्ने, वीतये आयाहि। 'अग्न आयाहीत्याहृत्य खराच्छागस्यर्त्ँ सत्यमित्यानिधानात्' (का० श्रौ० १६।३।११)। अध्वर्युः 'अग्न आयाहि वीतये' इति मन्त्रेण रासभात् पिण्डमाहृत्य ऋतं सत्यमिति मन्त्रेण अजस्योपरि पिण्डं धारयेत्। 'परिवृते प्राग्द्वारे पिण्डं निदधाति' (का० श्रौ० १६।३।१४) इति, निधानपर्यन्तमित्यर्थः। एकपदा गायत्री अग्निदेवत्या। हे अग्ने, वीतये हविर्भक्षणाय आयाहि आगच्छ। यद्वा हे मृत्पिण्ड, वीतये तर्पणाय रासभादागच्छ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमेतेषां पशूनामुपरिष्टात् प्रगृह्णाति। तदेनमेतैः पशुभिः सम्भरति नोपस्पृशति वज्रो वै पशवो रेत इदं नेदिद्ँ रेतो वज्रेण हिनसानीत्यथो अग्निरयं पशव इमे नेदयमग्निरियान् पशून् हिनसदिति' (श० ६।४।४।६)। अनुपस्पृशन् पिण्डं धारयेदित्युक्तमुपरिष्टात्। तद्विधत्ते अथैनमेतेषां पशूनामिति। उपस्पर्शनाभावं प्रशंसति—वज्रो वै पशव इति। यतो वज्ररूपाः पशवः, मृत्पिण्डश्च रेतोरूपः,

अतो वज्रेण रेतो विच्छिन्नं न करोमीति बुद्ध्या पशून्न स्पृशेत् । यद्वा अयं मृत्पिण्डो हि अग्निः । अग्निः पशून्मा हिंसीदिति बुद्ध्या न स्पृशेत् । हिनसानीति लोटि रूपम् । हिनसदिति लेटि पञ्चमलकारे रूपम् । 'तमश्वस्योपरिष्टात् प्रगृह्णाति । प्रैतु वाजी कनिक्रददिति प्रैतु वाजी कनिक्रद्यमान इत्येतन्नानदद्रासभः पत्वेति तदश्वस्य यजुषि रासभं निराह तद्रासभे शुचं दधाति भरन्नग्निं पुरीष्यं मा पाद्यायुषः पुरेति भरन्नग्निं पशव्यं मो अस्मात् कर्मणः पुरा पादीत्येतत्तदेनमश्वेन सम्भरति' (श० ६।४।४।७) । अश्वस्योपरिधारणं समन्त्रं विधत्ते—तमश्वस्योपरिष्टादिति । अश्वस्योपरिधारणमन्त्रे रासभः पत्वेति गर्दभवचनस्य प्रयोजनमाह—तदश्वस्य यजुषि रासभं निराहेति । अश्वमन्त्रे रासभवचने तस्माद्रासभादश्वस्यातिशयितत्वोक्तेस्तस्मिन् गर्दभे शोकबलराहित्यमेव निहितं भवतीति ।

'अथ रासभस्य । वृषाग्निं वृषणं भरन्निति वृषा वा अग्निर्वृषा रासभः स वृषा वृषाणं भरत्यपां गर्भꣳ समुद्रियमित्यपाꣳ ह्येष गर्भः समुद्रियस्तदेनꣳ रासभेन सम्भरति' (श० ६।४।४।८) । अत्र सूत्रानुसारेण ऋचः पूर्वार्धेन रासभस्योपरि मृत्पिण्डस्य धारणं तृतीयपादेनाजस्योपरि धारणाय रासभाद् मृत्पिण्डहरणं चतुर्थेन अजस्योपरि धारणं चतुर्थेन अनद्धापुरुषेक्षणम् । यथोक्तं सूत्रकारेण—'प्रैतु वाजी वृषाग्निमित्यश्वखरयोः । अग्न आयाहीत्याहृत्य खराच्छागस्यर्तꣳ सत्यमित्यानिधानात् । आयन्त्यावर्त्य पशूनजः पुरस्ताद्रासभो मध्ये । अनद्धापुरुषमीक्षते पूर्ववदग्निं पुरीष्यमिति' (का० श्रौ० १६।३।१०–१३) । ततोऽश्वादीन् पशून् प्रदक्षिणावर्तनं प्रत्यङ्मुखान् कृत्वा तैः सह ब्रह्मयजमानाध्वर्यवः परिवृत्तं प्रत्यागच्छेयुः । तत्राजः प्रथमं रासभो मध्ये अश्वः पश्चाद् गच्छेत् । ज्वलत्स्वग्निषु अनद्धापुरुषं पूर्ववदेवेक्षेत । 'अथापादत्ते । अग्न आ याहि वीतय इत्यवितव इत्येतत्तदेनं ब्रह्मणा यजुषैतस्माच्छौद्राद्वर्णादपादत्ते' (श० ६।४।४।९) । खराद् मृदाहरणं समन्त्रं विधत्ते—अथापादत्त इति । वीतय इत्यस्यार्थमाह—अवितव इति । तर्पणार्थाद् वेतेः क्तिन्, तर्पणायेत्यर्थः । अपादानं प्रशंसति—तदेनं ब्रह्मणेति । एनं मृत्पिण्डं ब्रह्मणा ब्रह्मरूपेण यजुषा अग्न आयाहीति पादेन । एतस्मात् शौद्राद् वर्णाद् अपादत्तवान् भवति । रासभस्य वैश्यशूद्रजातिसम्बन्धः 'वैश्यं च शूद्रं चानु रासभः' (श० ६।४।४।१२) इति कण्डिकायामाम्नातः ।

अध्यात्मपक्षे—अयं साधकः, अथवा जीवः, अश्व इव प्रैति परमात्मप्राप्तिपथं प्रकर्षेण तीव्रवेगेन गच्छति । किं कुर्वन् ? कनिक्रदद् मन्त्रमयं नाममयं वा भृशं शब्दं कुर्वन्, रासभ इव नानदद् उच्चैः स्वरेण भृशं हरिनामकीर्तनं कुर्वन्, पत्वा गमनशीलः पुरीष्यं पशव्यं जीवरूपपशुहितैषिणम् अग्निं रुद्रं धरन् हृदये धारयन् । आयुष आरब्धादुपासनाकर्मणः फलपर्यन्तसमाप्तेः पुरा पूर्वं मा पादि मा विनश्यतु । कीदृशमग्निम् ? वृषणं सेक्तारं फलाभिवर्षणसमर्थम् । अपांगर्भम् अन्तर्यामिरूपेण लोकानामन्तरवस्थितं समुद्रियं भवसमुद्रे तदधिष्ठानरूपेण विद्यमानं हे अग्ने वीतये विविधपुरुषार्थप्राप्तये साधकहृदयमासमन्तादागच्छ ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने सुसन्तान, भवान् कनिक्रदद् गच्छन् नानदद् भृशं शब्दं कुर्वन् रासभो दातुं योग्यः पत्वा पतति गच्छति यः स वाजी अश्व इव आयुषो नियतवर्षाद् जीवनात् पुरा पूर्वं मा प्रैतु मा गच्छतु । पुरीष्यं पुरीषेषु पालनेषु साधुम्, अग्निं विद्युतम्, भरन् मा पादि मा गच्छ । इतस्ततो मा गच्छ । वृषा बलिष्ठः, अपां जलानां गर्भं समुद्रियं समुद्रे भवं वृषणं वर्षायितारम् अग्निं सूर्यं भरन् सन् वीतये विविधसुखानां प्राप्तये आयाहि प्राप्नुहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, श्रुतिविरोधात्. तत्राश्वरासभाजानां पशूनामेव ग्रहणात् । पुरीष्यमित्यस्य पशव्यमिति तत्र व्याख्यानम् ॥ ४६ ॥

ऋतᳪ᳭सत्यमृतᳪ᳭ सत्यमग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भरामः। ओषधयः प्रतिमोदध्वमग्निमेतᳪ᳭ शिवमायन्तमभ्यत्र युष्माः। व्यस्यन् विश्वा अनिरा अमीवा निषीदन्नो अप दुर्मतिं जहि ॥४७॥

मन्त्रार्थ—आदित्य और अग्नि ये दोनों ही व्यष्टिसमष्टि रूप और ऋतसत्य रूप हैं, अजा के द्वारा हम इनकी रक्षा करते हैं, पशुसम्बन्धी अग्नि को अंगिरा ऋषि के समान संग्रह करते हैं। हे सम्पूर्ण औषधियो ! तुम शान्त कल्याणकारक हो, तुम्हारे सम्मुख आ रहे इस अग्नि का प्रत्युत्थान आदि के द्वारा स्वागत करो। हे अग्ने, तुम यहाँ विराजमान होकर हमारे सम्पूर्ण दुर्भिक्ष, पीड़ा, ईति, व्याधि आदि को दूर कर हमारी रक्षा करो, हविर्दान से पराङ्मुख हमारी दुर्मति का नाश करो ॥ ४७ ॥

छागस्योपरि मृत्पिण्डं धारयन् जपति—ऋतᳪ᳭सत्यमिति। प्राजापत्या गायत्री यजुरग्निदेवत्यम्। ऋतमादित्यं सत्यमग्निम् आदित्याग्निरूपं मृत्पिण्डं अग्निम्, अध्याहरामीति शेषः। ऋतसत्यशब्दाभ्यामादित्याग्नी विवक्षितौ। ऋतं सत्यमिति पुनर्वचनमादरातिशयार्थम्। वक्ष्यमाणश्रुतेर् ऋतमग्निः सत्यमादित्य इत्यपि। 'अनद्धापुरुषमीक्षते पूर्ववदग्निं पुरीष्यमिति' (का० श्रौ० १६।३।१३) इति देवपितृकार्यविमुखमनद्धापुरुषम्, उच्छृङ्खलमिति यावत्, अध्वर्युरीक्षते ज्वलत्स्वग्निष्वाहवनीयान्ते स्थित इति पूर्ववत्पदेन ज्ञेयम्। अयं विषयः षोडशेऽध्याये द्वितीयकण्डिकायां त्रयोदशे सूत्रे प्रतिपादितः। आग्नेयं यजुः साम गायत्री। पशव्यमग्निमङ्गिरसो मुनय इव भरामो हरामः। 'उत्तरत आहवनीयस्योद्धतावोक्षिते सिकतोपकीर्णे परिवृते प्राग्द्वारे पिण्डं निदधात्योषधय इति' (का० श्रौ० १६।३।१४)। उखासम्भरणार्थमुद्धृतस्य आहवनीयस्योत्तरस्यां दिशि पञ्चहस्तं परिवृतं गृहं निर्माय तत्र परिवृत आच्छादितप्रदेशे मृत्पिण्डं निदध्याद् ओषधय इति मन्त्रेण। कीदृशे परिवृते प्रदेशे ? उद्धते कृतोल्लेखने, अवोक्षिते सिक्ते प्राग्दिशि द्वारं यस्य तादृशे सिकतोपकीर्णे एतादृशे प्रदेशे। आहवनीयस्योत्तरभागे यस्मिन् देशे मृत्पिण्डो निधीयते, तस्मिन् देशे उच्छिष्टादिशङ्कोपेतस्योपरितनतृणाद्यपेतमृद्भागस्यापसारणं कर्तव्यम्। तदेतदुद्धननं कृत्वा उदकेनावोक्ष्य सिकतां प्रसार्य तस्य देशस्य परितः प्रावरणं कृत्वा प्राग्द्वारं कुर्यात्। तत्र ओषधय इति मन्त्रेण मृत्पिण्डं निदध्यादिति सायणाचार्यः। हे ओषधयः, यूयमेतमग्निं प्रतिमोदध्वम् अभ्युत्थानादिभिः प्रहर्षयत। यद्वा प्रतिमोदस्य भयराहित्यमर्थः। कीदृशमग्निम् ? शिवं शान्तम्। अत्र अस्मिन् देशे स्थितान् युष्मा युष्मान् अभिमुखीकृत्य आयन्तमागच्छन्तम्। एवमर्धर्चेनौषधीरुक्त्वा अग्निमाह—हे अग्ने, त्वमत्र अस्मिन् प्रदेशे निषीदन् निविशमानः सन्नोऽस्माकं दुर्मतिं दुर्बुद्धिं नास्ति दत्तं नास्ति हुतमित्येवमात्मिकां नास्तिक्यबुद्धिम् अपजहि अपनय। किं कुर्वन् ? विश्वाः सर्वाः, अनिरा इरा इत्यन्ननाम, न विद्यते इरा अन्नं यासु ता अतिवृष्ट्याद्या ईतीः। अथवा इरेत्युदकनाम। अनिरा अनावृष्टीः। व्यस्यन् विक्षिपन्। अमीवा व्याधींश्च व्यस्यन् नोऽस्माकं दुर्मतिं प्रमादालस्यादियुक्तां दुर्बुद्धिमपजहि। 'युष्माः' इत्यत्र शसः सकारस्य 'तस्माच्छसो नः पुंसि' (पा० सू० ६।१।१०३) इत्यनेन नकारः। 'उभयथर्क्षु' (पा० सू० ८।३।८) इति नकारस्य रुत्वं विसर्गः।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथाजस्य। ऋतᳪ᳭सत्यमृतᳪ᳭सत्यमित्ययं वा अग्निरृतमसावादित्यः सत्यं यदि वाऽसावृतमयᳪ᳭ सत्यमुभयं वेतदयमग्निस्तस्मादाहर्तᳪ᳭ सत्यमृतᳪ᳭ सत्यमिति तदेनमजेन सम्भरति' (श० ६।४।४।१०)। अजस्योपरि धारणमन्त्रं विधत्ते—अथाजस्यर्तमिति। ऋतं सत्यमिति द्विः पठ्यते। तत्र प्रथमर्तसत्यपदयोरर्थमाह—अयं वा अग्निरृतमिति। यदि वासावृतमयᳪ᳭ सत्यमिति द्वितीयर्तसत्यपदयोरर्थ उक्तः। असौ विप्रकृष्ट आदित्य ऋतम् अयमग्निः सत्यम्। उभयरूपोऽयमग्निर्मृद्रूपः, तदेनमजेन सम्भरति।

'त्रिभिः सम्भरति। त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतत्सम्भरति त्रिभिः पुरस्तादभिमन्त्रयते तत्षट् तस्योक्तो बन्धुः' (श० ६।४।४।११)। अग्निं पुरीष्यमिति मन्त्रशेषविनियोग उत्तरत्र वक्ष्यते। इदानी-मश्वादीनामुपरि धारणे विनियुक्तमन्त्रगतसंख्यां त्रिवृदात्मना स्तौति—त्रिभिरिति। 'प्रैतु वाजी' इत्येको मन्त्रः, 'वृषाग्निम्' इति महाबृहत्यामपरः, रासभाजयोरुपरि धारणे विनियुक्तौ द्वौ मन्त्रौ। याज्ञिकसमाख्यानस्यैव मन्त्रलक्षणत्वाद् एकस्यामप्यृचि विभज्य विनियोगान्मन्त्रा बहवः सम्पद्यन्त इत्यविरोध इति सायणः। अभिमन्त्रणमन्त्रास्त्रयः, धारणमन्त्रास्त्रयः—ते षट् सम्पद्यन्ते। तस्य स्तावकं ब्राह्मणमतिदिशति—तस्योक्तो बन्धुरिति। पिण्डपरिग्रहमन्त्रसंख्याप्रस्तावे—'ताः षट् सम्पद्यन्ते, षड् वा ऋतवः' (श० ६।४।२।१०) इत्यादिरूपेण तत्प्रशंसा विहिता।

'अथैतान् पशूनावर्तयन्ति। तेषामजः प्रथम एत्यथ रासभोऽथाश्वोऽथैतो यतामश्वः प्रथम एत्यथ रासभोऽथाजः क्षत्रं वा अन्वश्वो वैश्यं च शूद्रं चानु रासभो ब्राह्मणमजः' (श० ६।४।४।१२)। 'तद्यदितो यताम्। अश्वः प्रथम एति तस्मात् क्षत्रियं प्रथमं यन्तमितरे त्रयो वर्णाः पश्चादनुयन्त्यथ यदमुत आयतामजः प्रथम एति तस्माद् ब्राह्मणं प्रथमं यन्तमितरे त्रयो वर्णाः पश्चादनुयन्त्यथ यन्नैवेतो यतां नामुतो रासभः प्रथम एति तस्मान्न कदाचन ब्राह्मणश्च क्षत्रियश्च वैश्यं च शूद्रं च पश्चादन्वितस्तस्मादेवं यन्त्यपापवस्यसायाथो ब्रह्मणा चैवैतत् क्षत्रेण चैतौ वर्णावभितः परिगृह्णीतेऽनपक्रमिणौ कुरुते' (श० ६।४।४।१३)। अथैतेषां पशूनामावर्तनं विधत्ते—अथैतान् पशूनिति। स्वस्थानावस्थितानामेवावर्तनं तत्रागन्तॄणां पशूनां क्रमं विधत्ते—तेषामजः प्रथम इति। पूर्वम् इतो मृदाहरणार्थं यतां गन्तॄणां पशूनां मध्ये अश्वः प्रथमो गतो रासभो मध्ये, पश्चाद् अजः, अधुना अजः प्रथमो रासभो मध्ये पश्चाद् अश्वः। गमनागमनयोरुभयोरपि रासभस्य मध्येऽवस्थानम्। अश्वाजयोरेव पौर्वापर्यम्। 'क्षत्रं वा अन्वश्वो वैश्यं च शूद्रं चानु रासभो ब्राह्मणमजः' इत्यादीनामयमर्थः—अश्वादिपशुत्रयस्य क्षत्रियजातिसम्बन्धः, क्षत्रियस्य राज्ञ इतरेभ्यस्त्रिभ्यो वैश्यशूद्रब्राह्मणेभ्यः पुरस्ताद् गमनं लोके दृष्टम्। तत्र यथापूर्वं गमनसमयेऽश्वस्य प्राथम्यम्, तथा ब्राह्मणस्यानूचानस्य स्वव्यतिरिक्त-वर्णत्रयात् प्रथमगमनं च दृश्यत इत्यधुना अजस्य प्राथम्यम्। वैश्यशूद्रयोः क्षत्रियाद् ब्राह्मणाद्वा पुरस्ताद् गमनं नास्तीति मृदाहरणसमये पुनरागमनसमये च रासभस्य न प्राथम्यम्। तस्मात् कारणादेवं यान्ति अश्वपूर्वाः प्रथमे, अधुना अजपूर्वा आगच्छन्ति। अपापवस्यसाय पापपरिहाराय। ब्राह्मणेन क्षत्रियेण च एतौ वैश्यशूद्रौ अभितो मध्ये परिगृह्णीते अनपक्रमिणौ अनपक्रान्तौ कुरुते। 'अथानद्धापुरुषमीक्षते। अग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद् भराम इत्यग्निं पशव्यमग्निवद् भराम इत्येतत्तदेनमनद्धापुरुषेण सम्भरति' (श० ६।४।४।१४)। तत्र पुरुषं पञ्चमम्, महाबृहत्याः पञ्चमपादेनेत्यर्थः, अग्निं पुरीष्यमिति तदीक्षणेन तेनाप्यनद्धापुरुषेण पुरुषप्रतिनिधिना मृदं सम्भृतवान् भवति।

'तमजस्योपरिष्टात् प्रगृह्णन्नेति। आग्नेयो वा अजः स्वेनैवैनमेतदात्मना स्वया देवतया सम्भरत्यथो ब्रह्म वा अजो ब्रह्मणैवैनमेतत् सम्भरति' (श० ६।४।४।१५)। अजस्योपरि मृत्पिण्डं धारयन्नेव ऐति आगच्छेदध्वर्युः। तथाविधं गमनमुभयथा प्रशंसति—आग्नेयो वा अज इति। अजोऽग्निदेवत्यः, मृदप्यग्निः। अतोऽजस्योपरि-धारणात् स्वेन रूपेण स्वदेवत्यं सम्भृतवान् भवति। अपि अजो ब्राह्मणजातीयः। ततो ब्राह्मणेनाप्येनं मृत्पिण्डं सम्भृतवान् भवति। 'अथैनमुपावहरति। ओषधयः प्रतिमोदध्वमग्निमेतꣳ शिवमायन्तमभ्यत्र युष्मा इत्येतद्वै-तस्मादायत ओषधयो बिभ्यति यद्वै नोऽयं न हिꣳस्यादिति ताभ्य एवैनमेतच्छमयति प्रत्येनं मोदध्वꣳ शिवो वोऽभ्यैति न वो हिꣳसिष्यतीति व्यस्यन् विश्वा अनिरा अमीवा निषीदन्नो अप दुर्मतिं जहीति व्यस्यन् विश्वा अनिराश्चामीवाश्च निषीदन्नोऽप सर्वं पाप्मानं जहीत्येतत्' (श० ६।४।४।१६)। अथाजसकाशाद्

मृत्पिण्डस्यावरोहणं समन्त्रं विधत्ते—अथाजमिति। इरेत्यन्ननाम। अनिरा अन्नप्रतिबन्धहेतून् अनावृष्ट्यादीन् अमीवा रोगांश्च व्यस्यन् विक्षिपन् निषीदन्नुपविशन् नो दुर्मतिं दुष्टुतिमयीं मतिम् अपजहीति। प्रतिमोदध्वमिति यदोषधीः प्रत्युक्तम्, तस्याभिप्रायमाह—एतद्धैतस्मादायत ओषधय इति। आयतः अग्नेः सकाशाद् ओषधयो बिभ्यति स्वस्य आत्मानं भक्षयिष्यति किलेति। तत्परिहाराय प्रतिमोदध्वमित्युक्तिः। यतोऽग्निः शान्तः, अतो यूयमेनं प्रतिमोदध्वमिति। शिवः सुखकर एव सन् वो युष्मान् अभ्येति, न वो हिंसिष्यतीति तात्पर्यम्। उत्तरार्धगतं दुर्मतिपदं व्याचष्टे—सर्वं पाप्मानं जहीति।

अथाध्यात्मम्—हे अग्ने परमात्मन्, त्वत्प्रसादाद् वयम् ऋतं सूनृतां वाणीं सत्यं समदर्शनम् ऋतमबाधितं सत्यं परमार्थसत्यरूपमग्निं प्रत्यकचैतन्याभिन्नं ब्रह्म भरामो हृदये धरामः। कीदृशमग्निम् ? पुरीष्यम्, पशव्यं पशूनां जीवानां हितकरम्, सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदत्वात्। कथमिव ? अङ्गिरस्वत्, यथा अङ्गिरसो मुनयोऽग्निं भरन्ति तद्वदित्यर्थः। हे ओषधयः, अन्नमयादयः पुरुषा ओषधिपरिणामाः, 'ओषधीभ्योऽन्नम्'''स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' (तै० उ० २।१) इति श्रुतेः। यूयमेनमायन्तमग्निं प्रतिमोदध्वम्, तदागमनेनैव युष्माक-मुत्थानसम्भवात्। महाविराजि वाय्वादित्याग्न्यादीनां प्रवेशेऽपि 'नोदतिष्ठत्तदा विराट्' (भा० पु० ३।२६।६३-६९) इति तदनुत्थानमुक्तम्। परमेश्वरप्रवेशेनैव—'चित्तेन हृदयं चैत्यः क्षेत्रज्ञः प्राविशद्यदा। विराट् तदैव पुरुषः सलिलादुदतिष्ठत॥' (भा० पु० ३।२६।७०) इति समुत्थानमुक्तम्। अतः प्रत्युत्थानादिभिस्तत्सम्मानं कुरुत। कीदृशमग्निम् ? शिवं निरुपप्लवसुखरूपम्। पुनः कीदृशम् ? अत्र युष्मानभिलक्ष्य युष्माकमुत्थानाय ऐहिका-मुष्मिकव्यवहारवृत्तिमुद्दिश्यायन्तम्। हे अग्ने, हे भगवन् परमात्मन्, त्वमत्र निषीदन् प्रविशन् नोऽस्माकं दुर्मतिं नास्तिक्यबुद्धिम् असम्भावनाविपरीतभावनामयीं वा दुर्बुद्धिम् अपजहि। किं कुर्वन् ? अनिरा इरा भारती ज्ञानलक्षणा सरस्वती, तद्भिन्ना अनिरा संशयविपर्ययादयः, तान्निरस्यन्। अमीवाः कामक्रोधादिलक्षणान् व्याधींश्च निरस्यन् दुर्मतिमपनयेत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे सन्तानाः, यथा वयमृतं यथार्थं सत्यमविनश्वरम् ऋतमव्यभिचारी सत्यं सत्सु पुरुषेषु सत्यं मानं भाषणं कर्म च पुरीष्यं पालनसाधनेषु भवम् अग्निं विद्युतम् अङ्गिरस्वद् वायुवद् भरामो धरामः, तथा एतं पूर्वोक्तमायन्तं प्राप्नुवन्तं शिवं मङ्गलकारिणम् अग्निं भृत्वा यूयमप्यभिमोदध्वं सुखयत। या ओषधयो यवादयो युष्मा युष्मान् प्रति प्राप्नुवन्ति, ता वयं भरामः। हे वैद्य, त्वं विश्वाः सर्वा अनिरा नितरां दातुमयोग्या अमीवा रोगमयीः व्यस्यन् विविधतया प्रतिक्षिपन् अत्रायुर्वेदविद्यायां निषीदन् अवस्थितः सन् नोऽस्माकं दुर्मति-मपजहि दूरीकुर्वित्येनं प्रार्थयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सुसन्तानवैद्ययोः सम्बोधने मानाभावात्, ऋतसत्यादि-शब्दयोरक्ष्यादित्यपरत्वेन श्रुतिव्याख्यानविरोधात्, अग्निसंस्मरणप्रकरणविरोधाच्च॥ ४७॥

ओषधयः प्रतिगृभ्णीत पुष्पवतीः सुपिप्पलाः।
अयं वो गर्भ ऋत्वियः प्रत्नꣳ सधस्थमासदत्॥ ४८॥

मन्त्रार्थ—हे सम्पूर्ण औषधियो, तुम फूलों वाली और अच्छे फलों वाली हो, इस अग्नि को स्वीकार करो। तुम्हारे गर्भरूप ऋतु काल को प्राप्त यह अग्नि पुरातन स्थान में स्थित हो जाय॥ ४८॥

ओषधिदेवत्या प्राजापत्या अनुष्टुप्। हे ओषधयः, एतमग्निं प्रतिगृभ्णीत आदरवत्यः सत्यो गृह्णीत स्वीकुरुत। यूयं कीदृश्यः ? पुष्पवतीः पुष्पवत्यः प्रशस्तपुष्पोपेताः, 'वा छन्दसि' (पा० सू० ६।१।१०६) इति

पूर्वसवर्णदीर्घः । पुनः कीदृश्यः ? सुपिप्पलाः सुष्ठु शोभनं पिप्पलं फलं यासां ताः, शोभनपुष्पफला भूत्वा प्रति-गृह्णीत । अयं हि वो युष्माकं गर्भं ऋत्विय ऋतव्यः प्राप्तकालः । प्रत्नं पुराणं शाश्वतिकं सधस्थं सहस्थानम् आसदद् आसीदति—इत्युव्वटः । ऋतुः प्राप्तोऽस्येति ऋत्वियः, 'छन्दसि घस्' (पा० सू० ५।१।१०६) इति कालप्राप्तौ घस्प्रत्ययः, ऋतुकालीनः प्राप्तकालोऽयमग्निर्वो युष्माकं गर्भो भूत्वा प्रत्नं पुरातनं सधस्थं सहस्थानं गर्भयोग्यस्थानमासीदति—इति काण्वसंहिताभाष्ये सायणः ।

तत्र ब्राह्मणम् —'ओषधयः प्रतिगृभ्णीत । पुष्पवतीः सुपिप्पला इत्येतद्वैतासाᳬ समृद्धᳬ रूपं यत्पुष्पवत्यः सुपिप्पलाः समृद्धा एनं प्रतिगृभ्णीतेत्येतदयं वो गर्भ ऋत्वियः प्रत्नᳬ सधस्थमासददित्ययं वो गर्भ ऋतव्यः सनातनᳬ सधस्थमासददित्येतत्' (श० ६।४।४।१७) । द्वितीयं मन्त्रं विधत्ते— ओषधयः प्रतिगृभ्णीतेति । मन्त्रं व्याचष्टे— एतद्वैतासामिति । पुष्पफलवत्त्वमेव समृद्धं रूपमित्यर्थः । 'द्वाभ्यामुपावहरति । द्विपाद्यजमानो यजमानोऽग्नि-र्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदुपावहरति तं दक्षिणत उदञ्चमुपावहरति तस्योक्तो बन्धुरुद्धतमवोक्षितं भवति यत्रैनमुपावहरत्युद्धते वा अवोक्षितेऽग्निमादधति सिकता उपकीर्णा भवन्ति तासामुपरि बन्धुः' (श० ६।४।४।१८) । उपावहरणमन्त्रगतसंख्यां प्रशंसति द्वाभ्यामुपावहरतीति । तदिदं विधत्ते—तं दक्षिणत उदञ्चमित्या-दिना । एतद्ब्राह्मणमूलकमेव कात्यायनसूत्रम्—'उत्तरत आहवनीयस्य' (का० श्रौ० १६।३।१४) इत्यादि, तत्तु पूर्वमुद्धृतमेव । तं पिण्डं दक्षिणतः प्रदेशादुदञ्चमुदङ्मुखम् उपावहरेद् निदध्यात् । दक्षिणत उदगागमनस्य स्तावकं ब्राह्मणमतिदिशति—तस्योक्तो बन्धुरिति, 'दक्षिणतो वा उदग्योनौ रेतः सिच्यते' (श० ६।४।२।१०) इति । यत्र स्थाने एनं पिण्डं निदध्यात्, तत्स्थानम् उद्धतम् उद्धननसंस्कृतम् अवोक्षितम् उदकसिक्तं भवेत् । पिण्डस्याग्निरूपत्वात् तत्समानप्रदेशकरणं युक्तमित्याह—उद्धते वा अवोक्षितेऽग्निमिति । गार्हपत्यादिधिष्ण्य-मित्यर्थः । तस्मिन् प्रदेशे सिकता विकीर्णा भवन्ति । तत्स्तावकं ब्राह्मणमुपरिष्टाद् वक्ष्यत इत्याह — तासामुपरि बन्धुरिति ।

'परिश्रितं भवति । एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इममिह रक्षाᳬसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तस्मा एतां पुरं पर्यश्रयंस्तथैवास्मा अयमेतां पुरं परिश्रयत्यथो योनिर्वा इयᳬ रेत इदं तिर इव वै योनौ रेतः सिच्यते योनि-रूपमेतत्क्रियते तस्मादपि स्वया जायया तिर इवैव चिचरिषति' (श० ६.४।४।१९) । तासां विकीर्णानां सिकतानां परिश्रितमिव परिवृतं भवेत् । परिश्रितकरणं नाम रक्षोभीत्या पुरस्य करणम् । प्रकारान्तरेण स्तौति— अथो योनिर्वा इयमिति । इदं परिश्रितं स्थानं योनिरूपम्, इदं पिण्डरूपं रेतो यतश्च योनौ तिरः अप्रकाशं सिच्यते । उक्तमर्थं लोकप्रसिद्धया द्रढयति—तस्मादिति । तस्मात् सर्वोऽपि जनः स्वया जाययापि तिर इवैव चरितुमिच्छति ।

अध्यात्मपक्षे—हे ओषधयः, अन्नमयादिपुरुषाः, यूयं पुष्पवत्यः फलवत्यश्च साङ्गोपाङ्गा भूत्वा एनमग्नि-मात्मरूपं प्रतिगृह्णीत सर्वाधिष्ठानतया निश्चिनुत । अयं वो युष्माकं गर्भः सर्वान्तर ऋत्वियः प्राप्तकालः प्रत्नं पुरातनं सधस्थं सहस्थानं प्राप्तवान् परमात्मा अनादिकालादधिष्ठानभूतः सर्वान्तरत्वेन स्वस्मिन् कल्पितैः सह स्थानं प्राप्तवानस्तीति ।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रियः, यूयं या ओषधयः सोमादयः सन्ति, याभ्योऽयमृत्विय ऋतुः प्राप्तो यस्य सः, गर्भे वो युष्माकं प्रत्नं पुरातनं सधस्थं सहस्थानं गर्भाशयमासदत् प्राप्नुयात्, ताः पुष्पवतीः श्रेष्ठानि पुष्पाणि यासां ताः सुपिप्पलाः शोभनफला ओषधीः प्रतिगृभ्णीत' इति, तत्तु प्राकृतमेव, लोकप्राप्तत्वात्, स्त्रीणां सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, शिक्षाकालेऽयं वो गर्भ इति निर्देष्टुमशक्यत्वाच्च । नह्यध्ययनकालोऽस्य ऋतुः । तर्हि कथं ऋत्विय इति ? ॥ ४९ ॥

वि पाजसा पृथुना शोशुचानो बाधस्व द्विषो रक्षसो अमीवाः ।
सुशर्मणो बृहतः शर्मणि स्यामग्नेरह॑ सुहवस्य प्रणीतौ ॥ ४९ ॥

मन्त्रार्थ—बड़े विस्तार वाले बल से दीप्तिमान् हे अग्ने, तुम शत्रुओं को, राक्षसों को और समस्त व्याधियों को विशेष रूप से दूर करो। सभी प्रकार के सुखों को बुलाने में समर्थ अग्निदेव को प्रसन्न करने के कार्य में मैं नियुक्त हूँ, अतः सभी प्रकार के सुख मुझे प्राप्त हों ॥ ४९ ॥

'विपाजसेति प्रमुच्यैनमजलोमान्यादाय प्रागुदीचः पशूनुत्सृजति' (का० श्रौ० १६।३।१५)। मुञ्जयोक्त्रेण कृष्णाजिनबद्धमेनं मृत्पिण्डं विस्रंस्य अजस्य रोमाणि गृहीत्वा पशुत्रयमीशानीं दिशं प्रत्युत्सृजेत्। अग्निदेवत्या त्रिष्टुप् कात्योत्कीलदृष्टा। हे अग्ने, द्विषः शत्रून् रक्षसः राक्षसान् अमीवाः रोगान् पाप्मनः विबाधस्व। वीत्युपसर्गो बाधस्वेति क्रियया सम्बद्ध्यते। कीदृशस्त्वम् ? पृथुना विततेन पाजसा बलेन. पाज इति बलनाम (निघण्टु २।९।२), शोशुचानो भृशं दीप्यमानः। शोचतेर्यङ्लुगन्ताच्छानचि रूपम्। एवं प्रत्यक्षं याचित्वा अथेदानीं परोक्षीकृत्याशिषमाशास्ते–अग्नेः प्रणीतौ प्रकृष्टनीतौ अभ्यनुज्ञायां परिचर्यायां वा। शर्मणि शरणे सुखे वा अहं स्यां भवेयम्। आश्रयं सुखं वा प्राप्नुयामित्यर्थः। कीदृशस्याग्नेः ? सुशर्मणः साधुशरणस्य। पुनः कीदृशस्य ? बृहतो महतः। पुनः कीदृशस्य ? सुहवस्य सुष्ठु शोभनं हव आह्वानं यस्य स सुहवस्तस्य सुखेनाह्वातुं शक्यस्य वा।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनं विष्यति। तद्यदेवास्यात्रोपनद्धस्य सँ शुच्यति तामेवास्मादेतच्छुचं बहिर्धा दधात्यथो एतस्या एवैनमेतद्योनेः प्रजनयति' (श० ६।१।४।४।२०)। विष्यति प्रमुञ्चेत्। पूर्वं कृष्णाजिन-पुष्करपर्णयोर्मध्ये पिण्डं निधाय अन्तानुद्गृह्य योक्त्रेण बन्धनं कृतम्, तद् योक्त्रम् अन्तोद्ग्रहणं च मुञ्चेदित्यर्थः। विमोकं स्तौति तद्यदेवास्येति। पूर्वमन्त्रोपनद्धस्य पिण्डस्य शोको जातः। तां बन्धनजातां शुचं तद्विमोकेन बहिर्धा निहितवान् भवति। किञ्च, पुष्करपर्णं च योनिरूपमित्युक्तं श्रुतौ (श० ६।४।१।७), अतो बन्धनरूप-योक्त्रविमोकाद् योनेरेव पिण्डं मुखाद्यात्मना जायतामित्यभिप्रायेण तद्विमोक इत्यर्थः। 'विपाजसा पृथुना शोशुचान इति। विपाजसा पृथुना दीप्यमान इत्येतद्बाधस्व द्विषो रक्षसो अमीवा इति बाधस्व सर्वान् पाप्मन इत्येतत्सुशर्मणो बृहतः शर्मणि स्यामग्नेरहँ सुहवस्य प्रणीतावित्याशिषमाशास्ते' (श० ६।४।४।२१)। एतद्-ब्राह्मणानुसारेणैव अमीवा इत्यस्य सर्वान् पाप्मन इति व्याख्यानं कृतम्। शोशुचान इत्यस्य दीप्यमान इति। 'अथाजलोमान्याच्छिद्य। उदीचः प्राचः पशून् प्रसृजत्येषा ह्युभयेषां देवमनुष्याणां दिग्यदुदीची प्राच्येतस्यां तद्दिशि पशून् दधाति तस्मादुभये देवमनुष्याः पशूनुपजीवन्ति' (श० ६।४।४।२२)। उदीचः प्राच ईशानदिगभिमुखान् प्रसृजति विसृजेत्। तां दिशं प्रशंसति—एषा ह्युभयेषामिति। एतन्मूलकं सूत्रं चोक्तमेव।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन्, पृथुना विस्तृतेन पाजसा बलेन द्विषः शत्रुभूतान् रक्षसो बाह्यान् रावणादीन् आन्तरान् कामादींश्च, अमीवा आन्तरान् बाह्यांश्च पाप्मनो विबाधस्व विनाशय। परोक्षेणाह— अग्नेः पापनाशकस्य अप्रधृष्यस्य भगवतः प्रणीतौ प्रणयनेऽभ्यनुज्ञायां परिचर्यायां विद्यमानायामहं शर्मणे सुखे स्यां सुखी स्याम्, परमेश्वराज्ञावशवर्तिताया एव सर्वसुखमूलत्वात्। कीदृशस्याग्नेः ? सुशर्मणः सुष्ठु शोभनम् अविनश्वरं शं गर्भसुखं यस्मात्तस्य. शोभनं शरणमाश्रयणं यस्य तस्य वा, मोक्षाख्यमविनश्वरं सुखं परमात्माश्रयणेनैव भवति। भगवच्छरणागतिरेव शोभना शरणागतिः, अन्यालम्बनस्य कुशकाशावलम्बन-प्रायत्वात्। पुनः कीदृशस्याग्नेः ? बृहतो महतः, तद्भिन्नस्य सर्वस्यैव क्षुद्रत्वात्। पुनः कीदृशस्य ? सुहवस्य,

शोभनं हवमाह्वानं यस्य तस्य। परमात्मन आह्वानमपि मङ्गलमयम्। यद्वा सुखेनाह्वातुं शक्यस्य। अन्ये देवा दुराराध्यास्तेषामाह्वानमतीव दुःशकम्। परमेश्वरस्तु सकृदाह्वानेनाप्यागच्छति। गजेन्द्राह्वानेनातिशीघ्रमेव गरुडादीन् शीघ्रगामिवाहनान् परित्यज्यापि शीघ्रमेवागतः।

दयानन्दस्तु—'हे पते, त्वं पृथुना विपाजसा बलेन सह शोशुचानो भृशं शुचिः सन् सदा वर्तेथाः। अमीवा रोग इव प्राणिनां पीडका रक्षसो दुष्टा द्विषः शत्रुभूता व्यभिचारिणीर्वृषलीर्बाधस्व। तर्हि बृहतो महतः सुशर्मणः शोभितगृहस्य सुहवस्य शोभनो हवो ग्रहणं दानं वा यस्य तस्य ते शर्मणि सुखकारके गृहे प्रणीतौ प्रकृष्टायां धर्म्यायां नीतौ अहं पत्नी स्याम्' इति, तदपि निर्मूलम्, मूले पतिपत्नीशब्दयोरभावात्। न च शुद्धौ पृथुबलस्योपयोगः, तदन्तरापि तत्सम्भवात्। न च द्विष इति शब्दस्य व्यभिचारिणीस्त्रीबोधने शक्तिरस्ति। अमीवापदस्य गौणार्थता त्वयैव स्पष्टीकृता, इवशब्दप्रयोगेणेति ॥ ४९ ॥

आपो॒ हि ष्ठा म॑यो॒भुव॒स्ता न॑ ऊ॒र्जे द॑धातन। म॒हे रणा॑य॒ चक्ष॑से ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ—हे जलसमूह, तुम जल को देने वाले हो। सुख की भावना करने वाले व्यक्ति के लिये स्नान-पान आदि के द्वारा सुख के उत्पादक हो। हमारे रमणीय दर्शन के निमित्त और रसानुभव के निमित्त यहाँ स्थापित हो जाओ ॥ ५० ॥

'आपो हि ष्ठेति पर्णकषायपक्वमुदकमासिञ्चति पिण्डे' (का० श्रौ० १६।३।१६)। अग्निनिधानानन्तरं दक्षिणाग्नौ पलाशत्वक्क्वथितमुदकं यदस्ति तस्मादुदकात् फेनमुद्धृत्य पात्रान्तरे स्थापयेत्। तच्च मन्त्रत्रयेण मृत्पिण्डस्योपरि सिञ्चेत्। अब्देवत्यास्तिस्रो गायत्र्यः सिन्धुद्वीपदृष्टाः। हे आपः, आप्यते सर्वं कार्यं प्राणिनामाभिरित्यापः। करणे क्विप्। यूयमेव मयोभुवः सुखस्य भावयित्र्यः स्थ भवथ। मयः सुखं भावयन्ति प्रापयन्तीति मयोभुव, स्नानपानादिहेतुत्वेनापां सुखयित्रीत्वं प्रसिद्धमेव। हिशब्द एवार्थे हेत्वर्थे प्रसिद्ध्यर्थे च। तादृश्यो यूयं नोऽस्मान् ऊर्जे अन्नाय रसाय वा दधातन भवदीयरसानुभवाय यथा वयं सर्वस्य सौख्यस्य रसस्य भोक्तारो भवेम तथा स्थापयत, कुरुतेति वा? 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा० सू० ७।१।४५) इति लोण्मध्यमपुरुषबहुवचनस्य तनबादेशे रूपम्। यद्वाऽस्मानूर्जे रसायानुभवार्यम्। भवदीयरसानुभावयित्र्यो भवथ, अनुभवार्थं दधातन। किञ्च, महे महने रणाय रमणीयाय चक्षसे दर्शनाय चास्मान् दधातनेत्यनुवर्तते। ब्रह्मात्मदर्शनं महद्रमणीयं तदस्मान् ब्रह्मसाक्षात्कारयोग्यान् कुरुत। ऐहिकामुष्मिकं सर्वसुखं ददथेति भावः। मह्यते पूज्यत इति मद्, क्विप्प्रत्ययः, तस्मै महे। रण्यते स्तूयते सर्वैरिति रणम्, तस्मै रणाय। चष्टे पश्यति सर्वं येन तच्चक्षः, असुन्प्रत्ययः, तस्मै चक्षसे ब्रह्मणे, 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (छा० उ० ६।१।३) इति छान्दोग्यश्रुतेः।

अत्र ब्राह्मणम्—'पर्णकषायनिष्पक्वा एता आपो भवन्ति। स्थेम्ने न्वेव यद्वेव पर्णकषायेण सोमो वै पर्णश्चन्द्रमा उ वै सोम एतदु वा एकमग्निरूपमेतस्यै वाग्निरूपस्योपाप्त्यै' (श० ६।५।१।१)। जलानां पर्णक्वथितत्वं विधत्ते—पर्णकषायनिष्पक्वा इति। एता मृत्पिण्डे सिच्यमाना आपः पर्णकषायनिष्पक्वा भवेयुः। स्थेम्ने स्थिरत्वाय, केवलमृत्तिकयोखादिकरणे विशरणसम्भवात्। तत्प्रशंसति—यद्वेव पर्णेति। सोमस्य पर्णत्वं सर्वौषध्यनुप्रवेशात्। सोमो नाम चन्द्रमाः। स हि 'एकमग्निरूपम्'। पूर्वं कुमारस्याग्नेरष्टौ रुद्रादिनामान्युक्तानि (श० ६।१।३।११-१२)। तेषां चाग्न्युदकौषध्यादीनि रूपाण्युक्तानि। तत्र महादेवेति सप्तमं नाम, चन्द्रमाश्च

तस्य रूपमिति 'चन्द्रमारस्द्रूपमभवत्' (श० ६।१।३।१६) इति श्रुतौ। तादृशस्य अग्निरूपस्योपाप्त्यै पर्णकषाय-पक्वाः कुर्यादित्यर्थः। 'ता उपसृजति। आपो हि ष्ठा मयोभुव इति यां वै देवतामृगभ्यनूक्ता यां यजुः सैव देवता सर्क् सो देवता तद्यजुस्ता हैता आप एवैष त्रिचस्तद्या अमूराप एकᳪ्रूपᳪ् समदृश्यन्त ता एतास्तदेवैतद्रूपं करोति' (श० ६।५।१।२)। उदकसेचनं समन्त्रं विधत्ते— ता इति। अब्देवत्यं तृचं गायत्रम्। मन्त्रार्थ उक्त एव। तिस्र ऋचस्तत्प्रतिपाद्यां देवतां च प्रशंसति— यां वै देवतामिति। आपो हि ष्ठेत्यादिका ऋग् यां देवतामभ्यनूक्ता अनुवदति। कर्तरि क्तप्रत्ययः। यां देवतां यजुर्मन्त्रोऽपि, अर्थाद् यया ऋचा येन यजुषा च या देवता अन्य-गुणाभिधानपुरःसरं प्रतिपाद्यते, सैव प्रतिपाद्या देवता सा च प्रतिपादिका, ऋग्यजुर्मन्त्रपदैरप्रतीयमाना देवता नोत्तमेत्यर्थः। अतः प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोरभेदोपचारेण एता आप एव देवताः, 'एष आपो हि ष्ठा इति तृचः। तत् तस्माद् या अमूः, अदःशब्दो विप्रकृष्टप्रदेशवचनः, पूर्वं काण्डादौ अग्निसृष्टेरनन्तरम् अश्वादिपृथिव्यन्तां सृष्टिमुक्त्वा 'सोऽकामयत। आभ्योऽद्भ्योऽधीमां प्रजनयेयमिति' (श० ६।१।१।१२) इत्युपक्रम्य 'तदिदमेकमेव रूपम्' (श० ६।१।१।१२) इत्येकरूपं कृतवान् भवति। एवमनुसन्धानार्थमुदकफेनमृत्सिकताशर्कराश्मादिसृष्टिरुक्तेति चयनादौ प्रतिपादितम्।

अध्यात्मपक्षे—हे आपः! अब्भावापन्नपरमेश्वररूपाः, यूयं हि यस्माद् मयोभुवः सुखस्य भावयित्र्यः, तस्माद् नोऽस्मान् ऊर्जे भवदीयरसानुभवार्थं दधातन स्थापयत। यथा वयं सर्वस्य भोग्यस्य रसस्य भोक्तारो भवेम, तथाऽस्मान् कुरुतेत्यादिकं पूर्ववद् व्याख्येयम्। आपः अबुपलक्षिता अष्टौ प्रकृतयः प्राणमयादिपुरुषा वा अत्र स्तूयन्ते। तासां तेषां च सुखजनकत्वेन मयोभूत्वम्। ऊर्जे अन्नाय रसाय च ता भवन्ति। ता एव महते रमणीयाय चक्षसे ब्रह्मदर्शनाय भवन्त्यनुकूलिताः।

दयानन्दस्तु—'हे जलवद्वर्तमाना आप इव स्त्रियः, या यूयं मयोभुवः स्थ सुखं भावुकाः, ता ऊर्जे बलयुक्ताय महे महते रणाय संग्रामाय चक्षसे ख्यातुं योग्याय नोऽस्मान् दधातन धरत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्त्रीणां तदर्थत्वे मानाभावात्। न च व्याप्तिगुणयोगस्तासु सम्भवति, तासामव्यापकत्वात्। के च ते प्रार्थयितारः? कथं च ताभिर्महते रणाय तेषां धारणमित्यस्पष्टत्वात्, श्रुतिविरोधाच्च ॥ ५० ॥

यो वः॑ शि॒वत॑मो॒ रस॒स्तस्य॑ भाजयते॒ह नः॑। उ॒श॒तीरि॑व मा॒तरः॑ ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ—हे जलदेवता, तुम्हारा शान्त रूप सुख का एकमात्र कारण रस इस कर्म में स्थित है। हमको उस रस का भागी उसी तरह बनाओ, जैसे कि प्रीतियुक्त माता अपने बच्चे को दूध पिलाती है ॥ ५१ ॥

हे आपः, यो वो यश्च युष्माकं शिवतमः शान्ततमो रसः सुखैकहेतुभूतोऽस्ति, इह कर्मणि लोके वा स्थितान् नोऽस्मान् तस्य रसस्य भाजयत भागिनः कुरुत, तं रसं प्रापयतेत्यर्थः। रसस्येति कर्मणि षष्ठी। तत्र दृष्टान्तः—उशतीः, उशत्यः कामयित्र्यो मातर इव। यथा प्रीतियुक्ताः पुत्रस्य कल्याणं कामयमाना मातरः स्वकीयस्तन्यरसं बालं पाययन्ति, तैस्तैरर्थैश्च भाजयन्ति, तद्वत्। 'वश कान्तौ' इत्यस्य कृतसम्प्रसारणस्य शतृप्रत्ययान्तस्य रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—हे आपः, पूर्वोक्ता यो वः शिवतमोऽतिशयितो ब्रह्मानन्दसाक्षात्कारलक्षणो रसोऽस्ति, तस्येह अस्मिन् संसारे साधनभूमिकायां वा नोऽस्मान् भागिनः कुरुत। यथा उशत्यः पुत्रस्य शुभं कामयमाना मातरः पुत्रं तैस्तैः कामैर्भाजयन्ति तद्वदित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रियः, वो यः शिवतमोऽतिशयेन सुखकारी रस आनन्द इह गृहाश्रमेऽस्ति, तस्य मातरो जनन्य उशतीरिव यथा कामयमाना भाजयन्ति तथा सेवयत' इति, तदपि न सङ्गतम्, दृष्टान्तदार्ष्टान्तासङ्गतेः। नहि यथा मातरः पुत्रान् रसं भाजयन्ति, तथैव स्त्रियो गृहपतीन् रसस्य भागिनः कुर्वन्ति। एतेनैव ज्ञायते यन्नात्र सम्बोधनीया इति ॥ ५१ ॥

तस्मा॒ अरं॑ गमाम वो॒ यस्य॒ क्षया॑य॒ जिन्व॑थ। आपो॑ ज॒नय॑था च नः ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ—हे जलदेवता, तुम्हारे उस रस की प्राप्ति के लिये हम शीघ्र चलना चाहते हैं, जिससे कि तुम सारे जगत् को तृप्त करते हो और हमें भी उत्पन्न करते हो ॥ ५२ ॥

यस्याहुतिपरिणामभूतस्य क्षयस्य निवासस्य एकदेशेन यूयं जिन्वथ तर्पयथ तस्मै तस्य, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, अरम् अलम् अत्यर्थं पर्याप्तिं वयं गमाम गच्छेम। रसविषये वैतृष्ण्यमेव पर्याप्तिः, सैवालंबुद्धिः। किञ्च, हे आपः! यूयं नोऽस्मान् जनयथ तत्र भोक्तृत्वेनोत्पादयत। अलमिति लकारस्य रेफश्छान्दसः। यद्वा हे आपः, वो युष्मत्सम्बन्धिनस्तस्मै तस्य रसस्य पूर्वमन्त्रयाचितस्य अलं पर्याप्तिं गमाम गच्छाम। पर्याप्तिं नाम रसविषये वैतृष्ण्यम्, सदा तृप्तिं वा। 'क्षयो निवासे' (पा० सू० ६।१।२०१) इत्याद्युदात्तः। यस्येति सामानाधिकरण्यात् क्षयायेति चतुर्थी षष्ठ्यर्थे। क्षयाय क्षयस्य निवासस्य एकदेशेन जिन्वथ ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगत् तर्पयथ। पञ्चाग्निविद्यारीत्या पञ्चाहुतिक्रमेणेदं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगदुत्पद्यते। हे अग्ने, तत्रास्मान् भोक्तृत्वेन जनयथ, तद्रसभोक्तृनस्मान् कुरुत। आजानदेवत्वमत्राशास्यते। 'जनयथा' इति 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दैर्घ्यम्। यद्वा यस्य क्षयाय क्षयेण, तृतीयार्थे चतुर्थी, निवासेन। यूयं जिन्वथ प्रीता भवत, तस्मै रसाय तद्रसप्राप्तये वो युष्मानरमत्यर्थं वयं गमामः प्राप्नुमः। किञ्च, हे आपः! यूयं नोऽस्मान् जनयथ प्रजोत्पादनसमर्थान् कुरुत। गच्छतेर्लुङि उत्तमबहुवचने अगमामेति रूपम्। अडभाव आर्षः। 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इति शपो लुकि लोटि वा रूपम्। जिन्वतिः प्रीतिकर्मा। यद्वा वो युष्मत्सम्बन्धिने तस्मै रसाय अरं शीघ्रम् अलं पर्याप्तं वा गमाम गच्छेम। यस्य रसस्य क्षयाय अस्मासु निवासार्थं हि स्वयं जिन्वथ प्रीणयथ। जिविः प्रीणनकर्मा। येन रसेन अस्मान् तर्पयथ तं गच्छेम। हे आपः, नः अस्मान् जनयथ युष्मदीयभोक्तृत्वेनोत्पादयतेति।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथ फेनं जनयित्वाऽन्ववदधाति। यदेव तत्फेनो द्वितीयꣳ रूपमसृज्यत तदेवैतद्रूपं करोत्यथ यामेव तत्र मृदꣳ संयौति सैव मृद्यत्तत्तृतीयꣳ रूपमसृज्यततैतेभ्यो वा एष रूपेभ्योऽग्रेऽसृज्यत तेभ्य एवैनमेतज्जनयति' (श० ६।५।१।३)। पिण्डे फेनासेचनं विधत्ते—अथ फेनं जनयित्वेति। कषायोदकेषु हस्तचालनेन फेनमुत्पाद्य पिण्डे तूष्णीमासिञ्चेत्। यदेव तत्फेन इत्यादेरयमर्थः—पूर्वं 'सोऽकामयताभ्योऽद्भ्योऽधीमां प्रजनयेयम्' इत्युपक्रम्य 'तदिदमेकमेव रूपं समदृश्यताप एव' (श० ६।१।१।१२) इत्युदकलक्षणं रूपमुक्त्वा 'सोऽकामयत भूय एव स्यात्·······तेपानः फेनमसृजत' (श० ६।१।१।१३) इति द्वितीयं फेनात्मकं रूपमुक्तम्। अत्र पिण्डे फेनस्यासेचनेन पूर्वसृष्टफेनात्मकं द्वितीयं रूपमेव मृद्रूपेऽग्नौ निहितवान् भवति। अथ सिक्तेऽग्नौ उदकेन मृदः सम्मिश्रणं विधत्ते—अथ यामेव तत्र मृदमिति। तत्र यां मृदं संयौति जलेन सम्मिश्रयति, सा मृद् एतदनन्तरं सृष्टं मृदात्मकं तृतीयं रूपम्। तत्र ह्येवमाम्नातम्—'अथ यो गर्भोऽन्तरासीत् सोऽग्निरसृज्यतेति' (श० ६।१।१।११)। एतेभ्यो वा एष इति। एष अग्निः, एतेभ्य उदकफेनमृदादिभ्यः पूर्वं सृष्टः, अतो जलफेनमृदां सम्मिश्रणेन अबादिरूपेभ्यः पूर्वसृष्टाग्निमेवोत्पादितवान् भवति।

अध्यात्मपक्षे—वो युष्मत्सम्बन्धिने तस्मै ब्रह्मसाक्षात्कारलक्षणाय रसाय वयम् अरमलमत्यर्थं गमाम गच्छाम। यस्य अस्मासु क्षयाय निवासाय जिन्वथ प्रीणयत। हे आपः, नोऽस्मान् तद्भोक्तृत्वेन जनयथ तद्रसानुभवयोग्यानस्मान् कुरुत।

दयानन्दस्तु—'हे आपः, जलवद् वर्तमानाः स्त्रियो यूयं नः क्षयाय निवासार्थाय गृहाय जिन्वथ प्रीणयत जनयथ च। ता वो युष्मान् वयम् अरम् अलं गमाम, यस्य प्रतिज्ञातस्य धर्म्यव्यवहारस्य पालिका भवत, तस्यैव वयमपि भवेम' इति, तदतिमन्दम्, स्त्रीणां सम्बोधने मानाभावात्। सन्तानमुत्पादयत प्रतिज्ञातस्य धर्म्यव्यवहारस्य पालिका भवतेत्यादिकं तु कल्पनामात्रसारम्, निर्मूलत्वात् ॥ ५२ ॥

मित्रः सꣳसृज्य पृथिवीं भूमिं च ज्योतिषा सह।
सुजातं जातवेदसमयक्ष्माय त्वा सꣳसृजामि प्रजाभ्यः ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ—मित्रदेवता आदित्य, द्युलोक और इस पिण्डरूप भूमि को ज्योतीरूप अजलोम के साथ एकत्र कर मुझ अध्वर्यु को देते हैं। मैं भी सुन्दर जन्म वाले प्रज्ञासंयुक्त अजलोम नामक अग्नि को प्रजाओं की रोगनिवृत्ति के निमित्त पिण्ड से युक्त करता हूँ ॥ ५३ ॥

'अजलोमभिः सꣳसृजति मित्रः सꣳसृज्येति' (का० श्रौ० १६।३।१८)। पूर्वगृहीतैरजलोमभिः सह पिण्डं मिश्रयेद् मित्रः सꣳसृज्येति मन्त्रेण। मित्रदेवत्योपरिष्टाद्बृहती। यस्यास्त्रयः पादा अष्टार्णाश्चतुर्थो द्वादशार्णः सोपरिष्टाद्बृहती। अध्वर्युराह—मित्रः प्राण आदित्यो देवो वा पृथिवीं द्युलोकं भूमिं च इमां मृत्पिण्डरूपां ज्योतिषा अजलोमभिः सह संसृज्य एकीकृत्य मह्यं प्रयच्छत्विति शेषः। इह पृथिवीशब्दो द्युलोकवाची। अजस्याग्नेयत्वात् तल्लोम्नां ज्योतिःशब्देन ग्रहणम्। अहमपि सुजातं शोभनोत्पन्नं जातवेदसं जातप्रज्ञानमजलोमाख्यमग्निं त्वां संसृजामि मृत्पिण्डेन योजयामि। किमर्थम्? प्रजाभ्यः प्रजानाम्, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, अयक्ष्माय अव्याधितायै, प्रजानामारोग्यायेत्यर्थः। लोकत्रयस्यापि पृथिवीभूमिशब्दवाच्यता। 'तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीरुत द्यून्' (ऋ० वे० २।२७।८) इतिवत्। चकारादत्रापि त्रीनपि लोकान् ज्योतिषा तेजसा आग्नेयस्याजस्य लोमभिः सह सुजातं जातवेदसं सद्रूपमग्निं त्वां प्रजाभ्योऽयक्ष्माय यक्ष्मणोऽभावोऽयक्ष्मं तस्मै रोगरूपपापापनुत्तये संसृजामि सम्मिश्रयाम्यहमध्वर्युरिति शेषः।

अत्र ब्राह्मणम्—अथाजलोमैः सꣳसृजतीति। स्थेम्ने न्वेव यद्वेवाजलोमैरेतद्वा एनं देवाः पशुभ्योऽधि समभरंस्तथैवैनमयमेतत्पशुभ्योऽधि सम्भरति तद्यदजलोमैरेवाजे हि सर्वेषां पशूनाꣳ रूपमथ यल्लोम लोम हि रूपम्' (श० ६।५।१।४)। अजलोममिश्रणं विधत्ते—अथाजलोमैः संसृजतीति। स्थेम्ने स्थिरत्वाय। अजलोमं प्रशंसति—यद्वेवाजलोमैरिति। यथा पूर्वं देवा एनमष्टरूपात्मना गूढमग्निं पुरुषादिपञ्चपशुभ्यः सकाशात् सम्भृतवन्तः, तथा अयं यष्टा पिण्डेऽजलोमसंसर्गेण पशुभ्य एव सम्भृतवान् भवति। ननु केवलेनाजलोमसंसर्गेण सर्वेभ्यः पुरुषादिभ्यः कथमग्नेः सम्पादनमिति चेन्न, अजे सर्वस्य पशुरूपस्यान्तर्भावात्। तथा चोदाहृता श्रुतिः—'अजे हि सर्वेषां पशूनां रूपम्' (श० ६।५।१।४) इति, तथैव पुरस्ताद् वायव्यैकपशुप्रस्तावे समाम्नातम्—'यद्वेवैतं पशुमालभते। एतस्मिन् ह पशौ सर्वेषां पशूनां रूपम्। यत्तूपरो लप्सुदी तत् पुरुषस्य रूपम्' (श० ६।२।२।१५) इत्यादिना। प्रकारान्तरेण अजे सर्वपशुरूपमाह—अथ यल्लोमेति। लोमानि सर्वेषु पशुषु सन्ति, अतो लोमलक्षणं रूपं सर्वपशुसाधारणमित्यर्थः। 'मित्रः सꣳसृज्य। पृथिवीं भूमिं च ज्योतिषा सहेति प्राणो वै मित्रः

प्राणो वा एतदग्रे कर्माकरोत् सुजातं जातवेदसमयक्ष्माय त्वा सꣳसृजामि प्रजाभ्य इति। यथैव यजुस्तथा बन्धुः' (श० ६।५।१।५) । सुप्रसन्नं ब्राह्मणम् ।

अध्यात्मपक्षे— मित्रः सर्वभूतसुहृत्परमेश्वरः प्रजाभ्यः प्रजानाम् अयक्ष्माय आरोग्याय पृथिवीं द्युलोकं भूमिं चकारादन्तरिक्षलोकं च ज्योतिषा आदित्यात्मकेन सह संसृज्य सम्यङ् निर्माय प्रयच्छति । अहं साधकः सुजातं शोभनैः शमदमादिसाधनैर्जातं हृदि प्रादुर्भूतं जातवेदसं तत्त्वज्ञानाख्यमग्निं संसृजामि तत्प्रसादाज्जनयामि ।

दयानन्दस्तु—'हे पते, यस्त्वं सर्वेषां सुहृत् सन् प्रजाभ्यः पालनीयाभ्योऽयक्ष्माय आरोग्याय ज्योतिषा विद्यान्यायसुशिक्षाप्रकाशेन सह पृथिवीमन्तरिक्षं भूमिं क्षितिं संसृज्य मां सुखयसि, तं सुजातं सुप्रसिद्धं जातवेदसम् उत्पन्नवेदविज्ञानं त्वामहमप्येतदर्थं संसृजामि निष्पादयामि, भवताहं सम्बद्धा भवामि' इत्याह, तदपि वेदस्य लोकायतीकरणमेव, असङ्गतेः । कथं पतिरन्तरिक्षं भूमिं च संसृज्य पत्नीं सुखयतीत्यस्यास्पष्टत्वात् । श्रुतिविरोधस्तु पूर्वव्याख्याने स्पष्ट एव ॥ ५३ ॥

रु॒द्राः स॒ꣳसृज्य॑ पृथि॒वीं बृ॒हज्ज्योति॑ः समी॑धिरे ।
तेषां॑ भा॒नुरज॑स्र॒ इच्छु॒क्रो दे॒वेषु॑ रोचते ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ—जिन रुद्रों ने पार्थिव पिण्डों को बालू, लौहकिट्ट और पाषाण चूर्ण से संयुक्त करके प्रौढ़ अग्नि को प्रदीप्त किया, उन रुद्रों की शुद्ध प्रदीप्त ज्योति देवताओं के मध्य में परिपूर्ण होकर भली प्रकार प्रकाशित होती है ॥ ५४ ॥

'शर्करायोरसाश्मचूर्णैश्च रुद्राः सꣳसृज्येति' (का० श्रौ० १६।३।१९) । सूक्ष्मसिकतालोहरसपाषाणचूर्णैः पिण्डं मिश्रयति रुद्रा इति मन्त्रेण । अयोरसो लोहरसो यस्ताप्यमानो लोहात् पृथग्भवति । रुद्रदेवत्याऽनुष्टुप् । ये रुद्राः, पृथिवीं पार्थिवं पिण्डं संसृज्य शर्करायोरसाश्मचूर्णैः संयोज्य बृहज्ज्योतिः प्रौढमग्निं समीधिरे उखायां सम्यग्दीपितवन्तः, उखास्थमग्निं संवत्सरपर्यन्तं सम्यक् पालितवन्तः, तेषां फलमुच्यते—तेषां रुद्राणां भानुर्दीप्तिः, अजस्रः अनुपक्षीण एव । 'जसु उपक्षये' । इच्छब्द एवार्थः । शुक्रः शुद्धो देदीप्यमानः शुक्लवर्णो वा देवेषु देवानां मध्ये रोचते प्रकाशते ।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैतत् त्रयं पिष्टं भवति । शर्कराश्मायोरसस्तेन सꣳसृजति स्थेम्ने न्वेव यद्वेव तेनैतावती वा इयमग्रेऽसृज्यत तद्यावतीयमग्रेऽसृज्यत तावतीमेवैनामेतत्करोति' (श० ६।५।१।६) । शर्कराश्मायोरसचूर्णैः संसर्गं विधत्ते—अथैतत् त्रयं पिष्टमिति । पूर्वं शर्करादीनि त्रीणि रूपाणि सृष्टानि । 'शर्करामश्मानमयो हिरण्यमोषधिवनस्पत्यसृजत' (श० ६।१।१।१३) इति हि प्रागाम्नातम् । तेन त्रयेण संसर्गे तैरेव त्रिभी रूपैर्मृदं रूपवतीं कृतवान् भवतीत्यधुनोच्यते । 'रुद्राः सꣳसृज्य पृथिवीं बृहज्ज्योतिः समीधिर इत्यसौ वा आदित्य एषोऽग्निरेतद्वै तद्रुद्राः सꣳसृज्य पृथिवीं बृहज्ज्योतिः समीधिरे । तेषां भानुरजस्र इच्छुक्रो देवेषु रोचत इत्येष वा एषां भानुरजस्रः शुक्रो देवेषु रोचते' (श० ६।५।१।७) । 'रुद्रनामका देवा पृथिवीमुखा निष्पादिका मृदं संसृज्य बृहज्ज्योतिः प्रौढमग्निं समीधिरे, तेषां रुद्राणां वायमग्निर्भानुना समानः, अजस्रं निरन्तरं शुक्रो दीप्तियुक्तो देवेषु रोचते शोभते' इति काण्वभाष्ये सायणः ।

अध्यात्मपक्षे—रुद्राः समष्टीन्द्रियरूपा हिरण्यगर्भात्मानः संसृज्य महदादीनि संयोज्य बृहज्ज्योतिः बृहज्ज्योतिर्मयं पृथिवीं ब्रह्माण्डं समीधिरे सम्यक् पालितवन्तः। तेषामेव प्रयत्नेन भानुः सूर्यो देवेषु रोचते। कीदृशो भानुः ? शुक्रः शुक्लो भास्वरः। अजस्र इत् अनुपक्षीण एव।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रीपुरुषाः, रुद्राः प्राणस्वरूपा वायवः संसृज्य सूर्यमुत्पाद्य पृथिवीं भूमिं बृहत् महद् ज्योतिः प्रकाशं समीधिरे सम्यग् दीपयन्ति। तेषां सकाशादुत्पन्नः शुक्रो भास्वरो भानुः सूर्यो देवेषु दिव्येषु पृथिव्यादिषु, अजस्रो निरन्तरो बहुः प्रकाशो स विद्यते यस्मिन् स इत् इव विद्यान्यायार्कमुत्पाद्य प्रजाजनान् प्रकाशयत तेभ्यश्च प्रजासु दिव्यानि सुखानि प्रचारयत' इति, तदपि निर्मूलमध्याहारमूलकमेव, सम्बोधनस्य दार्ष्टान्तिकस्य च तदभ्यूहमात्रत्वेनावेदार्थत्वात्। कथं च वायवः संसर्गेण सूर्यमुत्पादयन्ति ॥ ५४ ॥

सꣳसृष्टां वसुभी रुद्रैर्धीरैः कर्मण्यां मृदम्।
हस्ताभ्यां मृद्वीं कृत्वा सिनीवाली कृणोतु ताम् ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ—चन्द्रकला से युक्त अमावस्या के अभिमानी देवता, बुद्धिमान् वसुगण और रुद्रगण शर्करा आदि से संयोजित मृत्तिका को हाथों से कोमल करके उखा कर्म के योग्य बनावें ॥ ५५ ॥

'सꣳसृष्टामिति संयौति' (का० श्रौ० १६।३।२०)। उक्तं शर्कराचूर्णादिकमृक्त्रयेण मृत्पिण्डे सम्यङ् मिश्रयेत्। द्वे ऋचौ सिनीवालीदैवते तृतीया चादितिदेवत्या। तिस्रोऽनुष्टुभः। सिनीवाली दृष्टेन्दुकलामावास्याभिमानिनी देवता हस्ताभ्यां मृदं मृत्तिकां कोमलां कृत्वा पुनस्तां मृदं कर्मण्यामुखाकर्मयोग्यां कृणोतु करोतु। कर्म सम्पद्यते यया सा कर्मण्या ताम्। कीदृशीं मृदम् ? धीरैर्बुद्धिमद्भिर्वसुभी रुद्रैश्च संसृष्टां सेवितां शर्करादिभिः संयोजिताम्। धीशब्दो बुद्धिवचनः। छान्दसो मत्वर्थीयो रप्रत्ययः। धीर्बुद्धिरस्ति येषां ते धीराः। पूर्वमन्त्रे रुद्रशब्देन वसवोऽप्युपलक्षिताः। यद्वा धीरैर्धारयद्भिर्वसुभिर्देवै रुद्रैश्च संसृष्टा। वसुपदेनात्राजलोमसंसर्गमन्त्रो मित्रः संसृज्य इति विवक्षितः। रुद्रपदेन शर्करादिसंसर्गमन्त्रो रुद्राः संसृज्य इति विवक्षितः। तथा च तन्मन्त्रद्वयप्रतिपाद्यैर्वसुभी रुद्रैश्च संयोजितां कर्मण्यां कर्मणे सम्पादितां मृदं मृत्तिकां सिनीवाली दृष्टेन्दुः, तदभिमानिदेवता हस्ताभ्यां मृद्वीं मृदुरूपां कृत्वा तां कर्मार्हां कृणोतु करोत्वित्यर्थः। वसुरुद्राभ्यां मित्रः संसृज्य रुद्राः संसृज्य इति मन्त्रौ विवक्षितावित्यत्र यन्मित्रेण यद्वसुभिर्यद्रुद्रैरिति ब्राह्मणं प्रमाणमिति शतपथव्याख्यायां सायणाचार्यः।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथ प्रयौति सꣳसृष्टां वसुभी रुद्रैरिति सꣳसृष्टा ह्येषा वसुभिश्च रुद्रैश्च भवति यन्मित्रेण तद्वसुभिर्यद्रुद्रैस्तद्रुद्रैर्धीरैः कर्मण्यां मृदमिति धीरा हि ते कर्मण्यो इयं मृद्धस्ताभ्यां मृद्वीं कृत्वा सिनीवाली कृणोतु तामिति वाग्वै सिनीवाली सैनाꣳ हस्ताभ्यां मृद्वीं कृत्वा करोत्वित्येतत्' (श० ६।५।१।९)। मृदः सम्मिश्रणं समन्त्रं विधत्ते—अथ प्रयौतीति। तिसृभिर्ऋग्भिः। मृदं प्रकर्षेण यौति पिण्डे सम्मिश्रयेत्। यन्मित्रेण मित्रप्रतिपादकमन्त्रेण संसर्गस्तद्वसुभिः, यद्रुद्रै रुद्रप्रतिपादकमन्त्रेण संसर्गस्तद्रुद्रैर्धीरैरिति। धीरा हि ते। इयं मृत् कर्मण्या उ एव। कर्मणे सम्पादिता कर्मण्या।

अध्यात्मपक्षे—सिनीवाली दृष्टेन्दुकलायुक्तामावास्याधिष्ठात्री महामाया वसुभिर्देवै रुद्रैश्च संसृष्टा मृदं मृत्तिकां मृदुपलक्षितां शरीरोपादानभूतां पञ्चभूतसंहतिं मृद्वीं कोमलां कृत्वा कर्मण्यां कर्मसम्पादनयोग्यां कृणोतु करोतु। प्रकृतिर्वस्वादिभिर्बुद्धिमद्भिर्विविधोपकरणैः संयोजितां मृदादिसंहतिं कर्मण्यां कर्मनिर्वर्तनक्षमां करोत्वित्यर्थः। प्राणिनामदृष्टवशाद् महामाया शक्तिर्वस्वादिसहकारिभिर्मृदं मृदादिसंहतिं मृद्वीं कर्मफलसम्पादनानुगुण्येन नमनशीलां कर्मण्यां कर्मनिर्वचनयोग्यां करोति, देवमनुष्यादिदेहरूपेण परिणमयतीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे पते, भवान् शिल्पी हस्ताभ्यां कर्मण्यां मृदमिव कोमलाङ्गीं धीरैः सुसंयमैर्वसुभिः कृतेन चतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्येण प्राप्तविद्यै रुद्रैश्चतुश्चत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्येण प्राप्तविद्यैर्या शिक्षया संसृष्टा सम्यक् सुशिक्षया सम्पादिता तां मृद्वीं मृदुगुणस्वभावां कृणोतु, या सिनीवाली, या सिनीः प्रेमबद्धाः कन्या वलयति सा, वर्तते तां स्त्रियं कृत्वा सुखयतु·····' इत्यादि, तत्सर्वं प्रमत्तप्रलपितमेव, मन्त्रे पतिपत्नीसंवादसत्त्वे मानाभावात्। वसुरुद्र-पदव्याख्यानमपि निर्मूलमेव, कोमलगुणस्वभावस्यैव विवक्षितत्वे मृदिव कन्या कोमलगुणस्वभावेत्यपेक्षया कमलिनीव कोमलस्वभावेत्यस्यैव वक्तुमुचितत्वात्। सिनीः प्रेमबद्धाः कन्या एव कुतो न पत्नीः कुर्यात्? या प्रेमबद्धाः कन्या वलयति सा किमर्थं पत्नीत्वेन ग्राह्या? कोऽत्राभिप्राय इत्यनुक्तेः। श्रुतिसूत्रविरोधस्तु पूर्वव्याख्यानेन स्फुट एव ॥ ५५ ॥

सिनीवाली सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौपशा।
सा तुभ्यमदिते मह्योखां दधातु हस्तयोः ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ—हे दीनतारहित पूजित देवमाता, वह सुन्दर केश और अवयव वाली, सुन्दर मस्तकचन्द्रिका वाली, विलास में चतुर अवयव वाली, चन्द्रकला से युक्त अमावस्या की अभिमानिनी देवी तुम्हारे हाथों में पाकपात्र उखा को स्थापित करे ॥ ५६ ॥

'अदितिरदीना देवमाता' (नि० ४।२२) इति यास्कः। हे अदिते अखण्डनीये देवमातः, तत्सदृशि हे भूमे हे महि प्रौढे महति, सा पूर्वमन्त्रोक्ता सिनीवाली सुकपर्दा सुष्ठु शोभनः कपर्दः स्त्रीणामुचितः केशसंयमन-प्रकारो वेणिर्वा यस्याः सा, सुकुरीरा सुष्ठु शोभनं कुरीरं शृङ्गारार्थं शिरसि धार्यमाणं कनकाभरणं मुकुटो वा यस्याः सा, स्वौपशा उपशेते शयनं कुरुते यैरवयवविशेषैस्ते सर्वेऽप्युपशास्तेषां समूह औपशः, सुष्ठु शोभनः शयनविदग्धो विलासचतुर औपशोऽवयवसमूहो यस्याः सा. तुभ्यं तव। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। हस्तयोर् उखामादधातु। यद्वा सिनीवाल्याः स्त्रीत्वात् तदुचिता धर्मा उच्यन्ते। सुकपर्दा सुष्ठु शोभनः कपर्दः केशसंयमनवेणिर्यस्याः सा, सुकुरीरा सुष्ठु शोभनः कुरीरो मुकुटो यस्याः सा, स्वौपशा सुष्ठु शोभन औपशो जघनभागो यस्याः सा सुजघनेति। तत्र ब्राह्मणम्—'सिनीवाली सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौपशेति। योषा वै सिनीवाल्येतद्‌ योषायै समृद्धꣳ रूपं यत्सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौपशा समर्द्धयत्येवैनामेतत् सा तुभ्यमदिते मह्योखां दधातु हस्तयोरितीयं वा अदितिर्मह्यस्यै तदाह' (श० ६।५।१।१०)। अत्र 'योषा वा' इत्यादिना योषात्वसमर्थनम्।

अध्यात्मपक्षे – सैव सिनीवाली योषारूपत्वात् तदुचितैर्धर्मैर्विशेष्यते सुकपर्देत्यादिना। हे अदिते अखण्डनीये महि परमपूज्ये, त्वं सुकपर्दा साधुवेणीयुक्ता सुकुरीरा सुमुकुटा स्वौपशा सुजघना, असीति शेषः। तुभ्यं तव हस्तयोर् उखां ज्ञानाग्नेराधारभूतां बुद्धिम्, आदधातु आदधामि धारयामि। व्यत्ययेन पुरुषभेदः।

दयानन्दस्तु—'हे महि पूज्ये अदिते अखण्डितानन्दे, या सिनीवाली प्रेमास्पदाढ्या सुकपर्दा सुकेशी सुकुरीरा शोभनानि कुरीराण्यलङ्कृतान्याभूषणानि कर्माणि वा यस्याः। स्वौपशा उप समीपे श्यति तनूकरोति यया पाकक्रियया सोपशा तस्या इदं कर्म औपशं तच्छोभनं विद्यते यस्याः सा, तुभ्यं हस्तयोर् उखां सूपादिसाधिनीं स्थालीम् आदधातु सा त्वया संसेव्या' इति, तदपि मन्दम्, हे अदिते! हे महि, सुकेशी स्वाभूषणा पाचिका तव हस्तयोः सूपादिसाधिनीमादधातु सा त्वया सेव्येत्यादिविषयस्यात्यन्तलौकिकत्वेन वेदार्थत्वायोगात्। नहि कश्चित् स्वपत्नीं पूज्यत्वेन हे पूज्ये! इति सम्बोधयति ॥ ५६ ॥

उखां कृणोतु शक्त्या बाहुभ्यामदितिर्धिया । माता पुत्रं यथोपस्थे साग्निं बिभर्तु गर्भ आ ॥ मखस्य शिरोऽसि ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ—अदिति देवता अपनी सामर्थ्य से बुद्धि द्वारा हाथों से उत्कर्ष विधानपूर्वक पाकपात्र स्थापित करे। वह उखा अपने मध्य में सब प्रकार से अग्नि को उसी प्रकार धारण करे, जैसे जननी अपनी गोद में पुत्र को धारण करती है। हे मृत्पिण्ड, तुम यज्ञ के मुख्य भाग हो ॥ ५७ ॥

सा अदितिः, शक्त्या सामर्थ्येन धिया बुद्धया बाहुभ्यां च उखां कृणोतु। सा उखा कृता सती गर्भे मध्यभागे आसमन्ताद् अग्निं बिभर्तु सर्वतो धारयतु। कथमिव? यथा माता जननी उपस्थे अङ्के पुत्रं बिभर्ति तद्वत्। 'यजमान उखां करोति मृदमादाय मखस्य शिर इति' (का० श्रौ० १६।३।२३)। भार्याणां प्रथमलब्धया यजमानपत्न्या महिष्या तस्मात् पिण्डान्मृदमादाय द्वादशाङ्गुलायां त्रिस्थानलिखितायामषाढा-संज्ञकायामिष्टकायां कृतायां यजमानः पिण्डान्मृदमादाय स्वयमेवोखां करोति। एकपशुपक्षे प्रादेशायामविस्तारोर्ध्वां चतुरस्राम्, पञ्चपशुपक्षे त्रिभागोनत्रयोविंशत्यङ्गुलायामविस्तारामूर्ध्वां प्रादेशेनैवेति सूत्रार्थः। मृत्पिण्डदैवतं यजुः, यजुर्गायत्रीछन्दः। हे मृत्पिण्ड, त्वं यज्ञस्य शिरोऽसि। आहवनीयो यज्ञस्य शिरः। तस्मादेवोद्धरणा-ल्लक्षणयाऽत्रापि शिरःशब्दः। तत्र ब्राह्मणम्—'उखां कृणोतु। शक्त्या बाहुभ्यामदितिर्धियेति शक्त्या च हि करोति बाहुभ्यां च धिया च माता पुत्रं यथोपस्थे साग्निं बिभर्तु गर्भ एति यथा माता पुत्रमुपस्थे बिभृयादेवमग्निं गर्भे बिभर्त्वित्येतत्' (श० ६।५।१।११)। सुप्रसन्नं ब्राह्मणम्।

अध्यात्मपक्षे—सा अदितिः शक्त्या सामर्थ्येन बाहुभ्यां धिया च उखां ज्ञानाग्नेराधारभूतां बुद्धिं कृणोतु। सा च कृता बुद्धिरग्निं ज्ञानम् आसमन्तात् तथा बिभर्तु यथा माता पुत्रमुपस्थे बिभर्ति।

दयानन्दस्तु—'हे गृहस्थ, यतस्त्वं मखस्य यज्ञस्य शिर उत्तमाङ्गवद् वर्तमानोऽसि, तस्माद् भवान् धिया प्रज्ञया कर्मणा वा शक्त्या पाकविद्यया सामर्थ्येन वा बाहुभ्यामुखां पाकस्थालीं कृणोतु। यादितिर्जननी वर्तते सा पत्नी गर्भे कुक्षौ यथा माता उपस्थे स्वाङ्के पुत्रं धरति तथाग्निमाबिभर्तु, अग्निमिव वर्तमानं वीर्यम्' इति, तदेतदप्यपेशलम्, या अदितिर्जननी सा पत्नीति परस्परविरोधात्। नहि पाकस्थालीसाधनाय पत्युर्बुद्धिशक्ति-बाहूनां करणत्वं युक्तम्, तस्याः शिल्पिभिर्निर्मीयमाणत्वात् ॥ ५७ ॥

वसवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद् ध्रुवासि पृथिव्यसि धारया मयि प्रजाꣳ रायस्पोषं गौपत्यꣳ सुवीर्यꣳ सजातान् यजमानाय रुद्रास्त्वा कृण्वन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वद् ध्रुवास्यन्तरिक्षमसि धारया मयि प्रजाꣳ रायस्पोषं गौपत्यꣳ सुवीर्यꣳ सजातान् यजमानायादित्यास्त्वा कृण्वन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वद् ध्रुवासि द्यौरसि धारया मयि प्रजाꣳ रायस्पोषं गौपत्यꣳ सुवीर्यꣳ सजातान् यजमानाय विश्वे त्वा देवा वैश्वानराः कृण्वन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वद् ध्रुवासि दिशोऽसि धारया मयि प्रजाꣳ रायस्पोषं गौपत्यꣳ सुवीर्यꣳ सजातान् यजमानाय ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ—हे उखे, वसुगण गायत्री छन्द के प्रभाव से अंगिरा के समान तुम्हें स्थापित करें। उनके द्वारा दृढ़ता से स्थापित तुम पृथ्वी रूप होकर, मुझ यजमान के निमित्त सन्तान, धन, पुष्टि, गोपतित्व और सुन्दर पराक्रम दो, सहोदर गण के साथ हमारा यथोचित सौहार्द बनाओ। हे उखे, रुद्रगण त्रिष्टुप् छन्द से अंगिरा के समान तुम्हें स्थापित करें। तुम अन्तरिक्ष रूप हो, अतः दृढ़ होकर यजमान के निमित्त····(पूर्ववत्)। हे उखे, बारह आदित्य जगती छन्द के सामर्थ्य से अंगिरा के समान तुम्हारा निर्माण करते हैं, तुम द्युलोक रूप होने से दृढ़ होकर····(पूर्ववत्)। हे उखे, सब मनुष्यों से प्राप्त होने योग्य विश्वेदेव देवता अनुष्टुप् छन्द के प्रभाव से अंगिरा ऋषि के समान तुम्हारा निर्माण करते हैं, तुम दिशा-स्वरूप होने से दृढ़ होकर मुझ यजमान के निमित्त सन्तान, धन, पुष्टि, गोपतित्व और सुन्दर पराक्रम प्राप्त कराओ, सहोदरगण के साथ हमारा यथोचित सौहार्द स्थापित हो ॥ ५८ ॥

'वसवस्त्वेति प्रथयति' (का० श्रौ० १६।३।२६)। यजमानो गृहीतां मृदम् उखातलनिर्माणाय प्रादेशमात्रविपुलां करोति वसव इति मन्त्रेण। उखादेवत्या ब्राह्मी अनुष्टुप्। हे उखे, वसवो देवविशेषाः सहकारिणो गायत्रेण छन्दसा कृत्वा अङ्गिरस इव त्वा कृण्वन्तु कुर्वन्तु। यतस्त्वं कृता सती ध्रुवा स्थिरासि पृथिवी चासि। अतस्त्वां वच्मि—हे उखे, यजमानाय यजमाने मयि, सप्तम्यर्थे चतुर्थी, प्रजां पुत्रादिकां धारय स्थापय। रायस्पोषं धनस्य पुष्टिं च धारय। गौपत्यं गोपतित्वं च धारय। सुवीर्यं शोभनं वीर्यं वीरकर्म मयि धारय। सजातान् समानोदरोत्पन्नान् भ्रातॄन् मयि धारय। 'अन्तानुन्नीय सर्वतः प्रथमं धातुमादधाति रुद्रास्त्वेति' (का० श्रौ० १६।३।२७)। प्रथनानन्तरं सर्वासु दिक्षु प्रथितस्यास्य अन्तान् मध्यप्रदेशापेक्षयाऽङ्गुलमात्रमुच्चानूर्ध्वान् कृत्वा प्रथमां पिण्डिकां तत्र योजयेत्। रुद्रास्त्वेति मन्त्रेण धातुप्रक्षेपः। उखादेवत्या आर्षी अनुष्टुप्। हे उखे, रुद्रा त्रैष्टुभेन छन्दसा त्वां कृण्वन्तु। अङ्गिरस्वद् ध्रुवासि। अन्तरिक्षमसि अन्तरिक्षरूपासि। शेषं पूर्ववत्। 'संलिप्य श्लक्ष्णां कृत्वोत्तरमादित्यास्त्वेति' (का० श्रौ० १६।३।२७)। तामुखां सजलया मृदा लिप्त्वा वारिणा श्लक्ष्णां सचिक्कणां कृत्वा उत्तरं धातुं द्वितीयपिण्डिकां पूर्वोपरि योजयेत्। उखादेवत्या ब्राह्मी अनुष्टुप्। आदित्या देवा जागतेन छन्दसा त्वां कुर्वन्तु। त्वं द्यौरसि। शेषं पूर्ववत्। 'विश्वे त्वेति समीकरोति' का० श्रौ० १६।३।२९) न्यूनप्रमाणा चेद् धातु(मृत्पिण्ड)प्रक्षेपेण पूर्णां कुर्यात्। अधिकप्रमाणा चेत्तदा तदतिरिक्तां छित्वा पूर्वप्रमाणां कुर्यात्। उखादेवत्या ब्राह्मी बृहती। वैश्वानरा विश्वैर्नरैर्नीयन्ते, विश्वान् नरान् नयन्ति वा, विश्वेषां नराणां वा सम्बन्धिनो देवा विश्वेभ्यो नरेभ्यो हिता वा तथाभूता देवा हे उखे, त्वां कुर्वन्तु। आनुष्टुभेन छन्दसा कृत्वा। त्वं च दिग्रूपासि, शेषं पूर्ववत्।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथ मृत्पिण्डमुपादत्ते। यावन्तं निधयेऽलं मन्यते मखस्य शिरोऽसीति यज्ञो वै मखस्तस्यैतच्छिर आहवनीयो वै यज्ञस्य शिर आहवनीयमु वा एतं चेष्यन् भवति तस्मादाह मखस्य शिरोऽसीति' (श० ६।५।२।१)। अथोखाया अधस्तलपर्याप्तमृत्पिण्डादानं विधत्ते—अथ मृत्पिण्डमिति। निधिर्नाम उखाया अधस्तलम्, तस्यै यावन्तं पर्याप्तं मन्यते यजमानस्तावन्तमाददीत। उखाकरणे यजमानः कर्ता, यजमान उखां करोति मृदमादाय मखस्य शिर इति' (का० श्रौ० १६।३।२३) इति कात्यायनोक्तेः। आदाने मन्त्रं विधत्ते—मखस्य शिरोऽसीति। हे मृत्पिण्ड, त्वं मखस्य शिरोऽसि। एतद्यजुर्व्याचष्टे—यज्ञो वै मख इति। यथा आहवनीयो यज्ञस्य शिरः, अग्न्याधारत्वात्, एवं मृत्पिण्डोऽपि वह्न्याधारत्वादाहवनीयस्य चीयमानत्वाच्च लक्षणया यज्ञशिर इत्युच्यते। 'यद्वेवाह मखस्य शिरोऽसीति। जायत एष एतद्यच्चीयते शीर्षतो वै मुखतो जायमानो जायते शीर्षतो मुखतो जायमानो जायाता इति' (श० ६।५।२।२)। प्रकारान्तरेण स्तोतुमनुवदति—यद्वेवाह मखस्येति। इष्टकाभिश्चीयत इति यत् तद् एषोऽग्निर्जायते। चयनं नाम जन्मेत्यर्थः। लोके ह्युत्पद्यमानः

पुरुषः प्रथमं शीर्षतः शिरःप्रभृतिक एव चीयते जायते। एवमग्निः शीर्षतो जायतामित्यभिप्रायेण यज्ञस्य शिरोऽसीत्युक्तम्। 'जायातै' इति जनेः पञ्चमलकारे रूपम्।

'तं प्रथयति। वसवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वदित्ययꣳ हैष लोको निधिस्तमेतद्वसवो गायत्रेण छन्दसाऽकुर्वंस्तथैवैनमयमेतद् गायत्रेण छन्दसा करोत्यङ्गिरस्वदिति प्राणो वा अङ्गिरा ध्रुवासीति स्थिरासीत्येतदथो प्रतिष्ठितासीति पृथिव्यसीति पृथिवी ह्येष निधिर्धारया मयि प्रजाꣳ रायस्पोषं गौपत्यꣳ सुवीर्यꣳ सजातान् यजमानायेत्येतद्वै वसव इमं लोकं कृत्वा तस्मिन्नेतामाशिषमाशासत तथैवैतद्यजमान इमं लोकं कृत्वा तस्मिन्नेतामाशिषमाशास्ते तां प्रादेशमात्रीं कृत्वाऽथास्यै सर्वतस्तीरमुन्नयति' (श० ६।५।२।३)। तत्र प्रथनं समन्त्रं विधत्ते–तं प्रथयतीति। उखा नाम लोकत्रयात्मिकेति स्तुता। तत्र निधिर्भूलोकः, उत्तरत्र 'द्यौर्ह्येष उद्धिर्धारय' इति श्रवणात्। उत्तरोत्तरमृत्पिण्डप्रक्षेपौ अन्तरिक्षद्युलोकात्मकौ। अतो मन्त्रत्रयेऽपि लोकत्रयवाचकानि पदानि विद्यन्ते। यथा निधिप्रथनमन्त्रे एवमाम्नायते—'वसवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसा' इत्यादि। तदर्थोऽप्येवम्। वसवो नाम भूलोकरक्षका देवाः, त्वामुखां भूलोकात्मिकां कृण्वन्तु कुर्वन्तु। गायत्रेण छन्दसा सह अङ्गिरस्वत् प्राणवत्। हे उखे, ध्रुवासि स्थिरासि पृथिवी असि भूलोकात्मिकासि। धारया मयीति यजुःशेषेण यजमाने आशिषमाशास्ते। मयीति सप्तमीनिर्देशाद् यजमानायेति सप्तम्यर्थे चतुर्थी। शेषं पूर्ववत्। मन्त्रं व्याचष्टे—अयं हैष लोको निधिरिति। एष भूलोकः, निधिर् उखाया अधस्तलम्। तदेतद्यथा 'वसवोऽकुर्वन्' एवं यष्टापि वसव इति पाठेन भूलोकमेव कृतवान् भवति। ध्रुवासीत्यस्य व्याख्यानं स्थिरासीति। तस्यापि व्याख्यानं प्रतिष्ठितासीति। पृथिवीत्यस्य व्याख्यानं पृथिवी ह्येष निधिरिति। धारया मयीत्यादिना यजमानस्य स्वाशीराशासनमिति। 'अथ पूर्वमुद्धिमादधाति। रुद्रास्त्वा कृण्वन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वदित्यन्तरिक्षꣳ हैष उद्धिस्तमेतद्रुद्रास्त्रैष्टुभेन छन्दसाऽकुर्वंस्तथैवैनमयमेतत् त्रैष्टुभेन छन्दसा करोत्यङ्गिरस्वदिति प्राणो वा अङ्गिरा ध्रुवासीति स्थिरासीत्येतदथो प्रतिष्ठितासीत्यन्तरिक्षमसीत्यन्तरिक्षꣳ ह्येष उद्धिर्धारया मयि प्रजाꣳ रायस्पोषं गौपत्यꣳ सुवीर्यꣳ सजातान्यजमानायेत्येतद्वै रुद्रा अन्तरिक्षं कृत्वा तस्मिन्नेतामाशिषमाशासत तथैवैतद्यजमानोऽन्तरिक्षं कृत्वा तस्मिन्नेतामाशिषमाशास्ते ताꣳ संलिप्य सꣳश्लक्ष्णय' (श० ६।५।२।४)। अथ तिर्यक् प्रादेशमात्रं विस्तारिताया निधिमृद उपरि मृत्पिण्डप्रक्षेपं समन्त्रं विधत्ते—अथ पूर्वमुद्धिमादधातीति। पूर्वं प्रथमम्। उद्धिशब्दो मृत्पिण्डप्रदेशवाची। कात्यायनस्तु 'प्रथमं धातुमादधाति' (का० श्रौ० १६।३।२७) इति धातुशब्देन तमर्थमुक्तवान्। धातुशब्द उत्तरोत्तरक्रमेणावस्थानमाह—'त्रिधा त्वलाबुपात्रम्' इत्यादिप्रयोगदर्शनात्। रुद्रास्त्वेति मन्त्रः। तदर्थस्तु—हे उखे, त्वा त्वां रुद्रा अन्तरिक्षाभिमानिनो देवाः कृण्वन्तु कुर्वन्तु। अत्र मन्त्रे 'त्रैष्टुभेन छन्दसा' इति, 'अन्तरिक्षमसि' इति च विशेषः। निधेर्भूलोकात्मकत्वेन तदुपरि निहितपिण्डं संलिप्य सम्मार्ज्य श्लक्ष्णां स्निग्धां करोति।

'अथोत्तरमुद्धिमादधाति। आदित्यास्त्वा कृण्वन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वदिति द्यौर्हैष उद्धिस्तमेतमादित्या जागतेन छन्दसाऽकुर्वंस्तथैवैनमयमेतज्जागतेन छन्दसा करोत्यङ्गिरस्वदिति प्राणो वा अङ्गिरा ध्रुवासीति स्थिरासीत्येतदथो प्रतिष्ठितासीति द्यौरसीति द्यौर्ह्येष उद्धिर्धारया मयि प्रजाꣳ रायस्पोषं गौपत्यꣳ सुवीर्यꣳ सजातान्यजमानायेत्येतद्वा आदित्या दिवं कृत्वा तस्यामेतामाशिषमाशासत तथैवैतद्यजमानो दिवं कृत्वा तस्यामेतामाशिषमाशास्ते' (श० ६।५।२।५)। प्रथमोद्धेरुपरि अन्यमृत्पिण्डप्रक्षेपं समन्त्रं विधत्ते—अथोत्तरमुद्धिमिति। आदित्या द्युलोकाभिमानिन्यो देवतास्त्वामुखां कुर्वन्तु। अत्र मन्त्रे—'जागतेन छन्दसा' इति, 'द्यौरसि' इति च विशेषः। प्रथमोद्धेरन्तरिक्षात्मकत्वात् तस्योपरि निहितमृत्पिण्डस्य द्युलोकात्मकत्वम्। 'अथैतेन चतुर्थेन यजुषा करोति। विश्वे त्वा देवा वैश्वानराः कृण्वन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदिति दिशो हैतदुद्धिरेतद्वै

विश्वेदेवा वैश्वानरा एषु लोकेषूखायामेतेन चतुर्थेन यजुषा दिशोऽदधुस्तथैवैतद्यजमान एषु लोकेषूखायामेतेन चतुर्थेन यजुषा दिशो दधात्यङ्गिरस्वदिति प्राणो वा अङ्गिरा ध्रुवासीति स्थिरासीत्येतदथो प्रतिष्ठितासीति दिशोऽसीति दिशो ह्येतद्यजुर्धारया मयि प्रजा७ँ रायस्पोषं गौपत्य७ँ सुवीर्य७ँ सजातान्यजमानायेत्येतद्वै विश्वे देवा वैश्वानरा दिशः कृत्वा तास्वेतामाशिषमाशासत तथैवैतद्यजमानो दिशः कृत्वा तास्वेतामाशिषमाशास्ते' (श० ६।५।२।६)। मिथेरुद्धिद्वयस्य समीकरणं समन्त्रं विधत्ते—अथैतेन चतुर्थेनेति । उक्तमन्त्रत्रयापेक्षया एतस्य यजुषश्चतुर्थत्वम् । वैश्वानरा विश्वनरसम्बन्धिनो विश्वेदेवास्त्वामानुष्टुभेन छन्दसा कुर्वन्त्विति । उखाया लोकत्रयात्मकत्वादेतेन यजुषा समीकरणेन तस्यां दिश एव निहितवान् भवति । अत्र मन्त्रे 'आनुष्टुभेन छन्दसा' इति, 'दिशोऽसि' इति च विशेषः ।

'तेनैतेनान्तरतश्च बाह्यतश्च करोति । तस्मादेषां लोकानामन्तरतश्च बाह्यतश्च दिशोऽपरिमितमेतेन करोत्यपरिमिता हि दिशः' (श० ६।५।२।७)। पूर्वमथैतेन चतुर्थेन यजुषा करोतीति क्रियासामान्यमुक्तम्, तद्विशिनष्टि—तेनैतेनान्तरतश्च बाह्यतश्चेति । अन्तरत उद्धिद्वयस्य मध्यदेशेऽपरिमितं छिद्रं कुर्यात्, बाह्यतोऽपि निम्नोन्नतत्वपरिहारेण सर्वतः समं कुर्यात् । एतेन यजुषो दिगात्मकत्वाद् उखायाश्च लोकत्रयात्मकत्वाद् अन्तरतो बाह्यतश्च समीकरणेन लोकस्य मध्ये बहिश्च अपरिमिता दिशो निहितवान् भवति । 'तां प्रादेशमात्रीमेवोर्ध्वां करोति । प्रादेशमात्रीं तिरश्चीं प्रादेशमात्रो वै गर्भो विष्णुर्योनिरेषा गर्भसम्मितां तद्योनिं करोति' (श० ६।५।२।८)। उखाया ऊर्ध्वपरिमाणं विधत्ते—तां प्रादेशमात्रीमिति । एवकारेण परिमाणान्तरनिवृत्तिः । ऊर्ध्वा यथा प्रादेशमात्री तथा तिरश्चीनापि प्रादेशमात्री । अर्थाद् ऊर्ध्वा तिर्यक् च समा कार्या । तत्परिमाणं प्रशंसति—प्रादेशेति । योनिं गर्भसदृशीं कृतवान् भवति । उखाया योनित्वमग्न्याधारत्वात् । अग्नेश्च गर्भत्वं तन्मध्ये संवत्सरमवस्थानात् । 'सा यदि वर्षीयसी प्रादेशात् स्यात् । एतेन यजुषा ह्रसीयसीं कुर्याद्यदि ह्रसीयस्येतेन वर्षीयसीम्' (श० ६।५।२।९)। सर्वथापि प्रादेशमात्रीमेव कुर्यान्न न्यूनाधिकामित्यर्थः । 'स यद्येकः पशुः स्यात् । एकप्रादेशां कुर्यादथ यदि पञ्च पशवः स्युः पञ्चप्रादेशां कुर्यादिषुमात्रीं वा वीर्यं वा इषुर्वीर्यसम्मितैव तद्भवति पञ्चप्रादेशा ह स्म त्वेव परेषुर्भवति' (श० ६।५।२।१०)। उखायाः परिमाणं पश्वनुष्ठानापेक्षया विकल्पितम् । पञ्चपशुपक्षे पञ्चप्रादेशपरिमाणा, इषुमात्री वा कर्तव्या । एतत्परिमाणद्वयं तिर्यगपेक्षया । ऊर्ध्वपरिमाणं त्वत्रापि प्रादेशमात्रमेव ।

अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धे, वसवो देवा गायत्रेण छन्दसा अङ्गिरस इव त्वां कृण्वन्तु संस्कुर्वन्तु । त्वं ध्रुवासि निश्चलासि । पृथिव्यसि विस्तृतविषयासि क्षमाशीलासि । मयि प्रजां ज्ञानविज्ञानलक्षणां रायस्पोषं ज्ञानश्रियः पोषं गौपत्यम् इन्द्रियाधिपत्यं सुवीर्यम् अज्ञानकामक्रोधादिशत्रुजयसामर्थ्यं सजातान् समानसाधकान् सदानुष्ठायिनो धारय । एवं रुद्रास्त्रैष्टुभेन त्वां कृण्वन्तु । ध्रुवासि अन्तरिक्षमसि । आदित्या जागतेन छन्दसा त्वां कृण्वन्तु । वैश्वानरा आनुष्टुभेन छन्दसा त्वां कृण्वन्तु । शेषं पूर्ववत् । त्वमेव अन्तरिक्षं द्यौर्दिशश्चासि, वेदान्तरीत्या सर्वेषामेव बौद्धत्वात् ।

दयानन्दस्तु—हे ब्रह्मचारिणि कुमारिके, या त्वमङ्गिरस्वद् ध्रुवासि धनञ्जयप्राणवायुवन्निश्चलासि पृथिव्यसि पृथुसुखकारिण्यसि, तां त्वां गायत्रेण गायत्रीसंज्ञकेन छन्दसा वसवो वसुसंज्ञका विद्वांसो मम स्त्रियं कुर्वन्तु । हे कुमार ब्रह्मचारिन्, यस्त्वमङ्गिरस्वत् प्राणवायुवन्निश्चलोऽसि पृथिव्या तुल्यः क्षमाशीलोऽसि, यं त्वां वसवो विद्वांसो गायत्रेण वेदप्रतिपादितेन छन्दसा मम पतिं कृण्वन्तु स त्वं मयि प्रजां रायस्पोषं राजश्रियः पोषं गौपत्यम् अध्यापकत्वं सुवीर्यं च धारय । आवां सजातान् सन्तानान् सर्वान् यजमानाय विद्याग्रहणार्थं समर्पयेव ।

हे स्त्रि, या त्वमङ्गिरस्वद् ध्रुवासि निष्कम्पासि अन्तरिक्षमसि तां त्वा रुद्रास्त्रैष्टुभेन छन्दसा मम पत्नीं कृण्वन्तु। हे वीर, यस्त्वमङ्गिरस्वद् ध्रुवोऽस्यन्तरिक्षमसि यं त्वा रुद्रास्त्रैष्टुभेन छन्दसा मम स्वामिनं कृण्वन्तु। स त्वं मयि प्रजां रायस्पोषमित्यादि पूर्ववत्। हे विदुषि, तां त्वादित्या जागतेन छन्दसा मम भार्यां कृण्वन्तु। हे विद्वन्, यं त्वादित्या ममाधिष्ठातारं कृण्वन्तु स त्वं मयि प्रजां धारय। हे सुभगे,…हे पुरुष, यस्त्वमङ्गिरस्वद् ध्रुवोऽसि यं त्वा वैश्वानरा मदधीनं कृण्वन्तु स त्वं मयि प्रजां धारय। हे सुभगे…हे पुरुष! यस्त्वमङ्गिरस्वद् ध्रुवोऽसि यं त्वा वैश्वानरा मदधीनं कृण्वन्तु' इत्यादिकम्, तत्सर्वमुपहासास्पदम्, निर्मूलाध्याहारबाहुल्यात्, तादृशसम्बोधनानां च मूलेऽभावात्। सिद्धान्ते तु ब्राह्मणसूत्रादिमूलकान्येव सम्बोधनानि ॥ ५८ ॥

अदित्यै रास्नास्यदितिष्टे बिलं गृभ्णातु। कृत्वाय सा महीमुखां मृण्मयीं योनिमग्नये। पुत्रेभ्यः प्रायच्छददितिः श्रपयानिति ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ—हे मृत्तिकानिर्मित रेखा, तुम अदिति रूप उखा की कांचीगुण के स्थान वाली हो। हे उखे, देवमाता तुम्हारे मध्य भाग को ग्रहण करें। देवमाता अदिति मृत्तिका की सहायता से अग्नि की स्थानभूत उखा का निर्माण कर पाक कार्य के सम्पादन के निमित्त यह कहकर अनुमति प्रदान करें कि हे पुत्रो, तुम इसमें पाक कर्म करो ॥ ५९ ॥

'वितृतीय उत्तरे वर्तिꣳ सर्वतः करोत्यदित्यै रास्नेति' (का० श्रौ० १६।३।३०)। उखोर्ध्वमानं त्रेधा विभज्य उपरि तृतीयभागे सर्वत्र मृण्मयीं मेखलां करोति। तलान्मेखलान्तमपि प्रतिदिशं चतुर्वर्तीः स्तनयुक्ताः कुर्यात्। प्रादेशोच्चाया ऊर्ध्वमानं त्रेधा विभज्य उत्तरे उपरितने भागे सर्वदिक्षु मृण्मयीं वर्तिं वर्त्याकारां मेखलां कुर्यादिति। रास्नादेवत्या यजुर्गायत्री। हे रेखे, त्वमदित्यै अदितिरूपाया उखाया रास्ना काञ्चीगुणस्थानीयासि। 'बिलं गृह्णात्यदितिष्ट इति' (का० श्रौ० १६।४।३)। उखाया मुखमालभते। उखादेवत्या यजुर्बृहती। हे उखे, अदितिर्देवमाता ते तव बिलं मध्यं गृभ्णातु गृह्णातु। 'कृत्वायेति निदधाति' (का० श्रौ० १६।४।४)। एवमुखां निष्पाद्य भूमौ स्थापयतीति सूत्रार्थः। अदितिदेवत्या उष्णिगनुष्टुब्वा। उष्णिक्पक्षे तृतीयपादश्चतुर्दशार्णस्तेन द्व्यधिका, अनुष्टुप्पक्षे तृतीयः षडर्णो व्यूह्यः। सा पूर्वोक्ता अदितिः, उखां कृत्वाय कृत्वा, 'क्त्वो यक्' (पा० सू० ७।१।४७) इति यगागमः, निष्पाद्य पुत्रेभ्यो देवेभ्यो वदन्ती प्रायच्छत्। किं वदन्ती? हे पुत्राः, इमामुखां भवन्तः श्रपयन्तु। 'श्रा पाके' णिजन्तः। 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इत्यन्तीत्यस्येकारस्य लोपे संयोगान्तलोपे च 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्यडागमे श्रपयानिति रूपम्। कीदृशीमुखाम्? महीं महतीं विशालां भूयसीं वा मृण्मयीं मृत्कार्यभूताम् अग्नये अग्न्यर्थम् अग्नेर्वा योनिस्थानभूताम्। सेयमदितिर्मृण्मयीं मृत्कार्यां योनिम् अग्नये अग्नेः कारणभूतामुखां कृत्वा फलं निष्पाद्य पुत्रेभ्यः पुत्रसदृशेभ्यः श्रपणकारिभ्यः प्रायच्छत्। शेषं पूर्ववत्।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथ तिरश्चीꣳ रास्नां पर्यस्यति। दिशो हैव सैतद्वै देवा इमाँल्लोकानुखां कृत्वा दिग्भिरदृꣳहन् दिग्भिः पर्यतन्वंस्तथैवैतद्यजमान इमाँल्लोकानुखां कृत्वा दिग्भिर्दृꣳहति दिग्भिः परितनोति' (श० ६।५।२।११)। अथोखाया उत्तरभागे वर्तिकरणं विधत्ते—अथ तिरश्चीमिति। रास्नां पर्यस्यति परितः सर्वतः कुर्यात्। तां रास्नां दिगात्मना स्तौति—एतद्वै देवा इत्यादिना। पूर्वं देवा यथा उखां कृत्वा दिग्भिर्दृढामकुर्वंस्तथा यष्टा वर्तिकरणेन दिग्भिरेव विततां दृढां च कृतवान् भवति। 'तामुत्तरे वितृतीये पर्यस्यति। अत्र हैषां लोकानामन्ताः समायन्ति तदेवैनांस्तदृꣳहति' (श० ६।५।२।१२)।

रास्नाकरणस्य स्थानं विधत्ते—तामुत्तरे वितृतीय इति। उखां त्रिधा विभज्य उत्तरेऽर्धे वितृतीये तृतीयभागादप्यदूरे उखाकण्ठप्रदेशे वर्ति सर्वतस्तिरश्चीनां कुर्यात्। 'अदित्यै रास्नासीति। वरुण्या वै यज्ञे रज्जुरवरुण्यामेवैनामेतद्रास्नां कृत्वा पर्यस्यति' (श० ६।५।२।१३)। मन्त्रं विधत्ते—अदित्यै रास्नासीति। अदित्यै अदीनाया देवमातुः, रास्ना रसनासि। रास्नापदस्याभिप्रायमाह अवरुण्या इति। पाशस्य वरुणो देवता। रास्नेयमवरुण्या, अपाशत्वात्। 'अथ चतस्र ऊर्ध्वाः करोति। तूष्णीमेव दिशो हैव ता एतद्वै देवा इमांल्लोकानुखां कृत्वा दिग्भिः सर्वतो दृꣳहꣳस्तथैवैतद्यजमान इमांल्लोकानुखां कृत्वा दिग्भिः सर्वतो दृꣳहति' (श० ६।५।२।१४)। अन्याश्चतस्रो वर्तीर्विधत्ते अथ चतस्र इति। तूष्णीमिति तत्र मन्त्रप्रतिषेधः। एता वर्तय उखायाश्चतुर्दिशं कार्याः। कण्ठगतवर्तिपर्यन्तं प्रतिदिशं चतस्रस्तूष्णीं कार्या इत्यर्थः। रास्नाचतुष्टयं दिगात्मना स्तूयते—दिशो हैव ता इत्यादिना। सर्वत ऊर्ध्वानां चतसृणां तृतीयोत्तरकृतरास्नापर्यन्तमिति। 'वा एता एतस्यै भवन्ति। एतद्वा एता एतामस्तभ्नुवंस्तथैवैनामेतत् स्तभ्नुवन्ति तद्यदत ऊर्ध्वं तदेतया तिरश्च्या दृढमथ यदतोऽर्वाक् तदेताभिः' (श० ६।५।२।१५)। उत्तरवर्तिकरणेनातो लोकादूर्ध्वस्थितं सर्वं दृढं भवति। उखाया लोकत्रयात्मकत्वाद् दार्ढ्यार्थं वर्तयः कर्तव्या इति तात्पर्यम्।

'तासामग्रेषु स्तनानुन्नयन्ति। एतद्वै देवा इमाँल्लोकानुखां कृत्वैतैः स्तनैः सर्वान् कामानदुहत तथैवैतद्यजमान इमाँल्लोकानुखां कृत्वैतैः स्तनैः सर्वान् कामान् दुहे' (श० ६।५।२।१६)। अथोर्ध्ववर्तीनामन्ते स्तनोन्नयनं विधत्ते—तासामग्रेषु स्तनानिति। स्तना इव स्तनाः, तदाकाराः कुर्यात्। अर्थात् पूर्वं देवा लोकत्रयात्मिकां गोरूपामुखां कृत्वा तस्या ऊधःस्थानीयाया वितृतीयभागे कृतायास्तिरश्चीनाया रास्नायाः समीपे वर्ती रास्नाग्रेषु चतुरः स्तनान् कृत्वा तेभ्यः सर्वान् कामान् दुग्धवन्तः, तथायं यष्टापि स्वाभिलषितान् कामान् दोग्धुं चतुरः स्तनान् कुर्यादिति। गोरूधोऽपि वितृतीये भागे भवति, सापि गौश्चतुःस्तनीति तत्साम्यम्। मन्त्रव्याख्यानात् पूर्वं सूत्रार्थव्याख्यानमेतैर्ब्राह्मणैः स्फुटयति। तथा च कात्यायनः—'द्विस्तनामष्टस्तनामेके' (का० श्रौ० १६।४।२), 'बिलं गृह्णात्यदितिष्ट इति' (का० श्रौ० १६।४।३), 'कृत्वायेति निदधाति' (का० श्रौ० १६।४।४) इति। तथा च ब्राह्मणम्—'ताꣳ हैके द्विस्तनां कुर्वन्ति। अथो अष्टस्तनां न तथा कुर्याद्ये वै गौः कनीयस्तनाः पशवो ये भूयस्तना अनुपजीवनीयतरा वा अस्यैतेऽनुपजीवनीयतराꣳ हैनां ते कुर्वतेऽथो ह ते न गां कुर्वते शुनीं वार्ऽविं वा वडवां वा तस्मात्तथा न कुर्यात्' (श० ६।५।२।१९)। चतुःस्तनपक्षं सिद्धान्वयितुं शाखान्तरानुसारेण पक्षान्तरमनुवदति ताꣳ हैक इति। तथा च तैत्तिरीया आमनन्ति—'द्विस्तनां करोति द्यावापृथिव्योर्दोहाय, चतुःस्तनां करोति पशूनां दोहाय, अष्टस्तनां करोति छन्दसां दोहाय' (तै० सं० ५।१।६।४) इति। द्विस्तनपक्षे एकस्मिन्नेव वर्त्यग्रे स्तनद्वयं क्रियते, अष्टस्तनपक्षे एकैकस्मिन् वर्त्यग्रे द्वौ द्वाविति। तत्पक्षद्वयं दूषयति स्वपक्षे श्रद्धादार्ढ्याय, नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तत इति न्यायात्। न तथा कुर्यादिति। ये पशवो गोः पशोरपेक्षया कनीयस्तना अल्पस्तनास्तेऽनुपजीवनीयतराः, ये च गवापेक्षया भूयस्तनास्तेऽपि तथाविधा एव। सा हि चतुःस्तना। स्तनचतुष्टयादर्वाक्स्तना भूयस्तना वा ये पशवस्तेऽनुपजीवनीया अभोग्या भवन्ति। यद्येनामुखां द्विस्तनामष्टस्तनां वा कुर्यात्, तर्हि अनुपजीवनीयां भोगानर्हामिव कुर्यात्। अभोग्यामेव दर्शयति—शुनीमिति। अष्टस्तनकरणे शुनीं द्विस्तनकरणेऽविं वडवां वा कृतवन्तो भवन्ति। ता यथा भोग्या न भवन्ति, एवं द्विस्तना अष्टस्तना वा उखा न भोगार्हेति तथाकरणमयुक्तमित्यर्थः। 'अथास्यै बिलमभिपद्यते। अदितिष्टे बिलं गृभ्णात्विति वाग्वा अदितिरेतद्वा एनां देवाः कृत्वा वाचाऽदित्या निरष्ठापयंस्तथैवैनामयमेतत्कृत्वा वाचाऽदित्या निष्ठापयति' (श० ६।५।२।२०)। बिलग्रहणं विधत्ते—अथास्या इति। बिलं कष्ठविवरम्। अभिपद्यते गृह्णाति। हे उखे, ते बिलम् अदितिः गृभ्णातु। सा च वाग्रूपत्वेन स्तूयते। निष्ठापयति परिसमाप्तां करोति।

'तां परिगृह्य निदधाति । कृत्वाय सा महीमुखामिति कृत्वाय सा महतीमुखामित्येतन्मृण्मयीं योनिमग्नय इति मृण्मयी ह्येषा योनिरग्नेः पुत्रेभ्यः प्रायच्छददितिः श्रपयानित्येतद्वा एनामदितिः कृत्वा देवेभ्यः पुत्रेभ्यः श्रपणाय प्रायच्छत्तथैवैनामयमेतत् कृत्वा देवेभ्यः श्रपणाय प्रयच्छति' (श० ६।५।२।२१) । सा अदितिः, महीं भूरूपां महतीं वा मृण्मयीं मृद्विकारभूताम् अग्नये अग्न्यर्थं योनिं स्थानम् उखां कृत्वाय कृत्वा पुत्रेभ्यः श्रपयान् श्रपयन्तु पक्वां कुर्वन्तु इति हेतोः प्रायच्छदिति सम्बन्धः । 'ता हैके तिस्रः कुर्वन्ति । त्रयो वा इमे लोका इमे लोका उखा इति वदन्तोऽथोऽन्योन्यस्यै प्रायश्चित्त्यै यदीतरा भेत्स्यतेऽथेतरस्यां भरिष्यामो यदीतराथेतरस्यामिति न तथा कुर्याद्यो वा एष निधिः प्रथमो यꣳ स लोको यः पूर्व उद्धिरन्तरिक्षं तद्य उत्तरो द्यौः साथ यदेतच्चतुर्थं यजुर्दिशो हैव तदेतावद्वा इदꣳ सर्वं यावदिमे च लोका दिशश्च स यदत्रोपाहरेदति तद्रेचयेद्यदु वै यज्ञेऽतिरिक्तं क्रियते यजमानस्य तद् द्विषन्तं भ्रातृव्यमभ्यतिरिच्यते यदु भिन्नायै प्रायश्चित्तिरुत्तरस्मिंस्तदन्वाख्याने' (श० ६।५।२।२२) उखा एकैव करणीयेति सिद्धान्तयितुं केषाञ्चित् पक्षमुपन्यस्यति—ता हैके तिस्रः कुर्वन्तीति । तत्र युक्तिः—त्रयो वा इमे लोका इति । उखाः खलु लोकात्मिकाः, लोकाश्च त्रयः, अतो लोकसंख्यया उखाः कर्तव्या इति वदन्त एके तिस्रः कुर्वन्तीति सम्बन्धः । युक्त्यन्तरमाह—अथो अन्योऽन्यस्या इति । यद्येका भिद्येत तर्हि अन्यस्यामग्निं भरिष्यामः । यदीतराऽथेतरस्यामिति, अतोऽन्योऽन्यस्यै प्रायश्चित्त्यर्थं तिस्र उखाः कर्तव्या इत्यर्थः । तं पक्षं दूषयति—यो वा एष निधिरित्यादिना । निधिरेकः, उद्धिद्वयं च, भूलोकादित्रयम्, यदेतत् समीकरणार्थं यजुः, तद्दिगात्मकम्, एतावदेव लोकत्रयम् । दिशश्च सर्वं जगत्, न ततोऽतिरिक्तमस्ति । अतो लोकत्रयात्मिकायामेकस्यामुखायां कृतायां यद् यदि अन्यदुखाद्वयमुपाहरेत् सम्पादयेत् तर्हि तद् लोकादिकमतिरेचयेत् । तद् अतिरिक्तं कर्म यजमानस्य द्विषन्तमेवातिरेचितवत् । यतो न्यूनमतिरिक्तं च कर्म दोषावहमेव, अतो न्यूनाधिददोषौ परिहार्यौ । तस्माद् लोकत्रयाद् दिग्भिश्चातिरिक्तस्य वस्तुनः करणं न युक्तमिति तात्पर्यम् ।

यद्युखैका स्यात् सा यदि भिद्येत तर्हि किमुखान्तरकरणं तूष्णीं वाऽवस्थानम् ? तूष्णीमवस्थाने कथमुख्याग्निधारणम्, असत्यग्निधारणे कथं चयनाख्यं कर्म, एतस्य सर्वस्योत्तरं ब्राह्मणे वक्ष्यत इत्याह—यदु भिन्नाया इति । अन्वाख्याने ब्राह्मणे तत्र वक्ष्यत इति शेषः । तत्र ह्येवम्—'यद्येषोखा भिद्येत । याभिन्ना न वा स्थाली उरुबिली स्यात् तस्यामेनं पर्यावपेत्' (श० ६।६।४।८) इत्यादिना । 'तस्या एतस्या अषाढां पूर्वां करोति । इयं वा अषाढेयमु वा एषां लोकानां प्रथमाऽसृज्यत तामेतस्या एव मृदः करोत्येषाꣳ ह्येव लोकानामियं महिषी करोति महिषी होयं तद्यैव प्रथमा वित्ता सा महिषी' (श० ६।५।३।१) । अथ संस्कृताया मृदः सकाशादुखानिर्माणात् पूर्वमषाढाख्येष्टकाया निर्माणमाह—तस्या एतस्या अषाढां पूर्वां करोतीति । अषाढलिङ्गकमन्त्रोपधेयामिष्टकामषाढां प्राहुः । तां यजमानस्य प्रथमोढा महिषी निर्माति । इयमिष्टकापि महिषी, प्रथमतो निर्माणात् । सा च यजमानपादमात्री अर्धचन्द्राकाराभिस्तिसृभी रेखाभिर्युक्ता भवति, 'पादमात्री भवति । प्रतिष्ठा वै पाद इयमु वै प्रतिष्ठा त्र्यालिखिता भवति त्रिवृद्धीयम्' (श० ६।५।३।२) इति श्रुतेः । अस्यास्त्रिवृत्त्वं पृथिव्यप्तेजोभिस्त्रिवृत्करणात् सिकतामृत्तिकापाषाणैस्त्रिभिः संहतत्वाद्वा ।

'अथोखां करोति । इमांस्तल्लोकान् करोत्यथ विश्वज्योतिषः करोत्येता देवता अग्निं वायुमादित्यमेता ह्येव देवता विश्वं ज्योतिस्ता एतस्या एव मृदः करोत्येभ्यस्तल्लोकेभ्य एतान् देवान्निर्मिमीते यजमानः करोति त्र्यालिखिता भवन्ति त्रिवृतो ह्येते देवा इत्यधिदेवतम्' (श० ६।५।३।३) । उखाया अषाढानन्तरकर्तव्यतामाह—अथोखामिति। उखाकरणेन त्रींल्लोकान् कृतवान् भवति। अथ विश्वज्योतिर्नामधेयानां तिसृणामिष्टकानामुखानन्तरकर्तव्यतां विधत्ते—अथ विश्वज्योतिषः करोतीति । एतासां निर्माणमेवाग्निवाय्वादित्यानां निर्माणमित्याह—एता

देवना इत्यादिना। विश्वद्योतकत्वमग्न्यादीनां प्रसिद्धमेव। देवानां त्रिवृत्त्वं द्युभूम्यन्तरिक्षस्थानभेदेन 'इष्टकास्तु तिस्रो विश्वज्योतिषः पृथग्लक्षणास्त्र्यालिखिताः' (का० श्रौ० १६।४।६) इति सूत्रनिर्दिष्टाः।

'अथाध्यात्मम्। आत्मैवोखा या वागषाढा तां पूर्वां करोति पुरस्ताद्धीयमात्मनो वाक्तामेतस्या एव मृदः करोत्यात्मनो ह्येवेयं वाङ्महिषी करोति महिषी हि वाक् त्र्यालिखिता भवति त्रेधा विहिता हि वागृचो यजूꣳषि सामान्यथो यदिदं त्रयं वाचो रूपमुपाꣳशु व्यन्तरामुच्चैः' (श० ६।५।३।४)। अथ वक्ष्यमाणम् अध्यात्मम् आत्मानमधिकृत्य प्रवर्त्यमानम्, वक्ष्यत इति शेषः। प्रतिज्ञातमर्थं दर्शयति—आत्मैवोखेति। उखायाः प्राधान्यादात्मत्वम्। आह्वानादिष्वात्मनोऽपि पूर्वं वाचः स्वरूपमस्ति। पुरस्तात् प्रवृत्तेः प्रसिद्धिमाह हिशब्दः। न केवलं वैदिक्या एव वाचस्त्रैविध्यमपि तु यदिदं सर्वैरुच्चार्यमाणं वाचः स्वरूपमस्ति तदपि त्रयम्, त्रिविधमित्यर्थः। उपांशुव्यन्तरामुच्चैरिति। व्यन्तरामित्युपांशूच्चैःस्वरमध्यवर्तिनीं वाचं वदन्ति प्राणिनः, तदेकं रूपं व्यन्तरां शब्दप्रतिपाद्यमित्यर्थः। स्पष्टमन्यत्।

'अथोखां करोति। आत्मानं तत्करोत्यथ विश्वज्योतिषः करोति प्रजा वै विश्वज्योतिः प्रजा ह्येव विश्वं ज्योतिः प्रजननमेवैतत्करोति ता एतस्या एव मृदः करोत्यात्मनस्तत्प्रजां निर्मिमीते यजमानः करोति यजमानस्तदात्मनः प्रजाः करोत्यनन्तर्हिताः करोत्यनन्तर्हिताम् ....' (श० ६।५।३।५)। उखाया आत्मरूपत्वात् तदनन्तरं तस्या एव मृदो विश्वज्योतिषामुत्पादने प्रजोत्पादनमित्यर्थः। 'प्रजननं प्रकृष्टं जननं जन्म यस्मात् तत् प्रजननम्, प्रजामित्यर्थः। अनन्तर्हिता व्यापारान्तरेणाव्यवहिता। उखाया विश्वज्योतिषां च मध्ये व्यवधानं न कुर्यादिति भावः।

'प्रजापतिरेषोऽग्निः। उभयं वैतत्प्रजापतिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्च परिमितश्चापरिमितश्च तद्या यजुष्कृतायै करोति यदेवास्य निरुक्तं परिमितꣳ रूपं तदस्य तेन संस्करोत्यथ या अयजुष्कृतायै यदेवास्यानिरुक्तमपरिमितꣳ रूपं तदस्य तेन संस्करोति स ह वा एतꣳ सर्वं कृत्स्नं प्रजापतिꣳ संस्करोति य एवं विद्वानेतदेवं करोत्यथोपशयायै पिण्डं परिशिनष्टि प्रायश्चित्तिभ्यः' (श० ६।५।३।७)। एष चयनलक्षणोऽग्निः प्रजापतिः सर्वभूतात्मको विराड् निरुक्तं कार्यात्मना स्थितम्, अनिरुक्तं कारणात्मना वर्तमानमिति विवेकः। यन्निरुक्तानिरुक्ताद्यात्मकमुभयमस्ति तद्द्वयं प्रजापतिरेव। निरुक्तं परिमितं कार्यत्वात्, तत्संस्कृतवान् भवति। अतथाभूताभिरिष्टकाभिरतथाभूतं प्रजापतिरूपं संस्करोति। एवं विद्वान् निरुक्तानिरुक्तमुभयं जानन् संस्कर्ता भवति। अवशिष्टाया मृदो विनियोगमाह—अथोपशयायै पिण्डं परिशिनष्टि प्रायश्चित्तिभ्य इति, उखां कृत्वा यजमान इति शेषः। उपशयायै उपशेत इति उपशया मृद् तस्यै। 'मृदमुपशयां निदधाति' (का० श्रौ० १६।४।७)। उखां क्रियमाणामुपशेतेऽतिरिच्यत इत्युपशया अतिरिक्ता मृद्, तां कार्यार्थं निदध्यात्। सूत्रान्ते प्रायश्चित्तय उखाभेदपरिहारोपाया उक्ताः। तदर्थं मृदः परिशेषः।

अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धे श्रुते वा, त्वम् अदित्या अखण्डनीयायाः प्रकृते रास्ना रशना काञ्चीवदलङ्कारभूतासि। अदितिर्भगवती ते तव बिलमन्तर्हृदयं गृह्णाति। सा अदितिः पराम्बा राजराजेश्वरी उखां बुद्धिं श्रुतिं वा कृत्वाय संस्कृत्य पुत्रेभ्यः स्वोपासकेभ्यः प्रायच्छद् ददाति, लकारव्यत्ययः। हे पुत्राः, भवन्तः श्रपयान् इमामुखां बुद्धिं श्रुतिं वा अभ्यासेन परिपक्वां कुर्वन्तु। कीदृशीमुखाम्? महीं महतीं बह्वर्थां मृण्मयीं मृद्विकारामिव पाचनार्हाम् अग्नये ज्ञानाग्नये। अग्नेर्ज्ञानस्य योनिं कारणभूताम्।

दयानन्दस्तु—'हे अध्यापिके विदुषि, यतस्त्वम् अदित्यै विद्याप्रकाशनाय रास्ना दात्री असि तस्मात्ते तव सकाशाद् बिलं ब्रह्मचर्यधारणं कृत्वा दितिः पुत्रः पुत्री च विद्याग्रहणात् सा अदितिर्भवति। मृण्मयीं मृद्विकारां

योनिं मिश्रितां महीं महतीमुखां पूरकस्थालीमग्नयेऽग्निसविधे स्थापनाय पुत्रेभ्यः प्रायच्छत्। विद्यासुशिक्षाभ्यां युक्ता भूत्वोखामिति श्रपयान्नादिपाकं कुर्वन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्। अदिति-विद्याप्रकाशौ रास्ना दात्रीत्यादिकमपि निर्मूलमेव। 'बिल भेदने' इति भेदनार्थस्य बिलधातोर्ब्रह्मचर्यधारणं कथमर्थः? मृद्विकार उखा मिश्रिता अमिश्रिता चेत्यप्यसङ्गतमेव। अग्नये अग्निसविधे स्थापनाय पुत्रेभ्यः प्रायच्छदित्यादिकं निरर्थकमेव, तस्य लोकसिद्धत्वात्॥ ५९॥

वस॑वस्त्वा धूपयन्तु गायत्रेण छन्द॑साङ्गिरस्वद् रुद्रास्त्वा॑ धूपयन्तु त्रैष्टु॑भेन छन्द॑साङ्गिरस्वदा॑-दित्यास्त्वा॑ धूपयन्तु जाग॑तेन छन्द॑साङ्गिरस्वद्विश्वे॑ त्वा देवा वै॑श्वानरा धू॑पयन्त्वानु॑ष्टुभेन छन्द॑साङ्गिरस्वदिन्द्र॑स्त्वा धूपयतु वरु॑णस्त्वा धूपयतु विष्णु॑स्त्वा धूपयतु ॥ ६० ॥

मन्त्रार्थ—हे उखे, वसुगण गायत्री छन्द के प्रभाव से अंगिरा के समान तुमको धूपित करें। रुद्रगण त्रिष्टुप् छन्द के प्रभाव से अंगिरा के समान तुमको धूपित करें, आदित्यगण जगती छन्द के प्रभाव से अंगिरा के समान तुमको धूपित करें। सबके हितकारक विश्वेदेव देवता अनुष्टुप् छन्द के प्रभाव से अंगिरा के समान तुमको धूपित करें। इन्द्रदेव तुमको धूप दें, वरुणदेव तुमको धूप दें, विष्णुदेव तुमको धूप दें॥ ६०॥

'सप्तभिरश्वशकृद्भिरुखां धूपयति दक्षिणाग्न्यादीप्तैरेकैकेन वसवस्त्वेति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १६।४।८)। अध्वर्युर्दक्षिणाग्निना दीप्तैरश्वस्य सप्तभिः शकृद्भिः लेण्डैरुखां प्रतिमन्त्रं धूपयति। धूपायमानमेकैकमश्वलेण्डमादाय एकैकेन मन्त्रेण उखायामन्तर्बहिश्च धूपयन् भ्रमयेदित्यर्थः। सप्तयजूंष्युखादेवत्यानि। तेषु त्रीणि ऋग्गायत्र्यः, तुर्यं सामजगती, पञ्चमसप्तमे यजुरुष्णिहौ, षष्ठं यजुरनुष्टुप्। हे उखे अष्टौ वसवो गायत्रेण छन्दसा अङ्गिरस इव त्वां धूपयन्तु, अश्वशकृज्जन्येन धूपेन त्वां संस्कुर्वन्तु। रुद्रा एकादश त्रैष्टुभेन छन्दसा अङ्गिरस इव त्वां धूपयन्तु। आदित्या द्वादश जागतेन छन्दसा त्वां धूपयन्तु। वैश्वानराः सर्वहिता विश्वेदेवा आनुष्टुभेन छन्दसा त्वां धूपयन्तु। इन्द्रस्त्वां धूपयतु वरुणो विष्णुश्च त्वां धूपयतु। यथा अङ्गिरसः स्वकीये चयनयागे त्वामधूपयन् तद्वद् वस्वादयस्त्वां धूपयन्तु। वसूनां गायत्रच्छन्दसा सम्बन्धेऽष्टसंख्यासादृश्यं निमित्तम्। अष्टौ हि वसवोऽष्टाक्षरा च गायत्री। रुद्रास्त्वा इत्यादीन्यप्यक्षरसंख्याद्वारेण व्याख्येयानि। चतुर्थमन्त्रे विश्वेषां देवानां सर्वदेवात्मकत्वाद् अनुष्टुभश्च सर्वच्छन्दोरूपत्वात् परस्परं सम्बन्धो विज्ञेयः। विश्वे च ते नराश्च विश्वानरास्तेषां हितकारित्वेन सम्बन्धिनो वैश्वानराः। इन्द्रवरुणविष्णूनां प्रतिनियतच्छन्दःसम्बन्धाभावात् ते केवला एवाम्नाताः। एवं शकृन्मन्त्रदेवतानां सप्तसंख्यासाम्यं ज्ञेयम्।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनां धूपयति। स्थेम्ने न्वेवाथो कर्मणः प्रकृततायै यद्वेव धूपयति शिर एतद्यज्ञस्य यदुखा प्राणो धूमः शीर्षंस्तत्प्राणं दधाति' (श० ६।५।३।८)। न केवलमदृष्टार्थं धूपनं किन्तु स्थेम्ने स्थिरत्वा-यापि। अथो अपि च कर्मण उखधारणलक्षणस्य चयनस्य वा प्रकृततायै संस्कृतत्वसिद्धये। यद्वेवेत्यादिर्धूपनार्थ-वादः। उखायाः प्राधान्याद् शिरस्त्वाभिधानम्। नासारन्ध्रेण प्राणस्य सञ्चारावसरे धूमस्य तत्सञ्चारदर्शनात् प्राणत्वोपचारः। तस्माद् धूपनेन उखायां प्राणसञ्चारः क्रियते। 'अश्वशकैर्धूपयति। प्राजापत्यो वा अश्वः प्रजापतिरग्निर्नो वा आत्मात्मानꣳ हिनस्त्यहिꣳसायै तद्वै शकनैव तद्धि जग्धं यातयाम तथो ह नैवाश्वं हिनस्ति नेतरान् पशून्' (श० ६।५।३।९)। धूपनकर्म च अश्वशकृद्भिरेव कर्तव्यमिति नियमे कारणमाह—प्राजापत्यो

वा अश्व इत्यादिना। 'प्रजापतेरक्ष्यश्वयत्तत्परापतत् तदश्वोऽभवत्, यदश्वयत् तदश्वस्याश्वत्वम्' (तै० सं० ५।३।१२।१) इति श्रुतेः। प्रजापतेरवयवत्वेन सम्बन्धादश्वस्य प्राजापत्यत्वम्। चीयमानस्याग्नेर्विराडात्मकत्व-मुक्तमेव। 'संवत्सरः प्रजापतिः' इति श्रुतेः संवत्सरमुख्याग्नेर्धार्यमाणत्वाद्वा अग्निः प्रजापतिः। अश्वशकृद्द्वारा धूपनं प्रशंसति—यद्वै शक्नैवेत्यादिना। 'शक्ना' इति पदे 'पद्दन्नोमास''' ' (पा० सू० ६।१।६३) इत्यादिना सूत्रेण शकन्नादेशः। जग्धं भक्षितम्, अदेर्जग्धादेशः। यातयाम कालान्तरगमनम्, गतसारमित्यर्थः। यद् एवंभूतमतः स्वसम्बन्धिनमश्वमपि न हिनस्ति। अश्वसम्बन्धित्वेन एतेषां पशूनां सम्बन्धाभावादेव हिंसाप्रसङ्गः। अतोऽश्व-शकृद्भिर्यलेण्डैर्धूपनं प्रशस्तम्। 'सप्ताश्वशकानि भवन्ति। सप्त यजूꣳषि सप्तत्य्य एता देवताः सप्त शीर्षन् प्राणा यदु वा अपि बहु कृत्वः सप्त सप्त सप्तैव तच्छीर्षण्येव तत्सप्त प्राणान् दधाति' (श० ६।५।४।११)। शकृन्मन्त्रदेवतानां सप्तसंख्यासाम्यं प्रशंसति—सप्ताश्वशकानि भवन्तीत्यादिना। संख्यागतसप्तत्वस्य त्रित्वं प्रशंसति - यदु वा अपि बहु कृत्वः सप्त सप्त सप्तेति। उ अपि च। यदपि तत्र शकृद्गतमेकं सप्तकम्, मन्त्रगतं चापरम्, देवतागतं चान्यत्। एवं बहुकृत्वः सप्तसंख्यायामावृत्तायामपि सप्तसंख्यानतिरेकात् त्रिभिः सप्तभिः शीर्षण्येव उखाख्ये यज्ञशिरस्येव सप्त प्राणान् दधाति स्थापयति।

अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धे, वस्वादयो देवास्त्वा धूपयन्तु ज्ञानवैराग्यगन्धाढ्यान् कुर्वन्तु। वस्वादीनां छन्दःसम्बन्धस्तु पूर्वोक्तरीत्यैव। इन्द्रो वरुणो विष्णुश्च त्वां धूपयतु संस्करोत्विति पूर्ववदेव, देवानामनुग्रहेणैव बुद्धिशुद्धिसंस्कारादिप्रसिद्धेः।

दयानन्दस्तु ब्रह्मचारिणः सम्बोध्य धूपयन्तु विद्यासुशिक्षाभ्यां संस्कुर्वन्तु अङ्गिरस्वदित्यस्य प्राणैस्तुल्यं ब्रह्माण्डस्थशुद्धवायुविद्युद्वदिति स्वकपोलकल्पितं बहु वक्ति, तत्सर्वं निर्मूलं श्रुतिविरुद्धं च ॥ ६० ॥

अदि॑तिष्ट्वा दे॒वी वि॒श्वदे॑व्यावती पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ अङ्गिर॒स्वत् ख॑नत्ववट दे॒वानां॑ त्वा पत्नी॑र्दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ अङ्गिर॒स्वद् द॑धतूखे धि॒षणा॑स्त्वा दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ अङ्गिर॒स्वद॒भीन्ध॑तामुखे वरू॒त्रीष्ट्वा दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ अङ्गिर॒स्वच्छ्रपयन्तूखे ग्नास्त्वा॑ दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ अङ्गिर॒स्वत् प॑चन्तूखे जन॑य॒स्त्वाच्छिन्नपत्रा दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ अङ्गिर॒स्वत् प॑चन्तूखे ॥ ६१ ॥

मन्त्रार्थ—हे गर्त, समस्त देवताओं की अधिष्ठात्री, समस्त दिव्यगुण सम्पन्न देवमाता पृथ्वी के ऊपरी भाग पर अंगिरा के समान तुम्हारा खनन करें। हे उखे, देवताओं की औषधिरूप स्त्रियाँ समस्त देवगणों के साथ दीप्यमान पृथ्वी के ऊपर अंगिरा ऋषि के समान तुम्हें स्थापित करें। हे उखे, समस्त देवताओं की वाणी की अधिष्ठात्री देवी वाणी पृथ्वी के ऊपर अंगिरा के समान तुम्हें प्रदीप्त करें। हे उखे, सम्पूर्ण देवताओं से युक्त अहोरात्र के अभिमानी देवता पृथ्वी के ऊपर अंगिरा के समान तुम्हें पकावें। हे उखे, समस्त देवों की अधिष्ठात्री और वैदिक छन्दों की अधिष्ठात्री देवता पृथ्वी के ऊपर अंगिरा के समान तुम्हें पकावें। हे उखे, निरन्तर गमनशील नक्षत्राभिमानी देवियाँ सब देवताओं के साथ पृथ्वी के ऊपर अंगिरा के समान तुम्हारा पाक करें ॥ ६१ ॥

'अभ्रया श्वभ्रं चतुरश्रं खनत्यदितिष्ट्वेति' (का० श्रौ० १६।४।९)। अषाढोखाविश्वज्योतिषां पाकाय चतुरस्रमवटमभ्रया खनतीति सूत्रार्थः। अवटदेवत्या प्राजापत्या त्रिष्टुप्। हे अवट गर्त, अदितिर्देवी पृथिव्याः सधस्थे सहस्थाने उपरिभागे त्वा त्वां खनतु। अङ्गिरस इव, यथाङ्गिरसोऽखनंस्तद्वत्। कीदृश्यदितिः? विश्वदेव्यावती, विश्वेषां देवानां समूहो विश्वदेव्यम्, तद्विद्यते यस्याः सा। 'मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ' (पा० सू० ६।३।१३१) इति दीर्घः। सर्वैर्देवैः सहिता। यद्वा विश्वेषु देवेषु साधवो विश्वदेव्याः, तेऽस्यां सन्तीति। अनेन मन्त्रेणादितेरेव खननकर्तृत्वम्। तथा च तैत्तिरीयके श्रूयते—'अदितिस्त्वेत्याहेयं वा अदितिरदित्यैवादित्यां खनत्यस्या अक्रूरङ्काराय नहि स्वः स्वꣳ हिनस्ति' (तै० सं० ५।१।७।१)। अत्रादितिशब्देनेयं भूमिरेव विवक्षिता। अवटखननमपि भूम्यामेव। ततोऽदितेः खनने कर्तृत्वे सति भूमेर्हिंसा न भवति। नहि लोके कश्चिदपि स्वयं स्वात्मानं हिनस्ति। तस्मात् खननलक्षणक्रूरकार्यकरणाभावायेत्थमदितिकर्तृत्वं सम्पद्यते। 'श्रपणमास्तीर्य यथाकृतमवदधाति' (का० श्रौ० १६।४।१०)। गर्तेऽषाढादिपाकपर्याप्तमिन्धनं प्रक्षिप्य तत्र अषाढा-उषा-विश्वज्योतिषो येन क्रमेण कृतास्तेन क्रमेण गर्ते स्थापयेत्। उखास्थापने विशेषः—'देवानां त्वेत्युखां न्युब्जाम्' (का० श्रौ० १६।४।११)। अधोमुखीमुखामषाढोत्तरतो गर्ते स्थापयतीति सूत्रार्थः। पञ्च यजूंष्युखादेवत्यानि। द्वे प्राजापत्ये त्रिष्टुभौ। विश्वदेव्यावती विश्वेषां देवानां योग्या विश्वेषु देवेषु साधवो वा विश्वदेव्याः, ते सन्ति यस्यां सा। विश्वैर्देवैः सहिता देवानां पत्नीः देवीः देवपत्न्यो देव्यो दीप्यमाना ओषधयः पृथिव्याः सधस्थे उपरि अङ्गिरस इव हे उखे, त्वां दधतु स्थापयन्तु, 'ओषधयो वा देवानां पत्न्यः' (श० ६।५।४।४) इति श्रुतेः। 'श्रपणेनावच्छाद्य दक्षिणाग्न्यग्निना दीपयति धिषणास्त्वेति' (का० श्रौ० १६।४।१२)। उखास्थापनानन्तरं विश्वज्योतिषस्तूष्णीं श्वभ्रे निधाय श्रपणैरिन्धनैः सर्वमवच्छाद्य दक्षिणाग्नेरानीतेन वह्निनोखां दीपयतीति सूत्रार्थः। हे उखे, धिषणा विद्याभिमानिन्यो देवता देव्यो विश्वेदेवयुक्ताः पृथिव्या उपरि त्वामभीन्धतां समन्ताद् दीपयन्तु। 'ञिइन्धी दीप्तौ'। 'वरूत्रीष्ट्वेतीक्षमाणो जपति' (का० श्रौ० १६।४।१४)। ततो दण्डादिना उखोपरिस्थे श्रपणे छिद्रं कृत्वा तेन छिद्रेणोखामीक्षमाणो वरूत्रीत्यादीनि त्रीणि यजूंषि स्वरेण जपेत्। ऋग्बृहती विश्वेदेवयुक्ता वरूत्र्योऽहोरात्राभिमानिन्यो देव्यः पृथिव्या उपरि अङ्गिरस इव हे उखे, त्वां श्रपयन्तु तव पक्वतां सम्पादयन्तु, 'अहोरात्राणि वै वरूत्र्योऽहोरात्रैर्हीदꣳ सर्वं वृतम्' (श० ६।५।४।६) इति श्रुतेः। ग्नास्त्वा साम जगती। विश्वेदेवयुक्ता ग्नादेव्यश्छन्दोऽभिमानिन्यो देवतास्त्वां पृथिव्याः सधस्थे पचन्तु, 'छन्दाꣳसि वै ग्नाश्छन्दोभिर्हि स्वर्गं लोकं गच्छन्ति' (श० ६।५।४।७) इति श्रुतेः। 'जनयस्त्वा' ऋक्पङ्क्तिः। जनयो नक्षत्राभिमानिन्यो देवताः, हे उखे, त्वां पचन्तु, 'नक्षत्राणि वै जनयः' (श० ६।५।४।८) इति श्रुतेः। कीदृश्यो जनयः? अच्छिन्नपत्राः, अच्छिन्नं विच्छेदरहितं पत्रं गमनं यासां ताः, सन्ततयायिन्य इत्यर्थः।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमस्यां खनति। एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इममिह रक्षाꣳसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तस्मा इमामेवात्मानमकुर्वन् गुप्त्या आत्मात्मानं गोप्स्यतीति' (श० ६।५।४।१)। अथावटखननं विधत्ते—अथैनमस्यां खनतीति। एकमवटमस्यां भूम्यामुखास्थापनार्थं खनेत्। अवटखननं पुरावृत्तान्ताभिधानमुखेन प्रशंसति—एतद्वै देवा अबिभयुरिति। एतद् एतेन नः अस्माकं उखेष्टकादिरूपं पदार्थं नाशकारीणि रक्षांसि न हन्युरिति देवा भीता आसन्। तस्मै अवयवभूताय उखादिपदार्थाय इमां पृथिवीमेवात्मानमवयविनमकुर्वन्। एवं कुर्वतामभिप्रायमाह—आत्मानं गोप्स्यतीति। यथा आत्मात्मानं स्वयं रक्षति, तथा पृथिवी स्वावयवभूतं पदार्थमुखादिरूपं स्वयं रक्षिष्यतीति। 'तं वा अदित्या खनति। इयं वा अदितिर्नो वा आत्मात्मानꣳ हिनस्त्यहिꣳसायै यदन्यया देवतया खनेद्धिꣳस्याद्धैनम्' (श० ६।५।४।२)। अदित्या अदितिदेवतात्मकेन

मन्त्रेणेत्यर्थः। येयमदितिर्देवता सेयं पृथिवी खलु, आदत्ते सर्वमित्यदितिरिति व्युत्पत्तेः। यथा पादतललग्न-कण्टकाद्युद्धरणे स्वयं प्रवृत्तश्चेन्न हिनस्ति, अन्यश्चेद् हिंस्यादेवमिति भावः। 'अदितिष्ट्वा देवी विश्वदेव्यावती। पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वत्खनत्ववटेत्यवटो हैष देवत्राऽत्र सा वैणव्यभ्रिरुत्सीदति चतुःस्रक्तिरेष कूपो भवति चतस्रो वै दिशः सर्वाभ्य एवैनमेतद्दिग्भ्यः खनत्यथ पचनमवधायाषाढामवदधाति तूष्णीमेव ताᳬ हि पूर्वां करोति' (श० ६।५।४।३)। अयमर्थः— हे अवट, त्वा अदितिः अखण्डनीया देवमाता खनतु। कीदृशी सा? विश्वदेव्यावती। विश्वेभ्यो देवेभ्यो हितं कर्म विश्वदेव्यम्, तदस्या अस्तीति विश्वदेव्यावती। 'मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ' (पा० सू० ६।३।१३१) इति दीर्घः। किं वत्? अङ्गिरस्वत्, अङ्गिरसो यथा तथा। कुत्र? पृथिव्याः सधस्थे सहस्थाने, उपरीत्यर्थः। इतिशब्दो मन्त्रसमाप्ति-द्योतकः। अवटो हैष देवत्रेति। एष अवटो देवत्रा देवमग्निं प्रति साधुः, इष्टकोखारक्षकत्वात्। अवटखनन-साधनम् उखार्थमृत्खननार्थं प्रागाहृता वैणव्यभ्रिरेवेत्याह—अथ सा वैणव्यभ्रिरुत्सीदतीति। अत्र अवटखनने सा या पूर्वमुपयुक्ता वैणवी वेणुविकारभूता अभ्रिः, सा उत्सीदति विनश्यति, अर्थात् समाप्तप्रयोजना भवति, खननार्थमाहृतायाः प्रतिपत्तिर्भवतीत्यर्थः। अवटस्य प्रकारविशेषमाह—चतुःस्रक्तिरेष कूपो भवतीति। स्रक्तयोऽश्रयः। प्रक्षेप्तव्यबहुत्वादवटबहुत्वप्रसक्तावुच्यते—एष कूप इति। एकस्मिन्नेव चतुरस्रे श्वभ्रे आषाढो-खादीनां पाक इत्यर्थः। एतद्ब्राह्मणानुसारीण्येव पूर्वोक्तानि सूत्राणि। 'श्रपणमास्तीर्य··' (का० श्रौ० १६।४।१०) इत्यादिसूत्रोक्तं विधत्ते—पचनमित्यादिना। पच्यतेऽनेनेति पचनं तृणादिकं तद् अवधाय अवटे आस्तीर्य तूष्णीमेवादौ निष्पादितत्वात् प्रथममषाढामेव तूष्णीं स्थापयेत्।

'अथोखामवदधाति। देवानां त्वा पत्नीर्देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वद्दधतूख इति देवानाᳬ हैतामग्रे पत्नीर्देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽङ्गिरस्वद्दधुस्ताभिरेवैनामेतद्दधाति ता ह ता ओषधय एवौषधयो वै देवानां पत्न्य ओषधिभिर्हीदᳬ सर्वᳬ हितमोषधिभिरेवैनामेतद्दधात्यथ विश्वज्योतिषोऽ-वदधाति तूष्णीमेवाथ पचनमवधायाभीन्धे' (श० ६।५।४।४)। अथोखामवदधातीति पश्चादुखां देवानामिति मन्त्रेण अवाङ्मुखीमवदध्यात्। मन्त्रं व्याचष्टे—देवानां हैतामग्र इति। या देवपत्न्य इन्द्राणी, अग्नायी, आश्विनी, राट् इत्याद्याः (नि० १२।४६), पुरा उखामवटे स्थापितवत्यः, अतोऽनेन मन्त्रेण ताभिरेव स्थापितवान् भवति। देवपत्नीशब्दस्य ओषधयोऽर्थ इति सोपपत्तिकं वदन् तेन मन्त्रेणोपधानं प्रशंसति—ता ह ता ओषधय एवेति। न त्वन्या इत्योषध्यात्मना देवपत्नीस्तुतिः। तर्ह्योषधीनां निधानशक्तिः कुत इत्यत आह—ओषधीभिर्हीदं सर्वं हितमिति। व्रीहियवादिरूपाणामोषधीनामस्य कृत्स्नस्य जगतो धारकत्वं प्रसिद्धमिति। निर्माणक्रमप्राप्तानां विश्वज्योतिषामवधानं विधत्ते—अथ पचनमित्यादिना। दीपनं दक्षिणाग्निनैव, 'दक्षिणाग्न्यग्निना दीपयति धिषणास्त्वेति' (का० श्रौ० १६।४।१२) इति सूत्रात्।

'धिषणास्त्वा देवीः। विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वदभीन्धतामुख इति धिषणा हैतामग्रे देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽङ्गिरस्वदभीधिरे ताभिरेवैनामेतदभीन्धे सा ह सा वागेव वाग्वै धिषणा वाचा हीदᳬ सर्वमिद्धं वाचैवैनामेतदभीन्धेऽथैतानि त्रीणि यजूᳬषीक्षमाण एव जपति' (श० ६।५।४।५)। धिषणाशब्दस्य विवक्षितमर्थं ब्रुवन् तस्याः प्रकृतकर्मयोग्यतासमर्थनाय समिन्धनप्रसिद्धिमाह—सा ह सा वागेवेति। या सा खलु धिषणा सा प्रसिद्धा वागेव नान्या, वाचा व्यवहाराभावे कस्यापि वस्तुनोऽभिव्यक्तेरभावाद् वाचा हीदं सर्वमिद्धमित्युक्तम्। इद्धं दीपितं प्रकाशितमित्यर्थः। 'वरूत्रीष्ट्वेतीक्षमाणो जपति' (का० श्रौ० १६।४।१४) इति सूत्रकृतोक्तं विधत्ते—अथैतानि त्रीणीत्यादिना। वरूत्रीष्ट्वा, ग्नास्त्वा, जनयस्त्वा इति त्रीणि। वरूत्रीः,

वरूत्रयः। 'ग्रसिते....' (पा० सू० ७।२।३४) इत्यादिना निपातितः। अर्थवादे बहुवचनान्तत्वेन निर्देशाद् एकेन श्रपणं द्वाभ्यां पचनं यद्यपि वर्णितम्, तथापि पाकश्रपणयोरग्निकर्तव्यत्वेन स्वस्यानुकूलप्रयत्नमन्तरेण स्वकर्तव्याभावाद् ईक्षणपूर्वको जप एव कर्तव्य इत्येवकारस्याभिप्रायः। 'वरूत्रीष्ट्वा देवीः। विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वच्छ्रपयन्तूख इति वरूत्रीर्हैतामग्रे देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽङ्गिरस्वच्छ्रपयाञ्चक्रुस्ताभिरेवैनामेतच्छ्रपयति तानि ह तान्यहोरात्राण्येवाहोरात्राणि वै वरूत्रयोऽहोरात्रैर्हीदꣳ सर्वं वृतमहोरात्रैरेवैनामेतच्छ्रपयति' (श० ६।५।४।६)। 'जनयस्त्वाऽच्छिन्नपत्रा देवीः। ....तानि ह तानि नक्षत्राण्येव नक्षत्राणि वै जनयो ये हि जनाः पुण्यकृतः स्वर्गं लोकं यन्ति तेषामेतानि ज्योतीꣳषि नक्षत्रैरेवैनामेतत् पचति' (श० ६।५।४।८); तृतीयं यजुरनूद्य व्याचष्टे— जनयस्त्वेति। जायन्ते जनाः पुण्यकृतो नक्षत्ररूपेणेति जनयो नक्षत्राणि। तानि च अच्छिन्नपत्राः, अच्छिन्नपतनसाधनयुक्तानीत्यर्थः। नहि तानि सुकृतक्षयादर्वाक् पतन्ति। जनिशब्दार्थमाह—तानि ह तानि नक्षत्राण्येवेति। नक्ष्यन्ते प्राप्यन्ते सुकृतिभिरिति नक्षत्राणि। 'नक्षत्राणि नक्षतेर्गतिकर्मणः' (नि० ३।२०) इति निरुक्तम्। तेषां स्वर्गं यतां यान्येतानि ज्योतींषि तानि नक्षत्राणि। श्रपणं पाकक्रियासामान्यम्, पचनं पाकनिर्वृत्तिरिति विवेकः।

अध्यात्मपक्षे—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० उ० ३।१४।१) इति रीत्या अवटादीनामपि ब्रह्मरूपत्वात् श्रौतव्याख्यानेऽपि तेन तेन रूपेण ब्रह्मैव प्रतिपाद्यते स्तूयते च। प्रकारान्तरेणापि अवतीति अवटः, अवतेरटचि रूपम्। हे ब्रह्मात्मज्ञान, विश्वदेव्यावती विश्वेषां देवानां समूहो यस्यां विद्यते सा सर्वदेवतेजोरूपा, सर्वदेवस्वरूपा अदितिः अखण्डनीया देवी दीव्यमाना, 'ततः समस्तदेवानां तेजोराशिसमुद्भवाम्। तां विलोक्य मुदं प्रापुरमरा महिषार्दिताः॥' इति सप्तशतीवचनात्। पृथिव्याः सधस्थे सहस्थाने त्वां खनतु खनति। लकारव्यत्ययः। वेदादिशास्त्रपर्वतात्मिकां भूमिं खनित्वा प्रादुर्भावयतीत्यर्थः। देवानां पूर्वोक्तानां पत्नीः पत्न्य इन्द्राणी-अग्नायी-आश्विनी-राट्प्रभृतयस्त्वां दधतु स्थापयन्तु। उत्पन्नमपि ज्ञानमिन्द्रियाद्यनिग्रहात् क्षरति। देवानामनुग्रहात्मिकाभिः शक्तिभिरेव तत्प्रतिष्ठां लभते। विश्वदेवयुक्ता धिषणा वागभिमानिन्यो देव्यो वाग्देवतास्त्वामभीन्धन्तां दीपयन्ति। ज्ञानस्य सर्वविधसंशयविपर्ययादिराहित्यमेवाभीन्धनम्। तच्च वाग्देवतानुग्रहेण सिद्ध्यति। हे उखे बुद्धे, विश्वेदेवयुक्ता अहोरात्राभिमानिन्यो वरूत्रयस्त्वां श्रपयन्ति परिपक्वां कुर्वन्ति, परिपाकाय नैरन्तर्यसम्मानाभ्यां सार्धं बह्वहोरात्रलक्षणस्य दीर्घकालस्याप्यपेक्षितत्वात्। 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः' (यो० सू० १।१४)। हे उखे बुद्धे, विश्वदेवयुक्ता ग्नादेव्यश्छन्दोऽभिमानिन्यो देवतास्त्वां पचन्तु। हे उखे, विश्वेदेवयुक्ता जनयो नक्षत्राभिमानिन्यो देवता अच्छिन्नपत्रा अच्छिन्नं पत्रं पतनं गमनं यासां ताः सन्ततयायिन्यस्त्वां पचन्तु। नहि त्रिविधानां देवतानामनुग्रहेण विना ज्ञानपरिपाकः। पूर्ववदेव पाकानुगुणक्रियासामान्यं श्रपणम्, पचनं तु पाकनिर्वृत्तिरेव।

दयानन्दस्तु—'हे अवट शिशो अपरिभाषित अनिन्दित, विश्वदेव्यावती विश्वेषु देवेषु विद्वत्सु भवं विज्ञानं प्रशस्तं विद्यते यस्यां सा अदितिर् अध्यापिका देवी विदुषी पृथिव्याः सधस्थे भूमेः सहस्थाने अङ्गिरस्वद् अग्निवत् खनतु। भूमिं खनित्वा कूपजलवद्विद्यायुक्तान्निष्पादयतु। हे उखे कन्ये, देवानां पत्नी विश्वदेव्यावतीर्देवीः पृथिव्याः सधस्थे त्वाङ्गिरस्वद् दधतु। हे उखे, विश्वदेव्यावतीर्धिषणादेवीः पृथिव्याः सधस्थे त्वाङ्गिरस्वदभीन्धन्ताम्। हे उखे, विश्वदेव्यावतीः देवीः ग्नाः पृथिव्याः सधस्थे त्वाङ्गिरस्वत् पचन्तु। हे उखे, विश्वदेव्यावतीरच्छिन्नपत्रा जनयो देवीः पृथिव्याः सधस्थे त्वाङ्गिरस्वत् पचन्तु। हे उखे, त्वमेताभ्यः सर्वाभ्यो ब्रह्मचर्येण विद्यां गृहाण' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनानां निर्मूलत्वात्। अदितिरध्यापिकेत्यपि निर्मूलम्।

यत्तु अज्ञानमवद्यतीति व्युत्पत्त्या तद्युक्तमिति तन्न, तथात्वे चेष्टावत्त्वेन देवदत्तस्यापि घटपदार्थत्वापत्तेः। अत एव रूढिर्योगमपहरतीति प्रसिद्धिः। अदितिर्देवमाता तु प्रसिद्धा। देवपदस्य विद्वांसो मनुष्या अर्थ इति तु नैकधा खण्डितमेव, जातिविशेषस्य देवत्वोक्तेः। अवट इत्यपि गर्तार्थकः शब्दः, 'अवटे ये निधीयन्ते तेषां लोकाः सनातनाः' (अरण्य० ४।२२) इति वाल्मीक्युक्तेः, शतपथेऽपि—'अथैनमस्यां खनति' (श० ६।५।४।१) इति श्रुत्या खननीयस्य गर्तस्यैवावटपदार्थत्वात्, मूलेऽपि खनत्ववटेति खनतुक्रियाप्रयोगाच्च। भूमिं खनित्वा कूपजलवद्विद्यायुक्तान्निष्पादयत्विति कथं कया वृत्त्या खनतेरर्थः ? इत्यस्यासमाहितत्वात्। नहि शाब्दनये स्वैरित्वं कामचारित्वं युक्तम्। एवमेव धिषणोखादिशब्दानां यथेष्टार्थकरणे वेदार्थबाध एव स्यात्। शतपथे चोखाषाढाविश्वज्योतिषादिपाकाय गर्तखननादौ मन्त्रा इमे विनियुक्ताः, श्रुत्या च तदानुगुण्येन व्याख्याता अपि। तदतिक्रम्य यत्किञ्चिदर्थकरणमुपहासायैव। तत्र 'ओषधयो वै देवपत्न्यः, वाग्वै धिषणा, अहोरात्राणि वै वरूत्र्यः, छन्दांसि वै ग्नाः, नक्षत्राणि वै जनयः' इत्यादिश्रुतिभिर्मन्त्रगतानि पदानि व्याख्यातानि। तद्विरुद्धोऽर्थोऽसङ्गत एव ॥ ६१ ॥

मि॒त्रस्य॑ चर्ष॒णीधृ॒तोऽवो॑ दे॒वस्य॑ सान॒सि। द्यु॒म्नं चि॒त्रश्र॑वस्तमम् ॥ ६२ ॥

मन्त्रार्थ—दीप्तिमान्, मनुष्यों का पोषण करने वाले मित्र देवता द्वारा किये गये रक्षा कार्यों की, जो कि सनातन यशोरूप से प्रसिद्ध है विचित्र है, तथा अत्यन्त श्रवण के योग्य है, हम स्तुति करते हैं ॥ ६२ ॥

'आचरति मित्रस्येति' (का० श्रौ० १६।४।१५)। आचरति प्रक्षिपति श्रपणमिन्धनं मित्रस्येति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। मित्रदेवत्या गायत्री विश्वामित्रदृष्टा। मित्रस्यादित्यस्य देवस्य द्योतमानस्य अवो रक्षणम्, सानसि अभीष्टफलदानप्रवणम्, 'सानसि....' (उणादि ४।१०८) इति निपातनात् 'षणु दाने' इत्यस्य रूपम्। सानसि पुरातनमित्युव्वटाचार्यः। द्युम्नं यशोऽन्नं वा वयं स्तुम इति शेषः। अथवा कीदृशं द्युम्नम् ? अवो रक्षणं यदनुसन्धानमात्रेण भक्तानां रक्षणं भवतीत्यर्थः। पुनः कीदृशम् ? चित्रश्रवस्तमं चित्रं विचित्रं श्रूयत इति चित्रश्रवः, अनेकैः श्रूयमाणत्वात्, अतिशयितं चित्रश्रव इति चित्रश्रवस्तमम् अतिशयितं श्रवणीयं विचित्रं यशः, स्तुम इति शेषः। कीदृशस्य मित्रस्य ? चर्षणीधृतः चर्षणयो मनुष्याः, तान् धरतीति चर्षणीधृत् तस्य। तेषां धृद् इति वा। 'संहितायाम्' (पा० सू० ६।३।११४) इत्यधिकारे 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः, मनुष्याणां धारणेऽधिकृतस्येति यावत्। यद्वा यजमानस्य अवो रक्षणं द्युम्नं यशश्चेष्टं च साधयत्विति शेषः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ मित्रस्य चर्षणीधृत इति। मैत्रेण यजुषोपन्याचरति यावत्कियच्चोपन्याचरति न वै मित्रं कञ्चन हिनस्ति न मित्रं कश्चन हिनस्ति तथो हैष एतां न हिनस्ति नो एतमेषा तां दिवैवोपवपेद्दिवोद्वपेदहर्ह्याग्नेयम्' (श० ६।५।४।१०)। उखायाः समन्त्रकमुपावहरणं विधाय प्रशंसति—अथ मित्रस्येति। लोके मित्रं मित्रभूतः पुमान् न कञ्चन हिनस्ति मित्रत्वादेव। मित्रमपि न कश्चन हिनस्ति मित्रत्वादेव। तथो तथा च सति मैत्रेण मन्त्रेण नितरामुपचरणीयस्य पुनस्तृणप्रक्षेपाद्युपचारे सत्येष यष्टा एतामुखां मित्रत्वादेव न हिनस्ति नो नैव एतमुपचरन्तम् एषा उखा मामयं दहतीति क्रुद्धा सती न हिनस्ति। तस्याः प्रक्षेपोत्क्षेपणयोः कालनियममाह—तां दिवैवोपवपेद् दिवोद्वपेदिति। उपवापोऽवटे प्रक्षेपः, उद्वाप स्ततः ऊर्ध्वं नयनम्। अहर्ह्याग्नेयमित्यग्नेः सूर्यस्य तेजस एकत्वात्, अह्नोऽग्नेरभिभावकत्वाच्च।

अध्यात्मपक्षे—मित्रस्य परमात्मनः, 'इन्द्रं मित्रं वरुण....' (ऋ० वे० १।१६४।४६) इति मन्त्रवर्णात्। चर्षणीधृतो मनुष्योपलक्षितानां सर्वप्राणिनां धारयितुः, देवस्य द्योतमानस्य स्वप्रकाशस्य सानसि सनातनं सर्वसम्भजनीयं वा द्युम्नं यशः, अवो रक्षकमस्ति, तदनुसन्धानेन मोक्षपदप्राप्तिसम्भवात्। कीदृशं तत्? चित्रश्रवस्तमम् अतिशयितं श्रवः श्रवणीयमिति श्रवस्तमम्, चित्रमाश्चर्यभूतं च तत् श्रवस्तमं चेति तथोक्तम्। यद्वा चित्रं श्रवो यशो भक्तानां यस्मात् तत् चित्रश्रवः, अतिशयितं चित्रश्रव इति चित्रश्रवस्तमम्।

दयानन्दस्तु—'हे मित्र, त्वं चर्षणीधृतो सुशिक्षया मनुष्याणां धर्तुर्मित्रस्य सुहृदो देवस्य कमनीयस्य पत्युश्चित्रश्रवस्तमं चित्राण्याश्चर्यभूतानि श्रवांस्यन्नादीनि यस्मात् तत्, सानसि सम्भक्तव्यं पुराणं द्युम्नं धनं अव रक्ष' इति, तदपि न युक्तम्, समाने धार्यधारकभावानुपपत्तेः। नहि शिक्षया वैशिष्ट्यम्, अन्येषामपि तत्सम्भवात्। न च मित्रस्य कमनीयस्य सर्वस्य पतित्वमपि सम्भवति, अन्नादिरक्षणे रागतः प्रवृत्तौ विधानायोगात्, श्रुतिविरोधाच्च॥ ६२॥

देवस्त्वा सवितोद्वपतु सुपाणिः स्वङ्गुरिः सुबाहुरुत शक्त्या। अव्यथमाना पृथिव्यामाशा दिश आपृण॥ ६३॥

मन्त्रार्थ—हे उखे, सुन्दर हाथ, सुन्दर अँगुली और सुन्दर भुजा वाले दिव्यगुणयुक्त सबके प्रेरक सविता देवता अपनी बुद्धिरूप शक्ति से तुमको भस्म से प्रकाशित करें। हे उखे, व्यथा को न प्राप्त होने वाली अचल पृथ्वी में स्थित हुई तुम पूर्व आदि दिशाओं और आग्नेयी आदि विदिशाओं को आहुति के रस से पूर्ण करो॥ ६३॥

'उद्वपति श्रपणम्, देवस्त्वेत्युखाम्' (का० श्रौ० १६।४।१८–१९)। भस्मीभूतमिन्धनादिकं पाकानन्तरं सवितेति मन्त्रेण पराकरोति। सवितृदेवत्या बृहती। हे उखे, सविता सर्वस्य प्रेरको देवः शक्त्या स्वसामर्थ्येन त्वामुद्वपतु श्रपणाच्छादनात् प्रकाशीकरोतु। उतापि बुद्ध्या सविता देवस्त्वामुद्वपतु। कीदृशः सविता? सुपाणिः शोभनौ पाणी यस्य सः, स्वङ्गुरिः शोभना अङ्गुलयो यस्य सः। 'वाल-मूल-लघ्वङ्गुलीनां वा लो रमापद्यत इति वक्तव्यम्' (पा० सू० ८।२।१८–२) इति विकल्पेन लकारस्य रेफः। सुबाहुः शोभनौ बाहू यस्य स सुबाहुः सुभुजः। 'उत्तानां करोत्यव्यथमानेति' (का० श्रौ० १६।४।२०)। भस्मीभूतं श्रपणमपाकृत्याषाढां बहिर्निष्काश्योखामूर्ध्वमुखीं करोतीति सूत्रार्थः। हे उखे, त्वं सवित्रा उदुप्ता सती अव्यथमाना व्यथामनाप्नुवन्ती अविचलन्ती पृथिव्यां भूमौ स्थिता सती इमाः परिव्याप्ता आशाः प्राच्यवाच्यादिदिश आग्नेय्यादिविदिशश्च, आपृण आपूरय, आहुतिरसेन सुखेन वेति शेषः।

तत्र ब्राह्मणम्—'ताᳬं सावित्रेण यजुषोद्वपति। सविता वै प्रसविता सवितृप्रसूत एवैनामेतदुद्वपति देवस्त्वा सवितोद्वपतु सुपाणिः स्वङ्गुरिः सुबाहुरुत शक्त्येति सर्वमु ह्येतत्सविता' (श० ६।५।४।११)। उद्वापे मन्त्रं विधास्यन् सावित्रमाह—तां सावित्रेणेति। सर्वमु ह्येतत् सवितेत्येतद् सर्वं सुपाण्यादिकं सविता एव, न देवतान्तरमित्यर्थः, महाभाग्याद्देवतायाः। 'अथैनां पर्यावर्तयति। अव्यथमाना पृथिव्यामाशा दिश आपृणेत्यव्यथमाना त्वं पृथिव्यामाशा दिशो रसेनापूरयेत्येतत्' (श० ६।५।४।१२)। उखामुत्तानां करोत्यव्यथमानेति यदुक्तं सूत्रकारेण तत्रेयमेव श्रुतिर्मूलम्। तदिदं समन्त्रकं पर्यावर्तनं विधत्ते—अथैनां पर्यावर्तयतीति। पर्यावर्तनमूर्ध्वाभिमुखीकरणम्। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। केनापृणेत्यपेक्षायां रसेनापूरयेत्येतत्।

अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धे, सविता सर्वप्रेरकः परमेश्वरो देवः स्वप्रकाशः शक्त्या स्वकीययाऽचिन्त्यशक्त्या अद्भुतसामर्थ्येनोत कृपया च त्वा त्वां उद् ऊर्ध्वे सर्वप्रपञ्चातीते परमात्मनि वपतु प्रतिष्ठापयतु, अज्ञानाहङ्काराच्छादनादिकं पराकृत्य त्वां शुद्धब्रह्माकाराकारितां करोतु। कीदृशः स सविता? सुपाणिः शोभनहस्तः सुबाहुः सुभुजः स्वङ्गुरिः शोभनाङ्गुलिः। एतावता यथा निर्गुणो निराकारः परमेश्वरस्तथैव सगुणः साकारश्चेति निगदव्याख्यातम्। हे बुद्धे, एवं भगवता ऊर्ध्वे ब्रह्मणि प्रतिष्ठापिता सती विषयराहित्येन व्यथामनाप्नुवन्ती त्वं पृथिव्यां जगत्यां ब्रह्माण्डभूमौ आशाः प्राच्यादिदिश आग्नेय्यादिविदिशश्च ब्रह्मानन्देन यशसा च आपृण आपूरयेति।

दयानन्दस्तु 'हे स्त्रि, सुबाहुः सुपाणिः स्वङ्गुरिः सवितेव देवः पतिः शक्त्या पृथिव्यां पृथिवीस्थायां त्वा त्वामुत शक्त्या सामर्थ्येन सह वर्तमानो वर्तमाना अव्यथमाना अभीता अचलिता सती त्वं पत्युः सेवनेन स्वकीया आशा यशसा दिशश्च आपृण' इति, तदपि तुच्छम्, सर्ववेदेषु स्त्रीपुरुषसम्बन्धादिलौकिकार्थस्यैव बोधने तेषामल्पप्रयोजनत्वापत्तेः। नह्युद्वापस्य गर्भाधानमर्थः सम्भवति, आवापोद्वापयोरर्थवैलक्षण्यात्। नहि सवितेति शब्दो मनुष्यसामान्ये प्रवर्तते, मुख्यार्थत्यागे मानाभावात् ॥ ६३ ॥

उत्थाय बृहती भवोदु तिष्ठ ध्रुवा त्वम्। मित्रैतां त उखां परिददाम्यभित्त्या एषा मा भेदि ॥ ६४ ॥

मन्त्रार्थ—हे उखे, तुम इस पाक गर्त से बाहर निकलकर और उचित सत्कार पाकर स्थिर रूप से अपने कर्म में लग जाओ। हे मित्र देवता, तुम प्राणियों का हित करने वाले हो, इस उखा की रक्षा के लिये मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ। आपकी सौंपी हुई यह उखा किसी प्रकार विदीर्ण न हो, यथावत् रहे ॥ ६४ ॥

'उद्यच्छत्युत्थायेति, परिगृह्य पात्रे करोति मित्रैतां त इति' (का० श्रौ० १६।४।२१-२२)। तामुखां हस्तद्वयेनोत्थाप्य सर्वतो गृहीत्वा पाकस्थानादवटादूर्ध्वमुत्पाटयेदिति प्रथमसूत्रार्थः। बृहती। पूर्वोऽर्धर्च उखादेवत्यः, उत्तरोऽर्धर्चो मित्रदेवत्यः। हे उखे, त्वमुद्यच्छ एतस्मादवटात् पाकगर्ताद् बहिरागत्य बृहती महती भव। तत उदुत्तिष्ठ प्रवर्तस्व स्वकीये कर्मणि। यतस्त्वं ध्रुवा स्थिरासि स्वभावतः। हस्तगृहीतामुखामुत्तरतः पूर्वस्थापिते कस्मिंश्चित् पात्रे स्थापयतीति द्वितीयसूत्रार्थः। ततो विश्वज्योतिषां तूष्णीमुद्वपनम्। हे मित्र वायो सर्वप्राणिहितैषिन् देव, एतामुखां ते तुभ्यं परिददामि परित्राणाय प्रयच्छामि। परिदानं रक्षणाय दानम्। किमर्थम्? अभित्त्यै अभेदनाय। भेदनं भित्तिः, न भित्तिरभित्तिस्तस्यै। एषा उखा त्वया गृहीता मा भेदि मा भिद्यतां मा विदीर्यताम्।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनामुद्यच्छति। उत्थाय बृहती भवेत्युत्थाय हीमे लोका बृहन्त उदु तिष्ठ ध्रुवा त्वमित्युदु तिष्ठ स्थिरा त्वं प्रतिष्ठितेत्येतत्' (श० ६।५।४।१३)। उखाया गर्तादुद्धरणं समन्त्रकं विधत्ते—अथैनामुद्यच्छतीति। उद्यमनमूर्ध्वधारणम्। हे उखे उद्गत्य प्रथिता भव। नह्यनुत्थितायाः प्रथनमुपपद्यते। 'तां परिगृह्य निदधाति। मित्रैतां त उखां परिददाम्यभित्त्या एषा मा भेदीत्ययं वै वायुर्मित्रो योऽयं पवते तस्मा एवैनामेतत्परिददाति गुप्त्यै ते हेमे लोका मित्रगुप्तास्तस्मादेषां लोकानां न किञ्चन मीयते' (श० ६।५।४।१४)। क्षीरासेचनार्थं पात्रे स्थापनं विधत्ते तां परिगृह्येति। निदधाति स्थापयेत्, पात्रे इति शेषः। मित्रशब्दस्यात्र

समीहितमर्थमाह—अयं वै वायुर्मित्र इति। योऽयं पवते सततं वाति। पवतिर्गतिकर्मा (निघ० २।१४।१०८)। ते हेमे लोका मित्रगुप्ता इति। लोकत्रयात्मकोखापरिदानेनेदानीमपि त्रयो लोका वायुना गुप्ता धृता अविचलिता वर्तन्ते। तस्मादेषां लोकानां मध्ये न किञ्चन मीयते हिंस्यते।

अध्यात्मपक्षे— हे उखे बुद्धे, उत्थाय अनात्मविषयाद् व्यावृत्य बृहती बृहद् ब्रह्मविषयत्वेन तदधीन-निरूपणा बुद्धिरपि बृहती महती भव। तत उदुत्तिष्ठ स्वकर्मणि प्रपञ्चोपशमनलक्षणे प्रवर्तस्व। हे मित्र परमेश्वर सर्वभूतसुहृत्, एतामुखामुखामिवोखां बुद्धिं ज्ञानाग्निधारणसाम्यात् ते तुभ्यं परिदद्मि। 'मयि बुद्धिं निवेशय' (भ० गी० १२।८) इति गीतोक्तेः। निष्ठादाढर्घरक्षणाय अभित्त्यै अभेदनाय। अनात्मभेदविषत्वेनैव बुद्धेर्भेदः। अज्ञानाहङ्कारादिनिराकरणेन भेदाभावादभेदब्रह्मविषया सती भवत्येवाभित्त्यै बुद्धिः।

दयानन्दस्तु—'हे विदुषि कन्ये, त्वं ध्रुवा मङ्गलकार्येषु कृतनिश्चया बृहती महापुरुषार्थयुक्ता भव विवाहायोत्तिष्ठ। उत्थायैतं पतिं स्वीकुरु। हे मित्र सुहृत्! एतामुखां प्राप्तव्यां कन्याम् अभित्त्यै भेदराहित्याय परिददामि सर्वतो ददामि। उ त्वयैषा प्रत्यक्षप्राप्ता पत्नी मा भेदि भिद्यताम्' इति, तदपि निर्मूलम्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्। बृहती महापुरुषार्थयुक्ता, ध्रुवा विवाहाय कृतनिश्चया, उखां कन्याम् इत्यादिकं निर्मूलमेव। द्वयोर्भेदराहित्यमपि कथं सम्भवति? श्रुतिसूत्रविरोधस्तु पूर्वव्याख्यानेन स्पष्ट एव ॥ ६४ ॥

वसवस्त्वाच्छन्दतु गायत्रेण च्छन्दसाङ्गिरस्वद्रुद्रास्त्वाच्छृन्दन्तु त्रैष्टुभेन च्छन्द-साङ्गिरस्वदादित्यास्त्वाच्छृन्दन्तु जागतेन च्छन्दसाङ्गिरस्वद्विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा आच्छृन्दन्त्वानुष्टुभेन च्छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥ ६५ ॥

मन्त्रार्थ—हे उखे, वसु नामक देवगण गायत्री छन्द के प्रभाव से अङ्गिरा के समान तुम्हें आज दुग्ध से सिंचित करें। हे उखे, रुद्रगण त्रिष्टुप् छन्द के प्रभाव से अङ्गिरा के समान तुम्हें सिंचित करें। हे उखे, आदित्यगण जगती छन्द के प्रभाव से अङ्गिरा के समान तुम्हें सिंचित करें। हे उखे, विश्व के हितकारी विश्वेदेव अनुष्टुप् छन्द के प्रभाव से अङ्गिरा के समान तुम्हें सिंचित करें ॥ ६५ ॥

'अजापयसाऽवसिञ्चति वसवस्त्वेति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १६।४।२३)। उखायामजादुग्धं चतुर्वारं चतुर्मन्त्रैरवनयेदिति सूत्रार्थः। उखादेवत्यानि चत्वारि यजूंषि, आद्या ऋग्गायत्री। हे उखे, त्वां वसवो देवा अष्टसंख्याका अङ्गिरस इव आच्छृन्दन्तु आसिञ्चन्तु। कीदृशाः? गायत्रेण छन्दसा सहिताः। 'उच्छृदिर्दीप्तिदेवनयोः' रुधादिः, अत्र तु सेचनार्थः। रुद्रा इति द्वितीया प्राजापत्यानुष्टुप्। रुद्रा एकादशसंख्याका देवास्त्वा त्वां त्रैष्टुभेन छन्दसा आच्छृन्दन्तु। आदित्या इति तृतीया ऋग्गायत्री। आदित्या द्वादशसंख्याका देवास्त्वां जागतेन छन्दसा आच्छृन्दन्तु। विश्वे इति चतुर्थी सामजगती। विश्वे सर्वे वैश्वानरा विश्वेभ्यो नरेभ्यो हिता आनुष्टुभेन छन्दसा त्वामाच्छृन्दन्तु। शेषं स्पष्टम्।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनामाच्छृणत्ति। स्थेम्ने न्वेवाथो कर्मणः प्रकृततायै यद्वेवाच्छृणत्ति शिर एतद्यज्ञस्य यदुखा प्राणः पयः शीर्षंस्तत्प्राणं दधात्यथो योषा वा उखा योषायां तत्पयो दधाति तस्माद्योषायां पयः' (श० ६।५।४।१५)। तस्यामुखायां पयआसेचनं विधाय स्तौति—अथैनामिति। स्थेम्ने स्थिरत्वाय, प्रकृततायै

संस्कृतत्वसिद्धये। प्राधान्यादुखायाः शिरस्त्वव्यवहारः। पयसो बलकरत्वात् प्राणत्वव्यपदेशः। उखायां पयःसेचनेन यज्ञस्य मूर्ध्नि प्राणमादधाति। पयोयोग्यत्वमिदानीन्तनप्रसिद्ध्या समर्थयते—अथो योषा वा उखेति। स्त्रीलिङ्गत्वादुखाया योषात्वम्। तेन योषायां तत्पयो दधाति। रेतोवर्धकत्वात् पयसोऽत्र रेतस्त्वं विवक्षितम्। योषारूपायामुखायां पयःसेचनेन रेतःसेचनं सम्पद्यत इत्यर्थः। 'अजायै पयसाच्छृणत्ति। प्रजापतेर्वै शोकादजाः समभवन् प्रजापतिरग्निर्नो वा आत्मात्मानꣳ हिनस्त्यहिꣳसायै यद्वेवाजाया अजा ह सर्वा ओषधीरत्ति सर्वासामेवैनामेतदोषधीनाꣳ रसेनाच्छृणत्ति' (श० ६।५।४।१६)। पयस आजत्वं विधाय स्तौति—अजायै पयसेति। प्रजापतेः शोकादजोत्पत्तिः। चीयमानस्याग्नेः प्रजापतित्वं प्रागुक्तमेव। नो वा आत्मात्मानं हिनस्ति, तेनाजायाः पयसाच्छृणत्ति। प्रकारान्तरेण स्तौति—यद्वेवेति। 'वसवस्त्वाच्छृन्दन्तु। गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद्रुद्रास्त्वाच्छृन्दन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदादित्यास्त्वाच्छृन्दन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वद्विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा आच्छृन्दन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदित्येताभिरेवैनामेतद्देवताभिराच्छृणत्ति स वै याभिरेव देवताभिः करोति ताभिर्धूपयति ताभिराच्छृणत्ति यो वाव कर्म करोति स एव तस्योपचारं वेद तस्माद्याभिरेव देवताभिः करोति ताभिर्धूपयति ताभिराच्छृणत्ति' (श० ६।५।४।१७)। तत्र मन्त्रानाह—वसवस्त्वेत्यादिना। अत्रासेचनमन्त्रेषु वस्वादयो देवा उक्ताः, निर्माणमन्त्रेषु धूपनमन्त्रेषु च त एवोक्ताः। तद्देवतैक्यं प्रशंसति—स वै याभिरेवेत्यादिना। यथा लोके तक्षादिः प्रसादनिर्माणादिकर्म करोति, स एव तद्दार्ढ्यार्थमुपचारं शङ्कुं प्रति दार्वादिस्थापनलक्षणमुपचारजातं जानाति। अतो युक्तमेवोक्तं यैरेव कृतं तैरेव धूपनासेचनोपचरणमिति।

अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धे, वसवो देवास्त्वां गायत्रेण छन्दसा अङ्गिरस इव आच्छन्दन्तु दीपयन्तु। रुद्रा देवास्त्रैष्टुभेन छन्दसा त्वां छृन्दन्तु। आदित्या देवा जागतेन विश्वेदेवा वैश्वानरा आनुष्टुभेन छन्दसा त्वां छृन्दन्तु। 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' (ब्र० सू० ३।४।२६) इति ब्रह्मसूत्रेण ब्रह्मसाक्षात्कारे सर्वेषां वेदानां वेदोक्तकर्मणां वेदोक्तदेवतानां चोपयोग उक्तः। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठो० २।१५) इति मन्त्रवर्णात्।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि पुरुष वा, वसव आदिमा विद्वांसो गायत्रेण गायन्ति सद्विद्या येन तेन वेदस्थविभक्तेन स्तोत्रेण छन्दसा अङ्गिरस्वदग्निवदाच्छृन्दन्तु आसमन्तात् प्रदीप्यन्तां त्वां स्त्रियं च पुरुषं च। रुद्रा मध्यमा विद्वांसस्त्रीणि कर्मोपासनज्ञानानि स्तोभन्ते स्थिरीकुर्वन्ति येन तेन त्वामङ्गिरस्वत् प्राणवत् छृन्दन्तु। आदित्या देवा उत्तमा विपश्चितो देवाः सुखं प्रदातारो जागतेन जगद्विद्याप्रकाशकेन छन्दसा अङ्गिरस्वत् सूर्यवत् छृन्दन्तु। विश्वे सर्वे देवाः सदुपदेशप्रदातारो वैश्वानराः सर्वेषु नरेषु राजन्त आनुष्टुभेन विद्या गृहीत्वा पश्चाद् दुःखानि स्तभ्नुवन्ति येन तेन छन्दसा अङ्गिरस्वत् समस्तौषधिरसवत् त्वां छृन्दन्तु' इति, तदपि निर्मूलम्, वस्वादिशब्दार्थानामप्रामाणिकत्वात्। गायत्रादिशब्दानामपि न त्वदुक्तोऽर्थो घटते, सद्विद्याप्रकाशत्वस्य त्रैष्टुभादिषु व्यभिचारात्। तथैव कर्मोपासनज्ञानानां स्थिरीकरणसाधनत्वरूपं त्रैष्टुभत्वं गायत्रादिषु व्यभिचरति, एवं जगद्विद्याप्रकाशत्वमप्यन्यत्र व्यभिचरत्येव। एवमेव अङ्गिरस्वत्पदव्याख्यानान्यपि काल्पनिकान्येव ॥ ६५ ॥

आकूतिमग्निं प्रयुजꣳ स्वाहा मनो मेधामग्निं प्रयुजꣳ स्वाहा चित्तं विज्ञातमग्निं प्रयुजꣳ स्वाहा वाचो विधृतिमग्निं प्रयुजꣳ स्वाहा प्रजापतये मनवे स्वाहाग्नये वैश्वानराय स्वाहा ॥ ६६ ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ संकल्प के प्रेरक अग्नि ने हमें इस यज्ञ कर्म में प्रवृत्त किया है, अतः उसके निमित्त यह आहुति दी जाती है। हम मन और मेधा (मन्त्र-धारण-शक्ति) को प्रेरित करने वाले अग्नि को आहुति देते हैं। चित्त से अभिज्ञात अनुष्ठान से ज्ञान-साधन विज्ञान के प्रेरक अग्नि को आहुति देते हैं। मन्त्र पाठ रूप वाणी और विशेष धारणा के प्रेरक अग्नि को आहुति देते हैं। मन्वन्तर के प्रेरक प्रजापति के निमित्त यह श्रेष्ठ आहुति दी जाती है। विश्व के हितकारी अग्नि देवता के निमित्त यह श्रेष्ठ आहुति है ॥ ६६ ॥

'प्राकृतान्यौद्ग्रभणानि हुत्वा सप्ताग्निकान्याकूतिमिति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १६।४।३०)। एवमुखासम्भरणं समाप्यान्या अपीष्टकाः कृत्वा फाल्गुनामावास्यायां दीक्षां कृत्वा प्रकृतौ सोमे 'आकूत्यै' (वा० सं० ४।७) इति पञ्चभिर्मन्त्रैः पञ्चौद्ग्रभणान्युक्तानि 'औद्ग्रभणानि जुहोति····' (का० श्रौ० ७।३।१३) इत्यत्र। तानि हुत्वा अग्निचयने विहितानि सप्त औद्ग्रभणानि प्रतिमन्त्रं जुहुयादिति सूत्रार्थः। सप्तौद्ग्रभणसंज्ञानि लिङ्गोक्तदेवत्यानि। आकूतिमिति यजुःपङ्क्तिः। आकूतिः सङ्कल्पोऽग्निचयनानुष्ठानविषयः, तां प्रति प्रयुजं प्रयुङ्क्ते कर्मणि प्रेरयतीति प्रयुक्, तं सङ्कल्पप्रेरकम् अग्निमुद्दिश्य स्वाहा सुहुतमस्तु। मन इति यजुस्त्रिष्टुप्। मनः अनुष्ठेयस्मरणसाधनम्, मेधां श्रुतयोर्मन्त्रतन्त्रयोर्धारणाशक्तिर्मेधा, तदुभयं प्रति प्रयुजं योजकमग्निमुद्दिश्य स्वाहा सुहुतमस्तु। चित्तमिति यजुर्जगती। चित्तम् अविज्ञातस्य अनुष्ठानस्य ज्ञानसाधनम्। तेन चित्तेनावगतं यदनुष्ठानं तद् विज्ञातम्, तदुभयं प्रति प्रयुजं प्रेरकमग्निमुद्दिश्य स्वाहा सुहुतमस्तु। वाच इति यजुर्जगती। वाचो मन्त्रपाठरूपाया विधृतिं विधारणं प्रति प्रयुजं प्रेरकमग्निमुद्दिश्य स्वाहा सुहुतमस्तु। प्रजापतय इति यजुःपङ्क्तिः। मनवे मनुष्याणां जनकाय प्रजापतये प्रजानां पालकाय स्वाहा सुहुतमस्तु—इति काण्वसंहिताभाष्ये सायणो वाजसनेयिसंहिताभाष्ये महीधरश्च।

यद्वा—आकवनमाकूतिरात्मधर्मो मनसः प्रेरणहेतुस्तदवस्थापनं सङ्कल्पं वा प्रयुजं प्रकर्षेण युनक्ति तादृशीं वृत्तिमिति प्रयुक् तं तादृशमग्निं चयनविराड्रूपं स्वाहा तमभिलक्ष्य सुहुतमस्तु, 'आकूताद्वा एतदग्रे कर्म समभवत् तदेवैतदेतस्मै कर्मणे प्रयुङ्क्ते' (श० ६।६।१।१५) इति श्रुतेः। मनो मेधामिति। उपर्युपरिव्यापारशीला मनसो वृत्तिर्मेधा, तद्रूपं यन्मनो विमर्शलक्षणम्, तदात्मकतामापन्नमग्निं स्वाहेति पूर्ववत्। चित्तमनुसन्धानरूपम्, 'अनुसन्धानतश्चित्तं विमर्शान्मन उच्यते', तद्विषयरूपं विज्ञातं तद्रूपमग्निं स्वाहा। इदं मानसव्यापाररूपापन्नस्याग्नेः प्रतिपादकम्। होमसाधनं मन्त्रमभिधाय वागात्मतामापन्नस्याग्नेर्वाचकं होमसाधनं मन्त्रमाह—वाचो विधृतिमग्निमिति। वाचो विधृतिर्वचसो विधर्ता वाचा नियम्य वाग्रूपतामापन्नमग्निं स्वाहा। मनवे इदं सर्वं जगद् अमनुत अहमित्यवागच्छद् इति मनुः, तस्य विराड्रूपत्वात्। तस्मै मनुरूपाय प्रजापतये स्वाहा। अग्नये वैश्वानराय स्वाहेति पूर्ववत्।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथौद्ग्रभणानि जुहोति। औद्ग्रभणैर्वै देवा आत्मानमस्माल्लोकात् स्वर्गं लोकमभ्युदगृह्णत तस्मादौद्ग्रभणानि तथैवैतद्यजमान औद्ग्रभणैरेवात्मानमस्माल्लोकात् स्वर्गं लोकमभ्युद्गृह्णीते' (श० ६।६।१।१२)। औद्ग्रभणानि हवींषि विधाय तन्निर्वचनद्वारेण प्रशंसति—औद्ग्रभणानि जुहोतीति। औद्ग्रभणैर्वै देवा आत्मानमिति। आत्मानं लिङ्गशरीरोपाधिकं जीवात्मानं देवा अस्माद् भूलोकात् स्वर्गं लोकमभिलक्ष्य उदगृह्णत ऊर्ध्वमुखमाकर्षणं कृतवन्तः। उद्ग्रहणसाधनत्वाद् औद्ग्रभणानीति नाम सम्पन्नम्। तद्वद्यजमानोऽप्यात्मानमस्माल्लोकात् स्वर्गं लोकमभिलक्ष्योद्गृह्णीते। 'भूयाꣳसि हवीꣳषि भवन्ति। अग्निचित्यायां····' (श० ६।६।१।१) इति श्रुतौ चयनाख्ये कर्मणि हविर्भूयस्त्वमुक्तम्।

'पञ्चाध्वरस्य जुहोति । पाङ्क्तो यज्ञो यावान् यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतद्रेतोभूतꣳ सिञ्चति सप्ताग्नेः सप्तचितिकोऽग्निः सप्तर्तवः.... संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतद्रेतोभूतꣳ सिञ्चति तान्युभयानि द्वादश सम्पद्यन्ते द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद् भवति' (श० ६।६।१।१४)। आध्वरिकाणां पञ्चसंख्यामनूद्य प्रशंसति—पञ्चाध्वरस्येति। प्रातरादिसवनानि त्रीणि प्रायणीयोदयनीयौ द्वौ इति पञ्चसंख्यायोगाद् यज्ञः पाङ्क्तः। यद्वा 'किं यज्ञस्य पाङ्क्तत्वमिति धानाः करम्भः परिवापः पुरोडाशः पयस्या तेन पङ्क्तिराप्यायते तद् यज्ञस्य पाङ्क्तत्वम्' (तै० सं० ६।५।११।४) इति तैत्तिरीयोक्तहविःपञ्चकयोगात् पाङ्क्तत्वम्। हविष्यपञ्चकत्वनिष्पादनेन सोमयागो भवति। यावान् यज्ञस्तावता तेन कृत्स्नेनाप्युत्पद्यमानं चयनलक्षणमग्निं रेतोभूतं बीजरूपेणावस्थितमेतत् सिञ्चति क्रियमाणप्रकारेण निषेकं कृतवान् भवति। अग्निचयनीयानामौद्ग्रभणानां सप्तसंख्यारूपं यद्धविर्भूयस्त्वं तद्विधाय प्रशंसति—सप्ताग्नेरित्यादिना। तत्र षट्चितय इष्टकामय्यः, सप्तमी श्रूयते—'विकर्णीं च स्वयमातृण्णां चोपदधाति सा सप्तमी चितिः' (श० ८।१।४।९) इति। मिलितानां संख्यामनूद्य प्रशंसति—तान्युभयानीति। 'स जुहोति। आकूतिमग्निं प्रयुजꣳ स्वाहेत्याकूताद्वा एतदग्रे कर्म समभवत् तदेवैतदेतस्मै कर्मणे प्रयुङ्क्ते' (श० ६।६।१।१५)। सप्तौद्ग्रभणहविषां मन्त्राननूद्य व्याचष्टे—स जुहोतीत्यादिना। एतत् पूर्वं सम्भूतप्रकारेण कर्म चयनाख्यम्, अग्रे पुरा आकूतात् प्रकारात्, समभवत् सम्पन्नमासीत्। तदेव इदानीं क्रियमाणप्रकारविशेषम्, एतस्मै चयमकर्मणे प्रयुङ्क्ते प्रयुक्तवान् भवति—'मनो मेधामग्निं प्रयुजꣳ स्वाहेति' (श० ६ ६।१।१६)। 'प्रजापतये मनवे स्वाहेति। प्रजापतिर्वै मनुः' (श० ६।६।१।१९)। 'अग्नये वैश्वानराय स्वाहेति' (श० ६।६।१।२०)। प्रजापतेर्मनोश्च वैयधिकरण्यशङ्काव्युदासायाह—प्रजापतिर्वै मनुरिति।

अध्यात्मपक्षे—आकूतिं सङ्कल्पभावापन्नमग्निं योजकं परमात्मानमभिलक्ष्य स्वाहा इदं सर्वं सुहुतमस्तु। मनो मेधामग्निं मनोरूपं मेधारूपं च प्रेरकमग्निं परमात्मानमभिलक्ष्य स्वाहा। चित्तं विज्ञातं तदुभयरूपापन्नं प्रेरकमग्निमभिलक्ष्य स्वाहा। वाचो विधृतिं विधारकमग्निं प्रयुजं प्रेरकमभिलक्ष्य स्वाहा। मनवे प्रजापतये वैश्वानरायाग्नये च स्वाहा। अत्र परमात्मनः सार्वात्म्यं विवक्षित्वा तस्मै हविरभीष्टं स्वसर्वस्वसमर्पणेन आराधनं विवक्षितम्। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रीपुरुषाः, भवन्तो वेदस्थैर्गायत्र्यादिछन्दोभिः स्वाहा सत्यया क्रियया आकूतिम् उत्साहकारिकां क्रियां प्रयुजं यः सर्वान् प्रकर्षेण युनक्ति तमग्निं पावकं स्वाहा सत्यया वाचा आच्छृन्दन्तु। मन इच्छासाधनं मेधां प्रज्ञां प्रयुजं व्यवहारेषु प्रयुक्तमग्निं विद्युतं स्वाहा। सत्यया वाचा चित्तं चेतति येन तद् विज्ञातं प्रयुजम् अग्निम् अग्निमिव भास्वरम् आच्छृन्दन्तु। मनवे मननशीलाय प्रजापतये प्रजास्वामिने स्वाहा सत्यवाणीम्, अग्नये विज्ञातस्वरूपाय वैश्वानराय विश्वेषु नरेषु राजमानाय जगदीश्वराय स्वाहा धर्म्यां क्रियां प्रापय्य सततमाच्छृन्दन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असङ्गतेः। त्वद्रीत्या जडत्वादग्नेः क्रियाप्रेरकत्वायोगात्, तस्य च सत्यया वाचा कथं शोधनमित्यस्यानिरूपणाच्च। हिन्दीव्याख्यानमप्यसम्बद्धमेव ॥ ६६ ॥

विश्वो॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्मर्तो॑ वुरीत स॒ख्यम्।
विश्वो॑ रा॒य इ॑षुध्यति द्यु॒म्नं वृ॑णीत पु॒ष्यसे॒ स्वाहा॑ ॥ ६७ ॥

मन्त्रार्थ—सारी मनुष्य जाति सभी प्रकार के फलों को देने वाले परमात्मा से सख्यभाव की प्रार्थना करे। कर्म, उपासना और ज्ञान की पुष्टि के निमित्त यश अथवा अन्न की इच्छा करे। धन-प्राप्ति के निमित्त सभी मनुष्य परमात्मा की प्रार्थना करें, उनके निमित्त श्रेष्ठ आहुति दें ॥ ६७ ॥

कण्डिकेयं ४।८ स्थले व्याख्यातपूर्वा। विश्वो मर्तः सर्वो मनुष्यः, नेतुः फलप्रापकस्य देवस्य दानादि-गुणकस्य सवितुः सख्यं सखिभावं वुरीत वृणुते प्रार्थयते। विश्वः सर्वो जनः, राये धनाय इषुध्यति देवं प्रार्थयते। 'इषुधिर्याच्ञाकर्मसु पठितः' (निघ० ३।१९।१४)। पुष्यसे पोष्टुं पोषणाय द्युम्नं यशोऽन्नं वा वृणीत सर्वो जनः प्रार्थयते। स्वाहा तस्मै प्रेरकाय सुहुतमस्तु।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथ सावित्रीं जुहोति। सविता वा एतदग्रे कर्माकरोत् तमेवैतदेतस्मै कर्मणे प्रयुङ्क्ते विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम्। विश्वो राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहेति यो देवस्य सवितुः सख्यं वृणीते स द्युम्नं च पुष्टिं च वृणीत एष वा अस्य सख्यं वृणीते य एतत्कर्म करोति' (श० ६।६।१।२१)। अथ सप्तमं मन्त्रमनूद्य व्याचष्टे—अथ सावित्रीमित्यादिना। सविता देवता यस्या ऋचः सा सावित्री, देवस्य नेतुरिति लिङ्गात्। तन्मन्त्रसाध्या आहुतिरपि सावित्री। साकल्येन मन्त्रं पठति—विश्वो देवस्य नेतुरिति। सवितुः सख्यं लब्धवतो हिरण्यादि बहु धनं शरीरपुष्टिश्च सुलभेत्युत्तरार्धस्य तात्पर्यमाह—यो देवस्येत्यादिना। यद्यपि द्युम्नवत् पुष्टिशब्दो द्वितीयान्तो नास्ति, तथापि पुष्यसे इत्यत्र पोषणलक्षणं प्रकृत्यर्थं विवक्षित्वा तथा व्याख्यात-मिति। अस्तु सख्यं कृतवत एतत्फलद्वयम्, किन्तु तुच्छस्य मर्त्यस्य भगवता सवित्रा सह सख्यमेव कथमुपपद्यत इत्याह—एष वा अस्य सख्यं वृणीते य एतत्कर्म करोतीति। यः सवितृदेवताकं कर्म करोति एष खलु सख्यं वृणीते। तथा च तदीयकर्मसम्पादनमेतत्सख्यलाभहेतुरित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—सर्वोऽपि मर्तो मनुष्यो नेतुः सर्वनियामकस्य देवस्य जगदुत्पत्त्यादिक्रीडस्य सख्यं वुरीत वृणीते, तत्सख्यस्य सर्वकल्याणहेतुत्वात्। यद्यपि 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (ऋ० सं० १।१६४।२०) इति मन्त्रेण स्वाभाविकमेव जीवेशयोः सख्यं बोध्यते, तथापि मायया तदावृतमिव भवति। तत्प्रार्थनया तदभिव्यक्तिर्भवति। विश्वः सर्वोऽपि जनो राये बाह्यधनायान्तराय ज्ञानभक्त्यादिलक्षणाय वा धनाय इषुध्यति भगवन्तं प्रार्थयते, पुष्यसे पोष्टुं भक्तिज्ञानपोषणाय रक्षणाय द्युम्नं यशो भक्तिज्ञानादिलक्षणमन्नं भगवदीययशो वा श्रोतुं वृणीते, तस्मै परमात्मने स्वाहा सर्वस्वार्पणमस्तु।

दयानन्दस्तु—'यथा विद्वांसस्तथा विश्वो मर्तो नेतुः सर्वनायकस्य देवस्य जगत्प्रकाशकस्य परमेश्वरस्य सख्यं सख्युर्भावं कर्म वा वुरीत स्वीकुर्यात्। विश्वमनुष्यो राये श्रियै शरादीनि शस्त्राणि धरेत्। लेट्प्रयोगोऽयम्। स्वाहा सत्यां वाचं द्युम्नं द्योततेः, यशो वा अन्नं वा वृणीते। यथा चैतेन त्वं पुष्यसे तथा वयमपि भवेम' इति, तदपि न किञ्चित्, श्रुतिविरोधात्। यथा विद्वांस इति दृष्टान्तोऽपि निर्मूल एव ॥ ६७ ॥

मा सु भित्था मा सु रिषोऽम्ब धृष्णु वीरयस्व सु। अग्निश्चेदं करिष्यथः ॥ ६८ ॥

मन्त्रार्थ—हे माता उखे, तुम कभी विदीर्ण मत होना, विनाश को कभी प्राप्त मत करना। तुम प्रगल्भता पूर्वक भली प्रकार वीर कर्म करो। तुम और अग्नि देवता हमारे इस कर्म की समाप्ति तक इन कार्यों को करते रहोगे ॥ ६८ ॥

'दण्डोच्छ्रयणान्तं कृत्वाऽध्वर्युयजमानयोरन्यतर उखामाहवनीयेऽधिश्रयति मुञ्जकुलायशणकुलायावस्तीर्णा-मन्तरे शणा मा सु भित्था इति तिष्ठन्नुदङ् प्राङ्' (का० श्रौ० १६।४।३१)। औदुम्भणहोमानन्तरं कृष्णाजिनदीक्षादि-

दण्डोच्छ्रयणान्तं 'दण्डमुच्छ्रयत्युच्छ्रयस्वेति' (का० श्रौ० ७।४।२) इति सूत्रप्रतिपादितं प्रकृतिवद् दीक्षणीयाशेषभूतं कर्म कृत्वा ईशानाभिमुखस्तिष्ठन् अध्वर्युर्यजमानो वा मुञ्जकुलायं शणकुलायं चोखामध्ये प्रक्षिप्य तामुखां दीप्ते आहवनीयेऽधिश्रयेत्। मुञ्जतृणनिर्मितं पक्षिनीडं मुञ्जकुलायः। आदौ शणकुलायप्रक्षेपस्ततो मुञ्जकुलायस्येति सूत्रार्थः। उखादेवत्ये द्वे गायत्रीत्रिष्टुभौ। प्रथमायास्तृतीयपादोऽग्निदैवतः। हे अम्ब ! मातः उखे, मा त्वं सुतरां भित्थाः भिद्यस्व भिन्ना भव। 'भिदिर् विदारणे'। अभिन्नत्वं यथा सुष्ठु स्यात् तथा विधेयमित्यर्थः। तथा मा सुतरां रिषः मा हिंसिता भव। रिषतिर्हिंसाकर्मा। इदमस्फुटनमपि सुष्ठु विधेयम्। सर्वात्मना द्वैधीभावो भेदः, अंशतः पृथक्त्वं स्फुटनम्। हे उखे, धृष्णु प्रगल्भं यथा स्यात्तथा सुतरां वीरयस्व अग्निधारण-लक्षणं वीरकर्म कुरुष्व। यद्वा धृष्णु धर्षणयुक्ते हे अम्ब मातः, त्वं वीरयस्व शोभनाग्निधारणलक्षणं वीरकर्म कुरुष्व। इत उत्तरम् अग्निश्च चकारात् त्वं च मिलित्वा इदमस्मदीयं कर्म करिष्यथः। यद्वा हे उखे, मा सु भित्थाः सुष्ठु भिन्ना मा भूः, दृढा भवेत्यर्थः। शेषं पूर्ववत्। तथा सुष्ठु मा रिषः हिंसिता मा भूः। हे उखे, अग्निश्च त्वं च इदं कर्म करिष्यथः समाप्तिं प्रापयिष्यन्तौ भवथः।

तत्र ब्राह्मणम्—'मुञ्जकुलायेनावस्तीर्णा भवति। आदीप्यादिति न्वेव यद्वेव मुञ्जकुलायेन योनिरेषाग्ने-र्यन्मुञ्जो न वै योनिर्गर्भꣳ हिनस्त्यहिꣳसायै योनेर्वै जायमानो जायते योनेर्जायमानो जायाता इति' (श० ६।६।१।२३)। उखायामस्यां मुञ्जतृणावस्तरणं विधाय प्रशंसति—मुञ्जकुलायेनावस्तीर्णा भवतीति। एतेन मुञ्जकुलायावस्तरणस्य दृष्टार्थत्वमेव, न त्वशब्दार्थत्वमित्युक्तं भवति। आदीप्तिस्तु तृणान्तरेणापि भवितुं शक्यते किं मुञ्जनियमेनेति, तत्राह—योनिरेषाग्नेर्यन्मुञ्ज इत्यादिना। मुञ्जस्य क्षुद्रतृणत्वेन शीघ्रमग्निजनन-साधनत्वाद् अग्नियोनित्वम्। योनेर्गर्भहिंसकत्वाभावप्रसिद्धिर्वैशब्देनोच्यते। जायमानोऽग्निः स्वयोनेरेव सकाशाज्जायत इति मुञ्जकुलायेनैव भवितव्यमित्यर्थः। 'शणकुलायमन्तरं भवति। आदीप्यादिति न्वेव यद्वेव शणकुलायं प्रजापतिर्यस्यै योनेरसृज्यत तस्या उमा उल्बमासञ्छणा जरायु तस्मात्ते पूतयो जरायु हि ते न वै जरायु गर्भꣳ हिनस्त्यहिꣳसायै जरायुणो वै जायमानो जायते जरायुणो जायमानो जायाता इति' (श० ६।६।१।२४)। मुञ्जकुलायादप्यन्तरं शणकुलायावस्तरणं कर्तव्यमित्याह—शणकुलायमन्तरं भवतीति। अन्तरवस्तीर्यमाणं वस्तु शणकुलायमेव भवेदित्यस्य कारणमुच्यते—यद्वेव शणकुलायं प्रजापतिरित्यादिना। पूर्वं प्रजापतिश्चित्याग्निरूपो यस्या योनेः सकाशादुत्पन्नः, तस्या योनेः, उमाः क्षौमवस्त्रोपादानभूतास्तृणविशेषा उमाः, ता उल्बस्थानीया अभवन्, शणाख्यतृणविशेषा जरायुस्थानीयाः। तस्मात्ते पूतयो दुर्गन्धाः। जरायु हि ते ते शणा एव जरायुपदवाच्याः। न वै जरायु गर्भं हिनस्ति। जरायुषो वै गर्भो जायते। 'तां तिष्ठन् प्रवृणक्ति। इमे वै लोका उखा तिष्ठन्तीव वा इमे लोका अथो तिष्ठन् वै वीर्यवत्तरः' (श० ६।६।२।१)। सूत्रकारेण यद्यदुक्तं तत्सर्वमपि प्रायेण ब्राह्मणमूलकमेव। तद्विधत्ते—तां तिष्ठन् प्रवृणक्तीति। अध्वर्युर्यजमानो वा तिष्ठन् प्रवृणक्ति आहवनीये प्रतितपेत्। उखायां पूर्वं शणकुलायं प्रक्षिप्य ततो मुञ्जनिर्मितपक्षिनीडं कुलाये निक्षिप्य तामुखां दीप्ते आहवनीयेऽधिश्रयेत्। तिष्ठता च तत्कर्तव्यम्। तत्प्रशंसति—तिष्ठन् वा इति। लोकस्थानां प्राणिनामूर्ध्वमवस्थानादुत्तरभावाद्वा तिष्ठन्तीव वा इमे लोका इत्युक्तम्। शयानादासीनाच्च तिष्ठत्सु पुरुषेषु युद्धादिव्यापारे वीर्यदर्शनात् तिष्ठन् वै वीर्यवत्तरो भवति। तस्मात्तिष्ठतैव तत्कर्तव्यमिति।

'उदङ् प्राङ् तिष्ठन्। उदङ् वै प्राङ् तिष्ठन् प्रजापतिः प्रजा असृजत' (श० ६।६।२।२)। उदङ् प्राङ् तिष्ठन्निति ईशानाभिमुखस्तिष्ठन्नित्यर्थः। पूर्वं प्रजापतिना प्रजासृष्टिकाले प्रागुदङ्मुखेन सृष्टत्वाद् इदानीमपि तन्मुखेनैव कर्तव्यमिति। 'यद्वेवोदङ् प्राङ् तिष्ठन्। एषा ह्योभयेषां देवमनुष्याणां दिग् यदुदीची प्राची' (श० ६।६।२।३)।

'यद्वेवोदङ् प्राङ् तिष्ठन्। एतस्याᳪ ह दिशि स्वर्गस्य लोकस्य द्वारं तस्मादुदङ् प्राङ् तिष्ठन्नाहुतीर्जुहोत्युदङ् प्राङ् तिष्ठन् दक्षिणा नयति द्वारैव तत्स्वर्गस्य लोकस्य वित्तं प्रपादयति' (श० ६।६।२।४)। प्रकारान्तरेण तां दिशं प्रशंसति—यद्वेवोदङ् प्राङ् तिष्ठन्निति। यस्मात् स्वर्गद्वारं तस्माद् उदङ् प्राङ् तिष्ठन् सर्वा आहुतीर्जुहोति। तस्मादेव कारणात् तादृङ्मुख एव सन् दक्षिणा नयति प्रयच्छति। यतो ह्येषा देवमनुष्याणां दिक् तस्मात्तथा युक्तम्। तेन तादृङ्मुखः सन् आहुतिप्रदानेन दक्षिणानयनेन च स्वर्गद्वारेणैव वित्तम् आहुतिरूपं दक्षिणारूपं धनं च प्रपादयति दत्तवान् भवति। अनेनैवेशानाभिमुखमाहुतयो होतव्याः, दक्षिणाश्च दातव्या इति विधिरुन्नीयते, अपूर्वार्थत्वात्। 'मा सु भित्था मा सु रिष इति। यथैव यजुस्तथा बन्धुरम्ब धृष्णु वीरयस्व स्विति योषा वा उखाम्बेति वै योषाया आमन्त्रणᳪ स्विव वीरयस्वाग्निश्चेदं करिष्यथ इत्यग्निश्च ह्येतत्करिष्यन्तौ भवतः' (श० ६।६।२।५)। मन्त्र-व्याख्यानेन व्याख्याता कण्डिका।

अध्यात्मपक्षे—हे उखे, उखावद् ज्ञानाग्निधारिके बुद्धे, त्वं मा सु भित्थाः, त्वं मा सुष्ठु भिन्ना भूः। संशय-विपर्ययाद्यनास्कन्दिता सती दृढा भव। मा सु रिषः, मा च हिंसिता भूः। अनात्मादिभेदज्ञानेन बाधिता मा भूः। हे अम्ब मातः, जनन्या इव पालकत्वात्। 'या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता' (सप्तशती) इति राजराजेश्वरीरूपत्वाच्च। धृष्णु प्रगल्भं यथा स्यात्तथा सुष्ठु वीरयस्व ज्ञानाग्निधारणलक्षणं कर्म कुरुष्व। अग्निर्ज्ञानम्, 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा' (भ० गी० ४।३७) इति भगवद्वचनात्। अग्निश्च त्वं च अज्ञानाहङ्कारादीनां समूलोन्मूलनलक्षणं कर्म करिष्यथः।

दयानन्दस्तु—हे अम्ब, त्वमस्मान् विद्यातो मा सु भित्था मा भेदं कुर्याः। मा सु रिषो मा हिंस्याः। धृष्णु दार्ढ्यं वीरयस्व आरब्धस्य कर्मणः समाप्तिमाचर। एवं कुर्वन्तौ युवां मातापुत्रौ अग्निरिवेदं कर्तुं योग्यं सर्वं कर्म करिष्यथः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्। का माता ? कीदृशी च सा ? कथं च विद्यातो भेदं करोति सा ? कथं च साहिंसिका भवति ? इत्याद्यनिरूपणात्। त्वद्रीत्या नात्र किमपि कर्म प्रकृतम्, यस्य समाप्तिः प्रार्थनीया स्यात्। किञ्च, व्यक्तिविशेषाणां कथासत्त्वेऽङ्गीक्रियमाणे वेदानामितिहासत्वापत्त्या अपसिद्धान्तापत्तिश्च ॥ ६८ ॥

दृᳪहस्व देवि पृथिवि स्वस्तय आसुरी माया स्वधया कृतासि।
जुष्टं देवेभ्य इदमस्तु हव्यमरिष्टा त्वमुदिहि यज्ञे अस्मिन् ॥ ६९ ॥

मन्त्रार्थ—हे देवी पृथ्वी उखे, तुम यजमान के कल्याण के निमित्त दृढ़ हो जाओ, तुम अन्न के निमित्त प्राण सम्बन्धिनी प्रज्ञा के समान हो, यह हवियोग्य अन्न देवताओं को अत्यन्त प्रिय हो। यह कार्य जब तक पूरा न हो जाय, तब तक तुम अभग्न रूप से इस यज्ञ में वर्तमान रहो ॥ ६९ ॥

हे पृथिवि देवि उखे, मृत्कार्यत्वादुखायाः कार्ये कारणत्वोपचारात् पृथिवीत्वम्, मन्त्रैर्निष्पादितत्वाद्देवत्वं च। स्वस्तये यजमानस्य क्षेमाय दृंहस्व दृढा भव। दृढीकुरु स्वात्मानम्। ननु किमर्थमिदमुच्यते ? इत्यत्राह—स्वधयेति। स्वधया अन्नेन निमित्तेन त्वमासुरी प्राणसम्बन्धिनी माया प्रज्ञा कृतासि। असूनां प्राणानामियमासुरी। यद्वा शम्बराद्यसुरनिर्मितमायेव स्वधया कृतासि। कव्यप्रधानया स्वधयाऽविनाभूतमन्नमात्रमिहोपलक्ष्यते। तेन

निमित्तभूतेन तद्धेतुयागसिद्धयर्थं निष्पादितासुरी माया। यद्वदचिन्त्यरचनारूपं चित्रं वस्तु भूत्वा आसुरी माया प्रतिभाति, तद्वत् त्वमप्यचिन्त्यरचनारूपा प्रतिभासि। हे उखे, इदं हव्यं देवेभ्य उख्येऽग्नौ होष्यमाणं जुष्टं प्रियं हविरस्तु। त्वदनुग्रहेण देवेभ्यो रोचतामित्यर्थः। त्वमप्यरिष्टा अनार्ता अहिंसिताऽनवखण्डिता अस्मिन् वर्तमाने यज्ञे उदिहि उद्गच्छ उद्गता भव।

तत्र ब्राह्मणम्—'दृᳬहस्व देवि पृथिवि स्वस्तय इति। यथैव यजुस्तथा बन्धुरासुरी माया स्वधया कृतासीति प्राणो वा असुस्तस्यैषा माया स्वधया कृता जुष्टं देवेभ्य इदमस्तु हव्यमिति या एवैतस्मिन्नग्नावाहुतीर्होष्यन् भवति ता एतदाहाथो एषैव हव्यमरिष्टा त्वमुदिहि यज्ञे अस्मिन्निति यथैवारिष्टानार्तैतस्मिन् यज्ञ उदियादेवमेतदाह' (श० ६।६।२।६)। हे पृथिवि देवि, विकारे प्रकृतिशब्दः। हे उखे इत्यर्थः। स्वस्तये क्षेमाय अविनाशाय दृंहस्व दृढा भव। मन्त्रद्वितीयभागं व्याचष्टे—आसुरी मायेति। असोः प्राणस्य सम्बन्धिनी माया प्रज्ञा, तया निर्मितत्वाद् उखापि मायेत्युच्यते, सा च स्वधया कृता। 'स्वधेत्यन्ननामसु' (नि० २।७।१७)। तद्धेतुत्वात् पृथिव्यपि स्वधा। 'ता अग्निमसृजन्त' इत्यत्र यथा अग्निशब्देन पृथिवी विवक्षिता, तद्वत् तादृशी असि तया कृता। तृतीयभागे हव्यशब्देन किमभिप्रेतमिति तद् दर्शयति—जुष्टं देवेभ्य इति। एतस्मिन्नुखया निष्पाद्ये अग्नौ अन्नाहुतीः सोमपश्वाज्यरूपाः। एतद् एतेन हव्यशब्देन आहेति, श्रुतिरिति शेषः। नन्विदं व्यवहितं कथमिदमस्तु हव्यमितीदन्तया व्यपदिश्यत इत्यत्र ब्रूमः, प्रकृतत्वेन बुद्धौ सन्निधानादुपपद्यत इति। चतुर्थभाग आशासनरूप इति व्याचष्टे—अरिष्टेत्यादिना। अरिष्टा अनार्ता।

अध्यात्मपक्षे—हे देवि पृथिवि! ज्ञानविज्ञानवैराग्यादिजन्मभूमे बुद्धे, दृंहस्व दृढा भव ब्रह्मात्मनिष्ठादार्ढ्यवती भव। किमर्थम्? स्वस्तये क्षेमाय प्राप्तस्य ज्ञानादे रक्षणाय। कीदृशी त्वम्? आसुरी शम्बरादिमायावत् आश्चर्यरूपा। स्वधया स्वं दधातीति स्वधा तया स्वप्रकाशया स्वप्रतिष्ठया चिच्छक्त्या कृतासि। हे उखे, देवेभ्यो द्योतनात्मकेभ्य इन्द्रियेभ्य इदं सर्वं दृश्यं हव्यं हवीरूपमस्तु। अस्मिन् यज्ञे इन्द्रियरूपासु स्रुक्षु सर्वं दृश्यं हवीरूपं यदस्ति तदस्मि। तादृशे चिद्रूपेऽग्नौ दृश्यहोमलक्षणे यज्ञे उद् ऊर्ध्वं ब्रह्मरूपप्राप्ता भव ब्रह्माकाराकारिता भव।

दयानन्दस्तु—'हे पृथिवि! भूमितुल्यविद्याविस्तारवति देवि पत्नि, त्वया स्वस्तये सुखाय स्वधया उदकेनान्नेन या आसुरी, येऽसुषु प्राणेषु रमन्ते तेषां स्वा माया प्रज्ञास्ति सा कृतास्ति, तया त्वं मां पतिं दृंहस्व वर्धस्व। अरिष्टा अहिंसिता सती अस्मिन् यज्ञे सङ्गन्तव्ये गृहाश्रमे उदिहि प्राप्नुहि। यत् त्वयेदं जुष्टं हव्यं कृतमस्ति तद् देवेभ्योऽस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थत्वात्। पृथिवीति पदस्य भूमिवद्विस्तारवतीति गौणार्थमेव। न च सति सम्भवे गौणार्थाश्रयणं युक्तम्। प्राणपोषिका बुद्धिरासुरी मायेत्यपि यत्किञ्चित्, तादृशार्थे तदप्रयोगात्। दृंहस्वेत्यस्य वृद्धयर्थतापि धात्वर्थविरुद्धैव ॥ ६९ ॥

द्र॒वन्नः स॒र्पिरा॑सुतिः प्र॒त्नो होता॒ वरे॑ण्यः। सह॑सस्पु॒त्रो अद्भु॑तः ॥ ७० ॥

मन्त्रार्थ—जिसका प्रधान भक्ष्य पलाश-काष्ठ है, जिसका प्रधान पानी घृत है, जो पुरातन देवगणों का आह्वान करने वाला है, वरणीय है और बल से मथन करने पर उत्पन्न होने वाला है, उस आश्चर्य रूप अग्नि देवता को भक्षण के निमित हम समिधा प्रदान करते हैं ॥ ७० ॥

'अग्नावारूढे त्रयोदशास्यां प्रादेशमात्रीः समिध आदधाति' (का० श्रौ० १६।४।३३)। 'घृतोन्नां कार्मुकीं द्रवन्न इति' (का० श्रौ० १६।४।३५)। अग्नौ आरूढे वह्नौ जाते सति, उख्येऽग्नौ प्रादेशमात्रीस्त्रयोदशसंख्याकाः समिधः प्रक्षिपेत्। ताः क्रमेणाह—घृतोन्नामिति। तत्र प्रथमं घृतोन्नां घृतक्लिन्नां क्रमुकसमिधं द्रवन्न इति मन्त्रेण आदध्यात्। क्रमुको धमनः, धनुरुपादानभूतो वृक्षविशेषः। अग्निदेवत्या गायत्री सोमाहुतिदृष्टा। य इत्थंभूतोऽग्निः स कार्मुकीं समिधं भक्षयत्विति शेषः, वाक्यस्य आख्यातसापेक्षत्वाद् मन्त्रे तदभावाच्च। कथंभूतोऽग्निः? द्रुवन्नः, द्रवो वृक्षा एव अन्नमदनीयं यस्य सः। द्रुशब्दो द्रुमपर्यायः, 'द्रुपदमित्याह वनस्पतीच्छो नामैवैतेन यजते' इति श्रुतेः, 'पलाशी द्रुद्रुमागमाः' (अ० को० २।४।५) इति कोशाच्च। यद्वा 'द्रु गतौ' द्रवदन्नं यस्य सः। सर्पिरासुतिः सर्पिर्घृतमासुतिरासवस्थानीयं मादकं यस्य सः। यद्वा सर्पिराहारत्वेन सूयते प्रक्षिप्यते यस्मिन् सः। प्रत्नः पुरातनः। होता देवानामाह्वाता। वरेण्यः वरणीयः। सहसस्पुत्रः सहसो बलस्य पुत्रः, मन्थनहेतुना बलेनोत्पद्यमानत्वात्। अद्भुतः आश्चर्यरूपः, अनन्यादृशः। एवंभूत उखायां तिष्ठन्नग्निः कार्मुकीं समिधं भक्षयत्वित्यर्थः।

तत्र ब्राह्मणम्—'तां यदाग्निः सन्तपति। अथैनामर्चिरारोहति योषा वा उखा वृषाग्निस्तस्माद्यदा वृषा योषाꣳ सन्तपत्यथास्याꣳ रेतो दधाति' (श० ६।६।२।८)। सन्तपने सत्युखाया या दीप्तिस्तां रेतआत्मना, सन्तापकमग्निं पुरुषात्मना, उखां च योषिदात्मना, सन्तापं च सम्भोगात्मना प्रशंसति—तां यदाग्निः सन्तपत्यादिना। 'सा कार्मुकी स्यात्। देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्या अस्पर्धन्त ते देवा अग्निमनीकं कृत्वाऽसुरानभ्यायंस्तस्यार्चिषः प्रगृहीतस्यासुरा अग्रं प्रावृश्चंस्तदस्यां प्रत्यतिष्ठत् स क्रमुकोऽभवत्तस्मात् स स्वादू रसो हि तस्मादु लोहितोऽर्चिर्हि स एषोऽग्निरेव यत्क्रमुकोऽग्निमेवास्मिन्नेतत्सम्भूतिं दधाति' (श० ६।६।२।११)। आधातव्यायाः समिधो वृक्षविशेषसम्बन्धमाह—सा कार्मुकी स्यादिति। धनुरुपादानभूतो वृक्षविशेषः क्रमुकः। तद्विकारत्वं समर्थयितुमाख्यायिकामाह—देवाश्चेत्यादिना। स्पर्धमानानां मध्ये ते देवा अग्निमनीकं मुखं कृत्वा असुरानभिगताः। तस्मिन् समयेऽसुराः प्रत्यावृत्य अग्नेरर्चिः प्रगृह्य यावन्मात्रं गृहीतमासीत् तावन्मात्रमर्चिषोऽग्रं प्रावृश्चन्। तत् छिन्नमग्रमस्यां पृथिव्यां प्रतिष्ठितमभूत्। स च तत्र क्रमुकाख्यो वृक्षः सम्पन्नः। क्रमुको नाम धनुष उपादानभूतः सारवान् वृक्षविशेषः। उक्तमर्थं प्रत्यक्षबलेन द्रढयति—तस्मात् स स्वादुरिति। यस्मादग्नेः सारांशस्तस्मात् स स्वादू रसो भवति। तत्रैव प्रत्यक्षान्तरं दर्शयति—तस्मादु लोहितोऽर्चिर्हीति। अर्चिषो लोहितवर्णत्वात् तदात्मको वृक्षोऽपि लोहितः। तस्मात् स एष क्रमुकोऽग्निरेव, वृक्षरूपेण परिणामात्। एतद् एतेन क्रमुकसमिदाधानेन अग्निमेव सम्भूतिं दधाति स्थापितवान् भवति।

'प्रादेशमात्री भवति। प्रादेशमात्रो वै गर्भो विष्णुरात्मसम्मितामेवास्मिन्नेतत् सम्भूतिं दधाति' (श० ६।६।२।१२)। समिध इयत्तां विधाय प्रशंसति—प्रादेशमात्री भवतीति। प्रादेशमात्रो वै गर्भो भवति। गर्भो विष्णुर्यज्ञरूपः प्रादेशमात्रः। गर्भस्य प्रादेशमात्रत्वं लोकसिद्धम्। विष्णुरेव वामनावतारो गर्भरूपः प्रादेशमात्रः। स च विष्णुरात्मसम्मितामेवैतेन भूतिं दधाति। 'घृते न्युत्ता भवति। अग्निर्यस्यै योनेरसृज्यत तस्यै घृतमुल्बमासीत् तस्मात्तत्प्रत्युद्दीप्यत आत्मा ह्यस्यैष तस्मात्तस्य न भस्म भवत्यात्मैव तदात्मानमप्येति न वा उल्बं गर्भꣳ हिनस्त्यहिꣳसाया उल्बाद्वै जायमानो जायत उल्बाज्जायमानो जायाता इति' (श० ६।६।२।१३)। आधेयायाः समिधः प्रवृञ्जनं विधाय प्रशंसति—घृते न्युत्तेत्यादिना। उख्यलक्षणोऽग्निः पूर्वं यस्या योनेरसृज्यत तस्या घृतमेव उल्बमासीत्। तस्मात्तत्प्रति घृतमुद्दीप्यते। तस्मादग्न्यवयवत्वादेव तस्य घृतस्य हुतस्य न भस्म भवति इतरकाष्ठवत्। भस्माभावे कारणमाह— आत्मैव तदात्मानमप्येति। 'तामादधाति।

द्रवन्नः सर्पिरासुतिरिति दार्वन्नः सर्पिरशन इत्येतत्प्रत्नो होता वरेण्य इति सनातनो होता वरेण्य इत्येतत् सहसस्पुत्रो अद्भुत इति बलं वै सहो बलस्य पुत्रोद्भुत इत्येतत्तिष्ठन्नादधाति स्वाहाकारेण तस्योपरि बन्धुः' (श० ६।६।२।१४) । समिदाधाने मन्त्रं विधाय विभज्य व्याचष्टे—तामादधातीति । द्रवणादूर्ध्वगमनाद् द्रुः वनस्पतिः, स एवान्नं यस्य सः । सरणात् सर्पिर्घृतम्, तदेव आसुतिर् आसवस्थानीयं यस्य सः । प्रथमपादं व्याचष्टे—दार्वन्नः सर्पिरशन इत्येतदिति । द्रवन्न इत्यस्य दार्वन्न इत्यर्थः, अग्नेर्दारुभक्षकत्वस्य प्रसिद्धत्वात् । अशनशब्देनान्नसामान्यवाचिना पानलक्षणान्नविशेष उपलक्ष्यते । द्वितीयपादे प्रत्नशब्दं व्याचष्टे—सनातनो होतेति । तृतीयपादं व्याचष्टे—सहसस्पुत्रो अद्भुत इति । सहते अभिभवति शत्रुमिति सहो बलम्, मथनकाले बलेनोत्पद्यमानत्वात् । पूर्वमभूत इव, सर्वदा नूतन इत्यर्थः । स्वाहाकारेण मन्त्रान्ते समिदाधानं कर्तव्यम् । तच्च तिष्ठतैवेति विधत्ते—तिष्ठन्नादधाति स्वाहाकारेणेति । तस्यार्थवादरूपो बन्धुरुपरि निर्दिष्टः 'स्वाहाकारेण रेतो वा इदꣳ सिक्तमयमग्निः' (श० ६।६।३।१७) इत्यादिना प्रदर्श्यत इत्यर्थः ।

'तद्वा आत्मैवोखा । योनिर्मुञ्जाः शणा जरायूल्बं घृतं गर्भः समित्' (श० ६.६।२।१५) । गर्भरूपायाः समिधः सर्वान्तरत्वं प्रशंसति—तद्वा इति । उखा आत्मैव स्त्रीशरीरमेव । इतरस्यामवस्तीर्णानि मुञ्जतृणान्येव योनिः, ततोऽप्यान्तरत्वात् । शणा जरायु घृतमुल्बं समिद् गर्भः । एष्वर्थेषूपपत्तिं ब्राह्मणमेव दर्शयति । तथाहि—'बाह्योखा भवति । अन्तरे मुञ्जा बाह्यो ह्यात्माऽन्तरा योनिर्बाह्ये मुञ्जा भवन्त्यन्तरे शणा बाह्या हि योनिरन्तरं जरायु बाह्ये शणा भवन्त्यन्तरं घृतं बाह्यꣳ हि जराय्वन्तरमुल्बं बाह्यं घृतं भवत्यन्तरा समिद् बाह्यꣳ ह्युल्बमन्तरो गर्भ एतेभ्यो वै जायमानो जायते तेभ्य एवैनमेतज्जनयति' (श० ६।६।२।१६) । आत्मत्वादिकल्पनायाः प्रयोजनमाह—एतेभ्यो वै जायमान इति । जायमानो गर्भ एतेभ्यः शरीरादिभ्यः सकाशाज्जायते । तथैवोत्पद्यमानस्य अग्नेरप्येतेषामपेक्षणाद् एतद् एतेन उखामुञ्जादीनामुक्तक्रमेण सम्पादनेन तेभ्य एवात्मादिभ्य एनं गर्भरूपमग्निं जनयति । उक्तक्रमेण तेषामनुष्ठानं प्रशस्तमिति विधेयस्तुतिः ।

अध्यात्मपक्षे—अयं ज्ञानाग्निः, द्रवन्नः, द्रुः संसारवृक्षः अन्नं भक्षणीयं यस्य सः, ज्ञानस्य संसारतन्मूलाज्ञानभक्षकत्वेन तदुपपत्तेः । तादृशो ज्ञानाग्निस्तादृशं संसारं भक्षयतु । कीदृशः सः ? सर्पिरासुतिः सर्पिर्घृतगन्धिभगवद्विषयः स्नेह आसुतिर् आसवस्थानीयो यस्य सः । 'भक्त्या मामभिजानाति' (भ० गी० १८।५।५), 'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते' इत्यादिवचनेभ्यः । सोऽग्निः प्रत्नः पुरातनः, सर्वस्य हृदि सूक्ष्मरूपेण सदैव विद्यमानत्वात्, 'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्' (भ० गी० १३।१७) इति गीतोक्तेः । होता स एव परमात्मन आह्वाता, तत्प्राकट्यहेतुत्वात् । सहसो बलस्य पुरुषकारस्य पुत्रः, महापुरुषकारेणोत्पद्यमानत्वात् । अद्भुतः, आश्चर्यरूपब्रह्मविषयत्वेनाश्चर्यरूपत्वात्, 'आश्चर्यो वक्ता' (कठो० २।७), 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्' (भ० गी० २।२९) इत्यादिवचनेभ्यः ।

दयानन्दस्तु—हे पते, द्रवन्नो वृक्षफलान्योषधयोऽन्नं यस्य स ईदृशः, घृतोदरा सुतिः सवनं शोधनं यस्य सः, प्रत्नः सनातनो होता दाता ग्रहीता वरेण्यः स्वीकर्तुमर्हः सहसस्पुत्रो बलवतोऽपत्यम् अद्भुत आश्चर्यगुणकर्मस्वभावः, त्वं स्वस्तये अस्मिन् यज्ञे गृहे उदिहि उदितो भव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्रस्य दम्पतीसंवादार्थकत्वे मानाभावात् । नहि कश्चिन्मनुष्यो वृक्षभक्षको भवति, द्रुपदस्य फलार्थकत्वे मानाभावाच्च । सर्पिरासुतिर्घृतादिपदार्थशोधक इत्यपि निर्मूलम्, अप्रासङ्गिकं च । प्रत्नत्वमपि तस्य कुतस्त्यम् ? सहस्पदस्य बलवदर्थतापि निर्मूला, गौणार्थप्रसङ्गात् । न वा सर्वस्य पत्युराश्चर्यगुणस्वभाववत्त्वं सम्भवति, मनुष्याणामतथात्वाच्च ॥ ७० ॥

परस्या अधि संवतोऽवराँ२ अभ्यातर। यत्राहमस्मि ताँ२ अव ॥ ७१ ॥

मन्त्रार्थ — **हे अग्निदेवता, शत्रुसम्बन्धी संग्राम से हमारे स्वजनों को दुःख से तारने के लिये सामने आओ और जिस स्थान में मैं स्थित हूँ उसकी रक्षा करो ॥ ७१ ॥**

'वैकङ्कतीं परस्या इति' (का० श्रौ० १६।४।३६)। विकङ्कतवृक्षसमिधं जुहोति परस्या इति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। आग्नेयी गायत्री विरूपदृष्टा। इममारभ्याध्यायान्तमाग्नेय्यः। संवत् संवन्वते सङ्गच्छन्ते योधा यत्र सा संवत्। संपूर्वस्य वनतेर्गत्यर्थस्य क्विप्। परस्याः शत्रुसम्बन्धिन्याः संवतः संग्रामात्। संवदिति संग्रामनामसु पठितम् (निघ० २।१७।४६)। अवरानस्मदीयान् जनान् अभ्यातर आभिमुख्येनागत्य दुःखादुत्तारयेत्यर्थः। यत्र देवेषु मनुष्येषु वा अहमस्मि भवामि तानव पालय तर्पय वा। यद्वा परस्याः संवतोऽप्युत्कृष्टायाः संवननीयाया इष्टेरप्यवरान् निकृष्टान् अस्मान् त्वमभ्यातर आभिमुख्येनागत्य दुःखेभ्यस्तारय। यत्र येषु बन्धुष्वहमस्मि तान् बन्धूनपि अव रक्ष।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ वैकङ्कतीमादधाति। प्रजापतिर्यां प्रथमामाहुतिमजुहोत् स हुत्वा यत्र न्यमृष्ट ततो विकङ्कतः समभवत् सैषा प्रथमाहुतिर्यद्विकङ्कतस्तमस्मिन्नेतज्जुहोति तयैनमेतत्प्रीणाति परस्या अधि संवतोऽवराँ२ अभ्यातर। यत्राहमस्मि ताँ२ अवेति यथैव यजुस्तथा बन्धुः' (श० ६।६।३।१)। द्वितीयायाः समिधो वैकङ्कतत्वं विधाय प्रशंसति—अथ वैकङ्कतीमित्यादिना। अर्थात् पुरा प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा यां प्रथमामाहुतिमजुहोत्तां हुत्वा यत्र देशे न्यमृष्ट हुतशेषनिमार्जनं कृतवान् ततो देशाद् विकङ्कतः समभवत्। यत एवं तस्माद् विकङ्कत-साध्या आहुतिः प्रथमाहुतिः। प्रथमाहुतेरंशत्वादस्यापि प्राथम्यम्। अतः प्रथमाहुतिमेव अस्मिन् हुताग्नौ हुतवान् भवति। तयाहुत्या चैनमुख्यमग्निं प्रीणाति।

अध्यात्मपक्षे—हे ज्ञानाग्ने, परस्याः संवतः अज्ञानाहङ्कारादिशत्रुसम्बन्धिन्याः संग्रामाद् अवरान् पश्चादुत्पन्नत्वान्निर्बलत्वाच्च कनिष्ठानपि शमदमादीन् अभ्यातर अभ्यागत्य संग्रामसङ्कटात्तारय। तामसराजसा असुरा ज्यायांसः, अनादिकालिकत्वाद् बहुसंख्यत्वाद् बद्धमूलत्वेन प्रबलत्वाच्च। सात्त्विकाः शमदमादयो देवा अर्वाचीनत्वादबद्धमूलत्वेनादृढत्वाच्च कनीयांसः, तथापि ज्ञानाग्निमाश्रित्य देवा विजयन्ते, निरुपद्रवभूतार्थ-स्वभावत्वेन प्रबलैरपि विपर्ययादिभिरबाध्यत्वात्। यत्र येषु शमदमादिष्वहं भवामि, तानपि अव पालय। शमादिष्वेवात्मनः सत्त्वं भवति, तेषामात्मनः प्राकट्यहेतुत्वात्, अज्ञानादीनां तदावरकत्वात्।

दयानन्दस्तु—हे कन्ये, यस्याः परस्या उत्तमायाः कन्यायास्तव अहम् अधि अधिष्ठाता स्वामी भवितु-मिच्छामि, सा त्वं संवतो संविभक्तान् अवरान् निकृष्टान् अभ्यातर अभिप्लव मनसा परित्यज। यत्र कुले अहमस्मि तानुत्तममनुष्यान् अव रक्ष' इति, तदप्यसङ्गतम्, श्रुतिसूत्रादिविरोधात्, कन्यायाः सम्बोधने मानाभावाच्च। अधिष्ठाता भवितुमिच्छामीत्यपि निर्मूलमेव। अभिआङ्पूर्वस्य तरतेरुल्लङ्घनार्थत्वमपि निर्मूलमेव ॥ ७१ ॥

परमस्याः परावतो रोहिदश्व इहागहि। पुरीष्यः पुरुप्रियोऽग्ने त्वं तरा मृधः ॥ ७२ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, तुम्हारे अश्व का नाम रोहित है, तुम पशुओं के हितकारी हो, सबका कल्याण करते हो। तुम अत्यन्त दूर देश से भी इस यज्ञ कर्म में आओ और संग्राम में शत्रुओं का विनाश करो ॥ ७२ ॥

'औदुम्बरीं परमस्या इति' (का० श्रौ० १६।४।३७)। उदुम्बरतरुसमिधं तृतीयामादधाति परमस्या इति मन्त्रेणेति। अनुष्टुप् वारुणीदृष्टा। हे अग्ने, परमस्याः परावतः अत्यन्तदूरदेशाद् इह अस्मिन् कर्मणि त्वमागहि आगच्छ। आङ्पूर्वाद्गच्छतेः शपि लुप्ते 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति' (पा० सू० ६।४।३७) इति मकारलोपे आगहीति रूपम्। परावत इति दूरनामसु पठितम् (निघ० ३।२६।५)। परमाशब्दस्य सर्वनामत्वमार्षम्। परमा उत्कृष्टा अतिशयिता या परावत्, अतिदूरमित्यर्थः। तत आगत्य मृधः संग्रामान् तर, अतिक्रम्य रिपून् विनाशयेत्यर्थः। 'तरा' इत्यत्र 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति दीर्घः। कथंभूतस्त्वम् ? रोहिदश्वः, रोहितः रोहितसंज्ञका अश्वा यस्य स रोहिदश्वः, 'रोहितोऽग्नेः, हरित आदित्यस्य' (निघ० १।१५।२–३) इति निघण्टुवचनात्। लोहितवर्णो वाश्वो यस्य सः। 'रोहितेनाग्निर्देवानां गच्छति' इति काण्वभाष्ये सायणः। पुरीष्यः पशव्यः। पुरीषमुखाहेतुभूतं पांसुं वहतीति वा पुरीष्यः। अथवा बहुभ्यः पशुभ्य आहितः पुरीष्यः। पुरीषशब्देन बहुपुरीषाः पशव उच्यन्ते। पुरुप्रियः पुरूणां बहूनां जनानां प्रियः। अत आगत्य हे अग्ने, त्वं तर विनाशय। मृधः संग्रामानिति वा शत्रूनतिलङ्घयेति वा। अर्थाद् हे अग्ने, या परमा उत्कृष्टा परावद् दूरदेशः, अर्थात् तव या दूरदेशस्थितिरासीत्, तादृशाद् दूरदेशात् शीघ्रमागच्छ। यद्वा अग्ने, त्वं तर मृधः सर्वान् पाप्मन इति। निघण्टौ (२।१७।२०) संग्रामनामसु पठितस्यात्र पापमर्थः। तरतिर्निरासार्थकः। 'मृधु उन्दने' इति भौवादिकात् क्विपि रूपम्। उन्दनं क्लेदनम्। हिंसादिभिर्भयात् चित्तं क्लिद्यते। तस्माद् मृधिर्हिंसाकर्मा। ततोऽत्र पापमर्थः। तथा च श्रुतिः'–तर सर्वान् पाप्मन इत्येतत्' (श० ६।६।३।४)। तथा च–'अमर्धन्ता सोमपेयाय देवः' (ऋ० सं० ३।२५।४) इत्यादौ मृधिर्हिंसार्थ इति स्कन्दस्वामी। मृधु हिंसायामिति सायणः।

तत्र ब्राह्मणम्–'अथौदुम्बरीमादधाति। देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्या अस्पर्धन्त ते ह सर्व एव वनस्पतयोऽसुरानभ्युपेयुरुदुम्बरो हैव देवान् न जहौ ते देवा असुराञ्जित्वा तेषां वनस्पतीनवृञ्जत' (श० ६।६।३।२)। 'ते होचुः। हन्त यैषु वनस्पतिषूर्ग्यो रस उदुम्बरे तं दधाम ते यद्यपक्रामेयुर्यातयामा अपक्रामेयुर्यथा धेनुर्दुग्धा यथाऽनड्वानूहिवानिति तद्यैषु वनस्पतिषूर्ग्यो रस आसीदुदुम्बरे तमदधुस्तयैतदूर्जा सर्वान् वनस्पतीन् प्रति पच्यते तस्मात् स सर्वदार्द्रः सर्वदा क्षीरी तदेतत्सर्वमन्नं यदुदुम्बरः सर्वे वनस्पतयः सर्वेणैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति सर्वैर्वनस्पतिभिः समिन्धे' (श० ६।६।३।३)। तृतीयसमिधो वृक्षविशेषं विधाय प्रशंसति–अथौदुम्बरीमादधातीत्यादिना। देवासुरेषु परस्परं स्पर्धमानेषु सर्वेऽपि वनस्पतयोऽसुरानेवाभ्युपेयुः। उदुम्बर एक एव देवान्न जहौ। पश्चाद्देवा असुरान् जित्वा तेषां तेभ्यः सकाशाद् वनस्पतीनवृञ्जत वर्जितानकुर्वन्। पश्चात्ते देवा तेषु वनस्पतिषु विश्वासमकृत्वा वनस्पतिषु य ऊर्क् रसः सारांशस्तमुदुम्बरे स्थापयाम इति परस्परमुक्त्वा उदुम्बर एव स्थापितवन्तः। एवं कुर्वतामभिप्रायमाह–ते यदि अपक्रामेयुस्तदा दुग्धधेनुवत्, ऊढबलीवर्दवच्च गतसारा एवापक्रमेयुः। तया स्थापितयोर्जा सर्वेषां प्रतिनिधित्वेन पच्यते परिपक्वबहुफलो भवतीत्यर्थः। प्रतेः कर्मप्रवचनीयत्वात् तद्योगाद् वनस्पतीनित्यत्र द्वितीया। उक्तमर्थं प्रत्यक्षेण द्रढयति–तस्मात्स सर्ववनस्पतिप्रतिनिधित्वात् सर्वान्नाद्यात्मकः। 'परमस्याः परावत इति। या परमा परावदित्येतद्रोहिदश्व इहागहीति रोहितो ह्यग्नेरश्वः पुरीष्यः पुरुप्रिय इति पशव्यो बहुप्रिय इत्येतदग्ने त्वं तरा मृध इत्यग्ने त्वं तर सर्वान् पाप्मन इत्येतत्' (श० ६।६।३।४)। तस्याः समिध आधाने मन्त्रं विधाय व्याचष्टे–परमस्याः परावत इति। हे अग्ने, या परमा उत्कृष्टा परावद् दूरनामैतत्। मन्त्रव्याख्यानेन गतार्थं ब्राह्मणम्।

अध्यात्मपक्षे–हे अग्ने परमेश्वर, या परमा उत्कृष्टा परावत् अतिदूरं वसतिरस्ति त्वदीया, 'दूरात्सुदूरे' (मु० ३।१।७) इति मुण्डकोपनिषदि, 'तद्दूरे' (ई० उ० ५) इति ईशावास्योपनिषदि च। ततः सकाशान्मम

हृदयकमलमागहि आगच्छ। हे रोहिदश्व रोहितो लोहितवर्णो रजोगुण एव अश्व इवाश्वो यस्य स रोहिदश्व-स्तत्सम्बुद्धौ। रजोगुणारूढत्वादौपाधिकं दूरत्वमन्तिकत्वं वा भगवतः। कीदृशस्त्वम् ? पुरीष्यः पशव्यः सर्वजीव-रूपपश्वनुगुणः। पुरुप्रियः अनन्तानन्तप्राणिपरप्रेमास्पदीभूतः। हे अग्ने, त्वं मृधः संग्रामान् संघर्षान् पाप्मनो वा तर निरसय।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने पावक इव तेजस्विन् स्वामिन्, रोहितोऽग्न्यात्मकोऽश्वो वाहनानि यस्य सः, पुरीष्यः पुरीषेषु पालनेषु साधुः, पुरुप्रियः पुरूणां बहूनां जनानां मध्ये प्रियः प्रीतस्त्वमिह परावतो दूरदेशात् परमस्याः कन्यायाः कीर्ति श्रुत्वा आगहि। मया प्राप्तया सह मृधः परपदार्थाभिकाङ्क्षिणः शत्रून् तर उल्लङ्घय' इति, तदप्य-सङ्गतम्, मुख्यार्थत्यागेन गौणार्थाश्रयणात्। रोहिच्छब्दो नाग्न्यादिबोधकः, तत्र तस्याशक्तेः। परमस्याःशब्देन कन्याया ग्रहणे मानाभावाच्च। अग्नियुक्तवाहनार्थकता तु दूरतो निरस्ता। नहि दूरदेशात् स्वगृहे गृहस्थाश्रमे वा आगमनं भवति। मया प्राप्तया सहेति त्वसम्बद्धमेव। न च स्त्रीभिः सह संग्रामे गमनं भवति, पुरुषाणामभाव एव क्वचित् तासामुपयोगसम्भवात्, श्रुतिसूत्रविरोधाच्च, औदुम्बर्याः समिध आधाने मन्त्रस्य विनियोगात्। निघण्टौ रोहितोऽग्नेरश्व उक्तः। श्रुतौ मृधः सर्वान् पाप्मन इत्युक्तम् ॥ ७२ ॥

यदग्ने कानि कानि चिदा ते दारूणि दध्मसि।
सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य ॥ ७३ ॥

मन्त्रार्थ—युवा पुरुष के समान कान्ति वाले हे अग्निदेव, जो कोई भी काष्ठ तुम्हारे निमित्त अर्पित किया जाय, वह सब तुमको घृत के समान प्रिय हो, उसका प्रीतिपूर्वक सेवन करो ॥ ७३ ॥

'अपरशुवृक्णां यदग्न इति' (का० श्रौ० १६।४।३८)। अकुठारच्छिन्नां वातादिना हस्तादिना वा भग्नां यज्ञियवृक्षसमिधं चतुर्थी यदग्न इति मन्त्रेण आदध्यादिति सूत्रार्थः। द्वे अनुष्टुभौ जमदग्नेरार्षम्। हे अग्ने, त्वदर्थं यद् यानि कानि कानिचिद् दारूणि कुठारच्छेदरहितानि वातहस्तादिदारितानि काष्ठानि कानिचिदरण्ये पतितानि काष्ठान्यानीय दध्मसि धारयामः, तत्सर्वं काष्ठजातं त्वदर्थं घृतं घृतवत्प्रियमस्तु। हे यविष्ठ्य युवतम तद्दारुजातं जुषस्व सेवस्व यद्वा यच्छब्दो दध्मसीत्यनेन सम्बद्धचते। यद् यदा दध्मसि दध्मः। चिच्छब्दोऽनवक्लृप्तौ। असाकल्यार्थ इत्यर्थः। कानिचिद् दारूणि ते त्वयि आदध्मसि आदध्मः, तत्सर्वं घृतमस्तु घृतवत्प्रियमस्तु। तद् घृतत्वेन कल्पितं यत्किञ्चित्काष्ठं जुषस्व सेवस्व।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथापरशुवृक्णमादधाति। जायत एष एतद्यच्चीयते स एष सर्वस्मा अन्नाय जायत एतद्वैकमन्नं यदपरशुवृक्णं तेनैनमेतत्प्रीणाति यदग्ने कानिकानि चिदा ते दारूणि दध्मसि। सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्येति यथैव यजुस्तथा बन्धुस्तद्यत्किञ्चापरशुवृक्णं तदस्मा एतत्स्वदयति तदस्मा अन्नं कृत्वाऽपि-दधाति' (श० ६।३।३।५)। चतुर्थसमिदाधानं विधाय प्रशंसति—अथेत्यादिना। परशुना अच्छिन्नस्य वाय्वादिना भग्नस्य तस्याधाने प्रयोजनमाह—स एष सर्वस्मा इति। कथमस्य अन्नत्वमित्यत आह—एतद्वैकमन्नमिति। अपरशुवृक्णमप्यन्नेषु मध्ये 'एकमन्नम्' इति। तत्र मन्त्रं विधाय तस्य व्याख्यानानपेक्षत्वमाह—यदग्ने कानिकानि-चिदित्यादिना। तात्पर्यार्थमाह—तद् यत्किञ्च अपरशुवृक्णं तदस्मा एतत्स्वदयति तदस्मा अन्नं कृत्वाऽपिदधातीति। अस्मै शिशुरूपायाग्नये तथा लौकिकशिशोर्नवनीतादिकमन्नं कृत्वा आस्येऽपिदधाति, तथा कृतवान् भवतीति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, कानिकानिचिद् दारूणि दारूपलक्षितानि पत्रपुष्पफलादीनि ते तुभ्य-मादध्मसि धारयामः, तत्सर्वं ते तुभ्यं घृतवत्प्रियं भवतु। हे यविष्ठ्य, अतिशयेन युवा यविष्ठः, यविष्ठ एव यविष्ठ्यः, तत्सम्बुद्धौ। तत्सर्वं जुषस्व प्रीतिपूर्वकं सेवस्व, 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥' (भ० गी० ९।२६) इति गीतोक्तेः।

दयानन्दस्तु—'हे यविष्ठ्य अग्ने विद्वन् पुरुष स्त्रि वा, यथा यानि कानिचिद्वस्तूनि ते सन्ति तद्द्वयं दारुण्यादध्मसि। यदस्माकं वस्त्वस्ति तत्सर्वं तेऽस्तु। यदस्माकं घृतं तत् त्वं जुषस्व। यत्ते वस्त्वस्ति तत्सर्व-मस्माकमस्तु। यत्ते घृतादिकं वस्तु तद्वयं गृह्णीमः' इति, तदपि निरर्थकम्, वस्तूनां काष्ठपात्रधारणप्रयोजनानुक्तेः। मूले घृतमित्येव पदमस्ति, न वस्तुपदं न वादिपदम्। 'मे' इति पदमपि तत्र नास्ति। तथा च मोघैव श्रुतिसूत्र-विरुद्धकल्पना। किञ्च, मूले 'दारूणि' इति प्रथमाबहुवचनान्तपाठोऽस्ति, न तु सप्तम्येकवचनान्तपाठः। तथा च 'दारुणि काष्ठपात्रे' इति सर्वथाप्ययथार्थमेव व्याख्यानम्। पारम्पर्यप्राप्त एव पाठोऽनुश्रवः। गुरोर्मुखादनुश्रूयत एव परं न केनापि क्रियते। तद्विरुद्धकल्पनमुच्छृङ्खलतैव। अत एव तदनुगुणानि कानिकानिचिदिति विशेषणानि सङ्गच्छन्ते। सायणादिभिस्तथैव व्याख्यातं च। 'अपरशुवृक्णमादधाति' इति ब्राह्मणं च तदनुगुणमेव। नहि काष्ठपात्रमवदारणीयं भवति ॥ ७३ ॥

यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पति।
सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य ॥ ७४ ॥

दीमक जिस काष्ठ को खा जाती है, वल्मीक जिस काष्ठ से पार हो निकलती है, हे तरुण अग्ने, वह समिधा तुमको घृतवत् प्रिय हो, उसका प्रीतिपूर्वक सेवन करो ॥ ७४ ॥

'अधःशयां यदत्तीति' (का० श्रौ० १६।४।३९)। अधो निम्नप्रदेशे शेते इत्यधःशया भूलग्ना, स्वयमेव भूमौ निपतिता, तां समिधं पञ्चमीं यदत्तीति मन्त्रेणादधातीति सूत्रार्थः। उपजिह्विका उपदीपिका पिपीलिका-सदृशः क्षुद्रजीवो यद्दारु अत्ति भक्षयति, अधःशयत्वादेव, वम्रो वल्मीकश्च यद्दारुअतिसर्पति अतिव्याप्नोति, तत्सर्वं ते घृतमस्तु। यद्वा प्रौढा प्रधाना ज्वाला जिह्वा, तत्समीपवर्तिनी शुद्धज्वालोपजिह्विका। अस्माभिरुपनीतेषु दारुषु मध्ये यद्दारु महारण्ये दावाग्नेरुपजिह्विका अत्यल्पज्वाला अत्ति भक्षयति, ईषद्दहति। वम्रशब्दः पिपीलिका-सदृशं क्षुद्रजीवमाचष्टे। स च यत्काष्ठमतिसर्पति अतिशयेन व्याप्नोति, काष्ठावयवेषु तत्र तत्र सारं भक्षयति, तत्सर्वं ते घृतमस्तु। हे यविष्ठ्य तज्जुषस्व।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथाधःशयमादधाति। जायत एष एतद्यच्चीयते स एष सर्वस्मा अन्नाय जायत एतद्वैकमन्नं यदधःशयं तेनैनमेतत्प्रीणाति यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पतीत्युपजिह्विका वा हि तदत्ति वम्रो वाऽतिसर्पति सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्येति यथैव यजुस्तथा बन्धुस्तद्यत्किञ्चाधःशयं तदस्मा एतत्स्वदयति तदस्मा अन्नं कृत्वाऽपिदधाति' (श० ६।६।३।६) पञ्चम्याः समिध आधानं विधाय प्रशंसति—अथाधः-शयामादधातीत्यादिना। अधो भूमेरुपरि स्वयमेव पतितः सन् यः शेते स अधःशयः। उपजिह्विका उपदीपिका अत्ति, वम्रो वल्मीको वा यत्काष्ठमुपसर्पति आरोहति। मन्त्रस्य तात्पर्यमाह—तद्यत्किञ्चाधःशयमित्यादिना। अपरशुवृक्णाधःशययोर्वृक्षविशेषाविधानात् प्रकृतमुदुम्बरत्वमेव तयोरित्यवगन्तव्यम्।

अध्यात्मपक्षे – हे अग्ने, उपजिह्विका यदत्ति यच्च वम्रोऽतिसर्पति, तादृशमपि प्रेम्णा समर्पितं काष्ठं पत्रपुष्पादिकं ते तव घृतं घृतवत्प्रियमस्तु। हे यविष्ठच तज्जुषस्व। 'पर्युष्टया तव विभो वनमालयेयं संस्पर्धिनी भगवती प्रतिपत्निवच्छ्रीः' (भा० पु० ११।६।१२) इति श्रीमद्भागवते ब्रह्मादयो देवाः। अर्थाद् अग्राह्यमपि सर्वैरुपेक्ष्यमपि भावनया मन्त्रैश्च समर्पितं वस्तु भगवतेऽमृतं भूत्वोपतिष्ठते। तत एव वैदिकेषु कर्मसु स्वरूप-लक्षणस्य काष्ठविशेषस्य विधिवसमिदादीनां होमो भवति। भावनाप्रभावान्मन्त्रप्रभावाच्च तत्सर्वं घृतायते अमृतायते चेति देवतानिरूपणप्रसङ्गे भूमिकायामुक्तमेव।

दयानन्दस्तु—'हे यविष्ठ्य, त्वम् उपजिह्विका उपगता अनुकूला जिह्वा यस्याः पत्न्याः सा यदत्ति भुङ्क्ते। वम्रो उद्गलितोदानः, अतिसर्पति अत्यन्तं चलति, तत्सर्वं तेऽस्तु। यत्ते घृतमस्ति तज्जुषस्व' इति, तदपि मन्दम्, अस्पष्टार्थत्वात्। हे युवतम, त्वं जितरसना पत्नी च यदत्ति मुखोद्गलितप्राणवायुश्चात्यन्तं चलति, तत्तेऽस्त्वित्यस्य किं तात्पर्यमित्यनुक्तेः। भावार्थस्तु सर्वथा मन्त्राक्षरबहिर्भूत एव ॥ ७४ ॥

अहरहरप्रयावं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तोऽग्ने मा ते प्रतिवेशा रिषाम ॥ ७५ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्ने, तुम्हारे आश्रय में रहने वाले हम निरन्तर अप्रमत्त भाव से, पूरी सावधानी के साथ, आपके निमित्त समिधा रूप से हवि देते रहें, जैसे कि वाजिशाला में स्थित घोड़ों को घास दी जाती है। इससे हमारे धन की पुष्टि हो और अन्न की प्राप्ति से होने वाला हर्ष कभी नष्ट न हो ॥ ७५ ॥

'पालाशीः प्रत्यृचमहरहरिति' (का० श्रौ० १६।४।४०)। त्रयोदशसंख्यासु समित्सु मध्ये 'द्रवन्नः' इत्यादिभिर्मन्त्रैः कार्मुक्यादीन् पञ्च समिद्विशेषान् सन्धाय, इत उत्तरे 'अहरहः' इत्यादिकैर्मन्त्रैः क्रमेण पलाशसम्बन्धिनीः समिध आदध्यादिति सूत्रार्थः। द्वे त्रिष्टुभौ नाभानेदिष्ठदृष्टे। हे अग्ने, ते तव प्रतिवेशाः प्रातिवेशिकाः प्रत्यासन्नास्त्वदुपाश्रिता वयं मा रिषाम हिंसनं मा प्राप्नुम। किं कुर्वन्तः? रायस्पोषेण धनपुष्ट्या इषा अन्नेन च मदन्तो हर्षं कुर्वन्तस्त्वामुत्साहयन्तः। तथा अहरहः प्रतिदिनमप्रयावं प्रमादमकृत्वा एकमपि दिनं प्रमादं वर्जयित्वा अस्मै अग्नये घासं समिद्रूपं भक्ष्यं भरन्तः सम्पादयन्तः। कथमिवेति दृष्टान्तमुच्यते—तिष्ठतेऽश्वाय वाजिशालायां बद्ध्वा स्थापिताय प्रौढायाश्वाय एकमपि दिनं प्रमादं वर्जयित्वा यथा घासं प्रयच्छन्ति तत्सेवकास्तद्वत्। प्रयवणं प्रयावः। 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' इत्यस्य घञि रूपम्। नास्ति प्रयावः प्रमादो यस्यां क्रियायां तदिति क्रियाविशेषणम्।

अत्रोव्वटाचार्यः – द्वितीयचतुर्थपादयोर्विरोधः। अश्वायेति तिष्ठते घासमस्मै। अत्र तिष्ठते अस्मै इति द्वे पदे परोक्षमग्निं ब्रूतः। तथाग्ने मा ते प्रतिवेशा रिषामेति अग्ने ते इति प्रत्यक्षमग्निं ब्रूतः। न च वाक्यभेदेनार्थभेदः सम्भवति, अतो लक्षणया व्याख्यानम्। अहरहरप्रमत्तं भरन्त आहरन्तः अशनानि। कथमिव? अश्वायेवेति। अश्वस्येव वयं घासं यवसं स्थापयन्तः। अस्मै तव रायस्पोषेण दक्षिणालक्षणेन धनस्य पोषणेन समदन्त उत्साहयन्तः। इषा अन्नेन त्वां हे अग्ने मा रिषाम ते तव प्रतिवेशिकाः, त्वदाश्रया इत्यर्थः। अध्याहारेण वा व्याख्यायते—अप्रमत्ता आहरन्तोऽशनानीति।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैता उत्तराः पालाश्यो भवन्ति। ब्रह्म वै पलाशो ब्रह्मणैवैनमेतत्समिन्धे यद्वेव पालाश्यः सोमो वै पलाश एषो ह परमाहुतिर्यत्सोमाहुतिस्तामस्मिन्नेतज्जुहोति तयैनमेतत्प्रीणाति' (श० ६।६।३।७)। इत्थं पञ्चसमिधां विलक्षणतां विधाय उत्तरासामष्टानां समिधां पलाशैकद्रव्यतामाह—अथैता उत्तराः पालाश्यो भवन्तीति। पलाशं ब्रह्मत्वेन सोमत्वेन च प्रशंसति—ब्रह्म वै पलाश इत्यादिना। 'देवा वै ब्रह्मन्नवदन्त तत् पर्ण उपाश्रृणोत्' (तै० सं० ३।५।७।२) इति श्रुतेर्ब्रह्मत्वं पलाशस्य। 'तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत्, तं गायत्र्याहरत्, तस्य पर्णमच्छिद्यत तत्पर्णोऽभवत्' (तै० सं० ३।५।७।१) इति श्रुतेः। पलाशस्य सोमावयवत्वात् 'सोमो वै पलाश' इत्युक्तम्। 'अहरहरप्रयावं भरन्त इति। अहरहरप्रमत्ता आहरन्त इत्येतदश्वायेव तिष्ठते घासमस्मा इति यथाश्वाय तिष्ठते घासमित्येतद्रायस्पोषेण समिषा मदन्त इति रय्या च पोषेण च समिषा मदन्त इत्येतदग्ने मा ते प्रतिवेशा रिषामेति यथैवास्य प्रतिवेशो न रिष्येदेवमेतदाह' (श० ६।६।३।८)। समिदाधानस्य षष्ठं मन्त्रं विभज्य व्याचष्टे—अहरहरप्रयावमित्यादिना। मिश्रणनिषेधवाचिना अप्रयावशब्देन तद्विनाभूतोऽप्रमादलक्षणोऽर्थो विवक्षितः। भरन्त इति शब्दस्य समिदाहरणमर्थ इत्युक्तम्। द्वितीयभागेन दृष्टान्तोऽभिधीयते—यथाश्वायेत्यादिना। यथा गृह एव निवसते जात्यश्वाय घासं बालतृणादिकमाहरन्ति तथास्मा अग्नय इत्यर्थः। तृतीयभागे रायस्पोषेणेत्यत्र धनस्य पुष्ट्या इत्येवंरूपोऽर्थो यद्यपि प्रतिभाति, तथापि राय इति निर्देशबलादेव अपुष्टस्य धनस्य सिद्धेः शरीरादिपोषरूपोऽर्थः पृथगेव विवक्षित इत्यभिप्रेत्य रय्या च पोषेण चेति पृथक्तया ब्राह्मणे व्याख्यातम्। न केवलं रय्या पोषेण च, किन्तु इष्टान्नेन च सम्मदन्तो वयं भरिष्याम इत्युत्तरत्रानुषङ्गः। चतुर्थभागस्य तात्पर्यमाह—अग्ने मा ते प्रतिवेशा रिषामेति। प्रतिवेशो नाम स्वगृहेऽलभ्यमानस्य पदार्थस्य आनयनायोचितं स्वगृहनिकटवर्ति मित्रादिगृहम्। अत्र तद्वान् विवक्षितः। अथास्याग्नेरभिमतहविःप्रदाता प्रतिवेशो यजमानो न रिष्येद् न हिंस्यात्, एवमनुगृह्णाणेत्येवंरूपमर्थमयं मन्त्रभाग आहेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, अग्निवद् देदीप्यमान परमेश्वर विश्वनाथ विष्णो वा, वयमहरहः प्रतिदिनं सततमप्रयावमप्रमत्ता अस्मै प्रत्यक्षाय प्रत्यक्चैतन्याभिन्नाय तुभ्यं भरन्तो विविधानि हवींषि षट्पञ्चाशद्विधविभक्तं विविधं नैवेद्यं घासमिव हरन्तः सन्तो मा रिषाम मा विनश्येम। विविधैरुपहारैर्भगवतः समर्हणमेवाविनाशलक्षणस्य क्षेमस्य असाधारणं कारणम्। अत एवाप्रमादेन भगवत्समर्हणपरायणतैव युक्ता। कीदृशा वयम्? रायस्पोषेण ऐहिकामुष्मिकधनस्य पुष्ट्या समीचीनेन इषा अभीष्टेनान्नेन मदन्तो हर्षं कुर्वन्तः, गुणगानादिना भवन्तमुत्साहयन्तः। पुनः कीदृशाः ? प्रतिवेशाः प्रत्यासन्ना भवतोंऽशत्वेन भवदीयत्वाद् भवदुपाश्रिताः। कथमिवेत्यपेक्षायां दृष्टान्तः—अश्वायेव तिष्ठते। यथा अप्रमादेन प्रतिदिनं स्वगृहे स्थिताय अभीष्टायाश्वाय तत्सेवका घासं हरन्ति तद्वत्। रागानुगायाः प्रीतेर्बोधनाय रागास्पदीभूतोऽश्वो दृष्टान्तेनोपादीयते। जना यथा रागास्पदमश्वमप्रमादेन प्रतिदिनं घासं हरन्ति, तथैवाप्रमादेन वयं प्रतिदिनं भवतेऽतिप्रियमुपहारं हराम इत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन् पुरुष, अहरहः प्रतिदिनं यथाश्वाय तिष्ठते वर्तमानाय अस्मै गृहाश्रमाय अप्रयावं प्रयुवत्यन्यायं यस्मिन् स प्रयावः, न विद्यते प्रयावो यस्मिन् गृहाश्रमयोग्ये तम्। घासं भक्ष्यं भरन्तो धरन्तः। रायस्पोषेण धनस्य पुष्ट्या इषा अन्नादिना समदन्तो हर्षन्तः प्रतिवेशाः प्रतीता वेशा धर्मप्रवेशा येषां ते वयं ते ऐश्वर्यं मा रिषाम न हिंस्याम। लिङर्थे लुङ्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्निपदेन साधारणविद्वत्पुरुषसम्बोधने मानाभावात्। अप्रयावमिति पदेन यत्किञ्चिदर्थग्रहणं निरर्थकमेव, श्रुत्यान्यथा व्याख्यानात्। तथैव प्रतीता वेशा धर्मप्रवेशा येषां ते प्रतिवेशा इत्यादिव्याख्यानमपि निर्मूलमेव ॥ ७५ ॥

नाभा पृथिव्याः समिधाने अग्नौ रायस्पोषाय बृहते हवामहे ।
इरम्मदं बृहदुक्थं यजत्रं जेतारमग्निं पृतनासु सासहिम् ॥ ७६ ॥

मन्त्रार्थ—पृथ्वी की नाभिस्वरूप उखा के मध्य में दीप्यमान आहवनीय नामक अग्नि के प्रज्वलित होने पर अन्न से तृप्त होने वाले, बड़े शस्त्र स्तोत्र वाले, यज्ञ में पूजन के योग्य, संग्रामों को जीतने वाले और शत्रुओं का निरादर करने वाले अग्नि के अधिष्ठात्री देवता का धन और ऐश्वर्य की पुष्टि के निमित्त हम इस यज्ञ में आवाहन करते हैं ॥ ७६ ॥

पृथिवीरूपाया उखाया नाभा नाभौ, विभक्तेराकारः, मध्ये। समिधाने सम्यग् दीप्यमाने, अग्नौ आहवनीयाख्ये, अग्निं तदभिमानिनं देवं वयं हवामहे आह्वयामः। किमर्थम् ? बृहते रायस्पोषाय महते धन-पोषणाय। कथम्भूतमग्निम् ? इरम्मदम् इरया अन्नेन घृतादिना माद्यति तृप्यति तुष्यतीति इरम्मदस्तम्, 'उग्रम्पश्येरम्मदपाणिन्धमाश्च' (पा० सू० ३।२।३७) इति निपातनात् खश्। बृहदुक्थं बृहन्ति महान्ति उक्थानि प्रशंसनानि शस्त्राणि यस्य तम्। यजत्रं यजनीयम्। पृतनासु संग्रामेषु जेतारं जयशीलम्। सासहिं सहते अभिभवति प्रतिपक्षानिति सासहिस्तम्, सोढारं शत्रूणामभिभवितारम्।

तत्र ब्राह्मणम्—'नाभा पृथिव्याः समिधाने अग्नाविति। एषा ह नाभिः पृथिव्यै यत्रैष एतत्समिध्यते रायस्पोषाय बृहते हवामह इति रय्यै च पोषाय च बृहते हवामह इत्येतदिरम्मदमितीरया ह्येष मत्तो बृहदुक्थमिति बृहदुक्थो ह्येष यजत्रमिति यज्ञियमित्येतज्जेतारमग्निं पृतनासु सासहिमिति जेता ह्यग्निः पृतना उ सासहिः' (श० ६।६।३।९)। अथ तेषु सप्तमसमिदाधानमन्त्रं विभज्य व्याचष्टे—नाभा पृथिव्या इत्यादिना। यत्र यस्मिन् देशे एषोऽग्निः, एतद् एतेन प्रकारेण समिध्यते, एष प्रदेशः पृथिव्या नाभिरुच्यते। अग्नावित्याहवनीय-विषयोऽग्निशब्दः, जेतारमित्यधिष्ठातृविषयः।

अध्यात्मपक्षे—पृथिव्या जगत्या ब्रह्माण्डलक्षणाया नाभौ मध्ये भारतवर्षे समिधाने देदीप्यमानेऽग्नौ प्रकाशमयेऽयोध्यावृन्दावनादौ हृदये वा अग्निं भगवन्तमग्निवत्प्रकाशं सगुणं साकारं श्रीरामं श्रीकृष्णं वा हवामहे आह्वयामः। किमर्थम् ? रायो धनस्य बृहते प्रौढाय पोषणाय। कीदृशमग्निम् ? इरम्मदम् इरया भक्तसमर्पितेन प्रेमपरिप्लुतेन सितानवनीतादिना माद्यति तृप्यतीति इरम्मदस्तम्। बृहदुक्थं बृहन्ति महान्ति उक्थानि स्तवानि यस्य तम्। यजत्रं यजनीयम्। पृतनासु संग्रामेषु जेतारं रावणादिजयशीलम्। सासहिं शत्रूणामभिभवितारम्।

दयानन्दस्तु—'हे गृहिणः, यथा वयं बृहते रायस्पोषाय पृथिव्या नाभौ मध्ये समिधाने सम्यक्प्रदीप्तेऽग्नौ पृतनासु सेनासु सासहिम् अतिशयेन सोढारम् इरम्मदं य इरया अन्नेन माद्यति हृष्यति तं बृहदुक्थं बृहन्महद् उक्थं प्रशंसनं यस्य तं यजत्रं संगन्तव्यं जेतारं जयशीलं सेनापतिं हवामहे, तथा यूयमप्याह्वयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्निं प्रत्यक्षनिर्दिष्टमपहाय सेनापतेर्विशेष्यत्वकल्पने मानाभावात्। गृहिण इति सम्बोधनमपि निर्मूलमेव ॥ ७६ ॥

याः सेना अभीत्वरीराव्याधिनीरुगणा उत ।
ये स्तेना ये च तस्करास्तांस्ते अग्नेऽपिदधाम्यास्ये ॥ ७७ ॥

मन्त्रार्थ—जो शत्रु की सेना हमारे सामने आने वाली है, जो सेना हमारा सब प्रकार से ताड़न करने वाली है, जो शस्त्रधारी डाकू हमको लूटने वाले हैं, हे अग्ने ! उन सबका नाश करने के लिये तुम्हारे प्रज्ज्वलित मुख में मैं उनकी आहुति देता हूँ ॥ ७७ ॥

इत आरम्भ षट्कण्डिका अनुष्टुभः । याः सेना याः काश्चित् परकीयसेनाः । अभीत्वरीः अभि अभितो यन्ति आगच्छन्तीति अभीत्वर्यः, अस्मदभिमुख्येनागमनशीलाः । विभक्तिव्यत्ययः । 'इण् गतौ' इत्यस्मात् 'इणनशजिसर्तिभ्यः क्वरप्' (पा० सू० ३।३।१६३) इति क्वरपि 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (पा० सू० ६।१।७१) इति तुगागमे 'टिड्ढाणञ्द्वयसज्' (पा० सू० ४।१।१५) इति ङीपि रूपम् । आव्याधिनीर् आसमन्ताद्विध्यन्तीत्या-व्याधिन्यः सर्वतोऽस्मान् पीडयन्त्यः । अत्रापि विभक्तिव्यत्ययः । उतशब्दोऽप्यर्थः । उत अपि च या उगणा उद्गूर्णगणा उत्कृष्टतेजस्विगणोपेता उद्यतायुधगणोपेता इत्यर्थः । एवंविधा याः सेनाः सन्ति । अपि च ये तेना गुप्तचौराः, ये च तस्कराः प्रकटचौराः । 'तस्करः । तत्करोति यत्पापकम्' (नि० ३।१४) इति निरुक्तात् । तान् सर्वान् स्तेनादीन् हे अग्ने, तवास्ये मुखे अपिदधामि प्रक्षिपामि । भक्षणायेति शेषः ।

अत्रत्यं ब्राह्मणं पश्चादुद्धरिष्यते ।

अध्यात्मपक्षे— हे अग्ने परमेश्वर नृसिंह ! शेषं व्याख्यानं मन्त्रव्याख्यानवत् । तान् सर्वांस्तव आस्ये प्रक्षिपामि ।

दयानन्दस्तु—'हे सभासेनापते, यथाहं या अभीत्वरीर् आभिमुख्यं राजविरोधं कुर्वतीः, आव्याधिनीर् आसमन्ताद्बहुरोगयुक्तास्ताडयितुं शीला वा, उगणा उद्यतायुधसमूहाः सेनाः सन्ति ताः, उत ये स्तेना ये च तस्कराः सन्ति, तांस्ते अस्याग्नेः पावकस्यास्येऽपिदधामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राजविरोधमित्यध्याहारस्य निर्मूल-त्वात् । अग्नेरित्यस्य पावकस्येति व्याख्यानमपि निर्मूलम् । 'ते' इत्यस्य स्थाने 'अस्य' इति व्यत्ययेऽपि मन्त्रस्य किमपि व्याख्यानं स्यात्तदाऽव्यवस्थैव स्यात् ॥ ७७ ॥

दंष्ट्राभ्यां मलिम्लूञ्जम्भ्यैस्तस्कराँ२ उत ।
हनुभ्याꣳ स्तेनान् भगवस्ताँस्त्वं खाद सुखादितान् ॥ ७८ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निस्वरूप परम ऐश्वर्य सम्पन्न परात्पर परमेश्वर, जो व्यक्ति गाँव में प्रकट भाव से चोरी करते हैं, उनको अपनी दाढ़ों से और जो निर्जन स्थान में दस्युवृत्ति करते हैं, उन तस्करों को आगे के दाँतों से और सामान्य चोरों को अपनी ठोड़ी से पीड़ित करो । ये सब पूरी तरह से नष्ट करने योग्य हैं, इन सबको निर्जीव बनाकर खा जाओ ॥ ७८ ॥

दंष्ट्राभ्यां दंशनशीलाभ्यां दृढाभ्यां मलिम्लून् मलिम्लुचो गूढाः सन्तः स्तेनतया म्लोचन्ति अदृश्या भवन्तीति मलिम्लुचः, उत अपि, तस्करान् परद्रव्यापहरणकारिणः, जम्भ्यैः जम्भनाहैर् उपर्यधोवृत्तिभिः पुरोदन्तैः, तैः खाद । हे भगवः ! हे भगवन्, षड्गुणैश्वर्य अग्ने, हनुभ्यां हननशीलाभ्यां स्तेनान् सुखादितान् यथा ईषदपि न परिशिष्यते, तथा सुष्ठु खादितान् कृत्वा खादेत्यर्थः ।

'गुप्ताः प्रकटाश्चेति द्विविधाश्चौराः । प्रकटा अपि द्विविधाः—अरण्ये मार्गे च प्रहृत्य पलायमानाः प्रकटाः, ततोऽप्यप्रकटाः निर्भयाः । ग्रामेष्वेवागत्य धनापहारिणो मलिम्लुचः । मलं पापाधिक्यमेषामस्तीति मलिनाः, तथाविधा भूत्वा ये म्लोचन्ति जने वने वा अदृश्या भवन्ति ते मलिम्लुचः । ....दन्तपङ्क्तिमध्ये याभ्यां दन्ताभ्यां क्रमुकादिकं भक्ष्यते, ते दंष्ट्रे राक्षसिके । ततः पुरोवर्तिनो बहिर्दृश्यमाना दन्ता जम्भ्या जम्भावृत्तिमुपाश्रिताः । दन्तहीने तु हनू । तथा च दंष्ट्राभ्यां मलिम्लून् पीडयित्वा जम्भ्यैस्तस्करान् पीडयित्वा हनुभ्यां स्तेनान् पीडयित्वा हे भगवन् ऐश्वर्ययुक्त, तान् सर्वान् सुखादितान् पुनर्जीवनरहिता यथा भवन्ति तथा खाद' इति काण्वसंहिताभाष्ये सायणः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर नृसिंह, दंष्ट्राभ्यां मलिम्लवादीन् पूर्वोक्तान् दंष्ट्रा-जम्भ्य-हनुभिः सुखादितान् खाद । यद्वा मलिम्लवादीन् कामक्रोधादिचोरभेदान् दंष्ट्रादिभिः शमदमादिभिः समूलमुन्मूल्य व्यापादय ।

दयानन्दस्तु—'हे भगवः सभासेनेश, यथा त्वं जम्भ्यैः जम्भेषु मुखेषु भवैः जिह्वादिभिः दंष्ट्राभ्यां तीक्ष्णाग्राभ्यां दन्ताभ्यां यान् मलिम्लून् मलिनाचारान् सिंहादीन् तस्करान् चौरान् चौर इव वर्तमानान् हनुभ्यामोष्ठमूलाभ्यां सुखादितान् अन्यायेन परपदार्थानां भोक्तॄन् स्तेनान् परपदार्थापहर्तॄन् खाद विनाशयेः, तान् वयमुत विनाशयेम' इति, तदपि वेदाक्षरबाह्यमेव, तादृशसम्बोधने मानाभावात् । न च सभासेनेशादयो मनुष्या जम्भ्यैर्दंष्ट्राभ्यां हनुभ्यां मलिम्लून् तस्करान् वा विनाशयन्ति । न वा सामान्यजनास्ताननुकुर्वन्ति ॥७८॥

ये जनेषु मलिम्लवः स्तेनासस्तस्करा वने ।
ये कक्षेष्वघायवस्ताँस्ते दधामि जम्भयोः ॥ ७९ ॥

मन्त्रार्थ—जो ग्रामवर्ती मनुष्यों के आस-पास पूर्वोक्त मलिम्लुच और स्तेन नाम से प्रसिद्ध गुप्त चोर हैं, जो वन में निर्जन प्रदेश में विचरण करते हैं, तस्कर के नाम से प्रसिद्ध चोर हैं, जो नदी-पर्वत आदि गहन स्थानों में पापाभिलाषी लोभ से मनुष्यों के प्राण हरने वाले हैं, हे अग्ने ! उन सबको मैं तुम्हारी दाढ़ों के बीच में भक्षण के लिये स्थापित करता हूँ ॥ ७९ ॥

ये जनेषु ग्रामवर्तिषु मलिम्लवो मलिम्लुचः, स्तेनासः स्तेनाः, 'आज्जसेरसुक्' (पा० सू० ७।१।५०) इत्यसुगागमः, गुप्तचौरा इत्यर्थः । ये च तस्कराः प्रकटचौराः । ये च वने वनाश्रितास्तस्कराः । तथा ये कक्षेषु नदीपर्वतकुहरेषु, अघायवः । अघं पापं परस्य हिंसनमिच्छन्तीत्यघायवः, तान् तव जम्भयोर्दधामि । 'छन्दसि परेच्छायामिति वक्तव्यम्' (पा० सू० ३।१।८) इति सूत्रीयं भाष्यवार्तिकम् । ग्रामवर्तिषु जनेषु वने गच्छत्सु सत्सु येऽनेकविधाः पूर्वोक्ताश्चौराः सन्ति, ये चान्ये व्याघ्रादयः कक्षेषु कुञ्जेषु स्थित्वा अघायवो भवन्ति परेषामघं पापं हिंसनमिच्छन्ति ये, तान् सर्वान् तव जम्भयोर्दधामि ।

अध्यात्मपक्षे—हे नृसिंह, ये जनेषु मलिम्लुचः, ये स्तेनासः, तांस्ते जम्भयोर्दंष्ट्रयोर्दधामि ।

दयानन्दस्तु—'हे सभेश, सेनापतिरहं ये जनेषु मलिम्लवो ये मलिनाः सन्तो म्लोचन्ति गच्छन्ति, ते स्तेनासो गुप्ताश्चौरा ये वने तस्कराः प्रसिद्धा, ये च कक्षेषु सामन्तेषु, अघायव आत्मनोऽघेन पापेनायुरिच्छवः, तान् ते जम्भयोर्बन्धने मुखमध्ये ग्रासमिव दधामि, इति, तदपि तुच्छम्, सेनाध्यक्षस्य व्यात्ते मुखे मलिम्लवादीनां प्रक्षेपासम्भवात्, तथा व्यवहारादर्शनाच्च, तादृशसम्बोध्यस्याप्रामाणिकत्वाच्च । अघेनायुरिच्छव इति व्युत्पत्तिरपि चिन्त्या ॥ ७९ ॥

यो अस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्वेषते जनः ।
निन्दाद्यो अस्मान्धिप्साच्च सर्वं तं मस्मसा कुरु ॥ ८० ॥

मन्त्रार्थ—जो मनुष्य हमसे शत्रुता करे, जो हमारे देय धन को वापस न करे, जो हमसे द्वेष कर हमारे कार्य को नष्ट करे, जो हमारी निन्दा करे, गुण में दोष देखे और जो हमारे प्राणों को हरने का प्रयत्न करे, उन सभी प्रकार के हमारे शत्रुओं को, निन्दक और हमें मार डालने वाले मनुष्यों को आप भस्म कर दें ॥ ८० ॥

यो मनुष्यो अस्मभ्यमरातीयाद् अरातिरिवाचरेत्, यश्च जनो नोऽस्मान् द्वेषते द्वेष्टि। तथा यः अस्मान् निन्दात् निन्दयति, तथा धिप्साच्च, दम्नोतेः सन्यभ्यासलोपः, दभितुमिच्छति । हे अग्ने, सर्वमेतच्छत्रुजातं मस्मसा कुरु चूर्णीकुरु। चर्वित्वा भक्षयेत्यर्थः । मस्मसेति शब्दोऽनुकरणे। 'पूर्वं चौरभेदा दर्शिताः। इदानीं शत्रुभेदा उच्यन्ते। ते च त्रिविधाः—अरातयो द्वेषिणो निन्दकाश्च। दातव्यत्वेन प्राप्तं धनं यो न ददाति सोऽयमरातिः। कार्यविघातं यो करोति स द्वेषी। वाग्दौर्जन्यमात्रं यः करोति स निन्दकः। हन्तुकामश्चतुर्थः। क्रमेण तदेवोच्यते— योऽस्मभ्यमरातीयति अरातित्वमिच्छति, यश्च नो द्वेष्टि तत्तत्कार्यनाशेन बाधते, योऽन्यो निन्दति यश्चापरोऽस्मान् धिप्सति यश्च दभितुं हिंसितुमिच्छति, तत्सर्वं मस्मसा कुरु, चूर्णेन जनितस्य शब्दस्यानुकरणं मस्मसेति, चूर्णीकुर्वित्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे नृसिंह, योऽस्मभ्यमरातीयात् शत्रुवदाचरेत्, यश्च नो द्वेष्टि, यश्च निन्दति, यश्च दम्भितुमिच्छति, सर्वमेतमाध्यात्मिकं बाह्यं च शत्रुगणं मस्मसा कुरु चूर्णीकुरु ।

दयानन्दस्तु—'हे सभासेनेश, त्वं यो जनोऽस्मभ्यमरातीयात्, यश्च द्वेषते अप्रीतयति, निन्दाच्च निन्देद् यः, योऽस्मान् धिप्साद् दम्भितुमिच्छेत् छलेच्च, तं सर्वं मस्मसा कृत्स्नं भस्मेति भस्मसा कुरु' इति, तदपि तुच्छम्, अप्रामाणिकत्वात्। मस्मसेति पाठो वैदिकसम्मतः। तत्र भस्मसेति पाठपरिवर्तनं तस्य कृत्स्नं भस्मेति व्याख्यानमेतत्सर्वमप्यप्रामाणिकमेव ।

एतेषु ब्राह्मणम्—'याः सेना अभीत्वरीः। दᳪष्ट्राभ्यां मलिम्लून्ये जनेषु मलिम्लवो यो अस्मभ्यमरातीयाद्यश्च तो द्वेषते जनः। निन्दाद्यो अस्मान्धिप्साच्च सर्वं तं मस्मसा कुर्विति' (श० ६।६।३।१०)। अथ नवम्याः समिध आधानमन्त्रप्रतीकमुपादत्ते—दंष्ट्राभ्यां मलिम्लूनिति । दशम्याः समिध आधानमन्त्रप्रतीकमुपादत्ते ये जनेषु मलिम्लव इति। एकादश्याः समिधो मन्त्रं पठति—यो अस्मभ्यमिति । 'एतद्वै देवाः। यश्चैनानद्वेड् यं चाद्विषुस्तस्मा अन्नं कृत्वाप्यदधुस्तेनैनमप्रीणन्नन्नमहैतस्याभवददहद्‌ देवानां पाप्मानं तथैवैतद्यजमानो यश्चैनं द्वेष्टि यं च द्वेष्टि तमस्मा अन्नं कृत्वाऽपिदधाति तेनैनं प्रीणात्यन्नमहैतस्य भवति दहत्यु यजमानस्य पाप्मानम्' (श० ६।६।३।११)। मन्त्रप्रशंसार्थयुक्तं पुरावृत्तमाह—एतद्वै देवा इत्यादिना। एतद् अनेन प्रकारेण पुरा खलु देवा एतान् यजमानान् यश्चाद्वेट् द्वेषमकार्षीत्, यं च यजमाना अद्विषुः द्वेषमकुर्वंस्तमुभयविधं जनम् अस्मै उत्पन्नाय शिशुरूपायाग्नये अन्नं कृत्वा अप्यदधुः मुखे स्थापितवन्तः। तेन अन्नेन एनमग्निमप्रीणन्। अपि च, पश्चात् सोऽग्निर्देवानां पाप्मानं द्वेष्यम् अदहद् भस्मसादकरोत् ॥ ८० ॥

सᳪँशितं मे ब्रह्म सᳪँशितं वीर्यं बलम् ।
सᳪँशितं क्षत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहितः ॥ ८१ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्ने, हे परमात्मन्! आपके प्रसाद से मेरा ब्रह्मतेज तीक्ष्ण हुआ। इन्द्रियों की शक्ति और शरीर की शक्ति अपने अपने कार्य में समर्थ हुई। जिसका मैं पुरोहित हूँ, उस यजमान के जयशील क्षात्र तेज को आपने बढ़ाया॥ ८१॥

'उपोत्तमां क्षत्रियस्येच्छन्, उत्तमां पुरोहितस्य' (का० श्रौ० १६।४।४१–४२)। क्षत्रिययजमानस्य द्वादशीं समिधं संशितमित्येतेन मन्त्रेणेच्छया दधाति, पुरोहितस्य यजमानस्य अन्यामुदेषामिति मन्त्रेण त्रयोदशीमिच्छया दधाति। एकादश समिधो नित्याः, सर्वासामृचामन्ते स्वाहाकारश्चेति पूर्वमेवोक्तम्। मे मदीयं स्वरूपभूतं ब्रह्म ब्राह्मण्यं संशितं सम्यक् तीक्ष्णीकृतम्, शास्त्रीयमार्गवर्तिकृतमित्यर्थः। मे ब्रह्मणो वीर्यमिन्द्रियशक्तिः श्रुताध्ययनादिजा, बलं शरीरशक्तिः, तदुभयं संशितं 'शो तनूकरणे' स्वकार्यक्षमं कृतम्। तथा यस्य क्षत्रियस्याहं पुरोहितोऽस्मि भवामि, मदीयं तत्क्षत्रं जिष्णु जयनशीलं यथा भवति तथा संशितं तीव्रं कृतम्।

तत्र ब्राह्मणम्—'ता एता एकादशादधाति। अक्षत्रियस्य वाऽपुरोहितस्य वाऽसर्वं वै तद्यदेकादशासर्वं तद्यदक्षत्रियो वाऽपुरोहितो वा' (श० ६।६।३।१२)। 'द्वादश क्षत्रियस्य वा पुरोहितस्य वा। सर्वं वै तद्यद् द्वादश सर्वं तद्यत् क्षत्रियो वा पुरोहितो वा' (श० ६।६।३।१३)। या एता एकादशसमिध उक्तास्तासां क्षत्रिय-पुरोहितव्यतिरिक्तविषयतामाह—ता एता इति। क्षत्रियादन्यस्त्रैवर्णिकः, अक्षत्रियः। तत्रापि अपुरोहितस्य पुरोहितक्षत्रियव्यतिरिक्तो यो यागाधिकारी तस्य एकादश समिध आदध्यात्। अन्यैकादशसंख्यायोग्यतामुप-पादयति—असर्वमिति। क्षत्रियपुरोहितयोः सर्वरक्षाक्षमवीर्यातिशयदर्शनेन सर्वत्वं प्रसिद्धम्। अत एव तदित-रस्यासर्वत्वम्। एकादशसंख्याया विषमरूपत्वादसर्वत्वम्, अतस्तस्य तदुचितमित्यर्थः। तर्हि क्षत्रियपुरोहितयोः कियत्य इत्यत आह—द्वादश क्षत्रियस्येत्यादिना। 'स पुरोहितस्यादधाति। सꣳशितं मे ब्रह्म सꣳशितं वीर्यं बलं सꣳशितं क्षत्रं जिष्णु अस्याहमस्मि पुरोहित इति तदस्य ब्रह्म च क्षत्रं च सꣳश्यति' (श० ६।६।३।१४)। तर्हि पुरोहितक्षत्रिययोः को द्वादशो मन्त्र इत्यपेक्षायां पूर्वं पुरोहितस्य द्वादशं मन्त्रमाह—स पुरोहितस्येति। तात्पर्यं दर्शयति—तदस्य ब्रह्म च क्षत्रं च संश्यतीति। मन्त्रे ब्रह्मक्षत्रयोः संशितत्वप्रतिपादनादस्य पुरोहितयजमानस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे जाती सम्यक् तीक्ष्णीकरोतीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, मे मदीयं ब्रह्म ब्राह्मण्यं व्यावहारिकं पारमार्थिकं च ब्रह्मनिष्ठालक्षणं संशितं सम्यक् तीक्ष्णीकृतम्, त्वत्प्रसादाद् भवत्विति शेषः। तथैव मम वीर्यं विघ्नप्रतीकारसामर्थ्यं बलं श्रुतादिधारणसामर्थ्यं तथा यस्याहं पुरोहितः, येनाहं साधनमार्गे पुरस्कृतः, तस्य गुरोः क्षत्रं शिष्याणामाध्यात्मिक-मार्गे प्रसरद्विघ्नगणनिवारकं शिष्याणां पालकं च तेजः, जिष्णु जयनशीलं संशितम्, भवत्विति प्रार्थयेऽहमिति शेषः।

दयानन्दस्तु—'अहं यस्य पुरोहितो यं यजमानः पुरः पूर्वं दधाति स अस्मि। तस्य मे मम च संशितं प्रशंसनीयं ब्रह्म वेदविज्ञानं तस्य च संशितं वीर्यं संशितं बलं संशितं जिष्णु जयनशीलं क्षत्रं क्षत्रियकुलं चास्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वेदविज्ञानादिसौष्ठवे स्वयमेव प्रशंसा भवति, तदर्थं प्रार्थनावैयर्थ्यात्। नापि च सभासेनेश-प्रार्थनया तत्सम्भवति, तस्य तत्रासामर्थ्यात्, अन्यस्य चात्राप्रसक्तेः। किञ्च, कर्मणा वर्णव्यवस्थामभ्युपगच्छतस्तव ब्रह्मकुलं क्षत्रकुलं च न सम्भवत्येव। यं यजमानः पुरः पूर्वं दधाति स इत्यस्य प्रथमधारक इति हिन्दीव्याख्यान-मप्यसङ्गतमेव॥ ८१॥

उदे॑षां बा॒हू अति॑रमु॒द्वर्चो॒ अथो॒ बल॑म्।
क्षि॒णोमि॒ ब्रह्म॑णा॒ऽमित्रा॒नुन्न॑यामि॒ स्वाँ२ अ॒हम्॥ ८२॥

मन्त्रार्थ—परमात्मा अग्नि के प्रसाद से हमने अपने इन ब्राह्मण राजाओं के बीच में अपनी भुजा ऊँची की। (यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि जब कोई दूसरे से उत्कृष्ट होता है, तब लोग कहते हैं कि इसने अपना हाथ ऊपर किया— इसी लोकोक्ति का प्रस्तुत मन्त्र में निर्देश है।) हमारे तेज ने सबकी कान्ति को अतिक्रमण किया। हमारे बल ने शरीर की शक्ति को, सबके बल को अभिभूत किया। मैं मन्त्र के सामर्थ्य से अपने अमित्रों को नष्ट करता हूँ, अपने पुत्र-पौत्र आदि को उत्कृष्ट स्थान प्राप्त कराता हूँ॥ ८२॥

एषां स्वकीयानां राजब्राह्मणादीनां मध्ये एकैकस्य बाहू भुजौ उदतिरम् उत्कर्षेण वर्धितवानस्मि। तिरतिर्वृद्ध्यर्थः। लोके हि योऽन्यस्मादुत्कृष्टो भवति तं जना एवं वदन्ति यद् अयं स्वहस्तमुपरितनं कृतवानिति। वर्चः कान्तिः, तदप्युदतिरम्। अथो अपि बलं शरीरशक्तिमुदतिरम्। ब्रह्मणा मन्त्रसामर्थ्येन अमित्रान् शत्रून् क्षिणोमि क्षीणान् करोमि। स्वान् स्वकीयान् पुत्रपौत्रादीन् उन्नयामि उत्कर्षं प्रापयामीति काण्वभाष्ये सायणः। यद्वा एषां विरोधिनां बाहू भुजौ उदतिरम् उद्धरितवानस्मि। अथो अपि च बलं क्षिणोमि विनाशयामि, ब्रह्मणा पुरोहितसंज्ञेन नित्याधीतेन मन्त्रेण वा अमित्रान् विरोधिनः क्षिणोमि हिंसितान् करोमि। स्वान् पुत्रादीन् मित्राणि चोन्नयामि।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथ क्षत्रियस्य। उदेषां बाहू अतिरमुद्वर्चो अथो बलम्। क्षिणोमि ब्रह्मणाऽमित्रानुन्नयामि स्वाँ२ अहमिति यथैव क्षिणुयादमित्रानुन्नयेत् स्वानेवमेतदाहोभे त्वेवैते आदध्यादयं वा अग्निर्ब्रह्म च क्षत्रं चेममेवैतदग्निमेताभ्यामुभाभ्याᳬ समिन्धे ब्रह्मणा क्षत्रेण च' (श० ६।६।३।१५)। क्षत्रियपक्षे द्वादश्याः समिधो मन्त्रमाह—अथ क्षत्रियस्योदेषामिति। उत्तरार्धस्य तात्पर्यमाह—यथैव क्षिणुयादमित्रानुन्नयेत् स्वानेवमेतदाहेति। स्पष्टार्थं ब्राह्मणम्। पुरोहितक्षत्रियव्यतिरिक्तस्यैकादश, तयोस्तु द्वादशैव। तत्राप्युपोत्तमा पुरोहितस्य, उत्तमा क्षत्रियस्येति व्यवस्थापितं कात्यायनेन। इदानीमुपोत्तमोत्तमे अपि सर्वेषामाधातव्ये इति सार्थवादमाह—उभे त्वेवैते इति। तुशब्दः पूर्वोक्तव्यवस्थापक्षं वारयति, एवशब्दो भिन्नक्रमः। ये उभे पुरोहितक्षत्रियविषयत्वेनोक्ते ते सर्वत्रादध्यादेव, न परित्यजेत्। तत्रोपपत्तिमाह—अयं वा अग्निर्ब्रह्म च क्षत्रं चेति। अयमग्निरेव ब्रह्मक्षत्रे, यद् ब्राह्मं क्षात्रं च तेजः, तस्याग्नेयत्वादित्यभिप्रायः। एतद् एतेन ब्रह्मक्षत्र-मन्त्राभ्यामग्नौ समिदाधानेन इममेव उख्यमग्निम् उभाभ्यां समिन्धे दीपितवान् भवति। तस्मादुभे अप्यवश्यं सर्वविषयतयानुष्ठेये इत्यर्थः। एतदुक्तं भवति—पुरोहितक्षत्रियव्यतिरिक्तानामेकादश वा त्रयोदश वा, तयोस्तु द्वादश वा त्रयोदश वेति।

'प्रादेशमात्र्यो भवन्ति। प्रादेशमात्रो वै गर्भो विष्णुरन्नमेतदात्मसम्मितेनैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति यद् वा आत्मसम्मितमन्नं तदवति तन्न हिनस्ति यद् भूयो हिनस्ति तद्यत् कनीयो न तदवति तिष्ठन्नादधाति तस्योपरि बन्धुः स्वाहाकारेण रेतो वा इदᳬ सिक्तमयमग्निस्तस्मिन् यत्काष्ठान्यस्वाहाकृतान्यभ्यादध्याद्धिᳬस्याद्धैनं ता यत्समिधस्तेन नाहुतयो यदु स्वाहाकारेण तेनान्नमन्नᳬ हि स्वाहाकारस्तथो हैनं न हिनस्ति' (श० ६।६।३।१७)। समिधां प्रादेशमात्रत्वं विधाय प्रशंसति—प्रादेशमात्र्यो भवन्तीत्यादिना। तिष्ठतैवोक्तसमिधामाधानं कर्तव्यमिति विधाय तदर्थवादं वक्ष्यमाणमतिदिशति—तस्योपरि बन्धुरिति। उपरि नवमे काण्डे (श० ९।२।३।४६) इत्यत्रेत्यर्थः। तत्र हि 'तिष्ठन् समिध आदधाति। अस्थीनि वै समिधः' इत्यत्र रुक्मधारणप्रस्तावे 'तिष्ठन् वै वीर्यवत्तरः' इति बन्धुर्वक्ष्यत इत्यर्थः। समिदाधानस्य स्वाहाकारान्ततां विधाय प्रशंसति—स्वाहाकारेणेत्यादिना। ता यत्समिधस्तेन नाहुतय इति। समिधां केवल-मग्निसमिन्धनसाधनत्वेनानाहुतिरूपत्वाद् नाहुतित्वं नान्नत्वं चातो हिंसकाः स्युरित्यर्थः। वहि स्वाहाकारसहितानां

कथमहिंसकत्वम् ? तत्राह—यदु स्वाहाकारेण तेनान्नमन्नं हि स्वाहाकारस्तथो हैनं न हिनस्तीति। 'वषट्कारेण वा वै स्वाहाकारेण वा देवेभ्योऽन्नं प्रदीयते' (श० १।३।३।१४) इति श्रुतेरन्नप्रदानहेतुत्वाद् अन्नत्वम्। स्पष्टमन्यत्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, एषां विरोधिनां कामादीनां बलवीर्ये अतिरम्, त्वत्प्रसादादुद्धारितवान्। वर्चः तेजो बलं च क्षिणोमि नाशयामि। ब्रह्मणा सेवितेन वेदवेदान्तेन आराधितेन परमात्मना वा भवता अमित्रान् बाधकान् कामादीन् क्षिणोमि। साधकान् शमादीनुन्नयामि ऊर्ध्वं गमयामि। उन्नतान् करोमीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'अहं यजमानः पुरोहितो वा ब्रह्मणा वेदेश्वरज्ञानप्रदानेन एषां चौरादीनां बाहू बलवीर्ये उदतिरं सन्तरेयमुल्लङ्घयेयम्। एषां वर्चस्तेजो बलं सामर्थ्यम् अमित्रान् शत्रून् क्षिणोमि हिनस्मि। अथो स्वान् स्वकीयान् उन्नयामि ऊर्ध्वं बध्नामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अन्यस्य ईश्वरब्रह्मज्ञानेन अन्यबलवीर्यादिविनाशासम्भवात्, तथैवान्यस्य तादृशब्रह्मणाऽन्येषामुन्नयनायोगात्, तथाभ्युपगमे श्राद्धादिसिद्धान्ताभ्युपगमापाताच्च ॥ ८२ ॥

अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः।
प्रप्र दातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥ ८३ ॥

मन्त्रार्थ—हे अन्न के पालक अग्ने, आप हमें व्याधिरहित, बलवर्धक अन्न प्रदान करें। हे अन्न को देने वाले, हमें आप दिन-प्रतिदिन वृद्धि की ओर बढ़ावें। हमारे सभी सगे-सम्बन्धी पुत्र-पौत्र आदि संतति, गो-अश्व आदि पशुधन और सभी प्रकार के अन्न से परिपूर्ण हों ॥ ८३ ॥

'न्यज्य समिधं व्रते प्रत्ते प्रत्तेऽन्नपत इत्याधानम्' (का० श्रौ० १६।६।८)। अध्वर्युणा व्रते पय आदौ दत्ते सति यजमानः समिधमभ्यज्य उख्येऽग्नावादध्यादिति सूत्रार्थः। प्रत्ते इति वीप्सा प्रतिव्रतं समिदाधानप्राप्त्यर्था। आग्नेयी उपरिष्टाद्बृहती अष्टार्णत्रिपादा। चतुर्थो द्वादशार्णः। हे अन्नपते ! अन्नस्य पालक अग्ने, अनमीवस्य नास्ति अमीवा रोगो यस्मात् तस्य रोगरहितस्य शुष्मिणः शुष्मं बलं विद्यते यस्मात्तत् शुष्मि तस्य। रोगनाशकं बलहेत्वन्नं प्रयच्छ। यद्वा नास्ति अमीवा व्याधिर्यस्य तदनमीवं तस्य, शुष्मं बलमस्त्यस्येति शुष्मि तस्य। रोगरहितस्य बलहेतोरन्नस्य प्राप्तिं धेहि। प्र प्रदातारं प्रकर्षेण हविषो दातारं यजमानं प्रतारिषः प्रवर्धय प्रकर्षेण दुरितानि नाशय। नोऽस्माकं द्विपदे मनुष्याय, चतुष्पदे पशवे च ऊर्जं बलमन्नं वा धेहि। पादपूर्त्यर्थमर्थातिशयार्थं वोपसर्गाभ्यासः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ यदास्मै व्रतं प्रयच्छन्ति। अथ व्रते न्यज्य समिधमादधाति न व्रते न्यञ्ज्यादित्यु हैक आहुराहुतिं तज्जुहुयादनवक्लृप्तं वै तद्यद्दीक्षित आहुतिं जुहुयादिति' (श० ६।६।४।४)। व्रतप्रदानकाले व्रतपयसि समिधं न्यज्याधातव्यमिति विधत्ते—अथ यदास्मै व्रतमिति। व्रतं तत्साधनं पयः। अत्र केषाञ्चित् पक्षमुदाहृत्य तं निराकृत्य स्वपक्षमुपसंहरति—न व्रते न्यञ्ज्यादित्यु हैक आहुरित्यादिना। न्यञ्जनपक्षे दोषमाह—आहुतिं तज्जुहुयादिति। कामं जुहुयात्, का बाधेति तत्राह—अनवक्लृप्तमिति। असमर्थमित्यर्थः, 'दीक्षितो न जुहोति न ददाति न पचति' इति निषेधात्। 'स वै न्यञ्ज्यादेव। दैवो वा अस्यैष आत्मा मानुषोऽयं स यन्न न्यञ्ज्यान्न हैतं दैवमात्मानं प्रीणीयादथ यन्न्यनक्ति तथो हैतं दैवमात्मानं प्रीणाति सा यत्समित्तेन नाहुतिर्यदु

व्रते न्यक्ता तेनान्नमन्न७ँ हि व्रतम्' (श० ६।६।४।५)। स्वपक्षे युक्तिमाह—स वै न्यञ्ज्यादेवेति। अस्य यजमानस्य दैवो देवसम्बन्धी आत्मा शरीरम्। एषोऽग्निः, उत्तरत्र वैश्वानररूपेण यजमानस्योत्पत्तेः। अयं पाञ्चभौतिक आत्मा मानुषः। अतो न्यञ्जने अकृते सति देवतासम्बन्धिनं स्वात्मानं न प्रीणीयात्, न्यञ्जने तु प्रीणात्येव। ननु अनवक्लृप्तदोषस्य कः परिहार इति तत्राह—सा यत्समित् तेन नाहुतिरिति। तेन न्यक्तायाः समिध आधानेऽपि नाहुतिर्भवति। तेन निषेधातिक्रमणमिति। ननु दैवस्यात्मनः कथं व्रताख्यान्नलाभ इति तत्राह—यदु व्रते न्यक्ता तेनान्नमिति। ननु पय एव कथमन्नमित्याह—अन्नं हि व्रतमिति। व्रतसाधनं पय इत्यर्थः।

'स वै समिधमाधायाथ व्रतयति। दैवो वा अस्यैष आत्मा मानुषोऽयं देवा उ वा अग्रेऽथ मनुष्यास्तस्मात् समिधमाधायाथ व्रतयति' (श० ६।६।४।६)। व्रतपरिग्रहस्य समिदाधानानन्तर्यं प्रशंसति—स वै समिधमाधायेत्यादिना। 'अन्नपतेऽन्नस्य नो देहीति। अशनपतेऽशनस्य नो देहीत्येतदनमीवस्य शुष्मिण इत्यनशनायस्य शुष्मिण इत्येतत्प्रप्र दातारं तारिष इति यजमानो वै दाता प्र यजमानं तारिष इत्येतदूर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पद इत्याशिषमाशास्ते यदु भिन्नायै प्रायश्चित्तिमाहोत्तरस्मिंस्तदन्वाख्यान इति' (श० ६।६।४।७)। तत्र मन्त्रं विधाय विभज्य तात्पर्यमाह—अन्नपतेऽन्नस्येत्यादिना। अमीवशब्दो व्याधिवचनः, अत्र तु बुभुक्षाख्यव्याधिपर इति व्याचष्टे—अनशनायस्य शुष्मिण इति। चरमपाद आशीःपर इत्याह—आशिषमाशास्त इति। हे अन्नपते अग्ने, अन्नस्य अन्नम्, कर्मणि षष्ठी। देहि प्रयच्छ। नः अस्मभ्यं देहीत्यर्थः। शेषं पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—हे अन्नपते परमेश्वर, तस्यैवान्नदानेन सर्वस्य पोषकत्वात्। नोऽस्मभ्यमन्नस्य अन्नं देहधारणार्थं लौकिकमन्नं श्रुतादिधारणक्षममन्नं च प्र प्र देहि। कीदृशस्यान्नस्य ? अनमीवस्य रोगरहितस्य निर्दोषस्य, शुष्मिणो दिव्यबलवतः। सर्वत्र कर्मणि षष्ठी। हे प्रभो, अन्नस्य लौकिकस्य ज्ञानवैराग्यलक्षणस्य चान्नस्य प्रदातारं गुरुं प्रतारिषः प्रवर्धय। नो द्विपदे चतुष्पदे ऊर्जं निष्ठादाढर्च्यं पराक्रमं च क्रमेण धेहि, परमेश्वरप्रार्थनयैव तदानुकूल्येन सर्वेष्टसिद्धिसम्भवात्।

दयानन्दस्तु—'हे अन्नपते यजमान पुरोहित वा, त्वं नोऽनमीवस्य रोगरहितस्य सुखकरस्य शुष्मिणो बहु शुष्मं बलं यस्मात्तस्य अन्नस्य प्र प्रदेहि। अस्यान्नस्य दातारं तारिषः सन्तर। नोऽस्माकं द्विपदे चतुष्पदे ऊर्जं पराक्रमं देहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यजमानं पुरोहितं वा प्रति तादृशप्रार्थनायोगात्। नहि द्विपदां चतुष्पदां पराक्रमं मनुष्याः सम्पादयितुं शक्नुवन्ति। वैद्या वैज्ञानिकाश्च लौकिकैरुपायैर्यत्कर्तुं पारयन्ति, तत्तु द्रव्यादिदानेन कुर्वन्ति। न तत्र प्रार्थनापेक्षिता। तस्माद्विशिष्टाग्न्यादिदेवताप्रार्थनाऽभ्युपेतव्या। इत्यलं वेदानां लौकिकत्वापादनश्रमेण ॥ ८३ ॥

शङ्कापङ्ककलङ्कानां　　निःशेषेणापसारणे।
वेदार्थपारिजातेऽस्मिन् पूर्ण एकादशोऽधुना॥

इति श्रीमाध्यन्दिनीयायां वाजसनेयिसंहितायामेकादशोऽध्यायः।

द्वादशोऽध्यायः

दृशानो रुक्म उर्व्या व्यद्यौद् दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः ।
अग्निरमृतो अभवद्वयोभिर्यदेनं द्यौरजनयत् सुरेताः ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—मनुष्यों को लक्ष्मी प्रदान करने के निमित्त अभिलषित अखण्डित आयु वाला सुवर्णाभरण बड़ी दीप्ति से प्रकाशित हो रहा है। यह अग्नि अन्न आदि से पुरोडाश को प्राप्त कर चिरस्थायी हो गया है। सुन्दर अग्निरूप द्युलोकवासी देवगणों ने इस अग्नि को प्रकट किया है ॥ १ ॥

पूर्वस्मिन्नध्याये उखासम्भरणादिमन्त्रा उक्ताः। अथैतस्मिन् द्वादशेऽध्याये उखाधारणादिमन्त्रा उच्यन्ते। 'यजमानः कण्ठे रुक्मं प्रतिमुञ्चते परिमण्डलमेकवि७ँशतिपिण्डं कृष्णाजिननिष्यूतं लोमसु शुक्लकृष्णेषु शणसूत्रे त्रिवृत्योतमुपरिनाभि बहिष्पिण्डं दृशानो रुक्म इति (का० श्रौ० १६।५।१)। यजमानः स्वकण्ठे वर्तुलम् एकविंशतिपिण्डम् एकविंशतिः पिण्डा बिन्दवश्चणकदलसदृशा उन्नताः स्वरूपाद्बहिर्निसृता यस्मिंस्तत्। कृष्णाजिननिष्यूतं कृष्णाजिनखण्डे यस्मिन् प्रदेशे शुक्लानि कृष्णानि च रोमाणि तस्मिन् प्रदेशे निष्यूतं त्रिवृत्योतं त्रिगुणे शणमये सूत्रे ओतं प्रोतं बहिष्पिण्डं बहिरुपरि प्रदेशे पिण्डा बुद्बुदा यस्य तत्, ईदृशं रुक्मं सौवर्णमाभरणं फलकाकारं नाभेरुपरि धारयेत्। साग्निचित्ये द्वादशाहादौ सर्वेषां रुक्मप्रतिमोचनम्। सर्वमेतद्विस्तरशो ब्राह्मणे स्पष्टम्। तच्च पश्चादुद्धरिष्यते।

रुक्मदेवत्या त्रिष्टुप् वत्सप्रीदृष्टा। आदित्याध्यासेन रुक्मः स्तूयते। रुक्म आभरणविशेषः, उर्व्या महत्या दीप्त्या व्यद्यौद् विद्योतते। 'द्युत द्योतने' व्यत्ययेन शपि लुप्ते वृद्धौ लङि रूपम्। कीदृशो रुक्मः? दृशानः दृश्यमानः प्रत्यक्षत उपलभ्यमानः। शानचि शपो लुकि रूपम्। श्रिये यष्टृभ्यः श्रियं दातुं दुर्मर्षमनवखण्डित-मायुर्जीवितं रुचानो वाञ्छन्। रोचते इति रुचानः। रोचतेः शानचि 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) शपो लुकि रूपम्। सोयमग्निर्वयोभिरन्नैः पशुपुरोडाशप्रभृतिभिः। अमृतः अमरणधर्मा अभवत्। यद् यस्माद् द्यौः द्युलोकवासिनीदेवता एनमजनयत् उदपादयत्, तस्मादमृतत्वं युक्तमेव। कीदृशी द्यौः? सुरेताः शोभनं रेतोऽग्निरूपं यस्याः सा।

तथैव ब्राह्मणमाह। तथाहि—'दृशानो रुक्म उर्व्या व्यद्यौदिति। दृश्यमानो ह्येष रुक्म उर्व्या विद्योतते दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचान इति दुर्मरं वा एतस्यायुः श्रियो एष रोचतेऽग्निरमृतो अभवद्वयोभिरिति सर्वैर्वा एष वयोभिरमृतोऽभवद्यदेनं द्यौरजनयदिति द्यौर्वा एतमजनयत् सुरेता इति सुरेता ह्येषा यस्या एष रेतः' (श० ६।७।२।२)। मन्त्रं विधाय व्याचष्टे—दृशानो रुक्म इत्यादिना। आदित्यात्मक एष रुक्मो महद्दीप्त्या विद्योतते। यस्य आयुर्जीवनोपलक्षितः कालः, दुर्मरमविनाश्यम्। यो जगतः श्रिये रोचमानो भवति। शेषं स्पष्टम्।

अत्र 'अद्यौत्' इति प्रयोगे कश्चन प्रत्यवतिष्ठते। स आह—"अद्यौद् द्युतेः 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति सामान्यकाले लुङ्। 'द्युद्भ्यो लुङि' (पा० सू० १।३।९१) इति परस्मैपदम्। 'पुगन्तलघूपधस्य

च' (पा० सू० ७।३।८६) इति गुणप्राप्तौ छान्दसी वृद्धिः । वस्तुतस्तु 'द्यु अभिगमने' इत्येतस्माल्लङि 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' (पा० सू० ७।३।८९) इति वृद्धौ सम्यक्तरं स्यात् । यत्तु सायणभाष्ये ऋग्वेदसंहितायाम् (१।१२२।१५) 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ७।२।१) इति वृद्धिरित्याद्युक्तम्, तत्त्वसाधुः, 'सिचि वृद्धिः' (पा० सू० ७।२।१) इति वृद्धेर्दिगन्तलक्षणत्वात् सर्वथाप्यसम्भवात् । यच्च (ऋ० १०।१११.२) सायणभाष्ये 'श्लेर्लुक् छान्दसः, हलन्तलक्षणा वृद्धिरपि' इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, वृद्धेः सिज्निमित्तत्वात् । न चेह सिज्भवति, श्लेर्लुका तन्निमित्तस्यापहारात् । यदपि सायणभाष्ये (ऋ० १।११३।४) 'व्यत्ययेन श्लेर्लुक्, गुणे प्राप्ते वृद्धिश्छान्दसी' तत्तु सम्यगेव । महीधरोऽप्यस्यैव मन्त्रस्य व्याख्यान आह—'द्युत् द्योतने' व्यत्ययेन शपि लुप्ते वृद्धौ लङि रूपम्' इति तदसत्, वृद्धेरसम्भवात् । गुणस्तु प्राप्तः स केन बाध्यत इति वक्तव्यमासीत्" इति ।

अत्रेदं वक्तव्यम्—श्रीसायणमहीधरयोरभिप्रायमबुद्ध्वैवायमाक्षेपः । यतो हि—'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' (पा० सू० ७।३।८९) इति सूत्रे योगविभागः कर्तव्यः । 'उतो वृद्धिर्लुकि' इति प्रथमो योगः । अङ्गावयवस्योकारस्य वृद्धिः स्याद् लुग्विषये । अत्र अङ्गस्येत्यवयवावयविभावसम्बन्धेनोकारे विशेषणम् । 'सम्भवति सामानाधिकरण्ये क्वचिद् वैयधिकरण्येनाप्यन्वयः' इति नियमेनेष्टानुरोधादियं व्यवस्था । ततश्च द्वितीयो योगः 'हलि' इति । अत्र पूर्वयोगः सम्पूर्णोऽनुवर्तते । अत्रोकारोऽप्यङ्गे भेदसम्बन्धेन विशेषणम् । अतो 'येन विधिस्तदन्तस्य' (पा० सू० १।१।७२) इति तदन्तविधिः । 'नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' (पा० सू० ७।३।८७) इत्यतः 'पिति सार्वधातुके' इति पदद्वयमनुवर्तते । तस्मिन् सार्वधातुके हलि इत्यभेदेन विशेषणम् । अतो 'यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे' इति तदादिविधिः । एवं च हलादिपित्सार्वधातुकाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टं यदुकारान्तमङ्गं तस्यान्त्यालो वृद्धिर्लुग्विषय इति द्वितीययोगस्यार्थः सम्पद्यते । प्रथमेन सामान्ययोगेनैव सिद्धौ द्वितीययोगो व्यर्थ इति चेत्, अत्रोच्यते—द्वितीययोगसामर्थ्येन प्रथमस्य क्वाचित्कत्वं ज्ञाप्यते । योगविभागस्येष्टसिद्ध्यर्थत्वादिष्टस्थलीयमेवेदं क्वाचित्कत्वं न त्वनित्यस्थलीयम् ।

एषा सरणिः 'आतो धातोः' (पा० सू० ६।४।१४०) इत्यादिसूत्रेषु भाष्यकृद्भिः स्पष्टमुक्ता । न तु नवीना सरणिः । फलतः 'अद्यौत्' इत्यत्र लङ् वा भवेत् लुङ् वा भवेद्, तत्र नास्ति विचारणा । श्लेर्लुक् स्यात् शपो वा लुक् स्यादत्रांशेऽस्ति निमित्तता, यतो हीदमुच्यते—लुग्विषय इति । कस्यापि प्रत्ययस्य लुकि लुग्विषयता भवत्येव । एवं च प्रथमेन योगेन 'अद्यौत्' इत्यत्र वृद्धिर्भविष्यति, गुणः प्राप्तोऽनया वृद्ध्या बाधितो भविष्यति, वृद्धेर्विशेषविहितत्वेनापवादत्वात् । नेयम् 'वद-व्रज-हलन्तस्याचः' इति हलन्तलक्षणा वृद्धिरपि तु लुग्विषया । यदि हलन्तलक्षणा वृद्धिरपीति सायणाचार्यस्य लेखस्तदा तस्यात्रैव तात्पर्यं न तु वदव्रजेत्यत्र । अतश्च हलन्तपदघटितं लक्षणं यस्या इति न समासः, अपि तु हलन्तेऽङ्गे ('द्युत्' इत्यादिरूपे) अस्ति लक्षणं स्थानिरूपं कारणं (उकाररूपम्) यस्याः सा इति विग्रहेण लुग्विषयायां वृद्धौ तात्पर्यम् । एवं सति वृद्धेः सिज्निमित्तत्वं स्वीकृत्य मुधैव खण्डनं सायणभाष्यस्य, गुणप्राप्तिं चोद्भाव्य वृथैवाक्षेपो महीधरभाष्ये च । प्रत्युत छान्दसत्वाद् वृद्धिमभ्युपेत्य आक्षेप्ता स्वयमेव पङ्के निमग्नः, अक्लृप्तकल्पनाकरणात् ।

ननु भवन्मतेऽपि योगविभागकल्पना अक्लृप्तकल्पनैव भविष्यतीति चेन्न, भाष्यकृताऽस्य सूत्रस्याव्याख्यातत्वेऽपीदृशप्रकारस्य बहुशः प्रदर्शितत्वात्, वृद्धेश्छान्दसत्वकल्पनापेक्षया अस्याः सरणेः क्लृप्तप्रायत्वात् । उक्तं च भगवता सूत्रकारेण—'दृढः स्थूलबलयोः' (पा० सू० ७।२।२०) इति ।

यत्तु—'द्यु अभिगमने' इत्येतस्माल्लङि शब्लुकि 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' (पा० सू० ७।३।८९) इति वृद्धौ 'अद्यौत्' इति सम्यक्तरं स्यात्' इति, तत्तु अत्यन्तमसाधु । नहि केवलं शास्त्रीयप्रक्रियया शब्दव्युत्पादनमेव

साधुत्वपरिचायकमपि तु अर्थविशेषनियन्त्रितं तद् भवति। यथा व्याकरणदृष्ट्या साधुरप्यश्वशब्दोऽश्व-(दरिद्र)रूपेऽर्थेऽसाधुरेव, भावनारूपेऽर्थे तिङामसाधुतैव, एवं प्रकृतेऽपि दीप्तिरूपेऽर्थे तरयासाधुतैव भविष्यति।

ननु 'अनेकार्था धातवः' इति चेत्, सम्भावितानेकार्था इत्यत्र तात्पर्याभावात्। अन्यथा गच्छतीत्यस्यार्थे पचतीति प्रयोगः स्यात्। कारकाणां विवक्षाधीनत्वेऽपि नहि भवति प्रयोगः—आकाशं पचतीति, प्रामाणिकविवक्षायां तात्पर्यादिति भावः।

मन्त्रार्थं प्रमाणयतीदं ब्राह्मणम्—'दृशानो रुक्म उर्व्या व्यद्यौदिति। दृश्यमानो ह्येष रुक्म उर्व्या विद्योतते दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचान इति दुर्मरं वा एतस्यायुः श्रियो एष रोचतेऽग्निरमृतो अभवद्वयोभिरिति सर्वैर्वा एष वयोभिरमृतोऽभवद्यदेनं द्यौरजनयदिति द्यौर्वा एतमजनयत् सुरेता इति सुरेता ह्येषा यस्या एष रेतः' (श० ६।७।२।२)। स्पष्टार्थं ब्राह्मणम्। पूर्वं प्रतिज्ञातं ब्राह्मणमुद्ध्रियते—'रुक्मं प्रतिमुच्य बिभर्ति। सत्यꣳ हैतद्यद्रुक्मः सत्यं वा एतं यन्तुमर्हति सत्येनैतं देवा अबिभरुः सत्येनैवैनमेतद्बिभर्ति' (श० ६।७।१।१)। यदुक्तं कात्यायनेन—'यजमानः स्वकण्ठे…' (१६।५।१) इत्यादिसूत्रेण, तदिदं वक्तुमादौ रुक्मप्रतिमोकं विधत्ते—रुक्मं प्रतिमुच्य बिभर्तीति। यजमानो रुक्मं सुवर्णमयमाभरणं कण्ठे बद्ध्वा उखां धारयेत्। विहितं रुक्मप्रतिमोचनपूर्वकं धारणं प्रशंसति—सत्यं हैतद्यद्रुक्म इति। अत्यन्ताग्निसंयोगेऽपि नाशादर्शनात् रुक्मस्य सत्यत्वम्। एतमग्निं यन्तुं नियन्तुं सत्यमेवार्हति। देवाः सत्येन सत्यमाश्रयं कृत्वा अबिभरुः भरणमकुर्वन्, उखाभरणं कृतवन्तः।

'तद्यत्तत्सत्यम्। असौ स आदित्यः स हिरण्मयो भवति ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरेषोऽमृतꣳ हिरण्यममृत-मेष परिमण्डलो भवति परिमण्डलो ह्येष एकविꣳशतिनिर्बाध एकविꣳशो ह्येष बहिष्टान्निर्बाधं बिभर्ति रश्मयो वा एतस्य निर्बाधा बाह्यत उ वा एतस्य रश्मयः' (श० ६।७।१।२)। एतद्रुक्मात्मकं सत्यमादित्यात्मना प्रशंसति—तद्यत्तत्सत्यमिति। रुक्मस्य सुवर्णमयतां विधाय प्रशंसति—स हिरण्मयो भवतीति। हिरण्यस्य भास्वररूपत्वाद् ज्योतीरूपत्वम्, तदेव अमृतमविनाशि। एष रुक्मः परिमण्डलो वर्तुलो भवति। तत्रोपपत्तिः—परिमण्डलो ह्येष इति। एष आदित्यः। एकविंशतिनिर्बाध इति। बाधा बिलसहिताः पुलकाः। धारणसमये निर्बाधा यथा बाह्या भवन्ति तथा धारयेत्। निर्बाधस्य बहिर्भावं प्रशंसति—रश्मयो वा एतस्य निर्बाधा इति। एतस्य आदित्यात्मकस्य रुक्मस्य रश्मयः परिमण्डलात्मन आदित्याद्बाह्यत एव भवन्ति तथैव बहिष्टात् निर्बाधं बिभर्ति। 'यद्वेव रुक्मं प्रतिमुच्य बिभर्ति। असौ वा आदित्य एष रुक्मो नो हैतमग्निं मनुष्यो मनुष्यरूपेण यन्तुमर्हत्येतेनैव रूपेणैतद्रूपं बिभर्ति' (श० ६।७।१।३)। रुक्मधारणं प्रशंसति—यद्वेव रुक्मं प्रतिमुच्येति। मानुषेण रूपेणाग्नेर्धारणस्यानुचितत्वाद् एतेन रुक्माख्येन आदित्येन रूपेण एतद् अग्न्यात्मकं रूपं बिभर्ति। 'यद्वेव रुक्मं प्रतिमुच्य बिभर्ति। रेतो वा इदꣳ सिक्तमयमग्निस्तेजो वीर्यꣳ रुक्मोऽस्मिंस्तद्रेतसि तेजो वीर्यं दधाति' (श० ६।७।१।४)। पुनः प्रकारान्तरेण प्रशंसति—यद्वेव रुक्मं प्रतिमुच्येति। अस्याग्ने रेतःसेकस्थानीयत्वमुक्तं प्राक्। रुक्मश्च तेजोरूपं वीर्यम्। अग्ने रुक्मसंयोजनेन रेतस्यग्न्याख्ये तेजो वीर्यमेव स्थापितवान् भवति।

'यद्वेव रुक्मं प्रतिमुच्य बिभर्ति। एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इममिह रक्षाꣳसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तस्मा एतमन्तिकाद् गोप्तारमकुर्वन्नमुमेवादित्यमसौ वा आदित्य एष रुक्मस्तथैवास्मा अयमेतमन्तिकाद् गोप्तारं करोति' (श० ६।७।१।५)। पुनरप्यग्ने रुक्मसंयोगमग्नेर्गोप्तृत्वेन रूपेण प्रशंसति—यद्वेवेति। पुरा देवा इममग्निं नाष्ट्रा नाशकानि रक्षांसि यद्वै येनैव प्रकारेण न हन्युः, एतद् एतेन विषयभूतेन अबिभयुरिति तस्मै अग्नये एतमादित्य-मन्तिकाद् गोप्तारमकुर्वन्। तर्हि मानुषैः कथं गोप्तारं कर्तुं शक्यत इति तत्राह—असौ वा आदित्य एष रुक्म

इत्यादि । 'कृष्णाजिने निष्यूतो भवति। यज्ञो वै कृष्णाजिनं यज्ञो वा एतं यन्तुमर्हति यज्ञेनैतं देवा अबिभरु-यँज्ञेनैवैतमेतद्बिभर्ति लोमतश्छन्दाꣳसि वै लोमानि छन्दाꣳसि वा एतं यन्तुमर्हन्ति छन्दोभिरेतं देवा अबिभरुश्छन्दोभिरेवैनमेतद्बिभर्ति' (श० ६।७।१।६) । कृष्णाजिने नितरां स्यूतः सम्बद्धो भवति। यथा कृष्णाजिनस्योपरि वर्तेत तथा कुर्यात्। यज्ञो वै कृष्णाजिनमिति यज्ञसाधनहविराधारत्वाद् यज्ञ इत्युच्यते। निषीवनमपि लोमप्रदेशे कर्तव्यम् । कृष्णाजिनस्य यज्ञत्वविधानात् तल्लोम्नां यज्ञावयवच्छन्दोरूपत्वं युक्तम्। स्पष्टमन्यत् । 'अभि शुक्लानि च कृष्णानि च लोमानि निष्यूतो भवति। ऋक्सामयोर्हैते रूपे ऋक्सामे वा एतं यन्तुमर्हत ऋक्सामाभ्यामेतं देवा अबिभरुर्ऋक्सामाभ्यामेवैनमेतद्बिभर्ति शाणो रुक्मपाशस्त्रिवृत्तस्योक्तो बन्धुः' (श० ६।७।१।७) । तत्रापि शुक्लकृष्णलोमरेखयोरुपरि निष्यूतेन भवितव्यमिति दर्शयति—अभि शुक्लानी-त्यादिना । उभयविधानां लोम्नामभि उपरि निष्यूतो भवति । ऋक्सामयोर्हैते रूपे इति हशब्दः 'ऋक्सामयोः शिल्पे' (वा० सं० ४।९) इत्यादिमन्त्रप्रसिद्धिद्योतनार्थः । शाणो रुक्मपाशस्त्रिवृदिति रुक्मबन्धनरज्जुः शाणः शणतृणनिर्मितः, त्रिवृत् त्रिगुणितः । 'तमुपरिनाभि बिभर्ति। असौ वा आदित्य एष रुक्म उपरिनाभ्यु वा एषः' (श० ६।७।१।८) । रुक्मधारणप्रदेशं विधाय प्रशंसति—तमुपरिनाभीत्यादिना। एष आदित्य उपरिनाभि नाभेरुपरि प्रदेशे भवति, तत्र मध्ये ध्येयत्वात्, रक्तवर्णनाभेरुपरि वर्तमानत्वाद्वा, जाठरवह्न्यात्मकस्य तस्य नाभेरुपरि वर्तमानत्वाद्वा ।

'यद्वेवोपरिनाभि। अवाग्वै नाभे रेतःप्रजातिस्तेजो वीर्यꣳ रुक्मो नेन्मे रेतःप्रजातिं तेजो वीर्यꣳ रुक्मः प्रदहादिति' (श० ६।७।१।९) । उक्तमुपरिनाभित्वं बहुधा प्रशंसति—यद्वेवोपरीत्यादिना । रेतसः प्रजाति-रुत्पत्तिर्नाभेरर्वाक्प्रदेशे खलु । अतो तेजोवीर्यरूपो रुक्मस्तां प्रजातिं प्रदहेत् । ततो नेद् नेष्टम् । 'नेत्येष इदित्यनेन सम्प्रयुज्यते परिभये' (नि० १।१०) । 'यद्वेवोपरिनाभि । एतद्वै पशोर्मेध्यतरं यदुपरिनाभि पुरीषसꣳहिततरं यदवाङ्नाभेस्तद्यदेव पशोर्मेध्यतरं तेनैनमेतद्बिभर्ति' (श० ६।७।१।१०) । यन्नाभेरुपरिष्टाद्वर्तमानं हृदयादिकं तन्मेध्यतरमर्वाग्देशे यदङ्गं तदत्यन्तं पुरीषेण संहितम् । 'यद्वेवोपरिनाभि । यद्वै प्राणस्यामृतमूर्ध्वं तन्नाभेरूर्ध्वैः प्राणै-रुच्चरत्यथ यन्मर्त्यं पराक्तन्नाभिमत्येति तद्यदेव प्राणस्यामृतं तदेनमेतदभि सम्पादयति तेनैनमेतद्बिभर्ति' (श० ६।७।१।११) । यन्नाभेरुपरिधारणं तदमृतस्योपरिधारणतया प्रशंसन् गतिभेदेन मृतामृतविभागमाह—यद्वै प्राणस्येति । प्राणस्य द्वावंशौ, अमृतांशो मृतांशश्च । तत्रामृताख्यो योंऽशोऽस्ति नाभेरूर्ध्वप्रदेशे स ऊर्ध्वैः प्राणैरुच्चरति उद्गच्छति । यो मर्त्योंऽशः स नाभेः पराग् अवाङ्मुखः सन् नाभिमत्येति अतिगच्छति । विभाग-प्रदर्शनप्रयोजनमाह—तद्यदेवेति । तत् प्राणस्यामृतमंशमेनमभि आयुष्याग्नेरुपरि सम्पादयति । एतद् एतेन नाभेरुपरि सम्पादनेन एनमग्निं तेन अमृतेन बिभर्ति । 'तं तिष्ठन् प्रतिमुञ्चते । असौ वा आदित्य एष रुक्मस्तिष्ठतीव वा असावादित्योऽथो तिष्ठन् वै वीर्यवत्तर उदङ् प्राङ् तिष्ठन्……' (श० ६।७।२।१) । स्पष्टार्थं ब्राह्मणम् । एवं श्रुत्यारूढं सूत्रम् । तस्मान्मुधैव नास्तिकैः सूत्रमतिक्रम्य स्वैरं मन्त्रा व्याख्यायन्ते ।

अध्यात्मपक्षे—यो ब्रह्मात्मबोधरूपो रुक्मो रुक्माभरणवद् दृशानो दर्शनीयरूपः, उर्व्या महत्या दीप्त्या व्यद्यौद् ब्रह्मात्मतत्त्वं विद्योतते प्रकाशयति तदावरणमपाकरोति, यस्य बोधस्य दुर्मर्षमायुर्वेदान्तप्रमाणमूलकत्वेन तस्य निरुपप्लवभूतार्थस्वभावत्वेन विपर्ययादिभिर्बाधितुमशक्यत्वात् । यश्च श्रियो निमित्तं रोचमानः, 'ब्रह्म-विदिव वै सोम्य भासि' (छा० उ० ४।९।२) इति श्रुतेः । यश्च अज्ञानाहङ्कारकर्मादिदाहकत्वादग्निरिव, 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा' (भ० गी० ४।३७) इति गीतोक्तेः । यश्चामृतः, अमृतत्वहेतुत्वाद् वयोभि-रनेकैर्बाल्ययौवनादिभिरनेकजन्मभिरभवत्, 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते' (भ० गी० ७।१९) इति गीतोक्तेः । एवं द्यौः स्वप्रकाशः परमात्मा सुरेताः शोभनानि रेतांसि यस्य सः, भक्तैराराधकैः सन्तुष्टः, अजनयत् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा दृशानो दर्शकः, द्यौर्विज्ञानादिभिः प्रकाशमानः, अग्निः सूर्यः, उर्व्या महत्या पृथिव्या सह सर्वान् मूर्तान् पदार्थान् व्यद्यौत्, तथा यः श्रिये शोभायै रुचानो रोचको रुक्मो दीप्तिमान् जनोऽभवद् भवति, यश्च सुरेताः शोभनानि रेतांसि वीर्याणि यस्य सः, अमृतो नाशरहितः, दुर्मर्षं दुःखेन मर्षितुं सोढुं शीलम् आयुः अन्नम्, 'आयुरित्यन्ननामसु' (निघ० २।७), वयोभिर्याविज्जीवनैः सह यमेनं विद्वांसमजनयत्, तं यूयं सततं सेवध्वम्' इति, तदपि निरर्थकमेव, तादृशविदुषो जनकं सेवध्वमित्यादिपदानां निर्मूलाध्याहार-लभ्यत्वेनाप्रामाणिकत्वात्, अन्येषामपि पदानां व्याख्याने गौणार्थाश्रयणाच्च। न चामृतः कश्चन मनुष्यः सम्भवति। श्रुतिसूत्रविरोधस्तु निगदव्याख्यातः ॥ १ ॥

नक्तोषासा समनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकँ समीची।
द्यावाक्षामा रुक्मो अन्तर्विभाति देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाः ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—हे उखे, समान मन वाले, शुक्ल-कृष्ण के भेद से विलक्षण रूप, परस्पर मिले हुए रात-दिन बालक रूप अग्नि को सुबह-शाम अग्निहोत्र आदि कर्म से तृप्त करते हैं। ऊपर द्युलोक और नीचे भूलोक के मध्य में स्थित रोचमान अग्नि को मैं उठाता हूँ। यज्ञ द्वारा धनरूप फल के दाता देवगणों ने अग्नि को धारण किया है ॥ २ ॥

'परिमण्डलाभ्यामिण्ड्वाभ्यामुखां परिगृह्णाति नक्तोषासेति' (का० श्रौ० १६।५।३)। वर्तुलाभ्यामुखा-धारणसाधनाभ्यामुखां गृह्णीयाद् नक्तोषासेति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमिण्ड्वाभ्यां परिगृह्णाति। असौ वा आदित्य एषोऽग्निरहोरात्रे इण्ड्वे अमुं तदादित्यमहोरात्राभ्यां परिगृह्णाति तस्मादेषोऽहोरात्राभ्यां परिगृहीतः' (श० ६।७।१।२५) इण्ड्वे इति तप्तोखाधारणसाधनभूतौ परिमण्डलौ पदार्थविशेषौ। एकस्यैव तेजसः क्षित्यादिष्वग्न्याद्यात्मनावस्थानाद् एषोऽग्निरेवासावादित्यः, 'त्रेधात्मानं व्यकुरुत' (श० १०।६।५।३) इति श्रुतेः। परिभ्रमत आदित्यस्य पुरस्तादधस्ताच्चावस्थिते अहोरात्रे एवेण्ड्वास्थानीये। 'यद्वेवैनमिण्ड्वाभ्यां परिगृह्णाति। असौ वा आदित्य एषोऽग्निरिमा उ लोकाविण्ड्वे अमुं तदादित्यमाभ्यां लोकाभ्यां परिगृह्णाति तस्मादेष आभ्यां लोकाभ्यां परिगृहीतः परिमण्डले भवतः परिमण्डलौ हीमौ लोकौ मौञ्जे त्रिवृती तस्योक्तो बन्धुर्मृदा दिग्धे तस्यो एवोक्तोऽथो अनतिदाहाय' (श० ६।७।१।२६)। इण्ड्वे अहोरात्रात्मना प्रशस्य द्युपृथिव्याख्यलोकद्वयात्मनापि प्रशंसति—यद्वेवेति। तयोर्वर्तुलत्वं प्रशंसति—परिमण्डले भवत इति। इण्ड्वयोर्मुञ्जविधृतत्वं त्रिवृत्त्वं च विधाय तदर्थवादयुक्तमतिदिशति—तस्योक्तो बन्धुरिति, 'त्रिवृद्ध्यग्निः' (श० ६।३।१।२७) इत्यादिनेत्यर्थः। तयोर्बहिर्दाहपरिहाराय मृद्दिग्धत्वं विधाय तद्वाक्यशेषमप्यतिदिशति—मृदा दिग्धे इत्यादि।

अग्निदेवत्या त्रिष्टुप् कुत्सदृष्टा। अर्धमुखाग्रहणे विनियुक्तम्। नक्तोषासा नक्तं च उषाश्चेति नक्तोषसौ, विभक्तेराकारः संहितायां दीर्घः, रात्रिदिवसौ एकमग्निरूपं शिशुं बालं धापयेते पाययेते। सायंप्रातरग्निहोत्रादि-कर्मभिः तर्पयेते इत्यर्थः। अर्थाद् यजमानकर्तृकमेवाग्निधारणं सम्पादयतः। लुप्तोपमानं द्रष्टव्यम्। शिशुं मातापितराविव। 'धेट् पाने' इत्यस्य णिचि 'आदेच उपदेशेऽशिति' (पा० सू० ६।१।४५) इत्यात्वे पुकि रूपम्। कथम्भूते नक्तोषसौ ? समनसा समनसौ। समानं मनो ययोस्ते, विभक्तेराकारः, एकमनस्के परस्परमैकमत्ययुक्ते। पुनः कथम्भूते ? विरूपे विलक्षणं रात्रिः कृष्णा दिवसः शुक्ल इत्येवं विलक्षणं रूपं ययोस्ते। पुनः कथम्भूते ? समीची समीच्यौ सम्यगञ्चत इति समीच्यौ, सम्यगञ्चने सम्यगन्विते संश्लिष्टे वा। एवंभूते ये नक्तोषसौ

ताभ्यामिण्ड्वारूपाभ्यामुखां गृह्णामीति शेषः। 'हरति द्यावाक्षामेति' (का० श्रौ० १६।५।४)। आहवनीयो-परिस्थामुखामेवमिण्ड्वाभ्यामादाय द्यावेति पादेनासन्दीं प्रति हरतीति सूत्रार्थः। द्यावाक्षामा द्यौश्च द्युलोकश्च क्षामा च पृथिवी चेति द्यावाक्षामा, दिवो द्यावादेशः, विभक्तेर्लोपः, द्यावापृथिव्योरन्तर्मध्ये अन्तरिक्षे च यो रुक्मो रोचमानोऽग्निर्विभाति प्रकाशते तं हरामीति शेषः। 'आहवनीयस्य पुरस्तादुद्गात्रासन्दीवदासन्द्यां चतुरश्राङ्ग्याᳩ शिक्यवत्यां निदधाति देवा अग्निमिति' (का० श्रौ० १६।५।५)। आहवनीयात् पूर्वस्यां दिशि भूमौ स्थापितायामुद्गात्रासन्दीवत् प्रादेशमात्रपाद्यामौदुम्बर्यामरत्निमात्राङ्ग्यां मुञ्जरज्ज्वा व्यूतायां चतुष्कोणायां शिक्ययुक्तायामुखां निदध्यादिति सूत्रार्थः। आसन्द्या उपरि स्थिते शिक्ये आहृतामुखां स्थापयेदित्यर्थः। देवा अग्निमिति मन्त्रेणेति। 'उद्गातासन्द्यां प्रादेशपाद्यायाम्' (का० श्रौ० १३।३।२) इति सूत्राद् उद्गात्रा-सन्दीप्रकारो लभ्यते। देवा दीव्यन्ति व्यवहरन्तीति देवाः प्राणा यजमानस्य एतमग्निं धारयन् अधारयन्। अडभावश्छान्दसः। कीदृशा देवाः? द्रविणोदाः, यागद्वारेण धनरूपं फलं ददति प्रयच्छन्तीति ते तथोक्ताः। यमग्निं द्रविणोदा देवा धारितवन्तस्तमग्निमुख्यमहं धारयामीति शेषः। 'देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदा इत्याह प्राणा वै देवाः' (तै० सं० ५।१।१०।४) इति तैत्तिरीयश्रुतेर्देवशब्देन प्राणा उच्यन्ते।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमिण्ड्वाभ्यां परिगृह्णाति। नक्तोषासा समनसा विरूपे इत्यहोरात्रे वै नक्तोषासा समनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकᳩ समीची इति यद्वै किञ्चाहोरात्रयोस्तेनैतमेव समीची धापयेते द्यावाक्षामा रुक्मो अन्तर्विभातीति हरन्नेतद्यजुर्जपतीमे वै द्यावापृथिवी द्यावाक्षामा ते एष यदन्तरा विभाति तस्मादेतद्धरन् यजुर्जपति देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदा इति परिगृह्य निदधाति प्राणा वै देवा द्रविणोदास्त एतमग्र एवमधारयं-स्तैरेवैनमेतद्धारयति' (श० ६।७।२।३)। अस्याग्नेरिण्ड्वाभ्यां परिग्रहणं विधत्ते—अथैनमिण्ड्वाभ्यामित्यादिना। अत्र प्रथमभागेन अहोरात्रौ विवक्षितौ इति दर्शयति—अहोरात्रे वै नक्तोषासेति। द्वितीयभागेन अहोरात्रकर्तृकं धापनं स्वनिष्ठकृत्स्नप्राणिद्वारेति दर्शयति—यद्वै किञ्चेत्यादिना। तृतीयभागस्य विनियोगमाह—द्यावाक्षा-मेत्यादि। मन्त्रमेनं व्याचष्टे—इमे वै द्यावापृथिवी इति। अन्तराशब्दप्रयोगात् ते इति 'अन्तरान्तरेण युक्ते' (पा० सू० २।३।४) इति सूत्रेण द्वितीया। तस्मादुक्तविनियोगानुकूलार्थत्वात् तद्यजुर्हरणकाले जपेत्। अथ चतुर्थांशस्य विनियोगं दर्शयति—देवा अग्निमिति। द्रविणोदगुणविशेषिता देवा अत्र प्राणा विवक्षिताः। ते एतमग्निमग्रे एवमधारयन्। एतन्मन्त्रेण धृते सति तैरेव एनमग्निं धारयति यजमानः।

कृत्स्नाया ऋचः सायणरीत्यायमर्थः—नक्तोषासा उषःशब्देन कृत्स्नमहर्विवक्ष्यते, रात्र्यहनी। समनसा समानमनसी। विरूपे विविधरूपे, शुक्लकृष्णभेदेन द्वैविध्यात्। समीची सम्यगञ्चने। यथा लोके एकं शिशुं धापयेते हिताचरणेनानुगच्छतः, एवमेकमसहायमग्न्याख्यं शिशुं स्वावस्थितैः प्राणिभिरग्निहोत्रादि-कर्मद्वारेणानुगतं शिशुमग्निं परिगृह्णामीति शेषः। किञ्च, यौ द्यावाक्षामा द्यावापृथिव्यौ, अन्तस्तयोर्मध्ये रुक्मो रोचमानः, अग्निर्विभाति दीप्यते, तमाहरामीति शेषः। यमग्निं द्रविणोदा धनस्य दातारो देवा धारयन् अधारयन् तं धारयामीति शेषः।

अध्यात्मपक्षे—हे नक्तोषासा, मायापरमात्मानौ समनसौ ऐकमत्ययुक्तौ विरूपे विलक्षणस्वभावौ समीची जगतां हितार्थं सम्यग्गतिशीलौ संश्लिष्टौ वा द्यावाक्षामा द्यावापृथिवीरूपौ भरणपोषणप्रकाशाश्रयरूपौ एकमनुपमं ज्ञानरूपं शिशुं धापयेते पोषयतः, ब्रह्मज्ञानरूपे शिशौ मायापरिणाममये ब्रह्मप्रकाशमये तत्रोभयोरप्युपकारकत्वात्। द्यावाक्षामा द्यावापृथिव्योरन्तर्मध्ये यो रुक्मो रोचमानोऽग्निर्ज्ञानाग्निर्विभाति, हे भगवन् तं ज्ञानाग्निं मह्यं प्रयच्छेति शेषः। द्रविणोदा द्रविणस्य शान्तिदान्त्यादिलक्षणस्य दातारो देवा इन्द्रादय इमं ज्ञानाग्निं धारयन् अधारयन् धारितवन्तः। एवं महान्तो धारितवन्तस्तमग्निमिति तत्प्रशस्तिः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यमग्निं विद्युतं द्रविणोदा देवा धारयन् धारयेयुः, यो रुक्मो रुचिकरः सन्नन्तर्बिभाति, यं समनसा समानं मनो विज्ञानं ययोस्ते, विरूपे तमःप्रकाशाभ्यां विरुद्धरूपे, समीची ये सम्यगञ्चत सर्वान् प्राप्नुतस्ते, द्यावाक्षामा प्रकाशभूमी नक्तोषासा नक्तं रात्रिर् उषा दिनं च, ते यथैकं शिशुं द्वे मातरौ धापयेते धापयतस्तथा रक्षतः, तं वर्तमानं भवन्तो विजानन्तु' इति, तदपि विसङ्गतमेव, के दिव्याः प्राणा विद्युतं धारयन्तीत्यस्यानिरूपणाद् द्यावापृथिव्योरेव मातृधात्रीस्थानीयत्वमभिप्रेतम्, तच्च नोपपद्यते, तयोः समनसादिविशेषणासङ्गतेः। न च तयोः समानविज्ञानवेद्यत्वम्, न वा तयोरहोरात्ररूपत्वम्, नोत वा सर्वप्रायत्वम्। श्रुतिसूत्रविरोधश्च सुस्पष्ट एव ॥ २ ॥

विश्वा॑ रू॒पाणि॒ प्रति॑ मुञ्चते क॒विः प्रासा॑वीद् भ॒द्रं द्वि॒पदे॒ चतु॑ष्पदे ।
वि नाक॑मख्यत् सवि॒ता वरे॑ण्योऽनु॑ प्र॒याण॑मु॒षसो॒ वि रा॑जति ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—श्रेष्ठ विद्वान् जगत् के प्रेरक सविता के प्रभाव से सम्पूर्ण जगत् की वस्तुएँ नाना प्रकार के रूपों को धारण करती हैं। सविता देव मनुष्य आदि द्विपदों, गो-अश्व आदि चतुष्पदों, सभी प्रकार के प्राणियों को अपने-अपने व्यवहार को प्रकाशित कर कल्याण की तरफ प्रेरित करता है, स्वर्ग को प्रकाशित करता है। यह सविता देव उषा काल के आगमन के साथ प्रकाशित होता है ॥ ३ ॥

'शिक्यपाशं प्रतिमुञ्चते षडुद्यामं विश्वा रूपाणीति' (का० श्रौ० १६।५।६)। षडुद्यामं उद् ऊर्ध्वं यम्यते नियम्यत यैस्ते उद्यामा रज्जवः, षट् उद्यामा रज्जवः ऊर्ध्वाकर्षणहेतवो यस्य तमासन्दीस्थं शिक्यपाशं यजमानः कण्ठे बध्नातीति सूत्रार्थः। सवितृदेवत्या जगती श्यावाश्वदृष्टा।

'तस्याप एव प्रतिष्ठा। अप्सु हीमे लोकाः प्रतिष्ठिता आदित्य आसञ्जनमादित्ये हीमे लोका रश्मिभिरासक्ताः स यो हैतदेवं वेदैतेनैव रूपेणैतद्रूपं बिभर्ति' (श० ६।७।१।१७)। तस्य शिक्यस्य आप उदकान्येव प्रतिष्ठा आस्पदम्, लोकसृष्टेः प्रागुदकस्य सृष्टत्वात्। शिक्यस्य अधस्ताद्वर्ती उद्यामाधारः पाशरचितोऽवयवविशेषो ग्रामीणभाषायां 'विठयी' इति। स एवात्र प्रतिष्ठाशब्देनोक्तः। आसज्यते बध्यतेऽस्मिन्नित्यासञ्जनं शिक्याधारः काष्ठविशेषः, यद्वा आसज्यत इत्यासञ्जनं शिक्यस्योर्ध्वावयव आदित्योऽत्र तत्स्थानीयः। 'यद्वेवैनमेतच्छिक्येन बिभर्ति। संवत्सर एषोऽग्निर्ऋतवः शिक्यमृतुभिर्हि संवत्सरः शक्नोति स्थातुं यच्छक्नोति तस्माच्छिक्यमृतुभिरेवैनमेतद्बिभर्ति षडुद्यामं भवति षड्ढ्यृतवः' (श० ६।७।१।१८)। प्रकारान्तरेण प्रशंसति—यद्वेवैनं शिक्येन बिभर्तीति। अग्नेः संवत्सररूपत्वं संवत्सरभरणात्। शिक्यस्य स्वाश्रिताधारकत्वनियमात् संवत्सरस्याग्निरूपत्वेन ऋतूनां संवत्सराधारत्वात् शिक्यत्वं युक्तम्।

यः कविः क्रान्तदर्शी विद्वान् वरेण्यः श्रेष्ठः सविता सर्वस्य प्रसविता सूर्यः, विश्वा सर्वाणि रूपाणि प्रतिमुञ्चते द्रव्येषु समवायेन प्रतिबध्नाति सम्बद्धं करोति, यश्च द्विपदे द्विपाद्भ्यो मनुष्येभ्यः, चतुष्पदे चतुष्पाद्भ्यः पश्वादिभ्यो भद्रं कल्याणं स्वस्वव्यवहारप्रकाशनरूपं श्रेयः प्रासावीत् प्रसौति प्रेरयति, यश्च नाकं स्वर्गं व्यख्यद् विख्याति प्रकाशयति, उषस उषःकालस्य प्रयाणं गमनमनु पश्चाद् उषःकाले व्यतीते सति विराजति विशेषेण दीप्यते, उषा सवितुः पुरोगामिनीति सवितुः स्तुतिरेव, ईदृशः सविता शिक्यं प्रतिमुञ्चत्विति शेषः।

यद्वा कविः क्रान्तप्रज्ञ उख्योऽग्निर्विश्वा सर्वाणि रूपाणि प्रतिमुञ्चति, शिक्याख्यरूपस्य बहुदामोपेतत्वात्। उव्वटाचार्यरीत्या तु यः सर्वाणि रूपाणि प्रतिमुञ्चते प्रतिबध्नाति, द्रव्येषु रूपाणि शार्वरं तमोऽपहृत्य प्रकाशयति, द्विपदे मनुष्यादिकाय चतुष्पदे गवादिकाय भद्रं भन्दनीयं कल्याणं प्रासावीत् प्रायच्छत्। सविता सर्वस्य प्रेरयिता वरेण्यः सर्वैर्वरणीयः। नाकं कं सुखम्, न विद्यते कं सुखं यत्र तद् अकम्, नास्ति अकं दुःखं यस्मिस्तद् नाकं स्वर्गम्। 'नभ्राण्नपान्नवेदा....' (पा० सू० ६।३।७५) इति निपातनात् सिद्धम्। व्यख्यत् प्रकाशयति, अन्तरिक्षे धृतत्वात्। तादृशोऽग्निः सविता उषसः प्रयाणं प्रगमनमनु पश्चाद् विराजति दीप्यत इत्यर्थः। उख्याग्नेः सवितुश्चाभेदं विवक्षित्वा ब्राह्मणेन व्याख्यातम्।

तथा च ब्राह्मणम्—'अथ शिक्यपाशं प्रतिमुञ्चते। विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविरित्यसौ वा आदित्यः कविर्विश्वा रूपा शिक्यं प्रासावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पद इत्युद्यन्वा एष द्विपदे च चतुष्पदे च भद्रं प्रसौति वि नाकमख्यत् सविता वरेण्य इति स्वर्गो वै लोको नाकस्तमेष उद्यन्नेवानुविपश्यत्यनुप्रयाणमुषसो विराजतीत्युषा वा अग्रे व्युच्छति तस्या एष व्युष्टिं विराजन्ननूदेति' (श० ६।७।२।४)। उख्याग्नेः सवितृरूपत्वमुच्यते—असौ वा आदित्य इति। ऊर्ध्वाधोदिग्भिरुपेताश्चतस्रो दिशः शिक्यमित्यभिप्रायः। कृत्स्नस्य प्राणिनो भद्रप्रसव उषस उदयेन भवतीति प्रसिद्धमिति दर्शयति—उषा वा अग्रे व्युच्छतीति। तस्या एष व्युष्टिं विराजन्ननूदेति, विराजन्नेष व्युष्टिमनूदेतीति सम्बन्धः।

अध्यात्मपक्षे—कविः क्रान्तोपलक्षितातीतानागतवर्तमानसर्वदर्शनः, वरेण्यः सर्वप्रेमास्पदत्वात् सर्ववरणीयः परमेश्वरः, विश्वा सर्वाणि रूपाणि प्रतिमुञ्चते प्रतिबध्नाति द्रव्याणि रूपसमवेतानि करोति। यश्च द्विपदे चतुष्पदे भद्रं श्रेयः प्रसौति प्रेरयति नाकं मोक्षं व्यख्यत् प्रकाशयति। यश्च उषसोऽभ्युदयनिःश्रेयसलक्षणस्य सुप्रभातस्य प्रयाणं प्रकृष्टमागमनमनुविराजति विशेषेण दीप्यते। भगवतः पुरोगामिनी तादृशी उषा ईदृशः सविता परमेश्वरः स्वरूपप्रकाशेनानुगृह्णात्विति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, वरेण्यो स्वीकर्तुमर्हः कविः क्रान्तदर्शनः सविता जगत्प्रसविता ईश्वरः सूर्यो वा उषसः प्रभातस्य प्रयाणं प्रकृष्टं प्रापणम्, अनुविराजति अनुप्रकाशते। विश्वा सर्वाणि रूपाणि प्रतिमुञ्चते द्विपदे चतुष्पदे नराद्याय गवाद्याय च नाकं सर्वदुःखरहितं व्यख्यत् प्रकाशयति भद्रं भजनीयं सुखं प्रासावीत् उत्पादयति, तमीदृशमुत्पादकं सूर्यं परमेश्वरं वा विजानीत' इति, तदपि न युक्तम्, त्वद्रीत्या सूर्यस्य जडत्वेन ज्ञानवत्त्वाभावेनोत्पादकत्वानुपपत्तेः, प्रतिमुञ्चत इत्यस्य प्रसिद्धयर्थत्वानुपपत्तेश्च। श्रुतौ तु शिक्यप्रतिमोके मन्त्रोऽयं विनियुक्तः।

तथा च ब्राह्मणम्—'अथैनꣳ शिक्येन बिभर्ति। इमे वै लोका एषोऽग्निर्दिशः शिक्यं दिग्भिर्हीमे लोकाः शक्नुवन्ति स्थातुं यच्छक्नुवन्ति तस्माच्छिक्यं दिग्भिरेवैनमेतद्बिभर्ति षडुद्यामं भवति षड्ढि दिशो मौञ्जं त्रिवृत्तस्योक्तो बन्धुर्मृदा दिग्धं तस्यो एवोक्तोऽथो अनतिदाहाय' (श० ६।७।१।१६)। एनमुख्याग्निं शिक्येन बिभर्ति शिक्यवत्यामासन्द्यामुखां बिभर्तीत्यर्थः। उक्तमर्थमधिदैवताध्यात्मभेदेन प्रशंसति—इमे वै लोका इति। उख्याग्नेर्लोकत्रयात्मकत्वमुखाद्वारा—'त्रयो वा इमे लोका इमे लोका उखा इति' (श० ६।५।२।२२), उखायाश्च लोकत्रयात्मकत्वम्—'यो वा एष निधिः प्रथमोऽयꣳ स लोकः' (श० ६।५।२।२२) इत्यादिना प्रागुक्तम्। तस्या दिशः शिक्यम्। किं तत इत्यत आह—दिग्भिर्हीमे लोकाः शक्नुवन्ति स्थातुमिति। तस्माच्छिक्येन भरणं युक्तम्। प्रसङ्गाच्छिक्यनिर्वचनं दर्शयति—यच्छक्नुवन्ति तस्माच्छिक्यम्, स्वाधिष्ठितवस्तुधारणसमर्थत्वात्। शिक्यरूपकल्पनायाः प्रयोजनं दर्शयति—दिग्भिरेवैनमिति। ऊर्ध्वाधोविवक्षया दिशः षट्त्वम्। उद्गतानि यमानि उद्यामानि, तेषां षट्त्वेनोपेतं कर्तव्यम्। यद्वा उद्यमनसाधनत्वादुद्यामशब्देन शिक्यदामान्युच्यन्ते।

'तस्याहोरात्रे एव प्रतिष्ठा । अहोरात्रयोर्ह्ययꣳ संवत्सरः प्रतिष्ठितश्चन्द्रमा आसञ्जनं चन्द्रमसि ह्ययꣳ संवत्सर ऋतुभिरासक्तः स यो हैतदेवं वेदैतेनैव रूपेणैतद्रूपं बिभर्ति तस्य ह वा एष संवत्सरभृतो भवति य एवं वेद संवत्सरोपासितो हैव तस्य भवति य एवं न वेदेत्यधिदेवतम्' (श० ६।७।१।१९) । चन्द्रह्रासवृद्ध्युपाध्यायत्तत्वात् संवत्सरस्य चन्द्रासञ्जनरूपत्वम् । संवत्सरात्मकत्वप्रयुक्तमर्थवादमाह—तस्य ह वा एष संवत्सरभृत इति । य एवमग्नेः संवत्सरात्मकत्वं शिक्यस्य ऋत्वात्मकत्वं च वेद, तस्य एष उख्योऽग्निः संवत्सरभृतः संवत्सरादर्वाचीनकाले धारणेऽपि कृत्स्नं संवत्सरं भृतवान् भवति । उक्तविज्ञानप्रशंसार्थमविज्ञातुरुक्तफलाभावं दर्शयति—संवत्सरोपासितो हैवेति । संवत्सरमुपासित एव भवति, न तूक्तरूपेण भृतः । उक्तवक्ष्यमाणयोः साङ्कर्यपरिहाराय उक्तस्याधिदेवतपरत्वं व्यवस्थापयति—इत्यधिदेवतमिति । 'अथाध्यात्मम् । आत्मैवाग्निः प्राणाः शिक्यं प्राणैर्ह्ययमात्मा शक्नोति स्थातुं यच्छक्नोति तस्माच्छिक्यं प्राणैरेवैनमेतद्बिभर्ति षड्भवति षड्ढि प्राणाः' (श० ६।७।१।२०) । स्पष्टार्थं ब्राह्मणम् । 'तस्य मन एव प्रतिष्ठा । मनसि ह्ययमात्मा प्रतिष्ठितोऽन्नमासञ्जनमन्ने ह्ययमात्मा प्राणैरासक्तः स यो हैतदेवं वेदैतेनैव रूपेणैतद्रूपं बिभर्ति' (श० ६।७।१।२१) । स्पष्टार्थं ब्राह्मणम् ।

'अथैनमुखया बिभर्ति । इमे वै लोका उखेमे वा एतं लोका यन्तुमर्हन्त्येभिरेतं लोकैर्देवा अबिभरुरेभिरेवैनमेतल्लोकैर्बिभर्ति' (श० ६।७।१।२२) । उखयैव धारणं प्रशंसति—अथैनमुखयेति । शेषं स्पष्टम् । 'सा यदुखा नाम । एतद्वै देवा एतेन कर्मणैतयावृतेमाँल्लोकानुदखनन् यदुदखनंस्तस्मादुत्खोत्खा ह वै तामुखेत्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवाः' (श० ६।७।१।२३) । सा स्थाली यदुखा नाम घृतवती, तदभिधीयत इति शेषः । तत्प्रकारमभिनीय दर्शयति—एतेन कर्मणेति । एतेन परिदृश्यमानप्रकारेण । तद् विशिनष्टि—एतयावृतेति । आवृत् प्रकारविशेषः । उत्खन्यमानत्वादुखा । खननं निर्माणम् । स्पष्टमन्यत् । 'तद्वा उखेति द्वे अक्षरे । द्विपाद्यजमानो यजमानोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतद्बिभर्ति सा एव कुम्भी सा स्थाली तत् षट् षड्ऋतवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद् भवति' (श० ६।७।१।२४) । भरणीयामुखां तद्गताक्षरसंख्यया प्रशंसति—तद्वा उखेति द्वे अक्षरे इत्यादिना । उखा, कुम्भी, स्थाली—इति तस्या नाम, मिलित्वा षडक्षराणि भवन्ति । षड्वा ऋतवः । षड्ऋतवः संवत्सर इति ॥ ३ ॥

सुपर्णोऽसि गरुत्माँस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ । स्तोम आत्मा छन्दाꣳस्यङ्गानि यजूꣳषि नाम । साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः । सुपर्णोऽसि गरुत्मान् दिवं गच्छ स्वः पत ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—हे उखास्थित अग्निदेव, तुम ऊर्ध्वगामी होने में समर्थ हो और महान् हो । इसलिये तुम सुन्दर पंख वाले वेगगामी गरुड़ के समान गतिशील बनो । त्रिवृत् स्तोम तुम्हारा शिर है, गायत्री छन्द तुम्हारे नेत्र हैं, बृहत् और रथन्तर साम तुम्हारे दोनों पंख हैं । पंचदश स्तोम तुम्हारा अन्तःकरण है, गायत्री आदि इक्कीस छन्द तुम्हारे हृदय आदि अंग हैं । 'इषे त्वा' आदि यजुर्मन्त्र तुम्हारे नाम हैं. वामदेव्य नामक साम तुम्हारा शरीर है, यज्ञायज्ञिय नामक साम तुम्हारी पुच्छ है, होत्री आदि धिष्ण्यों में स्थित अग्नि तुम्हारे खुरों के नख हैं । इस प्रकार हे अग्निदेव, तुम वेगवान् गरुड़ के समान पक्षी रूप हो । इस कारण आकाश की ओर गमन करो, स्वर्ग लोक की ओर प्रस्थान करो ॥ ४ ॥

'सशिक्यं प्राञ्चं प्रगृह्णाति सुपर्णोऽसीति पिण्डवत्' (का० श्रौ० १६।५।७) । ऊर्ध्वाभ्यां बाहुभ्यां प्राच्यां दिशि शिक्यसहितमुख्यमग्निं पिण्डवद् धारयेत् सुपर्णोऽसीति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः । गरुत्मद्देवत्या विषहन्त्री चतु-

रवसाना विकृतिः। हे अग्ने, त्वं सुपर्णः शोभनं पर्णं पतनं यस्य स पक्षिरूपोऽसि, पक्ष्याकारेण चीयमानत्वात्, 'वयसां वा एष प्रतिमया चीयते यदग्निः' (तै० सं० ५।५।३।२) इति तैत्तिरीयश्रुतेः। तत्र दृष्टान्तः—गरुत्मानिति। यथा पक्षिराजो गरुडस्तद्वदित्यर्थः। तस्यावयवा उच्यन्ते—बहिष्पवमानस्तोत्रे योऽयं त्रिवृत्स्तोमः स तव शिरः शिरःस्थानीयः। प्रजापतिमुखजत्वेनोत्तमं गायत्रं गायत्राख्यं साम चक्षुः चक्षुःस्थानीयम्। बृहद्रथन्तरे तन्नामके सामनी तव पक्षौ पक्षस्थानीये। स्तोम आत्मा पञ्चदशस्तोमस्तवान्तःकरणस्थानीयः। छन्दांसि गायत्र्यादीन्येकविंशतिच्छन्दांसि, अङ्गानि तव हृदयाद्यङ्गस्थानीयानि। यजूंषि इषे त्वेत्यादीनि नाम तव नामस्थानीयानि। वामदेव्यं साम ते तनूः शरीरस्थानीयम्। यज्ञायज्ञियं तन्नामधेयं साम तव पुच्छं पुच्छस्थानीयम्। धिष्ण्या ये सौमिकवेद्यां होत्राः शफास्ते खुरस्थानीयाः। हे अग्ने, एवंभूतस्त्वं गरुत्मानिव सुपर्णः शोभनपतनः पक्षिरूपोऽसि। अतो दिवं दिव्यमाकाशं प्रति गच्छ। तत्रापि स्वः स्वर्गलोकं पत प्राप्नुहि। यद्वा गरुत्मान् गणवान् अशनवानिति।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमतो विकृत्या विकरोति। इदमेवैतद्रेतः सिक्तं विकरोति तस्माद्योनौ रेतः सिक्तं विक्रियते' (श० ६।७।२।५)। सुपर्णोऽसीत्ययं मन्त्रो विकृतिरुच्यते, अग्नेः पक्षपुच्छादिमत्सुपर्णरूपेण तत्र विकारप्रतिपादनात्। एनम् अग्निम्, अतोऽस्मात् पूर्वावस्थितात् सन्निवेशात्। विकारप्रतिपादकमन्त्रेणाभिमन्त्रणमेवात्र विकरणम्। तेनेदमेवोखायां सिक्तमग्न्याख्यं रेतो विकारयुक्तं कृतवान् भवति। तमेवार्थमिदानीन्तनरेतोविकारप्रसिद्ध्या द्रढयति—तस्माद्योनाविति। 'सुपर्णोऽसि गरुत्मानिति। वीर्यं वै सुपर्णो गरुत्मान् वीर्यमेवैनमेतदभिसंस्करोति त्रिवृत्ते शिर इति त्रिवृतमस्य स्तोमꣳ शिरः करोति गायत्रं चक्षुरिति गायत्रं चक्षुः करोति बृहद्रथन्तरे पक्षाविति बृहद्रथन्तरे पक्षौ करोति स्तोम आत्मेति स्तोममात्मानं करोति पञ्चविꣳशं छन्दाꣳस्यङ्गानीति छन्दाꣳसि वा एतस्याङ्गानि यजूꣳषि नामेति यदेनमग्निरित्याचक्षते तदस्य यजूꣳषि नाम साम ते तनूर्वामदेव्यमित्यात्मा वै तनूरात्मा ते तनूर्वामदेव्यमित्येतद् यज्ञायज्ञियं पुच्छमिति यज्ञायज्ञियं पुच्छं करोति धिष्ण्याः शफा इति धिष्ण्यैर्वा एषोऽस्मिंल्लोके प्रतिष्ठितः सुपर्णोऽसि गरुत्मान् दिवं गच्छ स्वः पतेति तदेनꣳ सुपर्णं गरुत्मन्तं कृत्वाह देवान् गच्छ स्वर्गं लोकं पतेति' (श० ६।७।२।६)। विकारमन्त्रमुक्त्वा विभज्य व्याचष्टे—सुपर्णोऽसीत्यादीना। सायणरीत्या ब्राह्मणव्याख्यातस्य मन्त्रस्यायमर्थः—हे अग्ने, त्वं गरुत्मान् प्रबलपक्षोपेतः सुपर्णाख्यः पक्षी असि। यज्ञ एव पक्ष्यात्मनोच्यते— तथाभूतस्य ते त्रिवृत्स्तोमः शिरो मस्तकम्, आदौ स्तूयमानत्वेन मुख्यत्वात्। गायत्र्या शंसितं ते चक्षुः। बृहद्रथन्तरे सामनी ते पक्षौ, सकलयागनिर्वाहकत्वात् तयोः। महाव्रतस्तोत्रवदस्यापि (तै० ब्रा० १।३।६ सा० भा०) पञ्चविंशः स्तोम आत्मा। छन्दांसि गायत्र्यादीनि तेऽङ्गानि। यजूंषि शुक्लकृष्णाख्यानि प्रश्लिष्टवाक्यानि, तत्रत्योऽग्निशब्दस्ते नाम आख्या। वामदेव्यं साम कया नश्चित्र आभुवदित्यस्यामृच्युत्पन्नं साम तनूः शरीरम्। यज्ञायज्ञियं 'यज्ञायज्ञा वो अग्नये' इत्यस्यामृच्युत्पन्नं साम ते पुच्छम् अन्त्यत्वसाम्यात्। धिष्ण्यास्तत्तदायतनस्था अग्नयः शफाः प्रतिष्ठासाधनावयवाः। एवंविधः सुपर्णो गरुत्मानसि, अतस्त्वं दिवं गच्छ। तदेव विशिनष्टि—स्वः पतेति। सुपर्णोऽसीति मन्त्रपाठस्य प्रयोजनमाह—वीर्यमेवैनमिति। सुवर्णात्मना भावनया तस्य वीर्यमेवाभिसंस्कृतवान् भवति। यजुषां कथमग्नेर्नामधेयत्वमित्याशङ्क्य तद् व्याचष्टे—यजूंषि नामेति। यः सर्वैरुच्यमानोऽग्निरिति शब्दोऽस्ति, तस्यापि यजुरन्तःपातित्वाद्यजुष्ट्वम्। तत् तत एव एकस्यापि नाम्नो बहुषु प्रदेशेष्वाम्नातत्वाद् यजूंषीति बहुवचनम्। दिवमित्यनेन तत्रस्था देवा विवक्षिता इति व्याचष्टे—देवान् गच्छेति। तदेनं सुपर्णं गरुत्मन्तं कृत्वा आहेति मन्त्रशेषः। किमाह—देवान् गच्छेत्याद्यर्थमाहेति। अथवा मन्त्रोच्चारयिता सुपर्णोऽसीत्यादिना एनमग्निं सुपर्णं गरुत्मन्तं कृत्वा आह ब्रूते। किमिति—देवान् गच्छेति।

'तं वा एतम्। अत्र पक्षपुच्छवन्तं विकरोति यादृग्वै योनौ रेतो विक्रियते तादृग्जायते तद्यदेतमत्र पक्षपुच्छवन्तं विकरोति तस्मादेषोऽमुत्र पक्षपुच्छवान् जायते' (श० ६।७।२।७)। उक्तविकारं पक्षपुच्छाद्यात्मकं भाविनोऽग्निजननस्य उपयोगितया प्रशंसितुमनुवदति—तं वा एतमिति। वक्ष्यमाणोपयोगिनं लोकन्यायं दर्शयति—यादृगिति। यादृग्विधं रेतः सिच्यते तादृग्जायत इति लोकमर्यादा। यद् यस्मात् पक्षपुच्छवन्तं विकरोति, अत्र उखाधारणसमये। तस्मादेषोऽग्निरमुत्राहवनीयदेशे चयनानन्तरं तादृगेव जायते, चयनेन सुपर्णाकार एव जायत इत्यर्थः। अनेनाभिमन्त्रणचयनयोर्वैसादृश्याभाव उक्तः। 'तमेतया विकृत्या। इत ऊर्ध्वं प्राञ्चं प्रगृह्णात्यसौ वा आदित्य एषोऽग्निरमुं तदादित्यमित ऊर्ध्वं प्राञ्चं दधाति तस्मादसावादित्य इत ऊर्ध्वः प्राङ् धीयते परोबाहु प्रगृह्णाति परोबाहु ह्येष इतोऽथैनमुपावहरति तमुपावहृत्योपरिनाभि धारयति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ६।७।२।९)। इतोऽस्माद् धृतप्रदेशात् प्राञ्चं प्राङ्मुखं सूर्यस्याग्नेश्च मध्ये यथा व्यवधानं न भवति तथेत्यर्थः। तत्प्रशंसति—असौ वा आदित्य एषोऽग्निरिति। अग्नेरादित्यात्मकत्वमुक्तमेव। आदित्यस्य प्रागूर्ध्वगतिप्रसिद्धया उक्तार्थमुपोद्बलयति—तस्मादसावादित्य इति। प्रग्रहणे प्रकारविशेषमाह—परोबाहु प्रगृह्णातीति। बाह्वोः पर ऊर्ध्ववर्ती यथा भवति तथेत्यर्थः। एष आदित्य इतो भूस्थानात् परोबाहु सर्वेषां बाह्वोरूर्ध्वप्रदेशवर्तित्वात् तदभिन्नस्याप्यस्य तथा ग्रहणं युक्तमित्यर्थः। बाह्वोरुपरि धृतस्याग्नेः प्रत्यवरोहणम्, तदनन्तरं नाभेरुपरिप्रदेशे धारणं च विधत्ते—अथैनमुपावहरतीति। उपरिनाभिधारणार्थवादो रुक्मधारणप्रस्ताव उक्तः। तदेवोक्तं कात्यायनेन—'स शिक्यं प्राञ्चं प्रगृह्णाति सुपर्णोऽसीति पिण्डवद् धारणं चेति' (का० श्रौ० १६।५।७-८)। चशब्दोऽवधारणे। उखार्थं मृत्पिण्डधारणं यथा तथैवोख्यमग्निं धारयेदित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन्, त्वं चित्याग्निरूपेण यज्ञरूपेण प्रबलपक्षोपेतः सुपर्णपक्षिरूपोऽसि। तथाभूतस्य ते त्रिवृत्स्तोमः शिरो मस्तकम्, सर्वात्मकस्य परमेश्वरस्य चित्याग्नियज्ञादिरूपेण स्तूयमानत्वात्। शेषं पूर्ववत्।

'वरूत्रीष्ट्वा देवीः। विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वच्छ्रपयन्तूख इति वरूत्रीर्हैतामग्रे देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽङ्गिरस्वच्छ्रपयाञ्चक्रुस्ताभिरेवैनामेतच्छ्रपयति तानि ह तान्यहोरात्राण्येवाहोरात्राणि वै वरूत्रयोऽहोरात्रैर्हीदꣳ सर्वं वृतमहोरात्रैरेवैनामेतच्छ्रपयति' (श० ६।५।४।६)। 'ग्नास्त्वा देवीः। विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽङ्गिरस्वत्⋯पेचुस्ताभिरेवैनामेतत्पचति तानि ह तानि छन्दाꣳस्येव छन्दाꣳसि वै ग्नाश्छन्दोभिर्हि स्वर्गं लोकं गच्छन्ति छन्दोभिरेवैनामेतत् पचति' (श० ६।५।४।७)। 'जनयस्त्वाऽच्छिन्नपत्रा देवीः। विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वत्पचन्तूख इति जनयो हैतामग्रेऽच्छिन्नपत्रा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽङ्गिरस्वत्पेचुस्ताभिरेवैनामेतत्पचति तानि ह तानि नक्षत्राण्येव नक्षत्राणि वै जनयो ये हि जनाः पुण्यकृतः स्वर्गं लोकं यन्ति तेषामेतानि ज्योतीꣳषि नक्षत्रैरेवैनामेतत् पचति' (श० ६।५।४।८)। 'स वै खनत्येकेन। अवदधात्येकेनाभीन्ध एकेन श्रपयत्येकेन द्वाभ्यां पचति तस्माद् द्विः संवत्सरस्यान्नं पच्यते तानि षट् सम्पद्यन्ते षड् ऋतवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद् भवति' (श० ६।५।४।९)। खननादिमन्त्रगतां संख्यामनूद्य प्रशंसति—स वै खनत्येकेनेत्यादिना। खननादिक्रिया त्वेकेनैव मन्त्रेण, पाकस्य तु मन्त्रद्वयसाध्यत्वम्, तस्यार्थवादः—तस्माद् द्विः संवत्सरस्येत्यादि। शाल्यादिपरिपाकः संवत्सरस्य द्विर्भवतीति प्रसिद्धम्। षड् ऋतवो मिलित्वा संवत्सरो भवति, स संवत्सरोऽग्निः। प्रजापतिना संवत्सरो ध्रियमाणो भवति। तावत्तद् भवतीति नैमित्तिकचित्या सह चितीनामप्यवयवानां षट्त्वात् सा मन्त्रगता संख्या ऋतुसंख्याद्वारेणाग्नेर्मात्रया समा भवति। चित्यात्मकस्याग्नेः स्वरूपस्यैकत्वाद्

ऋतु(षट्)संख्यावतोऽवयविनः संवत्सरस्याप्येकत्वाच्च सा मन्त्रगता संख्या संवत्सरद्वारेण अग्निर्यावान् तावती भवतीत्यर्थ इति सायणाचार्यः ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यतस्ते तव त्रिवृत् त्रीणि कर्मोपासनाज्ञानानि वर्तन्ते यस्मिंस्तत् । शिरः शृणाति हिनस्ति दुःखानि येन तत् । गायत्रं गायत्र्या विहितं विज्ञानं चक्षुर्नेत्रमिव बृहद्रथन्तरे बृहद्भी रथैस्तरन्ति दुःखानि याभ्यां सामभ्यां ते पक्षौ पार्श्वाविव । स्तोमः स्तोतुमर्हं ऋग्वेद आत्मा स्वरूपं छन्दांसि उष्णिगादीनि अङ्गानि श्रोत्रादीनि । यजूंषि यजुःश्रुतयः नाम आख्या । यज्ञायज्ञियं यज्ञाः सङ्गन्तव्या व्यवहारा अयज्ञास्त्यक्तव्याश्च तान् यदर्हति तत् । वामदेवेन दृष्टं विज्ञापितं वा साम तृतीयो वेदस्ते तव तनूः शरीरम् । तस्मात्त्वं गरुत्मान् गुर्वात्मा वा गरणवान् 'गुर्वात्मा महात्मेति वा' (नि० ७।१८) । सुपर्णः शोभनानि पर्णानि लक्षणानि यस्य सः । यस्य धिष्ण्या दिधिषन्ति शब्दयन्ति यैस्ते धिषाणः खुरोपरिभागाः, तेषु साधवो धिष्ण्याः शफाः खुराः । दीर्घं पुच्छमस्ति तद्वद् योगः सुपर्णोऽस्यास्ति स इव त्वं दिवं दिव्यं विज्ञानं गच्छ प्राप्नुहि । स्वः सुखं पत गृहाण' इति, तदपि न किञ्चित्, मनुष्ये विदुषि तेषां विशेषणानामसङ्गतेः, त्रिवृत्पदस्य कर्मादिव्यवहारार्थत्वे मानाभावात्, त्रयाणां ब्रह्मादीनां ग्रहणसम्भवेन तादृशार्थत्वे विनिगमनाविरहाच्च । शिर इति पदमपि न तथार्थकम्, शृणातेरतथार्थत्वात् । गायत्री छन्दोमात्रम्, न केवलेन छन्दसा किञ्चिद्विज्ञानं प्रकाश्यते, एवमेव रथन्तरादिशब्दार्थोऽपि विशेषेण आसमन्ताद् जिघ्रतीति व्याघ्र इति निर्वचनवदुपहासास्पदम्, त्रिवृद्रथन्तरादिशब्दानां वैदिकसाहित्ये स्तोम-सामविशेषार्थेषु प्रसिद्धत्वात् । दीर्घं पुच्छमित्यादिकमसङ्गतमेव । श्रुतिसूत्रविरोधस्तु स्पष्ट एव ॥ ४ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा गायत्रं छन्द आरोह पृथिवीमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽस्यभिमातिहा त्रैष्टुभं छन्द आरोहान्तरिक्षमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽस्यरातीयतो हन्ता जागतं छन्द आरोह दिवमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽसि शत्रूयतो हन्तानुष्टुभं छन्द आरोह दिशोऽनु विक्रमस्व ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—हे प्रथम पादविन्यास, तुम यज्ञाग्नि के शत्रुघाती क्रम हो, इस कारण अनुग्रह कर गायत्री छन्द को स्वीकार करो, फिर भूदेवता रूप इस भूमि के प्रदेश को विशेष रूप से प्राप्त करो । हे द्वितीय पादविन्यास, तुम उखा अग्नि के पापनाशक क्रम हो, त्रिष्टुप् छन्द को अनुग्रह कर स्वीकार करो और अन्तरिक्ष स्थान में पहुँच जाओ । हे तृतीय पादविन्यास, तुम उखाग्नि के लिये धन न ले आने वालों के नाशक हो, तुम जगती छन्द के सहारे द्युलोक में जाकर वहाँ उत्तम स्थान प्राप्त करो । हे चतुर्थ पादविन्यास, तुम उखाग्नि के प्रति शत्रुता करने वालों का नाश करते हो, अनुष्टुप् छन्द की सहायता से तुम आरोहण करो । हे अग्निदेव, तुम सभी दिशा-विदिशाओं में परिव्याप्त हो जाओ ॥ ५ ॥

'विष्णुक्रमान् क्रमते विष्णोरिति प्रतिमन्त्रम्, अग्न्युद्ग्रभणं च तस्मिंस्तस्मिन्' (का० श्रौ० १६।५।११-१२) । विष्णुक्रमसंज्ञकान् पादन्यासान् कुर्यात् । तस्मिंस्तस्मिन् क्रमणे उख्यस्याग्नेरूर्ध्वं ग्रहणं च कुर्यात्, प्रतिविष्णुक्रमणमुख्यस्याग्नेः सशिक्यस्य सेण्ड्वाभ्यां हस्ताभ्यामूर्ध्वीकरणं च स्तोकं स्तोकं कुर्यात् । तत्र प्रथमं दक्षिणपादेन क्रमणं कृत्वा अग्निं स्तोकं नाभिदेशादूर्ध्वं कुर्यात् । पुनः क्रमणं कृत्वा पुनरपि किञ्चिदुद्गृह्णीयात् । एवं तृतीयवारं

कुर्यादिति सूत्रार्थः। चतुर्थवारं तु न क्रमणमिति वक्ष्यति—'अक्रमश्चतुर्थे' (का० श्रौ० १६।५।१३) इति सूत्रेण। चत्वारि यजूंष्यग्निदेवत्यानि। ऋग्बृहतीछन्दस्कानि त्रीणि चतुर्थं प्राजापत्या बृहती।

हे प्रथमपादविन्यास, त्वं विष्णोर्यज्ञस्याग्नेः क्रमोऽसि। सपत्नहा सपत्नान् शत्रून् हतवानिति, शत्रुघातकश्च। अतो गायत्रं छन्द आरोह अनुग्राहकत्वेन स्वीकुरु। ततः पृथिवीमनुक्रम विक्रमस्व भूदेवतारूपमिमं प्रदेशं विशेषेण प्राप्नुहि। हे द्वितीयपादविन्यास, त्वं विष्णोः क्रमोऽसि, अभिमातिहा अभिमातिघातकः शत्रुः पाप्मा वा तं हतवानिति। त्रैष्टुभं छन्द आरोह अनुग्राहकत्वेन स्वीकुरु। अन्तरिक्षप्रदेशं व्याप्नुहि। हे तृतीयपादविन्यास, विष्णोः क्रमोऽसि, अरातीयतो हन्ता रातिर्दानं तदभावोऽरातिः, तमात्मन इच्छतीत्यरातीयन्, तस्य हन्ता, दानप्रतिबन्धकस्य शत्रोर्घातकोऽसीत्यर्थः। जागतं छन्द आरोह द्युलोकं व्याप्नुहि। हे चतुर्थपादविन्यास, त्वं विष्णोः क्रमोऽसि, शत्रूयतो हन्ता। शत्रुत्वं हन्तृत्वमिच्छतीति शत्रूयति, शत्रूयतीति शत्रूयन्, तस्य। क्यजन्तात् शता। आनुष्टुभं छन्द आरोह। अत्र चतुर्ष्वपि पादविन्यासेषु यजमान आत्मनो विष्णुत्वं भावयन् चतुर्णां प्रक्रमाणां प्रदेशान् पृथिव्यादिलोकरूपत्वेन भावयेत्। 'दिशोऽनुवीक्षते दिशोऽनुविक्रमस्वेति' (का० श्रौ० १६।५।१४)। मन्त्रावृत्त्या सर्वा दिशोऽनुपश्येत्। यजुरुष्णिक्। हे अग्ने, त्वं दिशोऽनुविक्रमस्व प्राच्यादिदिशो व्याप्नुहि। अत्र सर्वान् यज्ञप्रयोगान् वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णुरिति व्युत्पत्त्या सर्वयज्ञप्रयोगव्यापकस्य यजमानस्य विष्णुत्वमुक्तम्। यद्वा विष्णोर्व्यापकस्य परमेश्वरस्याभेदभावनया यजमानः स्वात्मानं विष्णुं मन्यमान आह—हे पादविन्यास, त्वं विष्णोः क्रमोऽसीति।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथ विष्णुक्रमान् क्रमते। एतद्वै देवा विष्णुर्भूत्वेमाँल्लोकानक्रमन्त यद्विष्णुर्भूत्वाऽक्रमन्त तस्माद्विष्णुक्रमास्तथैवैतद्यजमानो विष्णुर्भूत्वेमाँल्लोकान् क्रमते' (श० ६।७।२।१०)। अथ विष्णुक्रमणं विधाय तन्निर्वचनद्वारेण प्रशंसति—अथ विष्णुक्रमानिति। विष्णुभूतैर्देवैः क्रान्तत्वाद् विष्णुक्रम इति नाम सम्पन्नम्। यथा देवैस्तथैव एतद् एतेन समन्त्रकपादाक्रमणेन इमान् लोकान् विष्णुर्भूत्वा क्रान्तवान् भवति यजमानः। 'स यः स विष्णुर्यज्ञः सः। स यः स यज्ञोऽयमेव स योऽयमग्निरुखायामेतमेव तद्देवा आत्मानं कृत्वेमाँल्लोकानक्रमन्त तथैवैतद्यजमान एतमेवात्मानं कृत्वेमाँल्लोकान् क्रमते' (श० ६।७।२।११)। ननु यजमानस्य कथं विष्णुभावेनाक्रमणं सङ्गच्छते, इत्याशङ्क्याह—स यः प्रसिद्धो विष्णुरस्ति स यज्ञः। पुनश्च स यः प्रसिद्धो यज्ञः, अयमग्निरेव। अयमिति कः ? य उखायां वर्तते सोऽग्निरेव विष्णुरित्यर्थः। प्रतिपादितस्य विष्णोः स्वरूपप्राप्तिं देवानां दर्शयति—एतमेव तद्देवा इति। तथैवैतद्यजमान इत्यादिकं स्पष्टम्। उखाग्निं धृत्वा क्रमणमेव विष्णुक्रमणमित्युक्तं भवति। 'उदङ् प्राङ् तिष्ठन्। एतद्वै तत्प्रजापतिर्विष्णुक्रमैरुदङ् प्राङ् तिष्ठन् प्रजा असृजत तथैवैतद्यजमानो विष्णुक्रमैरुदङ् प्राङ् तिष्ठन् प्रजाः सृजते' (श० ६।७।२।१२)। क्रमणं विधाय प्रशंसति—उदङ् प्राङित्यादिना। अत्र लोकत्रयप्रतिनिधित्वेन त्रिवाराक्रमणम्, तस्य त्रयो मन्त्राः। दिशो विक्रमार्थं पादाक्रमणाभावेऽप्येको मन्त्रः।

'विष्णोः क्रमोऽसीति। विष्णुर्हि भूत्वा क्रमते सपत्नहेति सपत्नान् ह्यत्र हन्ति गायत्रं छन्द आरोहेति ···पृथिवीमनु विक्रमस्वेति पृथिवीमनु विक्रमते प्रहरति पादं क्रमत ऊर्ध्वमग्निमुद्गृह्णात्यूर्ध्वो हि रोहति' (श० ६।७।२।१३)। अत्र सायणाचार्यः—आक्रम्यमाण पादनिधानस्थान, त्वं विष्णोः क्रमोऽसि। मनुष्यस्य मम कीदृशस्त्वं सपत्नहा सपत्नानां हन्ता तथाविधस्त्वं गायत्रं छन्द आरोह, आरूढः सन् पृथिवीं भूलोकं सकलं विक्रमस्व आक्रमणं कुरु। विष्णोः क्रमोऽसीत्येतत् प्रसिद्धमेवेति तद् दर्शयति—विष्णुर्हि भूत्वेति। अत्र आक्रमणकाले सपत्नान् शत्रून् हन्ति हिनस्ति खलु, अतः सपत्नहा इति विशेषणं युक्तम्। गायत्रं छन्दः पृथिवीमन्विति ब्राह्मणं स्पष्टम्। क्रमणप्रकारमाह—प्रहरति पादमिति। पादं पुरोदेशं प्रति नयेत्। नीत्वा च क्रमते पादं प्रक्षिपेत्। तदनन्तरमग्निमूर्ध्वं नाभेरुपरिदेशं प्रति उद्गृह्णीयाद् ऊर्ध्वमुखं गृह्णीयात्। हि यस्माद् ऊर्ध्वो

भूलोकादुपरिदेशं प्रति रोहति विष्णुक्रमणेन, अतोऽग्नेरप्यूर्ध्वदेशं प्रापणं युक्तमित्यर्थ इति। विष्णोः क्रमोऽसीति। विष्णुर्हि भूत्वा क्रमते शत्रूयतो हन्तेति शत्रूयतो ह्यत्र हन्त्यानुष्टुभं छन्द आरोहेत्यानुष्टुभं छन्द आरोहति दिशोऽनु विक्रमस्वेति सर्वा दिशोऽनु वीक्षते न प्रहरति पादं नेदिमांल्लोकानतिप्रणश्यानीत्यूर्ध्वमेवाग्निमुद्गृह्णाति सᳯं ह्यारोहति' (श० ६।७।२।१६)। दिग्विक्रमणे विशेषमाह—दिशोऽनुविक्रमस्वेति। सर्वा दिशोऽनुवीक्ष्य पादं न प्रहरेत्। पादप्रक्षेपाकरणस्य प्रयोजनमाह—नेदिमानिति। नेद् इति परिभये, एतेषां त्रयाणां लोकानामतिक्रमः परिभयम्। अतस्त्वकर्तव्यमिति तस्याभिप्रायः। पादप्रहारवद् अग्नेरुद्ग्रहणस्यापि निवृत्तिप्रसक्तावाह—ऊर्ध्वमेवाग्निमिति। एवशब्दो भिन्नक्रमः, उद्गृह्णात्येव। तत्र प्रयोजनं दर्शयति—संह्यारोहतीति। समारोहणसम्भवात् तत्प्रयोज्यमप्युद्ग्रहणं कर्तव्यमेवेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे आत्मन्, त्वं विष्णोर्व्यापनशीलस्य परमात्मनः क्रमोऽसि, क्राम्यत्यनेनेति क्रमश्चरणः, चरणाश्रितोऽसि, तदाश्रयेण सपत्नान् लौकिकान् शत्रून् हन्तीति तथोक्तः। त्वं गायत्रं छन्दोऽनुग्राहकत्वेन स्वीकुरु। पृथिवीं भूदेवतारूपामिमां विक्रमस्व। पृथिव्युपलक्षितं स्थूलदेहं विक्रान्तं कुरु, तत्रात्मभावं परित्यज्य ब्रह्मात्मभावं गच्छ। विष्णोः क्रमोऽसि, अभिमातिहा पाप्महासि। त्रैष्टुभं छन्द आरोह। अन्तरिक्षं वायुप्रधानं सूक्ष्मदेहं विक्रमस्व विक्रान्तं कुरु, तत्रात्मभावं परित्यज। विष्णोः क्रमोऽसि, अरातीयतः कामादेर्हन्ता, जागतं छन्द आरोह। दिवं द्युलोकोपलक्षितं कारणदेहं विक्रमस्व। विष्णोः क्रमोऽसि शत्रूयतोऽज्ञानाहङ्कारादेर्हन्तासि, आनुष्टुभं छन्द आरोह, दिशः सर्वा दिशः सर्वोपलक्षितं शरीरत्रयकारणमज्ञानं विक्रमस्व।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, त्वं विष्णोर्व्यापकस्य परमेश्वरस्य क्रमो व्यवहारः, व्यवहारेण शोधकोऽसि सपत्नहा गायत्रं छन्दो गायत्रीनिष्पन्नमर्थं स्वच्छं पदार्थमारोह आरूढो भव। पृथिवीं पृथिव्यादिकं व्यवहर पृथिव्यादिपदार्थानुकूलं व्यवहारं कुरु। यस्मात्त्वं विष्णोर्व्यापकस्य कारणस्य क्रमः कार्यरूपोऽस्यभिमानिनां हन्ता, अतस्त्रैष्टुभं त्रिभिः सुखैः सम्बद्धं छन्दो बलप्रदं वेदार्थमारोह गृहाण आकाशमनुकूलव्यवहारे योजय, यतस्त्वं विष्णोर्व्याप्तिशीलस्य विद्युद्रूपाग्नेः क्रमो ज्ञातासि, अरातीयतो विद्यादिदानविरोधिपुरुषस्य हन्तासि, अतो जागतं जगज्ज्ञानहेतुं छन्दः सृष्टिविद्यां बलप्रदं विज्ञानमारोह प्राप्नुहि। दिवं सूर्यमग्निं वा अनुविक्रमस्व उपयुक्तं कुरु, यतस्त्वं विष्णोर्हिरण्यगर्भस्य वायोः क्रमो ज्ञापकः। शत्रूयतां हन्ता आनुकूल्येन सुखसम्बन्धहेतुमानन्दकारकं वेदभागम् आरोह उपयोजय दिशामनुकूलं प्रयत्नं कुरु' इति, तदपि निरर्थकमेव, शब्दमर्यादातिक्रमेण यथेष्टार्थाङ्गीकारात्, श्रुतिसूत्रातिक्रमणाच्च ॥ ५ ॥

अक्रन्ददग्निः स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन्।
सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धो अख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आकाश में मेघ के समान गर्जना करते हुए तुम पृथ्वी का आस्वादन करो। वृक्षों को अंकुरित करता हुआ अग्नि प्रदीप्त होता है। जो भी उसके पास रहता है, उसको विज्ञानसम्पन्न और प्रसिद्ध कर देता है, द्यावापृथिवी के मध्य में रश्मि के द्वारा प्रकाशित होता है ॥ ६ ॥

'पिण्डवत् प्रागुदञ्चं प्रगृह्णात्यक्रन्ददग्निरिति' (का० श्रौ० १६।५।१५)। ऊर्ध्वबाहुः प्रागूर्ध्वमग्निम् अक्रन्ददग्निरिति मन्त्रेण गृह्णातीति सूत्रार्थः। अग्निदेवत्या त्रिष्टुप् वत्सप्रीदृष्टा। अग्निर्देवः, द्यौरिव द्युलोकस्थः पर्जन्य इव, स्तनयन् गर्जन् शब्दं कुर्वाणः, अक्रन्दत् क्रन्दति विस्फूर्जति। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू०

३।४।६) इति कालसामान्ये लङ् । द्यौःशब्देन द्युलोकस्थः पर्जन्य उच्यते । 'स्तनगदी देवशब्दे' चुरादिरदन्तः । क्षामा क्षामां पृथिवीम् । 'सुपां सुलुक्·······' (पा० सू० ७।१।३९) इति विभक्तिलोपः । क्षामेति पृथिवीनामसु । अथवा द्वितीयार्थे प्रथमा । रेरिहत् 'लिह आस्वादने' इत्यस्य यङ्लुगन्ताच्छतृप्रत्ययः, लकारस्य रेफश्छान्दसः । अत्यन्तं लेढीति लेलिहत्, 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (पा० सू० ७।१।७८) इति नुमभावः । यथा पर्जन्य उदकभावमुपगच्छन्नत्यर्थं पृथिवीं लेढि आस्वादयति, तद्वदयमग्निः पृथिवीमत्यर्थमास्वादयति । वीरुध ओषधीः स्वकीयज्वालासमूहेन समञ्जन् व्याप्नुवन् । अन्यदपि साधर्म्यमुच्यते हि यस्मात् सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धो अख्यत्, अर्थाद् यथा पर्जन्यः सद्य एव जायमानोऽभ्ररूपेण इद्धः सन् इदं सर्वं धारासहस्रैर् व्यख्यद् विख्यापयति, वीत्युपसर्गस्य ख्यातिना सम्बन्धः, अख्यदित्यन्तर्भूतणिजर्थो ज्ञेयः, एवमयमग्निः सद्य एव जायमान इद्धो दीप्तः सन् इदं सर्वं रश्मिसहस्रैर्विख्यापयति प्रकाशयति । आरोदसी भानुना भात्यन्तः, यथा पर्जन्यो भानुना विद्युद्रूपेण रोदसी द्यावापृथिव्योरन्तरा स्थित आभाति, एवमयमग्निर्भानुना ज्वालया दीप्त्या द्यावापृथिव्योरन्तर्व्यवस्थित आभाति आसमन्तात् प्रकाशते । ईमिति पादपूरणार्थः ।

यद्वा अयमग्निरक्रन्दद् अस्मदनिष्टनिवारणार्थं गर्जतु । किमिव ? स्तनयन्निव द्यौः । यथा द्युलोकस्थः पर्जन्यो गर्जनेन सस्यशोषणभीतिं निवारयति, तद्वत् । किं कुर्वन् ? क्षामदाहकमस्मद्विरुद्धम् आरेरिहत् समन्ताद् लेलिहानः, वीरुधः समञ्जन् पुष्पलतावदस्मदनुकूलानि सम्यगभिव्यञ्जन् हि यस्माद् जज्ञान उत्पद्यमानः सद्य इदानीमिव इद्धो दीप्तो व्यख्यद् विविधं जगत् प्रकाशयति । रोदसी द्यावापृथिव्योरन्तर्भानुना रश्मिना स्वयमासमन्ताद् भाति । यद्वा अत्राग्निपर्जन्ययोरौपचारिक उपमानोपमेयभावः । क्षामा अवर्षणेन क्षयकारी पर्जन्यात्मा अग्नी रेरिहन् भृशं लिहन् वीरुधो लतागुल्मादीन् समञ्जन् सम्यगार्द्रीकुर्वन् अक्रन्दद् गर्जति । अथवा ब्राह्मणानुसारेण वीरुधः समनक्तीति व्याख्येयम् । पर्जन्यात्मा अग्निः सद्यस्तदानीमेव जज्ञानो जायमान इद्धः समिद्धः सन् इदं सर्वं विख्यापयति । अन्यत् पूर्ववत् ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अक्रन्ददग्निः स्तनयन्निव द्यौरिति । क्रन्दतीव हि पर्जन्यः स्तनयन् क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन्निति क्षामा वै पर्जन्यो रेरिह्यमाणो वीरुधः समनक्ति सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धो अख्यदिति सद्यो वा एष जज्ञान इदꣳ सर्वं विख्यापयत्या रोदसी भानुना भात्यन्तरितीमे वै द्यावापृथिवी रोदसी ते एष भानुना भाति परोबाहु प्रगृह्णाति परोबाहु हि पर्जन्यः' (श० ६।७।३।२) । प्रथमपादं व्याचष्टे—पर्जन्योऽन्याख्यः स्तनयन् वृष्टिलिङ्गशब्दं कुर्वन् क्रन्दतीव आक्रोशतीव वर्तते । क्षामशब्देनात्र पर्जन्यो विवक्षित इति व्याचष्टे—क्षामा वै पर्जन्य इति । स्पष्टमन्यत् । परोबाहु प्रगृह्णातीति सार्थवाद उख्याग्निधारणप्रस्तावे (श० ६।७।२।९) इत्यत्र प्रोक्त एव ।

अध्यात्मपक्षे—यथा द्यौर्द्युलोकस्थः पर्जन्यो रामोऽग्निरिव राक्षसादिदाहकोऽरीन् विनाशयन् पर्जन्यनिनादं करोति, पर्जन्यो यथोदकभावमुपगच्छन् क्षामां पृथिवीमत्यर्थं लेढि आस्वादयति, वीरुध ओषधीः समञ्जन् व्याप्नुवन् गर्जति, तथैव रामोऽग्निरपि क्षामां जगतीं प्रपञ्चभूमिं तत्रत्याश्च वीरुधो लतागुल्मादिस्थानीयाः प्रजाः समञ्जन् व्याप्नुवन् आप्याययन् गर्जति । हि यस्मात् पर्जन्यः सद्यस्तदानीमेव जज्ञानो जायमान इद्धो दीप्तः सन् व्यख्यद् आप्याययति यथा, तथैवाग्निः सद्यो जज्ञानमिदं सर्वं विविधं प्रपञ्चं प्रकाशयति । पर्जन्यो यथा रोदसी रोदस्योर्द्यावापृथिव्योरन्तर्मध्ये भानुना विद्युद्रूपेण भाति, एवमग्निर्भगवानपि स्वप्रकाशेन चिद्रूपेण प्रतापेन व्यक्तरूपेण भाति । यथा पर्जन्यः क्षामां पृथिवीमास्वादयति, तथैवाग्निः श्रीराम ईं चिद्रूपिणीं कामकलां सीतां समञ्जन् स्वरूपेण तां व्यञ्जन् सम्यक् स्नेहयन् गर्जतीत्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यः सभेशः सद्यो जज्ञानः समानेऽह्नि जज्ञानः प्रादुर्भूतः सन् द्यौः सूर्यप्रकाशोऽग्निर्विद्युत् स्तनयन्निव यथा दिव्यं शब्दं कुर्वन् अरीन् अक्रन्दत् प्राप्नोति, यथा क्षामा पृथिवी वीरुधो वृक्षान्, तथा प्रजाभ्यः सुखानि रेरिहद् भृशं फलानि ददाति, यथा सवितेद्धः समञ्जन् सम्यक् प्रकाशयन् रोदसी द्यावापृथिव्यौ व्यख्यत् प्रकाशयति, भानुना स्वदीप्त्या अन्तर्मध्ये वर्तमानः सन् आभाति प्रकाशते, तथा यः शुभगुणकर्मस्वभावैः प्रकाशते, तं हि राजकर्मसु प्रयुङ्ध्वम्' इति, तदप्युपेक्ष्यम्, निर्मूलाध्याहारादिपुरस्कारेण व्याख्यातत्वात्। तथाहि—अक्रन्ददित्यस्य प्राप्नोतीति व्याख्यानं निर्मूलमेव, 'क्रदि आह्वाने रोदने च' इति विरोधात्, 'क्रदि वैकल्ये' इति विरोधाच्च। यत्तु वैदिकनिघण्टौ द्वाविंशशतं गत्यर्था इति यास्करीत्या गत्यर्थता युक्तेति, तत्तुच्छम्, गत्यन्तराभावे तादृशपक्षस्य ग्रहीतुं योग्यत्वात्। रेरिहदित्यस्य दानार्थतापि निर्मूलैव। रिहन्ति लिहन्ति स्तुवन्ति वर्धयन्ति पूजयन्ति—इत्यादिकं त्वार्षव्याख्यानात्तथाभ्युपेयते। न त्वनृषिणा तथा स्वैरं व्याख्यातुं शक्यते। 'ईम्' इति पदं तु त्यक्तमिति तदप्ययुक्तम्। किञ्च, दार्ष्टान्तिकस्य मूलमन्त्रेऽभावादेव सर्वा अपि कल्पनाः कल्पनामात्रमेव ॥ ६ ॥

अग्ने॑ऽभ्यावर्तिन्न॒भि मा॒ नि व॑र्त॒स्वायु॑षा॒ वर्च॑सा प्र॒जया॒ धने॑न स॒न्या॑ मे॒धया॑ र॒य्या पोषे॑ण ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—हमारे संमुख आने के स्वभाव वाले, गमनागमन में समर्थ हे अग्निदेव परमात्मन्, आप हमें आयु, तेज, कान्ति, सन्तान, इष्टलाभ, धारणावती बुद्धि और सुवर्ण आदि अलंकार प्रदान कीजिये ॥ ७ ॥

'अवहरत्यग्नेऽभ्यावर्तिन्निति' (का० श्रौ० १६।५।१६)। ऋक्चतुष्टयेन चतुर्वारमुख्याग्निमात्मसमीपं स्तोकं स्तोकं नीचैः कुर्यादिति सूत्रार्थः। अग्निदेवत्योर्ध्वबृहती द्वादशार्णत्रिपादा। हे अग्ने अभ्यावर्तिन्, अभि आभिमुख्येनावर्तितुं शीलमस्यास्तीत्यभ्यावर्ती तत्सम्बुद्धौ, अस्मदभिमुखागमनशील! मामभि मां प्रति आयुषा अपमृत्युरहितेन जीवनेन वर्चसा ब्रह्मतेजसा ब्राह्मबलेन वा प्रजया पुत्रादिरूपया धनेन वसुना सन्या इष्टलाभेन मेधया श्रुतार्थधारणशक्तिमत्या बुद्ध्या रय्या सौवर्णालङ्कारादिना पोषेण तेषामेवायुरादीनां पुष्ट्या निवर्तस्व शीघ्रमागच्छ। यद्वा हे अग्ने, आयुरादिभिः सह मामभिलक्ष्य निवर्तस्व आवर्तस्व।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमुपावहरति। एतद्वै योऽस्मिल्लोके रसो यदुपजीवनं तेनैतत्सहोर्ध्व इमाँल्लोकान् रोहत्यग्निर्वा अस्मिल्लोके रसोऽग्निरुपजीवनं तद्यावत्तावदेव स्यान्न हास्मिल्लोके रसो नोपजीवनꣳ स्यादथ यत्प्रत्यवरोहत्यस्मिन्नेवैतल्लोके रसमुपजीवनं दधाति' (श० ६।७।३।३)। ऊर्ध्वं धृतस्याग्नेरवरोहणं सार्थवादं दर्शयति—अथैनमुपावहरतीति। योऽस्मिल्लोके रसः सारभूतोंऽशः, यच्च सर्वप्राणिनामुपजीवनम्, एतत्सर्वम् एतद्वै अग्निः खलु। यद्वा एतदिति वक्ष्यमाणार्थस्य सामान्यतः संगृह्याभिधानम्। तेन स्वभूतेनोपजीवनेन च सह यजमान एतद् एतेनाग्नेरूर्ध्वप्रापणप्रकारेण ऊर्ध्वम् इमाँल्लोकान् आरोहति। यो रसो यदुपजीवनं चोक्तं तद्विशिनष्टि—अग्निर्वा इति। अग्ने रसत्वमुपजीवनत्वं च दाहपाकाद्युपकारितया सर्वप्रसिद्धम्। तत् पूर्वोक्तं यद् यदि तावदेव ऊर्ध्वं धृतमेव स्यात्, तर्हि अस्मिल्लोके रसोपजीवने न स्तः। अथ आरोहणानन्तरं यद् यदि प्रत्यवरोहत्यस्मिन् पृथिव्यां रसमुपजीवनं चोभयं भूलोके पुनः स्थापयति। 'यद्वेव प्रत्यवरोहति। एतद्वा एतदिमाँल्लोकानित ऊर्ध्वो रोहति स स पराङिव रोह इयमु वै प्रतिष्ठा तद्यत्तावदेव स्यात्प्र हास्माल्लोकाद्यजमानश्च्यवेताथ यत्प्रत्यवरोहतीमामेवैतत् प्रतिष्ठामभिप्रत्यैत्यस्यामेवैतत्प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति' (श० ६।७।३।४)। प्रकारान्तरेण

प्रत्यवरोहणं प्रशंसति– यद्वेव प्रत्यवरोहतीति । ऊर्ध्वो रोहति विष्णुक्रमव्याजेन । स पराङ् प्रतिनिवृत्तो रोह आरोहणम् । एवं लोकानां बहुत्वमपेक्ष्य स स इति वीप्साप्रतिरूपे । अथ आरोहणानन्तरं भूलोकं प्रति प्रत्यारोहणाभावेन प्रच्युतिः स्यात् । ह प्रसिद्धौ । शेषं पूर्वब्राह्मणव्याख्याने स्पष्टम् ।

'यद्वेव प्रत्यवरोहति । एतद्वा एतदिमाँल्लोकानित ऊर्ध्वो जयति स स पराङिव जयो यो वै पराङेव जयत्यन्ये वै तस्य जितमन्ववस्यन्त्यथ य उभयथा जयति तस्य तत्र कामचरणं भवति तद्यत्प्रत्यवरोहतीमानेवैतल्लोकानितश्चोर्ध्वानमुतश्चार्वाचो जयति' (श० ६।७।३।५) । पुनः प्रकारान्तरेण तदेव प्रशंसति --यद्वेवेत्यादिना । अस्तु पराजयस्तस्य को बाध इत्यत आह—अन्ये वै तस्येत्यादि । अन्ये शत्रवस्तस्य जितं स्थानम्, अन्ववस्यन्ति अनुक्रमेण क्राम्यन्ति । अथोक्तवैपरीत्येन यद्युभयथा जयति पराजितं पुनः प्रत्यङ् गमयतीत्यर्थः । तस्य उभयथा जयवतस्तत्र जितप्रदेशे कामचरणं भवति, अन्यैरप्रतिबद्धत्वात् । उभयथा जयप्रकारमाह --तद्यत्प्रत्यवरोहतीति । इतश्च ऊर्ध्वान् अस्माद् भूलोकादुपर्युपर्यवस्थितान् पराङ् प्रापणेन जयति । अमुतश्चार्वाचोऽमुष्माद् द्युलोकाद् अधोवर्तिनो लोकान् प्रत्यकचरणेन जयति । 'अग्नेऽभ्यावर्तिन् । अभि मा निवर्तस्वाग्ने अङ्गिरः पुनरूर्जा सह रय्येत्येतेन मा सर्वेणाभिनिवर्तस्वेत्येतच्चतुष्कृत्वः प्रत्यवरोहति चतुर्हि कृत्व ऊर्ध्वो रोहति तद्यावत्कृत्वः....प्रत्यवरोहति तमुपावहृत्योपरिनाभि धारयति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ६।७।३।६) । आरोहणस्य यथा आरोह्यस्थानभेदेन मन्त्रचतुष्टयं 'विष्णोः क्रमोऽसि' इत्यादिकमुक्तम्, एवमवरोहणीयानामपि दिकसहितानां लोकानांच तुष्टवादेवावरोहणस्यापि मन्त्रचतुष्टयस्य प्रतीकमुपादाय संगृह्य तात्पर्यमाह—अग्नेऽभ्यावर्तिन्नित्यादिना । 'अग्ने अङ्गिरः शतं ते सन्त्वावृतः' इति द्वितीयः, 'पुनरूर्जा निवर्तस्व' इति तृतीयः, 'सह रय्या निवर्तस्व' इति चतुर्थः । एतेन सर्वेण मन्त्रेण यावन्त आयुर्वर्चःप्रभृतय उक्ताः, तेन सर्वेणापि सहितो निवर्तस्वेत्येतत् सर्वमन्त्रेषु प्रतिपादितम्, न ततोऽधिकमित्यर्थः । स्थानभेदेनैव यत्सिद्धं प्रत्यवरोहणम्, तदनूद्य प्रशंसति --चतुष्कृत्वः प्रत्यवरोहतीति । तत्रोपपत्तिमाह—चतुर्हि कृत्व इति । तमुपावहृत्य पूर्वं यस्मिन्नाभिप्रदेशे धृतं तत्रैव धारयेत् । उक्तमुपरिनाभिधारणार्थवादमतिदिशति -- तस्योक्तो बन्धुरिति । रुक्मधारणप्रस्तावे (श० ६।७।१।६-११) उक्त इत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अभ्यावर्तिन्, भक्तानामाभिमुख्येनावर्तितुं शीलमस्येत्यभ्यावर्ती, तत्सम्बुद्धौ । यथा वत्सला गौर्वत्साभिमुख्येन धावति, तथैव भगवानपि भक्ताभ्यावर्तनशीलो भवति, भक्तानां वैमुख्येन भगवानपि पराङ् गच्छति, भक्तानां साम्मुख्ये तु तस्याभिनिवर्तनं युक्तमेव । भगवतः पराग्गमनमायुरादिप्रक्षयहेतुर्भवति, तदभ्यावर्तनं तु दीर्घायुष्यादिहेतुर्भवति । अत एवाह—आयुषा वर्चसेत्यादिकम् । एतच्च पूर्ववद् व्याख्येयम् । यद्वा आयुरत्र अबन्ध्यमायुः । तच्च भगवत्परायणत्वादिनैव सम्भवति । वर्चो भगवदाराधनजनितं तेजः, प्रजा भगवद्भक्तपुत्रशिष्यादिरूपाः, तादृशेनैव पुत्रादिना प्रजावत्त्वोपपत्तेः । धनं ज्ञानध्यानादिकम् । सनिर् अभीष्टप्रीतिलाभः । मेधा भगवद्गुणगणधारणक्षमा बुद्धिः । रयिः शमादिसम्पत्तिः । पोषो धनादिपुष्टिः । एतैरायुरादिभिः सह हे भगवन्, मामभिलक्ष्य निवर्तस्व शीघ्रमेवागच्छेत्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे अभ्यावर्तिन् अग्ने, पुरुषार्थिन् विद्वन् ! त्वमायुषा चिरञ्जीवनेन वर्चसा अन्नाध्ययनादिना प्रजया सन्तानेन सन्या सर्वासां विद्यानां संविभागकर्त्र्या मेधया प्रज्ञया रय्या विद्याश्रिया पोषेण पुष्ट्या सहाभिनिवर्तस्व मां च तैः संयोजय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पुरुषार्थिन् विद्वन्निति कथमभ्यावर्तिपदस्यार्थः ? आभिमुख्येनाभिवर्तनशीलस्याविदुषोऽपि सम्भवात् । अभिनिवर्तस्वेत्युक्तिः परागुगमनशीलस्य तन्निवृत्तिपूर्वकमाभिमुख्येनागमनाय युज्यते, न च त्वदुक्तेऽर्थे तत्सम्भवति । मां चैतैः संयोजयेत्युत्सूत्रमेव ॥ ७ ॥

अग्ने॑ अङ्गिरः श॒तं ते॑ सन्त्वा॒वृतः॑ स॒हस्र॑ त उपा॒वृतः॑ ।
अधा॒ पोष॑स्य॒ पोषे॑ण॒ पुन॑र्नो न॒ष्टमाकृ॑धि॒ पुन॑र्नो र॒यिमाकृ॑धि ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ— हे श्रेष्ठ अंगवाले अग्निदेवता, आपकी गमनागमन शक्ति और निवृत्ति शक्ति सैकड़ों-हजारों हैं । इसलिये हम प्रार्थना करते हैं कि हमारी शतसंख्यक आवृत्ति शक्तियों की समृद्धि को लाखों गुना बढ़ा दीजिये, हमारे व्यय हुए धन को फिर ला दीजिये । हमारे पूर्व अर्जित धन की रक्षा कीजिये, अर्थात् आवृत्ति शक्ति के प्रभाव से हमें असंख्य धन का अधिकारी बनाइये और उपावृत्ति शक्ति के प्रभाव से नष्ट हुए धन को पुनः प्राप्त कराइये ॥ ८ ॥

आग्नेयी महाबृहती । एकः पादो द्वादशार्णः, चत्वारोऽष्टार्णाः । हे अङ्गिरः, अङ्गानां रसभूत अङ्गसौष्ठवोपेत हे अग्ने, ते तव शतं शतसंख्याकाः, आवृत आवृत्तिशक्तयः सन्तु, तथा ते तव सहस्रं सहस्रसंख्याकाः, उपावृत उपावृत्तिशक्तयः सन्तु । स्वस्यैवावर्तनमावृत् । तव समीपवर्तिनां पुरुषाणां द्रव्यविशेषाणां चावर्तनमुपावृत्तिः । अस्मासु स्नेहातिशयेन त्वं पुनः पुनरावर्तस्व । त्वदीयाः पुरुषास्त्वदीयानि चेष्टानि द्रव्याणि पुनः पुनरावर्तन्ताम् । अधेत्यव्ययमथार्थे । 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) इति संहितायां दीर्घः । अथैवं भूयोभूयः करणेन आवर्तमानः पोषस्य पोषेण अनवच्छिन्नधनागमेन सह पुनर्नोऽस्माकं नष्टं धनम्, आकृधि आगमय । पुनर्नो रयिं धनं पुनरागमय । करोतिरत्र गतिकर्मा । शतसहस्रसंख्यानामावृत्त्युपावृत्तिशक्तीनां यः पोषः समृद्धिः, तस्यापि पोषस्यान्यः पोषोऽयुतलक्षादिसंख्याकाभिवृद्धिः, तादृशेन पोषेण नोऽस्मदीयं नष्टं धनं पुनर्भूयोऽप्याकृधि आवृत्तं कुरु आगमय । पुनर्भूयोऽपि नोऽस्मदीयं पूर्वमसम्पादितं धनमाकृधि सर्वतः सम्पादितं कुरु । करोतिर्गतिकर्मा । 'श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि' (पा० सू० ६।४।१०२) इति हेर्धिः । व्यत्ययेन शपो लुक् ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, अङ्गिरो दिव्याङ्गसौष्ठवयुक्त श्रीराम, ते तव आवृत आवृत्तयः शतमनन्ता उपावृतस्त्वदीयानां भक्तानां पार्षदानां भरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्न-हनुमदादीनां प्रेमानुरागादिभावानां च सहस्रं सहस्रसंख्याका उपावृत्तयोऽपरिमिताः सन्तु भवन्तु । अस्मासु स्नेहानुग्रहातिशयेन पुनः पुनरावर्तस्व, त्वदीयाश्च पुनः पुनरावर्तन्तामित्यर्थः । अधा अथापि च शतसहस्रसंख्याकानामावृत्त्युपावृत्तीनां यः पोषस्तेन नोऽस्मदीयं नष्टं ज्ञानध्यानादिकं पुनर्भूयोऽपि आकृधि, पुनर्भूयोऽपि नोऽस्मदीयं पूर्वमसम्पन्नं ज्ञानध्यानादिकं धनमाकृधि आगमय ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, अङ्गिरो विद्वन्, यस्य पुरुषार्थिनस्ते तव अग्नेरिव आवृत्तिरूपाः क्रियाः सहस्रं ते तव उपावृतो ये भागा उपावर्तन्ते ते सन्तु । अथ त्वमेतैः पोषस्य पोषकस्य जनस्य पोषेण पालनेन नष्टमप्यदृष्टं विज्ञानमासमन्तात् कृधि कुरु' इति, तदपि न किञ्चित्, तादृशसम्बोधनस्य निर्मूलत्वात् । आवृत्तिरूपाः क्रिया इत्यपि सापेक्षमेव, कस्यावृत्तय इत्यनुक्तेः । उपावृत्तिशब्दस्य ये भागा उपावर्तन्त इत्यर्थोऽपि निर्मूल एव । श्रुतिसूत्रविरोधश्च सुस्पष्टः ॥ ८ ॥

पुन॑रू॒र्जा नि व॑र्तस्व॒ पुन॑रग्न इ॒षायु॑षा । पुन॑र्नः पा॒ह्यꣳहसः ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ — हे अग्निदेवता, आप हमारे यहाँ क्षीर आदि रसों के साथ पधारिये, अन्न और आनन्दमय जीवन के साथ आप फिर आइये और आकर हमारी सभी पापों से रक्षा कीजिये ॥ ९ ॥

आग्नेय्यौ द्वे गायत्र्यौ । हे अग्ने, त्वमूर्जा दधिक्षीरादिरसेन सह निवर्तस्व पुनरागच्छ । पुनश्च हे अग्ने, इषा अन्नेन सह आयुषा दीर्घजीवनेन च सह पुनरागच्छ । आगतस्त्वं नोऽस्मान् पुनः कृतादंहसः पापात् पाहि ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वमूर्जा त्वदीयनैवेद्ययोग्येन दध्याद्युपसेचनेन सह निवर्तस्व। इषा अन्नेन त्वदाराधनोपयोगिना आयुषा अवन्ध्यजीवनेन च सह आगच्छ। प्रमादकृतादंहसः पापात् पाहि।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, त्वं नोऽस्मान् अंहसः पापाद् निवर्तस्व पुनरस्मान् पाहि, पुनरिषा आयुषा ऊर्जा प्रापय' इति, तदपि न, मनुष्यमात्रस्य पापाद्रक्षकत्वानुपपत्तेः, सहयोगे तृतीयासम्भवेऽपि स्वातन्त्र्येण विपरिणामेन वा अन्वयानुपपत्तेः॥ ९॥

सह र॒य्या नि व॑र्तस्वाग्ने॒ पिन्व॑स्व॒ धार॑या। वि॒श्वप्स्न्या॑ वि॒श्वत॒स्परि॑॥ १०॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप धूम के साथ स्वर्ग में जाइये और सब प्रकार से उपभोग-योग्य वृष्टि रूप जल की वर्षा से सम्पूर्ण जगत् को—तृण, धान्य, लता और वृक्षों को आप्यायित कीजिये॥ १०॥

हे अग्ने, रय्या धनेन सह निवर्तस्व। किञ्च, धारया वृष्टिरूपया जलधारया विश्वतस्परि सर्वेषां तृणधान्यलतापादपानामुपरि पिन्वस्व सिञ्च। पिन्वतिः सेचनार्थः। कथम्भूतया धारया? विश्वप्स्न्या विश्वैः प्सायते भक्ष्यते पीयत इति विश्वप्स्नी, तया। 'प्सा भक्षणे'। यद्वा सर्वजनोपभोग्यया धनधारया सर्वतः परि सर्वतोऽधिगतैरर्थैः पूर्यमाणया पिन्वस्व सिञ्च, अनवच्छिन्नधनदानेन पुनः पुनराप्यायस्व।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने प्रभो, ध्यानज्ञानसम्पत्त्या रय्या सह निवर्तस्व आगच्छ। विश्वप्स्न्या विश्वैः प्सायते उपभुज्यत इति विश्वप्स्नी, तया सर्वविश्वसुखहेतुभूतया धारया कृपावृष्टिधारया विश्वतः परि सर्वेषां भक्तानामुपरि पिन्वस्व सिञ्च।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, त्वं दुष्टाद् व्यवहाराद् निवर्तस्व। विश्वप्स्न्या विश्वं सर्वं भोग्यं वस्तु प्सायते भक्ष्यते यया तादृश्या धारया, धरति सकला विद्या यया सा तया वाचा रय्या धनेन विश्वतः सर्वतः, परि धारेति वाङ्नामसु (निघ० १।११), पिन्वस्व सेवस्व' इति, तदपि न किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। दुष्टव्यवहारेषु विदुषः प्रवृत्त्यसम्भवेन तन्निवारणवैयर्थ्यात्। दुष्टव्यवहारवत्त्वे कथं वा विद्वत्त्वम्? न च सर्वं भोग्यं वस्तु वाचा भक्ष्यते, गन्धरूपादीनां तदयोगात्॥ १०॥

आ त्वा॑हार्षम॒न्तर॑भूर्ध्रु॒वस्ति॒ष्ठावि॑चाचलिः।
विश॑स्त्वा॒ सर्वा॑ वाञ्छन्तु॒ मा त्वद्रा॒ष्ट्रमधि॑ भ्रशत्॥ ११॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आपको मैं यहाँ ले आया हूँ। अत्यन्त अचल होकर आप इस उखा के मध्य में निवास करें, हमारी सम्पूर्ण प्रजा आपकी इच्छा करे, हमारा राज्य आपसे शून्य कभी न हो॥ ११॥

'उपरिनाभि धारयन्ना त्वाहार्षमित्यभिमन्त्रयते' (का० श्रौ० १६।५।१७)। नाभेरुपरि उख्याग्निं धारयंस्तमभिमन्त्रयते आ त्वेति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। आग्नेयी अनुष्टुप् ध्रुवदृष्टा। हे अग्ने, अहं त्वां द्युलोकाद् मध्यदेशं प्रति आहार्षम् आहृतवानस्मि। आङ्पूर्वस्य हरतेर्लुङि उत्तमैकवचने रूपम्। त्वं च अन्तर् देहस्य मध्ये नाभ्या उपरि अभूः। अन्तर् उखामध्ये वा अभूर् अवस्थितोऽसि। अतो ब्रवीमि त्वं ध्रुवः स्थिरः तिष्ठ। कीदृशस्त्वम्? अविचाचलिः विचलतीति विचाचलिः, न विचाचलिरविचाचलिः, यङन्तादिन्, अत्यन्तं चलनरहितः। सर्वा विशः प्रजास्त्वा त्वां वाञ्छन्तु। यद्वा सर्वा विशः सर्वाण्यन्नानि त्वामुपतिष्ठन्तु, 'अन्नं वै विशः' (श० ६।७।३।७) इति श्रुतेः। इदं राष्ट्रं त्वत् त्वत्तः सकाशाद् मा अधिभ्रशद् मा प्रभ्रश्यतु, अयं

जनपदस्त्वत्तः शून्यो मा भूत्, अस्मिन् राष्ट्रे स्थित्वा सर्वाः प्रजाः पाहीत्यर्थः। यद्वा श्रीस्त्वत्तो मा भ्रश्यत्, 'श्रीर्वै राष्ट्रम्' (श० ६।७।३।७) इति श्रुतेः। 'भ्रंशु अधःपतने' पुषादित्वात् च्लेरङ्, 'न माङ्योगे' (पा० सू० ६।४।७४) इत्यडभावः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमभिमन्त्रयते। आयुर्वा अग्निरायुरेवैतदात्मन् धत्त आ त्वाऽहार्षमित्या ह्येनᳪ हरन्त्यन्तरभूरित्यायुरेवैतदन्तरात्मन् धत्ते ध्रुवस्तिष्ठाऽविचाचलिरित्यायुरेवैतद् ध्रुवमन्तरात्मन् धत्ते विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्त्वित्यन्नं वै विशोऽन्नं त्वा सर्वं वाञ्छत्वित्येतन्मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशदिति श्रीर्वै राष्ट्रं मा त्वच्छ्रीरधिभ्रशदित्येतत्' (श० ६।७।३।७)। अभिमन्त्रणं विधत्ते—अथैनमिति। अथ नाभ्युपरिधारणानन्तरम् आयुर्वा अग्निरिति यावन्तं कालं जाठराग्निर्जठरेऽस्ति तावत्पर्यन्तमायुषोऽवस्थानात्, आयुषोऽग्निनिमित्तत्वाद् आयुर्वा अग्निरित्युच्यते। तत्र मन्त्रं विधाय व्याचष्टे—आ त्वाहार्षमिति। आ ह्येनं हरन्तीति आ त्वाहार्षमित्यस्य मन्त्रभागस्याभिप्रायः। अन्तरभूरित्येतस्य तात्पर्यकथनम्—आयुरेवैतदन्तरात्मन् धत्त इति। द्वितीयपादेन तस्यायुषो ध्रुवत्वप्रार्थनम्। अन्नदातृत्वाद् अन्नोपजीवित्वाद्वा अन्नं वै विश इत्युक्तम्। अतो विशामन्नरूपत्वात् सर्वा विश इत्यस्य अन्नं सर्वं वाञ्छन्त्वित्येतदेव व्याख्यानम्। राष्ट्रवृद्धिभावाभावस्य श्रियोऽन्वयव्यतिरेकायत्तत्वात् श्रीर्वै राष्ट्रमित्युपचारेणाह।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने भगवन् राक्षसवनकृशानो राम, अहं त्वां साकेतलोकाद् अहार्षं हृदयप्रदेशमाहृतवानस्मि। त्वमन्तर्देहस्य मध्ये हृदये अभूर् अवस्थितोऽसि। अविचाचलिर् अत्यन्तं निश्चलो ध्रुवः स्थिरो हृदये मदीये तिष्ठ। सर्वा विशः प्रजा भक्ताः सर्वे वा अन्नं भोग्यं वस्तु त्वां वाञ्छन्तूपतिष्ठन्तु। त्वत् त्वत्तः सकाशाद् राष्ट्रं सर्वमनन्तकोटिब्रह्माण्डात्मकं राज्यं मापगच्छतु। ऐश्वर्यमाधुर्यसारसर्वस्वाधिष्ठात्री श्रीर्वा माधिभ्रशद् मापगच्छतु।

दयानन्दस्तु—'हे शुभगुणलक्षण सभेश राजन्, त्वा राज्यपालनायाहम्, अन्तः सभामध्ये आहार्षं हरेयम्। त्वमन्तः सभामध्ये अभूर् भवेः। अविचाचलिः सर्वथा निश्चलो ध्रुवो न्यायेन राज्यपालने निश्चितस्तिष्ठ स्थिरो भव। सर्वा विशस्त्वा वाञ्छन्तु। त्वत् तव सकाशाद् राष्ट्रं राज्यं मा अधिभ्रशद् न नश्यादित्यर्थः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, श्रुतौ शिव इत्यनेनान्नं राष्ट्रमित्यनेन श्रीरित्युक्तत्वेन तद्विरोधात्, राज्ञोऽसम्बोधनाच्च, सूत्रविरोधाच्च, उख्याग्नेः प्रकरणाच्च ॥ ११ ॥

उदु॑त्त॒मं व॑रुण॒ पाश॑म॒स्मदवा॑ध॒मं वि म॑ध्य॒मᳪ श्र॑थाय।
अथा॑ व॒यमा॑दित्य व्र॒ते तवाना॑गसो॒ अदि॑तये स्याम ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—हे सकल पाश-ताप-निवारक देव, हमारे उत्तम अंग शिर पर स्थित अपने पाश को हमसे निकाल कर दूर करो और हमारे अधम अंग पादप्रदेश में स्थित पाश को भी खेंच कर दूर करो। इसी तरह से मध्य प्रदेश में स्थित पाश को भी काट डालो। तीनों पाशों को काटने के बाद हे अदितिपुत्र अखंडित शक्तिमान् वरुणदेव, हम सभी प्रकार के अपराधों से मुक्त होकर आपकी आज्ञा में चलते हुए दीनता से रहित होकर अखंडित तत्त्व के योग्य हों ॥ १२ ॥

'पाशा उन्मुच्योदुत्तममिति' (का० श्रौ १६।५।१८)। शिक्यपाशं रुक्मपाशं च फलादूर्ध्वमार्गेण निष्काशयतीति सूत्रार्थः। वरुणदेवत्या त्रिष्टुप् शुनःशेपदृष्टा। उत्, अव, वि इत्येते उपसर्गाः क्रमेण श्रथयेत्यनेन सम्बद्ध्यन्ते। हे वरुण, उत्तमम् उत्तमाङ्गे स्थितं शिरसि स्थापितं त्वदीयं पाशम् अस्मद् अस्मत्तः सकाशाद् उत्कृष्य

उच्छ्थाय उत्कृष्य श्रथय विनाशय। अधमम् अधमाङ्गे पादप्रदेशे स्थापितं पाशमव अवकृष्य श्रथय अस्मत्तो विनाशय। मध्यमं मध्यप्रदेशे मध्यमाङ्गे स्थापितं पाशं वि श्रथय 'श्रथ हिंसायाम्' मित्त्वात् णिचि ह्रस्वः, लोटि मध्यमैकवचने रूपम्। छान्दसो दीर्घः। यद्वा 'श्रन्थ विमोचनप्रतिहर्षयोः' क्र्यादिः। लोटि मध्यमैकवचने 'छन्दसि शायजपि' (पा० सू० ३।१।८४) इति श्नाप्रत्ययस्य शायजादेशे श्रथायेति रूपम्। अथ पाशत्रयविमोकानन्तरं हे आदित्य, अदितिपुत्र वरुण एतन्नामकदेव! अनागसोऽनपराधा वयं तव व्रते कर्मणि वर्तमानाः सन्तोऽदितयेऽदीनतायै अखण्डितत्वाय योग्याः स्याम भवेम। अथा इत्यत्र 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१०६) इति दीर्घः।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथ शिक्यपाशं च रुक्मपाशं चोन्मुञ्चते। वारुणो वै पाशो वरुणपाशादेव तत्प्रमुच्यते वारुण्यर्चा स्वेनैव तदात्मना स्वया देवतया वरुणपाशात् प्रमुच्यत उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथायेति यथैव यजुस्तथा बन्धुरथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्यामेतीयं वा अदितिरनागसस्तुभ्यं चास्यै च स्यामेत्येतत्' (श० ६।७।३।८)। अथोपस्थानानन्तरं शिक्यरुक्मयोः कण्ठसम्बद्धं पाशमूर्ध्वं विस्रंसयेत्। कृत्स्नस्यापि बन्धनसाधनस्य पाशस्य वरुणदेवताकत्वप्रसिद्धिः 'वारुणो वै पाशः' इत्यत्र वैशब्देन द्योत्यते। पाशोन्मोके वरुणदेवताकामृचं विधाय प्रशंसति—वारुण्यर्चेति। तत् तेन वारुण्यर्चा पाशविमोचकेन स्वेनैवात्मनः पाशस्य वास्तवेन रूपेण स्वया स्वकीयया पाशाभिमानिन्या देवतया वरुणपाशाद्विमुच्यते यजमानः, तामृचं दर्शयति—उदुत्तममिति। पूर्वार्धस्य स्पष्टार्थतामाह—यथा यजुस्तथा बन्धुरिति। यजुर्मन्त्रो यादृशमर्थं प्रकाशयति बन्धुस्तद्ब्राह्मणमपि तादृगर्थप्रकाशकमेव, नात्र व्याख्यातव्यो गूढार्थोऽस्तीत्यर्थः? मन्त्रभागे उत्तमादिभेदभिन्नस्य त्रिविधस्य पाशविश्रथनस्य स्पष्टं प्रतिपादनादित्यभिप्रायः।

अध्यात्मपक्षे—हे वरुण वरणीय परमेश्वर, 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ० सं० १।१६४।४६) इति मन्त्रवर्णात्। मायिकं पाशम् उत्कृष्य श्रथाय श्रथय श्लथीकृत्योर्ध्वं नय। अधमं रागमयं पाशम् अवाचीनं श्रथय। मध्यमं कर्ममयं पाशं श्रथय। उत्तमम् उत्कृष्य विनाशय। अधममवकृष्य अस्मत्तो विनाशय। मध्यमं विश्रथय विच्छेदयेत्यर्थः। अथ मायारागकर्ममयबन्धनत्रयविमोकानन्तरं हे आदित्य, अदितेः पुत्र वरुण वरणीय उपेन्द्र, त्वत्स्मरणेन अनागसो निष्पापा वयं तव व्रते त्वदुपासनलक्षणकर्मणि वर्तमाना वयम् अदितये अदीनतायै ब्रह्मात्मभावाय योग्याः स्याम भवेम।

दयानन्दस्तु—'हे वरुण आदित्य, त्वमस्मद् अस्माकं सकाशाद् अधमं निकृष्टं मध्यमं मध्यस्थम् उत्तमं पाशं बन्धनम् उदववि श्रथाय विविधप्रकारेण मोचय। अथानन्तरं वयमदितये पृथिवीराज्याय तव व्रते सत्यन्यायपालननियमे, अनागोनऽपराधिनः स्याम भवेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, कस्यचिद्राज्ञः सम्बन्धे तादृशोक्तेरयोगात्॥ १२॥

अग्ने॑ बृ॒हन्नु॒षसा॑मू॒र्ध्वो अ॑स्थान्निर्जग॒न्वान् तम॑सो॒ ज्योति॒षागा॑त्।
अ॒ग्निर्भा॒नुना॒ रुश॑ता॒ स्वङ्ग॒ आ जा॒तो विश्वा॒ सद्मा॑न्यप्राः॥ १३॥

मन्त्रार्थ—अपने प्रभाव के कारण महान् बने अग्निदेव उषाकाल के आगे ऊँचे स्थित हुए, रात्रि रूप अन्धकार से निकले, दिन रूप ज्योति के संग यहाँ प्राप्त हुए हैं। अन्धकार को दूर करते हुए, किरणजाल से सुशोभित शरीर वाले ये अग्निदेव उत्पन्न होने के साथ ही सम्पूर्ण स्थान, अर्थात् सब लोगों को सब प्रकार से अपने तेज से पूर्ण कर देते हैं॥ १३॥

'पिण्डवत् प्राग्दक्षिणा प्रगृह्णात्यग्ने बृहन्निति' (का० श्रौ० १६।५।१९)। पूर्वमन्त्रेण शिक्यपाशं रुक्मपाशं चोन्मुच्य ऊर्ध्वबाहुराग्नेयीं दिशं प्रत्युख्याग्निमूर्ध्वं धारयेद् अग्ने बृहन्निति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। अग्निदेवत्या

त्रिष्टुप् त्रितदृष्टा । अत्रादित्यात्मना अग्निः स्तूयते । योऽग्निः, उषसां प्रभातानामग्रे मुखे बृहन् प्रभावतो महान् ऊर्ध्वः, अस्थात् स्थितः, यद्वा अग्निहोत्रादौ बोध्यमान उत्तिष्ठति, यश्च तमसो रात्रिलक्षणाद् निर्जगन्वान् निर्गतः, अहर्लक्षणेन ज्योतिषा प्रकाशेन सह अगाद् आगतः, सोऽग्निर्जात उत्पन्नमात्र एव विश्वा विश्वानि सर्वाणि सद्मानि स्थानानि सर्वान् लोकान्, 'इमे वै लोका विश्वा सद्मानि' (श० ६।७।३।१०) इति श्रुतेः । आप्राः स्वतेजसा पूरितवान् । कथम्भूतोऽग्निः ? रुशता रुशतीति रुशन् तेन, तमो हिंसता 'रुश हिंसायाम्' भानुना रश्मिना स्वङ्गः सुष्ठु शोभनान्यङ्गानि यस्य स तथाभूतो भास्वरेण भानुना शोभनशरीरः । यद्वा अयमग्निः, उषसां प्रभातानामग्रे बृहन् भूत्वा ऊर्ध्वः सन् निर्गतः सन् अस्थात् तिष्ठति । तमसो नैशात् सकाशात् निर्जगन्वान् निर्गतः सन् ज्योतिषा अहर्लक्षणेन सह आगाद् आगच्छति । रुशता प्रकाशमानेन भानुना दीप्तिविशेषेण स्वङ्गः शोभनाङ्गः । हे अग्ने, जातो जातमात्रः सन् विश्वा सद्मानि सर्वान् लोकान् आहवनीयादीनि स्थानानि वा आप्राः सर्वतः पूरितवानसि । ऊर्ध्वो अस्थादित्यत्र 'एङः पदान्तादति' (पा० सू० ६।१।१०९) इति प्राप्तस्य पूर्वरूपसन्धेः 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (पा० सू० ६।१।११५) इति प्रकृतिभावः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अग्रे बृहन्नुषसामूर्ध्वो अस्थादिति । अग्रे ह्येष बृहन्नुषसामूर्ध्वस्तिष्ठति निर्जगन्वान् तमसो ज्योतिषाऽगादिति निर्जगन्वान् वा एष रात्र्यै तमसोऽह्ना ज्योतिषैत्यग्निर्भानुना रुशता स्वङ्ग इत्यग्निर्वा एष भानुना रुशता स्वङ्ग आ जातो विश्वा सद्मान्यप्रा इतीमे वै लोका विश्वा सद्मानि तानेष जात आपूरयति परोबाहु प्रगृह्णाति परोबाहु ह्येष इतोऽथैनमुपावहरतीमामेवैतत् प्रतिष्ठामभिप्रत्यैत्यस्यामेवैतत् प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति जगत्या जगती हेमाँल्लोकानमुतोऽर्वाचो व्यश्नुते' (श० ६।७।३।१०) । मन्त्रं विधाय व्याचष्टे—अग्रे बृहन्नित्यादिना । मन्त्रस्तु व्याख्यात एव ।

अध्यात्मपक्षे—योऽग्निर्दनुजवनकृशानू रामः, उषसां प्राणिनामभ्युदयनिःश्रेयसप्रभातानामग्रे मुखे बृहन् प्रभावातिशयान्महान् ऊर्ध्वः सर्वकारणत्वात् सर्वव्यापकत्वात् सर्वप्रकाशकत्वाच्चोत्कृष्टः, अस्थात् स्वभवन एव स्थितः । यश्च तमसोऽविद्यालक्षणाद् निर्जगन्वान् निर्गतः, प्रचण्डमार्तण्डमण्डले रात्रेरिव तस्मिन्नविद्याया नित्यनिरस्तसत्ताकत्वात् । 'नाहो न रात्रिः सवितुर्यथा भवेद् ज्ञानं तथाऽज्ञानमिदं द्वयं'''सा मे कथं स्थास्यति शुद्धचिद्घने ॥' (अध्यात्मरामायणे) । यश्च ज्योतिषा चिन्मयेन चिच्छक्त्या सीतया सह अगाद् भक्तानां दृष्टिगोचरतामागतः, सोऽग्निः, रुषता तमो हिंसता रोचिष्णुना वा भानुना प्रकाशेन स्वङ्गः शोभनाङ्ग आजात आसमन्तात् प्रादुर्भूतमात्र एव विश्वा सद्मानि सर्वान् लोकान् आप्राः स्वतेजसा पूरितवान् । स्वङ्गशब्दस्यान्यत्र स्वारस्यायोगात् श्रीराम एवात्र स्तूयते, वेदार्थोपबृंहणे रामायणे तथैव तस्य वर्णनात् ।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, यस्त्वमग्रे यथाग्निः सूर्यः स्वङ्ग आजातो बृहन् महान् उषसामूर्ध्वं उपर्याकाशस्थः, अस्थात् तिष्ठति, रुशता सुरूपेण भानुना दीप्त्या ज्योतिषा प्रकाशेन तमसोऽन्धकाराद् निर्जगन्वान् निर्गतः सन् अगाद् विश्वानि सद्मानि साकाराणि स्थानानि आप्रा व्याप्नोति, तद्वत् प्रजायां भव' इति, तदप्ययुक्तम्, राज्ञः सम्बोध्यत्वे मानाभावात्, अत्र मूले दार्ष्टान्ताभावाच्च ॥ १३ ॥

ह॒ꣳसः शु॑चि॒षद्व॒सु॑रन्तरिक्ष॒सद्धोता॑ वेदि॒षदति॑थिर्दुरोण॒सत् ।

नृ॒षद्व॑र॒सदृ॑त॒सद् व्यो॑म॒सद॒ब्जा गो॒जा ऋ॑त॒जा अ॑द्रि॒जा ऋ॒तं बृ॒हत् ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—पवित्र स्थान आदित्य रूप दीप्ति में आदित्य रूप से स्थित अहंकार को दूर करने वाला आत्मा, वायु रूप से अन्तरिक्ष में स्थित मनुष्यों का प्रवर्तक, अग्नि रूप से वेदि में स्थित होकर देवताओं का आह्वान करने

वाला, आहवनीय रूप से यज्ञ में स्थित सबका पूजनीय, मनुष्यों में प्राणभाव से स्थित, उत्कृष्ट स्थानों और क्षेत्रों में स्थित, यज्ञ में स्थित, आकाश में मण्डल रूप से स्थित—इस प्रकार सर्वत्र विराजमान परमात्मा को हम प्रार्थना करते हैं। वह सबको उत्पन्न करने वाला है, वह मत्स्य आदि के रूप से जल में और चतुर्विध भूतग्राम के रूप से भूमि में स्थित है। सत्य में प्रकट होने वाले, पाषाण से अग्नि रूप में प्रकट होने वाले, मेघ में जल रूप से स्थित सर्वगत अपर्यन्त परब्रह्म परमात्मा का हम स्मरण करते हैं॥ १४॥

'अवहरति हꣳसः शुचिषदिति' (का० श्रौ० १६।५।२०)। हंस इति मन्त्रेणोख्यमग्निमवतारयतीति सूत्रार्थः। जगती अग्निप्रोक्षणे इयमुक्ता यजुरन्ता, राजसूयप्रकरणे इयमतिजगत्युक्ता, इह तु जगती, अन्ते बृहदिति यजुः। तद्विनियोगमाह कात्यायनः—'आसन्द्यां करोति बृहदिति' (का० श्रौ० १६।५।२१)। बृहदिति यजुषा उख्यमग्निमासन्द्यां स्थापयतीति सूत्रार्थः। मन्त्रस्तु दशमेऽध्याये चतुर्विंश्यां कण्डिकायां व्याख्यातः।

अत्र ब्राह्मणम्—'हꣳसः शुचिषदिति। असौ वा आदित्यो हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसदिति वायुर्वै वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदित्यग्निर्वै होता वेदिषदतिथिरिति सर्वेषां वा एष भूतानामतिथिर्दुरोणसदिति विषमसदित्येतन्नृषदिति प्राणो वै नृषन्मनुष्या नरस्तद्योऽयं मनुष्येषु प्राणोऽग्निस्तमेतदाह वरसदिति सर्वेषु ह्येष वरेषु सन्न ऋतसदिति सत्यसदित्येतद् व्योमसदिति सर्वेषु ह्येष व्योमसु सन्नोऽब्जा गोजा इत्यब्जाश्च ह्येष गोजाश्चर्तजा इति सत्यजा इत्येतदद्रिजा इत्यद्रिजा ह्येष ऋतमिति सत्यमित्येतद् बृहदिति निदधाति बृहद्ध्येष तद्यदेष तदेनमेतत् कृत्वा निदधाति' (श० ६।७।३।११)। हंस इति पदेन हन्ति गच्छत्याकाश एक एवेति व्युत्पत्त्या आदित्यो बोध्यते। स च शुचौ सीदतीति शुचिषद्। वसुर्वायुर्वै वसुः। वायुश्च अन्तरिक्षसत्। होता अग्निः, वेदिषद् वेद्यां सीदतीति। सोऽग्निर्वै होता आह्वाता देवानाम्। सर्वेषां भूतानामेषोऽग्निरतिथि-रतिथिवत् पूज्यः। दुरोणसद् दुरोणे विषये सीदतीति। नृषद् नृषु मनुष्येषु प्राणरूपेणायं सीदतीति। ऋतसद् ऋतं सत्यं तत्र सीदतीति ऋतसत्। व्योमसत् सर्वेषु व्योमसु सीदतीति। ऋतजा, सत्यजा, अद्रिजा इत्यादिकं स्पष्टम्।

अध्यात्मपक्षे—सार्वात्म्यविवक्षया काठकोपनिषदि भगवत्पादैरयं मन्त्रो व्याख्यातः।

दयानन्दस्तु—'हे प्रजाजनाः, यूयं यो हंसो दुष्टकर्महन्ता शुचिषु पवित्रेषु व्यवहारेषु वर्तमानो वसुः सज्जनेषु निवसता तेषु निवासयिता वा ······ ऋतं बृहद् ब्रह्म जीवश्चास्ति यस्तौ जानीयात् तं सभाधीशं राजानं कृत्वा सततमानन्दत' इति, तदपि न युक्तम्, अध्याहारस्य निर्मूलत्वात्। सार्वात्म्यविवक्षया परमात्मनो दुष्टकर्महन्तृत्वं न विरुद्ध्यते। यद्यपि सर्वव्यापी पवित्रेषु तदितरेषु च व्यवहारेषु सीदत्येव, तथापि शुचिषु तदभिव्यक्तिवैशेष्यात् शुचिषत्त्वं युक्तमेव। यो धर्मावकाशे सीदति सोऽन्तरिक्षसदित्यसङ्गतमेव, धर्मस्य सावकाशत्वं कथमित्यनुक्तेः। वायुरूपेणान्तरिक्षसत्त्वं तु श्रुत्यैवोक्तम्। होता सत्यस्य ग्रहीता ग्राहयितेत्यपि न, निर्विकारस्य कर्तृत्वायोगात्। यो वेद्यां जगत्यां यज्ञशालायां वा सीदतीति सङ्गतमेव, सर्वव्यापकस्य सर्वत्र सत्त्वोपपत्तेः। अतिथिपदस्य राज्यरक्षणाय यथासमयं भ्रमणकर्तेति त्वसङ्गतम्, अभ्यागतातिरिक्तस्य सर्वस्यैव तिथिर्नैयत्यादतिथिवत् पूज्योऽग्निः परमात्मा वा इत्येवार्थो युक्तः। दुरोणे सर्वर्तुषु प्रापके आकाशे सीदतीति चिन्त्यम्, दुरोणे कोणे त्रिकोणायां प्रकृतौ वा सीदतीति तु युक्तम्, व्योमवद् व्यापके परमेश्वर एव सीदतीति विशेषानुपपत्तेः। तथैव योऽपः प्राणान् जनयति, गा इन्द्रियाणि जनयति, सोऽब्जा गोजा इत्यप्यसाम्प्रतम्, सर्वजनकस्य कतिपयजनयितृत्वे विशेषानुपपत्तेः॥ १४॥

सीद त्वं मातुरस्या उपस्थे विश्वान्यग्ने वयुनानि विद्वान् ।
मैनां तपसा मार्चिषाभिशोचीरन्तरस्याᳪ शुक्रज्योतिर्विभाहि ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेवता, सम्पूर्ण ज्ञान के उपायों को जानने वाले आप माता के समान उखापात्र की गोद में बैठो, इसे अपने सन्ताप से दुःखी मत करो, ज्वाला से दीप्त मत करो। इस उखा के मध्य में स्थिर होकर आप निर्मल प्रकाश से विशेष दीप्तिमान् बनो ॥ १५ ॥

'उपतिष्ठते सीद त्वमिति' (का० श्रौ० १६।५।२२)। आसन्दीनिधानानन्तरमुख्याग्निमुपतिष्ठते ऋचां त्रयेणेति सूत्रार्थः। अग्निदेवत्या त्रिष्टुप्। हे अग्ने, त्वं सीद अवस्थानं कुरु। क्वेत्यपेक्षायामाह—मातुः मातृतुल्याया अस्या उखाया उपस्थे उत्सङ्गे। कीदृशस्त्वम्? विशानि सर्वाणि वयुनानि प्रज्ञानानि विद्वान् जानन् सर्ववस्तुविषयकयाथात्म्यज्ञानवान्। किञ्च, एनामुखां तपसा सन्तापेन माभिशोचीर्मा सन्तापय। अर्चिषा ज्वालया च माभिशोचीर् अत्यन्तं मा दीपय। तपः कार्यमर्चिः कारणम्। कार्येण भूयांस्तापः कारणेन त्वीषत्। तदुभयमपि कार्यकारणकृतं तापं मा कुर्वित्यर्थः। अस्यामुखायामन्तर्मध्ये शुक्रज्योतिर्निर्मलप्रकाशः सन् विभाहि विशेषेण दीप्यस्वेत्यर्थः, शुक्लकर्मसाधनज्योतीरूपं सद् विविधं दीप्यस्व वा।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमुपतिष्ठते। एतद्वा एनमेतल्लघूयतीव यदेनेन सहेति चेति चेमाँल्लोकान् क्रमते तस्मा एवैतन्निह्नुतेऽहिᳪसायै' (श० ६।७।३।१३)। उख्याग्न्युपस्थानं विधत्ते—अथैनमुपतिष्ठत इति। 'सीद त्वं मातुरस्या उपस्थेऽन्तरग्ने रुचा त्वᳪशिवो भूत्वा मह्यमग्ने अथो सीद शिवस्त्वमिति शिवः शिव इति शमयत्येवैनमेतदहिᳪसायै तथो हैष इमाँल्लोकान् शान्तो न हिनस्ति' (श० ६।७।३।१५)। प्रसन्ना कण्डिका।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन् ज्ञानाग्ने, त्वमस्या बुद्धेरुपस्थे उत्सङ्गे सीद तिष्ठ स्वरूपेण संस्कारात्मना च स्थिरो भव। किं कुर्वन्? विश्वानि सर्वाणि वयुनानि प्रज्ञानविषयान् विद्वान् जानन् प्रकाशयन्। एनां बुद्धिं तपसा श्रमेण अर्चिषा ज्वालया शोकेन माभिशोचीर् माभितापय, ज्ञानेन शोकमोहापगमप्रसिद्धेः। त्वमस्यां बुद्धौ शुक्रज्योतिः शुक्रस्य शुद्धस्य ब्रह्मणो ज्योतिः प्रकाशोऽज्ञानापगमो यस्मात् तादृशो भूत्वा विभाहि सदा दीप्यस्व।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, त्वमस्यां मातरि सत्यां विभाहि प्रकाशितो भव। शुक्रज्योतिः शुक्रं शुद्धाचरणं ज्योतिः प्रकाशो यस्य सः। विद्वान् अस्या भूमेरिव मातुरुपस्थे समीपे सीद तिष्ठ। अस्याः सकाशाद् विश्वानि वयुनानि प्रज्ञानानि प्राप्नुहि। एनामन्तर् अभ्यन्तरे तपसा सन्तापेन अर्चिषा तेजसा माभिशोचीः शोकयुक्तां मा कुर्याः। किन्त्वेतच्छिक्षां प्राप्य विभाहि' इति, तदप्यस्पष्टमेव, केयं मातेत्यनुक्तेः। न च लौकिकी मातैव सा, तस्यास्तत्प्रदानाप्रसक्तेः। शिक्षा च तस्या एव चेत्, तर्हि गुरूपसदनवैयर्थ्यापत्तिः। अध्याहाराश्च निर्मूला एव ॥ १५ ॥

अन्तरग्ने रुचा त्वमुखायाः सदने स्वे ।
तस्यास्त्वᳪ हरसा तपन् जातवेदः शिवो भव ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप अपनी दीप्ति से इस उखापात्र के मध्य में अपने घर के समान ही प्रज्वलित होकर रहिये। हे सबको जानने वाले, आप अपनी ज्योति से तपते हुए उखापात्र के लिये कल्याणकारी बनिये ॥ १६ ॥

अग्निदेवत्ये द्वे अनुष्टुभौ। हे अग्ने, त्वं तस्या उखाया अन्तर्मध्ये स्वे सदने स्वकीये स्थाने रुचा दीप्त्या युक्तः सन् सीदेति शेषः। हे जातवेदः सर्वज्ञ. जातं जातं विन्दतीति वा जातवेदास्तत्सम्बुद्धौ। जातो वेदो ज्ञानं यस्येति वा तादृशस्त्वं हरसा ज्योतिषा तपन् प्रतपन् तस्या उखायाः शिवः कल्याणकारी भव।

अध्यात्मपक्षे—हे ज्ञानाग्ने, त्वमुखारूपाया बुद्धेः, अन्तर् उत्सङ्गे स्वे सदने स्थाने स्थितो रुचा विषय-प्रकाशनसामर्थ्येन युक्तः, सीदेति शेषः। हे जातवेदः सर्वप्रकाशनसमर्थ. हरसा ज्योतिषा ब्रह्मावबोधसामर्थ्येन तपन् प्रतपन् तस्यास्तदुपहितस्य चेतनस्य जीवस्य कृते शिवो ब्रह्मात्मभावप्रापको भव।

दयानन्दस्तु—'हे जातवेदः! अग्ने, यस्त्वं यस्या उखायाः प्राप्तायाः प्रजाया अधोऽग्निरिव स्वे सदने अध्ययनस्थाने तपन् शत्रून् सन्तापयन् अन्तर्मध्ये रुचा प्रीत्या वर्तेथाः, तस्या हरसा ज्वलनेन तपन् त्वं शिवो भव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अशक्तार्थप्रतिपादनात्। तथाहि—उखापदस्य प्राप्ताः प्रजा इत्यर्थो निर्मूल एव। यत्तु केनचित् 'प्राजापत्यमेतत्कर्म यदुखा' (श० ६।२।२।२३) इति श्रुत्या तत्समर्थनायायासितम्. तदपि न किञ्चित्, उखाकर्मणः प्राजापत्यत्वेऽप्युखाशब्दस्य प्राप्ताः प्रजा इति कथमर्थः? वस्तुतस्त्वग्निधारणार्थमुखासम्भरणं विधीयते। अष्टकायामुखां सम्भरन्तीति तत्रैव अष्टका नाम अष्टमी, तस्यामुखां विदध्यात्। फाल्गुने बहुलाष्टम्या-मुखार्थं मृत्तिकादृढवल्मीकद्रव्यसम्भरणं भवति—'उखासम्भरणमष्टम्याम्' (का० श्रौ० १६।२।१) इति। तत्राष्टमीदिवसस्याधिदेवता प्रजापतिः। तत्र क्रियमाणमुखासम्भरणं प्राजापत्यं कर्मोच्यते। 'उखा' इति यदस्ति, तत्प्राजापत्यं कर्म। कुतः? प्रजापत्यात्मकोऽग्निः, तद्धारणार्थत्वात् प्राजापत्योऽग्निः। तत्सम्बन्धिन्यह्नि उखानिर्माणं क्रियते। उखापदार्थस्तु सिद्धान्ते मृत्तिकानिर्मितोऽग्निधारणार्थः पात्रविशेष एव। 'प्राप्तायाः प्रजाया अधस्ताद् अग्नितुल्येऽध्ययनसदने शत्रूंस्तापयन्' इत्यादिकमसम्बद्धमेव ॥ १६ ॥

शिवो भूत्वा मह्यमग्ने अथो सीद शिवस्त्वम्।
शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेवता, आप मेरे लिये कल्याणकारी होकर और इसके अनन्तर सर्वात्मा के समान शान्त स्वरूप होकर यहाँ रहो। सम्पूर्ण दिशाओं को कल्याणमय बना कर इस उखा रूप स्थान में स्थिर होकर बैठो ॥ १७ ॥

हे अग्ने, त्वं मह्यं शिवः शान्तः प्रसन्नो भूत्वा अथो अपि च शिवः सर्वान् प्रति शान्तः सन् सीद उपविश। न केवलं स्वयं शिवः, किन्तु सर्वा दिशः प्राच्यादिकाः शिवाः शान्ताः कृत्वा इह अस्यामुखायां स्वं स्वकीयं योनिं स्थानम् आसदः आसीद आगत्योपविश। अत्र लोडर्थे लुङ्, 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति पाणिनिस्मृतेः। ब्राह्मणमपि—'त्व१५ शिवो भूत्वा मह्यमग्ने अथो सीद शिवस्त्वमिति शिवः शिव इति शमयत्येवैनमेतदहि१७ सायै' (श० ६।७।३।१५)। 'त्रिभिरुपतिष्ठते त्रय इमे लोका अथो त्रिवृदग्निः' (श० ६।७।३।१६) इति त्रिभिर्मन्त्रैरुपस्थानस्य प्रशंसा।

अध्यात्मपक्षे—हे ज्ञानाग्ने, त्वं मह्यं शिवः कल्याणरूपः सन् अथो अपि च संशयविपर्ययाद्युपप्लवरहितः शिवो निरुपप्लवो भव। सर्वाश्च दिशः शान्ताः, तत्रत्यान् पदार्थांश्च शिवाः शिवरूपान् तुरीयब्रह्मरूपान् कृत्वा इहास्यामुखारूपायां बुद्धौ स्वं योनिं स्थानमासदः आसीद। ब्रह्मात्मज्ञानं ब्रह्मात्मगोचरत्वात् परमपुरुषार्थसाधनत्वाद् ज्ञात्रे शिवरूपं भवति। तदेव निरुपप्लवं सत् स्वयं शिवरूपं भवति। तेन चाज्ञानस्य तत्कार्यस्य च बाधितत्वात् सर्वा दिशो दिगुपलक्षितानि सर्वाणि वस्तूनि ब्रह्मरूपाण्येव सम्पद्यन्ते, माण्डूक्ये तुरीयब्रह्मणः शिवत्वोक्तेः।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने शत्रुविदारक, त्वं मह्यं शिवो मङ्गलाचारी भूत्वा इह अस्मिन् जगति शिवो मङ्गलकारी सन् सर्वा दिशो या दिश्यन्ते उपदिश्यन्ते दिग्भिः सहचरिताः प्रजाः शिवा मङ्गलाचारिणीः कृत्वा स्वं योनिं राजधर्मासनम् आसदः राजधर्मे सीद' इति, तदपि न युक्तम्, राज्ञः सम्बोधने मानाभावात्। धर्मब्रह्मपरत्वं तु वेदानां निश्चप्रचम्। शिवपदस्य मङ्गलाचरणं मङ्गलकारी मङ्गलाचारी वार्थः कथङ्कारं सिद्ध्यति ॥ १७ ॥

दि॒वस्परि॑ प्रथ॒मं ज॑ज्ञे अ॒ग्निर॒स्मद् द्वि॒तीयं॒ परि॑ जा॒तवे॑दाः ।
तृ॒तीय॑म॒प्सु नृ॒मणा॒ अज॑स्र॒मिन्धा॑न॒ एनं॑ जरते स्वा॒धीः ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ— सबके ज्ञाता अग्निदेव पहले द्युलोक में सूर्य के रूप में प्रकट हुए, दूसरे जातवेदा अग्नि ब्राह्मणों से पैदा हुए और प्रजापति ने तीसरी बार निरन्तर जल के भीतर छिपे हुए अग्नि को बाहर निकाला। सुन्दर बुद्धि वाला यजमान इस अग्नि को प्रदीप्त करता हुआ प्रकट करता है ॥ १८ ॥

'वात्सप्रेण च दिवस्परीत्येकादशभिरनुवाकेनैके' (का० श्रौ० १६।५।२३-२४)। दिवस्परीत्येकादशर्चेन द्वादशर्चेन वा वत्सप्रीसम्बन्धिना अनुवाकेन उपतिष्ठेत। तत्र केचिदेकादशभिर्मन्त्रैरासन्द्यामुपरिस्थितमुख्यमग्निमुपतिष्ठेदिति वदन्ति। अन्ये वात्सप्रेण सर्वेणानुवाकेन द्वादशर्चेनोपस्थानं कुर्यादिति वदन्तीति सूत्रार्थः। अग्निदेवत्या द्वादश त्रिष्टुभो भलन्दनपुत्रवत्सप्रीदृष्टाः। अग्निः प्रथमं दिवस्परि द्युलोकस्योपरि जज्ञे जातः। यद्वा दिवः परि प्राणस्य सकाशाद् अग्निः प्रथमं जज्ञे। 'प्राणो वै दिवः प्राणादु वा एष प्रथममजायत' (श० ६।७।४।३) इति वक्ष्यमाणश्रुतेः। जातवेदा अग्निरस्मद्यज्ञे प्रसिद्धवह्निरूपेण द्वितीयं जन्म प्राप्तवान्। यद्वा जातवेदा अग्निर् अस्मत्परि अस्मत्तः सकाशात् पुरुषविधात्ब्रह्मणो यज्ञे द्वितीयं द्वितीयवारं जज्ञे जातः, 'यदेनमदो द्वितीयं पुरुषविधोऽजनयत्' (श० ६।७।४।३) इति श्रुतेः, 'स मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां चाग्निमसृजत' (बृ० उ० १।४।६) इति श्रुतेश्च। अप्सु समुद्रे तृतीयं तृतीयवारं वाडवानलरूपेणोत्पन्नः। अजस्रं त्रिष्वपि जन्मसु नृमणा नृषु यजमानेषु मनोऽनुग्रहबुद्धिर्यस्यासौ नृमणाः। 'पूर्वपदात् संज्ञायामगः' (पा० सू० ८।४।३) इति णत्वम्। प्रजापतिरेनमीदृशमग्निमजस्रमनुपक्षीणमिन्धानो दीपयन् स्वाधीः स्वायत्तचित्तो जीर्यति जरापर्यन्तं यजतीत्यर्थः। यद्वा नृमणाः प्रजापतिर् अजस्रमनुपक्षीणमग्निमप्सु जलेष्वन्तर्व्यवस्थितं तृतीयं तृतीयवारमजनयत्। 'यदेनमदस्तृतीयमद्भ्योऽजनयत्' (श० ६।७।४।३), 'अथ यो गर्भोऽन्तरासीत् सोऽग्निरसृज्यत' (श० ६।१।१।११), 'प्रजापतिर्वै नृमणा अग्निरजस्रः' (श० ६ ७।४।३) इत्यादिश्रुतिभ्यः। एवं बहुजन्माग्निः स्वाधीः शोभना आहिता धीर्बुद्धिर्यस्य स यजमान एनमग्निमिन्धानो दीपयन् जरते जनयति। धातूनामनेकार्थत्वादर्थान्तरे वृत्तिः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ वात्सप्रेणोपतिष्ठते। एतद्वै प्रजापतिर्विष्णुक्रमैः प्रजाः सृष्ट्वा ताभ्यो वात्सप्रेणायुष्यमकरोत्तथैवैतद्यजमानो विष्णुक्रमैः प्रजाः सृष्ट्वा ताभ्यो वात्सप्रेणायुष्यं करोति' (श० ६।७।४।१)। ताभ्यः पृथिव्यन्तरिक्षलोकद्वयव्यापिनीभ्यः प्रजाभ्यः सृष्टाभ्यो वात्सप्रेणानुवाकेनायुष्यमकरोत् प्रजापतिः। तस्मिन् सूक्तेऽग्नेर्लोकत्रयव्याप्तिलक्षणविभूत्याविष्करणस्य विद्यमानत्वाद् आयुषोऽग्न्यायत्तत्वात् तन्मन्त्रपाठेन तत्रत्यानां प्रजानामायुःस्थापनमित्यभिप्रायः। तथैव यजमानोऽपि वात्सप्रेणायुष्यं करोतीति। 'स हैष दाक्षायणहस्तः। यद्वात्सप्रं तस्माद्यं जातं कामयेत सर्वमायुरियादिति वात्सप्रेणैनमभिमृशेत् तदस्मै जातायायुष्यं करोति

तथो ह स सर्वमायुरेत्यथ यं कामयेत वीर्यवान् स्यादिति विकृत्यैनं पुरस्तादभिमन्त्रयेत तथो ह स वीर्यवान् भवति' (श० ६।७।४।२) प्रसन्नादयजसंयुक्तं प्रयोगं दर्शयति—स हैष दाक्षायणहस्त इति। दक्षः प्राणः, तत्सम्बन्धि आयुष्यं दाक्षम्, तस्य अयनं प्रापकम्, तादृग्घस्तस्वरूपमिदं वात्सप्रम्। तस्मादुत्पन्नं शिशुम् आयुर्वृद्ध्यर्थं वात्सप्रेण अभिमृशेत्। तथैव यं कामयेत वीर्यवान् स्यात् तं वात्सप्रेणाभिमर्शनात् पूर्वं सुपर्णोऽसीति विकृत्याभिमन्त्रयेत्।

'दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरिति। प्राणो वै दिवः प्राणाद् वा एष प्रथममजायतास्मद्द्वितीयं परि जातवेदा इति यदेनमदो द्वितीयं पुरुषविधोऽजनयत् तृतीयमप्स्विति यदेनमदस्तृतीयमद्भ्योऽजनयन्नृमणा अजस्रमिति प्रजापतिर्वै नृमणा अग्निरजस्र इन्धान एनं जरते स्वाधीरिति यो वा एनमिन्धे स एनं जनयते स्वाधीः' (श० ६।७।४।३)। उपस्थाने मन्त्रं विधाय व्याचष्टे—दिवस्परीत्यादिना। दिव्शब्दस्य विवक्षितमर्थमाह—प्राणो वै दिव इति। दिवो दिव्प्रतिपाद्य इत्यर्थः। अथवा दिव इति पञ्चम्यन्तपदेन प्रातिपदिकमात्रं विवक्षित्वोक्तम्। दिवप्रातिपदिकात् प्राणो विवक्षित इत्यर्थः। तदेव समर्थयते—प्राणाद् वा एष प्रथममजायतेति। प्राणादग्नेरुत्पत्तिः काण्डादौ 'प्राणा वा ऋषयः' इत्युपक्रम्य 'सप्तपुरुषानेकं पुरुषं करवामेति त एतान् सप्त पुरुषान् एकं पुरुषमकुर्वन्' (श० ६।१।१।१–३) इत्यादिना प्रोक्ता। तथा च श्रोत्रादयः सप्त प्राणा एव प्रजापतिरूपमेकमग्निमुत्पादितवन्तः।

अस्मद्द्वितीयमिति द्वितीयं पादं व्याचष्टे—यदेनमदो द्वितीयं पुरुषविधोऽजनयदिति। यद् यस्माद् एनमग्निम् अदो विप्रकृष्टकाले पुरुषविधो यथा पुरुषस्तदवयवी सम्पद्यते, तथेष्टकाभिरजनयदित्यर्थः। अयमर्थोऽपि तत्रैवोक्तः—'स एव पुरुषः प्रजापतिरभवत्। स यः स पुरुषः प्रजापतिरभवद् अयमेव स योऽयमग्निश्चीयते' (श० ६।१।१।५) इति। स एष सप्तभिः पुरुषैर्निष्पन्न एकः पुरुषः प्रजापतिर्विराडभूत्। एवं लिङ्गशरीराभिमानि-हिरण्यगर्भपुरुषकर्तृका विराडुत्पत्तिरुक्ता। विराजोऽग्निरूपतामाह—स यः स पुरुषः प्रजापतिरिति। एष अयं चीयमानोऽग्निरित्यर्थः।

तृतीयमप्स्वित्येतद् व्याचष्टे—यदेनमदस्तृतीयमद्भ्योऽजनयदिति। एनमाहत्याधाररूपमग्निमद्भ्योऽजनयत्। अयमप्यर्थस्तत्रैवोक्तः—'सोऽपोऽसृजत' इत्युक्त्वा 'सोऽकामयताभ्योऽद्भ्योऽधि प्रजायेयेति सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत् तत आण्डꣳ समवर्तत' (श० ६।१।१।९–१०), 'अथ यो गर्भोऽन्तरासीत् सोऽग्निरसृज्यत' (श० ६।१।१।११) इति। अथ स प्रजापतिः स्वयमेवोत्पद्य पुनः पर्यालोच्य वाचोलोकाद् उच्चारकाद् मुखाद् अपोऽब्रुपलक्षितानि पञ्च स्थूलभूतानि सृष्टवान्। विद्याध्ययनस्थानादुद्भूतत्वाद् वागेव सृष्टेत्यर्थः। आभ्योऽद्भ्यः प्रजायेयेति विचार्य स त्रय्या विद्यया सह सृष्टा अपः प्रविष्टवान्। तत आण्डं समवर्तत। ततो यो जातगर्भः सोऽग्निरसृज्यत। सर्वस्य स्थूलप्रपञ्चस्य अग्रम् आदौ सृष्टत्वादग्निरित्युच्यते। क उत्पादितवानिति प्रश्ने सत्युत्तरयति—नृमणा इति। अस्य विवक्षितमर्थं दर्शयति—प्रजापतिर्वै नृमणा इति। नृविषयमनोयुक्त इति यावत्। अजस्रशब्दं व्याचष्टे—अग्निरजस्र इति। अहिंसितमग्निमित्यर्थः। चतुर्थपादस्य तात्पर्यमाह—यो वा एनमिन्धे स एनं जनयत इति। पुनः पुनः समिन्धनमेवाग्नेरुत्पादनम्। अतो यः स्वाधीः स्वाधानः सुष्ठ्वाधानं यस्य सः, इन्धे सञ्जनयते जनयति। स्तुत्यर्थं जरत इत्यस्य जनयत इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—अयमग्निर्ज्ञानरूपः प्रथमं पूर्वं दिवो द्योतनात्मकस्य सत्त्वस्योपरि नित्याखण्डस्वयंप्रकाश-ब्रह्मरूपो जज्ञे प्रादुर्भूतः। जातवेदाः सर्वज्ञः सर्वधीसाक्षिभूतः, अस्मद् अस्मत्तः, अस्मत्पदवाच्यार्थात् समष्टिजीवात्

परि उपरि साक्षिरूपेण द्वितीयं द्वितीयवारं जज्ञे प्रादुर्भूतः। नृमणा नृषु नृपलक्षितेषु सर्वप्राणिष्वनुग्रहात्मकं मनो यस्य स नृमणाः प्रजापतिः, अप्सु कर्ममयेषु प्राणिषु ब्रह्मात्मसाक्षात्काररूपेण तृतीयं तृतीयवारं जज्ञे। अजस्रमक्षीणमेनं ज्ञानाग्निमिन्धानः स्वाधीः स्वायत्तचित्तः साधकः, जरते तत्परतया परिचरति। निर्विकारब्रह्मरूपो ज्ञानाग्निः प्रथमः, द्वितीयो हिरण्यगर्भसाक्षिभूतो द्वितीयामवस्थामुपगच्छति। महावाक्यजन्यपरब्रह्माकारवृत्त्यभिव्यक्तः स एव ज्ञानाग्निरज्ञानतत्कार्यनिवारकत्वेन सर्वकल्याणहेतुर्भवतीति तृतीयावस्था तस्येत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे सभेश, योऽग्निरिव त्वमस्मद् अस्माकं सकाशाद् दिवो विद्युतः परि उपरि जज्ञे जायते, तमेवं प्रथमं यो जातवेदा जातप्रज्ञानस्त्वं जज्ञे, तमेनं द्वितीयं यो नृमणा नृषु नायकेषु मनो यस्य सः, त्वम् अप्सु प्राणेषु जलेषु वा जज्ञे, तमेनं तृतीयमजस्रमिन्धानो विद्वान् परिजरते स्तौति, स त्वं स्वाधीः शोभनध्यानयुक्ताः प्रजाः स्तुहि' इति, तदप्यपेशलम्, वेदानां लौकायतिकत्वापादनपरत्वात्। नहि कश्चन सभेशोऽग्निर्भवति, न वा तस्य त्रिधा जन्म सम्भवति। गौणार्थाश्रयणं तु मुख्यार्थासम्भव एव न्याय्यम्। मुख्यार्थानुरोधेनोव्वटसायणादिभाष्यमस्त्येव ॥ १८ ॥

विद्मा ते॑ अग्ने त्रेधा त्र॒याणि॑ वि॒द्मा ते॒ धाम॒ विभृ॑ता पुरु॒त्रा।
वि॒द्मा ते॒ नाम॑ पर॒मं गुहा॒ यद् वि॒द्मा तमुत्सं॒ यत॑ आज॒गन्थ॑ ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, पूर्व मन्त्र में कहे गये आदित्य, अग्नि और बडवानल नामक तुम्हारे तीनों रूपों को हम जानते हैं और आपके गार्हपत्य, आहवनीय, अन्वाहार्यपचन, आग्नीध्रीय आदि स्थानों को भी हम जानते हैं। मन्त्र में अत्यन्त गुप्त रूप से स्थित नाम को भी हम जानते हैं और उस उत्स्यन्दन जल रूप स्थान को भी हम जानते हैं, जहाँ आप विद्युत् रूप से प्राप्त होते हैं ॥ १९ ॥

हे अग्ने, ते तव त्रेधा प्रविभक्तानि रूपाण्यग्निवायुसूर्याख्यानि त्रयाणि धामानि जन्मानि विद्मा जानीमः। 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति दीर्घः। धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानि च। प्रकृते धामानि जन्मानि। धामेत्यत्र विभक्तिलोपः। गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्न्यतिप्रणीतधिष्ण्यप्रभृतीनि विभृता विहृतानि पुरुत्रा बहुषु प्रदेशेषु बहुरूपाणि धामानि स्थानान्यपि वयं विद्मः। विभृतेति विभक्तेराकारः। किञ्च, ते तव परममुत्कृष्टं गुहा गुहायां यद् व्यवस्थितं गोप्यं 'यविष्ठ' (वा० सं० ११।७३) इति मन्त्रप्रसिद्धं नाम यदस्ति तदपि विद्मः। किञ्च, यदुत्सादब्रूपात् स्थानात् त्वमाजगन्थ वैद्युतरूपेणागतोऽसि तमुत्समुत्स्यन्दनं जलरूपं स्थानं वयं विद्मः। आजगन्थेति गमेर्लिटि रूपम्। यद्वा सायणीयकाण्वभाष्यरीत्या हे अग्ने, यानि पूर्वस्मिन् मन्त्रे दिवस्परीत्यादिना त्रेधा स्वरूपाण्युक्तान्यादित्याग्निवाडवानलरूपाणि तानि त्रिसंख्याकानि ते तव सम्बन्धीनि रूपाणि वयं विद्मः। किञ्च, ते तव सम्बन्धीनि पुरुत्रा बहुषु प्रदेशेषु गार्हपत्याहवनीयान्वाहार्यपचनाग्निध्रीयरूपेषु विभृता विहृतानि बृंहितानि धाम धामानि स्थानानि च वयं विद्मः। किञ्च, ते तव परममुत्कृष्टं गुहा गुह्यं गोप्यं 'देवेद्धोमन् विद्ध' इत्यादिमन्त्रप्रतिपाद्यं नाम यदस्ति तदपि विद्मः। देवादीनां नामत्वं मन्त्रान्तरे सम्बोधनबलादवगम्यते। 'अग्ने देवेद्धोमन् विद्ध मन्द्र जिह्वेति' मन्त्रान्तरम्। यत उत्सरूपात् प्रस्रवणादाजगन्थ वैद्युतरूपेण त्वमागतोऽसि तमुत्समपि विद्मः।

तत्र ब्राह्मणम्—'विद्मा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणीति। अग्निर्वायुरादित्य एतानि हास्य तानि त्रेधा त्रयाणि विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रेति यदिदं बहुधा विह्रियते विद्मा ते नाम परमं गुहा यदिति यविष्ठ इति वा अस्य

तन्नाम परमं गुहा विद्मा तमुत्सं यत आजगन्थेत्यापो वा उत्सोऽद्भ्यो वा एष प्रथममाजगाम' (श० ६।७।४।४) । त्रेधा त्रयाणीत्येतद् व्याचष्टे—अग्निर्वायुरादित्य एतानि ह्यस्य तानि त्रेधा त्रयाणीति । विद्मा विजानीमः । द्वितीयपादं व्याचष्टे—विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रेति । यदिदं बहुधा विह्रियत इति बहुधा बहुप्रकारमाहवनीयायतनेषु विह्रियत इति यदिदमस्ति एतदेतेन प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । तृतीयं पादं व्याचष्टे—विद्मा ते नाम परमं गुहा यदितीति । गुह्यं नाम दर्शयति—यविष्ठ इति । चतुर्थपादं व्याचष्टे—विद्मा तमुत्सं यत आजगन्थेति । हे अग्ने, त्वं यत आजगन्थ आगतोऽसि तम् उत्सम्, उत्स्यन्दतेऽस्मादित्युत्सस्तम् । उत्सशब्देन विवक्षितमर्थं दर्शयति—आपो वा उत्सोऽद्भ्यो वा एष प्रथममाजगामेति । अद्भ्य उत्पत्तिः पूर्वमन्त्रे 'तृतीयमद्भ्योऽजनयत्' इत्यत्रोक्ता । ननु तत्राद्भ्यो जन्म तृतीयमित्युक्तम्, कथमत्र प्रथममाजगामेत्युच्यते ? नैष दोषः, तत्राग्नेः प्रजापत्यात्मकं चित्यात्मकं च रूपमपेक्ष्य तृतीयत्वमुक्तम् । इह तु मथनाद्यपेक्षया प्राथम्यं विवक्षितम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे ज्ञानरूपाग्ने, त्रेधा त्रिभिः प्रकारैस्त्रयाणि ते रूपाणि पूर्वमन्त्रोक्तानि ब्रह्मसाक्षिब्रह्माकारवृत्त्युपहितचैतन्यात्मकानि विद्मा विजानीमः । ते तव सम्बन्धीनि पुरुत्रा बहुषूपाधिषु जीवजगदीश्वरादिरूपेण विभृतानि नामानि च विद्मः । ते तव गुहा गुह्यं परमं सर्वोत्कृष्टं यदोमिति नाम तदपि विद्मा । हे ज्ञानाग्ने, यत उत्साद् उद्गमस्थानात् त्वमज्ञाननाशकरूपेणागतोऽसि, त्वदनुग्रहेण तद् ब्रह्मापि वयं स्वप्रकाशत्वेन अविफलतया विद्मः ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, ते तव यानि त्रेधा त्रिभिः प्रकारैस्त्रयाणि त्रीणि कर्माणि सन्ति तानि वयं विद्मः । हे स्थानेश, ते यानि विभृता विशेषेण धर्तुं योग्यानि पुरुत्रा बहूनि धाम धामानि सन्ति तानि वयं विद्मः । हे विद्वन्, ते तव यद् गुहा गुहायां स्थितं गुप्तं परमं नामास्ति तद्वयं विद्मः । यतस्त्वमाजगन्थ तं त्वामुत्समिव विजानीमः' इति, तदपि तुच्छम्, त्रेधा त्रीणि कर्माणि कानीत्यनुक्तेः, मूले कर्माणीति शब्दाभावाच्च, मनुष्यस्य कृते स्थानादिज्ञानस्यापुरुषार्थत्वेनापार्थकत्वाच्च । तथैव केषां केषां पुरतः कानि कानि गुप्तानि नामानीति ज्ञानस्यापि काकदन्तगर्दभरोमपरीक्षावन्निरर्थकत्वमेव, अपुरुषार्थत्वात् ॥ १९ ॥

स॒मु॒द्रे त्वा॑ नृ॒मणा॑ अ॒प्स्व॒न्तर्नृ॒चक्षा॑ ईधे दि॒वो अ॑ग्न॒ ऊध॑न् ।
तृ॒तीये॑ त्वा॒ रज॑सि तस्थि॒वाᳬंस॑म॒पामु॒पस्थे॑ महि॒षा अ॑वर्धन् ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, मनुष्यों के हितकारी प्रजापति ने समुद्र में वड़वानल रूप से वर्तमान आपको प्रदीप्त किया, मन्त्रों का पाठ करने वाले पुरुषों के कण्ठ से प्रजापति ने वृष्टिरूप जल के भीतर विद्युत् रूप से प्रकाशित किया, द्युलोक के उत्कृष्ट प्रकाशक के रूप में तेजोमण्डल आदित्य में स्थित होकर प्रजापति ने आपको प्रदीप्त किया । महान् प्राणों ने जल के उत्संग में स्थित होकर आपको प्रदीप्त किया ॥ २० ॥

हे अग्ने, त्वामीधे अहं यजमानो दीपयामि । कीदृशो यजमानः ? नृमणाः, नृषु कर्मानुष्ठानतत्परेषु ऋत्विक्षु मनोऽनुसन्धानकारणं चित्तं यस्यासौ । पुनः कीदृशो यजमानः ? नृचक्षाः, नृषु वेदपारङ्गतेषु पुरुषेषु मध्ये चष्टे मन्त्रान् सुस्पष्टं वक्तीति । कीदृशं त्वाम् ? तस्थिवांसं वडवानलादिरूपेणावस्थितम् । तथा अप्सु वृष्टिरूपासु अन्तर्वैद्युतरूपेणावस्थितं तथा दिवो द्युलोकस्य ऊधन् ऊधःस्थानीये तृतीये समुद्रवृष्ट्यपेक्षया तृतीये रजसि रञ्जनात्मके तेजोमण्डले सूर्यरूपेण तस्थिवांसं त्वामीधे । महिषा महान्तो यजमाना अपामुत्सङ्गे अवर्धन् अवर्धयन् । यद्वा हे अग्ने, नृमणा नृषु अनुग्रहात्मकं मनो यस्य स प्रजापतिः समुद्रे वडवानलरूपेण तस्थिवांसं वर्तमानं त्वामीधे

दीपयाञ्चकार। नृचक्षा नृषु पठत्सु पुरुषेषु चष्टे मन्त्रान् विस्पष्टं वक्तीति नृचक्षाः प्रजापतिः, अप्सु वृष्टिरूपासु अन्तर्मध्ये विद्युद्रूपेण स्थितं त्वामीधे। महिषा महान्तः प्राणा अपामुपस्थे उत्सङ्गे नाव्यानामपां मध्ये स्थितं त्वामवर्धयन्। 'छन्दस्युभयथा' (पा० सू० ३।४।११७) इति शप आर्धधातुकत्वाण्णिलोपः। 'प्राणा वै महिषाः' (श० ६।७।४।५) इति श्रुतिः। यद्वा हे अग्ने, त्वा त्वां समुद्रे तत्रापि अप्स्वन्तः, नृमणा नृषु मनुष्येषु मनोऽनुग्रहात्मकं यस्य स प्रजापतिः, ईधे अदीपयत्। तथा नृचक्षाः सर्वसाक्षित्वेन मनुष्याणां द्रष्टा प्रजापतिः, दिव ऊधन् ऊधसि तृतीये रजसि लोके 'लोका रजांस्युच्यन्ते' (नि० ४।१९) इति यास्कोक्तेः, आदित्यात्मना तस्थिवांसं स्थितवन्तं त्वामपामुपस्थे उत्सङ्गे दिवि महिषा महान्तः प्राणा वायवः, वायुप्राणयोरभेदात्, अवर्धन्। यद्वा अप्शब्देन तज्जं पुष्करपर्णमुच्यते, तस्यैव द्योतमानत्वात् पृथिव्यसंस्पर्शाद् दिवीति ब्राह्मणेन व्याख्यातत्वात्, 'तमद्भ्य उपोदासृप्तं पुष्करपर्णे विवेद' (श० ७।३।२।१४) इति श्रुतेश्च। तत्र महिषा ऋत्विक्सम्बन्धिनः प्राणा अवर्धन् वर्धयाञ्चक्रुः। यद्वा दिवो द्युलोकस्य ऊधसि महोदकप्रदेशे आदित्यात्मना नृचक्षा एव ईधे।

तथा च ब्राह्मणम्—'समुद्रे त्वा नृमणा अप्स्वन्तरिति। प्रजापतिर्वै नृमणा अप्सु त्वा प्रजापतिरित्येत- न्नृचक्षा ईधे दिवो अग्न ऊधन्निति प्रजापतिर्वै नृचक्षा आपो दिव ऊधस्तृतीये त्वा रजसि तस्थिवाᳬं समिति द्यौर्वै तृतीयᳬं रजोऽपामुपस्थे महिषा अवर्धन्निति प्राणा वै महिषा दिवि त्वा प्राणा अवर्धन्नित्येतत्' (श० ६।७।४।५)। नृचक्षःशब्देन प्रजापतिर्विवक्षितः, दिव ऊधन्नित्यनेन आपो विवक्षिता इति व्याचष्टे— प्रजापतिर्वै नृचक्षा आपो दिव ऊध इति। तृतीयं रज इति द्यौर्विवक्षिता, अपामुपस्थ इत्यनेन च द्यौर्विवक्षिता, महिषा इति प्राणा विवक्षिता इति दर्शयति—द्यौर्वै तृतीयं रजः, प्राणा वै महिषाः, दिवि त्वा प्राणा अवर्धन्नित्येतदिति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने ज्ञानाग्ने, त्वा त्वां समुद्रे संसारसमुद्रे, अप्सु कर्मफलभूतेषु विशिष्टमनुष्यशरीरेषु, नृमणाः प्रजानुग्रहमनाः प्रजापतिः, ईधे अदीपयत्, वेदवेदान्तसम्प्रदायप्रवर्तनद्वारा इति शेषः। कीदृशः प्रजापतिः? नृचक्षाः सर्वसाक्षित्वेन मनुष्याणां द्रष्टा, स्पष्टमन्त्रोच्चारयिता वा। दिवः प्रकाशात्मकस्य सत्त्वगुणस्य ऊधन् ऊधोरूपेऽन्तःकरणे समुद्रापेक्षया तृतीये रजसि रञ्जनात्मके तेजोमयेऽन्तःकरणे ब्रह्मात्मसाक्षात्काररूपेण तस्थिवांसं त्वामीधे। किञ्च, महिषा महान्तः प्राणा वाङ्मनश्चक्षुरादयः, अपां कर्मफलभूतानां देहानामुपस्थे उत्सङ्गे अपां मध्ये स्थितं त्वामवर्धन्। वेदानां पठनश्रवणमननिदिध्यासनैः संशयविपर्ययज्ञानापनोदनेन वर्धयन्तीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, नृमणा नायकमना अहं त्वां समुद्रेऽन्तरिक्षेऽग्निमिव ईधे प्रदीप्ये। नृचक्षा बहुमनुष्यदर्शनोऽहम् अप्सु अन्नेषु जलेषु वा अन्तर्मध्ये ईधे प्रकाशयामि। दिवः सूर्यप्रकाशस्य ऊधन् ऊधसि उषसि, 'ऊध इति उषसो नामसु' (निघ० १।८), प्रातःकाले ईधे। तृतीये रजसि लोके तस्थिवांसं सूर्यमिव यं त्वामपामुपस्थे समीपे महिषा महान्तो विद्वांसोऽवर्धन्, स त्वमस्मान् सततं वर्धय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निरर्थकत्वात्। कोऽयं नायकपुरुषो विचारकः? कं चान्तरिक्षेऽग्निमिव प्रकाशयति? बहुमनुष्यदर्शनश्च न कश्चिदेक एव, मनुष्येषु तस्य सर्वसाधारणत्वात्। दिव ऊधन्नुषसि त्वां प्रकाशयामीत्यादिषु पदकृत्यानि नोक्तानि ॥ २० ॥

अक्र॑न्दद॒ग्निः स्त॒नय॑न्निव॒ द्यौः क्षामा॒ रेरि॑हद्वी॒रुधः॑ सम॒ञ्जन्।

स॒द्यो ज॑ज्ञा॒नो वि हीमि॒द्धो अख्य॒दा रोद॑सी भा॒नुना॑ भात्य॒न्तः ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—अग्निदेवता मेघ के समान गर्जन करते हुए, पृथ्वी का आस्वादन करते हुए, औषधि वृक्ष आदि को अंकुरित करते हुए शीघ्र प्रकट होकर द्यावापृथिवी में परिव्याप्त होकर अपनी आभा से देदीप्यमान होते हैं ॥ २१ ॥

कण्डिकेयं (१२।६) स्थले व्याख्याता। केवलं स्वामी दयानन्द एव पूर्वस्मादर्थाद् अत्रत्यं कण्डिकार्थं विशिनष्टि। अतः स एवोद्धृत्य विचार्यते।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं यथा द्यौः सूर्योऽग्निः स्तनयन्निव वीरुधः समञ्जन् प्रकटयन् सन् सद्यो ह्यक्रन्दद् गमयति क्षामा पृथिवीं रेरिहत् ताडयति। अयं जज्ञानो जायमान इद्धः प्रदीप्यमानः सन् भानुना किरणसमूहेन रोदसी प्रकाशभूमी ईम् सर्वतो व्यख्यत् ख्याति ब्रह्माण्डस्यान्तरा भातीति तथा भवत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अनुपपत्तेः। तथाहि किमियं कण्डिका लोकसिद्धमर्थं वक्ति, अपूर्वं वा? नान्त्यः, सर्वत्र त्वया दृष्टार्थत्वेनैव व्याख्यातत्वात्। न प्रथमः, सूर्यलोकशब्दयितृत्वस्य लोकाप्रसिद्धत्वात्। वीरुधां प्रकटयितृत्वमपि धरणोजलानिलसम्पृक्तबीजानामेव, वीरुत्प्राकट्यहेतुत्वेन सूर्यलोकस्य तत्रान्यथासिद्धत्वात्। सूर्यलोकस्य पदार्थानामितस्ततो भ्रामकत्वमपि प्रमाणशून्यमेव। पृथिव्याः कम्पयित्रीत्वमपि प्रमाणसापेक्षमेव, रोदसीपदेन द्यावापृथिव्योरुक्तत्वात्, दिवः स्वस्य कम्पयितृत्वानुपपत्तेः, ईम् इत्यस्य सर्वत इति कथमर्थ इत्यनुक्तेः ॥ २१ ॥

श्रीणामुदारो धरुणो रयीणां मनीषाणां प्रार्पणः सोमगोपाः।
वसुः सूनुः सहसो अप्सु राजा विभात्यग्र उषसामिधानः ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—गाय, घोड़ा आदि पशुधन से और धन-सम्पत्ति से परिपूर्ण करने वाले, मन की सभी अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाले, यजमान के लिये सोमयाग की रक्षा करने वाले, सबके निवासहेतु, मन्थन के वेग रूप बल से प्रकट होने वाले, पुत्र रूप जल में स्थित वरुण रूप राजा, प्रभात के समय आदित्य रूप से देदीप्यमान अग्निदेव विशेष रूप से प्रकाशित होते हैं। अभिप्राय यह है कि प्रभात काल में अग्नि होम आदि यज्ञ-कर्मों में प्रकट होती है ॥ २२ ॥

एवंविधोऽग्निर्विभाति विशेषेण भासते। कथंभूतोऽग्निः? श्रीणां लक्ष्मीणां सम्पदां गोहस्तिभूहिरण्यादिलक्षणानामुदारोऽत्यर्थं दाता, 'उदारो दातृमहतोर्दक्षिणेऽप्यभिधेयवत्' इति मेदिनीकोषात्। रयीणां धनानां धरुणो धारयिता। कश्चिद्धनवानपि न दाता भवति। नायं तथा। किन्तु मनीषाणां मनसा एषितानामभिलषितानां कामानां प्रार्पणः प्रकर्षेणार्पयिता। सोमगोपाः सोमं गोपायतीति। धिष्ण्या अग्नयः सोमं गोपायन्ति, तदभिप्रायमेतत्। अथवा तत्तद्यजमानकर्तृकसोमयागस्य रक्षिता। वसुः वासयतीति वसुः। सर्वस्य निवासहेतुः। वासयिता। वसुर्धनरूपो वा। यथाऽन्यानि शयनासनरथादिधनानि भूतानामुपकुर्वन्ति, तथायमपि तापपाकप्रकाशैरुपकरोति जनानां तस्मादपि वसुः। सहसो बलस्य सूनुः, मन्थनबलेन जन्यत्वात्। अप्सु राजा जलेऽवस्थितो वरुणात्मना राजा। यद्वा वृष्टिरूपास्वप्सु राजा विद्युद्रूपेण दीप्यमानः। उषसामग्रे प्रातःकाले इधान आदित्यात्मना दीप्यमानः। यद्वा उषसां प्रभातानामग्रेऽग्निहोत्रहोमायाग्नयः प्रदीप्यन्त इत्यभिप्रायः।

अध्यात्मपक्षे—हे ज्ञानाग्ने, त्वं श्रीणां साम्राज्यस्वाराज्यवैराज्यमोक्षादिलक्ष्मीणामुदारोऽत्यर्थं दाता। रयीणां धनानां भौतिकानामाध्यात्मिकानां च धरुणो धर्ता। मनीषाणां मनसेप्सितानां कामानां प्रार्पणः प्रापकः सोमेन साम्बशिवेन गोपायिता। ज्ञानादेव शिवः साधकं गोपायति, 'स एनमविदितो न भुनक्ति' (बृ० १।४।१५) इति श्रुतेः। वसुरनुपमधनरूपोऽसि, बौद्धात् प्रयत्नातिशयाज्जातत्वात्। सहसो बलस्य सूनुः सुतोऽसि।

अप्सु लोकेषु त्वमेव राजा प्रकाशमानः। उषसां विविधाभ्युदयप्रभातानामग्रे मुखे इधानो दीप्यमानो भवानेव विभाति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं यो जन उषसामग्रे सम्मुखे इधानः प्रदीप्यमानः सूर्य इव श्रीणां लक्ष्मीणामुदारः उत्कृष्टान् परीक्ष्य ऋच्छति। रयीणां धनानां धरुणो धर्ता मनीषाणां प्रज्ञानां याभिर्मन्यन्ते जानन्ति ता मनीषाः, तासां प्रार्पणः प्रापकः सोमगोपाः सोमानामोषधीनामैश्वर्याणां वा रक्षकः सहसो बलवतः पितुः सूनुः सुतो वसुः कृतब्रह्मचर्यः, अप्सु प्राणेषु राजा प्रकाशमानः, विभाति प्रदीप्यते, तं सर्वाध्यक्षं कुरुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विधेयांशस्याप्राप्तत्वात्। सहसो बलार्थत्वेऽपि तद्वत्त्वार्थता तु गौणार्थतैव। सूर्य इव प्रदीप्यमान इत्यपि गौणार्थाश्रयणमेव। उत्तमान् परीक्ष्य ऋच्छतीत्यपि गौणार्थाश्रयणमेव, उदित्यस्य तावदर्थत्वे मानाभावश्च ॥ २२ ॥

विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भ आ रोदसी अपृणाज्जायमानः।
वीडुं चिदद्रिमभिनत् परायन् जना यदग्निमयजन्त पञ्च ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—सम्पूर्ण जगत् का विज्ञानस्वरूप आत्माग्नि सभी प्राणियों के अन्तर में वायु रूप से प्रकट होने वाला आत्मा द्यावापृथिवी को सब प्रकार के तेज से पूर्ण करता है। चन्द्र रूप से सब ओर विचरण करता हुआ मेघ को विदीर्ण करता है, अर्थात् जो प्रतिदिन उदित होकर अतिसुदृढ़ पर्वत का भी रन्ध्रभेद कर भूलोक से द्युलोक पर्यन्त प्रदेश को अपनी ज्योति से पूर्ण करता है, मनुष्यगण उस अग्नि का सब प्रकार से यजन करते हैं ॥ २३ ॥

सोऽग्निः, विश्वस्य सर्वस्य केतुर्ज्ञाता भुवनस्य लोकस्य गर्भो गर्भवदन्तरेव स्थितः। यद् इत्यविभक्तिको निर्देशः, विभक्तेर्लोपो वा। यश्च जायमानः सूर्यात्मना दीप्यमान एव रोदसी द्यावापृथिव्यौ आ अपृणात् सर्वतः स्वतेजसा पूरयति। यं च यजमानसहिता ऋत्विग्रूपाः पञ्चजनाः, चत्वारो महर्त्विजो यजमानश्च पञ्चसंख्याका जना अयजन्त यजन्ते पूजयन्ति। यद्वा विप्राद्याश्चत्वारो वर्णा निषादश्च पञ्चमो यं पूजयन्ति। तदानीं परायन् आहुतिरूपेणादित्यसमीपं गच्छन् वीडुं चिद् दृढमप्यद्रिं पर्वतसमानं मेघम् अभिनद् विदारितवान्।

उव्वटाचार्यरीत्या व्याख्यानं यथा—यच्छब्दयोगाच्चतुर्थः पादः प्रथमं व्याख्यायते। यद् इत्यविभक्तिको निर्देशः। यमग्निं पञ्चजनाः पूर्वोक्ता अयजन्त इष्टवन्तः स विश्वस्य सर्वस्य प्राणिजातस्य केतुः प्रजानन् अग्न्यात्मना भुवनस्य भूतजातस्य गर्भो वाय्वात्मना अन्तरवस्थितः स एव रोदसी द्यावापृथिव्यौ जायमान एवादित्यात्मना आ अपृणाद् आपूरयति, स एव मध्यस्थानमन्तरिक्षमारुह्य परायन् परतो गच्छन् इन्द्रात्मना वीडुश्चिद् दृढमपि अद्रिम् अदारयितव्यं मेघमभिनद् भिनत्ति।

अध्यात्मपक्षे—यं ज्ञानरूपमग्निं पञ्चजनाश्चत्वारो वर्णाः पञ्चमो निषादश्च अयजन् इष्टवन्तो ज्ञानेनैव। ज्ञानस्यैव तद्वैशेष्यम्। स एव विश्वस्य सर्वस्य प्राणिजातस्य केतुः केतुवज्ज्ञापकः, भुवनस्य भूतजातस्य गर्भो गर्भवदन्तरवस्थितः, 'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्' (भ० गी० १३।१७) इति गीतोक्तेः। स एव जायमान उत्पद्यमानो ज्ञानाग्नी रोदसी द्यावापृथिव्यौ आपृणात् सुखेन पूरयति। स एव ब्रह्मात्मज्ञानात्मना परायन् परतो ब्रह्मभावमयन् गमयन्। अन्तर्भावितण्यर्थः। वीडुं चिद् दृढमपि शास्त्रादिभिरभेद्यमद्रिमिवाज्ञानमभिनद् भिनत्ति समूलमुन्मूलयति। अथवा निशाचरचमूवनदाहकोऽग्निः श्रीरामो विश्वस्य सर्वस्य भुवनस्य केतुर्विज्ञापको

ध्वजरूपः सर्वान्तर्यामिरूपेण गर्भवदन्तरवस्थितः. यश्च जायमान उदीयमानो रोदसी द्यावापृथिव्यौ आपृणात् आपूरयति यशसा, वीडुं चिद् दृढमप्यद्रिवद् दुर्भेद्यं पिनाकमभिनत् त्रोटितवान् परायन् पराभावयन्, शत्रूनिति शेषः। यद् यमग्निं श्रीरामं पञ्चजनाः सयजमाना महर्त्विजो विविधैर्यागैरयजन् इष्टवन्तः। ज्ञानाग्निपक्षेऽप्यद्रिवद् दुर्भेद्यमज्ञानमभिनत्। अन्यदपि यथायथं योज्यम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यद् यो विद्वान् विश्वस्य भुवनस्य केतुः पितृवद्रक्षको गर्भान्तरस्थो जायमानः परायन् परेतः सन् रोदसी प्रकाशभूमी आपृणात् प्रपूर्यात्। वीडुं दृढबलम् अद्रिं मेघमभिनद् भिन्द्यात्। पञ्चजना अग्निं विद्युतम् अयजन्त संगमयन्ति चिदिव विद्यादिशुभगुणान् प्रकाशयेत, तं न्यायाधीशं मन्यध्वम्' इति, तदपि स्वैरचारित्वमेव, तादृशाध्याहारस्य निर्मूलत्वात्। सम्बोधनमपि निर्मूलमेव। केतुः पालक इत्यपि चिन्त्यम्, गर्भो मध्ये स्थित इत्यपि निर्मूलम्, न्यायाधीशगुणेषु तदनुक्तेः। किञ्च, यदि भुवनशब्दस्य लोकमात्रार्थता, तदा व्यवच्छेद्याभावाद् व्यर्थमेव विशेषणम्। न च न्यायाधीशः शत्रून् प्राप्नोति, न वा रोदसी प्रपूरयति। न चाद्रिभेदको न्यायदानेऽपेक्षितः। प्राणा विद्युतं सङ्गमयन्ति, इत्येतदप्यसङ्गतमेव, प्रकृतानुपयोगात् ॥ २३ ॥

उ॒शिक् पा॑व॒को अ॑र॒तिः सु॑मे॒धा मर्त्ये॑ष्व॒ग्निर॒मृतो॒ नि धा॑यि।
इय॑र्ति धू॒मम॑रु॒षं भरि॑भ्र॒दुच्छु॒क्रेण॑ शो॒चिषा॒ द्यामिन॑क्षन् ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ— यह अग्निदेव लोगों का काम्य, कान्तिमान, शोधक, दुष्टों का दमन करने वाला, श्रेष्ठ बुद्धि वाला और मरणधर्म से रहित है। इस अग्नि को देवताओं ने मरणधर्मा मनुष्यों के कल्याण के लिये स्थापित किया है। इसका धूम जगत् के कल्याण के लिये वृष्टि के निमित्त आकाश में व्याप्त हो जाता है। जगत् को धारण करता हुआ निर्मल प्रभात युक्त यह अग्नि अपनी कान्ति से द्युलोक को व्याप्त कर लेता है ॥ २४ ॥

योऽग्निः, उशिक् कान्तः. वश् कान्तावित्यस्य सम्प्रसारणे रूपम्, पावकः पावयिता, अरतिः यागादिरहितेषु प्रीतिरहितः, अलंमतिः पर्याप्तमतिर्वा। सुमेधाः शोभना सेवकाभिप्रायधारणशक्तिर्यस्यासौ, कल्याणप्रज्ञः साधुयज्ञो वा। अमृतो मरणरहितो मर्तेषु मनुष्येषु यजमानेषु निधायि निहितो देवैस्त्वं नोऽस्य लोकस्याध्यक्ष एधीति अरुषं अरोषं चक्षुरुपद्रवरहितं धूमं भरिभ्रद् अतिशयेन धारयन् शुक्रेण निर्मलेन शोचिषा तेजसा प्रभारूपेण द्यामाकाशम् इनक्षन् व्याप्नुवन्, 'नक्षतिर्व्याप्तिकर्मसु पठितः'। (निघ० २।१८।२), नक्षतेरिकारागमश्छान्दसः, उदियर्ति ऊर्ध्वं प्रसारयति। यद्वा स भरिभ्रद् धारयन्निदं जगद् अरुषम् अरोचनं धूममुदियर्ति उद्गमयति, 'इतो वा अयमूर्ध्वꣳ रेतः सिञ्चति धूमꣳ सामुत्र वृष्टिर्भवति' (श० ७।४।२।२२) इति श्रुतेः। शुक्रेण शुभ्रेण शोचिषा नक्षत्रग्रहतारकसम्बन्धिना तेजसा प्रकाशेन धूममियर्ति, 'इतः प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति' इति श्रुतेः।

अध्यात्मपक्षे—अयमग्निः श्रीरामो ज्ञानाग्निर्वा। उशिग् उश्यते काम्यते लौकिकैरित्युशिक् काम्यमानः पावकः पावयिता नामोच्चारणमात्रेण, 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' (भ० गी० ४।३७)। अरतिः अलंमतिः पर्याप्तबुद्धिः, अरम् अलं मतिर्बुद्धिर्यस्य यस्माद्वा सोऽरतिः। छान्दसो मलोपः। सुमेधाः शोभना मेधा भक्ताभिप्रायधारणसमर्था बुद्धिर्यस्य यस्माद्वा, ब्रह्मात्मज्ञाने प्रपञ्चबाधाद् बुद्धिस्थैर्ये मेधावृद्धिदर्शनात्। मर्तेषु मरणधर्मसु मनुष्येषु निधायि, 'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्' (भ० गी० १३।१७)। ज्ञानाग्निः सर्वत्र सूक्ष्मरूपेण निहितः। अन्तर्यामिरूपेण श्रीरामश्च मर्त्योपलक्षितेषु सर्वेषु प्राणिषु निहितः स्थितः। कीदृशः सः? अमृतः। अमृतत्वहेतुत्वादमृतो ज्ञानाग्निः श्रीरामस्त्वमृतरूप एव। स उदियर्ति अरुषम् अरोचनं धूमं धूमतुल्यं

दोषमुद्गमयति निष्काशयति । 'व्यवहिताश्च' (पा० सू० १।४।८२) इत्युपसर्गक्रिययोर्व्यवधानम् । भरिभ्रद् अतिशयेन धारयन् उत्तमान् गुणानिति शेषः । शुक्रेण निर्मलेन शोचिषा दीप्त्या द्यां द्योतनात्मकमन्तःकरणमिनक्षन् व्याप्नुवन् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयमीश्वरेण मर्त्येषु य उशिक् कामयमानः पावकः पवित्रकर्ता अरतिर्ज्ञाता सुमेधाः शोभनप्रज्ञः अमृतः अविनाशी निधायि निधीयते, यः शुक्रेण आशुकरेण शोचिषा दीप्त्या द्यां सूर्यम् इनक्षन् व्याप्नुवन् धूममरुषं रूपं भरिभ्रद् अत्यन्तं भरन् पुरयन् उदियर्ति प्राप्नोति, तमीश्वरमुपासध्वम् उपकुरुत वा' इति, तदपि विसङ्गतमेव, हिन्दीव्याख्यानासङ्गतेः । तथाहि संस्कृते 'उशिक्' इत्यस्य कामयमान इति, हिन्दीव्याख्याने माननार्ह इति किं केन श्लिष्यते ? अरतिर्ज्ञानदातेत्यपि चिन्त्यम् । अमृत इति विशेषणं निरर्थकम्, आत्मरूपेण सर्वस्यैवाविनाशित्वात् । निधायि निश्चीयत इत्यपि चिन्त्यम्, धात्वर्थविरोधात् । किञ्च, यो धूममरुषं रूपं भरिभ्रद् इत्यस्याभिप्रायोऽप्यस्पष्ट एव । यत्तु अग्निर्धर्मं धरतीति भाव इति, तदपि न, अरुषमिति विशेषणस्य नैरर्थक्यात् । 'धूमं रूपप्रकाशसमर्थं करोति स्वार्चिषा स एवाग्निः' इत्यप्यसाम्प्रतम्, अर्चिषा धूमस्यैव प्रकाशो भवति न तु धूमेन रूपं प्रकाश्यते । ईश्वरोऽपि जीवानामन्धकाररूपमज्ञानं स्वप्रेरणया ज्ञानं प्रकाशसमर्थं करोतीत्यपि बालभाषितम्, ईश्वरो ज्ञानोत्पादनेनाज्ञानं नाशयति, नाज्ञानं ज्ञानं करोति, स्वभाववैषम्यात् ॥ २४ ॥

दृशानो रुक्म उर्व्या व्यद्यौद् दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः ।
अग्निरमृतो अभवद् वयोभिर्यदेनं द्यौरजनयत् सुरेताः ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—अपने सामने उपस्थित मनुष्यों को लक्ष्मी प्रदान करने के निमित्त अग्निदेव अभिलषित अखण्डित आयु के साथ सुवर्ण के आभरण के रूप में प्रकाशित होता है । यह अग्नि अन्न आदि के पुरोडाश में चिरकाल तक निवास करता है, क्योंकि सुन्दर अग्निरूप द्युलोकवासी देवगणों ने इस अग्नि को प्रकट किया है ॥ २५ ॥

व्याख्यातपूर्वेयं प्रथमकण्डिकायामस्मिन्नेवाध्याये ॥ २५ ॥

यस्ते अद्य कृणवद् भद्रशोचेऽपूपं देव घृतवन्तमग्ने ।
प्र तं नय प्रतरं वस्यो अच्छाभि सुम्नं देवभक्तं यविष्ठ ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—हे कल्याण दीप्ति वाले दिव्य गुणसंयुक्त अग्निदेव, इस समय आज प्रतिपदा के दिन जो यजमान आपके निमित्त घृतसिक्त पुरोडाश प्रदान करता है, हे अतियुवा अग्निदेव, उस यजमान को आप अतिश्रेष्ठ स्थान दीजिये । देवताओं के भोगयोग्य सभी प्रकार के सुख उसे प्राप्त कराइये ॥ २६ ॥

हे भद्रशोचे, भद्रा कल्याणरूपा शोचिर्दीप्तिर्यस्यासौ भद्रशोचिस्तत्सम्बुद्धौ हे अग्ने देव, ते तव अद्य अस्मिन् दिने घृतवन्तं घृतयुक्तमपूपम् उपस्तरणाभिघारणोपेतं पुरोडाशं यो यजमानः कृणवत् कृणोति करोति, हे यविष्ठ युवतम, देवभक्तं देवेषु भक्तियुक्तं तं पुरोडाशकारिणं यजमानम् अभि सुम्नम् अभिमतं सुखमच्छ प्राप्तुं प्र प्रकर्षेण नय प्रेरय । कीदृशं सुम्नम् ? प्रतरं प्रकृष्टतरं वस्योऽतिशयेन निवासकारणम्, 'स आज्यस्योपस्तीर्य द्विर्हविषोऽवदायाथोपरिष्टादाज्यस्याभिघारयति' (श० १।७।२।१०) इति श्रुतेः । वसति यत्र तद् वस्तृ, तृन्प्रत्ययः, अतिशयेन वस्तृ वसीयः । 'तुश्छन्दसि' (पा० सू० ५।३।५९) इतीयसुन् प्रत्ययः । 'तुरिष्ठेमेयःसु' (पा० सू०

६।४।१५४) इति तृचो लोपे छान्दस ईलोपे वस्य इति रूपम् । 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (पा० सू० ६।१।११५) इति वस्यो अच्छेत्यत्र सन्ध्यभावः । यद्वा तं प्र नयसीति प्राप्ते छान्दसो लोट् । तं यजमानं प्रतरं प्रकृष्टतरं वसीयः स्थानं वस्तृतमं स्थानम् उत्तमं लोकं प्रनय प्रापय । अच्छ आभिमुख्येन सुम्नं सुखं च अभिनय सर्वतः प्रापय । कीदृशं सुखम् ? देवभक्तं देवसेवितं देवयोग्यं सुखं प्रापयेत्यर्थः, 'स लोकमागच्छत्यशोकमहिमं तस्मिन् वसति शाश्वतीः समाः' (बृ० उ० ५।१०) इति श्रुतेः ।

अध्यात्मपक्षे—हे श्रीरामरूपाग्ने ! इत्यादि पूर्ववदेव व्याख्येया कण्डिका । आहोस्विद् हे भद्रशोचे भद्रदीप्ते ज्ञानाग्ने, यस्ते तुभ्यं त्वत्प्राप्त्यर्थम् अद्य अस्मिन् काले घृतवन्तमपूपं पुरोडाशं कृणोति देवेभ्य इति शेषः । हे यविष्ठ युवतम, तं प्रतरं प्रकृष्टतरं सुम्नं ब्रह्मात्मकं सुखम् अच्छाभिप्राप्तुं प्रणय प्रेरय । कीदृशम् ? वस्यः, उत्तमं ब्रह्मात्मकं निवासस्थानं देवैरपि सेवितम् अच्छाभिप्राप्तुं प्रणय प्रेरयेति सम्बन्धः ।

दयानन्दस्तु—'हे भद्रशोचे यविष्ठ देवाग्ने विद्वन् पुरुष, यस्ते तव घृतवन्तं बहुघृतं विद्यते यस्मिंस्तम् अभिसुम्नं सुखस्वरूपं वस्योऽतिशयितं वसु तद् देवभक्तं विद्वद्भिः सेवितम् अपूपम् अच्छ कृणवत् कुर्यात् तं प्रतरं पाककर्तारं त्वमद्य प्रणय' इति, 'तदपि तुच्छम्, रागास्पदत्वेन तस्य स्वयं प्राप्तत्वात् तद्विधानायोगात् । प्रतरं पाककर्तारमित्यपि निर्मूलम् । प्रणयेत्यस्य प्राप्तो भवेति हिन्दीव्याख्यानमप्यसङ्गतम् ॥ २६ ॥

आ तं भ॑ज सौश्रवसेष्व॑ग्न उक्थ उ॑क्थ आभ॑ज शस्यमा॑ने ।
प्रियः सूर्ये॑ प्रियो अग्ना भ॑वात्युज्जातेन॑ भिनदुज्जनि॑त्वैः ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, उस यजमान की कीर्ति को बढ़ाने वाले यज्ञकर्म में आप उपस्थित रहें । प्रत्येक उक्थ काण्ड में स्तोत्र, शस्त्र आदि को सविधि सम्पन्न कर उसकी प्रीति को बढ़ावें, उसे सूर्य का और अग्नि का प्रीतिपात्र बनावें, उसे पुत्र प्रदान कर उसके वंश की वृद्धि करें ॥ २७ ॥

हे अग्ने, सौश्रवसेषु श्रव एव श्रवसम्, सुष्ठु शोभनं श्रवसं येषां तानि सुश्रवसानि तान्येव सौश्रवसानि तेषु साधुश्रवणीयेषु यज्ञादिकर्मसु तं यं यजमानम् आभज आभजसि । यदः स्थाने तदो वृत्तिः, लटः स्थाने लोटो वृत्तिरर्थसम्बन्धात् । सुष्ठु शोभनं श्रवो यशो येषां तानि सुश्रवांसि, तान्येव सौश्रवसानि तेष्विति वा व्युत्पत्तिः । तेष्वेव कर्मसु उक्थे उक्थे निष्कैवल्ये प्रउगादौ च शस्त्रे शस्यमाने यमाभजसि आसेवसे, स यजमानः सूर्ये सूर्यस्य प्रियो भवति, अग्ना अग्नेश्च प्रियो भवति । विभक्तेराकारः प्रकृतेरिकारलोपश्च छान्दसः । किञ्च, उज्जातेन औरसपुत्रसङ्घातेन भिनदद् धर्मार्थकामान् उद्भिनत्ति, सम्पादयतीत्यर्थः । जनित्वैः जनिष्यमाणैश्च पौत्रप्रपौत्रसंघैश्च उद्भिनत्ति वेदार्थाननुष्ठाय अभ्युदयं प्राप्नोति । प्रजा यस्य स्वर्गयायिनी भवतीत्यभिप्रायः—इत्युव्वटाचार्यः ।

यद्वा—हे अग्ने, सौश्रवसेषु सुष्ठु शोभनं श्रवः कीर्तिः सुश्रवः, तस्य इमानि हेतुत्वेन सम्बन्धीनि यागादिकर्माणि सौश्रवसानि तेषु । उक्थे उक्थे तेष्वेवकर्मसु निष्कैवल्ये प्रउगादिरूपे तत्तच्छस्त्रे शस्यमाने सति तं देवभक्तं यजमानं आभज सर्वतः सेवस्व निरन्तरं कर्मानुष्ठायिनं कुर्वित्यर्थः । आभजेति द्विरुक्तेर्वाक्यद्वयं कर्तव्यम्—कर्मसु प्रेरयेत्येकं वाक्यम्, तत्तच्छस्त्रे प्रेरयेत्यपरम् । अयं यजमानः सूर्ये।सूर्यस्य प्रियो भवाति भवति । लडर्थे लेट् । अग्नौ अग्नेरपि प्रियो भवति । ङसो डादेशः । तथा जातेन उत्पन्नेन औरसपुत्रेण उद्भिनदत्

उद्भेदमुदयं वृद्धिमाप्नोतु । इलोपेऽडागमे च उद्भिनददिति रूपम् । तथा जनित्वैः जनिष्यमाणैश्च उद्भिनदत् । ये जनिष्यन्ते ते जनित्वाः, तैः । भविष्यदर्थे औणादिक इत्वप्रत्ययः । 'कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः' (पा० सू० ३।४।१४) इति त्वन्प्रत्यय इति हलायुधः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने श्रीराम, यः सौश्रवसेषु यागादिकर्मसु निष्ठावान् प्रवृत्तः, तं देवभक्तं यजमानम् आभज अभीष्टप्रदानेन आसेवस्व । उक्थे उक्थे निष्कैवल्यप्रगाथादिरूपे च शस्यमाने तत्तच्छस्त्रे तमाभज, कर्मसु शस्त्रेषु च प्रेरय । एवं त्वया सेवितस्त्वदाराधनलक्षणेषु कर्मसु शस्त्रादिषु प्रेरितः सूर्ये सूर्यस्य अग्ना अग्नेश्च तदुपलक्षितानां सर्वेषामपि देवानां प्रियो भवति, 'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः' (भा० पु० ५।१८।१२) इति श्रीमद्भागवतोक्तेः । तथा जातेनोत्पन्नेन ज्ञानादिना, तथा जनित्वैर्जनिष्यमाणैश्च शान्तिदान्त्यादिभिः, उद्भिनदद् ऐहिकमामुष्मिकं च उद्भेदमभ्युदयं वृद्धिं प्राप्नोत्वित्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, त्वं यः सौश्रवसेषु शोभमानानि श्रवांसि सुश्रवांसि तेषु भवस्तेषु वर्तमानस्तमाभज सेवस्व । यः शस्यमान उक्थे उक्थे वक्तुं योग्ये योग्ये व्यवहारे प्रियः कान्तः सूर्ये सूरिषु स्तोतृषु भवे अग्नौ च प्रियः सेवनीयो जातेन जनित्वैः सहोद्भवति भवेद् उद्भिनदद् भिन्द्यात् तं त्वमाभज' इति, तदप्यपेशलम्, असङ्गतेः, शोभनधनादिषु यो वर्तमानस्तमाभजेत्यस्याभिप्रायानिरूपणात्, शस्यमाने यः प्रियः प्रीतिं करोतीत्यनेनैवोपपत्तौ वक्तुं योग्ये योग्ये इत्यंशस्य वैयर्थ्यापत्तेः । प्रियपदस्य प्रीतिकरोऽर्थ इत्यपि चिन्त्यम्, उक्थपदस्य वैदिकेषु निष्कैवल्यादिषु रूढत्वेन तदतिरिक्तार्थत्वे मानाभावात् । अग्ना इत्यस्य अग्निविद्यार्थतापि निर्मूलैव । जातेन जनिष्यमाणैः सहोद्भवतीत्यपि निरर्थकमेव, जातानां जनिष्यमाणानां चावर्तमानत्वे सहभावासम्भवात् ॥ २७ ॥

त्वामग्ने यजमाना अनु द्यून् विश्वा वसु दधिरे वार्याणि ।
त्वया सह द्रविणमिच्छमाना व्रजं गोमन्तमुशिजो विवव्रुः ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेवता, यह यजमान आपकी सेवा में लगा हुआ है । इसे दिन में वरणीय सम्पूर्ण धनधान्य, गो-सुवर्ण आदि ऐश्वर्य से आप सम्पन्न करें, यह यजमान आपके साथ यज्ञ-फल द्वारा आपकी सेवा करने की इच्छा से बुद्धिमान् ज्ञानकर्मसमुच्चयकारी मनुष्यों के समान रविमण्डल के मध्य में देवयान मार्ग का सेवन करे ॥ २८ ॥

हे अग्ने, त्वां यजमाना अनुद्यून् अन्वहम् । द्युशब्दो दिनवाची । अहन्यहनि विश्वा विश्वानि वसु वसूनि गोभूहिरण्यादीनि दधिरे धारयन्ति । कीदृशानि तानि ? वार्याणि वरणीयानि । कीदृशा यजमानाः ? त्वया सह द्रविणं यज्ञफलमिच्छमानाः कामयमानाः । किञ्च, त्वया सह स्थितास्त्वां भजन्तस्ते व्रजं व्रजन्ति सुकृतिनोऽनेनेति व्रजस्तं देवयानमार्गं गोमन्तम् आदित्यसम्बन्धिरश्मिसंयुक्तम् । उशिजो मेधाविनः कर्मोपासनसमुच्चयानुष्ठायिनः, विवव्रुः विभिदुः । आदित्यमण्डलस्य मध्येन ज्योतिर्मयं देवयानमार्गं कृतवन्त इत्यर्थः । सायणरीत्या तु हे अग्ने, यजमानाः सर्वे द्यून् प्रतिदिनं त्वामनु त्वामेवानु गच्छन्तो वार्याणि वरणीयानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि वसु वसूनि धनानि गोभूहिरण्यादीनि दधिरे धृतवन्तः । त्वया सहावस्थितास्ते द्रविणमधिकं द्रव्यमिच्छमानाः काङ्क्षन्त उशिजो धनसाध्यानि कर्माणि कामयमाना गोमन्तं गोभिर्युक्तं व्रजं गोनिवासस्थानं विवव्रुर्विशेषेण वृतवन्त इत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने श्रीकृष्ण, यजमानास्त्वदाराधनपरायणा द्यून् प्रतिदिनं त्वामनु त्वामेवानुगच्छन्तस्त्वद्भक्ता वार्याणि वरणीयानि ज्ञानध्यानादीनि विश्वानि बाह्यानि आध्यात्मिकानि च वसूनि धनानि दधिरे धृतवन्तः। त्वया भगवता सहावस्थिता द्रविणं सर्वाधिकद्रविणमिच्छमानाः काङ्क्षन्त उशिजो धनाद्यानि त्वदर्चनलक्षणानि कर्माणि कामयमाना गोमन्तं गोभिर्युतं व्रजं प्रसिद्धं नन्दव्रजं गोलोकं वा विवव्रुर्विशेषेण वृतवन्तः।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, यं त्वामाश्रित्य उशिजो मेधाविनो यजमानास्त्वया सह यान् अनुद्यून् दिनानि विश्वा सर्वाणि वार्याणि स्वीकर्तुमर्हाणि वसूनि द्रव्याणि दधिरे धरेयुः। द्रविणमिच्छमाना गोमन्तं प्रशस्ता गावः किरणा यस्मिंस्तं व्रजं मेघं विवव्रवृणुयुः, तथाभूता वयमपि भवेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निरर्थकत्वात्, लौकिकार्थस्य लौकिकमानैरेव वेद्यत्वेन तत्र वेदप्रमाणानुपयोगात् ॥ २८ ॥

अस्ताव्यग्निर्नराᳬं सुशेवो वैश्वानर ऋषिभिः सोमगोपाः ।
अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेम देवा धत्त रयिमस्मे सुवीरम् ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—मनुष्यों को सुन्दर सुख देने वाले, जठराग्नि के रूप में सबके हितकारी, सोमरक्षक अग्निदेवता ऋषियों के द्वारा स्तुति किये जाने पर द्वेषरहित होकर भूमि और द्युलोक के अधिष्ठात्री देवताओं का आह्वान करते हैं। हे देवताओं, हमारे निमित्त वीर पुत्र और सुन्दर ऐश्वर्य प्रदान करो ॥ २९ ॥

ऋषिभिर्ऋत्विग्यजमानैः, अग्निः वैश्वानरो विश्वानरसम्बन्धी, अथवा विश्वेभ्यः सर्वेभ्यो नरेभ्यो हितो जाठराग्निरूपेण। अस्तावि स्तुतः। कथंभूतोऽग्निः? नरां नराणां नुडागमाभावे गुणे च रूपम्। सुशेवः सुष्ठु शोभनं शेवः सुखं यस्मादसौ शोभनं सुखयिता। पुनः कथंभूतः? सोमगोपाः सोमं गोपायतीति सोमगोपाः। तृतीयचतुर्थपादौ लिङ्गोक्तदेवत्यौ। यतोऽग्निः स्तुतः, अतोऽद्वेषे द्वेषरहिते द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ हुवेम आह्वयामः, तदाश्रयकर्मप्राप्त्यर्थम्। हे देवा यूयमपि, अस्मे अस्मभ्यं रयिं धनं धत्त दत्त, सुवीरं शोभनपुत्रं च धत्त दत्त स्थापयत।

अध्यात्मपक्षे—ऋषिभिर्वशिष्ठादिभिः, अग्निः परमेश्वरः, अस्तावि श्रीरामादिरूपेण स्तुतः। कथंभूतः? नरां नराणां मनुष्याणां सुशेवः सुष्ठु रीत्या सेवितुं योग्यः शोभनं यथा स्यात्तथा सुखयिता वा। वैश्वानरः विश्वेभ्यो नरेभ्यो हितः सर्वहितकारी। सोमगोपाः सोमरसोपलक्षितकर्मकाण्डादीनां रक्षिता, 'प्रचारज्ञश्च कर्मणाम्' (वा० रा० सु० ३५।१२) इति वाल्मीकीयरामायणात्। अद्वेषे रागद्वेषादिविहीनौ द्यावापृथिवी तदभिमानिनौ तद्वत् पूज्यौ वा सीतारामौ हुवेम आह्वयामः। हे देवाः परमेश्वरांशभूताः, यूयम् अस्मे अस्मभ्यं रयिं शमादिसम्पत्ति सुवीरम् अज्ञानादिनाशक्षयं ज्ञानरूपं पुत्रं धत्त स्थापयत। शोभनपुत्रोपेतं लौकिकं वा धनं दत्त।

दयानन्दस्तु—'द्यावापृथिवीत्यनेन राजनीतिभूराज्ये गृहीते' इति, तदपि निःसारम्, गौणार्थाश्रयणात्। 'रयिं राज्यलक्ष्मीं सुवीरं शोभना वीरा यस्यामित्युक्तम्, तदपि यत्किञ्चित्, राज्यश्रियो वीरलभ्यत्वात् ॥ २९ ॥

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ—हे ऋत्विजों, तुम लोग समिधा से अग्नि का पूजन करो। घृत की आहुति देकर अतिथि के रूप में उपस्थित पूजनीय अग्नि को प्रज्वलित करो। इस प्रज्वलित अग्नि में नाना प्रकार की आहुतियां दो ॥ ३० ॥

अथ वनीवाहनसंज्ञकं कर्माह—'प्रागनः कृत्वोख्यस्योत्तरतः समिदाधानꣳ समिधाग्निमिति' (का० श्रौ० १६।६।१५) । उख्याग्नेरुत्तरस्यां दिशि प्रागीषं शकटं संस्थाप्य यजमानस्तत्रस्थे उख्येऽग्नौ वनीवाहनं समिधमाधत्ते समिधाग्निमिति मन्त्रेण । अत्र वनीवाहने सर्वं कर्म यजमान एव स्वयं कुर्यात्, नाध्वर्युः। विरूपाक्षदृष्टा आग्नेयी गायत्री तृतीयाध्याये प्रथमकण्डिकारूपेण व्याख्याताऽपि पुनर्व्याख्यायते। हे ऋत्विग्यजमानाः, एनमग्निं समिधा दुवस्यत परिचरत । घृतैरेतस्येष्टैरतिथिमिवैतं बोधयत प्रबुद्धं कुरुत । ततश्चास्मिन् हव्या हव्यानि आ जुहोतन साकल्येन जुहुत ।

अत्र ब्राह्मणम्—'वनीवाह्येताग्निं बिभ्रदित्याहुः । देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्या अस्पर्धन्त ते देवाश्चक्रमचरञ्छालमसुरा आसंस्ते देवाश्चक्रेण चरन्त एतत्कर्मापश्यंश्चक्रेण हि वै देवाश्चरन्त एतत्कर्मापश्यंस्तस्मादनस एव पौरोडाशेषु यजूꣳष्यनसोऽग्नौ' (श० ६।८।१।१) । तत्रोख्याग्नेर्गार्हपत्यं प्रत्यनसा प्रापणं विधास्यंस्तदुपोद्घातमाह—वनीवाह्येताग्निमित्यादिना । अग्निचयनप्रदेशप्रापणीयाग्निं बिभ्रद् यजमानो वनीवाह्येत अनसा तमुख्याग्निं भृशं वाहयेद् इत्याहुः पूर्वमहर्षयः । वहतेर्यङन्तस्य रूपम् । अभ्यासस्य नीमागमश्छान्दसः । तमभिप्रायं पूर्ववृत्तान्तमुखेन दर्शयति—देवाश्चेति । ते देवाश्चक्रमचरन् चक्रेणाचरन्नित्यर्थः । असुरास्तु शालं चक्रव्यतिरिक्तशालसाधना अभवन्नित्यर्थः । ते देवाश्चक्रेण चरन्त एतद् उख्याग्निप्रणयनलक्षणं कर्मापश्यन् । तस्मात् पौरोडाशेषु कर्मसु अनस एव यजूंषि मन्त्राः सन्ति । तथा अग्नौ अग्निचयनेऽप्यनस एव यजूंषि ।

'स यो वनीवाह्यते । देवान् कर्मणैति दैवꣳ हास्य कर्म कृतं भवत्यथ यो न वनीवाह्यतेऽसुरान् कर्मणैत्यसुर्यꣳ हास्य कर्म कृतं भवति' (श० ६।८।१।२) । औपोद्घातिकं दर्शयति । स यो वनीवाह्यत इति । भृशमनसा वाहयेत् तद्वनीवाहनलक्षणेन कर्मणा देवान् एति, देवानामाचरणमनुकरोतीत्यर्थः । अथ यो न वनीवाह्यत इत्यादेरयमर्थः—वनीवाहनमकृत्वा शालायामेवाग्निं निष्पादयेत् तदा तत्कर्म असुरेभ्यो हितं भवति । 'स यदहः प्रयास्यन् स्यात् । तदहरुत्तरतोऽग्नेः प्रागन उपस्थाप्याथास्मिन् समिधमादधात्येतद्वा एनं देवा एष्यन्तं पुरस्तादन्नेनाप्रीणन्नेतया समिधा तथैवैनमयमेतदेष्यन्तं पुरस्तादन्नेन प्रीणात्येतया समिधा' (श० ६।८।१।५) । अग्नेर्गार्हपत्यचयनदेशं प्रति प्रणयनप्रयोगमाह—स यदहरिति । यस्मिन्नहनि दीक्षां समाप्य चितिप्रदेशं प्रयास्यन् स्यात्, तदोख्याग्नेरुत्तरतः प्राग् अन उपस्थाप्य अस्मिन् उख्याग्नौ समिधमादध्यात् । एतद्विषयकं कात्यायनवचनमुपरिष्टादुद्धृतम् । एतत्प्रशंसति—एतद्वा एनामिति । यथा लोके प्रयास्यन्तं भोजयित्वा प्रस्थापयति, तत्स्थानीयमिदं समिदाधानमिति स्तुतिः । 'समिधाग्निं दुवस्यतेति । समिधाग्निं नमस्यतेत्येवद् घृतैर्बोधयतातिथिमास्मिन् हव्या जुहोतनेति घृतैरह बोधयतातिथिमो अस्मिन् हव्यानि जुहुतेत्येतद्बुद्धवत्येत्यायै ह्येनमेतद्बोधयति' (श० ६।८।१।६) । तत्र दुवस्यतेत्येतद् व्याचष्टे—समिधाग्निं नमस्यतेत्येतदिति । बोधयतेति यद् बोद्धलिङ्गमस्ति तस्य तात्पर्यमाह—इत्यायै ह्येनमेतद् बोधयतीति । इत्यायै गमनायेत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे भक्ताः, एतं वेदवेदान्तवेद्यमग्निं परमात्मानं समिधा समिदुपलक्षितेन पत्रपुष्पफलादिना दुवस्यत परिचरत । अतिथिमिव पूज्यमेनं घृतै रागविशेषैर् एतं बोधयत अनुग्रहबुद्ध्युपेतं कुरुत । ततश्चैतस्मिन हव्या हव्यानि समर्पणीयानि नैवेद्यानि जुहोतन समर्पयत ।

दयानन्दस्तु—'समिधाग्निमिवोपदेशकं सेवध्वम्' इत्याह, तच्च निर्मूलमेव ॥ ३० ॥

उदु॑ त्वा विश्वे॑ दे॒वा अग्ने॒ भर॑न्तु॒ चित्ति॑भिः ।

स नो॑ भव शि॒वस्त्वꣳ सु॒प्रती॑को वि॒भाव॑सुः ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेवता, आप सम्पूर्ण प्राणरूप देवता हो, उद्यम में प्रवीण बुद्धि की वृत्तियों के द्वारा आपको ऊँची धारणाएँ प्राप्त हों। ऊँची धारणा और सुन्दर मुँह वाले, दीप्ति रूप धन वाले आप हमारे लिये कल्याण-कारक बनें ॥ ३१ ॥

'सासन्दीकमुद्यम्योदु त्वेति दक्षिणतोऽनसि करोति' (का० श्रौ० १६।६।१६)। आसन्दीसहितमुख्याग्निमुद्धृत्य अनसो दक्षिणतोऽवस्थितो यजमानः सासन्दीकमग्निमनसि पूर्वभागे स्थापयेदिति सूत्रार्थः। 'स्थाल्यां गार्हपत्यं पश्चात्' (का० श्रौ० १६।६।१७) गार्हपत्यमग्निं स्थाल्यां निधाय अनसि पश्चाद् निदध्यादिति च 'उदु त्वेति' मन्त्रेण। तापसदृष्टा आग्नेयी अनुष्टुप्। मन्त्रार्थस्तु—'हे अग्ने, विश्वे सर्वे देवाः प्राणरूपाः, चित्तिभिर् उद्यमनकुशलाभिर्धीवृत्तिभिः, उद् ऊर्ध्वमेव त्वां भरन्तु धारयन्तु। स उद्धार्यमाणस्त्वं नोऽस्माकं शिवः शान्तो भव। सुप्रतीको भव सुष्ठु शोभनं प्रतीकं मुखं यस्य सः, सुमुखो भव। विभावसुः विभायाः प्रभायाः वसुर्वासयिता, विभा दीप्तिरेव वसु धनं यस्य सः, इति वा भव। भृञो भौवादिकस्य रूपम्। उकारः पादपूरणार्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमुद्यच्छति। उदु त्वा विश्वे देवा अग्ने भरन्तु चित्तिभिरिति विश्वे वा एतमग्रे देवाश्चित्तिभिरुदभरन्नेतद्ध्येषां तदा चित्तमासीत्तथैवैनमयमेतच्चित्तिभिरुद्भरत्येतद्ध्यस्य तदा चित्तं भवति स नो भव शिवस्त्वꣳ सुप्रतीको विभावसुरिति तथैव यजुस्तथा बन्धुस्तं दक्षिणत उदञ्चमादधाति तस्योक्तो बन्धुः स्थाल्यां गार्हपत्यꣳ समुप्यापरमादधाति स यदि कामयेतोपाधिरोहेत् पार्श्वतो वा व्रजेत्' (श० ६।८।१।७)। अथैनमुद्यच्छतीति। अनस उपरि उखयाग्निं स्थापयितुमूर्ध्वं धारयेत्। तच्च धारणमासन्दीसहितम्, 'सासन्दीकमुद्यम्य' (का० श्रौ० १६।६।१६) इति सूत्रात्। चित्तिभिरित्येतद् व्याचष्टे—एतद्ध्येषामिति। एषां देवानां चित्तिभिर्ज्ञानैरुद्भरणं कुर्वतां तदा उद्भरणकाले एतद् उद्भरणमेव चित्तं चेतव्यमासीत्। तथैव देववदेव यजमानोऽपि चित्तिभिर् उद्भृतवान् भवति, अस्यापि यजमानस्य एतद् उद्भरणमेव चित्तं भवति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, विश्वे सर्वे देवास्त्वदंशभूताः, चित्तिभिः चेतोवृत्तिभिः, त्वाम् उद् ऊर्ध्वं हृदये ब्रह्मरन्ध्रे वा भरन्तु धारयन्तु। हे अग्ने परमेश्वर, सर्वैरुद्धार्यमाणस्त्वमेव नोऽस्माकं शिवः कल्याणरूपः सुप्रतीकः सुमुखो विभावसुर्विभायाः स्वस्वरूपभूतायाः प्रभाया वसुर्वासयिता धारयिता च भव।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, यं त्वा विश्वे देवाः, चित्तिभिर्विज्ञानैः सह उदु भरन्तु स विभावसुः सुप्रतीकश्च त्वं नः शिव उपदेशको भव। इति, तदपि तुच्छम्, यं विद्वांसं विद्वांसो भरन्ति ज्ञानैः स उपदेशको भवत्विति निरर्थकमेव, विदुषि विज्ञानानपेक्षणात्। शिवपदस्य उपदेशकार्थकता निर्मूलैव ॥ ३१ ॥

प्रेद॑ग्ने॒ ज्योति॑ष्मान् याहि शि॒वेभि॑र॒र्चिभि॒ष्ट्वम्।
बृ॒हद्भि॑र्भा॒नुभि॒र्भास॑न् मा हि॑ꣳसीस्त॒न्वा॑ प्र॒जाः ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप मंगलयुक्त ज्वालाओं से प्रकाशमान होकर हमारे यहाँ आइये। उज्वल किरणों से प्रकाशमान् शरीर वाले आप हमारे प्रजा-पुत्र आदि को किसी प्रकार की पीड़ा मत दीजिये ॥ ३२ ॥

'अनड्वाहौ युक्त्वा प्रेदग्न इति प्राङ् यात्वा यथार्थम्' (का० श्रौ० १६।६।१८)। पूर्वमवस्थापितशकटे गार्हपत्यस्य पश्चिमे भागे तूष्णीं बलीवर्दौ संयोज्य प्रेदिति मन्त्रेण प्राचीं गत्वा यथार्थं प्रयोजनवन्तं देशं गच्छेदिति

सूत्रार्थः। मन्त्रार्थस्तु—हे अग्ने, शिवेभिरर्चिभिः शान्ताभिर्ज्वालाभिः, ज्योतिष्मान् प्रकाशयुक्तस्त्वं प्रयाहि यजमानदेशं प्रयाहि। प्रेद् इत्यत्र इत् पादपूरणार्थः। एवं बृहद्भिः प्रौढैः, भानुभी रश्मिभिर्भासन् जगदवभासयन् तन्वा स्वकीयेन दाहकेन शरीरेण प्रजाः पुत्रादिका मा हिंसीर्मा नाशय।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर श्रीराम, शिवेभिरर्चिभिः शान्तैः सुखमयैः प्रकाशैर्ज्योतिष्मान् विज्ञानवान् सन् भक्तानुद्धर्तुं प्रेत् प्रयाहि। किञ्च, बृहद्भिर्महद्भिः, भानुभिः कान्तिभिः, भासन् दीप्यमानः सन् तन्वा प्रकाशमयेन शरीरेण प्रजा मा हिंसीः।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, त्वं यथा ज्योतिष्मान् सूर्यः शिवेभिरर्चिभिः पूजितैर्बृहद्भिर्महद्भिर्विद्या-प्रकाशगुणैरिदेव भासन् वर्तते तथा प्रयाहि, तन्वा प्रजा मा हिंसीः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तन्वेत्यस्य नैरर्थक्यात्, यथा सूर्यो भासन् वर्तते तथा प्रयाहीति दृष्टान्तदार्ष्टान्तानुपपत्तेः॥ ३२॥

अक्रन्ददग्निः स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद् वीरुधः समञ्जन्।

सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धो अख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः॥ ३३॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आकाश में मेघ के समान गर्जना करते हुए आप पृथ्वी का आस्वादन करें। वृक्षों को अंकुरित करता हुआ अग्नि प्रदीप्त होता है। जो भी उसके पास रहता है, उसे विज्ञान सम्पन्न और प्रसिद्ध कर देता है। वह द्यावापृथिवी के मध्य में रश्मि द्वारा प्रकाशित होता है॥ ३३॥

'अक्षे खर्जत्यक्रन्ददग्निरिति जपति' (का० श्रौ० १६।६।२०)। अक्षे शब्दं कुर्वति अक्रन्ददग्निरिति मन्त्रं जपेत्। इयं कण्डिका (१२।६) स्थले व्याख्याता। अत्र सूत्रकारेण जपार्थमस्याः पुनरुपादानात् संहितायां पुनः पाठाद् ब्राह्मणेन व्याख्यानाच्च पुनरुदाह्रियते ब्राह्मणम्। 'अथानड्वाहौ युनक्ति। दक्षिणमग्रेऽथ सव्यमेवं देवत्रेतरथा मानुषे स यां कां च दिशं यास्यन् स्यात् प्राङेवाग्रे प्रयायात् प्राची हि दिगग्नेः स्वामेव तद्दिशमनु प्रयाति' (श० ६।८।१।८)। अनस्यनडुहोर्योजनं तत्क्रमं चाह—अथानड्वाहाविति। एवमुक्तक्रमेण चेद् देवत्रा देवेषूचितं भवति। इतरथा सव्यं प्रथमं युनक्ति चेत्, मानुषे मानुष्ये तद्योग्यमित्यर्थः। यजनदेशस्य यत्र कुत्रचिद-वस्थितत्वेऽप्यादौ प्राङ्मुखो यायादिति नियमं सार्थवादं विधत्ते—स यां कां चेति। देवानां दिग्व्यवस्थाकाले अग्निना प्राग्दिक्परिग्रहात् 'प्राची हि दिगग्नेरित्युक्तम्' (श० ६।३।३।२)। 'प्राची दिगग्निर्देवता' इति हि तैत्तिरीयकप्रसिद्धिः 'प्राची दिशां वसन्त ऋतूनामग्निर्देवता' (तै० सं० ४।३।३।१) इति श्रुतौ। तस्मादनसः प्राक् प्रवर्तनम्।

'प्रेदग्ने ज्योतिष्मान् याहि। शिवेभिरर्चिभिष्ट्वमिति प्रेदग्ने त्वं ज्योतिष्मान् याहि शिवेभिरर्चिभिर्दीप्य-मानैरित्येतद् बृहद्भिर्भानुभिर्भासन् मा हिꣳसीस्तन्वा प्रजा इति बृहद्भिरर्चिभिर्दीप्यमानैर्मा हिꣳसीरात्मना. प्रजा इत्येतत्' (श० ६।८।१।९)। मन्त्रे पूर्वार्धस्य तात्पर्यं दर्शयन् अर्चिभिरित्येतस्यावयवार्थमाह—प्रेदग्न इत्यादिना। शिवेभिरर्चिभिर्दीप्यमानैरिति। 'ऋच् स्तुतौ' तौदादिकः। धातूनामनेकार्थत्वाद् दीप्तौ वृत्तिः। अस्मात् 'सर्वधातुभ्य इन्' (उ० ४।११७) इति इन्प्रत्यये अर्चिरिति साधुः। अयं सान्तोऽपि—'अर्चिशुचिहुसृपिच्छादिछर्दिभ्य इसिः' (उ० २।१०९) इति प्रतिपादितं भवति। 'तन्वा' इत्यस्य व्याख्यानमात्मनेति, शरीरेणेत्यर्थः। हे अग्ने, त्वं ज्योतिष्मान् प्रभूतज्योतिष्कः, शिवेभिः मङ्गलैः, अर्चिभिरुपलक्षितः सन् प्रयाहि प्रगच्छ। तथा बृहद्भिर्भानुभिः

प्रकाशैः, भासन् भासमानः, तन्वा शरीरेण अस्मदीया प्रजा मा हिंसीः। यदवतं सूत्रकारेण 'अक्षे खजंति' (का० श्रौ० १६।६।२०) इति, तदाह ब्राह्मणम्—'स यदाक्ष उत्सर्जेत्। अथैतद्यजुर्जपेदसुर्या वा एषा वाग्याक्षस्य तामेतच्छमयति तामेतद्देवत्रा करोति' (श० ६।८।१।१०)। अक्षध्वनौ प्रायश्चित्तमाह—स यदेति। उत्सर्जेद् ध्वनिं कुर्यात् तदा एतद् वक्ष्यमाणम् अक्रन्ददिति यजुर्जपेत। अक्षसम्बन्धिन्या वाचोऽसुर्यत्वं कर्णकठिनत्वाद् द्रष्टव्यम्। तां वाचमेतेन अक्रन्ददिति पाठेन शमयित्वा असुर्यात्वं दूरीकृत्य देवत्रा देवेषु करोति।

'यद्वैवैतद् यजुर्जपति। यस्मिन वै कस्मिश्चाहितेऽक्ष उत्सर्जति तस्यैव सा वाग्भवति तद्यदग्नावाहितेऽक्ष उत्सर्जत्यग्नेरेव सा वाग्भवत्यग्निमेव तद्देवा उपास्तुवन्नुपामहयंस्तथैवैनमयमेतदुपस्तौत्युपमहयत्यक्रन्ददग्नि स्तनयन्निव द्यौरिति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ६।८।१।११)। पुनः प्रशंसति—यद्वैवैतद्यजुरिति। यस्मिन् कस्मिंश्चित् शकटस्योपरि आहिते अक्ष उत्सर्जेद् ध्वनिं कुर्यात् तस्यैव आहितस्यैव सम्बन्धिनी सा वाग्भवति। अथ अग्नावाहिते अग्नेरेव सा स्यात्। यस्मादेवं तस्मात् तत् तेन मन्त्रपाठेन अन्यदीयत्वपरिहाराय अग्निमेव देवा उपास्तुवन् उपामहयन् पूजितमकुर्वंस्तथैवैनमग्निमेतद् एतेन उपस्तौति उपमहयति च। अत्र मन्त्रं विधाय तदपेक्षितं ब्राह्मणं पूर्वोक्तमेवेत्यतिदिशति—अक्रन्ददग्निरिति। तस्योक्तो बन्धुरिति 'क्रन्दतीव हि पर्जन्यः' (श० ६।७।३।२) इत्यादिना उखाप्रग्रहणप्रस्तावे उक्त इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

प्र प्रायमग्निर्भरतस्यं शृण्वे वि यत्सूर्यो न रोचंते बृहद्भाः।
अभि यः पूरुं पृतनासु तस्थौ दीदाय दैव्यो अतिथिः शिवो नः ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—यह अग्नि हवि को धारण करने वाले यजमान के आह्वान को सुनता है। सूर्य के समान दीप्तिमान् होता हुआ अत्यन्त प्रकाशमान् होता है। यह संग्रामों में राक्षसों का सामना करता है। देहसम्बन्धी अतिथि हमारा मंगलकारक यह अग्नि दीप्तिमान् होता है ॥ ३४ ॥

'वासेऽवहरत्युद्धतावोक्षित उत्तरतः समिदाधानं प्र प्रेति' (का० श्रौ० १६।६।२१)। वासो वसतिः। तत्रोत्तरस्यां दिशि पञ्चभूसंस्कारसंस्कृते देशेऽग्निं शकटादवतारयेत्। ततः प्र प्रायमित्युखेऽग्नौ समिधमादध्यादिति सूत्रार्थः। तेन विश्रामाद्यर्थे रथविमोचनेऽग्निरनसि स्थित एव भवति। यत्र वासस्तत्रैवावहरणं न प्राग्वसतेरिति। वशिष्ठदृष्टा आग्नेयी त्रिष्टुप्। अयमग्निर्भरतस्य भरति हविरिति भरतस्तस्य यजमानस्य शृण्वे शृणोतु, आह्वानमिति शेषः। यद् यः सूर्यो न सूर्य इव। भाः भासत इति भाः, सूर्यवद् भासमानः सन् बृहद् यथा स्यात्तथा वि विशेषेण रोचते दीप्यते। योऽग्निः पृतनासु संग्रामेषु पूरुम्, प्रीणाति येनासौ पूरुर्जपपूर्विस्तम्, अभितस्थौ सर्वतः करोति। तथा कृत्वा च स्तुतिभिर्दीदाय अत्यन्तं दीप्यते, सोऽग्निरस्माकमतिथिर्भवतु। कथम्भूतोऽग्निः? दैव्यो देवेभ्यो हितः। पुनः कथंभूतः? शिवः परममङ्गलरूपः।

यद्वा योऽग्निः प्र प्र महता प्रकर्षेण भरतस्य सर्वभरणशीलस्य प्रजापतेर्वचनं शृण्वे शृणोति। कथमेतदध्यवसीयते प्रजापतेर्वचनं शृणोतीति चेत्, तत्राह श्रुतिः—वि यत्सूर्यो न रोचते बृहद्भा इति। यद् यतः समिदाधानानन्तरमेव सूर्यो न सूर्य इव बृहद्भा महादीप्तिर्विरोचते विशेषेण दीप्यते। अथवा वियद् वियति आकाशे सूर्यो न सूर्य इव अयं बृहद्भा बृहती भा दीप्तिर्यस्यासौ महादीप्तिः सन् रोचते, रोचमानश्च एतया समिधा आप्यायितः पृतनासु संग्रामेषु पूरुम् असुरराक्षसम् अभि तस्थौ सम्मुखं तिष्ठति, सम्मुखं तिष्ठंश्च दीदाय भृशं दीप्यते। यस्माच्च दैव्यो देवसम्बन्धी अतिथिः, अतिथिधर्मा नोऽस्माकं शिवो मङ्गलरूपः,

तस्माद् प्रजापतेर्वचनं शृणोतीति युक्तमेव। 'प्रसमुपोदः पादपूरणे' (पा० सू० ८।१।६) इति प्रशब्दस्य द्वित्वम्। दीदायेति 'दीङ् क्षये' इत्यस्य लिटि रूपम्। धातूनामनेकार्थत्वाद् दीप्तौ वृत्तिः। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति वर्तमाने लिट्। 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।७) इति दीर्घः।

अत्र ब्राह्मणम्—'स यदि पुरा वसत्यै विमुञ्चेत। अनस्येवाग्निः स्यादथ यदा वसत्यै विमुञ्चेत प्रागन उपस्थाप्योत्तरत उद्धत्यावोक्षति यत्रैनमुपावहरति तं दक्षिणत उदञ्चमुपावहरति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ६।८।१।१२)। स यदि पुरा वसत्यै विमुञ्चेतेति। वसत्यै वसत्याः, अग्निचयनस्थानात् पुरा मध्येमार्गं विमुञ्चेत, शकटमिति शेषः। तदा सोऽग्निरनस्येवावस्थितः स्यात्। अथ उक्तवैलक्षण्येन वसतिं प्राप्य विमुञ्चेत तदा प्रागनोऽनसः प्राग्देशे उपस्थाप्य उत्तरतस्तदुत्तरतो भूमिम् उद्धत्यावोक्षति। यत्रैनमग्निमुपावहरति अधः स्थापयति तं दक्षिणत उदञ्चम् उपावहरति। तस्योक्तो बन्धुरिति। दक्षिणत उदगर्थवाद उखार्थे मृत्पिण्डपरिग्रहप्रकरणे 'दक्षिणतो वा उदग्योनौ रेतः सिच्यते' (श० ६।४।२।१०) इत्युक्त इत्यर्थः। 'अथास्मिन् समिधमादधाति। एतद्वा एनं देवा ईयिवाꣳसमुपरिष्टादन्नेनाप्रीणन्नेतया समिधा तथैवैनमयमेतदीयिवाꣳसमुपरिष्टादन्नेन प्रीणात्येतया समिधा' (श० ६।८।१।१३)। यथाग्निप्रणयनकाले तस्यान्नत्वेन समिदाधानमुक्तम् (अस्मिन्नेव ब्राह्मणे चतुर्थकण्डिकायाम्), एवमेव आसन्नस्याप्यन्नत्वेन समिदाधानं कर्तव्यमित्याह—अथास्मिन् समिधमादधातीति। एतत्प्रशंसति—एतद्वा एनमिति। ईयिवांसं चयनदेशं गतवन्तम्। गमनप्राक्कालमपेक्ष्य उपरिष्टादित्युक्तम्। अन्नेन इत्यस्य व्याख्यानम्—एतया समिधेति। एतदेव सूचितं कात्यायनेन—'वासेऽवहरत्युद्धतावोक्षित उत्तरतः समिदाधानं प्र प्रेति' (का० श्रौ० १६।६।२१) इति।

'प्र प्रायमग्निर्भरतस्य शृण्व इति। प्रजापतिर्वै भरतः स हीदꣳ सर्वं बिभर्ति वियत्सूर्यो न रोचते बृहद्भा इति वि यत्सूर्य इव रोचते बृहद्भा इत्येतदभि यः पूरुं पृतनासु तस्थाविति पूरुर्ह नामासुररक्षसमास तमग्निः पृतनास्वभितष्ठौ दीदाय दैव्यो अतिथिः शिवो न''''इत्येतत्स्थितवत्या वसत्यै ह्येनं तत्स्थापयति' (श० ६।८।१।१४)। समिदाधानमन्त्रं विदधद् विभज्य व्याचष्टे—प्र प्रायमित्यादिना। अयमग्निर्भरतस्य प्रजापतेर्वचनं प्रशृण्वे प्रकर्षेण शृणोति सूर्यो न सूर्य इव बृहद् महद् भा भासमानो विरोचते दीप्यते च। यद्वा भा भासा बृहद् महान् योऽग्निः पूरुं पृतनासु संग्रामेष्वभितष्ठौ पराबभूव पराजितवान् स दैव्यो देवसम्बन्धी, अतिथिर् अतिथिरूपः, नः शिवः सन् दीदाय दीप्यते। भरतशब्दं व्याचष्टे—प्रजापतिर्वै भरत इति। तदुपपादयति—स हीदमिति। सूर्यो नेत्यत्र नशब्द उपमार्थ इति व्याचष्टे—वियत् सूर्य इव रोचत इति। तृतीयपादं व्याचष्टे—पूरुर्ह नामासुररक्षसमासेति। पूरुनामकः सुरविरोधि रक्षोऽभूत्। अस्मिन् मन्त्रे 'पृतुनासु तस्थौ' इति स्थितिः श्रूयते। तन्मुखेन मन्त्रं प्रशंसति—स्थितवत्येति।

अध्यात्मपक्षे—अयमपरोक्षः प्रत्यक्चैतन्याभिन्नः परमेश्वरः श्रीरामो भरतस्य हविर्धारणवतो भक्तस्य भरताख्यस्य भ्रातुर्वा शृण्वे शृणुते, आह्वानमिति शेषः। यद् योऽग्निः सूर्यो न सूर्य इव भा भासमानः सन् बृहद् यथा स्यात्तथा रोचते अत्यन्तं दीप्यते, योऽग्निः पृतनासु रावणादिसंग्रामेषु पूरुं सुरविरोधि राक्षसमभिलक्ष्य तस्थौ सम्मुखे तिष्ठति, दैव्यो देवसम्बन्धी अतिथिः, नोऽस्माकं शिवो मङ्गलरूपः सोऽग्निः श्रीरामः, दीदाय अतिशयेन दीप्यते।

दयानन्दस्तु—'हे राजप्रजाजनाः, योऽयमग्निः सेनापतिः सूर्यवदत्यन्तप्रकाशयुक्तोऽतिप्रकर्षेण सह रोचते, यो नः पृतनासु पूरुं पूर्णबलमुक्तं सेनाध्यक्षस्य समीपे सर्वप्रकारेण तिष्ठति, दैव्यो विदुषां प्रियः, अतिथिस्तद्वन्नित्यं भ्राम्यमाणः शिवो मङ्गलदाता दीदाय विद्याधर्मौ प्रकाशयेत्। यस्य भरतस्य सेवनयोग्यस्य राज्यरक्षकस्य

विजयो विद्या च शृण्वे श्रूयेत, स लब्धलक्षः कुलीनः सेनाया योधयिताऽधिकर्त्तव्यो युष्माभिः' इति तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहारबाहुल्यात्, श्रुत्यर्थत्वेन श्रुतौ बलादारोपणाच्च। पूरुं पूर्णबलसेनाध्यक्षमिति च चिन्त्यम्, निर्मूलत्वात् ॥ ३४ ॥

आपो॑ दे॒वीः प्रति॑गृभ्णीत॒ भस्मै॒तत् स्यो॒ने कृ॑णुध्व॒ꣳ सु॒र॒भा उ॑ लो॒के ।
तस्मै॑ नमन्तां॒ जन॑यः सु॒पत्नी॑र्मा॒तेव॑ पु॒त्रं बि॑भृ॒ताप्स्वे॑नत् ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—हे जलदेवताओ, इस भस्म को आप लोग ग्रहण करें, सुखकारक पुष्प, धूप आदि से सुवासित स्थान में इसको धारण करें। वरुण आपके अधिपति हैं। वृक्ष आदि को उत्पन्न कर उनमें अग्नि को प्रकट करने वाले हैं। उस भस्म रूप अग्नि के निमित्त हम नमन करते हैं। हे जलदेवता, उस भस्म को आप उसी प्रकार धारण करें, जैसे माता पुत्र को धारण करती है ॥ ३५ ॥

इतः प्रारभ्य दश कण्डिकाभिर्भस्माभ्यवहरणम्। 'पलाशपुटेनापो देवीरित्येकया' (का० श्रौ० १६।६।२६)। वनीवाहनानन्तरं तडागादिजलस्थानं गत्वा पलाशादिपत्रपुटेन सायंप्रातरुखायाः सकाशादुद्धृतं भस्म एकया आपो देवीरित्येतया ऋचा जले क्षिपेदिति सूत्रार्थः। अब्देवत्या त्रिष्टुप्। हे आपः, देवीः देव्यो दीप्यमानाः, यूयं भस्म प्रतिगृभ्णीत स्वागतादिभिः प्रतिगृह्णीत। किञ्च, स्वागतादिभिः स्वीकृत्य एतत् प्रतिगृहीतं भस्म स्योने सुखकरे सुरभौ पुष्पधूपादिशोभनगन्धयुक्ते लोके स्थाने शय्यायां कृणुध्वं स्थापयत कुरुत वा। 'कृञ् हिंसायाम्' स्वादिः। धातूनामनेकार्थत्वात् कृतौ वृत्तिः। उकारः समुच्चयार्थः पादपूरणो वा। सुपत्नीः सुपत्न्यः सुष्ठु शोभनः पतिर्वरुणरूपो यासां ताः, रूपलावण्ययौवनालङ्कारवैदग्ध्यसम्पन्नाः। 'आपो वरुणस्य पत्न्य आसन्' (तै० ब्रा० १।१।३।८) इति तैत्तिरीयश्रुतेः। जनयो जनयन्त्युत्पादयन्ति वृक्षोत्पत्त्यादि द्वारा अग्निमिति जनयः। अग्नेर्जनन्य आपः। वाडवं वैद्युतरूपमग्निं प्रति अपां जननीत्वम्। ईदृश्यः शोभनपतिकाः सर्वस्योत्पादयित्र्य आपस्तस्मै भस्मरूपायाग्नये नमन्तां प्रह्वीभवन्तु। अथवा जनयो जनयन्त्यस्यामिति जनयो जायारूपाः सुपत्न्य आपो नमन्तामग्निमुपतिष्ठन्तु, तमग्निं पालयितुं सावधाना भवन्त्वित्यर्थः। हे आपः, यथा लोके माता पुत्रं पोषयति, तद्वदेनं भस्मरूपमग्निमप्सूदकरूपासु युष्मास्ववस्थाप्य बिभृत पोषयत, पानभोजनवासोभिर्गोपायतेत्यर्थः।

'अथातो भस्मन एवाभ्यवहरणस्य। देवा वा एतदग्रे भस्मोदवपंस्तेऽब्रुवन् यदि वा इदमित्थमेव सदात्मानमभिसंस्करिष्यामहे मर्त्याः कुणपा अनपहतपाप्मानो भविष्यामो यद्यु परावप्स्यामो यदत्राग्नेयं बहिर्धा तदग्नेः करिष्याम उप तज्जानीत यथेदं करवामेति तेऽब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथेदं करवामेति' (श० ६।८।२।१)। यदुक्तं प्राक्—'स यदहः सन्निवप्स्यन् स्यात्। तदहः प्रातरुदित आदित्ये भस्मैव प्रथममुद्वपति' (श० ६।७।४।१४) इति। तद्विधातुमाख्यायिकां वदन् प्रतिजानीते—अथातो भस्मन एवाभ्यवहरणस्येति, मीमांसा क्रियत इति शेषः। देवाः खलु अग्रे पूर्वं भस्म अग्नेः सकाशाद् उदवपन् ऊर्ध्वमपागमयन्। अनन्तरं ते परस्परमब्रुवन् यदि वा इदमुद्धृतं भस्म इत्थमेवान्यत्र प्रक्षेपमकृत्वा अनुद्धतप्रकारेणैव स्थितमात्मानमग्नेः शरीरभूतं सन्तं शरीरं कृत्वेत्यर्थः। अभिसंस्करिष्यामहे तदा मर्त्याः कुणपा भस्मनो निर्जीवत्वाद् वयमपि कुणपाः शवसदृशा अनपहतपाप्मानो भस्मनः पापरूपत्वात् तत्संस्कारेणाप्यनपहतपाप्मानो भविष्यामः। यद्यु यद्यपि परावप्स्यामो दूरे प्रक्षिपामस्तदा अत्र भस्मनि यद् आग्नेयं तद् अग्नेः सकाशाद् बहिर्धा करिष्यामः। एवं पक्षद्वयेऽपि दोषसम्भवाद् अन्यतरपक्षमनाश्रयमाणा यथेदं करवाम तत्प्रकारमुपजानीतेति तेऽब्रुवन्। एवमुक्त्वा

पुनरेवमब्रुवन् किमिति चेतयध्वमित्यस्य कोऽभिप्राय इत्याकाङ्क्षायां श्रुतिस्तटस्था सती ब्रूते—चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवन्। चितिर्ज्ञानं तदिच्छत इत्येवमब्रुवन् देवाः। पूर्वोदितं 'उप तज्जानीत' इत्येतदुत्तरेण वाक्येनाभिगृणाति—तदिच्छत यथेदं करवामेतीति।

'ते चेतयमानाः। एतदपश्यन्नप एवैनदभ्यवहरामापो वा अस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा तद्यत्रास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा तदेनत्प्रतिष्ठाप्य यदत्राग्नेयं तदद्भ्योऽधिजनयिष्याम इति तदपोऽभ्यवाहरंस्तथैवैनदयमेतदपोऽभ्यवहरति' (श० ६।८।२।२)। ते चेतयमानाः कर्तव्यविषये बुद्धिं व्यापारयन्त एतद् अपश्यन्। एतत् किं तत्राह—अप एवैनदिति। अप्सु प्रक्षेपमेवापश्यन्नित्यर्थः। अस्य सर्वस्य जगतोऽद्भ्य उत्पन्नत्वात् तदुपजीवनीयत्वाच्च आपः प्रतिष्ठा। तत् तस्माद् यत्राप्सु अस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा तत्र एनद् भस्म प्रतिष्ठाप्य अत्र जलस्थे भस्मनि यद् आग्नेयमस्ति पुनस्तद् अद्भ्यः सकाशाद् उत्पादयिष्याम इत्येवमपश्यन्। 'आपो देवीः। प्रतिगृभ्णीत भस्मैतत्स्योने कृणुध्वꣳ सुरभा उ लोक इति जग्धं वा एतद्यातयाम भवति तदेतदाह स्रभिष्ठ एनल्लोके कुरुध्वमिति तस्मै नमन्तां जनय इत्यापो वै जनयोऽद्भ्यो हीदꣳ सर्वं जायते सुपत्नीरित्यग्निना वा आपः सुपत्न्यो मातेव पुत्रं बिभृताप्स्वेनदिति यथा माता पुत्रमुपस्थे बिभृयादेवमेनद्बिभृतेत्येतत्' (श० ६।८।२।३)। इदानीमप्सु भस्मप्रक्षेपमन्त्रं विधाय व्याचष्टे—आपो देवीरित्यादिना। उत्तरार्धे सुरभौ कृणुध्वमित्यभिधानस्य तात्पर्यमाह—जग्धं वा एतदिति। उदके निमग्नम् एतद् भस्म जग्धं भवति। एतद् यातयाम गतरसं भवति। तस्मात् प्रकृतमन्त्रवाक्यमाह—स्रभिष्ठेऽतिशयेन सुरभौ लोके कृणुध्वम्। तथा सत्ययातयाम भवति। जनय इति व्याचष्टे—आपो वै जनय इति। तदेव समर्थयते—अद्भ्यो हीदमिति। सुपत्नीरित्येतद् व्याचष्टे—अग्निना वा आपः सुपत्न्य इति। प्रसन्नमन्यद् ब्राह्मणम्।

अध्यात्मपक्षे—हे आपः, व्यापनशीला देवीः देव्यः, यूयम् एतद् भस्म ज्ञानदीप्तिमत् प्रत्यक्चैतन्यं प्रतिगृभ्णीत प्रतिगृह्णन्तु वात्सल्यबुद्ध्या प्रतिगृह्य स्योने सुखकरे सुरभौ घ्राणतर्पणे दिव्यपुष्पपरिमलाद्युपेते लोके स्थाने कृणुध्वं स्थापयत। तस्मै सुपत्नीः सुष्ठु शोभनाश्च ताः पत्न्यश्च सुपत्न्यः, अत्र सर्वत्र विभक्तिव्यत्ययः, रूपलावण्ययौवनालङ्कारवैदग्ध्यसम्पन्नाः, नमन्तामुपतिष्ठन्तु। यूयं च मातेव पुत्रं पानभोजनवासोभिर्बिभृत पालयत। यद्वा ज्ञानविज्ञानशमदमादिभिरेनत् पोषयत।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसो मनुष्याः, आपः पवित्रजलानीव सकलशुभगुणव्यापिकाः कन्याः देवीः दिव्यरूपशीलाः स्योने सुसुखकारके सुरभौ ऐश्वर्यप्रकाशके लोके द्रष्टव्ये पतीन् सुखिनः कुर्वन्ति, ताः प्रतिगृभ्णीत स्वीकुर्वीत एताः सुखिनीः कृणुध्वम्। यदेतद् भस्मप्रदीपकं तेजोऽस्ति, तस्मै याः सुपत्नीः शोभनाश्च ताः पत्न्यः सुपत्न्यः, ताः। जनयो विद्यासुशिक्षया प्रादुर्भूता नमन्ति ताः प्रति भवन्तोऽपि नमन्ताम्। उभये मिलित्वा पुत्रं मातेव एनद् अपत्यं बिभृत धारयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशसम्बोधने आप इत्यस्य कन्यार्थत्वे च मानाभावाद्, अध्याहारबाहुल्यात्, गौणार्थाश्रयणाच्च, 'न विधौ परः शब्दार्थः' इति मीमांसासिद्धान्तविरोधाच्च ॥ ३५ ॥

अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनु रुध्यसे। गर्भे सन् जायसे पुनः ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—हे भस्मीभूत अग्निदेव, जल में तुम्हारा स्थान है। वही भस्म जल से प्रकट होकर जौ आदि के रूप में हमें प्राप्त होता है। हे अग्निदेव, आप अरणि के मध्य में बार बार प्रकट होते हो ॥ ३६ ॥

'ततो द्वाभ्याम्' (का० श्रौ० १६।६।२७)। ततोऽनन्तरं पठिताभ्यां द्वाभ्यां 'अप्स्वग्ने' (१२।३६), 'गर्भो असि' (१२।३७) इत्येताभ्यामृग्भ्यां पत्रपुटेन द्वितीयवारमुख्याग्निभस्म अप्सु प्रास्यति। आग्नेयी गायत्री विरूपदृष्टा। अनन्तरोदितेन मन्त्रेण अप्सु स्थितं भस्म अतिथित्वेन संस्तुत्य अथेदानीं गायत्र्यनुष्टुब्भ्यां द्वाभ्यां मन्त्राभ्यामग्नेः सर्वगतत्वं प्रकाशयन् भस्माभ्यवहरणं निह्नुते। हे अग्ने, अप्सु तव सधिः सह धीयतेऽस्मिन्निति सधिः स्थानम्, तव योनिरित्यर्थः। स त्वमोषधीर्यवाद्या अनुरुध्यसे अनुरज्यसि जाठराग्निरूपेण तत्स्वीकाराय, यद्वा ओषधिपरिणाममनु विपरिणमसे, अरण्योर्गर्भे स्थितः पुनः पुनर्जायसे। सौषधीरिति 'सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्' (पा० सू० ६।१।१३४) इति सुलोपे सन्धौ रूपम्। एवं सर्वत्र व्याप्त इति स्तुतिः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अप्स्वग्ने सधिष्टवेति। अप्स्वग्ने योनिष्टवेत्येतत् सौषधीरनुरुध्यस इत्योषधीर्ह्येषोऽनुरुध्यते गर्भे सञ्जायसे पुनरिति गर्भे ह्येष सञ्जायते पुनः.....' (श० ६।८।२।४)। द्वितीयं मन्त्रं विधाय प्रशंसति—अप्स्वग्न इत्यादिना। हे अग्ने, तव अप्सु सधिः, सह धीयतेऽस्मिन्निति सधिः सहस्थानम्, तव योनिरित्यर्थः। इदानीं भवति, पश्चात्तु ओषधीस्त्वया परिपच्यमाना अनु त्वमपि ताभी रुध्यसे प्रतिबद्ध्यसे, तत्र निरुद्धो भवसीत्यर्थः। पूर्वपादे सधिशब्देन योनिर्विवक्षित इति व्याचष्टे—अप्स्वग्ने योनिष्टवेत्येतदिति। उपरितनपादद्वयस्य ब्राह्मणं स्पष्टम्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर विष्णो, अप्सु तव सधिः स्थानम्, नारायणरूपेण तव तत्र निवासात्, 'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥' (म० १।१०) इति स्मृतेः। स त्वमोषधीः व्रीहियवाद्या अनुरुध्यसे चन्द्ररूपेण पुष्णासि, 'पुष्णामि चोषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः' (भ० गी० १५।१३) इति गीतावचनात्। धातूनामनेकार्थत्वाद् रुधेः पोषणे वृत्तिः। गर्भे सर्वप्राणिनामन्तः सन्नपि विद्यमानोऽपि रामकृष्णादिरूपेण पुनः पुनर्जायसे।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने अग्निरिव जीव, यस्त्वं सधिः सहनशीलः, अप्सु ओषधीः सोमलताद्या अनुरुध्यसे प्राप्नोषि, स त्वं गर्भे स्थितः सन् पुनः पुनर्जायसे। इमावेव क्रमावुभौ स्त इति विजानीहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्निपदस्य जीवार्थत्वे मानाभावात्, श्रुतिसूत्रविरोधाच्च ।। ३६ ।।

गर्भो॑ अस्योष॑धीनां॒ गर्भो॒ वन॒स्पती॑नाम्।
गर्भो॒ विश्व॑स्य भू॒तस्या॑ग्ने॒ गर्भो॑ अ॒पाम॑सि ।। ३७ ।।

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप औषधियों के गर्भ हो, सम्पूर्ण वनस्पतियों और प्राणियों के गर्भ हो। सम्पूर्ण जल आपके ही गर्भ में स्थित हैं ।। ३७ ।।

तिस्रोऽनुष्टुभोऽग्निदेवत्याः। हे अग्ने, त्वमोषधीनां गर्भोऽसि, भेषजरूपैरोषधिविशेषैरुत्पद्यमानत्वात्। वनस्पतीनां तरूणां गर्भोऽसि, अरण्यादिभ्यो जायमानत्वात्। विश्वस्य सर्वस्य भूतस्य प्राणिजातस्य गर्भोऽसि, जठराग्निरूपेण विद्यमानत्वात्। अपां गर्भोऽसि, वाडववैद्युतादिरूपत्वात्। अत्र ब्राह्मणम्—'गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम्। गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भो अपामसीति तदेनमस्य सर्वस्य गर्भं करोति' (श० ६।८।२।४)। तृतीयमन्त्रं विधाय स्पष्टार्थत्वात् संगृह्य तात्पर्यं दर्शयति—गर्भो असीत्यादिना, तदेनमस्य सर्वस्य गर्भं करोतीत्यन्तेन। मन्त्रार्थस्तूक्त एव।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वमोषधीनां व्रीहियवादीनां गर्भोऽसि, चन्द्रादिरूपेण त्वयैव पोष्यमाणत्वात्। त्वं वनस्पतीनां वटाश्वत्थप्लक्षादीनां न केवलम् 'अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः' (म० १।४७) इति परिभाषितानाम्, किन्तु सर्वेषां तरुगुल्मवीरुदादीनां गर्भोऽसि, तत्राग्निरूपेण विद्यमानत्वात्। विश्वस्य सर्वस्य भूतस्य प्राणिजातस्य गर्भोऽसि, जाठराग्निरूपत्वात्। यद्वा अन्तर्यामिरूपेण त्वमोषध्यादीनां समेषां गर्भोऽसि, सर्वान्तरत्वात्, 'य आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० उ० ३।४।१) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने तत्तुल्य जीव, यतस्त्वमोषधीनां गर्भोऽसि, योऽनर्थान् गिरति विनाशयति स गर्भो गृणातेः। यदा हि स्त्री गुणान् गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्यन्तेऽथ गर्भो भवति। ओषधीनां सोमयवादीनां गर्भो वनस्पतीनामश्वत्थादीनां गर्भो विश्वस्य सर्वस्य भूतस्य उत्पन्नस्यापा प्राणानां वा गर्भश्चासि, तस्मात् त्वमजोऽसि' इति, तदपि तुच्छम्, जीवस्यैकस्य परिच्छिन्नत्वेन सर्वगतत्वायोगात्, त्वमजोऽसीत्यस्य उत्सूत्रत्वात्॥ ३७॥

प्रसद्य भस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्ने।
सᳬंसृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान् पुनरासदः॥ ३८॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप भस्म के माध्यम से पृथ्वी और जल में व्याप्त होकर, माता रूप जल के माहात्म्य से तेजस्वी होकर फिर उस उखापात्र में विराजमान होइये॥ ३८॥

'अनामिकया प्रास्तादादत्ते प्रसद्येति' (का० श्रौ० १६।६।२९)। प्रास्तादप्सु क्षिप्ताद् भस्मनः सकाशाद् अनामिकया भस्म गृह्णीयात् प्रसद्येति चतसृभिराग्नेयीभिर्ऋग्भिरिति सूत्रार्थः। द्वे अनुष्टुभौ द्वे गायत्र्यौ। मन्त्रार्थस्तु—हे भस्मरूप अग्ने, त्वं भस्मना भस्मरूपेण सह योनिं कारणभूतां पृथिवीमपश्च योनिभूताः प्रसद्य प्रपद्य, प्राप्येत्यर्थः। प्रसन्नो भूत्वा वा मातृभिरद्भिः पृथिव्या च संसृज्य एकीभूय भृशं ज्योतिष्मान् तेजस्वी सम्पन्नः सन् पुनः स्वस्थानमुखाम् आसदः आसीद आगच्छ वा।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथापादत्ते। तद्यदत्राग्नेयं तदेतद्भ्योऽधि जनयत्यनयाऽनया वै भेषजं क्रियतेऽनयैवैनमेतत्सम्भरति प्रसद्य भस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्न इति प्रसन्नो ह्येष भस्मना योनिमपश्च पृथिवीं च भवति सᳬंसृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान् पुनरासद····इत्येतत्पुनरासद्य सदनं पुनरूर्जा सह रय्येत्येतेन मा सर्वेणाभिनिवर्तस्वेत्येतत्' (श० ६।८।२।६)। अद्भ्यः पुनरीषद्भ्स्मादातव्यमिति विधाय प्रशंसति—अथापादत्ते तद्यदत्रेति। अथ प्रक्षेपानन्तरम् अत्र प्रक्षिप्ते भस्मनि अद्भ्योऽधीति पञ्चम्यर्थानुवादी। आग्नेयमंशम् अद्भ्य उत्पादितवान् भवति। अनयेत्यपादानसाधना अनामिका निर्दिश्यते। अनयैवेति कोऽयं नियम इत्याह—अनया वै भेषजं क्रियत इति। मन्त्रमाह—प्रसद्येति। पूर्वार्धे प्रसद्येति पदस्य प्रसन्नार्थतया योनिमय इति सामानाधिकरण्यं विवक्षितमिति व्याचष्टे—प्रसन्नो ह्येष भस्मनेत्यादिना। सᳬंसृज्येत्यस्य संगतिरर्थ इति व्याचष्टे—संगत्य मातृभिरिति। उत्तरमन्त्रत्रयस्य व्याख्येयार्थत्वाभावात् प्रतीकमादाय संगृह्य तात्पर्यमाह—पुनरासद्येति प्रथमः, पुनरूर्जेति द्वितीयः, सह रय्येति तृतीयः। इमे वा० सं० (१२।३९–४१) मन्त्राः।

'चतुर्भिरपादत्ते। तद्ये चतुष्पादाः पशवस्तैरेवैनमेतत्सम्भरत्यथोऽन्नं वै पशवोऽन्नेनैवैनमेतत्सम्भरति त्रिभिरभ्यवहरति तत्सप्त सप्तचितिकोऽग्निः सप्तर्तवः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद् भवति' (श० ६।८।२।७)। उत्तरमन्त्रद्वयस्य पृथग्विनियोगशङ्कानिराकरणायाह—चतुर्भिरपादत्त इति। भस्मापादानमन्त्रगतां संख्यामभ्यवहरणमन्त्रगतया संख्यया समुच्चित्य प्रशंसति—त्रिभिरभ्यवहरति तत्सप्तेत्यादिना। षट्

चितय इष्टकामय्यः प्रसिद्धाः। सप्तमी तु—'विकर्णीं च स्वयमातृण्णां चोपदधाति हिरण्यशकलैः प्रोक्षति, अग्निमभ्यादधाति सा सप्तमी चितिः' (श० ८।१।४।९) इति श्रुतत्वात् सप्त चितयः। सप्तचितिकोऽग्निः। 'अपादाय भस्मनः प्रत्येत्य। उखायामोप्योपतिष्ठत एतद्वा एतदयथायथं करोति यदग्निमपोऽभ्यवहरति तस्मा एवैतन्निह्नुतेऽहिᳬसायै…………' (श० ६।८।२।८)। भस्मनः सकाशाद् अपादाय पुनरुखायामोप्य उपतिष्ठते। 'प्रास्योखायामुपतिष्ठते बोधा म इति' (का० श्रौ० १६।६।३०)। उपस्थानमग्नेः कोपशान्तये। तस्य कः प्रसङ्ग इति तं दर्शयति—एतद्वा एतदयथायथं करोतीति। तदेव स्पष्टयति—यदग्निमपोऽभ्यवहरतीति। निह्नवः कृतस्यापराधस्याच्छादनम्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने श्रीराम, भस्मना ज्ञानेन त्वं पृथिवीं पृथिवीसुतां सीतां योनिं सुखस्थानभूताम् अपः प्राणरूपान् भ्रातृंश्च सुखहेतून् प्रसद्य प्रपद्य मातृभिः कौशल्यादिभिः संसृज्य मिलित्वा ज्योतिष्मान् सूर्यवद् भ्राजमानः पुनरयोध्यामासदः, आसीद आगच्छ वा।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, तद्वत्प्रकाशमान पुरुष सूर्य इव ज्योतिष्मान् त्वं भस्मना दग्धेन पृथिवीं चापश्च योनिं प्रसद्य प्रगत्य भ्रातृभिः सह संसर्गीभूत्वा पुनरासदः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, भस्मनेत्यस्य दग्धेनेति व्याख्यानासङ्गतेः। न च पुरुषो जीवः सूर्यवज्ज्योतिष्मान् भवति, तस्य नीरूपत्वात्, दयानन्दरीत्या अणुत्वाच्च, मातृभिरिति बहुवचनासङ्गतेश्च ॥ ३८ ॥

पुनरासद्य सदनमपश्च पृथिवीमग्ने।
शेषे मातुर्यथोपस्थेऽन्तरस्याᳬशिवतमः ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, अतिकल्याण रूप आप जल और पृथ्वी के स्थान को प्राप्त होकर फिर इस उखा के मध्य में उसी प्रकार शयन कीजिये, जैसे कि माता की गोद में बालक सोता है ॥ ३९ ॥

हे अग्ने, पुनरपि अपश्च पृथिवीं च जलभूमिरूपं सदनं स्थानमासद्य प्राप्य पुनरप्यस्यामुखायामन्तर्मध्ये त्वं शेषे स्वपिषि। मातुरुपस्थ उत्सङ्गे यथा शिशुः शेते तद्वत्। कीदृशस्त्वम्? शिवतमः कल्याणतमः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने श्रीराम, पुनः पृथिवीं भूमिसुतां प्राणरूपान् भ्रातृंश्च सदनं सुखस्थानभूतान् पुनरासद्य सम्प्राप्य शिवतमः कल्याणतमः सन् शेषे, भक्तहृदयेष्विति शेषः। यथा मातुरुपस्थे शिशुः सुखं शेते तद्वत्।

दयानन्दस्तु—हे अग्ने, यतस्त्वमपः पृथिवीं च सदनं गर्भस्थानं पुनरासद्यास्यां मातरि अन्तः अभ्यन्तरे शिवतमः सन् यथा बालो मातुरुपस्थे शेते तथा त्वमपि शेषे' इति, तदपि तुच्छम्, अग्निपदस्य तथार्थत्वे मानाभावात्, सदन इत्यस्य गर्भोऽर्थ इत्यत्र मानाभावाच्च ॥ ३९ ॥

पुनरूर्जा निवर्तस्व पुनरग्न इषायुषा। पुनर्नः पाह्यᳬहसः ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप हमारे यहाँ क्षीर और रसों के साथ पधारिये, अन्न और आनन्दमय जीवन के साथ आप फिर आइये और आ कर हमारी सभी पापों से रक्षा कीजिये ॥ ४० ॥

हे अग्ने, त्वम् ऊर्जा क्षीरादिरसेन सह पुनर्निवर्तस्वागच्छ इषान्नेनायुषा सह पुनरागच्छ। नोऽस्मान् कृतादंहसः पाहि पालय। इयमृग् अस्मिन्नेवाध्याये नवमकण्डिकास्थले व्याख्याता ॥ ४० ॥

सह रय्या निवर्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया। विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप धूम के साथ स्वर्ग में जाइये और सब प्रकार के उपभोग योग्य वृष्टि रूप जल की वर्षा से सम्पूर्ण जगत् को, तृण-धान्य, लता-वृक्षों को आप्यायित कीजिये ॥ ४१ ॥

हे अग्ने, रय्या धनेन सह निवर्तस्व विश्वप्स्न्या विश्वैः सर्वैः प्सायते भक्ष्यते पीयत इति विश्वप्स्नी, तया तादृश्या धारया विश्वतस्परि सर्वेषामुपरि पिन्वस्व सिञ्च। इयमस्मिन्नेवाध्याये दशमकण्डिकायां व्याख्याता ॥ ४१ ॥

बोधा मे अस्य वचसो यविष्ठ मꣳहिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधावः।
पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति वन्दारुष्टे तन्वं वन्दे अग्ने ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ—हे धनवान् श्रेष्ठ युवारूप अग्निदेव, मेरी बार बार की गई इस प्रार्थना को सुनकर उसके अभिप्राय को जानिये। कोई आपको निन्दा न करे। स्तुति करना मनुष्य का स्वभाव है, स्तुति करने के स्वभाव वाला मैं आपके इस दिव्य शरीर को प्रणाम करता हूँ ॥ ४२ ॥

'प्रास्योखायामुपतिष्ठते बोधा म इति' (का० श्रौ० १६।६।३०)। तडागादागत्य अनामिकया गृहीतं भस्म तूष्णीमुखायां प्रास्य बोधा म इति द्वयृचेनोख्याग्निमुपतिष्ठत इति सूत्रार्थः। दीर्घतमोदृष्टा आग्नेयी त्रिष्टुप्। हे स्वधावः, स्वधा प्रशस्तमन्नमस्यास्तीति स्वधावान्, तत्सम्बुद्धौ हे स्वधावः, हे प्रशस्तान्नवन्। 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि' (पा० सू० ८।३।१) इति रुत्वम्। 'स्वधेत्यन्ननामसु पठितम्' (निघ० २।७।१७)। हे यविष्ठ युवतम अग्ने, मे मम वचसो बोध बुध्यस्व, अभिप्रायमिति शेषः। यद्वा कर्मणि षष्ठी, मद्वचनं जानीहीत्यर्थः। कीदृशस्य वचसः? मंहिष्ठस्य अतिशयेन बहु मंहिष्ठं तस्य भूयिष्ठस्य अतिशयेन अभिवृद्धिहेतोर्वा। पुनः कीदृशस्य? प्रभृतस्य प्रहृतस्य प्रकर्षेण श्रोत्रपथं प्रापितस्य, अथवा प्रकृष्टेन आदरेण सम्पादितस्य। त्व एकः कश्चन पामरः। त्वशब्द एकशब्दपर्यायः सर्वादिः। पीयति आक्रोशति। पीयतिराक्रोशतिकर्मा। 'पीयतिहिंसाकर्मा' इति यास्कः (नि० ४।२५)। अत्राक्रोशो निन्दैव हिंसा। त्व एकः स्तोता त्वामनुगृणाति स्तौति। कश्चिद् वेदज्ञः स्तौति कश्चिन्मन्दो निन्दतीति लोकस्वभावः।

अथवा त्व एकः स्तोता पीयति वृद्धमधिकं वक्ति। 'ओप्यायी वृद्धौ' इति भौवादिकस्य छान्दसं सम्प्रसारणं परस्मैपदं च। उचितोक्तिमुल्लङ्घ्य निन्दारूपेण प्रशंसारूपेण वा यत्किञ्चिदुक्तितः, त्व एकः स्तोता अनुगृणाति अनुकूलमुचितमेव वक्ति, अतोऽस्मदभिप्रायं बुध्यस्वेत्यग्निः प्रार्थ्यते। वन्दारुः वन्दनशीलः अभिवादनपरोऽहं तु ते तव तन्वं शरीरं वन्दे स्तौमि नमामि च। 'वदि अभिवादनस्तुत्योः' इति भौवादिकस्य 'शृवन्द्योरारुः' (पा० सू० ३।२।१७३) इत्यारुप्रत्यये वन्दारुरूपसिद्धिः। यद्वा हे स्वधावः! बह्वन्न युवतम, अस्य वचस एतदुपस्थानमन्त्ररूपं वचो बोध बुध्यस्व। वच एव विशेष्यते—मंहिष्ठस्येति। मंहिष्ठस्य अत्यन्तमहनीयस्य प्रभृतस्य प्रकर्षेण सम्भृतस्य। सर्वत्र कर्मणि षष्ठी। लोके त्व एकः पीयति हिनस्ति तथा त्व एकोऽनुगृणाति

स्तौति । तत्राहं वन्दारुः वन्दनशीलः, अतो हे अग्ने, ते तन्वं शरीरं वन्दे स्तौमि 'बोधा मे' इति दीर्घश्छान्दसः, 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति सूत्रेणेति यावत् ।

तत्र ब्राह्मणम्—'बोधा मे अस्य वचसो यविष्ठेति । बोध मेऽस्य वचसो यविष्ठेत्येतन्मꣳहिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधाव इति भूमिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधाव इत्येतत् पीयति त्वो अनु त्वो गृणातीति पीयत्येको न्वेको गृणाति वन्दारुष्टे तन्वं वन्दे अग्न इति वन्दिता तेऽहं तन्वं वन्देऽग्न इत्येतत् स बोधि सूरिर्मघवा वसुपते वसुदावन्·····' (श० ६।८।२।९) इति । प्रसन्नेयं कण्डिका ।

अध्यात्मपक्षे— हे अग्ने देवानामग्रणीः, हे स्वधावः बहुप्रशस्तान्न, हे यविष्ठ अतिशयेन युवेति यविष्ठः, तत्सम्बुद्धौ । मे मम अस्य स्तुतिलक्षणस्य लौकिकवैदिकमन्त्रस्य मंहिष्ठस्य महनीयतमस्य प्रभृतस्य प्रकर्षेण हृतस्य श्रोत्रैर्धृतस्य तात्पर्यं तादृग् वच एव वा बोध अवधारय । त्व एकः कश्चन पामरो नास्तिकः पीयति आक्रोशति । त्व एको भक्त आस्तिकः, अनुगृणाति स्तौति, वन्दारुरहं तु केवलं ते तन्वं सच्चिदानन्दमयं दिव्यशरीरं वन्दे ।

दयानन्दस्तु—'हे यविष्ठ प्रशस्त बह्वन्न श्रोतृजन, त्वं मम प्रभृतस्य धारकस्य पोषकस्य मंहिष्ठस्य अतिशयेन भाषितुं योग्यस्य वचसोऽभिप्रायं बोध बुद्ध्यस्व । त्वः कश्चिन्निन्दकः पुरुषः पीयति निन्देत् त्वः कश्चिन्निन्दकः, अनु पश्चाद् गृणाति स्तुयात् तस्य ते तव तन्वं शरीरमभिवादनशीलोऽहं वन्दे स्तुवे' इति, तत्तुच्छम्, श्रोतृजनेति सम्बोधनस्य निर्मूलत्वादसङ्गतेश्च, उपदेशकः श्रोतृजनस्य शरीरं वन्देतेत्यस्य कथं सङ्गतिरित्यनुक्तेः । निन्दास्तुत्योश्च सङ्गतिर्वक्तव्या ॥ ४२ ॥

स बोधि सूरिर्मघवा वसुपते वसुदावन् ।
युयोध्यस्मद् द्वेषाꣳसि विश्वकर्मणे स्वाहा ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ—हे धनपति, धन के दाता अग्निदेव ! आप सबके अभिप्राय को जानने वाले हो, धन से सम्पन्न हो । आप हमारे ऊपर सन्तुष्ट होकर हमारे दुर्भाग्य को दूर करें । आप जगत् की सृष्टि, स्थिति आदि करने वाले हैं । आपके निमित्त अग्नि में दी गई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ ४३ ॥

सोमाहुतिदृष्टाग्नेयी यजुरन्ता गायत्री । विश्वकर्मणे स्वाहेति यजुः । हे वसुपते धनपते धनरक्षक, हे वसुदावन्, वसूनि ददातीति वसुदावा, तत्सम्बुद्धौ हे वसुदावन् धनदातः । 'आतो मनिन्क्वनिप्वनिपश्च' (पा० सू० ३।२।७४) इति क्वनिप् । यस्त्वं सूरिः पण्डितः, मघवा मघं धनमस्यास्तीति मघवा धनवांश्च स बोधि अस्मत्तात्पर्यं बुद्ध्यस्व । बोधतेः शपि लुप्ते लोटि मध्यमैकवचने 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' (पा० सू० ६।४।१०१) इति ध्यादेशे छान्दसे गुणेऽन्त्यलोपे च बोधीति रूपम् । तात्पर्यं बुद्ध्वा सुप्रीतः सन् अस्मत्तो द्वेषांसि दौर्भाग्यानि शत्रुभिः कृतान् द्वेषान् वा द्वेष्यान् पाप्मनो वा युयोधि पृथक् कुरु । यौतेः शपः श्लौ लोटि मध्यमैकवचने 'वा छन्दसि' (पा० सू० ३।४।८८) इति हेरपित्त्वे 'अङितश्च' (पा० सू० ६।४।१०३) इति ध्यादेशे युयोधीति रूपम् । 'प्रायश्चित्तिꣳ समिधोपहत्याज्यं विश्वकर्मण इति जुहोति' (का० श्रौ० १६।७।१) । स्वस्थानापन्नया समिधा आज्यं गृहीत्वोख्येऽग्नौ जुहुयात् । एतस्य कर्मणः प्रायश्चित्तिरिति संज्ञा । उपपूर्वो हन्तिर्ग्रहणार्थः । विश्वकर्मणे जगत्सृष्टिस्थित्यादिकर्मकर्त्रे स्वाहा सुहुतमस्तु ।

अत्र ब्राह्मणम्—'स बोधि सूरिर्मघवा वसुपते वसुदावन्। युयोध्यस्मद् द्वेषाᳪसीति यथैवास्माद् द्वेषाᳪसि युयादेवमेतदाह द्वाभ्यामुपतिष्ठते गायत्र्या च त्रिष्टुभा च तस्योक्तो बन्धुः' (श० ६।८।२।९)। संग्रहेण तात्पर्यमाह —यथैवास्माद द्वेषांसि युयाद् एवमेतदाहेति। मन्त्रयोर्यद् गायत्रत्वं त्रिष्टुप्त्वं च तदुभयार्थवादं पूर्वोक्तमतिदिशति—तस्योक्तो बन्धुरिति। उखासन्तपनप्रस्तावे 'प्राणो गायत्र्यात्मा त्रिष्टुप्' इत्युपक्रम्य 'अथो अग्निर्वै गायत्रीन्द्रस्त्रिष्टुबैन्द्राग्नोऽग्निर्यावानग्निः' (श० ६।६।२।७) इत्यादिनोक्त इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर श्रीराम, हे वसुदावन् आध्यात्मिकाधिभौतिकधनप्रद वसुपते सर्वधनाधिपते, स त्वं सूरिर्विद्वान् मघवान् धनवांश्च अस्मद् अस्मत्तः सकाशाद् द्वेषांसि पाप्मनो युयोधि अपगमय। तस्मै विश्वकर्मणे विश्वोत्पत्तिस्थितिलयादिकर्मकर्त्रे स्वाहा सर्वं सुहुतमस्तु।

दयानन्दस्तु—'हे वसुपते वसुदावन्, यो मघवा सूरिर्भवान् स त्वं सत्यं बोधि बुद्ध्येत। स विश्वकर्मणेऽखिलशुभकर्मानुष्ठानाय स्वाहा सत्यां वाणीमुपदिशन् संस्त्वम् अस्मद् द्वेषांसि द्वेषमूलानि कर्माणि युयोधि वियोजय' इति, तदपि न सङ्गतम्, विश्वकर्मणेऽखिलशुभकर्मानुष्ठानायेत्यसङ्गतेः, विश्वकर्मेत्यस्य विश्वकर्मानुष्ठानार्थतानुपपत्तेः। सत्यपदाध्याहारोऽपि निर्मूल एव। स्वाहेत्यस्य सत्यवाणीमुपदिशन्नित्यपि निर्मूलोऽर्थः॥ ४३॥

पुनस्त्वादित्या रुद्रा वसवः समिन्धतां पुनर्ब्रह्माणो वसुनीथ यज्ञैः।
घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः॥ ४४॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, हम धन के निमित्त आपकी स्तुति करते हैं। हे देव आदित्यगण, रुद्रगण और वसुगण आपको पुनः प्रदीप्त करें। हे धननेता, ऋत्विक् और यजमान यज्ञ करके आपको प्रदीप्त करें। आप घृत के द्वारा अपने शरीर को बढ़ावें। आपके वृद्धि को प्राप्त होने से यजमान का मनोरथ सफल हो॥ ४४॥

'उत्थायादधाति समिधं पुनस्त्वेति' (का० श्रौ० १६।७।२)। आज्यहोमानन्तरमुत्थाय तामेव समिधमुख्येऽग्नावादध्यादिति सूत्रार्थः। आग्नेयी त्रिष्टुप्। आद्यपादश्चतुर्दशार्णः, द्वितीयचतुर्थौ एकादशार्णौ, तृतीयो दशार्णस्तेन द्व्यधिका। हे अग्ने, त्वा उपशान्तं त्वाम् आदित्या रुद्रा वसवश्च पुनः समिन्धतां दीपयन्तु। हे वसुनीथ, वसूनां धनानां नीथो नेता वसुनीथस्तत्सम्बुद्धौ। यद्वा वसुप्राप्त्यर्थं नीथा स्तुतिर्यस्यासौ वसुनीथस्तत्सम्बुद्धौ। ब्रह्माणो ब्राह्मणा ऋत्विग्यजमानाः, यज्ञैर्निमित्तभूतैस्त्वां पुनः समिन्धताम्। त्वं घृतेन तुष्टः सन् तन्वं तनूं शरीरं वर्धयस्व। ततस्त्वयि तुष्टे सति यजमानस्य कामाः कामना अभिलषणीयवस्तुविषयाः, सत्याः सफलाः सन्तु।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर श्रीराम, निर्गुणस्य निराकारस्य शरीरित्वायोगाद् आदित्यादयो देवास्त्वां पुनः समिन्धन्तु स्तुत्वा दीपयन्तु उत्साहयन्तु, रावणादिवधायेति शेषः। हे वसुनीथ! वसूनां नेतः प्रापयितः, ब्रह्माण ऋत्विजो यज्ञैः साधनैस्त्वां पुनः समिन्धताम् आप्याययन्तु। त्वं च स्वशरीरं ध्यानधिष्ण्यं घृतेन तदुपलक्षितेनास्मद्दत्तेन हविषा वर्धयस्व स्वकीयं दिव्यं स्वरूपं भक्तानां हृदयेष्वाविर्भावय। तथा सति यजमानस्य भवदाराधनतत्परस्य कामा ज्ञानवैराग्यमोक्षसम्बन्धिनोऽभिलाषाः सत्या अवितथाः सफलाः सन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे वसुनीथ, त्वं वसु वेदादिशास्त्रबोधाख्यं सुवर्णादिधनं च यो नयति तत्सम्बुद्धौ। त्वम् अध्यापकः श्रोता वा यज्ञैरध्ययनाध्यापनादिक्रियामयैर्घृतेन सुसंस्कृताज्यादिना जलेन वा तन्वं शरीरं वर्धयस्व।

आदित्याः पूर्णविद्याबलयुक्ता रुद्रा वसवः प्रथमे विद्वांसो ब्रह्माणश्च चतुर्वेदाध्ययनेन ब्रह्मेति संज्ञां प्राप्ताः प्रकाशयन्तु। एवमनुष्ठानाद् यजमानस्य यष्टुं संगन्तुं विदुषः पूजयितुं वा शीलं यस्य तस्य कामाः सत्याः सत्सु साधवः सत्याः सन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्ययनाध्यापनयोः शरीरसंवर्धनसाधनत्वासम्भवात्, तादृक्सम्बोधनस्य निर्मलत्वात्, आदित्यादिशब्दानां तथोक्तार्थत्वायोगाच्च ॥ ४४ ॥

अपे॑त॒ वीत॒ वि च॑ सर्प॒तातो॒ येऽत्र॒ स्थ पु॒राणा॒ ये च॒ नूत॑नाः।

अदा॑द्य॒मोऽव॒सानं॑ पृथि॒व्या अक्र॑न्नि॒मं पि॒तरो॑ लो॒कम॑स्मै ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ — हे यमराज के भृत्यगण, तुम लोगों के यहां जो पुराने और नये स्थान हैं, उनको छोड़कर दूर चले जाओ, बहुत दूर चले जाओ। यम ने पृथ्वी का यह स्थान यजमान के लिये दिया है, पितरों ने इस लोक को हमारे यजमान के निमित्त कल्पित किया है ॥ ४५ ॥

अथ गार्हपत्यचयनमुच्यते। 'पलाशशाखया गार्हपत्यं व्युदूहत्यपेत वीतेति पुच्छः प्रतिदिशं पुरस्तात् प्रथमम्' (का० श्रौ० १७।१।३)। पलाशशाखया गार्हपत्यस्थानव्यूहनम् (सम्मार्जनम्) कुर्याद् अपेत वीतेति ऋचः पुच्छः पदैः प्रतिदिशमादौ प्राच्यामपेत वीतेति, दक्षिणस्यां येऽत्रस्थेति, प्रतीच्यामदादिति, उत्तरस्यामक्रन्नित्यादिमन्त्रैरिति सूत्रार्थः। अत्र भविष्यद्वृत्त्या गार्हपत्यशब्देन शालाद्वार्य उच्यते। तदर्था चितिः कर्तव्या। चितेः स्थानमपि गार्हपत्यशब्देनोच्यते। अहेरत्र प्रेरणार्थे वृत्तिः। तत्र स्थाने पतितस्य तृणादेः स्थानाद्बहिः क्षेपणमेव व्यूहनम्। लिङ्गोक्तबहुदेवत्या त्रिष्टुप्। अर्धर्चेन तत्स्थानसर्पिण उच्यन्ते। पादेन यमः। पादेन पितरः। यमस्य सर्वभूम्यधिपतित्वात् तद्भृत्याः सर्वत्रैव चरन्तीति तान् प्रत्युच्यते—हे यमभृत्याः, अत्र देवयजनस्थाने ये पुराणाः पुरातना यूयं स्थ भवथ ये च नूतना इदानीन्तनास्ते सर्वे यूयमतः स्थानाद् अपेत अपगच्छत। वीत अत्यन्तं विदूरं गच्छत। विसर्पत अतः, अतः स्थानाद् अपेत्य सङ्घातं परित्यज्य विविधं गच्छत। कस्मादिति चेत्? यमः पृथिव्या इदमवसानम्, अवस्यति स्थापयत्यस्मिन्नित्यवसानं स्थानम्, अस्मै यजमानाय अदात्। पितरश्चास्मै यजमानाय इमं लोकमक्रन् यजनस्थानं कृतवन्तः। अतोऽपगच्छतेति। करोतेर्लङि शपि लुप्ते अक्रन्निति रूपम्। यद्वा हे यज्ञविरोधिनो जनाः, यूयमपेत अपगच्छत। अपगमनसमयेऽपि वीत विविधं गच्छत, न समूहरूपेणेत्यर्थः। अपगमनविगमनयोः समुच्चयोऽत्राभिप्रेतः। ये तु प्राणिन उदरेणैव सर्पन्ति गच्छन्ति, तान् सरीसृपान् प्रत्युच्यते—हे उदरेणैव सर्पणशीलाः पन्नगाः, अतोऽग्निचयनस्थानाद् विसर्पत विविधं गच्छत। ये पुराणा अतीतकाले भवाः, सनातना इत्यर्थः। ये च नूतना अधुनातना वर्तमानकाले भवाः, ते सर्वे यूयमपेतेति। पितरः पितृदेवाः, अस्मै यजमानाय अग्निचयनार्थमिमं लोकमक्रन् अकुर्वत।

अत्र ब्राह्मणम्—'गार्हपत्यं चेष्यन् पलाशशाखया व्युदूहति। अवस्यति हैतद्यद् गार्हपत्यं चिनोति य उ वै के चाग्निचितोऽस्यामेव तेऽवसितास्तद्यद् व्युदूहत्यवसितानेव तद् व्युदूहति नेदवसितानध्यवस्यानीति' (श० ७।१।१।१)। 'अग्निं चिनुते' (तै० सं० ५।५।२।३) इत्यारभ्य विहितस्य अग्निचयनस्य 'अथातोऽग्निमग्निष्टोमेनानुयजति' (मी० सू० २।३।१०) इत्यादिवाक्येन सोमयागशेषत्वावगमात् साग्निकस्य सम्बन्धिनां गार्हपत्यादिधिष्ण्यानां सर्वेषामेव चयनं कार्यम्, संस्कार्यत्वात्। तत्र धिष्ण्येषु गार्हपत्याख्यस्य धिष्ण्यस्य प्राथम्यात् तत्र प्रथमं चयनं विधित्सुस्ततः प्राच्यान् भूसंस्कारान् विधास्यन् तत्स्थानस्य समन्त्रकं व्युदूहनं विधत्ते—गार्हपत्यं चेष्यन्निति। गृहपतिना संयुक्तोऽग्निर्गार्हपत्यः, 'गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः' (पा० सू० ४।४।९०) इति

पाणिनिस्मृतेः। इह तु तस्याग्नेराधारभूतो गृहप्रदेशो विवक्षितः, आधाराधेययोरभेदोपचारात् संस्कर्तकत्व-प्रतिपत्तये। अर्थाद् यस्मादेतत् स्थानं गार्हपत्यस्याग्नेरधिकरणम्, अतश्चयनेन संस्कर्तव्यम्। संस्कारश्चात्र प्राधान्यवाचिन्या द्वितीयया 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इत्यादाविव बोध्यते। इत्यन्नित्यत्र हेतौ शता। 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' (पा० सू० ३।२।१२६)। यतोऽत्र चयनं कर्तव्यमतो हेतोरेतत् स्थानं पलाशवृक्षशाखया 'अपेत' (वा० सं० १२।४५) इति मन्त्रेण व्युदूहति, तत्र पतितं लोष्टतृणादिकमपसारयतीत्यर्थ इति सायणाचार्यः। व्युदूहनस्य प्रयोजनमाह—अवस्यति हैतदिति। गार्हपत्यस्य यत्स्थानं चयनेन संस्कर्तव्यम्, एतद् एतेन व्युदूहनेन अवस्यति ह निश्चिनोत्येव। यद्वा गार्हपत्यस्य यच्चयनं तदेव देवयजनाध्यवसानम्। तथा च ये केचिद् अग्निचितोऽग्निं चिन्वन्तो यजमानाः, तेऽस्यामेव पृथिव्यामेव अवसिता अवसानं प्राप्तास्तत्रैव प्रवर्तन्ते। तत् तथा सति पलाशशाखया चयनस्थानं व्युदूहतीति यत् तत् तेन अवसितानेव तत्र स्थितान् प्राक्तनान् यजमानान् व्युदूहति विविधं निरस्यति। व्युदूहनं कुर्वतो यजमानस्याभिप्रायमाह—नेदिति। अग्निचयनमनुष्ठाय तत्रैवावसितान् यजमानानत्रैव नेदध्यवस्यानि, तेषामुपर्यध्यवसानमवस्थानं नैव करवाणीत्यनेनाभिप्रायेण व्युदूहनमित्यर्थः।

'अपेत वीत वि च सर्पतात इति। अप चैवैत वि चेत व्यु च सर्पतात इत्येतद्य उदरसर्पिणस्तानेतदाह येऽत्र स्थ पुराणा ये च नूतना इति येऽत्र स्थ सनातना ये चाधुनातना इत्येतत्' (श० ७।१।१।२)। तत्र व्युदूहने मन्त्रं विधत्ते—अपेतेति। अपेत वीतेति वाक्यद्वयस्यार्थमाह—अप चैवेत वि चेतेति। हे यज्ञविरोधिनो जनाः, अस्मात् स्थानाद् अपेत अपगच्छत। अपगमनसमयेऽपि वीत विविधं गच्छत। अपगमनविगमनयोः समुच्चयबोधनाय चकारद्वयप्रयोगः। वि च सर्पतात इत्येतदनूद्य व्याचष्टे—व्यु चेति। द्वितीयपादमनूद्य व्याचष्टे—येऽत्र स्थेति। पुराणाः पुरा अतीतकाले भवाः। 'सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यः' (पा० सू० ४।३।२३) इति पुराशब्दात् ट्युप्रत्ययः। 'पुराणप्रोक्तेषु' (पा० सू० ४।३।१०५) इति निर्देशात् तुडभावः। तथा च सनातना इत्यर्थः। 'अदाद्यमोऽवसानं पृथिव्या इति। यमो ह वा अस्या अवसानस्येष्टे स एवास्मा अस्यामवसानं ददाति' (श० ७।१।१।३)। तृतीयपादमनूद्य व्याचष्टे—अदाद्यम इति। अवसानम् अवस्यत्यस्मिन्नित्यवसानं स्थानं पृथिव्याः सम्बन्धि यत् तद् यमोऽस्मभ्यम् अदाद् दत्तवान्। यमो ह वेत्यादि। अस्याः पृथिव्याः सम्बन्धिनः स्थानस्य यमः खलु ईष्टे। अतः स एवास्मै यजमानाय अस्याः पृथिव्या अवसानं स्थानं ददाति।

'अक्रन्निमं पितरो लोकमस्मा इति। क्षत्रं वै यमो विशः पितरो यस्मा उ वै क्षत्रियो विशा संविदानोऽस्यामवसानं ददाति तत्सुदत्तं तथो हास्मै क्षत्रं यमो विशा पितृभिः संविदानोऽस्यामवसानं ददाति' (श० ७।१।१।४)। चतुर्थपादमनूद्य व्याचष्टे—अक्रन्निति। पितरः पितृदेवताः, अस्मै यजमानाय अग्निचयनार्थमिमं लोकं स्थानम्, अक्रन् अकृषत। क्षत्रं वेत्यादि। क्षत्रियजातिर्हि यमः, पितरस्तु तस्य विशः प्रजाः। यमः पितृणाᳬ राजा' (तै० सं० ४।१।८।४) इति हि श्रुतिः। यस्मा उ वेति। लोके क्षत्रियो राजा विशा स्वकीयया प्रजया संविदानः सञ्जानान ऐकमत्यं प्राप्तः सन् अस्यां पृथिव्यां यस्मै पुरुषाय स्थानं ददाति तस्य तत् सुदत्तं भवति। यथायं दृष्टान्तस्तथैव खल्वस्मै यजमानाय क्षत्रं क्षत्रियो यमोऽपि पितृरूपया स्वकीयया प्रजया विशा संविदानः सन् अस्यां पृथिव्यामवसानं स्थानं ददाति, तत् सुदत्तमेव भवति। 'पलाशशाखया व्युदूहति। ब्रह्म वै पलाशो ब्रह्मणैव तदवसितान् व्युदूहति मन्त्रेण ब्रह्म वै मन्त्रो ब्रह्मणैव तदवसितान् व्युदूहति तामुदीचीमुदस्यति' (श० ७।१।१।५)। व्युदूहने पलाशशाखायाः करणत्वं यद्विहितं तदनूद्य स्तौति—पलाशशाखयेति। ब्रह्म ब्राह्मणजातिः पलाशः। यद्वा गायत्र्या सोमाहरणात् तत्पर्णस्य

पलाशरूपेणोत्पत्तेः पलाशो गायत्र्यात्मकः। तेन गायत्रीमन्त्रात्मकेन ब्रह्मणा पलाशेन तत् तत्र अवसितान् अवसाय स्थितान् जनान् अस्मात् स्थानाद् व्युदूहति उच्चाटयति। मन्त्रकरणकत्वमनूद्य स्तौति —मन्त्रेणेति। ब्रह्म वेति। यद् ब्रह्म विवक्ति हि मन्त्रः। तथा च मन्त्रेण क्रियमाणं व्युदूहनं ब्रह्मणैव कृतं भवतीत्यर्थः। तस्याः पलाशशाखाया निरसनं विधत्ते—तामुदीचीमिति। उदीचीमुदगग्राम् उदीचीं दिशं वा प्रति तां पलाशशाखामुदस्यति उत्क्षिपति, परित्यजतीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—ये जपध्यानादिविघ्नकर्तारस्तानपसार्यैव ध्यायिनो ध्याने निषीदन्ति। यथा च हे विघ्नकर्तारो भौमान्तरिक्षदिव्याः, यूयम् अपेत अपगच्छत। वीत विविधं गच्छत। ये च सरीसृपाः पन्नगादयस्तेऽपि सर्पतातः, अतोऽस्मात् स्थानात् सर्पत अपसृप्ता भवन्तु। ये पुराणाः पुरातनाः, ये च नूतना अधुनातनाः, सर्वेऽप्यपगच्छत। यमः, यच्छति सर्वं नियमयतीति यमः, अन्तर्यामी परमेश्वरः, अस्मभ्यं पृथिव्या अवसानम्, अवस्यन्ति निश्चिन्वन्त्यस्मिन् स्थान इत्यवसानं ध्यानस्थानम्, तद् अदात्। पितरश्च पूर्वजाश्च इमं लोकं स्थानमस्मै ध्यायिने कृतवन्तः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः, येऽत्र पृथिव्या मध्ये पुराणा ये च नूतनाः पितरो जनका अध्यापका उपदेशकाः परीक्षका वा स्थ ते अस्मै सत्यसङ्कल्पाय इमं लोकं आर्षं दर्शनम् अक्रन् कुर्वन्तु यान् युष्मान् यम उपरतः परीक्षकोऽवसानमवकाशमवसरं वा अदाद् दद्यात्, ते यूयमतोऽधर्मादपेत धर्मं वीत विविधतया प्राप्नुत। अत्रैव विसर्पतात गच्छत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पितर इत्यस्याध्यापकाद्यर्थकत्वे मानाभावात्, अस्मै सत्यसङ्कल्पायेत्यस्य निर्मूलत्वात्। यम इत्यस्य संस्कृते उपरतः परीक्षक इत्यर्थः कृतः, भाषाभाष्ये तु प्राप्तपरीक्षक इति। नहि यमशब्दस्य उपरतार्थता प्राप्तार्थता वा प्रमाणसिद्धा। न चोपरतः प्राप्तो वा अवकाशमधिकारं वा ददाति। अवसानपदस्य अवकाशार्थतापि स्वकपोलकल्पितैव। लोकपदस्य वैदिकज्ञानसिद्धलोकार्थतापि प्रमाणसापेक्षैव ॥ ४५ ॥

संज्ञानमसि कामधरणं मयि ते कामधरणं भूयात्।
अग्नेर्भस्मास्यग्नेः पुरीषमसि चितः स्थ परिचित ऊर्ध्वचितः श्रयध्वम् ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ—हे उखास्वरूप देवता, तुम पशुओं के सम्यक् ज्ञान के साधन हो तथा यज्ञ द्वारा सभी मनोरथों को पूरा करने वाले हो। इस कारण हमारी प्रार्थना है कि तुम्हारी मनोरथ सम्पादन की सामर्थ्य हमारे यजमान में आ जाय। हे सिकता, तुम अग्नि की भस्म हो, अग्नि का पूरण करने वाली हो। हे सिकता के कणों, तुम भूमि पर डालने पर सब ओर फैल जाओ। ऊर्ध्व स्थान में स्थापित तुम इस गार्हपत्य स्थान का सेवन करो ॥ ४६ ॥

'उदीचीᳪ शाखामुदस्योखां निवपति संज्ञानमिति' (का० श्रौ० १७।१।४)। यया पलाशशाखया व्युदूहनं कृतम्, तां शाखामुदगग्रां क्षिप्त्वा गार्हपत्यचितिस्थाने ऊषरप्रदेशस्थान् पांसून् निवपेत् संज्ञानमिति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। ऊषाः क्षारमृत्तिकाः। ऊषदेवत्यं यजुः। हे ऊषस्वरूप देव, त्वं संज्ञानमसि पशूनां सम्यग् ज्ञानसाधनमसि। पशवो हि ऊषरप्रदेशमाघ्राणेन ज्ञात्वा लिहन्ति। त्वं कामधरणमसि, कामा मनोरथा ध्रियन्तेऽनेनेति कामधरणम्, यज्ञद्वारा कामानां धारकमसि, 'यदमुष्या यज्ञियमासीत् तदस्यामदधात्। त

ऊषा अभवन्' (तै० ब्रा० १।१।३।२) इति श्रुत्यन्तरात्। ते तव यत्कामधरणसामर्थ्यमस्ति, तन्मयि भूयात्। यद्वा ते तव कामधरणं पशवः, मयि भूयाद् भूयासुः। यतस्त्वं कामधरणं पशुरूपं कामा ध्रियन्तेऽनेन गोरूपत्वेन स्तुतेनोषरूपेणेति व्युत्पत्त्या मन्त्रगतकामधरणशब्देन पशुविषयकस्य कामस्य धरणं प्रतिपाद्यते। यतस्त्वं कामधरणमसि, अतस्ते तव सम्बन्धि पशुरूपं कामधरणं कामप्रापणं मयि भूयात्, ते तव सम्बन्धिनः पशवो मयि भूयासुरित्यर्थः, तथैव श्रुत्या व्याख्यास्यमानत्वात्।

अत्रोव्वटाचार्याः—उल्बसंस्तवः पशुसंस्तवश्च। संज्ञानमसीत्यादीनि त्रीणि यजूंषि। समित्येकीभावमाचष्टे। यत एकं ज्ञानमसि, उल्बसंस्तवात्। 'तस्मादप्येतर्हि समानोल्बाः समेव जानते' (श० ७।१।१।७) इति हि तत्र श्रुतिः। कामधरणं च कामान् धारयति सम्पादयति कामधरणम्, 'पशवो वा ऊषाः पशवः कामधरणम्' (श० ७।१।१।८) इति श्रुतेः। अतो मयि ते कामधरणं भूयात्। उल्बाभिप्रायमेकवचनम्। 'मयि ते पशवो भूयासुः' (श० ७।१।१।८) इति हि श्रुतिः।

'सिकताश्चाग्नेर्भस्मेत्यूषवत्' (का० श्रौ० १७।१।६)। तत्र सिकताश्च प्रक्षिप्य ऊषवन्मण्डलमाच्छादयेत् अग्नेर्भस्मासीति यजुषा सिकताभिरिति सूत्रार्थः। अग्नेर्भस्मासीति सिकतादेवत्यं यजुः। हे सिकतासमूह, अग्नेर्भस्मासि अग्नेर्भासकमसि। 'भस भर्त्सनदीप्त्योः' भसितं भस्म। भस्मसादृश्यात् सिकता भस्मेत्युक्ताः। 'न वा अग्निः स्वं भस्मातिदहति' (श० ७।१।१।९) इति हि श्रुतिः। भस्माभिप्रायमेकवचनम्। अग्नेश्च पुरीषम्, पूरयतीति पुरीषं पूरणमसि। पिपर्त्तेरौणादिके 'शॄपॄभ्यां किच्च' (४।२७) इति ईषन्प्रत्यये, तस्य कित्त्वाद् गुणाभावे 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (पा० सू० ७।१।१०२) इत्युदादेशे रपरत्वे च रूपसिद्धिः, 'अग्नेरेतद्वैश्वानरस्य रेतो यत्सिकताः' (श०७।१।१।१०) इति श्रुतेः। त्वमग्नेरवस्थानाय पुरुषं पांसुरूपं पासीति हेतोः पुरीषमसि। 'परिश्रिद्भिः परिश्रयति पूर्ववदेकवि७ंशत्या चितः स्थेति' (का० श्रौ० १७।१।७)। एकविंशतिसंख्याकाभिः परिश्रिद्भिः पाषाणमयीभिरिष्टकाभिस्त्र्यङ्गुलविस्तृताभिः पूर्ववद् ऊर्ध्वाभिर्गार्हपत्यस्थानं प्रदक्षिणं वेष्टयेत्। तत्र सकृन्मन्त्रप्रयोगः श्रुतेः। ताश्च मण्डलस्य समन्ततः परिखां निम्नां कृत्वा चितेरवष्टम्भनार्थं चितिसंल्लग्ना निखातव्याः। परिश्रिद्दैवत्यं यजुः। हे परिश्रितः शर्कराः, यूयं चितः, चीयन्ते भूमौ निक्षिप्यन्त इति चितः स्थ भूमौ प्रक्षिप्ता भवथ। परिचितः परितः सर्वतः स्थापिता भवथ। ऊर्ध्वचित ऊर्ध्वं चीयन्त इत्यूर्ध्वचितः सिकतानामूर्ध्वं प्रक्षिप्ता भवथ। ऊर्ध्वं स्थापिताः सत्यो यूयं श्रयध्वम् इदं गार्हपत्यायतनं सेवध्वम्।

अत्र ब्राह्मणम् —'अथोषान्निवपति। अयं वै लोको गार्हपत्यः पशव ऊषा अस्मिंस्तल्लोके पशून् दधाति तस्मादिमेऽस्मिल्लोके पशवः' (श० ७।१।१।६)। 'यद्वेवोषान्निवपति। प्रजापतिः प्रजा असृजत ता नानोल्बा असृजत ता न समजानत सोऽकामयत संजानीरन्निति ताः समानोल्बा अकरोत्तासामूषानुल्बमकरोत्ताः समजानत तस्मादप्येतर्हि समानोल्बाः समेव जानते देवैः समानोल्बोऽसानीत्यु वै यजते यो यजते तद्यदूषान्निवपति देवैरेव तत्समानोल्बो भवति' (श० ७।१।१।७)। सम्मार्जनानन्तरमूषाणां निवपनं विधत्ते—अथोषानिति। क्षारमृत्तिका ऊषाः। पृथिव्याः पशुसमृद्धिहेतुत्वेनैतत्प्रशंसति—अयं वै लोक इति। ऊषरदेशस्य पशुभिरुपजीव्यत्वाद् ऊषाणां पशुत्वव्यपदेशः। गार्हपत्यायतने ऊषाणां निवपनेन अस्मिल्लोके पशून् स्थापितवान् भवतीत्यर्थः। यस्मादूषाणां निवपनेन पशवोऽस्मिल्लोके स्थापिताः, तस्मादेव कारणाद् इदानीमपीमे गवाद्याः पशवोऽस्मिल्लोके समृद्धा उपलभ्यन्ते। ऊषनिवपनं प्रकारान्तरेण स्तोतुमनुवदति—यद्वेवेति। ऊषाणामुल्बरूपत्वमाख्यायिकया प्रतिपादयन् संज्ञानहेतुतामाह—प्रजापतिः प्रजा इति। ता नानोल्बा इति नानाविधं परस्परं विभिन्नमुल्बं गर्भवेष्टनं यासां तास्तथोक्ताः। ततो भिन्नजातीयत्वात् ताः प्रजाः परस्परं

न समजानत समानज्ञाना नाभवन्। स च प्रजापतिरकामयत इमाः प्रजाः परस्परं सञ्जानीरन्निति। एवं कामयित्वा भिन्नोल्बजनितत्वं दोषमालोच्य ताः प्रजाः समानोल्बाः समानमेकमेवोल्बं यासां तास्तथाविधा अकरोत्। किं तत्समानमुल्बमिति ? तदाह—तासामूषानिति। उत्पद्यमानानां प्रजानामुल्बत्वेनोषान् कृतवानित्यर्थः। तथा चैकोल्बजनितत्वेन समानजातीयास्ताः प्रजाः समजानत ऐकमत्यं प्राप्ता आसन्। यस्मादेवं पुरावृत्तं तस्मादिदानीमपि समानोल्बानामेकमातृकाणां प्रजानां सम्मतिर्दृश्यत इत्यर्थः। देवैरित्यादि। देवैः सह समानजन्मा भवानीत्यनेनाभिप्रायेण हि यो यजमानो यजते तत् तथा सत्युल्बसंस्तुतानामूषाणां निवपनेन देवैः समानोल्बः समानजन्मा भवतीत्यर्थः।

'संज्ञानमसीति। समजानत ह्येतेन कामधरणमिति पशवो वा ऊषाः पशवः कामधरणं मयि ते कामधरणं भूयादिति मयि ते पशवो भूयासुरित्येतत्तैः सर्वं गार्हपत्यं प्रच्छादयति योनिर्वै गार्हपत्या चितिरुल्बमूषाः सर्वां तद्योनिमुल्बेन प्रच्छादयति' (श० ७।१।१।८)। तस्मिन्निवपने मन्त्रं विधाय तदीयपदानि व्याचष्टे—संज्ञानमिति। अत्र 'करणाधिकरणयोश्च' (पा० सू० ३।३।११७) इति करणे ल्युट्। समजानतेति। हि यस्माद्विप्रतिपन्नाः प्रजा एतेन ऊषरूपेणोल्बेन समजानत समानज्ञाना अभवन्, तस्माद् हे ऊष, त्वं संज्ञानमसीति मन्त्रेण प्रतिपाद्य इत्यर्थः। मयि त इत्यादेरयमर्थः—हे ऊष, यतस्त्वं कामधरणमसि, अतस्ते तव सम्बन्धि पशुरूपं कामधरणं कामप्रापणं मयि भूयादिति। मन्त्रवाक्यार्थस्य पर्यवसानमाह—मयि ते पशव इति। ते तव सम्बन्धिनः पशवो मयि भूयासुरित्येतदत्र प्रतिपाद्यमित्यर्थः। न्युप्तैरूषैः प्रच्छादनं विधत्ते—तैरिति। तत्प्रच्छादनं प्रशंसति—योनिर्वा इति। गार्हपत्याग्निसम्बधिनी या चितिः, सा योनिः सर्वोत्पत्तिकारणम्। गार्हपत्याग्नेराहवनीयाग्न्युत्पत्तिहेतुत्वात् तदीयचयनस्याप्युत्पत्तिहेतुत्वाद् योनित्वेन स्तुतिः। उल्बमूषा इति 'तासामूषानुल्बमकरोत्' (श० ७।१।१।१७) इत्याम्नातम्। तत् तेन ऊषैः प्रच्छादनेन सर्वां कृत्स्नां योनिमेव आहवनीयाद्युत्पत्तये उल्बेन प्रच्छादितवान् भवतीति।

'अथ सिकता निवपति। अग्नेरेतद्वैश्वानरस्य भस्म यत्सिकता अग्निमु वा एतं वैश्वानरं चेष्यन् भवति न वा अग्निः स्वं भस्मातिदहत्यनतिदाहाय' (श० ७।१।१।९)। सिकतानां निवपनं विधत्ते—अथेति। ऊषवत् सिकता बालुका निक्षिपति। पृथिव्या दाहराहित्यहेतुत्वेनैतत् स्तौति—अग्नेरेतदिति। वैश्वानरस्य विश्वनरहितस्य अग्नेरेतद् भस्म यत् सिकताः। वैश्वानरं विश्वेषु नरेष्ववस्थितं हिरण्यगर्भात्मकमग्निं खल्वसौ यजमानश्चेष्यन् भवति। यथा च चीयमानो वैश्वानरोऽग्निः पृथिवीं न दहेत् तथा च सिकतानां निवपनं पृथिव्या अनतिदाहाय अतिक्रम्य अतिशयितो वा दाहोऽतिदाहः, तद्राहित्याय भवति। न खल्वग्निः स्वकीयं भस्मातीत्य दहति, किन्तु तेनैव छन्नः सन् दाहसमर्थो भवतीत्यर्थः। 'यद्वेव सिकता निवपति। अग्नेरेतद्वैश्वानरस्य रेतो यत्सिकता अग्निमु वा एतं वैश्वानरं चेष्यन् भवति न वा अरेतस्कात्किञ्चन विक्रियतेऽस्माद्रेतसोऽधि विक्रियाता इति' (श० ७।१।१।१०)। पूर्वकण्डिकोक्तमनूद्य प्रकारान्तरेण स्तौति—यद्वेवेति। सिकता इति यत्, एतद् अग्नेर्वैश्वानरस्य रेतः, वर्णसादृश्यात्। न वा अरेतस्कादिति न खल्वरेतस्काद् निर्वीर्यात् पुरुषात् किमपीषदपि विक्रियते उत्पद्यते। अतश्चेष्यमाणोऽग्नी रेतसोऽधि उपरि चितः सन् विक्रियातै नानाविधफलसाधनयागहेतुत्वेन विकृतो भवेदित्यनेनाभिप्रायेण सिकतानिवपनं कर्तव्यमित्यर्थः।

'अग्नेर्भस्मास्यग्नेः पुरीषमसीति। यातयाम वा अग्नेर्भस्मायातयाम्न्यः सिकता अयातयाममेवैनदेतत्करोति ताभिः सर्वं गार्हपत्यं प्रच्छादयति योनिर्वै गार्हपत्या चिती रेतः सिकताः सर्वस्यां तद्योनौ रेतो दधाति' (श० ७।१।१।११)। सिकतानिवपने मन्त्रं विदधाति—अग्नेर्भस्मेति। यातयाम वा इति। अग्नेर्भस्म यातयाम

गतसारम्, रेतोरूपास्तु सिकता अयातयाम्न्योऽगतसाराः। तथा चैतेन सिकतानिवपनेन अयातयाम अगतसारं सारवदेव एतच्चयनं करोतीत्यर्थः। सिकताभिः प्रच्छादनं विधत्ते—ताभिरिति। यतो रेतःसंस्तुताः सिकताः, तस्मात् तासां गार्हपत्यायतने सर्वत्र प्रक्षेपेण सर्वस्यामेव योनौ प्रजोत्पत्तिहेतुभूतं रेत एव दधाति सिक्तवान् भवति। 'अथैनं परिश्रिद्भिः परिश्रयति। योनिर्वै परिश्रित इदमेवैतद्रेतः सिक्तं योन्या परिगृह्णाति तस्माद्योन्या रेतः सिक्तं परिगृह्यते' (श० ७।१।१।१२)। शर्कराभिः परिश्रयणं विधत्ते—अथैनमिति। एनं गार्हपत्यप्रदेशं परिश्रिद्भिः परिश्रयन्त्येभिरिति परिश्रितः शर्करापरपर्यायाः सूक्ष्मपाषाणा इति सायणाचार्याः। तैः परिश्रयति परितो वेष्टयति। परिश्रयणं प्रशंसति—योनिर्वा इति। योनिस्थानीयाः परिश्रित इत्यर्थः। इदमेव सिकतारूपं सिक्तं रेतः, एतद् एतया परिश्रिद्रूपया योन्या परिगृह्णाति। परितस्तथा धारयति, यथा न विपद्यते। यस्मादेवं वैदिके कर्मणि, तस्मादेव कारणाद् लोके योषित्सु गर्भाशये सिक्तं रेतो योन्या परिगृह्यते परितो धार्यते। एतदुक्तं भवति—गार्हपत्यचितिसकाशाद् एषोत्पाद्यते आहवनीयचितिः। तदुत्पत्तावत्र नभुसा ऊषा उल्बम्, सिकता रेतः, परिश्रितो योनिः। अतः परिश्रयणान्तैः संस्कारैराहवनीयचितिर्गर्भावस्थां प्रतिपद्यत इति।

'यद्वेवैनं परिश्रिद्भिः परिश्रयति। अयं वै लोको गार्हपत्य आपः परिश्रित इमं तं लोकमद्भिः परितनोति समुद्रेण हैनं तत्परितनोति सर्वतस्तस्मादिमं लोकꣳ सर्वतः समुद्रः पर्येति दक्षिणावृत्तस्मादिमं लोकं दक्षिणावृत्समुद्रः पर्येति खातेन तस्मादिमं लोकं खातेन समुद्रः पर्येति' (श० ७।१।१।१३)। एतदेव परिश्रयणमनूद्य प्रकारान्तरेण स्तौति—यद्वेवैनमिति। अयं वै लोक इति। अयं भूलोकात्मकः खलु गार्हपत्योऽग्निः, तद्वाचिन्या भूरिति व्याहृत्या आहितत्वात्। आपः परिश्रित इति। परिश्रयणार्थाः शर्करा आप उदकात्मिकाः। शर्करायुक्ते हि भूप्रदेशे खननादाप उपलभ्यन्ते। तथा च गार्हपत्यस्य परिश्रिद्भिः परिश्रयणे सतीममेव भूलोकमद्भिः परितनोति परितो वेष्टयति। केनोपायेनाद्भिः परिवेष्टनमिति तदाह—समुद्रेणेति। तस्मादिममिति। यस्मात् परिश्रिद्भिर्गार्हपत्यस्य परिश्रयणं भूलोकस्य समुद्रेणावरणकरणम्, तस्मादिमं लोकं सर्वतः सर्वासु दिक्षु समुद्रः पर्येति परितो व्याप्नोति। परिश्रयणस्य प्रादक्षिण्यं विधाय स्तौति—दक्षिणावृदिति। दक्षिणा प्रदक्षिणम् आवृद् आवर्तनं यथा भवति, तथा परिश्रयेदित्यर्थः। तस्मात् कारणभूते परिश्रयणे दक्षिणावृन्निदर्शनात् समुद्रोऽपीमं लोकं दक्षिणावृत् प्रदक्षिणावर्तनेन पर्येति परितो गच्छति। खाते देशे परिश्रयणं विधाय स्तौति—खातेनेति। गार्हपत्यायतनस्य परितः खातेन प्रदेशेन परिश्रिद्भिः परिश्रयेत्। तदुक्तमेव कात्यायनेन—'मण्डलं छादयति' (का० श्रौ० १७।१।५), 'परिश्रिद्भिः परिश्रयति पूर्ववदेकविꣳशत्या चितः स्थेति' (का० श्रौ० १७।१।७)। अर्थान्मण्डलस्य समन्ततः परिखां निम्नां कृत्वा चितेरवष्टम्भनार्थं चितिलग्नाः परिश्रितो निखातव्या इति।

'चितः स्थेति। चिनोति ह्येना परिचितः स्थेति परि ह्येनाश्चिनोत्यूर्ध्वचितः श्रयध्वमित्यूर्ध्वा उपदधदाह तस्मादूर्ध्व एव समुद्रो विजतेऽथ यत्तिरश्चीरुपदध्यात् सकृद्धैवेदꣳ सर्वꣳ समुद्रो निर्मृज्यान्न सादयत्यसन्ना ह्यापो न सूददोहसाऽधि वदति' (श० ७।१।१।१४) तस्मिन् परिश्रयणे मन्त्रं विधाय व्याचष्टे—चितः स्थेति। हि यस्मादेनाः शर्कराश्चिनोति स्थापयति, तस्माद् हे शर्करा यूयं चितः स्थ चीयमाना भवथेति समवेतार्थो मन्त्रभागः। परि ह्येना इति। यस्मादेनाः परिश्रितश्चिनोति, तस्मात् परिचितः स्थ परितश्चीयमाना भवथेति। ऊर्ध्वा उपदधदिति। परित ऊर्ध्वमुखा अवस्थापयन् ऊर्ध्वचितः श्रयध्वमिति मन्त्रभागं ब्रूयादित्यर्थः। समुद्रो विजत इति। अब्रूपाणां परिश्रितामूर्ध्वमुखत्वात् तत्समुदायरूपः समुद्रोऽप्यूर्ध्व एव विजते। 'ओविजी भयचलनयोः' इति तौदादिकस्य रूपम्। कल्लोलैरूर्ध्वं चलति समुद्र इत्यर्थः। न तु तिर्यक् कृत्स्नां भूमिमावृणोतीत्यर्थः। अत्र विजतिर्व्याप्तिकर्मा। तिर्यगुपधाने दोषमाह—अथ यत्तिरश्चीरिति। यद् यदि

तिरश्चीस्तिर्यगञ्चना उपदध्यात्, तदा समुद्रस्यापि तिर्यगञ्चनेन युगपदेव इदं सर्वं जगत् समुद्रो निर्नृज्याद् निःशेषेण प्रक्षालयेत्, समुद्रः सर्वमात्मसात् कुर्यादित्यर्थः। तत्र सादनं सूददोहसाधिवदनं च इष्टकाधर्मतया प्रसक्तमत्र निषेधति—न सादयतीति। उपधानकाले मन्त्रेणोपधाय ततस्तया देवतयेत्युपहितस्य सादनम्, 'ता अस्य सूददोहसः' इति मन्त्रः सूददोहाः। तेनाधिवदनमुपरिष्टाद् वदनम्, सर्वेष्टकासाधारणो धर्मः। उपहितानामिष्टकानां स्थिरीकरणं सादनम्, उपहितानामिष्टकानामुपरि हस्तं निधाय ता अस्येति पठनं सूददोहसाधिवदनम्, तदुभयं परिश्रिदुपधाने न कर्तव्यम्। तत्र हेतुः—असन्ना ह्याप इति। क्वचित् क्वचित् सीदन्ति प्रवहणशीलत्वादित्यर्थः।

'अस्थीनि वै परिश्रितः। प्राणः सूददोहा न वा अस्थिषु प्राणोऽस्त्येकेन यजुषा बह्वीरिष्टका उपदधात्येकꣳ ह्येतद्रूपं यदापोऽथ यद् बह्व्यः परिश्रितो भवन्ति बह्व्यो ह्यापः' (श० ७।१।१।१५)। सूददोहसो निषेधमुपपादयति—अस्थीनि वा इति। अस्थ्यात्मिका हि परिश्रितः शर्कराः, तत्सादृश्यात्। 'ता अस्य सूददोहसः' इति सूददोहःशब्दयुक्तो मन्त्रः सूददोहाः, स च प्राणात्मकः खलु। सुष्ठु शोभनम् उदम् उदकं दोग्धीति सूददोहाः। येन सिक्तः सन् रसो न शुष्यति, यस्मिन्नङ्गे प्राणः सञ्जातो नास्ति तत् काष्ठवत् शुष्कमेव भवति, अतः प्राण एव सूददोहाः। तथा च अस्थिसंस्थितासु परिश्रित्सु नासौ कर्तव्यः। न खल्वस्थिषु प्राणः, अस्ति सञ्चरति, नाडीष्वेव हि तत्सञ्चार इत्यर्थः। चितः स्थ इत्येकेनैव यजुषा बह्वीनां परिश्रितां स्थापनमुपपादयति—एकेनेति। उपदधातीति चोदितत्वात् परिश्रितामिष्टकात्वम्। अत एवापस्तम्बः—'स्रुचौ सप्त स्वयमातृण्णाः शर्करा हिरण्येष्टकाः पञ्च घृतेष्टका दूर्वास्तम्बः कूर्म उलूखलं मुसलं शूर्पमश्मानः पशुशिराꣳसि सर्पशिरश्चामृन्मयीरिष्टकाः' (आप० श्रौ० १६।१३।१०)। एकꣳ ह्येतदिति। आप इति यत् तदेकमेव हि रूपम्। एकरूपा एव हि लक्ष्यन्ते, अत एकेन यजुषा परिश्रिद्रूपाणामपामुपधानं युक्तमिति। बह्व्यो हीति। हि यस्मात्, आपो बह्व्यो बहुविधाः, तस्मात् तदात्मिकाः परिश्रितोऽपि बह्व्यो भवन्ति। बहुशब्दात् 'वोतो गुणवचनात्' (पा० सू० ४।१।४४) इत्यनुवर्तनात् 'बह्वादिभ्यश्च' (पा० सू० ४।१।४५) इति ङीपि रूपम्।

'तद्वै योनिः परिश्रितः। उल्बमूषा रेतः सिकता बाह्याः परिश्रितो भवन्त्यन्तरा ऊषा बाह्या हि योनिरन्तरमुल्बं बाह्या ऊषा भवन्त्यन्तराः सिकता बाह्यꣳ ह्युल्बमन्तरꣳ रेत एतेभ्यो वै जायमानो जायते तेभ्य एवैनमेतज्जनयति' (श० ७।१।१।१६)। परिश्रिद्रूपसिकतानां बाह्याभ्यन्तरभावं विधाय स्तौति—तद्वै योनिरित्यादिना। तत् तत्र ऊषसिकतापरिश्रित्सु मध्ये परिश्रितः शर्करा योनिर्गर्भनिर्गमनमार्गः। उल्बसंस्तुता ऊषाः, रेतःसंस्तुताः सिकताः, अतो योनिसंस्तुतानां परिश्रितामुल्बात्मकेभ्य ऊषेभ्यो बाह्यत्वम्, ऊषाणां च तत आन्तरत्वमुपपन्नम्। एवमेव उल्बसंस्तुतत्वाद् ऊषाणां बाह्यदेशवर्तित्वम्, रेतःसंस्तुतत्वात् सिकतानामाभ्यन्तरत्वं युक्तमित्यर्थः। बाह्यं हीति। लोकप्रसिद्ध्या उपपादनमेतत्। एतेभ्यो वेति। योन्युल्बरेतोभ्यः खलु जायमानो जन्तुर्जायते। तथा च एनमग्निं तेभ्य एव योन्यादिभ्य इदानीं जनयति।

'अथैनमतश्चिनोति। इदमेवैतद्रेतः सिक्तं विकरोति तस्माद्योनौ रेतः सिक्तं विक्रियते' (श० ७।१।१।१७)। इत्थं संस्कृतस्य गार्हपत्यायतनस्येष्टकाभिश्चयनं विधत्ते—अथैनमिति। अथ अनन्तरं सिकतात्मना सिक्तस्य रेतसो यस्मात्कार्यरूपेण परिणामोऽपेक्षितः, अतः कारणाद् एनं व्युदूहनादिभिः संस्कृतं गार्हपत्यदेशमिष्टकाभिश्चिनोति। इदमेव सिकतारूपेण सिक्तं रेत एतद् एतेन चयनेन विकरोति विकृतमवयवयुक्तं करोति। तस्मादिति लौकिकमुदाहरणम्। 'स चतस्रः प्राचीरुपदधाति। द्वे पश्चात् तिरश्च्यौ द्वे पुरस्तात्तद्याश्चतस्रः प्राचीरुपदधाति स आत्मा तद्यत्ताश्चतस्रो भवन्ति चतुर्विधो ह्ययमात्माऽथ ये पश्चात्ते सक्थ्यौ ये पुरस्तात्तौ

बाहू यत्र वा आत्मा तदेव शिरः' (श० ७।१।१।१८) । विहितस्य चयनस्य निष्पत्तये इष्टकानामुपधानप्रकारं विधत्ते—स चतस्र इति । गार्हपत्यस्यायतनस्य मध्ये प्रथमं चतस्रः प्राचीः प्रागायता इष्टका उपदध्यात् । ततः पश्चात् पश्चाद्भागे तिरश्च्यौ तिर्यगायते द्वे इष्टके उपदध्यात् । तथा चतसृणां पुरस्तादपि द्वे तिरश्च्या उपदध्यात् । एतासु त्रिविधास्विष्टकास्ववयवक्लृप्तिं करोति—तद्याश्चतस्र इत्यादिना । स आत्मेति, मध्यदेह इत्यर्थः । चतुर्विधो ह्ययमिति त्वगसृङ्मांसास्थिभेदेन, मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तैर्वा, जाग्रदाद्यवस्थाचतुष्टयेन वा आत्मनश्चातुर्विध्यम् । सक्थ्याविति । सक्थिः श्रोणिः, तया च पादो लक्ष्यते । पश्चादुपहिते इष्टके पादावित्यर्थः । पादपाणियुक्तस्यास्य शरीरस्य किं तर्हि शिर इत्यत आह—यत्र वेति । यत्र खल्वात्मा मध्यदेहो वर्तते, तत्रैव शिरोऽप्यात्मन्येवान्तर्भूतमित्यतो न पृथग् वक्तव्यमित्यर्थः ।

'तं वा एतम् । अत्र पक्षपुच्छवन्तं विकरोति यादृग् वै योनौ रेतो विक्रियते तादृग्जायते तद्यदेतमत्र पक्षपुच्छवन्तं विकरोति तस्मादेषोऽमुत्र पक्षपुच्छवान् जायते' (श० ७।१।१।१९) । अत्र अस्मिन् गार्हपत्यस्थाने तमेव एतमग्निं पक्षाभ्यां पुच्छेन च युक्तमेव विकरोति, मध्ये च चतस्रः, उभयपार्श्वयोर्द्वे द्वे इत्येवमुपधीयमानत्वात् । यादृग्वा इति । योनौ गर्भाशयेऽवस्थितं रेतो गर्भो यादृगाकारं विक्रियते विशिष्टावयवं क्रियते, जननसमयेऽपि तादृगाकारविशिष्टमेवापत्यं जायते । इत्थं लौकिकीं स्थितिमुक्त्वा प्रकृते योजयति—तद्यदिति । तत् तत्र एतमग्निम्, अत्र गार्हपत्यायतनयोनौ यद् यस्मात् पक्षपुच्छवन्तं विकरोति सूक्ष्मरूपेण निर्मिमीते, तस्माद् एषोऽग्निरमुत्र आहवनीयस्थाने पक्षपुच्छवान् जायते, जायमान उपलभ्यत इत्यर्थः । 'तं वै पक्षपुच्छवन्तमेव सन्तम् । न पक्षपुच्छवन्तमिव पश्यन्ति तस्माद्योनौ गर्भं न यथारूपं पश्यन्त्यथैनममुत्र पक्षपुच्छवन्तं पश्यन्ति तस्माज्जातं गर्भं यथारूपं पश्यन्ति' (श० ७।१।१।२०) । न पक्षपुच्छमिव पश्यन्तीति सतामपि पक्षपुच्छानामदर्शनं योन्यामनभिव्यक्तेर्वा भवति । एतल्लौकिकोदाहरणेनोपपादयति—तस्मादिति । यथारूपमिति । विद्यमानं शिरःपादादिकं कृत्स्नं रूपमित्यर्थः । अथैनममुत्रेति । एनमनभिव्यक्तरूपमग्निम् अमुत्र आहवनीयस्थानेऽभिव्यक्तं पक्षपुच्छवन्तं यस्मात् पश्यन्ति, तस्मादेव कारणाद् जननात् प्रागनभिव्यक्तावयवं गर्भं जातं जननादूर्ध्वं यथारूपं यथावसितरूपमभिव्यक्तावयवं पश्यन्तीत्यर्थं ।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, त्वं संज्ञानं सम्यग् ज्ञायतेऽनेनेति संज्ञानं सम्यग् ज्ञानहेतुरसि । त्वं चाग्नेः पुरीषं पूरकमसि । अग्नेर्भस्म प्रकाशमसि । 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' (मुण्ड० २।२।१०) इति श्रुतेस्तस्य सर्वकारणत्वेनाग्नेरपि द्योतकत्वात्, 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः' (भ० गी० १३।१७) इति भगवद्वचनात् । ते तव यत् कामधरणम् अभीष्टधारणसामर्थ्यमस्ति, तन्मयि भूयात् । हे ब्रह्मविदः, हे साधकाः, यूयं चितोऽभीष्टसञ्चेतारः । तथा परिचितः परितः सर्वतश्चेतारः । तथा ऊर्ध्वचित ऊर्ध्वं स्वर्गलोकम्, अथवा परब्रह्मकारणत्वाद् व्यापकत्वाद् भासकत्वाद् तच्चेतारस्तत्प्राप्तिपरायणा यूयं सर्वपुरुषार्थहेतुत्वेन परमार्थमेवाश्रयध्वम् ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, त्वं यत् संज्ञानं प्राप्तोऽसि यत्त्वमग्नेः पावकस्य भस्मासि दग्धशेषोऽसि भस्मवद् दोषाणां भस्मकर्तासि । अग्नेर्विद्युतः पुरीषं पूर्णं बलमाप्तोऽसि तन्मां प्रापय । यस्य ते तव कामधरणं सङ्कल्पानामाधरणमस्ति तत्कामधरणं मयि भूयात् । यथा यूयं विद्युदादिशुभगुणैश्चितः संचिताः स्थ भवत, परिचितः परितः सर्वतश्चेतार ऊर्ध्वचित ऊर्ध्वं चिन्वन्तः स्थ पुरुषार्थं चाश्रयध्वम्, तथा वयमपि भवेम' इति, तदपि यत्किञ्चिदसङ्गतेः, मूले यदिति पदाभावात् । आप्तोऽसीत्यपि पदं मन्त्रबाह्यमेव । नापि भस्मासीत्यस्य दोषाणां भस्मकर्तासीत्यर्थः सम्भवति । तन्मां प्रापयेत्यपि मन्त्रबाह्यमेव । पूर्वमेकवचनम्, उत्तरत्र यूयं चितः परिचित इत्यादिकं बहुवचनं किमर्थम् ? कथं च तत्सङ्गतिः ? पुरुषार्थं चाश्रयध्वमित्यपि सङ्गतिशून्यमेव । तथा वयमपि भवेमेत्यादिकं सर्वमपि निर्मूलाध्याहारमूलकमेव ॥ ४६ ॥

अयꣳसो अग्निर्यस्मिन् सोममिन्द्रः सुतं दधे जठरे वावशानः ।
सहस्रियं वाजमत्यं न सप्तिꣳ ससवान् सन् स्तूयते जातवेदः ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ—यह वह अग्नि है, जिसकी सहायता से अग्निचयन की इच्छा करनेवाले इन्द्र ने अभिषव किये सहस्रों के योग्य अन्न के समान भक्षण करने में मद न करनेवाले, हर्षकारक, तृप्तिकारक सोम को उदर में धारण किया। हे अग्निदेव, आप भी हवियों का भक्षण करते हुए ऋत्विक् और यजमान द्वारा की गई स्तुति को सावधानी से सुनें ॥ ४७ ॥

'मध्येऽर्धबृहतीश्चतस्रो दक्षिणोत्तराः प्राचीरुपदधाति दक्षिणत उदङ्ङयꣳसो अग्निरिति प्रत्यृचम्' (का० श्रौ० १७।१।८) । अध्वर्युर्मण्डलस्य दक्षिणभागे उदङ्मुख उपविश्य मण्डलमध्येऽर्धबृहतीसंज्ञा षडङ्गुलोच्चा द्वादशाङ्गुलविस्ताराश्चतुर्विंशत्यङ्गुलिदीर्घाश्चतस्र इष्टका दक्षिणोत्तराः 'अध्यात्मं चयनम्' (का० श्रौ० १६।७।१२) इत्युक्तत्वाद् दक्षिणसंस्थाः प्राग्लक्षणाः, 'प्राञ्चो दक्षिणोत्तरे' (का० श्रौ० १६।७।२६) इत्युक्तत्वात् प्रत्यृचमेकैकामुपदध्यादिति सूत्रार्थः। अर्थाद् गार्हपत्यस्य मध्यमप्रदेशे दक्षिणमारभ्य उत्तरापवर्गाः प्रागग्राश्चतस्र इष्टका दक्षिणतः स्थित्वा उदङ्मुखः सन् अयꣳसो अग्निरित्यादिभिश्चतसृभिर्ऋग्भिः क्रमेणोपदध्यात्। पञ्च ऋचो विश्वामित्रदृष्टा आग्नेय्यस्त्रिष्टुभः। चतुर्थ्यनुष्टुप्। यस्मिन् गार्हपत्यरूपेऽग्नौ चिते सति वावशानः कामयमान इन्द्रः सुतमभिषुतं सोमं जठरे दधे स्वोदरे धारयिता स तादृशोऽयमग्निरिदानीमिष्टकाभिश्चीयत इति शेषः। हे जातवेदोऽग्ने, त्वम् अत्यं न अश्वमिव सप्तिं सन्ततगमनकुशलमश्वमिव सहस्रियं सहस्रसंख्याकेन धनेन सम्मितं वाजमन्नं ससवान् दत्तवान् यजमानेन स्तूयसे । यद्वा स चीयमानोऽग्निः। अयं भूलोक एव, यस्मिन् शरीरभूते अस्मिन् लोके जठरे मध्ये वावशानः कामयमान इन्द्रः सुतमभिषुतं सोमं तत्कार्यभूता वृष्टिलक्षणा अपो दधे आधत्ते। कीदृशं सोमम् ? सहस्रियं सहस्रोपकारकं वाजमन्नमब्लक्षणं सप्तिं सरणशीलमत्यं सततगामिनमश्वं न इव ससवान् संभक्तवान्। गार्हपत्यरूपेण प्रथमं चितः सन् हे जातवेदः, जातानां वेदितः, अग्ने ! त्वं स्तूयसे आहवनीयात्मना चीयमानस्तद्धारणमन्त्रैः प्रतिपाद्यसे।

उव्वटाचार्यदृष्ट्या इष्टकोपधानं कुर्वन् अभिनयेन दर्शयति—अयं स इति। अयं स गार्हपत्योऽग्निश्चीयते, यस्मिंश्चिते सत्यभिषुतं सोममिन्द्रो जठरे उदरे दधे धारयति। कीदृश इन्द्रः ? वावशानः कामयमानः। कथंभूतं सोमं दधे ? सहस्रियं सहस्रार्हम्, वाजमन्नभूतं सर्वस्य जगतः, अत्यं न सप्तिम्। नकारः सम्प्रत्यर्थे। अनन्तरं भक्षणादेव प्रीतिकरम्। सप्तिं शरणं तृप्तिकरम्। 'षप समवाये' न केवलं यस्मिन्नग्नौ चिते इन्द्रः सोमं जठरे धारयति, किं तर्हि हे जातवेदः, त्वमपि ससवान् हवींषि संभजमानः सन् ऋत्विग्यजमानैः स्तूयस इति। वष्टीति वावशानः 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७६) इति शपः श्लौ द्वित्वेऽभ्यासदीर्घे शानचि रूपम्। ससवान् 'षण सम्भक्तौ' इत्यस्मात् क्वसौ रूपम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'स चतस्रः पूर्वा उपदधाति। आत्मा ह्येवाग्रे सम्भवतः सम्भवति दक्षिणत उदङ्ङासीन उत्तरार्ध्यां प्रथमामुपदधाति तथो हास्यैषोऽभ्यात्ममेवाग्निश्चितो भवति' (श० ७।१।१।२१)। आत्मा ह्येवाग्र इति। यस्मात् शिरसा युक्तो मध्यदेह एव सम्भवत उत्पद्यमानस्य प्राणिनोऽग्रे प्रथमतः सम्भवत्यभिव्यक्तो भवति, तस्मादात्मसंस्तुता इष्टकाः पूर्वमुपदध्यादिति युक्तमेव। तस्मिन्नुपधाने धर्मविशेषमाह—दक्षिणत इति। गार्हपत्यायतनस्य दक्षिणदेशे उदङ्मुख आसीनश्चतसृणां मध्ये प्रथमामिष्टकामुत्तरार्ध्यामुत्तरार्धे भवामुत्तरभागेऽवस्थितामुपदध्यात्। 'दिक्पूर्वपदात् ठञ् च' (पा० सू० ४।३।६) इति सूत्रे चकारादुत्तरार्धशब्दाद् यत्प्रत्ययः। उत्तरार्ध्यायाः प्रथममुपधाने प्रयोजनमाह—तथो हेति। तथैव खलु दक्षिणतोऽवस्थितस्य

अध्वर्योरेष अग्निः, अभ्यात्मम् आत्माभिमुखमेव चितो भवति। चतसृणामुपाधानेऽयं सो अग्निरित्याद्याश्चत्वारो मन्त्रा विधीयन्ते। 'अयं सो अग्निः। यस्मिन् सोममिन्द्रः सुतं दध इत्ययं वै लोको गार्हपत्य आपः सोमः सुतोऽस्मिस्तल्लोकेऽप इन्द्रो धत्त जठरे वावशान इति मध्यं वै जठरं सहस्रियं वाजमत्यं न सप्तिमित्यापो वै सहस्रियो वाजः ससवान्त्सन्त्स्तूयसे जातवेद इति चितः संश्चीयसे जातवेद इत्येतत्' (श० ७।१।१।२२)। एतदर्थपरतां मन्त्रस्य प्रतिपादयति—अयं वै लोक इत्यादिना। मध्यं वै जठरमिति। देहमध्यवाचिना जठरशब्देन भूलोकस्य मध्यमत्र लक्ष्यते। आपो वै सहस्रिय इति। उपकाराणां सहस्रेण सम्मिताः सहस्रियः, 'सहस्रेण सम्मितौ घः' (पा० सू० ४।४।१३५)। तथाविधो वाजोऽन्नमब्लक्षणं विवक्षितम्।

अध्यात्मपक्षे—अयमपरोक्षः प्रत्यगात्मा सोऽग्निः परोक्षः परमात्मा यस्मिन् परमात्मनि सति इन्द्रः सुतमभिषुतं सोमं वावशानः कामयमानो जठरे दधे धारयति, तस्मिन् सत्येव वर्णाश्रमलक्षणस्य धर्मस्य प्रवृत्तेः। कीदृशं सोमम्? सहस्रियं सहस्राहम्। शेषं पूर्ववत्। अत्यं न अश्वमिव सरणशीलं हे जातवेदः, जातं सर्वं वेत्तीति जातवेदाः, तत्सम्बुद्धौ। हे परमेश्वर, ससवान् हवींषि संभजमानः सन् सर्वैः स्तूयसे।

दयानन्दस्तु—'हे जातवेद प्राप्तविज्ञान विद्वन्, यथा ससवान् दानं ददत् सन् स्तूयसे तथाऽहमपि भवेयम्। यथा च अयमग्निः, इन्द्रः सूर्यश्च यस्मिन् सोमं सर्वौषध्यादिरसं दधाति तथा सुतं निष्पन्नं जठरे उदरेऽहं दधे धरे। सोऽहं वावशानो भृशं कामयमानः सन् न यथा सहस्रियं वाजसहस्रेषु भवं वाजमन्नादिकम्। अत्यम् अतितुं व्याप्तुं योग्यं सप्तिम् अश्वं दधे तादृशस्त्वं भव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, लुप्तोपमालङ्कारत्व-कल्पनस्य प्रकृते निर्मूलत्वात्। सहस्रियं सहस्रप्राप्ता भार्या इत्यादि भाष्यं तु सर्वथाप्यशुद्धमेव, तदीयैरेव तदस्वीकारात्॥ ४७॥

अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र।
येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः॥ ४८॥

मन्त्रार्थ—मर्यादा से यजनयोग्य हे अग्निदेव, द्युलोक में जो सूर्यरूप ज्योति है, भूमि में अग्निस्वरूप, औषधियों में भास्करस्वरूप और जल में प्रभारूप जो ज्योति है, जिसने विद्युत्स्वरूप से विशाल अन्तरिक्ष लोक को व्याप्त किया है, इस विश्व की प्रकाशिका सब ओर गमनशील, मनुष्यों के शुभाशुभ कर्म को देखने वाली जो सूर्यरूप दीप्ति है, ये सब महानारायणस्वरूप आपकी ही विभूतियाँ हैं॥ ४८॥

हे आ यजत्र! मर्यादया यज्ञनिष्पादक, इष्टकारूप अग्ने वा, यत्ते तव वर्चस्तेजो दिवि द्युलोके सूर्यरूपेण वर्तते, पृथिव्यां वह्निज्वालारूपेण वर्तते, तथा यत्तेज ओषधीषु परिपाकत्वाकारेण वर्तते, अप्सु वडवानलरूपेण वर्तते, येन त्वदीयवर्चसा विद्युद्रूपेण उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षमाततन्थ सर्वतो विस्तारितवानसि, प्रकाशितवानसी-त्यर्थः। त्वेषः त्विषां दीप्तीनां समूहः, स त्वदीयवर्चःसमूहो भानुर्भासकः, अर्णवः समुद्र इव विस्तीर्णो नृचक्षाः मनुष्यान् प्रख्यापयिता, तथाविधतेजोरूपामिष्टकामुपदधामीति शेषः। यद्वा हे आ यजत्र, मर्यादया यजनीय, यत्ते तव दिवि वर्च आदित्यात्मकं ज्योतिर्यच्च पृथिव्यामग्निलक्षणं वर्चो यच्चौषधीषु यच्चाप्स्वन्तर्व्यवस्थितम्, एतान्युक्तानि वर्चांसि लघीयांसि, येन तु वर्चसा उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षम् आततन्थ आतनोषि, त्वेषः त्वेषयति प्रकाशयति सकलं विश्वमिति त्वेषः स भानुः, महत्तद्वर्चः। अर्णवः अर्णांसि उदकानि सन्ति यत्रेत्यर्णवो वायुः 'अर्णसो लोपश्च' (पा० सू० ५।२।१०९-२) इति वार्त्तिकेन मत्वर्थीयो वः, सलोपश्च। यद्वा अर्णवः अर्णस्वान्

अरणवान् गमनवान्, प्रसरणशील इति यावत्, 'वायुः सः' (श० ७।१।१।२३) इति श्रुतेः। नृचक्षाः नृणां शुभाशुभकर्मद्रष्टा, ईदृशो यस्ते भानुः, तमेवेष्टकारूपमुपदधामीति शेषः। एतेन त्रिस्थानोऽग्निः स्तूयते।

अत्र ब्राह्मणम्—'अग्ने यत्ते दिवि वर्च इति। आदित्यो वा अस्य दिवि वर्चः पृथिव्यामित्ययमग्निः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्रेति य एवौषधिषु चाप्सु चाग्निस्तमेतदाह येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थेति वायुः स त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षा······इत्येतत्' (श० ७।१।१।२३)। द्वितीयं मन्त्रं भागशोऽनूद्य व्याचष्टे—अग्ने यत्त इति। आदित्यो वा अस्य दिवि वर्च इति। हे अग्ने, यत्ते त्वदीयं वर्च आदित्यरूपं दिवि वर्तते तथा पृथिव्यां भूलोके यद्वर्चो दाह-पाक-प्रकाशनसमर्थमग्न्यात्मकं ज्योतिः, ओषधीषु तरुगुल्माद्यासु, अप्सु उदकेषु, आकारः समुच्चये, जाठरवाडवरूपेण च यद्वर्तते, हे यजत्र यजनीयाग्ने, येन वाय्वात्मना त्वदीयेन रूपेण उरुं विस्तीर्णमन्तरिक्षमाततन्थ आतनोषि, हे अग्ने! त्वेषो दीप्यमानो महान् सोऽग्निर्वाय्वादिरूपेण लोकत्रयं व्याप्यावस्थितः, त्वदीयो भानुः प्रकाशः, अर्णवः समुद्रोपमः सन् नृचक्षाः सर्वेषां नृणां द्रष्टा प्रकाशको भवति।

अध्यात्मपक्षे - हे अग्ने परमेश्वर, यत्ते वर्चो दिवि पृथिव्यादिषु सूर्याग्निवाय्वादिरूपेण लोकत्रयं व्याप्य वर्तते, स भानुः प्रकाशः समुद्रोपमः सर्वेषां नृणां प्राणिनां प्रकाशकः, परमेश्वरस्यैवादित्यादिरूपेण सर्वप्रकाशकत्वात्, 'यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥' (भ० गी० १५।१२) इति गीतोक्तेः।

दयानन्दस्तु– 'हे यजत्र संगन्तुं योग्याग्ने, यद् यस्य तवाग्नेरिव दिवि द्योतनात्मके विद्युदादौ वर्चो विज्ञानप्रकाशः, यत् पृथिव्यां यदोषधीषु यवादिषु अप्सु प्राणेषु जलेषु वा वर्चोऽस्ति, येन नृचक्षा नॄन् चक्षते स भानुः प्रभाकरः, अर्णवः अर्णांसि बहून्युदकानि विद्यन्ते यस्मिन् स अर्णवः, त्वेषः प्रकाशोऽस्ति, येनान्तरिक्षमाकाशमुरु बहु आततन्थ समन्तात्तनुषे, तथा स त्वं तदस्मासु आधेहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्ये विदुषि मन्त्रोक्तविशेषणासङ्गतेः। तस्याग्ने इति सम्बोधनमपि न सङ्गतम्, गौणार्थाश्रयणप्रसङ्गात्। दिवीत्यनेन विद्युतो ग्रहणम्, वर्च इत्यनेन तद्विषयं विज्ञानग्रहणमपि निष्प्रमाणमेव। पृथिव्योषध्यप्सु वर्चोऽपि ज्ञानात्मकमेव तेजो गृह्यत इत्यपि निर्मूलमेव, तेन च कोऽयं नृचक्षा भानुः कथं चार्णवः, त्वेषोऽपि यदि ज्ञानात्मक एव, तदा कथं परस्परं हेतुहेतुमद्भावः? अन्तरिक्षस्य स्वत एव विस्तीर्णत्वेन कथं तस्य विस्तारकरणं सम्भवति?॥ ४८॥

अग्ने॑ दि॒वो अर्ण॒मच्छा॑जिगा॒स्यच्छा॑ दे॒वाँ २ ऊ॑चिषे॒ धिष्ण्या॒ ये।
या रो॑च॒ने प॒रस्ता॒त् सूर्य॑स्य॒ याश्चा॒वस्ता॑दु॒प॒तिष्ठ॑न्त॒ आपः॑॥ ४९॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, द्युलोक सम्बन्धी जल को आप अभिमुख होकर प्राप्त करें। बुद्धीन्द्रियों के प्रेरक प्राणरूप देवताओं के प्रति आप गमन करें, दीप्तिरूप मण्डल में वर्तमान सूर्य के ऊपर और नीचे जो जल है, उन सबके मध्य में आप विराजमान हों। अभिप्राय यह है कि इन सब रूपों को आप ही धारण करते हैं॥ ४९॥

हे इष्टकारूपाग्ने, दिवः सकाशाद् अर्णमुदकम् अच्छाभिमुख्येन जिगासि प्राप्नोषि, यागद्वारेण वृष्टिं सम्पादयसीत्यर्थः। ये देवा धिष्ण्याधारास्तान् देवानाभिमुख्येन ऊचिषे हविः स्वीकुरुषे इत्यर्थः। त्वय्यत्रोपहितायाम् आहुता इव देवा आगत्य हविः स्वीकरिष्यन्ति। सूर्यस्य देवस्य रोचने दीप्तिरूपे मण्डले सति या आपः परस्तादूर्ध्वदेशे उपतिष्ठन्ते वर्तन्ते, याश्चावस्तादधोभागे वर्तन्ते, ताः सर्वास्त्वयि उपहितायामिह गामभ्येष्यन्तीति शेषः। यद्वा हे अग्ने, दिवः सम्बन्धि अर्णमुदकम् अच्छा जिगासि। 'अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः' (नि० ५।२८)।

अभिजिगासि आभिमुख्येनाप्तुं गच्छसि। 'गा स्तुतौ' जुहोत्यादिः। स्तुतिश्रवणार्थं गमनमपि स्तुतिरेव। 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) इति संहितायां दीर्घः। अच्छा देवानभिजिगासि। कतमान् देवानित्यत आह—धिष्ण्यान् इति। धियो बुद्धीरिन्द्रियाणि इष्णन्ति प्रेरयन्तीति धिष्ण्याः प्राणाख्या देवाः। तान् देवांश्च त्वमच्छा जिगासि अभिगच्छसि। किञ्च, ऊचिषे उच्यन्ते, ब्रूञः कर्मणि लिट्। पुरुषवचनयोर्व्यत्ययः। ये देवा धिष्ण्या धियः प्रेरकाः, 'प्राणा वै देवा धिष्ण्यास्ते हि सर्वा धिय इष्णन्ति' (श० ७।१।१।२४) इति श्रुतेः। किञ्च, रोचने दीप्तिरूपे मण्डले वर्तमानस्य सूर्यस्य परस्ताद् उपरिष्टाद् या आप उपतिष्ठन्ते, अवस्तात् सूर्यस्याधस्ताच्च या आप उपतिष्ठन्ते, ताश्च त्वमभिगच्छसि, त्वमेवैतै रूपैः परिणमसेत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अग्ने दिवो अर्णमच्छा जिगासीति। आपो वा अस्य दिवोऽर्णस्ता एष धूमेनाच्छैत्यच्छा देवां२ ऊचिषे धिष्ण्या य इति प्राणा वै देवा धिष्ण्यास्ते हि सर्वा धिय इष्णन्ति या रोचने परस्तात् सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आप इति रोचनो ह नामैष लोको यत्रैष एतत्तपति तद्याश्चैतं परेणापो याश्चावरेण ता एतदाह' (श० ७।१।१।२४)। ब्राह्मणानुसारेणायमर्थः—हे अग्ने, अस्य दिवोऽन्तरिक्षस्य सम्बन्धि अर्णमुदकं मेघस्थम् अच्छ अभिलक्ष्य धूमेन जिगासि व्याप्नोषि। तथा अध्यात्मं ये प्राणरूपा धिष्ण्या धिय इष्णन्ति व्याप्नुवन्तो वर्तन्ते, तान् देवान् त्वं जाठराग्निरूपेण ऊचिषे समवैषि। 'उच समवाये' दिवादिः। तथा या आपो रोचने रोचमाने सूर्यलोके वर्तमानस्य सूर्यस्य परस्ताद् उपरिभागे वर्तन्ते, याश्चावस्तादधोभागे उपतिष्ठन्ते वर्तन्ते, आसामाश्रयित्वं प्राप्नोषीति शेषः। उक्तार्थपरतां मन्त्रस्य दर्शयति—आपो वा अस्य दिवोऽर्ण इति। एष धूमेनेति। एष भूम्यां पार्थिवरूपेणावस्थितः, अग्निरित्यर्थः। प्राणा वै देवा इति। दीव्यन्ति विषय-प्रकाशान् जनयन्तीति देवाः प्राणा इन्द्रियाणि। ते हि सर्वा इति। हि यस्मात् ते प्राणाः सर्वा धियः शब्दादि-विषयाणि सर्वाणि ज्ञानानि, इष्णन्ति आभीक्ष्ण्येन व्याप्नुवन्ति। 'इष आभीक्ष्ण्ये' इति क्रैयादिको धातुः। तस्मादेते धिष्ण्याः। शेषं स्पष्टम्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वं सर्वात्मकत्वात् तत्तद्रूपेण तत्तदाप्नोषीति पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, यस्त्वं दिवः प्रकाशाद् अर्णं विज्ञानं या आपः प्राणा जलानि वा सूर्यस्य रोचने प्रकाशे परस्तात् परा याश्चावस्ताद् अधःस्था उपतिष्ठन्ते वा अच्छ जिगासि अभिष्टौषि ये धिष्ण्याः सन्ति ये दिधिषन्ति ब्रुवन्ति ते धिषणास्तेषु साधवो धिष्ण्याः, धिष्धातोर्बाहुलकाद् औणादिकः कनिन्, ततो यत्, सन्ति तान् देवान् प्रत्यर्णमच्छ, ऊचिषे वक्षि, स त्वमस्माकमुपदेष्टा भव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, उपदेष्टा भवेत्यस्य मन्त्रबाह्यत्वात्। सूर्यस्य रोचने परस्तादधस्ताच्च या आपो विद्यन्ते, ताः को मनुष्यो विजानाति ? मनुष्याणा-मल्पज्ञत्वेन तदनुपपत्तेः। वक्तारो विद्यार्थिन एव धिष्ण्या देवा इत्यत्रापि मूलं चिन्त्यम्। त्वद्रीत्या देवाः स्वयमेव विद्वांसो भवन्ति, ते कुतो विद्यार्थिनः स्युः ? 'ये दिधिषन्ति' इति स्वामिदयानन्दप्रयोगोऽपि 'अदभ्यस्तात्' (पा० सू० ७।१।४) इति सूत्रविस्मरणमूलक एव, अतोऽशुद्धः, शब्दार्थकस्य धिषेर्जुहोत्यादितया प्रथमपुरुषबहुवचने दिधिषतीति प्रयोगस्य शुद्धत्वात्। धिषधातोर्बाहुलकाद् औणादिकः कनिन् ततो यदिति प्रक्रियापि 'सानसि वर्णसिपर्णसितण्डुल०' (उ० ४।१०७) इत्यादिसूत्रविस्मरणमूलिका, अस्मिन् सूत्रव्याख्याने धिष्ण्यशब्दस्य तेनैवान्यथा साधनात् ॥ ४९ ॥

पुरीष्यासो अग्नयः प्रावणेभिः सजोषसः।
जुषन्तां यज्ञमद्रुहोऽनमीवा इषो महीः ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप पशुओं के हितकारी हैं। स्नेह के कारण आप कभी इनकी हिंसा नहीं करते। इस इष्टरूप यज्ञ का आप सेवन कीजिये। यह यज्ञ क्षुधा और तृष्णा का निवर्तक है और धन-धान्य से परिपूर्ण है ॥ ५० ॥

अनुष्टुप्। हे अग्नय इष्टकारूपाः, इष्टकापेक्षयैव बहुवचनम्। अस्मदीयमिमं यज्ञं जुषन्तां सेवन्ताम्। कीदृशा अग्नयः? पुरीष्यासः पुरीषे पांसुरूपे भवाः। यद्वा पुरीषेभ्यः पशुभ्यो हिताः। 'आज्जसेरसुक्' (पा० सू० ७।१।५०) इति जसोऽसुगागमः। प्रावणेभिः प्रकर्षेण वनन्ति सम्भजन्ति विषयानिति प्रावणानि मनांसि, तैः। संहितायां 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः। 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० ७।१।१०) इति बाहुलकाद् भिस ऐस्भावे 'बहुवचने झल्येत्' (पा० सू० ७।३।१०३) इत्येवं रूपसिद्धिः। सजोषसः परस्परं समानप्रीतयः, मनसा प्रीतियुक्ता इत्यर्थः। यद्वा प्रावणैः 'प्रुङ् गतौ' इत्यस्मात् 'हश्च व्रीहिकालयोः' (पा० सू० ३।१।१४८) इत्यत्र सूत्रे चकारग्रहणात् ण्युटि वृद्धावनादेशे णत्वे तृतीयाबहुवचने रूपम्, गमनैरित्यर्थः, लोकव्याप्तिभिरिति भावः। शास्त्रेषु कालस्य गम्भीरवेगादिकं स्मर्यते। तथा च श्रीमद्भागवते—'कालेन सर्वत्र गभीररंहसा' (भा० पु० १।५।१८) इति। सजोषसः समानसेविनः परस्परं समानप्रीतयः। अद्रुहो हिंसारहिताः। अनमीवाः क्षुधापिपासादिरोगरहिताः, क्षुधादिनिवर्तिकाः। इषोऽभीष्टप्राप्तिहेतवः। महीः प्रौढाः। तथाविधा अग्निरूपा इष्टकाः, उपदधामीति शेषः।

तत्र ब्राह्मणम्—'पुरीष्यासो अग्नय इति। पशव्यासोऽग्नय इत्येतत्प्रावणेभिः सजोषस इति प्रायणरूपं प्रायणरूपं ह्येतदग्नेर्यद् गार्हपत्यो जुषन्तां यज्ञमद्रुहोऽनमीवा इषो महीरिति जुषन्तां यज्ञमद्रुहोऽनशनाया इषो महीरित्येतत्' (श० ७।१।१।२५)। उक्तार्थपरतां मन्त्रस्य व्याचष्टे—पशव्यासोऽग्नय इति। प्रावणेभिरिति मन्त्रगतः प्रशब्दः प्रायणरूपं प्रायणस्य प्रगमनस्य प्रारम्भस्य रूपम्। गार्हपत्यचितिश्च अग्नेरग्निचयनस्य प्रायणं प्रारम्भः। अतः प्रशब्दोपेतो मन्त्रोऽत्र योग्य इत्यर्थः। अनमीवा इत्यस्यार्थमाह—अनशनाया इति। अशनेच्छा अशनाया क्षुत्पीडा, सा न विद्यते यासां ताः। 'अशनायोदन्यधनायाः' (पा० सू० ७।४।३४) इति बुभुक्षायां क्यचीत्वाभावो निपात्यते। तथा चार्थः सम्पद्यते। पुरीषं पूरयति पयःप्रभृतिभिर्लोकमिति पुरीषं पशुः। बहुवचने पशवः। तेभ्यो हिताः पुरीष्याः, तथाविधा अग्नयः। प्रावणेभिः प्रवणसम्बन्धिभिर्गार्हपत्यचितिसम्बन्धिभिः सम्भजनयुक्तैस्तैर्देवैः सजोषसः समानप्रीतयः सन्तोऽस्मदीयं यज्ञं जुषन्तां सेवन्ताम्। अद्रुहो द्रोहरहिताः, अनमीवा अशनायादिरहिताः, महीः महतीः, इषः अन्नानि, अस्मभ्यं प्रयच्छन्त्विति शेषः।

अध्यात्मपक्षे—पुरीष्यासः पूरयन्ति हव्यकव्यादिभिर्देवपित्रादिलोकमिति पुरीषा जीवरूपाः पशवः, तेभ्यो हिताः पुरीष्यासः पशव्या अग्नयः प्रावणेभिः श्रीरामकृष्णादिरूपेण अनेकधा अभिव्यक्तिप्रकर्षेण आसमन्ताद् वनन्ति सम्भजन्ति भगवन्तमिति प्रावणानि, तैः स्वविषयैर्भक्तमनोभिः सजोषसः समानप्रीतयः, इममस्मदीयमर्चनलक्षणं यज्ञं जुषन्ताम्। कीदृशा अग्नयः? अद्रुहः रक्षकाः। तथा इषः अन्नादिभक्तीश्च जुषन्ताम्। कथम्भूता इषः? अनमीवा नास्ति अमीवा क्षुदादिव्याधिर्याभिस्ताः, अर्थात् क्षुदादिनिवर्तिकाः। पुनः कथंभूताः? महीः महतीः, बहुला इति यावत्।

दयानन्दस्तु—'सर्वे मनुष्याः प्रावणेभिर्विज्ञानैः सह वर्तमाना अनमीवा अरोगाः, अद्रुहो द्रोहरहिताः, सजोषसः समानप्रीतयः, पुरीष्यासः पूर्णासु गुणक्रियासु भवा अग्नय इव सन्तो यज्ञं विद्याविज्ञानदानग्रहणाख्यम्, महीः महतीः, इष इच्छा जुषन्ताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणात्, रागप्राप्तार्थविधानायोगाच्च ॥५०॥

इडा॑मग्ने पुरु॒दꣳस॑ꣳ स॒निं गोः श॑श्वत्त॒मꣳ हव॑मानाय साध ।
स्यान्नः॑ सू॒नुस्तन॑यो वि॒जावाग्ने॒ सा ते॑ सुम॒तिर्भू॑त्व॒स्मे ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, बहुत कर्मों के साधन रूप अन्न को, निरन्तर विद्यमान धेनु सम्बन्धी दान को, अर्थात् दूध, दही, घृत आदि को हवन करने वाले यजमान के निमित्त आप प्रदान कीजिये । हमारे यहाँ प्रजावान् औरस पुत्र हो । हे अग्निदेव, यह आपकी अन्न, गौ, पुत्रदान विषयक सुन्दर बुद्धि हमारे प्रति हो ॥ ५१ ॥

'अपरेण परिक्रम्य परिक्रम्य चयनमिडामग्न इति पश्चिमे प्रतिमन्त्रमुत्तरतः' (का० श्रौ० १७।१।११) । अर्धबृहतीनामपरेण परिक्रम्योत्तरतोऽवस्थितो दक्षिणामुख उपविष्टः पश्चिमे पश्चादुपहिते तिरश्च्यौ तिर्यग्लक्षणे उदक्संस्थे पादमात्र्यौ पद्ये इष्टके उपदध्यादिति सूत्रार्थः । तत्र इडामग्न इति मन्त्रेण दक्षिणाम्, अयं त इति मन्त्रेणोत्तराम् । द्वे आग्नेय्यौ त्रिष्टुबनुष्टुभौ । हे अग्ने, हवमानाय होतुं प्रवृत्ताय यजमानाय गोः सनिं गवादिपशूनां दानं साध सम्पादय । कीदृशं दानम् ? इडां सर्वैरीड्यं प्रशंसनीयम् । पुनः कीदृशम् ? पुरुदंसं बहुधा दर्शनीयम्, शश्वत्तमम् अत्यन्ताविच्छेदेन वर्तमानम् । किञ्च, त्वत्प्रसादान्नोऽस्माकं सूनुः पुत्रो भवतु । कीदृशः सूनुः ? तनयः तनूभवः, औरस इति यावत् । पुत्रसामान्यस्य सूनुशब्देनोक्तत्वाद् दत्तकाद्यन्यतमपुत्रव्यावृत्तये विशेषविवक्षया तनयशब्दः प्रयुक्तः । पुनः कीदृशः ? विजावा विविधानां जनयिता । हे अग्ने, तव सा सुमतिस्तथाविधानुग्रहबुद्धिः, अस्मे अस्मासु भूत् भवतु । यद्वा—हे अग्ने, हवमानाय ह्वयति आह्वयति देवान् जुहोति वा देवानुद्दिश्येति हवमानो यजमानस्तस्मै इडाम् अन्नं साध साधय सम्पादय । कीदृशीमिडाम् ? पुरुदंसं पुरूणि बहूनि दंसांसि कर्माणि यया सा पुरुदंसास्तां पुरुदंसमिति प्राप्ते टिलोपश्छान्दसः । 'दंस इति कर्मनामसु' (निघ० २।१।३) । बहुकर्मसाधनभूतमन्नमिति यावत् । गोः सनिं धेनुसम्बन्धि दानं पयोदधिघृतादिकं शश्वत्तमं शाश्वतिकतमम्, अनपायीति यावत् । सोपसेचनं शाश्वतिकमन्नं यजमानाय देहीत्यर्थः ।

ननु 'पशवो वा इडा' (श० ७।१।१।२७) इति श्रुता इडापदेन पशव उक्ताः, कथमत्रान्नमर्थः क्रियत इति चेन्न, तद्बलीवर्दैरुत्पाद्यमानत्वेन औपचारिकया वृत्त्या तथोक्तेः । किञ्च, नोऽस्माकं यजमानानां सूनुस्तनयः औरसः पुत्रः स्यादस्तु त्वत्प्रसादादित्यर्थः । औरसव्यतिरिक्तव्यावृत्त्यर्थं तनयशब्दः । यद्वा तनोत्यग्निहोत्रादिकर्माणीति तनयः, धर्मनिष्ठ इत्यर्थः । विजावा विविधरूपेण पुत्रपौत्राद्यात्मना जायत इति विजावा प्रजावानित्यर्थः । 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (पा० सू० ६।४।४१) इति धातोराकारः । हे अग्ने, ते तव सान्नगोपुत्रादिविषया सुमतिः शोभना बुद्धिरनुग्रहेण अस्मे अस्मासु भूत् भवतु । व्यत्ययेन शपो लुक् । अस्मे इत्यत्र विभक्तेः शे आदेशे 'शेषे लोपः' (पा० सू० ७।२।९०) इति लोपे रूपसिद्धिः । 'नानोपदधाति । ये नाना कामा आत्मंस्तांस्तद्दधाति सकृत्सादयत्येकं तदात्मानं करोति सूददोहसाऽधिवदति प्राणो वै सूददोहाः प्राणेनैवैनमेतत् सन्तनोति सन्दधाति' (श० ७।१।१।२६) । एतासामिष्टकानां क्रमेण कृतमुपधानमनूद्य स्तौति—नानोपदधातीति । नाना पृथगेकैकेष्टकामुपदध्यात् । तेन य आत्मनि स्थिता नानाविधाः कामास्तान् सर्वान् असङ्कीर्णं पृथगेव दधाति स्थापयति । सादनसूददोहसोः सकृत्त्वं विधाय स्तौति—सकृत् सादयतीति । तया देवतयेति यत्सादनं तच्चतसृणामिष्टकानां सम्भूय सकृदेव कर्तव्यम् । अत एव सर्वेष्टकोपधानसाधारणधर्मत्वेन सादनसूददोहसौ कात्यायनेनोक्तौ । तथाहि तत्सूत्रम्—'नित्ये सादनसूददोहसा उपधानादुत्तरे तया देवतया ता अस्येति' (का० श्रौ० १६।७।१४), 'अविशेषोपदेशात्' (का० श्रौ० १६।७।१५) इति । उपहितानामिष्टकानां 'चिदसि' (वा० सं० १२।५३) इति मन्त्रेण स्थिरीकरणं सादनम्, इष्टकानामुपरि

हस्तं निधाय 'ता अस्य' (वा० सं० १२।५५) इति कण्डिकापठनं सूददोहसाधिवदनम् । सर्वासामिष्टकानामुपधानानन्तरं मन्त्रद्वयेन यथाक्रमं सादनं सूददोहसं च कुर्यात् । उपहितानां यजुष्मतीनामिष्टकानां स्थिरीकरणं सादनम् । ता अस्य सूददोहस इति मन्त्रः सूददोहा उच्यते । अस्य मन्त्रस्योच्चारणं कुर्यादिति सूत्रार्थः । अत्र हेतुमाह कात्यायनः—'अविशेषोपदेशात्' (का० श्रौ० १६।६।१५) इति । अविशेषेण इष्टकाविशेषमनारभ्य श्रुतौ तयोरुपदेशः । अत इष्टकामात्रे तद्द्वयं कर्तव्यमित्यर्थः । प्राणेनैवैनमिति । एनमात्मानम् एतद् एतेन अधिवदनेन सन्तनोति संयोजयति । एतस्यैव विवरणं सन्दधातीति । 'अथ जघनेन परीत्य । उत्तरतो दक्षिणासीनोऽपरयोर्दक्षिणामग्र उपदधातीडामग्ने पुरुद७ँस७ँ सनिं गोरिति पशवो वा इडा पशूनामेवास्मा एतामाशिषमाशास्ते शश्वत्तम७ँ हवमानाय साधेति यजमानो वै हवमानः स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावेति प्रजा वै सूनुरग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे इत्याशिषमाशास्ते' (श० ७।१।१।२७) । पश्चिमाध्यर्ययोरिष्टकयोरुपधानप्रकारमाह—अथ जघनेति । मध्येष्टकोपधानानन्तर्यमथशब्दार्थः । जघनेन परीत्य गार्हपत्यस्थानस्य पश्चात् परिक्रम्य उत्तरत उत्तरस्यां दिशि दक्षिणामुख आसीनः सन् अपरयोः पाश्चात्त्ययोरिष्टकयोर्दक्षिणां दक्षिणभागस्थामिष्टकामग्रे प्रथममुपदधाति 'इडामग्ने' इति मन्त्रेण ।

ब्राह्मणानुसारमित्थं मन्त्रार्थः—हे अग्ने, हवमानाय हवनं कुर्वते यजमानाय इडां पशुम् । जातावेकवचनम् । तथा च पाणिनिसूत्रम्—'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' (पा० सू० १।२।५८) इति । अर्थाद् गवाश्वादिपशून् साध साधय । पशुरेव विशेष्यते—पुरुदंसमिति । बहुकर्महेतुभूतम् । अन्त्यलोपश्छान्दसः । शश्वत्तं पुत्रपौत्रादिरूपेण अविच्छेदेन सर्वदा वर्तमानम् । गोः सनिं गवादिपशूनां दातारम् । अस्मै यजमानाय साधय सम्पादय । अपि च नोऽस्माकं तनयः पुत्रः, सूनुस्तदात्रश्च विजावा विविधानां जनयिता स्यात्, उत्पद्यतामित्यर्थः । विपूर्वाज्जनेः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति वनिप् , 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (पा० सू० ६।४।४१) इत्यात्वम् । किं बहुना—हे अग्ने, ते त्वदीया सा सुमतिः सर्वश्रेयोनिदानभूता कल्याणी बुद्धिः, अस्मे अस्मासु भूतु भवत्वित्यर्थः । एतदर्थपरत्वेन मन्त्रं व्याचष्टे—पशवो वा इडेति । इडा खलु मनोर्दुहिता । तेनाप्सु हुतैर्घृतदधिमस्त्वामिक्षादिरूपैर्द्रव्यैरुत्पन्ना । एतच्च 'तत्पाकयज्ञेनेजे स घृतः' (श० १।८।१।७) इत्यादिना प्रथमकाण्डे प्रतिपादितम् । तथा च पशुप्रभवद्रव्येभ्य उत्पन्नत्वाद् इडायास्तद्वाचिना इडाशब्देन कारणभूताः पशव एवोच्यन्ते । पुरुदंसादिविशेषणेषु लिङ्गव्यत्ययश्छान्दसः । पशूनामेवेति कर्मणि षष्ठी । पशुविषयाम् आशिषं प्रार्थनाम् अस्मै यजमानाय अध्वर्युराशास्ते । यजमानो वै हवमान इत्युपयुक्तव्युत्पत्त्या हवमानशब्दो यजमानवाची । प्रजा वै सूनुरिति तनयशब्देन पुत्रस्य प्रतिपादितत्वात् तत्पुत्रादिरूपाः प्रजाः सूनुशब्देन प्रतिपाद्यन्त इत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, हवमानाय प्रेम्णा आह्वात्रे इडां पशून् अन्नं वा भगवदाराधनोपयुक्तं साध साधय सम्पादय । कीदृशीमिडाम् ? पुरुदंसं पुरूणि बहूनि दंसांसि कर्माणि कर्तव्यानि यया ताम् । गोः गोसम्बन्धिनीं सनिं दुग्धदधिघृतादिलक्षणाम्, शश्वत्तमं पुत्रपौत्रादिपरम्परायामविच्छेदेन वर्तमानम् । शेषं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने अध्यापक, ते सा सुमतिः, अस्मे अस्माकं भूतु भवतु । यथा ते नोऽस्माकं च विजावा विविधैश्वर्यजनकः सूनुरुत्पन्नस्तनयः पुत्रः स्यात्, तथा त्वं तस्मै हवमानाय विद्यां स्पर्धमानाय इडां स्तोतुमर्हां वाचं गोर्वाचः शश्वत्तममतिशयितमनादिरूपं वेदबोधं पुरुदंसं पुरूणि बहूनि दंसानि कर्माणि भवन्ति यस्मात्तं सनिं संविभागं साध साध्नुहि, अग्ने वयं च साध्नुयाम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्यापक-

राजमन्त्रिपुरोहिताद्युपदेशस्य बहुधा वर्णितत्वात्। महतायासेन तत्साधनेऽपि न किञ्चित् फलम्, तस्य लौकिकत्वे लौकिकप्रमाणैरेव ज्ञातुं शक्यत्वात्, तदर्थं वेदोपदेशस्य नैरर्थक्यात्। निघण्टौ कर्मार्थकः सान्तोऽयं दंससशब्दः। तमुदाजहार देवराजयज्वा—'दस्मस्य चारुतममस्ति दंसः' इति (ऋ० सं० १।६२।६)। तथा च दंसानीति रूपमप्यसङ्गतमेव। विजावेत्यस्य विविधैश्वर्यजनक इत्यन्तर्भावितण्यर्थकरणे किं मूलम्? 'सूनुः' इत्यस्य उत्पन्न इति नार्थः, तस्य पुत्रे रूढत्वात्। हवमानायेत्यस्य विद्यां स्पर्धमानायेत्यर्थोऽपि न युक्तः, ब्राह्मणेन यजमान इत्यर्थस्य व्याख्यातत्वात्। गोर्वाचः शश्वत्तमं वेदबोधमित्यसङ्गतम्, वेदवाक्यजन्यस्य बोधस्य नित्यत्वासम्भवात्। जन्यत्वाभावे गोः सम्बन्धानुपपत्तिः॥ ५१॥

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः।
तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिम्॥ ५२॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप सायंकाल और प्रातःकाल प्रकट होते हो, कर्म काल में प्रज्वलित होते हो। गार्हपत्य अग्नि को अपना अंश मानते हुए आप उसमें प्रविष्ट होइये और हमारे निमित्त यज्ञ के साधनभूत धन को चारों ओर से बढ़ाइये॥ ५२॥

इयं कण्डिका तृतीयेऽध्याये चतुर्दशे स्थाने व्याख्याताऽप्यत्र प्रकरणानुसारं पुनर्व्याख्यायते। अनुष्टुप् देवश्रवोदेववातदृष्टा आग्नेयी। हे अग्ने, अयमिष्टकारूपः पदार्थः, ते तव योनिरुत्पत्तिस्थानम्। ऋत्विय ऋतुकालिकस्त्रीपुरुषसङ्गम इव। अतो योनेर्यत उत्पन्नस्त्वम् अरोचथा दीप्यमानोऽसि तं तथाविधयोनिं जानन्नव-गच्छन् आरोह प्राप्नुहि। अथ अनन्तरं नोऽस्माकं रयिं वर्धय। अत्र ब्राह्मणम्—'अथोत्तराम्। अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथा इत्ययं ते योनिर्ऋतव्यः सनातनो यतो जातोऽदीप्यथा इत्येतत्तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिमिति यथैव यजुस्तथा बन्धुः' (श० ७।१।१।२८)। अथ पाश्चात्ययोरुत्तरस्या इष्टकाया उपधानं विधत्ते—अथोत्तरामिति। उपदधातीति शेषः।

अथ मन्त्रार्थः—हे अग्ने, ऋत्विय ऋतौ भवः सनातनोऽयं भूप्रदेशस्तव योनिरुत्पत्तिस्थानम्। यतो यस्माद्योनेर्जातः सन् अरोचथाः अदीप्यथाः, तं योनिभूतं देशं जानन् आरोह प्राप्नुहि। अथानन्तरं नोऽस्माकं रयिं धनं वर्धय। 'ऋत्वियः' इति मन्त्रपदस्यार्थमाह—ऋतव्य इति। ऋतौ भव इति विग्रहे 'छन्दसि घस्' (पा० सू० ५।१।१०६) इति घसि रूपम्। सनातन इति ऋतव्यपदव्याख्यानम्। ऋत्वात्मकस्य कालस्य सर्वदा विद्यमानत्वात् तत्र भवोऽग्निः सनातनो नित्य इत्यर्थः। तथा च जात इत्यनेन प्रादुर्भावमात्रं विवक्षितम्, नोत्पत्तिः। अरोचथा अदीप्यथा इति 'रुच दीप्तावभिप्रीतौ च' इति भौवादिकस्य रूपम्। अत्र दीप्त्यर्थो विवक्षितः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन्, अयमृत्विय ऋतुकालोद्भवेन स्त्रीपुरुषसंयोगेन जातो देहः, ते तव योनिः स्थानम्, अभिव्यक्तिहेतुत्वात्। यतो जातः प्रादुर्भूतः सन् अरोचथा अदीप्यथाः। तं योनिं जानन्नारोह अभिव्यक्तिं प्राप्नुहि। अथानन्तरं नोऽस्मभ्यं रयिं ज्ञानभक्तिलक्षणं वर्धय।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने! अग्निरिव स्वच्छात्मन्, यस्ते तव ऋत्विय ऋतुः समयोऽस्य प्राप्तः, योनिः दुःखवियोजकः सुखसंयोजको व्यवहारोऽस्ति, यतो जातः प्रादुर्भूतः सन् अरोचथाः प्रदीप्येथाः, अथानन्तरं नो

ह्यस्मभ्यं रयिं प्रशस्तां श्रियं वर्धय' इति, तदयुक्तम्, मनुष्याणामल्पज्ञानाल्पशक्तिमत्त्वेन प्रार्थयितृभ्यः श्रियः प्रापकत्वायोगेन तेभ्यस्तादृशप्रार्थनायोगात्, ऋत्वियपोनिपदाभ्यां यथासमयप्रासव्यवहारार्थग्रहणे मानाभावाच्च। न च तादृशव्यवहारादेव तदुपपत्तिः, तादृशव्यवहारासिद्धेः। अथपदार्थोऽपि तत्रासङ्गत एव, तदवधित्व-तदानन्तर्याऽनिरूपणात् ॥ ५२ ॥

चिद॑सि तया॑ दे॒वत॑याङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वा सी॑द परि॒चिद॑सि तया॑ दे॒वत॑याङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वा सी॑द ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टका, तुम स्थापित की हुई हो। उस प्रसिद्ध वाक्रूप देवता द्वारा स्थापित होकर अंगिरा के समान दृढ़तापूर्वक इस स्थान में दृढ़ रहो। हे इष्टके, तुम सब ओर से भोगों का चयन करने वाली हो, उस प्रसिद्ध वाक्रूप देवता द्वारा संपादित हुई हो, अंगिरा के समान दीर्घकाल तक निश्चल भाव से इस स्थान में स्थित रहो ॥ ५३ ॥

'चिदसीति पूर्वे दक्षिणतः प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।१।१२)। तत उत्तरस्मात् प्रदेशाद् अपरमार्गेण दक्षिणप्रदेशे गत्वा पूर्वे तिरश्च्यौ उदग्लक्षणे दक्षिणतोऽवस्थित उदङ्मुखो दक्षिणसंस्थे तिर्यग्लक्षणे उपदध्यात्। चिदसीत्युत्तरां परिचिदसीति दक्षिणामिति सूत्रार्थः। इष्टकादेवत्ये द्वे यजुषी। चित् चिनोति भोगान् सम्पादयतीति चित्। अर्थाद् हे इष्टके, त्वम् अभीष्ट-भोगसम्पादयित्री असि। अथवा चीयत इति चित्, चिता स्थापितासि। या देवता त्वामभिमन्यते तया देवतया अनुगृहीता त्वं ध्रुवा स्थिरा भूत्वा सीद, तया प्रसिद्धया वाग्रूपया देवतया सादिता सतीव सीद। तत्र दृष्टान्तः—अङ्गिरस्वत्, अङ्गिरोभिरुपहितेष्टकायां साधु वा भवति तद्वत्। यद्वा अङ्गिरस्वत् प्राणवत्। प्राणा यथा सर्वाङ्गेषु स्थितास्तथा ध्रुवा सती त्वं सीद निविशस्व। द्वितीयामुपदधाति—परिचिदसीति। हे इष्टके, त्वं परितो भोगांश्चिनोतीति परिचिद् असि सम्पूर्णभोग-सम्पादिकासि। परितो वा चीयसे तया देवतयेति पूर्ववद् व्याख्येयम्। यद्वा हे इष्टके, त्वं चित् चेतयमाना वागसि। या वाग्रूपा देवता त्वामभिमन्यते तया देवतया अङ्गिरस्वद् अङ्गिराः प्राणाः, 'प्राणो हि वा अङ्गानां रसः' (श० १४।४।१।२१) इति श्रुतौ तन्नामव्युत्पत्तेः, सोऽस्यास्तीत्यङ्गिरस्वत्। 'तसौ मत्वर्थे' (पा० सू० १।४।१९) इति भत्वाद्रुत्वाभावः। क्रियाविशेषणमेतत्। तेन युक्तं यथा भवति तथा वाग्देवतया युक्तासि, सा त्वं ध्रुवा सती सीद निषण्णा भव। परिचिदसि परितो भोगांश्चिन्वाना सम्पादयमाना परिचीयमाना वा वागसीत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'सक्थ्यावस्यैते। ते नानोपदधाति नाना सादयति नाना सूददोहसाऽधिवदति नाना हीमे सक्थ्यौ द्वे भवतो द्वे हीमे सक्थ्यौ पश्चादुपदधाति पश्चाद्धीमे सक्थ्यावग्राभ्याᳬ सᳬ स्पृष्टे भवत एवᳬ हीमे सक्थ्यावग्राभ्याᳬ सᳬ स्पृष्टे' (श० ७।१।१।२९)। एतयोः पाश्चात्ययोरिष्टकयोरुपधानसादनादीनां पृथक् कर्तव्यतामाह—सक्थ्यावित्यादिना। अस्याग्नेः सक्थ्यौ श्रोण्यौ एते इष्टके, अतस्ते नाना पृथग् उपदध्यात्। सादनसूददोहसाधिवदने अपि पृथक् कर्तव्ये। तत्र कारणमाह—नाना हीमे इति। इमे मनुष्यसम्बन्धिन्यौ सक्थ्यौ। छान्दसं स्त्रीत्वम्। हि यस्माद् नाना पृथग् असंश्लिष्टे भवतः, तस्मात् तत्संस्तुतयोरिष्टकयोरप्यसंश्लेषो युक्त इत्यर्थः। द्वित्वमनूद्य स्तौति—द्वे भवत इति। पश्चाद्भागोपधानमनूद्य स्तौति—पश्चादिति। पश्चाद्धीमे इति। हि यस्माद् इमे दृश्यमाने पुरुषसम्बन्धिन्यौ सक्थ्यौ पश्चात् शरीरस्य अपरभागे भवतः, तस्मादनयोः पश्चादुपधानं युक्तम्। अग्रप्रदेशेन तयोः परस्परं संसर्गं विधत्ते—अग्राभ्यामिति। आत्मसमीपेऽग्रप्रदेशः, तत्रैते संस्पृष्टे भवत इत्यर्थः। एवं हीमे इति लौकिकं निदर्शनम्। 'अथ तेनैव पुनः परीत्य। दक्षिणत उदङ्ङासीनः पूर्वयोरुत्तरामग्र उपदधाति चिदसि तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीदेत्यथ दक्षिणां परिचिदसि तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा

सीदेति' (श० ७।१।१।३०)। पूर्वार्द्धर्घयोरुपधानप्रकारमाह— अथ तेनैवेति । येन मार्गेण पाश्चात्त्ययोरुपधाने परिक्रमणं कृतम्, तेनैव पुनर्दक्षिणगतः परिक्रम्य तत्रोदङ्मुख आसीनः पूर्वयोरिष्टकयोर्मध्येऽग्रे प्रथममुत्तरामुपदधाति। तत्र मन्त्रः—चिदसीति। अनन्तरं दक्षिणामुपदधाति। तत्र मन्त्रः—परिचिदसीति। मन्त्रयोरर्थस्तूक्त एव। चिदसीति मन्त्रेणोपहितानामिष्टकानां तदभिमानिन्या वाग्देवतया स्थिरीकरणं सादनम्।

'बाहू अस्यैते। ते नानोपदधाति नाना सादयति नाना सूददोहसाऽधिवदति नाना हीमौ बाहू द्वे भवतो द्वौ हीमौ बाहू पूर्वार्धं उपदधाति पुरस्ताद्धीमौ बाहू अग्राभ्याᳬं सᳬंस्पृष्टे भवत एवᳬंहीमौ बाहू अग्राभ्याᳬं सᳬंस्पृष्टौ स वा इतीमा उपदधातीतीमे इतीमे तद्दक्षिणावृत् तद्धि देवत्रा' (श० ७।१।१।३१)। बाहू अस्यैते इति 'सक्थ्यावस्यैते' इतिवद् व्याख्येयम्। एतासामिष्टकानामुपधानस्य प्रादक्षिण्यमुपनयेन दर्शयन् स्तौति—स वा इतीमा इति। इमा मध्ये उपधीयमानाश्चतस्र इष्टका आत्मन उत्तरार्धमारभ्य दक्षिणा उपदधाति। इमे पाश्चात्त्ये इष्टके इति प्रथमं दक्षिणार्द्ध्यां पश्चादुत्तरार्द्ध्यामित्यनेन क्रमेणोपदधाति। तथा इमे पौरस्त्ये इष्टके प्रथममुत्तरार्द्ध्यां पश्चाद्दक्षिणार्द्ध्यामित्यनेन क्रमेणोपदधाति। तत् तथा सति दक्षिणावृत् प्रादक्षिण्येन वर्तनं भवति। तत् खलु देवत्रा देवेषु योग्यमित्यर्थः। 'अष्टाविष्टका उपदधाति। अष्टाक्षरा गायत्री गायत्रोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैनमेतच्चिनोति पञ्चकृत्वः सादयति पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैनमेतच्चिनोत्यष्टाविष्टकाः पञ्चकृत्वः सादयति तत्त्रयोदश त्रयोदश मासाः संवत्सरस्त्रयोदशाग्नेश्चितिपुरीषाणि यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत् तद् भवति' (श० ७।१।१।३२)। अथोपहितानामिष्टकानां सम्भूय संख्यां प्रशंसति—अष्टाविष्टका इति। गायत्रोऽग्निरिति। अष्टाक्षरपादेन गायत्रीच्छन्दसा सह प्रजापतिमुखादुत्पन्नत्वादग्नेर्गायत्रत्वम्, 'तमग्निर्देवता न्वसृज्यत गायत्रीच्छन्दः' (तै० सं० ७।१।१।४) इति तैत्तिरीयश्रुतेः। अथोपहितानामिष्टकानां सम्भूय संख्यां प्रशंसति—अष्टाविष्टका उपदधातीति।

अध्यात्मपक्षे—हे चिद्रूपे परदेवते, त्वं चिदसि विविधभोगसम्पादिकासि, त्वं तया प्रसिद्धया प्राणरूपयाऽपरदेवतया सहाङ्गिरस्वत् प्राणा यथा सर्वाः सर्वाङ्गेषु स्थितास्तथा ध्रुवा स्थिरा सती त्वं सीद निषण्णा भव, हृदय इति शेषः। 'त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्' (भा० पु० ३।९।११) इति श्रीमद्भागवतमहापुराणवचनात्। हे परदेवते, त्वं परिचिदसि परितः सर्वतः सम्पूर्णस्वर्गापवर्गादिसम्पादिकासि। तया हिरण्यगर्भरूपया बुद्ध्यभिमानिन्या ध्रुवा निश्चला सीद, हृदय इति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे कन्ये, या चिदसि संज्ञप्तासि तया देवतया दिव्यगुणप्रापिकया सह अङ्गिरस्वत् प्राणवद् ध्रुवा सीद। हे ब्रह्मचारिणि, या त्वं परिचिदसि विद्यापरिचयं प्राप्तासि, तया धर्मानुष्ठानयुक्तया क्रियया देवतया दिव्यगुणप्रदया सह हिरण्यगर्भवद् ध्रुवा निष्कम्पा सीद अवतिष्ठस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, कन्याब्रह्मचारिण्योः सम्बोधने मानाभावात्। चित्परिचित्-शब्दयोः श्रुतिसूत्ररीत्या इष्टकापरत्वेनार्थान्तरत्वायोगात्। तयेत्यस्य धर्मानुष्ठानयुक्तक्रिययेत्यर्थोऽपि निर्मूल एव, सिद्धान्तरीत्या या त्वामभिमन्यते तयेति व्याख्यानस्य सूत्रसम्मतत्वेन तद्भिन्नार्थायोगात् ॥ ५३ ॥

लोकं पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम्।
इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन् योनावसीषदन् ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके, तुम गार्हपत्य चयनस्थान में पूर्व इष्टिकाओं से अनाक्रान्त होकर इस स्थान को पूर्ण करो और दृढ़ होकर स्थित रहो। इन्द्र देवता, अग्नि देवता और बृहस्पति देवता ने इस स्थान में तुमको स्थापित किया है ॥५४॥

'तिसृषु लोकम्पृणासु मन्त्रो दशसु च, द्वयोर्वा दशस्वेकस्यां च' (का० श्रौ० १७।१।१७-१८)। प्रथमं तिसृषु लोकम्पृणासु तूष्णीमुपहितासु ततो दशसु च लोकम्पृणासु मन्त्रः प्रवर्तते। अथवादौ द्वयोरिष्टकयोरुपहितयोः, ततो दशसूपहितासु, तत एकस्यामुपहितायां मन्त्रः प्रवर्तते। वारद्वयं वारत्रयं वा मन्त्रपाठ इति सूत्रार्थः। एवमेव विंशतीष्टका गार्हपत्ये स्युरिति।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ लोकम्पृणामुपदधाति। तस्या उपरि बन्धुस्तिस्रः पूर्वास्त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैनमेतच्चिनोति दशोत्तरास्तासामुपरि बन्धुर्द्वे वाऽग्रेऽथ दशाथैकामेवꣳ हि चितिं चिन्वन्ति तास्त्रयोदश सम्पद्यन्ते तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।१।१।३३)। लोकम्पृणाया इष्टकाया उपधानं विधत्ते—अथेति। एवमष्टाविष्टका उपधायानन्तरमवशिष्टे गार्हपत्यचितिस्थाने लोकम्पृणाख्यामिष्टकामुपदधाति, लोकं शिष्टं स्थानं पृण पूरयेति तन्मन्त्रे (वा० सं० १२।५४) प्रतिपादनात्। तस्या लोकम्पृणाया उपरि उपरिष्टाद् अष्टमकाण्डावसाने 'असौ वा आदित्यो लोकम्पृणा' (श० ८।७।२।१) इत्यादिः स्तावको वाक्यशेष आम्नास्यत इत्यर्थः। सकृदुच्चरितेन लोकम्पृणेति मन्त्रेण तिसृणां युगपदुपधानं विधत्ते—तिस्रः पूर्वा इति। तत्प्रशंसति—त्रिवृदग्निरिति। 'स श्रान्तस्तेपानो मृदꣳ शुष्कापम्' (श० ६।१।१।१३) इत्यादिश्रुतिष्वग्नेस्त्रिवृत्त्वं प्रतिपादितम्। अतोऽग्नेस्त्रिवृत्त्वसंख्यायोगात् तिसृणामुपधानं युक्तमित्यर्थः। अथ तेनैव सकृदुच्चरितेनैव मन्त्रेण दशानामिष्टकानामुपधानं विधत्ते—दशोत्तरा इति। उत्तरा उपरिभाविनीरित्यर्थः, उपदधातीति शेषः। तासामुपरीति। तासां दशानामिष्टकानां यादृशी संख्या तत्स्तावकोऽर्थवादो भविष्यतीत्यर्थः। पूर्वं त्रयोदशानां लोकम्पृणानां द्वेधा विभागेनोपधानमभिधाय त्रेधा विभागपक्षमाह—द्वे वाग्रे इति। एतच्च पक्षद्वयं सूत्रकृतापि दर्शितम्—'तिसृषु लोकम्पृणासु मन्त्रो दशसु च, द्वयोर्वा दशस्वेकस्यां च' (का० श्रौ० १७।१।१७-१८)। मन्त्रार्थश्चोपरिष्टादुक्त एव। द्वितीयं पक्षं लौकिकेन निदर्शनेनोपपादयति—एवं हीति। यत्र हि काष्ठादिभिश्चितिर्निर्मीयते, तत्रैवमेव हि चितिं चिन्वन्ति। मूलाग्रभागयोर्द्वे काष्ठे प्रथमं तिर्यक् स्थापयन्ति। पश्चात्तयोरुपर्युपर्यन्यानि सर्वाणि प्रागग्राण्यवशिष्टानि स्थापयन्ति। उपरिष्टाच्चलनाभावायैकं पुनः स्थापयन्ति। तस्मात्तदनुसारेणायं पक्ष उक्त इत्यर्थः। तासां लोकम्पृणानां संख्यां सम्भूयानूद्य प्रागुक्तं वाक्यशेषं दर्शयति—तास्त्रयोदशेति। 'त्रयोदश मासाः संवत्सरः' इत्यादिरुक्तो वाक्यशेषोऽत्रापि योजनीय इत्यर्थः।

'ता उभय्य एकविꣳशतिः सम्पद्यन्ते। द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविꣳशोऽमुं तदादित्यमस्मिन्नग्नौ प्रतिष्ठापयति' (श० ७।१।१।३४)। पूर्वाभिरिष्टकाभिः सहैतासां संख्यां सम्भूय प्रशंसति—ता उभय्य इति। उभय्य उभयविधाः। 'अयꣳ सो अग्निः' इत्यादिभिर्मन्त्रैः प्रागुपहिता अष्टौ, लोकम्पृणास्त्रयोदशेति मिश्रिता एकविंशतिर्भवन्ति। एकविंश इत्येकविंशतिसंख्यापूरकः। 'तस्य पूरणे डट्' (पा० सू० ५।२।४८) इति डटि 'ति विंशतेर्डिति' (पा० सू० ६।४।१४२) इति तिलोपे पररूपे रूपसिद्धिः। तत् तेन एकविंशतिसंख्यासम्पादनेन अमुं द्युलोकस्थमेवादित्यमस्मिन् चितेऽग्नौ प्रतिष्ठापयति। एकविंशतिसंख्यायोगाच्चीयमानोऽग्निस्तदात्मको भवतीत्यर्थः। 'एकविꣳशतिर्वेव परिश्रितः। द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका अयमग्निरमुतोऽध्येकविꣳश इमं तदग्निममुष्मिन्नादित्ये प्रतिष्ठापयति तद्यदेता एवमुपदधात्येतावेवैतदन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठापयति तावेतावन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ तौ वा एतावत्र द्वावेकविꣳशौ सम्पादयत्यत्र ह्येवेमौ तदोभौ भवत आहवनीयश्च गार्हपत्यश्च' (श० ७।१।१।३५)। परिश्रितां संख्यामनूद्य स्तौति—एकविंशतिरिति। 'उ' 'एव' इत्यनयोर्यणादेशे 'वेव' इति रूपम्। उशब्दोऽप्यर्थे। परिश्रितो गार्हपत्यचितेः परितः चिताः शर्करा अप्येकविंशतिसंख्याका एव भवन्ति। तत्रापि मासादिलोकान्ता विंशतिः पूर्ववत्। अयमेव चीयमानोऽग्निः, अमुतः अमुत्र परिश्रिति, एकविंश एकविंशतिसंख्यापूरकः। अधिः सप्तम्यर्थानुवादी। तत् तथा सतीममेकविंशमग्नि-

ममुष्मिन् एकविंशे आदित्ये प्रतिष्ठापयति। तदेव विवृणोति—तद्यदित्यादिना। तत् तत्र यद् यस्माद् एताः परिश्रित इष्टकाश्च एवं प्रत्येकमेकविंशतिसंख्याका उपदधाति, एतद् एतेन कारणेन एतावेव अग्न्यादित्यौ, अन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठापयति। अत एवेदानीं तावेतौ अन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ दृश्येते। आदित्यो रात्रावग्निं प्रविश्य प्रतितिष्ठति, अग्निश्चोद्यन्तमादित्यं प्रविश्य प्रतिष्ठितो भवति। एतच्च अग्निहोत्रब्राह्मणे (श० २।३।१।३ स्थले) प्रतिपादितम्। तयोरुभयोरप्यत्र सन्निधानमाह—तौ वा इति। परिश्रिदिष्टकासंख्यया द्वयोरेकविंशयोरत्र सम्पादनादिमौ अग्न्यादित्यौ उभौ अप्यत्र चित्याग्नौ सन्निहितौ भवतः। तत्राहवनीयचितिरूपेण आदित्यः, गार्हपत्यचितिरूपेणाग्निरिति तयोर्विभाग इत्यर्थः।

अथ कण्डिकार्थो निरूप्यते—लोकम्पृणादेवत्यानुष्टुप्। हे लोकम्पृणेष्टके, त्वं लोकं पृण गार्हपत्यचयनप्रदेशे पूर्वष्टकाभिरनाक्रान्तमवशिष्टस्थानं पूरय। तथा छिद्रं पृण किञ्चिदपि छिद्रं यथा न दृश्यते तथा पूरय, संश्लिष्टा भवेत्यर्थः। 'पृण प्रीणने' तुदादिः। अथो अपि च ध्रुवा दृढा सती त्वं सीद तिष्ठ। किञ्च, इन्द्राग्नी बृहस्पतिश्चैते देवा अस्मिन् योनौ स्थाने त्वाम् असीषदन् सादितवन्तः। सदेश्चङ्। नहि मानुषोऽध्वर्युस्त्वां सादितुं शक्नोतीति भावः।

अध्यात्मपक्षे—हे चिद्रूपे भगवति, लोकं लोकान्। जातावेकवचनम्। पृण तर्पय। परमेश्वरानुग्रहेणैव सर्वतृप्तिर्भवति, 'एष ह्येवानन्दयाति' (तै० उ० २।७) इति श्रुतेः। छिद्रं ज्ञानभक्त्यादिन्यूनत्वं पृण पूरय। अथो अपि च, ध्रुवा दृढा सती त्वं सीद साधकानां हृदये निषण्णा भव। इन्द्राग्नी बृहस्पतिश्च। इन्द्रः पराक्रमदेवता, अग्निः प्रकाशदेवता, बृहस्पतिः प्रतिभादेवता। त्वाम् अस्मिन् योनौ साधकानां हृदये असीषदन् सादयन्तु। तासां देवतानामनुग्रहेण चिद्रूपा परदेवता निश्चला सती हृदये राजते।

दयानन्दस्तु—'हे कन्ये, यां त्वामस्मिन् विद्याबोधे योनौ बन्धविच्छेदके मोक्षप्रापके इन्द्राग्नी मातापितरौ, बृहस्पतिर्बृहत्या वेदवाचः पालिकाध्यापिका असीषदन् प्रापयन्तु, तस्मिन् त्वं ध्रुवा दृढनिश्चया सीद। छिद्रं छिनत्ति यत्तत् छिद्रं न्यूनत्वं पृण पिपूर्हि। लोकं सम्प्रेक्षितव्यं पृण तर्पय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, कन्यायाः सम्बोधने मानाभावात्, 'योनिपदस्य बन्धविच्छेदको मोक्षप्रापकश्चार्थौ' इत्यत्र मानाभावात्। इन्द्राग्नी इत्यस्य मातापितरावर्थ इत्यपि निर्मूलम्। सम्प्रेक्षणीयान् पुरुषान् कन्या कथं तर्पयिष्यति ? कथं च तस्य धर्मानुगुण्यमिति विद्वांसो विदाङ्कुर्वन्तु ॥ ५४ ॥

ता अस्य सूददोहसः सोमꣳ श्रीणन्ति पृश्नयः।
जन्मन् देवानां विशस्त्रिष्वा रोचने दिवः ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ—द्युलोक सम्बन्धी अनेक प्रकार के जल और अन्न से संयुक्त व प्रसिद्ध जल के अधिष्ठातृ देवता देवताओं के जन्म वाले संवत्सर में तीन सवनों के मध्य में इस यज्ञसम्बन्धी सोम को सम्यक् प्रकार से परिपक्व करते हैं ॥ ५५ ॥

'नित्ये सादनसूददोहसा उपधानादुत्तरे तया देवतया ता अस्येति' (का० श्रौ० १६।७।१४)। 'चिदसि तया देवतया' (वा० सं० १२।५३) इति मन्त्रेण सादनमुपहितानामिष्टकानां स्थिरीकरणम्, 'ता अस्य' (वा० सं १२।५५) इति सूददोहसाधिवदनम्। इष्टकाया उपरि हस्तं निधाय उक्तमन्त्रोच्चारणं सूददोहसाधिवदनम्। एते नित्ये सर्वत्रेष्टकासु कर्तव्ये इति सम्भूय द्वित्राणां सूत्राणामर्थः। इन्द्रपुत्रप्रियमेधदृष्टा अब्देवत्याऽनुष्टुप्। दिवो द्युलोकस्य स्वर्गस्य रोचने प्रकाशके, अस्य यजमानस्य जन्मन् जन्मनि जन्मनिमित्तभूते सति

देवानां सम्बन्धिन्यो विशः प्रजारूपाः पृश्नय अल्पगोसदृशाः सूददोहसोऽन्नस्य दोहयित्र्यस्ता इष्टकास्त्रिषु प्रातःसवन-मध्याह्नसवन-सायंसवनेषु आ समन्तात् सोमं श्रीणन्ति पक्वं कुर्वन्ति । यद्वा दिवो द्युलोकसम्बन्धिनो दिवश्च्युता वा सूददोहसः सूदाश्च आपश्च दोहसश्च अन्नानि चेति सूददोहसः । अथवा सूदेन सहिता दोहसः सूददोहसः । पृश्नयो नानाविधाः । ताः प्रसिद्धा अस्य विशो यज्ञस्य सम्बन्धिनं सोममाश्रीणन्ति सम्यङ् मिश्रयन्ति पक्वं कुर्वन्ति । 'श्रीञ् पाके' क्र्यादिः । अथवा पृश्नयोऽन्नरूपाः, 'आपो वै सूदोऽन्नं दोहः' (श० ८।७।३।२१), 'यज्ञो वै विशः' (श० ८।७।३।२१), 'अन्नं वै पृश्निः' (श० ८।७।३।२१) इति श्रुतिभ्यः । अत्रागत्य व्रीह्यादिधान्यनिष्पादका इत्यर्थः । कदा श्रीणन्तीति चेत्, देवानां जन्मन् जन्मनि, संवत्सर इत्यर्थः । 'संवत्सरो वै देवानां जन्म' (श० ८।७।३।२१) इति श्रुतेः । संवत्सरे संवत्सरे सोमयागस्तदभिप्रायमेतत् । त्रिषु आरोचने त्रिषु आरोचनेषु । 'सवनानि वै त्रीणि रोचनानि' (श० ८।७।३।२१) इति हि श्रुतिः । वचनव्यत्ययः । यज्ञपरिणामभूता अन्नोत्पादिका आपो दिवः सकाशादस्मिल्लोके पतित्वौषधिवनस्पत्यन्नभूताः सत्यः सोमस्योपकुर्वन्तीति भावः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'ता अस्य सूददोहस इति । आपो वै सूदोऽन्नं दोहः सोमꣳ श्रीणन्ति पृश्नय इत्यन्नं वै पृश्नि जन्मन् देवानामिति संवत्सरो वै देवानां जन्म विश इति यज्ञो वै विशो यज्ञे हि सर्वाणि भूतानि विष्टानि त्रिष्वा रोचने दिव इति सवनानि वै त्रीणि रोचनानि सवनान्येतदाहानुष्टुभा वाग्वा अनुष्टुब् वागु सर्वे प्राणा वाचा चैवैने एतत्प्राणेन च सन्तनोति सन्दधाति सा वा एषैका सती सूददोहाः सर्वा इष्टका अनुसञ्चरति प्राणो वै सूददोहास्तस्मादयमेक एव प्राणः सन् सर्वाण्यङ्गानि सर्वमात्मानमनुसञ्चरति' (श० ८।७।३।२१)। अस्य यजमानस्य या आपः सवनेषु दधामीति समुदायार्थप्रसिद्ध्यर्थं पदार्थानाचष्टे—आपो वै सूदोऽन्नं दोह इत्यादिना । स्यन्दतीति सूदः संघोदकसंघातः, 'अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्' (म० स्मृ० १।८) इत्यादिधर्मशास्त्रेषु प्रसिद्धः । स एव कार्येषु भोग्येष्वाद्यभावेन अन्नरूपेण परिणतः । उपजीव्यत्वादन्नं वृत्तमिति प्रकारेण दोहोऽन्नम् । दोग्धि प्रपूरयति कामानिति दोहोऽन्नम् । प्रसन्नमन्यत् ।

अध्यात्मपक्षे—दिवो द्युलोकस्य रोचने प्रकाशमये स्थाने अस्य साधकस्य जन्मन् जन्मनिमित्ते कर्मोपासनादौ सति देवानां सम्बन्धिन्यो विशः प्रजाः पृश्नयोऽल्पगोसदृशाः सूददोहसः सूदस्य उदकादिसहितस्य अभीष्टान्नादेर्दोहयित्र्यस्त्रिषु प्रातरादिसवनेषु आ समन्तात् सोमं सोमोपलक्षितमभीष्टं भक्ष्यभोज्यादिकं श्रीणन्ति पचन्ति । भगवदुपासकानां भगवदनुग्रहबलेन सर्वानुकूल्यं सम्पद्यत इत्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'या देवानां दिव्यानां विदुषां यतीनां सूददोहसः सूदाः सुष्ठु पाचका दोहसो गवादिदोग्धारश्च यासां ताः पृश्नयः सुस्पर्शास्तन्वङ्ग्यः पत्न्यः । अत्र स्पृशधातोर्निप्रत्ययः सलोपश्च । जन्मन् द्वितीये विद्याजन्मनि विदुष्यो भूत्वा दिवो दिव्यस्य गृहाश्रमस्य सोमं सोमरसान्वितं पाकं श्रीणन्ति परिपक्वं कुर्वन्ति, ता ब्रह्मचारिण्य आरोचने रुचिकरे व्यवहारे त्रिषु भूतभविष्यद्वर्तमानकालेषु सुखदा भवन्ति, विशः प्रजाश्च प्राप्नुवन्ति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अस्य सर्वस्य व्यवहारस्य लोकप्राप्तत्वेनाज्ञातज्ञापके वेदे तदप्रतिपादनात् । देवा मनुष्यभिन्ना देवयोनय इत्युक्तमेव । सूद इति शब्दस्य पाचक एवार्थः । सुष्ठु पाचक इत्यर्थः कुतः ? तद्वाचकस्य कस्यापि पदस्य मन्त्रेऽभावात् । सूदा दोहसश्च यासामिति बहुव्रीहिरप्यसंगतः, परस्परमसम्बद्धेषु पदेष्वेकार्थीभावाभावात् समासायोगात्, यत्रान्यपदार्थता विश्राम्यति तादृशस्य पदस्याभावाच्च । न च पृश्नय इति पदे विद्यमाने कथमेवं वक्तुं सुशकमिति वाच्यम्, तत्पदस्यार्थान्तरत्वात् । 'पृश्निरादित्यो भवति' इति तत्र भगवान् यास्कः । 'घृणिपृश्निपार्ष्णि' (उ० ४।५२) इत्यादिना हि पृश्निशब्दः संसाध्यते । तस्य च अल्पतनुरर्थः, 'पृश्निरल्पतनौ' (अ० को० २।६।४८) इत्यमरकोषात् । तथा च पत्नीरूपोऽर्थोऽस्य शब्दस्य

कथङ्कारमपि नायाति । वामनो हि सर्वैरपि स्प्रष्टुं सुशकः । दिव इत्यस्य दिव्यो गृहाश्रम इत्यर्थोऽपि निर्मूल एव । सुखदा इत्यपि निर्मूलम्, श्रुतिविरोधात् । श्रुतौ हि 'आपो वै सूदोऽन्नं दोहः' इति व्याख्यातम् ॥ ५५ ॥

इन्द्रं विश्वा॑ अवीवृधन् समु॒द्रव्य॑चसं॒ गिरः॑ ।
र॒थीत॑मꣳ र॒थीनां॒ वाजा॑नाꣳ सत्प॑तिं॒ पति॑म् ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ—सम्पूर्ण ऋक्, यजुः और साम रूप स्तुतियां समुद्रवत् व्यापक, सब रथियों के मध्य में अत्यन्त रथी, अन्न के पति, निज धर्म में रहने वालों के पालक इन्द्र को वर्धित करती हैं ॥ ५६ ॥

'चात्वालदेशात् पुरीषं निवपतीन्द्रं विश्वा इति' (का० श्रौ० १७।१।१९) चात्वालस्थानान्मृदमानीय गार्हपत्यचितेरुपरि क्षिपतीति सूत्रार्थः । इन्द्रदेवत्या मधुच्छन्दसुतजेतृदृष्टाऽनुष्टुप् । विश्वाः सर्वा गिरोऽस्मदीयाः स्तुतय ऋग्यजुःसामलक्षणाः, इन्द्रम् अवीवृधन् वर्धयन्ति । कीदृशमिन्द्रम् ? समुद्रव्यचसम्, समुद्रवद् व्यचो व्याप्तिर्यस्यासौ समुद्रव्यचाः, तम् । समुद्रवद् व्याप्तिमन्तं विविधाञ्चनं नानागतिं वा अक्षोभ्यबलं वा । रथीनां रथयुक्तानां योद्धॄणां मध्ये रथीतममतिशयेन रथवन्तम्, रथयुद्धे लब्धातिशयमित्यर्थः । वाजानामन्नानां स्वामिनम् । सत्पतिं सतां सन्मार्गवर्तिनां पालकम् । तथा वाजानामन्नानां पतिं पालकम् । रथीतममित्यत्र 'ईद्रथिनः' (पा० सू० ८।२।१७) इति घे परे रथिन ईदादेशः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ पुरीषं निवपति । तस्योपरि बन्धुस्तच्चात्वालवेलाया आहरत्यग्निरेष यच्चात्वालस्तथो हास्यैतदाग्नेयमेव भवति सा समम्बिला स्यात् तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।१।१।३६) । पुरीषनिवपनं विधत्ते—अथ पुरीषमिति । इष्टकासन्धिषु छिद्रपूरणार्थाः पांसवः पुरीषम् । तस्मात्तासामुपरि प्रक्षिपतीत्यर्थः । तस्योपरि बन्धुरिति तस्य पुरीषनिवपनस्य प्रयोजनप्रतिपादको वाक्यशेषः—'इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्' (श० ८।७।३।७) इति । तन्मन्त्रविधिश्चोपरिष्टादष्टमकाण्डावसान आम्नास्यत इत्यर्थः । 'इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्निति । इन्द्रꣳ हि सर्वाणि भूतानि वर्धयन्ति समुद्रव्यचसं गिर इति महिमानमस्यैतदाह रथीतमꣳ रथीनामिति रथितमो ह्येष रथिनां वाजानाꣳ सत्पतिं पतिमित्यन्नं वै वाजा अन्नानाꣳ सत्पतिं पतिमित्येतदैन्द्र्याऽनुष्टुभा निवपत्यैन्द्रꣳ हि पुरीषं तदेतदर्धमग्नेर्यत्पुरीषमर्धमेष्टकम्' (श० ८।७।३।७) । प्रसन्ना कण्डिका । इयमेव कण्डिका बन्धुरित्यर्थः । पुरीषाहरणं विधत्ते—तच्चात्वालवेलाया इति । उत्तरवेद्यर्थानां पांसूनां निर्हरणस्थानं चात्वाल उत्तरवेद्यंसदेशः, तस्य या वेला समीपदेशः, ततः पुरीषमाहरेदित्यर्थः । तत्प्रशंसति—अग्निरेष इति । आहवनीयाग्न्याधारोत्तरवेदिहेतुत्वाच्चात्वालस्याग्न्यात्मकता । तथो हेति । तथैव खलु सत्यस्य चित्याग्नेरेतत्पुरीषमप्याग्नेयमग्निसम्बद्धमेव भवति । इत्थं पुरीषान्ता गार्हपत्यचितिरुक्ता ।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रं परमैश्वर्यशीलं परमात्मानं विश्वाः सर्वा गिर ऋगादिलक्षणाः स्तुतयः, अवीवृधन् वर्धयन्ति प्रोत्साहयन्ति । कीदृशमिन्द्रम् ? समुद्रव्यचसं समुद्रवद् जलधिवद् आकाशवच्च व्यापकं सर्वगतं वा । पुनः कीदृशम् ? रथीनां रथयोद्धॄणां मध्ये रथीतमं विनापि रथेन योद्धारम्, तस्य निरतिशयवीर्यशालित्वात् । वाजानामन्नानां पतिं स्वामिनं सत्पतिं सज्जनानां सन्मार्गस्थानां पालकम् ।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रीपुरुषाः, यूयं यथा विश्वा अखिला गिरो वेदविद्यासंस्कृता वाचः समुद्रव्यचसं समुद्रस्य व्यचसो व्याप्तय इव यस्मिन् तम्, वाजानां संग्रामाणां मध्ये रथीतममतिशयेन प्रशस्तरथयुक्तम्, सत्पतिं सत ईश्वरस्य वेदस्य धर्मस्य वा पालकमवीवृधन् पालयेयुः, तथा सर्वान् वर्धयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्,

सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात् । न च समृद्रव्यचसस्तादृशसंग्रामाणां वीराणां मध्ये कश्चिद् रथीतमः प्राकृतः पुरुष उपलभ्यते, यं विश्वा गिरो वर्धयेयुः । न वा तादृशवर्धनमन्येषां सम्भवतीति निरर्थकमेव वचनं स्यात् । भावार्थस्तु सर्वथा मूलमन्त्रासम्बद्ध एव ॥ ५६ ॥

समितᳪ सङ्कल्पेथाᳪ सम्प्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ । इषमूर्जमभि संवसानौ ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ—समान प्रीति वाले, कान्तिमान्, परस्पर श्रेष्ठ चित्त वाले हे उखापाग्नो और चिति के अग्नि देवताओ! आप लोग अन्न घृत आदि रस का उपभोग करते हुए, अर्थात् हमारे दिये हुए अन्न और रस को स्वीकार करते हुए, एक मन होकर मिलो, एक संकल्प वाले हो जाओ ॥ ५७ ॥

'समम्बिलां कृत्वोख्यं निवपति समितमिति' (का० श्रौ० १७।१।२०) । समम्बिलं मुखं यस्याः सा समम्बिला ताम् । विभक्त्यलुक् छान्दसः । गार्हपत्यचितिं पुरीषनिवपनेन समम्बिलामिष्टकोच्चतासमां कृत्वा परिश्रित्समां कृत्वा उख्यमग्निं गार्हपत्यचितेर्मध्ये नीचैः स्थापयेत् चतुर्भिर्मन्त्रैरिति सूत्रार्थः । तथा च ब्राह्मणम्—'सा समम्बिला स्यात् तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।१।१।३६) । सा गार्हपत्यचितिः समम्बिला समं समानं बाह्यान्तरभावेन न्यूनाधिकाकाररहितं बिलं परितः प्रान्तप्रदेशो यस्याः सा । तस्य बिलसाम्यस्य बन्धुः स्तावको वाक्यशेष उखानिर्माणप्रस्तावे (श० ६।५।२।२०) आम्नात इत्यर्थः । चतस्रो द्व्यग्निदेवत्याः । समितमित्युष्णिगेकाधिका, अनियताक्षरपादत्वेऽप्यष्टाविंशत्यक्षरत्वात् । यदिदं गार्हपत्यचयनमभिहितं तस्मिन् उख्याग्निनिर्वचनवेलायां द्वावग्नी सम्पद्येते । पूर्वसिद्धोऽग्निरेकः, उख्योऽग्निरपरः । तावुभौ सम्बोध्येदमुच्यते । हे अग्नी, युवामुभौ समितं सङ्गतौ भवतम् । सङ्गत्य च सङ्कल्पेथाम् एकसङ्कल्पौ भवतम् । यद्वा सम्यग्यज्ञस्य कल्पनं निष्पादनं कुरुतम् । कीदृशौ युवाम् ? सम्प्रियौ सम्यक् परस्परं प्रीतियुक्तौ । रोचिष्णू दीप्यमानौ । सुमनस्यमानौ परस्परं सौमनस्यं प्राप्तौ, परस्परं शोभनचित्तयुक्तौ । इषमन्नमूर्जं रसं वा अभिसंवसानौ अभितः सम्यक् सम्पादयन्तौ । इषमन्नम् ऊर्जमुपसेचनं घृतदुग्धदध्यादि, अभिसंवसानौ अभ्यवहरन्तौ भुञ्जानौ वा । उपवसतीत्यादौ भौवादिकस्य वसेर्भोजननिषेधे वृत्तिर्दृष्टा । आदादिकस्य तु वसेर्भोजननिवृत्तिमपहाय भोजनरूपेऽर्थान्तरे वृत्तिः । 'रुच् दीप्तावभिप्रीतौ च' इति धातोः 'अलंकृञ्निराकृञ्.....' (पा० सू० ३।२।१३६) इत्यादिना ताच्छील्यादाविष्णुचि प्रथमाद्विवचने रूपम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे रामलक्ष्मणौ बलरामकृष्णौ वा, युवामुभौ समितं सङ्गतौ भवतम् । सङ्कल्पेथां समानसङ्कल्पौ भवतम् । भक्ताभीष्टसिद्धेः सम्यक् कल्पनं निष्पादनं कुरुतम् । कीदृशौ ? सम्प्रियौ परस्परं सुष्ठुप्रीतियुक्तौ, रोचिष्णू दीप्यमानौ, सुमनस्यमानौ सौमनस्यं प्राप्तौ, इषमन्नमूर्जं रसं भक्तैः समर्पितम् अभिसंवसानौ भुञ्जानौ, अभितः सम्यक् सम्पादयन्तौ वा । एवं राधाकृष्णौ सीतारामौ लक्ष्मीविष्णू पार्वतीपरमेश्वरौ वा सम्बोध्य मन्त्रार्थो व्याख्यातव्यः ।

दयानन्दस्तु—'हे विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ, युवां सम्प्रियौ परस्परं सम्यक् प्रीतियुक्तौ रोचिष्णू विषयासक्तिविरहत्वेन देदीप्यमानौ सुमनस्यमानौ सुमनसौ सखायौ विद्वांसाविव आचरन्तौ संवसानौ सम्यक् सुवस्त्रालङ्कारैराच्छन्नौ सन्तौ इषमिच्छां समितम् एकीभावं प्राप्नुतम् । ऊर्जं पराक्रमम् अभिसङ्कल्पेथां समानाभिप्रायेण कल्पेथां समर्थयेताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशसम्बोधने मानाभावात् । चयनकर्मपक्षे तु ब्राह्मणं प्रमाणम् । परमात्मपक्षे—'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठोप० १।२।१५) इति श्रुतिः प्रमाणम् ॥ ५७ ॥

सं वां मनां१ँसि सं व्रता समु चित्तान्याकरम्।
अग्ने पुरीष्याधिपा भव त्वं न इषमूर्जं यजमानाय धेहि ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ—हे दोनों अग्नियो, तुम्हारे मन को मैं सब प्रकार से संगत करता हूं, व्रत को संगत करता हूं, मनोगत संस्कारों को संगत करता हूं। हे पशुसम्बन्धी गृहस्थ के कार्यसाधक अग्निदेव, आप हमारे अधिपति हो। हमारे यजमान के निमित्त अन्न और बल प्रदान करो ॥ ५८ ॥

उपरिष्टाद् बृहती। अष्ट-सप्त-नव-त्रयोदशाक्षरपादत्वात् एकाधिका। हे पूर्वोक्तौ चित्योख्यौ अग्नी, वां युवयोर्मनांसि मनोजन्यान् सङ्कल्पान् सं सर्वतः संगतान् आकरं करोमि। तथा व्रतानि कर्माणि समाकरम्। 'व्रतमिति कर्मनाम' (निघ० २।१।७)। तथा चित्तानि समाकरम्। हे पुरीष्य पांसुयुक्ताग्ने मिलितोभयाग्निस्वरूप! नोऽस्माकमधिपा अधिकं पालयिता भव। तादृशस्त्वं यजमानाय इषमन्नमूर्जं रसं च धेहि देहि। यद्वा—वां युवयोर्मनांसि मनोबुद्ध्यहङ्कारान्। बहुवचनादेवं व्याख्यानम्। समाकरं सङ्गतान् करोमि। करोतेर्लङ्युत्तमैकवचने व्यत्ययेन शपि 'अकरम्' इति रूपम्। तथा सं व्रता व्रतानि कर्माणि समाकरम्। तथा समु चित्तानि मनोगतसंस्कारान् समाकरं सङ्गतान् करोमि। उकारः समुच्चयार्थः। एवं मनःकर्मसंस्कारैरेकीभूतमग्निं प्रार्थये—हे पुरीष्य पशव्य अग्ने, त्वं नोऽस्माकं अधिपा अधिपतिरधिकः पालको भव। इषमन्नं ऊर्जं तदुपसेचनं दध्यादि च यजमानाय धेहि देहि।

अत्र ब्राह्मणम्—'व्याममात्री भवति। व्याममात्रो वै पुरुषः पुरुषः प्रजापतिः प्रजापतिरग्निरात्मसम्मितां तद्योनिं करोति परिमण्डला भवति परिमण्डला हि योनिरथो अयं वै लोको गार्हपत्यः परिमण्डल उ वा अयं लोकः' (श० ७।१।१।३७)। गार्हपत्यचितेः परिमाणं विधत्ते—व्याममात्रीति। तत् प्रशंसति—व्याममात्रो वा इति। व्यायम्यतेऽस्मिन् बाहुद्वयमिति व्युत्पत्त्या व्यायाम इति शब्दो निष्पद्यते। स एवात्र वर्णलोपेन व्याम इत्युच्यते। स च तिर्यक्प्रसारितौ बाहू यावत्परिमाणौ भवतः, तस्य परिमाणविशेषस्य संज्ञा। चतुररत्निर्व्याम इति प्रसिद्धम्। व्याममात्रः पुरुषः पुरुषः प्रजापतिरित्यादि ब्राह्मणं स्पष्टम्। 'अथैनौ सन्निवपति। संज्ञामेवाभ्यामेतत्करोति समित१ँसङ्कल्पेथा१ँ सं वां मनां१ँसि सं व्रताग्ने त्वं पुरीष्यो भवतं नः समनसाविति शमयत्येवैनावेतदहि१ँसायै यथा नान्योन्य१ँ हि१ँस्याताम्' (श० ७।१।१।३८)। गार्हपत्यचितिरूपस्याग्नेरुख्याग्नेश्च चतुर्भिर्मन्त्रैः संसर्जनं विधत्ते—अथैनाविति। अथ गार्हपत्यचयनानन्तरम्, एनौ चित्योख्यरूपावग्नी, सन्निवपति सङ्गमयति। इष्टकाभिश्चिते गार्हपत्यधिष्ण्ये उख्यमग्निं स्थापयतीत्यर्थः। सन्निवपतीति संशब्दसूचितमर्थमाह—संज्ञामेवेति। आभ्यामग्निभ्यां संज्ञामग्निद्वयकर्तृकं संज्ञानम्, अर्थात् परस्परैकमत्यमेतेन सन्निवपनेन करोति। तत्र करणभूतानां चतुर्णां मन्त्राणां प्रतीकग्रहणं करोति—समितमिति। समितमिति प्रथमस्य प्रतीकम्, सं वामिति द्वितीयस्य, अग्ने त्वं पुरीष्य इति तृतीयस्य, भवतं न इति चतुर्थस्य। मन्त्राणां तात्पर्यमाह—शमयत्येवैनाविति। परस्परं विद्विषाणौ एनौ अग्नी एतेन मन्त्रकरणेन निवपनेन शमयत्येव शान्तावेव करोति। तच्च शमनमहिंसायै हिंसापरिहाराय भवति।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्येयम्। हे रामलक्ष्मणौ बलरामकृष्णौ सीतारामौ राधाकृष्णौ पार्वतीपरमेश्वरौ वा, वां युवयोर्मनांसि मनःसङ्कल्पान् सर्वतः सङ्गतान् करोमि। व्रतानि कर्माणि सृष्टिस्थित्यादीनि तदर्थं दैत्यवधादीनि भक्तरक्षणादीनि चैकरूपाणि करोमि। समु चित्तानि समानान् संस्कारान् करोमि। यद्यपि स्वाभाविकमेव तयोः समानमनस्त्वादिकम्, तथापि यथा सदा विजयादिशीलस्यापि भगवतो विजयाद्याशंसा भक्तैः

क्रियते, यथा वा सुखरूपयोरप्युभयोः सुखप्राप्तिराशास्यते, तथैवैकरूपयोरप्येकचित्तत्वादिकमाशास्यते—'यस्य प्रेक्षणमात्रतो जडधियां चैतन्यलाभोऽनिशं सर्वोत्कर्षकलाकलापकलितश्रीविग्रहोद्योतितौ। तौ श्रीनन्दनकन्यका-रघुवरौ नित्यं सुखं प्राप्नुतां कुञ्जागारमनोज्ञकेलिकलया लोकोत्तरश्रीयुतौ ॥' (भुशुण्डिरामायणे, पू० खण्डे १२२ अध्याये) इति। एवं मनःकर्मसंस्कारैरेकोकृतैरेकीभूत हे पुरीष्य सर्वजीवपशुहितकारिन्, नोऽस्माकमधिपा आधिक्येन पालको भव। इषं त्वदुपासनोपयुक्तमन्नमूर्जं रसं घृतदुग्धादिकं च देहि।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रीपुरुषौ, यथाहमाचार्यो वां सम्मनांसि सङ्कल्पविकल्पाद्यन्तःकरणवृत्तिरूपाणि मनांसि संव्रता संव्रतानि सत्यभाषणादीनि संचित्तानि संज्ञप्तानि धर्म्याणि कार्याणि समाकरमेकस्मिन् धर्मे सङ्गतानि समन्तादकरं कुर्याम्, तथैव युवामपि मम प्रियमाचरतम्। हे पुरीष्य अग्ने उपदेशक आचार्य, त्वं नो अधिपा अधिकः पालको भव। यजमानाय धर्मेण सङ्गन्तुं शीलाय इषमन्नादिकमूर्जं शरीरात्मबलं च धेहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, आचार्यस्यान्यस्य वोपदेशकस्यान्नशरीरात्मादिबलधारणे सामर्थ्याभावात् ॥ ५८ ॥

अग्ने॒ त्वं पु॑री॒ष्यो॑ र॒यि॒मान् पु॑ष्टि॒माँ२॥ अ॑सि।
शि॒वाः कृ॒त्वा दिशः॒ सर्वा॒ः स्वं योनि॑मि॒हास॑दः ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेवता, तुम पशुसम्बन्धी, पशुहितकारक, धनवान् और पुष्टिमान् हो। तुम्हारे प्रसाद से हम पुष्टि और ऐश्वर्य प्राप्त करें। तुम सब दिशाओं के लिये कल्याणकारक बनकर यहाँ अपने स्थान में स्थित रहो ॥ ५९ ॥

उख्याग्निदेवत्या उष्णिक्। आर्षी एकाधिका अनियताक्षरपादा। हे अग्ने भगवन्, त्वं पुरीष्यः पुरीषादिभिर्युक्तः पशव्यो वासि। पांसुयुक्तो रयिमान् धनवान् पुष्टिमान् पोषणयुक्तश्चासि। सर्वा दिशः शिवाः शान्ताः कृत्वा इह अस्मिश्चयने स्वं योनिं स्वकीयस्थानमासदः प्राप्नुहि। अत्र ब्राह्मणम्—'चतुर्भिः सन्निवपति। तद्यै चतुष्पादाः पशवस्तैरेवाभ्यामेतत्संज्ञां करोत्यथो अन्नं वै पशवोऽन्नेनैवाभ्यामेतत्संज्ञां करोति' (श० ७।१।१।३९)। चतुर्मन्त्रकरणकमुख्याग्नेर्गार्हपत्यचितिमध्ये निवपनं विधत्ते—चतुर्भिः सन्निवपतीति। सन्निवपति नीचैः स्थापयति। तेन निवपनेन ये चतुष्पादाः पशवो गवाश्वादयस्तैरेवोपायनभूतैराभ्यामुख्यचित्यात्मकाभ्यामग्निभ्यां संज्ञां परस्परमैकमत्यं करोति। कारणान्तरमप्याह—अथो इति। अन्नं वै पशवः, सम्भोजनीयत्वात्। अन्नेन पशुरूपेणैतत्संज्ञां करोति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वं पुरीष्यः पशव्यः सर्वजीवपशुहितकार्यसि। रयिमान् श्रीमानसि ऐश्वर्यमाधुर्याधिष्ठातृश्रिया लक्ष्म्या सम्पन्नोऽसि। पुष्टिमानसि ज्ञानवैराग्यैश्वर्यादिपोषणशक्तिमानसि। सर्वाः प्राच्यादिदिशस्तत्स्थाः प्रजाश्च शिवाः सुखमयीः कृत्वा इह संसारे स्वयोनिमभिव्यक्तिस्थानं विष्णु-शिव-राम-कृष्णादिप्रतिमा अधिष्ठाय आसद आस्व।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, यतस्त्वमिह पुरीष्य ऐकमत्यपालनेषु भवो रयिमान् विद्याविज्ञानधनयुक्तः पुष्टिमान् प्रशस्तशरीरात्मबलसहितोऽसि, तस्मात् सर्वा दिश उपदेष्टव्याः प्रजाः शिवाः कल्याणोपदेशयुक्ताः कृत्वा स्वं स्वकीयं योनिं सुखसाधकं दुःखविच्छेदकमुपदेशमिहास्मिन् संसारे आस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्वाभ्यूहमात्रव्याख्यानात्, पुरीषपदस्य ऐकमत्यार्थे मानाभावात्। रयिमानित्यादिशब्दानामपि गौणार्थाश्रयणं निर्मूलमेव। दिश इत्यस्य प्रजाः, योनिरित्यस्य उपदेश इत्यादिरर्थो मूर्खजनप्रतारणमात्रमेव ॥ ५९ ॥

भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ । मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः ॥ ६० ॥

मन्त्रार्थ—हे दोनों प्रकार की अग्नियों, हमारी कार्यसिद्धि के लिये एकाग्र मन और समान चित्त वाली बनो, हमारे ऊपर क्रोध न करो, यज्ञ को नष्ट मत करो, यज्ञपति को किसी प्रकार का नुकसान न पहुँचाओ। आज हमारे निमित्त आप लोग कल्याणकारक बनो ॥ ६० ॥

इयं कण्डिका पञ्चमेऽध्याये तृतीयकण्डिकास्थले व्याख्यातापि पुनर्व्याख्यायते। आर्षी पङ्क्तिः, अनियताक्षर-पादत्वात्। द्व्यग्निदेवत्या। योऽग्निः पुरातनो गार्हपत्यो यश्चोख्यः, तौ युवां नोऽस्मदर्थं समनसौ मनसा सहितौ सचेतसौ परस्परं समानचित्तौ, अन्यविषयतां मनसोऽपवार्यास्मदनुग्रहाभिमुखत्वं समनस्त्वम्, तस्मिन् अनुग्रहे परस्परविप्रतिपत्तिराहित्यं सचेतस्त्वम्। अरेपसौ अस्मद्विषये पापरहितौ। सत्यपि प्रामादिकेऽपराधे क्रोधराहित्य-मेव पापराहित्यम्। तादृशपापरहितौ भवतम्। 'रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः' (नि० ४।२१) इति रेपःशब्दस्यापि पापार्थता, शब्दसादृश्यात्, अर्थान्तरानवगमाच्च। पापराहित्यमेव स्पष्टयति—'मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टमित्यादिना। अस्मदीयं यज्ञादि कर्म मा हिंसिष्टं मा विनाशं कार्ष्टम्। यज्ञपतिं यजमानं च मा विनाशयतम्। हे जातवेदसौ, युवामद्यास्मिन्ननुष्ठानदिने नोऽस्मदर्थं शिवौ शान्तौ भवतम्।

अध्यात्मपक्षे—हे जातवेदसौ पावकोपमौ रामलक्ष्मणौ सीतारामौ वा, युवां यज्ञं यज्ञपतिं च आराधना-माराधकं च मा हिंसिष्टम्। कीदृशौ युवाम्? समनसौ····इत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ, युवां समनसौ समानविचारौ, सचेतसौ समानसंज्ञानौ, अरेपसौ अनपराधिनौ भवतम्। यज्ञं सङ्गन्तव्यं धर्मं मा हिंसिष्टम्। यज्ञपतिमुपदेशेन धर्मरक्षकं मा हिंसिष्टम्। अद्य नोऽस्माकं जातवेदसौ उत्पन्नाखिलविज्ञानौ शिवौ मङ्गलकारिणौ भवतम्' इति, तदपि फल्गु, तादृशसम्बोधने मूलाभावात्। यज्ञपतिमुपदेशेन धर्मरक्षकमित्यादिकमपि निर्मूलमेव ॥ ६० ॥

मातेव पुत्रं पृथिवी पुरीष्यमग्निꣳ स्वे योनावभारुखा।
तां विश्वैर्देवैर्ऋतुभिः संविदानः प्रजापतिर्विश्वकर्मा विमुञ्चतु ॥ ६१ ॥

मन्त्रार्थ—भूमिरूप मृत्तिका से निर्मित उखा पशुओं के हितकारी अग्नि को अपने गर्भस्थान में उसी प्रकार धारण करती है, जैसे माता अपने पुत्र को अपने गर्भ में धारण करती है। सम्पूर्ण देवता और ऋतुचक्र एक मत से उखा की प्रशंसा करते हैं कि इसने महान् कार्य किया। वृष्टि के निर्माता प्रजापति उस उखा को शिक्य स्थान से मुक्त करें ॥६१॥

'सिकताभिः समम्बिलां कृत्वा मातेव पुत्रमिति शिक्याद्विमुच्याभ्रिवन्निधायासिञ्चति पयो मध्ये तूष्णीम्' (का० श्रौ० १७।१।२२)। रिक्तां शून्यामुखां सिकताभिः प्रपूर्य समम्बिलां सममुखां कृत्वा सिकतापूरितां तां शिक्यात् पृथक्कृत्य मातेवेति मन्त्रेण अभ्रिवत् स्थापितस्योख्यस्याग्नेरुत्तरतोऽरत्निमात्रे गार्हपत्यचितेरुपर्येवोखां निधाय सिकतापूर्णोखाया मध्ये तूष्णीं पयो दुग्धमासिञ्चेदिति सूत्रार्थः। उखादेवत्या त्रिष्टुप्। यथा लोके माता पुत्रं बिभर्ति, तथा पृथिवीरूपेयमुखा उखा स्वे योनौ स्वकीयगर्भस्थाने पुरीष्यं पशव्यमेतमग्निमभा अभार्षीद् धृतवती। भृञो लुङि 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० ७।३।९७) इतीडागमाभावे सिचो विसर्गे तिपि लुप्ते रूपम्। प्रजापतिः कृतकृत्यां कृतकार्यां तामुखां विमुञ्चतु शिक्यपाशाद्विमुक्तां करोतु। कीदृशः प्रजापतिः?

विश्वैर्देवैर्ऋतुभिश्च संविदानः संवित्त इत्यैकमत्यं गतः। अथवा अहो महत्कर्म उखया कृतमिति संवादं कुर्वन्। पुनः कथम्भूतः प्रजापतिः? विश्वकर्मा विश्वं सृष्टिरूपं कर्म यस्यासौ।

अत्र ब्राह्मणम्—'तां न रिक्तामवेक्षेत। नेद् रिक्तामवेक्षा इति यद्रिक्तामवेक्षेत ग्रसेत हैनम्' (श० ७।१।१।४०)। रिक्ताया उखाया अध्वर्युकर्तृकं यजमानकर्तृकं वा अवेक्षणं निषेधति—तां न रिक्तामिति। 'नेदिति परिभये' (नि० १।३।४)। रिक्तामुखां नेदवेक्षेत पश्यतु नैव। विपक्षे बाधकमाह—यद्रिक्तामिति। एनमवेक्षितारं ग्रसेत ह भक्षयेदेव। तर्हि किं कुर्यादित्यपेक्षायामाह—'अथास्याँ सिकता आवपति। अग्नेरेतद्वैश्वानरस्य रेतो यत्सिकता अग्निमेवास्यामेतद्वैश्वानरँ रेतोभूतँ सिञ्चति सा समम्बिला स्यात् तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।१।१।४१)। रिक्ताया उखायाः सिकताभिः समगर्तत्वकरणं विधत्ते—अथास्यामिति। अस्यां रिक्तायामुखायां सिकता आवपति, यावद्बिलं पूरयति। वैश्वानरस्याग्नेरेतद्रेतो यद् याः सिकताः शौक्ल्यसाम्यात्। एतद् एतेन सिकतानिवपनेनास्यामुखायां रेतोभूतं वैश्वानरमग्निं सिञ्चति स्थापयति। सा उखा समम्बिला भवेत्। समं निम्नोन्नतत्वरहितं बिलं मुखं यस्याः सा। अत्र समबिलेति प्राप्ते पूर्वपदस्य मुमागमश्छान्दसः। समम्बिलत्वस्तावकोऽर्थवादः प्रागुक्त इत्याह—तस्येति। स च 'योनिर्वा इयँ रेत इदम्' (श० ६।४।४।१९) इत्यादिना षष्ठे काण्डे प्रतिपादितः।

'अथैनां विमुञ्चति। अप्रदाहाय यद्धि युक्तं न विमुच्यते प्र तद्दह्यत एतद्वा एतद्युक्ता रेतोऽभार्षीदेतमग्निं तमत्राजीजनदथापरं धत्ते योषा वा उखा तस्माद्यदा योषा पूर्वँ रेतः प्रजनयत्यथापरं धत्ते' (श० ७।१।१।४२)। उखायाः शिक्याद्विमोचनं विधत्ते—अथैनामिति। एनां सिकतायुक्तामुखां शिक्याद्विमुञ्चति पृथक्करोति। विमोकप्रयोजनमाह—अप्रदाहायेति। तत्रोपपत्तिमाह—यद्धीति। युक्तम् अश्वादि यद्वाहनं न विमुच्यते तत्प्रदह्यते खलु उक्तमर्थं प्रकृते योजयति—एतद्वा इति। एतद्वै एषा खलूषा युक्ता सती एतमग्निम् उख्यं रेतोऽवस्थापन्नम् अभार्षीद् धृतवती। ततः कृतकार्यत्वाद् विमोकोपपत्तिः। धृतस्याग्नेः प्रजननमाह—तमत्रेति। अत्रावसरे तमुख्याग्निमजीजनत् प्रासोष्ट, उखेति शेषः। प्रजननानन्तरं रेतोधारणद्वारोखायाः स्त्रीसाधर्म्यं प्रतिपादयति—अथापरमिति। अपरं सिकतात्मकं रेतो धत्ते धारयति। योषा वा उखेति। स्पष्टमन्यत्। 'मातेव पुत्रं पृथिवी पुरीष्यमिति। मातेव पुत्रं पृथिवी पशव्यमित्येतदग्निँ स्वे योनावभारुखेत्यग्निँ स्वे योनावभार्षीदुखेत्येतत्तां विश्वैर्देवैर्ऋतुभिः संविदानः प्रजापतिर्विश्वकर्मा विमुञ्चत्वित्यृतवो वै विश्वे देवास्तदेनां विश्वैर्देवैर्ऋतुभिः संविदानः प्रजापतिर्विश्वकर्मा विमुञ्चति तामुत्तरतोऽग्नेर्निदधात्यरत्निमात्रे तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।१।१।४३)। विहिते उखाविमोके मन्त्रमनूद्य व्याचष्टे—मातेव पुत्रमिति। पुरीष्यपदस्य पशव्यत्वमर्थः। अभा इति भृञः प्रथमपुरुषैकवचने व्यत्ययेन लुङि रूपमित्याह—अभार्षीदिति। अभारुखा इत्युखाशब्दसामानाधिकरण्यात्। मन्त्रस्यायमर्थः—येयमुखा माता पुत्रमिव पृथिवी भूमिरूपा मृण्मयीत्वात्। पुरीष्यं पशव्यं पशुभ्यो हितमिति यावत्। तादृशमग्निं स्वे योनौ स्वकीये गर्भस्थाने, अभा अभार्षीद् धारितवती। विश्वकर्मा सर्वस्य कर्ता प्रजापतिः, ऋतुभिर्यज्ञं प्रति गच्छद्भिर्विश्वैः सर्वैर्देवैः संविदानः, अहो महत्कर्म कृतमित्येवं संवादं कुर्वन् इदानीं कृतकृत्यां सतीं तामुखां विमुञ्चतु शिक्याद्विमुञ्चति, पृथक्कुरुत इत्यर्थः। स्पष्टमन्यत्।

'अथास्यां पय आनयति। एतद्वा एतद्रेतो धत्तेऽथ पयो धत्ते योषा वा उखा तस्माद्यदा योषा रेतो धत्तेऽथ पयो धत्तेऽधराः सिकता भवन्त्युत्तरं पयोऽधरँ हि रेत उत्तरं पयस्तन्मध्य आनयति यथा तत्प्रति पुरुषशीर्षमुपदध्यात्' (श० ७।१।१।४४)। सिकतापूर्णाया उखाया मध्ये तूष्णीं पयस आसेचनं विधत्ते—अथास्यामिति। पयआसेके कारणमुपपादयति—एतद्वा इति। एतत्खलु कारणम्—एतत्सिकतालक्षणं रेत उखां धत्ते धारयति, अथ तदनन्तरमिदमानीतं पयो धत्ते। लौकिकदृष्टान्तेन तत्स्पष्टयति—योषा वा इति। सिकता-

पयसोरधरोत्तरभावमनूद्य स्तौति—अधराः सिकता इति। अधरं हि रेत इति गर्भाशयेऽधोभागे स्थितं पुरुषस्य रेतः स्त्रीवीर्यं शोणितरूपं पय उत्तरम् उपर्यवस्थितं सत् तत् पुंवीर्यं वेष्टयति। अत एव षाट्कौशिकस्य शरीरस्य त्वङ्मांसासृगाख्या बाह्यास्त्रयो धातवो मातृतो भवन्तीति स्मर्यते। तस्मात् सिकतापयसोर्बाह्यान्तरभावो गर्भोत्पत्तये सम्पद्यत इत्यर्थः। आनयनस्थानं विधत्ते—तन्मध्य इति। पय उखाया मध्ये आनयति आसिञ्चति। यथा तत्पयःप्रत्युपधानसमये पुरुषशीर्षमुपदध्यात् तथेत्यर्थः।

'प्रजापतिः प्रजा असृजत। स प्रजाः सृष्ट्वा सर्वमाजिमित्वा व्यस्र७ँ सत तस्माद्विस्रस्तात् प्राणो मध्यत उदक्रामदथास्माद्वीर्यमुदक्रामत् तस्मिन्नुत्क्रान्तेऽपद्यत तस्मात् पन्नादन्नमस्रवद्यच्चक्षुरध्यशेत तस्मादस्यान्नमस्रवन्नो हेह तर्हि काचन प्रतिष्ठाऽऽस' (श० ७।१।२।१)। उख्यरूपेण संस्कृतस्य गार्हपत्याग्नेर्विराड्रूपप्रजापत्यात्मकतां वक्ष्यन्नस्य प्रजापतेः संस्कृतिं वक्तुकामस्तच्छरीरविश्लेषं प्रतिपादयति—प्रजापतिरित्यादिना। प्रजापतिर्देव-मनुष्यादिरूपा बह्वीः प्रजाः सृष्ट्वा सर्वमाजिं गन्तव्यं स्थानमित्वा व्याप्य श्रान्तः सन् व्यस्रंसत विस्रस्ताव-यवोऽभवत्। तस्माद्विस्रस्तात् प्रजापतिशरीराद् मध्यतः प्राणः प्राणापानादिपञ्चवृत्त्यात्मकः, उदक्रामद् उत्क्रान्तोऽभवत्। अथ अनन्तरमेव तस्य प्रजापतेर्वीर्यं शुक्रमुदक्रामत्। तस्मिन् निर्गते सति स भूमौ अपद्यत पतितोऽभवत्। तस्मात् पन्नात् पतितात् प्रजापतिशरीराद् अन्तरवस्थितमन्नम् अस्रवत् स्रुतमभवत्। यत् चक्षुरध्यशेत चक्षुषो मध्ये ज्योतिरवस्थितमभवदित्यर्थः, तस्माज्ज्योतिषोऽस्य प्रजापतेरन्नं स्रुतमभवत्। तर्हि तथा सति नैव खलु काचित् प्रतिष्ठा आस। तस्य प्रजापतिशरीरस्य विस्रस्तत्वात् किञ्चिदपि प्रतिष्ठापदं न बभूवेत्यर्थः। 'ते देवा अब्रुवन्। न वा इतोऽन्या प्रतिष्ठास्तीममेव पितरं प्रजापति७ँ संस्करवाम सैव नः प्रतिष्ठा भविष्यतीति' (श० ७।१।२।२)। अनन्तरं देवैः कृतमस्य संस्कारं वक्तुमाह—ते देवा इति। स्पष्टार्था कण्डिका। 'तेऽग्निमब्रुवन्। न वा इतोऽन्या प्रतिष्ठास्ति त्वयीयं पितरं प्रजापति७ँ संस्करवाम सैव नः प्रतिष्ठा भविष्यतीति किं मे ततो भविष्यतीति' (श० ७।१।२।३)। अथ देवास्तत्संस्कारार्थमग्निं प्रार्थितवन्तः। संस्काराद् मम किं प्रयोजनं भविष्यतीत्यग्नेः प्रश्न इति कण्डिकार्थः। 'तेऽब्रुवन्। अन्नं वा अयं प्रजापतिस्त्वन्मुखा एतदन्नमदाम त्वन्मुखानां न एषोऽन्नमसदिति तथेति तस्माद्देवा अग्निमुखा अन्नमदन्ति यस्यै हि कस्यै च देवतायै जुह्वत्यग्नावेव जुह्वत्यग्निमुखा हि तद्देवा अन्नमकुर्वत' (श० ७।१।२।४)। देवानामग्निमुखत्वं वरेण अग्निरङ्गी-कृतवानिति कण्डिकासंक्षेपार्थः। तथा च यथा प्रतिष्ठारूपस्य प्रजापतेः संस्कारस्तथैव चित्याग्नेरपि संस्कारः। तदर्थमेव समिधामहरहरभ्यादानम्, रुक्मप्रतिमोचनोखासम्भरणादीनां संवत्सरकालव्याप्त्यादिकमुक्तम्।

अध्यात्मपक्षे—माता पुत्रमिव उखा बुद्धिः पुरीष्यमग्निं स्वे योनौ गर्भाशये अभा अभार्षीत्। तां विश्व-कर्मा प्रजापतिर्ऋतुभिर्गमनशीलैर्विश्वैः सर्वैर्देवैः संविदानः, अहो महत्कर्म कृतमनयेति संवादं कुर्वन् विमुञ्चतु मुक्तां करोतु। बुद्धिरेव बद्ध्यते, बुद्धिरेव मुच्यते, पुरुषस्य नित्यासङ्गचिद्रूपत्वादिति सांख्याः। वेदान्तिनां रीत्या तु साभासा बुद्धिरेव बन्धमोक्षभागिनी।

दयानन्दस्तु—'पृथिवी भूमिवद् वर्तमाना या उखा स्त्री स्वे योनौ गर्भाशये पुरीष्यं पुष्टिकरेषु गुणेषु भवम् अग्निं विद्युतमिव सुप्रकाशं पुत्रं मातेव अभा धरति, तां संविदानो सम्यगाज्ञापयन् विश्वकर्मा अखिलोत्तमक्रियः प्रजापतिः परमेश्वरो विश्वैः सर्वैर्देवैर्दिव्यैर्गुणैर्ऋतुभिर्वसन्ताद्यैः सह सततं दुःखाद्विमुञ्चतु पृथग् रक्षतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पुरीष्यमग्निं पुष्टिगुणेषु भवं विद्युतमिव सुप्रकाशमिति गौणार्थाश्रयणस्यैव दोषत्वात्। मातेव पुत्रमिति प्रत्यक्षसम्बन्धमपहाय पुत्रमित्यस्याग्निविशेष्यत्वकल्पनमसङ्गतमेव। यदि सा योनौ गर्भाशये पुत्रं बिभर्ति, तदा मातेवेति दृष्टान्तोपादानमेवापार्थकं स्यात्॥ ६१॥

असुन्वन्तमयजमानमिच्छ स्तेनस्येत्यामन्विहि तस्करस्य ।
अन्यमस्मदिच्छ सा त इत्या नमो देवि निर्ऋते तुभ्यमस्तु ॥ ६२ ॥

मन्त्रार्थ—हे नैर्ऋते, अलक्ष्मी की देवता ! तुम सोम याग न करने वाले, हवि आदि से किसी प्रकार का वैदिक कर्म न करने वाले पुरुषों के पास छिपकर चोर की तरह चली जाओ । हमसे अन्य पुरुष की इच्छा कर उन्हीं के पास रहो, लौटकर यहाँ मत आओ । हे देवि, मैं तुमको नमस्कार करता हूँ ॥ ६२ ॥

'नैर्ऋतीः कृष्णास्तुषपक्वास्तिस्रोऽलक्षणाः पादमात्रीर्हविष्यासन्नहोमवद्देशे दक्षिणोत्तराः कृत्वा दक्षिणामुखोऽनुपस्पृशन्नसुन्वन्तमिति प्रत्यृचं पराचीः' (का० श्रौ० १७।१।२४) । ततोऽध्वर्युर्नैर्ऋत्यां दिशि गत्वा राजसूये हविष्यासन्नहोमे यादृशो देशो विहितः—'स्वयं प्रदीर्णे ईरिणे वाग्नौ जुहोति' (का० श्रौ० १५।१।१०), तादृशे स्वयंप्रदीर्णे ईरिणे वा असुन्वन्तमिति त्रिभिर्मन्त्रैर्निर्ऋतिदेवत्याः पाकेन कृष्णवर्णास्तुषैरेव पक्वा लक्षणहीनाः पादमात्रीस्तिस्र इष्टकाः पराचीरनात्ममुखीः स्वयं दक्षिणामुखः पूर्वमुत्तरां ततो दक्षिणे द्वे निधाय हस्तेन अनुपस्पृशन् उपदध्यादिति सूत्रार्थः । इत आरभ्य तिस्रः कण्डिका निर्ऋतिदेवत्यास्त्रिष्टुभः । हे निर्ऋते देवि, असुन्वन्तं यः सोमयागं न करोति तमयजमानं यश्च हविर्यज्ञान्न करोति तं तादृशमिच्छ, ग्रहीतुमिति शेषः । स्तेनस्य प्रच्छन्नचौरस्य तस्करस्य प्रकटचौरस्य च इत्यां गतिमन्विहि अनुगच्छ । पृष्ठतो गत्वा तावपि गृहाणेत्यभिप्रायः । सर्वथा सोमं सुन्वद्भ्यो हविर्यज्ञैश्च यजद्भ्योऽस्मदन्यमिच्छ, न त्वस्मानित्यभिप्रायः । सा ते तव इत्या गतिर्दुष्टशिक्षार्थमेव । अतस्तुभ्यं नमोऽस्तु ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथातो नैर्ऋतीर्हरन्ति । एतद्वै देवा गार्हपत्यं चित्वा समारोहन्नयं वै लोको गार्हपत्य इममेव तल्लोकꣳ संस्कृत्य समारोहꣳस्ते तम एवानतिदृश्यमपश्यन्' (श० ७।२।१।१) । आख्यायिकया प्रयोजनप्रतिपादनपुरःसरं नैर्ऋतीनामिष्टकानामुपधानं विधित्सुस्तासां हरणं संग्रहेण प्रतिजानीते—अथात इति । अथ गार्हपत्यचयनानन्तरमतोऽस्मात् स्थानान्निर्ऋतिदेवताका इष्टका हरन्ति । एतद् एतस्मिन् खलु गार्हपत्यचयनानन्तरकाले देवाः समारोहन् चयनेन संस्कृतं भूलोकमारूढाः । तेऽनतिदृश्यं दृश्यमतिक्रम्य द्रष्टुमशक्यं सर्ववस्त्वाच्छादकं पापरूपं तम एव सर्वत्रापश्यन् । 'तेऽब्रुवन् । उप तज्जानीत यथेदं तमः पाप्मानमपहनामहा इति तेऽब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथेदं तमः पाप्मानमपहनामहा इति' (श० ७।२।१।२) उप तज्जानीतेति । उपेत्य तमोऽपहन्तुमुपायं विचारयतेत्यर्थः । तदिच्छतेति । तच्चयनमिच्छत यथा येन चयनेनेदं तमोरूपं पापं नाशयेमेत्यर्थः । 'ते चेतयमानाः । एता इष्टका अपश्यन् नैर्ऋतीस्ता उपादधत ताभिस्तत्तमः पाप्मानमपाघ्नत पाप्मा वै निर्ऋतिस्तद्यदेताभिः पाप्मानं निर्ऋतिमपाघ्नत तस्मादेता नैर्ऋत्यः' (श० ७।२।१।३) । चेतयमाना इति चितिमिच्छन्त इत्यर्थः । पाप्मा वै निर्ऋतिरिति । दक्षिणापरदिगधिदेवता सा पाप्मा वै पापरूपैव । एतत्तादात्म्यमुपजीव्य पापापहतिहेतुभूतानामिष्टकानां नैर्ऋत्य इति नाम निर्वृत्तम् । शेषं स्पष्टम् । 'तद्वा एतत्क्रियते । यद्देवा अकुर्वन्निदं नु तत्तमः स पाप्मा देवैरेवापहतो यत्त्वेतत् करोति यद्देवा अकुर्वंस्तत्करवाणीत्यथो य एव पाप्मा या निर्ऋतिस्तमेताभिरपहते तद्यदेताभिः पाप्मानं निर्ऋतिमपहते तस्मादेता नैर्ऋत्यः' (श० ७।२।३।४) । इत्थमाख्यायिकया नैर्ऋतीनामुपधानस्य पापरूपतमोनिवृत्त्यर्थतां प्रतिपाद्य इदानीन्तनानुष्ठानस्यापि तदर्थतामाह—तद्वा एतत्क्रियत इति । तत् खलु एतद् इदानीं यजमानेन क्रियते यद् देवाः पुरा अकुर्वन् । यथा देवैरपहतो नाशितस्तमोरूपः स पाप्मा इदानीमप्यनुष्ठानेन निवर्तते । यत्त्वेतदिति । यत् खलु एतद् यजमानोऽनुतिष्ठति, देवैर्यत्कृतं तदहमपि करवाणीत्यनेनाभिप्रायेण

तदनुष्ठीयत इत्यर्थः । न केवलमनुकरणमात्रं तथाविधफलसाधनमपीत्याह—अथो इति । उक्तमर्थमनूद्य नैर्ऋतीनामिष्टकानां तमोऽपहन्तृत्वद्वारा नाम निर्ब्रूते—तद्यदेताभिरिति ।

'यद्वेवैता नैर्ऋतीर्हरन्ति । प्रजापतिं विस्रस्तं यत्र देवाः समस्कुर्वंस्तमुखायां योनौ रेतोभूतमसिञ्चन् योनिर्वा उखा तस्मा एताᳬं संवत्सरे प्रतिष्ठाᳬं समस्कुर्वन्निममेव लोकमयं वै लोको गार्हपत्यस्तस्मिन्नेनं प्राजनयंस्तस्य यः पाप्मा यः श्लेष्मा यदुल्बं यज्जरायु तदस्यैताभिरपाघ्नंस्तद्यदस्यैताभिः पाप्मानं निर्ऋतिमपाघ्नंस्तस्मादेता नैर्ऋत्यः' (श० ७।२।१।५) । प्रयोजनान्तरं वक्तुं नैर्ऋतीनां हरणमनुवदति—यद्वेवैता इति । 'यत् उ एव' यस्मादेव प्रयोजनान्तराद् एता नैर्ऋतीरिष्टका हरन्ति, तदुच्यत इति शेषः । आख्यायिकया तत्प्रतिपादयति—प्रजापतिमिति । यदा खलु देवा विस्रस्तं विश्लिष्टावयवं प्रजापतिं समस्कुर्वन् पुनरजनयन्, तदा तं प्रजापतिमुखालक्षणायां योनौ उखयाग्निरूपेण रेतोभूतमसिञ्चन् । योनिर्वा उखेति । उखयाग्नेस्तत उत्पत्तेः । तस्मा एतामिति । तस्मै प्रजापतये संवत्सरे उखयाग्निभरणेन नीते सत्येतां प्रतिष्ठां प्रतितिष्ठत्यनेनेति प्रतिष्ठा भूलोकात्मकं पादद्वयमजनयन्नित्यर्थः । ननु संवत्सरेऽतिक्रान्ते गार्हपत्य एव चीयते, न भूलोकस्योत्पत्तिरित्याशङ्क्य तयोस्तादात्म्यमाह—अयं वै लोक इति । तस्मिन्नेनमिति । तस्मिन् भूलोकात्मके गार्हपत्ये एनं प्रतिष्ठारूपं प्रजापत्यवयवं प्राजनयन् उदपादयन् । तस्य प्रजायमानस्य यः पाप्मा शरीरे लिप्तः, यः श्लेष्मा, यच्च उल्बम् आन्तरं गर्भवेष्टनम्, तत्सर्वं पाप्मरूपम् । अस्य प्रजापतेरेताभिरिष्टकाभिरपाघ्नन् अपहतवन्तः, तेनापि नैर्ऋत्य इति नाम सम्पन्नम् । 'तथैवैतद्यजमानः । आत्मानमुखायां योनौ रेतोभूतᳬं सिञ्चति योनिर्वा उखा·······' (श०७।२।१।६) । इतिहाससिद्धमर्थं दृष्टान्तीकृत्य दार्ष्टान्तिके योजयति—तथैवैतदिति । यथा प्रजापतिमुदीरितरीत्या देवाः समस्कुर्वन्, तथैवेदानीं यजमानोऽपि प्रजापतिरूपमात्मानमुखायां योनौ रेतोभूतं सिञ्चतीत्यादि पूर्ववद्योज्यम् ।

'पादमात्र्यो भवन्ति । अधस्पदमेव तत्पाप्मानं निर्ऋतिं कुरुतेऽलक्षणा भवन्ति यद्वै नास्ति तदलक्षणमसन्तमेव तत्पाप्मानं निर्ऋतिं कुरुते तुषपक्वा भवन्ति नैर्ऋता वै तुषा नैर्ऋतैरेव तन्नैर्ऋतं कर्म करोति कृष्णा भवन्ति कृष्णᳬं हि तत्तम आसीदथो कृष्णा वै निर्ऋतिः' (श० ७।२।१।७) । इत्थं पापरूपस्य तमसो गर्भसम्बन्धिश्लेष्मोल्बादिरूपस्य च पाप्मनो निर्हरणहेतुत्वेन नैर्ऋतीरिष्टकाः प्रशस्य तासां लक्षणमाह—पादमात्र्य इति । विंशत्यधिकशताङ्गुलिपरिमितः पुरुषः, तस्य दशमोंऽशः पादः, स प्रमाणं यासां ताः पादमात्र्यः । तदुक्तं कात्यायनेन—'पञ्चारत्निर्दशवितस्तिर्विंशतिशताङ्गुलः पुरुषो द्वादशाङ्गुलं पदम्' (का० शु० ८२) । तत्परिमाणं प्रशंसति—अधस्पदमिति । एतदेतेन नैर्ऋतीनां पादमात्रपरिमाणकरणेनाधस्पदं पादस्याधस्तादेव निर्ऋतिरूपं पाप्मानं कृतवान् भवतीत्यर्थः । एतेन पादमात्र्य इत्यत्र पादशब्दोऽङ्घ्रिपर्यायः, न तु चतुर्थांशवाचक इति व्याख्यातं भवति । अलक्षणा भवन्ति, त्र्यालिखितादिकं लक्षणम्, तद्रहिता भवेयुरित्यर्थः । तदुपपादयति—यद्वै नास्तीति । यत्खल्वभावप्रतियोगि तद् निःस्वरूपत्वादलक्षणं व्यावर्तकचिह्नरहितम्, अतोऽत्रालक्षणकरणेन निर्ऋतिं पाप्मानमसन्तं करोति, अभावप्रतियोगिनमेव करोति । ननु पाके सतीष्टकान्तरलक्षणवत्त्वमासामवर्जनीयमित्याशङ्क्य तासां पाकप्रकारमाह—तुषपक्वा भवन्तीति । तत्प्रशंसति—नैर्ऋता वा इति । दर्शपूर्णमासप्रकरणे—'अथ तुषान् प्रहन्त्यपहतᳬं रक्ष इति' (श० १।१।४।२१) इति रक्षःसम्बन्धस्याम्नातत्वात् तुषाणां नैर्ऋतत्वम् । तासां कार्ष्ण्यं विधत्ते—कृष्णा भवन्तीति । तत्र कारणमाह—कृष्णं हीति । अपहन्तव्यस्य तमसः कृष्णवर्णत्वात् तदभिमानिन्या निर्ऋतिदेवतायाश्च तादृग्वर्णत्वात् ताः कृष्णा भवन्तीत्यर्थः ।

'ताभिरेतां दिशं यन्ति । एषा वै नैर्ऋती दिङ् नैर्ऋत्यामेव तद्दिशि निर्ऋतिं दधाति स यत्र स्वकृतं वेरिणᳬं श्वभ्रप्रदरो वा स्यात्तदेना उपदध्याद्यत्र वा अस्या अवदीर्यते यत्र वास्या ओषधयो न जायन्ते निर्ऋतिर्ह्यस्यै तद् गृह्णाति नैर्ऋत एव तद् भूमेर्निर्ऋतिं दधाति ताः पराचीर्लोकभाजः कृत्वोपदधाति' (श० ७।२।१।८) ।

तासामुपधानार्थं दिग्विशेषमभिनयेन दर्शयति—ताभिरेतामिति। ताभिरिष्टकाभिः सह एतां दक्षिणां दिशं यन्ति गच्छेयुः। एषा खलु नैर्ऋती निर्ऋतिदेवताधिष्ठिता दिक्। तथा सति स्वकीयदिश्येव एतां निर्ऋतिं दधाति। तत्रापि देशविशेषमाह—स यत्रेति। स अध्वर्युः, नैर्ऋत्यां दिशि यत्र यस्मिन् स्थाने स्वकृतं स्वयमेव सञ्जातम् इरिणं निस्तृणम् ऊषरस्थानं वा भवति, श्वभ्रप्रदरो वा श्वभ्राकारेण प्रदीर्णः प्रदेशो वा भवेत्, तत् तस्मिन् स्थाने एना नैर्ऋतीरुपदध्यात्। तादृकस्थानस्य निर्ऋतिदेवताधिष्ठितत्वमाह—यत्र वा इति। यत्र खल्वस्याः पृथिव्याः सम्बन्धिनि स्थाने आत्मा अवदीर्यते भिद्यते, यत्र वा ओषधयो न जायन्ते, तदेतत् स्थानद्वयं निर्ऋतिगृहीतम्। तथा च निर्ऋतिसम्बद्धे स्थाने एव नैर्ऋतीनामुपधानेन निर्ऋतिं स्थापितवान् भवति। धर्मविशेषं विधत्ते—ताः पराचीरिति। पराञ्चनाः स्वस्वानभिमुखा यथा भवन्ति, तथा लोकभाजः कृत्वा ता इष्टका उपदध्यात्।

'असुन्वन्तमयजमानमिच्छेति। यो वै न सुनोति न यजते तं निर्ऋतिर्ऋच्छति स्तेनस्येत्यामन्विहि तस्करस्येति स्तेनस्य चेत्यामन्विहि तस्करस्य चेत्येतदथो यथा स्तेनस्तस्करः प्रलायमेत्येवं प्रलायमिहीत्यन्य-मस्मदिच्छ सा त इत्येत्यनित्थंविद्वाᳪ᳭समिच्छेत्येतन्नमो देवि निर्ऋते तुभ्यमस्त्विति नमस्कारेणैवैनामपहते' (श० ७।२।१।९)। तिसृणामिष्टकानां त्रयो मन्त्राः, तान् क्रमेण प्रदर्शयन् व्याचष्टे—असुन्वन्तमिति। यो वै न सुनोतीति। यः पुरुषः सोमाभिषवं न करोति, यश्च दर्शपूर्णमासादिभिर्हविर्यज्ञैर्न यजते, तं निर्ऋतिः पापदेवता ऋच्छति प्राप्नोति। तस्मान्निर्ऋतिं सम्बोध्य 'असुन्वन्तमयजमानमिच्छ' इति मन्त्रपाठो युक्त इत्यर्थः। स्तेनस्य चेत्यामिति। प्रच्छन्नचोरः स्तेनः, प्रत्यक्षं परेषां धनमपहरति यः स तस्करः। अनयोः परस्परविलक्षण-त्वादविद्यमानमपि 'च'शब्दमध्याहृत्य योजयति। स्तेनस्य तस्करस्य च या इत्या गतिः, तां गतिं हे निर्ऋते, त्वमन्विहि। 'इण् गतौ' इत्यस्माद् भावे क्यप्। 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (पा० सू० ६।१।७१) इति तुकि साधुः। एतदेव विवृणोति—अथो इति। अपि च यथा स्तेनस्तस्करश्च प्रलायं प्रलीय प्रलीय अदृश्यो भूत्वा एति गच्छति, एवं हे निर्ऋते, त्वमपि प्रलायमदर्शनमिहि गच्छेति मन्त्रभागस्याभिप्रायः। प्रलायमिति 'आभीक्ष्ण्ये णमुल् च' (पा० सू० ३।४।२२) इति सूत्रेण 'लीङ् श्लेषणे' इत्यस्य णमुलन्तम्। अनित्थंविद्वांस-मिति। इत्थमनेन प्रकारेण उक्तमर्थं यो न वेत्ति सोऽनित्थंविद्वानत्रान्यशब्देन विवक्षित इत्यर्थः। हे निर्ऋते, अस्मत्तोऽन्यं त्वत्स्वरूपानभिज्ञम् इच्छ। सा तादृशी अविद्वद्विषयैव खलु ते तव इत्या गतिरिति मन्त्रभागस्यार्थः। नमो देवि निर्ऋते इत्यन्तिमपादे नमस्कारप्रतिपादनात् तेनैव नमस्कारेणैनां निर्ऋति-मपहतेऽपबाधते, अपसारयतीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे निर्ऋते मृत्यो, त्वमसुन्वन्तमयजमानमिच्छ, तयोरमृतत्वप्राप्तिपथप्रवृत्तत्वात्। स्तेनस्य तस्करस्य च इत्यां गतिमन्विहि, पृष्ठतो गत्वा तानपि गृहाणेत्यर्थः। अस्मत्तोऽन्यमिच्छतु सा ते इत्या गतिः। सुन्वतामस्माकं यष्टॄणां स्वधर्मानुष्ठानजनितजिज्ञासातत्त्वज्ञानैरेव मृत्योरतितरणसम्भवात्। हे निर्ऋते देवि, तस्यै तुभ्यं नमः।

दयानन्दस्तु—'हे निर्ऋते देवि, सदाचारेण पृथिवीतुल्ये त्वमस्मद् अस्मत्तः स्तेनस्य अप्रसिद्धचोरस्य तस्करस्य प्रसिद्धचोरस्य सम्बन्धिनं विहायान्यमिच्छ। असुन्वन्तमभिषवादिक्रियारहितमयजमानमदातारं मेच्छ। यामित्याम् एतुमर्हां क्रियाम्, अन्विहि अनुगच्छ सेत्या तेऽस्तु। नमश्च तस्यै तुभ्यमस्तु' इति, तदपि बालभाषितम्, मुख्यार्थत्यागाद् गौणार्थग्रहणाच्च। हे पृथिवीतुल्ये विदुषि स्त्रि, त्वं स्तेनस्य तस्करस्य सम्बन्धिनमस्मत्तोऽन्य-मिच्छेति क उपदिशति ? पतिरन्यो वा ? यदि पतिस्तर्हि किमत्र नियोगो विवक्षितः ? यद्यङ्गीकरोषि, तर्हि धन्योऽसि ! श्लाघनीयस्ते संन्यासिवेषस्य नियोगः। असुन्वन्तमयजमानं मेच्छेति व्याख्यानं स्वाच्छन्द्यम् (निरङ्कुशत्वम्) एव ते द्योतयति, मूलेऽन्वेषणेऽपि तदनुपलम्भात्॥ ६२॥

नमः सु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयं विचृता बन्धमेतम् ।
यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे नाके अधिरोहयैनम् ॥ ६३ ॥

मन्त्रार्थ—हे तीक्ष्ण तेजवाली घोर क्रूर स्वभाव वाली निर्ऋति देवता, तुम्हारे निमित्त निरन्तर नमस्कार है। लोह पाश के समान दृढ़ इस जन्ममरण रूप अज्ञान का छेदन करो। अग्नि और पृथ्वी के साथ एक मत होकर इस यजमान को उत्कृष्ट स्वर्गलोक में स्थापित करो ॥ ६३ ॥

हे निर्ऋते, दक्षिण-पश्चिम-मध्यगताऽवान्तरदिगभिमानिनि देवते, नियता ऋतिर्घृणा यस्यां सा निर्ऋतिः। 'ऋतिर्गतौ घृणायां च स्पर्धायां च शुभेऽपि च' इति रभसात्, 'स्यादलक्ष्मीस्तु निर्ऋतिः' (अ० को० १।९।२) इत्यभिधानात्, 'निर्ऋतिः स्यादलक्ष्म्यां स्त्री दिशां पालान्तरे पुमान्' (मे० ६।२।११७) इति मेदिनीकोषात्, 'निर्ऋतिर्निरुपद्रवे। अलक्ष्म्यां दिक्पतौ चापि' (अनेकार्थसंग्रहे, त्रिस्वरतान्ते २८८ श्लोकः) इति हैमवचनाच्च। अथवा निर्ऋतिः कृच्छ्रापत्तिः, भूमिर्वा। हे तिग्मतेजः, तिग्मं तीक्ष्णं दुःसहं तेजो यस्याः सा तिग्मतेजास्तत्सम्बुद्धौ। ते तुभ्यं सु सुष्ठु शोभनं यथा स्यात्तथा नमोऽस्तु। अयस्मयम् अयोनिर्मितशृङ्खलावद् दृढम् एतमस्मदीयं बन्धं जन्ममृतिरूपमज्ञानं स्वर्गप्राप्तिप्रतिबन्धकमिमं पाप्मानं वा विचृत विच्छिन्धि, विनाशयेत्यर्थः। 'चृती हिंसाग्रन्थनयोः' तौदादिकः। 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति मन्त्रे संहितायां दीर्घः। ततस्त्वं यमेनाग्निना यम्या पृथिव्या च संविदाना ऐकमत्यं गता सती, एनं यजमानम् उत्तमे उत्कृष्टे नाके सर्वसुखोपेते दुःखमात्ररहिते स्वर्गे, अधिरोहय स्थापय। अजस्य जीवभावलक्षणो जनित्वा म्रियते मृत्वा जायते, एतादृशो बन्ध एव लौहशृङ्खलावद् दृढः।

अत्र ब्राह्मणम्—'नमः सु ते निर्ऋते तिग्मतेज इति। तिग्मतेजा वै निर्ऋतिस्तस्या एतन्नमस्करोत्ययस्मयं विचृता बन्धमेतमित्ययस्मयेन ह वै तं बन्धेन निर्ऋतिर्बध्नाति यमेन त्वं यम्या संविदानेत्यग्निर्वै यम इयं यम्याभ्याᳪ हीदᳪ सर्वं यतमाभ्यां त्वᳪ संविदानेत्येतदुत्तमे नाके अधिरोहयैनमिति स्वर्गो वै लोको नाकः स्वर्गे लोके यजमानमधिरोहयेत्येतत्' (श० ७।२।१।१०)। तिग्मतेज इति विशेषणस्य प्रसिद्धिमाह— तिग्म जा वा इति। द्वितीयपादमनूद्य व्याचष्टे—अयस्मयमिति। अयसा लौहेन निर्मितो बन्धोऽयस्मयः। 'मयड् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः' (पा० सू० ४।३।१४३) इति विकारार्थे मयट्। तादृशेन बन्धेन निर्ऋतिः बध्नाति यं बन्धनीयं मन्यते। तस्माद् निर्ऋते, अयस्मयमेतं बन्धं विचृत विमुञ्चेति प्रार्थना युक्ता। यमयमीशब्दयोर्विवक्षितमर्थमाह—अग्निर्वै यम इति। अन्तःप्रविष्टेन सता कृत्स्नजगन्नियमना-दग्निर्यमः, तदधिष्ठितत्वादियं पृथिव्येव यमी। इयमपि हि आश्रितं सर्वं जगन्नियच्छति। तथा आभ्यां यमेनाग्निना यम्या पृथिव्या च संविदाना सञ्जानाना त्वमिति तृतीयभागस्यार्थः। चतुर्थं पादमनूद्य व्याचष्टे— उत्तमे नाक इति। कं सुखं न कम् अकं दुःखं तदस्मिन्नास्तीति नाकः स्वर्गाख्यो लोकः। उक्तं हि—'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ॥' इति।

अध्यात्मपक्षे हे निर्ऋते, भूमिकालोपलक्षिते चिद्रूपे भगवति महेश्वरि, ते तुभ्यं सु शोभनो नमस्कारोऽस्तु। हे तिग्मतेजः, तिग्मानि दुष्प्रेक्ष्याणि तेजांसि यस्याः सा तिग्मतेजास्तत्सम्बुद्धौ। एतं जननमरणाविच्छेदलक्षणं बन्धं विचृत विच्छिन्धि, तत्त्वज्ञानप्रदानेनेति शेषः। यमेन नियामकेन धर्मराजेन यम्या पृथिव्या संविदाना ऐकमत्यमुपगता एनमुपासकं त्वत्स्वरूपाभिज्ञं वा उत्तमे उत्कृष्टे नाके दुःखलेशेनापि रहिते मोक्षलक्षणे स्वर्गे, अधिरोहय स्थापय, अनात्मतादात्म्यनिराकरणेन स्वरूपावस्थितं सम्पादयेत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे निर्ऋते, नितरामृतं सत्यं यस्यां तत्सम्बुद्धौ निरन्तरसत्याचरणयुक्ते स्त्रि, यस्यास्ते तिग्मतेजः तिग्मानि तेजांसि यस्मात् तत्, अयस्मयं सुवर्णादिमयं नमोऽन्नादिकमस्ति, सा त्वमेतं बन्धं बध्नाति येन तं बन्धं सुविचृत विमुञ्च यमेन न्यायाधीशेन यम्या न्यायकर्त्र्या च संविदाना सम्यक् कृतप्रतिज्ञा सत्येन पतिमुत्तमे नाके आनन्दे भोक्तव्ये अधिरोहय' इति, तदपि तुच्छम्, लोकसिद्धत्वात्। पत्नी पतिमानन्दभोगायाधिरोहयतीत्येतल्लोकसिद्धमेव पाशविकं ज्ञानम्, न वेदेनोपदेष्टव्यम्, प्रत्यक्षानुमानाभ्यामज्ञातेऽर्थे एव वेदस्य तात्पर्यात्। किञ्चात्र सम्बोधनीया स्त्री भिन्ना, यमी च भिन्ना। किं सर्वाः स्त्रियो न्यायाधीशेन न्यायकर्त्र्या च सम्यक् कृतप्रतिज्ञाः पतिमानन्दायाधिरोहयन्ति ? किञ्च, न्यायप्राप्तिरेकेनापि सम्भवति, तदर्थं यमयम्योर्ग्रहणस्य को हेतुः ? पतिपदमपि मूले नास्ति। अयस्मयमिति सापेक्षं पदम्, श्रुतं बन्धमपहायाश्रुतभूषणादिकल्पनं निर्मूलमेव ॥ ६३ ॥

यस्या॑स्ते घोर आ॒सन् जु॒होम्ये॒षां ब॒न्धाना॑मव॒सर्ज॑नाय।
यां त्वा॒ जनो॒ भूमि॒रिति॑ प्र॒मन्द॑ते॒ निर्ऋ॑तिं त्वा॒हं परि॑वेद वि॒श्वतः॑ ॥ ६४ ॥

मन्त्रार्थ—हे विषम स्वभाववाली क्रूर निर्ऋति देवता, तुम इन यजमानों के स्वर्गगति के प्रतिबन्धक पापों का नाश कर सको, इसके लिये तुम्हारे मुख में आहुति के समान इष्टका को स्थापित करता हूँ। यह सारी भूमि तुम्हारी है। शास्त्र के ज्ञाता सभी मनुष्य इस बात को जानकर तुम्हारी स्तुति करते हैं। मैं तो तुमको निर्ऋति देवी के रूप में ही जानता हूँ ॥ ६४ ॥

हे घोरे क्रूररूपे निर्ऋतिदेवि, यस्यास्ते तव आसन् आसनि आस्ये मुखे जुहोम्याहुतिवदिष्टकामुपदधामि किमर्थं यजमानस्य बन्धानां परलोकप्राप्तिप्रतिबन्धकानां पाप्मनामवसर्जनाय विनाशाय यां त्वां जनो जन्तुमात्ररूपः शास्त्रसंस्काररहितो भूमिरिति प्रमन्दते भूमिर्निर्ऋतिर्देवीति स्तौति प्रशंसति। 'मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु' इति भौवादिको धातुः। चन्द्रस्तु 'मदि जाड्ये' इत्येव पपाठ। अहं तु शास्त्राभिज्ञतया तादृशीं त्वां विश्वतः सर्वथापि निर्ऋतिमेव परिवेद सम्यग् जानामि। तत्र तावन्निर्ऋतिरित्येतद्देवताया नामधेयम्। अवयवार्थव्युत्पादनेन तु सर्वदेवसाधारणाद् देवयजनस्थानाद् निः निष्कृष्य स्वतन्त्रे देशे ऋतिः प्राप्तिर्यस्याः सा निर्ऋतिः। तदिदं प्रकारद्वयमभिप्रेत्य विश्वत इत्युक्तम्, अवयवार्थरूढ्यर्थभेदादित्यर्थः। यद्वा हे घोरे विषमशीले, एषां बन्धानामवसर्जनाय विमोचनाय यस्यास्ते आसन् आस्ये मुखे जुहोमि हविः, सा त्वमेतान् बन्धान् अस्मत्तः, अवसृजेति शेषः। यां त्वां जनः सर्वसाधारणो जन्तुर्भूमिरिति कृत्वा प्रमन्दते स्तौति, प्रतिष्ठा भूतानां जनयित्री मातेव बिभर्तीत्यादिगुणैस्तां त्वामहमपि तैरेव गुणैः स्तौमि। किञ्च, निर्ऋतिं त्वामहं परिवेद जानामि विश्वतः सर्वतः। नतरां नातिशयेनैव हि विदित आमन्त्रितो वा हिनस्ति बाधते, इत्यत एतान् बन्धानस्मत्तोऽवसृजेति।

अत्र ब्राह्मणम्—'यस्यास्ते घोर आसञ्जुहोमीति। घोरा वै निर्ऋतिस्तस्या एतदासञ्जुहोति यत्तद्देवत्यं कर्म करोत्येषां बन्धानामवसर्जनायेति यैर्बन्धैर्बद्धो भवति यां त्वा जनो भूमिरिति प्रमन्दत इतीयं वै भूमिरस्यां वै स भवति यो भवति निर्ऋतिं त्वाऽहं परिवेद विश्वत इति निर्ऋतिरिति त्वाऽहं परिवेद सर्वत इत्येतदियं वै निर्ऋतिरियं वै तं निरर्पयति यो निर्ऋच्छति तद्यथा वै ब्रूयादसावामुष्यायणोऽसि वेद त्वा मा मा हिꣳसीरित्येवमेतदाह नतराꣳ हि विदित आमन्त्रितो हिनस्ति' (श० ७।२।१।११)। यस्यास्त इति तृतीयो मन्त्रः। तत्र प्रथमपादस्य तात्पर्यमाह—घोरा वा इति। निर्ऋतिः पापदेवतात्वात् पापस्य च दुःखहेतुत्वाद् घोरा तीव्रा दुःसहा। तथा च तद्देवत्यमेतत् कर्म करोतीति यदेतदेतेन तस्या निर्ऋतेर् आसन् आस्ये जुहोति

प्रक्षिपति। एवं च प्रथमपादस्यायमर्थः --हे घोरे निर्ऋते, यस्यास्तव आस्ये जुहोमि तां त्वामित्युपरि सम्बन्धः। द्वितीयपादमनूद्य एषामितीदंशब्दनिर्देश्यमाह— यैर्बन्धैरिति। शिक्यपाशरुक्मसूत्रादिभिर्दुःखहेतुभिः पापैर्वा यैर्बन्धैर्बद्धो भवति यजमानः, एषां बन्धानां निर्ऋतिबन्धहेतुभूतानां पापानामवसर्जनाय विश्लेषाय जुहोमीति सम्बन्धः। तृतीयपादमनूद्य तत्र भूमिरिति विशेषणस्य तात्पर्यमाह— यां त्वेति। हे निर्ऋते, जनो लोको यां त्वा भूमिर्भवनहेतुः समृद्धिहेतुर्वा इति प्रमन्दते स्तौतीति तस्य पादस्यार्थः। इयं वा इत्यादि। इयं खलु पृथिवी निर्ऋतिरूपा भूर्भवनहेतुः। कुत एतदित्याह—अस्यां वा इति। यो भवत्युत्पद्यते समृद्धयते वा स अस्यां पृथिव्यामाधारभूतायां खलु भवति। तस्माद् भवनाधिकरणत्वाद् भूमिनाम्ना त्वं स्तूयस इत्यर्थः। जनवाद-मुपन्यस्य स्वस्य विशेषज्ञतां चतुर्थपादेनाह—निर्ऋतिं त्वेति। अत्र विश्वशब्दः सर्वशब्दपर्याय एव, न तु जगद्वाचीत्यभिप्रेत्य व्याचष्टे—निर्ऋतिरितीति। अयमभिप्रायः— तृतीयपादे भूमिशब्दादुत्तरत्वेन पठित इति-शब्दोऽत्रानुषज्यते। अहं पुनस्त्वा त्वां निर्ऋतिः सर्वतो निरर्पणहेतुरार्तिकारणमिति परिवेद परितो जानामि। एवं निर्ऋतिं त्वेति द्वितीयान्तं निर्ऋतिपदमिति शब्दानुषञ्जनेन व्याख्यायैतदुपपादयति इयं वा इति। यो निःशेषेण ऋच्छत्यार्ति प्राप्नोति तं पुरुषमियमेव देवता निरर्पयति निर्ऋतिं प्रयुङ्क्ते। निरुपपदाद् ऋच्छतेः प्रयोजकव्यापारे 'हेतुमति च' (पा० सू० ३।१।२६) इति णिचि, 'अर्तिह्री····' (पा० सू० ७।३।३६) इति पुकि निरर्पयतीति रूपम्। अतो निरर्पणादियमेव पृथिवी निर्ऋतिरित्युच्यते। अतो भवत्याः स्वरूपं सम्यगहं जानामीत्यर्थः। एतज्ज्ञानस्य सदृष्टान्तं प्रयोजनमाह—तद्यथेति। तत् तत्र अरण्यादौ चोरादिष्वागतेष्वसौ त्वमेत-न्नामासि, अमुष्य यज्ञदत्तस्य पुत्रोऽसि, त्वामहं जानामि, मा मां मा हिंसीर्मा बाधिष्ठा इत्यागतं प्रति यथोच्यते, एवमेव खल्वेतन्निर्ऋतिं त्वाहमित्यादिना निर्ऋतेः स्वरूपप्रतिपादनम्। नामग्रहणस्य फलमाह—नतरामिति। विदितो ज्ञातः, नामगोत्रादिना आमन्त्रित आहूतश्चोरादि आत्मीयत्वेन आह्वातारं पुरुषं नतरामतिशयेन नैव हिनस्ति बाधते, एवमेव निर्ऋतिनामग्रहणादेनं यजमानं निर्ऋतिर्न बाधत इत्यर्थः। यद्यप्यद्यत्वे नामगोत्रा-द्युच्चारणेन परिचये जाते मां ज्ञातवानयं शासनाधिकारिभ्यो निवेदयिष्यतीति भयातिरेकाच्चोरो हिनस्त्येव तादृशं पुरुषम्, तथाप्यात्मीयत्वेन ज्ञानाद् भयाभावे परित्रात्येव न बाधते, 'विज्ञाय सेवितश्चोरो मैत्रीमेति न चोरताम्' इत्यभियुक्तोक्तेः। निर्ऋतेस्तत्त्वज्ञानेन निर्ऋतेरप्यात्मा भूत्वा तद्भयात् प्रमुच्यत एवेत्यर्थः। 'नोपस्पृशति। पाप्मा वै निर्ऋतिर्नेत् पाप्मना सꣳस्पृशा इति न सादयति प्रतिष्ठा वै सादनं नेत् पाप्मानं प्रतिष्ठापयानीति न सूददोहसाऽधिवदति प्राणो वै सूददोहा नेत् पाप्मानं प्राणेन सन्तनवानि सन्दधानीति' (श० ७।२।१।१२)। उपस्पर्शन-सादन-सूददोहसामिष्टकान्तरवदासु प्रसक्तानां निषेधं करोति—नोपस्पृशतीत्यादिना। सुप्रसन्ना कण्डिका।

अध्यात्मपक्षे—हे घोरे सर्वसंहारिणि महेश्वरि, यस्यास्ते तव आस्ये मुखे एषां बन्धानां बन्धनहेतूना-मविद्याकामकर्मणामवसर्जनाय मोचनाय हविर्जुहोमि, यां त्वां जनो भूमिः सर्वभवनाधारत्वाद् भूमिरिति प्रमन्दते स्तौति, तां त्वां निर्ऋतिमित्यहं विश्वतः सामस्त्येन परितो वेद जानामि। ऋतमेव ऋतिः। निष्क्रष्टा ऋति-र्निर्ऋतिस्तां मृत्योरपि मृत्युरूपां सर्वाधिष्ठानभूतां संविदं त्वामहं जाने, 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥' (कठोप० १।२।२४) इति श्रुतेः। सामान्यजनास्त्वां भूमिरूपां सर्वकारणरूपां वा जानते, तत्त्वज्ञास्तु प्रपञ्चातीतविशुद्धज्ञानाभिन्नपरमसत्यरूपैव त्वमसीति।

दयानन्दस्तु—'हे घोरे दुष्टानां भयङ्करि पत्नि, यस्यास्ते आसन् आस्ये मुखे एषां बन्धानां दुःखकारकत्वेन निरोधकानामवसर्जनाय अमृतात्मकमन्नादिकं जुहोमि। यो जनो भूमिरिति यां त्वां प्रमन्दते आनन्दयति, तां त्वामहं विश्वतो निर्ऋतिं पृथिवीतुल्यां परि सर्वप्रकारेण वेद सा त्वमपीत्थं मां विद्धि' इति, तदपि यत्किञ्चित्,

'घोरे' इति सम्बोधनस्य पत्न्यामसङ्गतेः। घोरे मुखेऽन्नादिकं जुहोमीत्यपि विशृङ्खलमेव, केषां बन्धानां तेन निवृत्तिरित्यनुक्तेश्च। यो भूमिरिति यां प्रमन्दते तां त्वामहं विश्वतो निर्ऋतिमिति परि परिवेदेत्यत्र को भेदः? तयोः परस्परं वेदनं केन शब्देन लभ्यत इत्यप्यनुक्तेः। गौणार्थाश्रयणं तु दूषणमेव, यतो हि तन्न सार्वत्रिकम्, किन्तु प्रायिकम्॥ ६४॥

यं ते॑ दे॒वी निर्ऋ॑तिराब॒बन्ध॒ पाशं॑ ग्री॒वास्व॑विचृ॒त्यम्। तं ते॒ विष्या॒म्यायु॑षो॒ न मध्या॒दथै॒तं पि॒तुम॑द्धि॒ प्रसू॑तः। नमो॒ भूत्यै॒ येदं च॒कार॑॥ ६५॥

मन्त्रार्थ—हे यजमान, निर्ऋति देवी ने तुम्हारे गृह में जो कभी न कटने वाला पाश बाँधा था, उस पाश को मैं तुम्हारे सामने इस अग्नि के मध्य डाल रहा हूँ। इस पाश से विमुक्त होकर तुम निर्ऋति की अनुज्ञा को प्राप्त करो, तुम्हारी रक्षा करने वाले इस अन्न का भक्षण करो। जिस देवी के प्रसाद से यह सब कुछ सम्पन्न हुआ है, उस ऐश्वर्य की देवी को हम नमस्कार करते हैं॥ ६५॥

'शिक्यरुक्मपाशेण्ड्वासन्दीः परेणास्यति यं त इति' (का० श्रौ० १७।२।४)। शिक्यं रुक्मपाशः शणमयः, द्वे इण्ड्वे, आसन्दी च—एतानि नैर्ऋतीभ्य इष्टकाभ्यः पश्चाद् देशे प्रक्षिपेदिति सूत्रार्थः। यजमानदेवत्या त्रिष्टुप्। यजमानं प्रत्युच्यते—हे यजमान, निर्ऋतिर्देवी ते तव ग्रीवासु ग्रीवायाः सम्बन्धिषु प्रदेशविशेषेषु यं पाशं शिक्यरूपमा समन्ताद् बबन्ध बन्धितवती। कीदृशं पाशम्? अविचृत्यम् अच्छेद्यं मोचयितुं विनाशयितुं वा अशक्यं दृढम्, ते त्वदीयग्रीवायां स्थितं तं पाशमनेन मन्त्रेण विष्यामि विमुञ्चामि। स्यतिर्विपूर्वकोऽत्र विमोचनार्थः। तच्च विमोचनं तदीयस्यायुषो मध्यादारभ्य न भवति, किन्तु कृत्स्नेऽप्यायुषि। अथ पाशविमोकानन्तरं निर्ऋत्या देवतया प्रसूतोऽभ्यनुज्ञातस्त्वमेतं पितुमन्नमद्धि भक्षय। यद्वा—आयुषो न मध्याद् आयुषोऽग्नेर्मध्याद् गार्हपत्यचयनादूर्ध्वमाहवनीयचयनात् पूर्वं न सम्प्रति इदानीमेव पाशं दूरीकरोमीत्यर्थः। नकारः सम्प्रत्यर्थः। 'अग्निर्वा आयुस्तस्यैतन्मध्यं यच्चितो गार्हपत्यो भवत्यचित आहवनीयः' (श० ७।२।१।१५) इति श्रुतेरायुश्शब्देनाग्निरुच्यते। शेषं पूर्ववत्। 'उदपात्रं निषिच्यान्तरात्मेष्टकमुत्तिष्ठन्ति नमो भूत्या इति' (का० श्रौ० १७।२।५)। आत्मा चेष्टकाश्चेत्यात्मेष्टकाः, तासामन्तरा इत्यन्तरात्मेष्टकम्। शिक्यादिनिरसनानन्तरमात्मनो नैर्ऋतीष्टकानां च मध्ये उदपात्रं जलपूर्णं चमसं तूष्णीं निषिच्य निनीय ब्रह्मयजमानाध्वर्यवो नम इति मन्त्रेणोत्तिष्ठन्तीति सूत्रार्थः। भूतिदेवत्या एकपदा विराट्। या देवी इदं नैर्ऋतीष्टकोपधानलक्षणमग्निचयनलक्षणं वा कर्म चकार कृतवती, तस्यै भूत्यै श्रीरूपिण्यै देव्यै नमोऽस्तु।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथासन्दीᳫं शिक्यम्। रुक्मपाशमिण्ड्वे तत्परार्धे न्यस्यति नैर्ऋतो वै पाशो निर्ऋतिपाशादेव तत्प्रमुच्यते यं ते देवी निर्ऋतिराबबन्ध पाशं ग्रीवास्वविचृत्यमित्यनेवंविदुषा ह्यविचृत्यस्तं ते विष्याम्यायुषो न मध्यादित्यग्निर्वा आयुस्तस्यैतन्मध्यं यच्चितो गार्हपत्यो भवत्यचित आहवनीयस्तस्माद्यदि युवाग्निं चिनुते यदि स्थविर आयुषो न मध्यादित्येवाहाथैतं पितुमद्धि प्रसूत इत्यन्नं वै पितुरथैतदन्नमद्धि प्रमुक्त इत्येतत् त्रिष्टुब्भिर्वज्रो वै त्रिष्टुब् वज्रेणैव तत्पाप्मानं निर्ऋतिमपहते' (श० ७।२।१।१५)। आसन्द्यादीनां तत्र प्रासनं विधत्ते—अथेति। अथ समिदाधानानन्तरम्, या उखयाग्निधारणार्था आसन्दी, यच्च भरणसमये उखाधारणार्थं शिक्यम्, यश्च सौवर्णस्य रुक्मस्य प्रतिमोचनार्थं पाशः सूत्रम्, ये च इण्ड्वे अग्निसहिताया उखाया उभयतो धारणाय तृणमयौ पिण्डौ, तत्सर्वं नैर्ऋतीनां परार्धे पश्चाद्भागे न्यस्यति क्षिपेत्। यं ते देवीति तस्य

मन्त्रः। तदेव सूचितं कात्यायनेन—'शिक्यरुक्मपाशेण्ड्वासन्दीः परेणास्यति यं त इति' (का० श्रौ० १७।२।४) इति। मन्त्रस्य पूर्वार्धेऽविचृत्यमिति पदस्याभिप्रायमाह—अनेवंविदुषा हेति। अनेवंविद्वान् उक्तार्थज्ञानरहितः, तेन अविचृत्यः। 'चृती हिंसाग्रन्थनयोः' तौदादिकः। चर्तितुं विश्लेषयितुं न शक्यः। तदयमर्थः—हे यजमान, ते तव ग्रीवासु, अविचृत्यं विमोक्तुमशक्यं यं पाशं निर्ऋतिर्देवता आबबन्ध आबद्धवती, तं ते विष्यामीत्युत्तरत्र सम्बन्धः। तत्रत्यस्यायुःशब्दस्य विवक्षितमर्थमाह—अग्निर्वा आयुरिति। आयुषो दातृत्वादग्निरेवात्रायुःशब्देनोच्यते। तस्यैतन्मध्यमित्यादि। तस्य चीयमानस्य आयुःशब्दाभिधेयस्याग्नेः, एतन्मध्यं मध्यशरीरं यद् गार्हपत्यचयनादूर्ध्वमाहवनीयचयनात् प्राचीनं कर्म, तदत्र मन्त्रगतेन मध्यशब्देनोच्यत इत्यर्थः। फलितमाह—तस्मादिति। तस्मादायुःशब्दस्य चीयमानाग्निपरत्वाद् यूनः स्थविरस्य च यजमानस्य प्रयोगे आयुषो मध्यादिति मन्त्रभागस्य पाठो न विरुध्यते। यद्यायुःशब्देन यजमानस्य जीवनकालो विवक्षितः स्यात्, तदा यूनः प्रयोगे आयुष आदेरिति विपरिणमयितव्यम्, स्थविरस्य प्रयोगे त्वायुषोऽन्तादिति। मध्यादित्येवाहेत्येवकारेणेदृग्विधपरिणामो व्यावर्त्यते। तथा च तृतीयपादस्यायमर्थः—हे यजमान, ते तव ग्रीवास्वाबद्धं तं शिक्यपाशं रुक्मपाशं च विष्यामि। 'स्यतिरुपसृष्टो विमोचने' (नि० १।१७) इति यास्कः। तथा च विष्यामीत्यस्य विमुञ्चामीत्यर्थः। आयुषश्चीयमानस्याग्नेर्मध्याद् गार्हपत्यचयनादूर्ध्वभाविनः कर्मकलापान्न विमुञ्चामीति। चतुर्थपादमनूद्य व्याचष्टे—अथैतमिति। पितुशब्दोऽन्नवाची। अथ पाशविमोचनानन्तरमेतं पितुमग्निचयनफलभूतमन्नं प्रसूतो निर्ऋतिदेवतयाऽनुज्ञातः सन् हे यजमान! त्वमद्धि, अशानेत्यर्थः। प्रमुक्त इत्येतदिति। प्रसूत इति मन्त्रपदेन प्रमोचनं विवक्षितमिति भावः। मन्त्रगतं छन्दः प्रशंसति—त्रिष्टुभिरिति। वज्रो वै त्रिष्टुबिति। त्रिष्टुभ इन्द्रेण सहोत्पन्नत्वात् (तै० सं० ७।१।१४), वज्रस्य च तदायुधत्वात् त्रिष्टुभस्तत्तादात्म्यम्।

'तिस्र इष्टका भवन्ति। आसन्दी शिक्यꣳ रुक्मपाश इण्ड्वे तदष्टावष्टाक्षरा गायत्री। गायत्रोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैव तत्पाप्मानं निर्ऋतिमपहते' (श० ७।२।१।१६)। इष्टकादीन् सम्भूयानूद्य संख्याद्वारेण प्रशंसति—तिस्र इति। 'अथान्तरेणोदचमसं निनयति। वज्रो वा आपो वज्रेणैव तत्पाप्मानं निर्ऋतिमन्तर्धत्ते नमो भूत्यै येदं चकारेत्युपोत्तिष्ठन्ति भूत्यै वा एतदग्रे देवाः कर्माकुर्वत तस्या एतन्नमोऽकुर्वन् भूत्या उ एवायमेतत्कर्म कुरुते तस्या एतन्नमस्करोत्यप्रतीक्षमायन्त्यप्रतीक्षमेव तत्पाप्मानं निर्ऋतिं जहति' (श० ७।२।१।१७)। उदकस्य निनयनं विधत्ते—अथान्तरेणेति। अथ आसन्द्यादीनां प्रासनानन्तरमन्तरेण स्वात्मन इष्टकानां च मध्ये उदकपूर्णं चमसं निनयति निषिञ्चति। तदेतत् कात्यायनेनोक्तम्—'उदपात्रं निषिच्या ...' (का० श्रौ० १७।२।५) इति। तत्प्रशंसति—वज्रो वा इति। नैर्ऋत्यो हि ता इष्टकाः। तासामात्मनश्च मध्ये वज्रसंस्तुतानामपां निनयनेन पापरूपां निर्ऋतिमन्तर्धत्ते व्यवदधाति। तत्संसर्गपरिहारायेत्यर्थः। निषेचनानन्तरमुपोत्थानं समन्त्रकं विधत्ते—नमो भूत्या इति। या भूतिलक्षणा देवता इदं नैर्ऋतेष्टकोपधानरूपं कर्म चकार कृतवती, तस्यै भूत्यै श्रिये नमोऽस्त्विति मन्त्रार्थः। तत्रोदकनिनयनपूर्वकमुपोत्थानं कात्यायनः सूत्रितवान्। पुरावृत्तन्यायेन भूत्यर्थतां कर्मणः प्रदर्शयन् तन्नमस्कारपरतां मन्त्रस्य व्याचष्टे—भूत्यै वा इति। भूत्यै भवनाय ऐश्वर्याय खलु एतत्कर्म देवा अग्रे प्रागकुर्वत। तस्यै एव भूत्यै एतन्नमोऽकुर्वन् तद्वदेवायं यजमानोऽपि भूत्यर्थमेव एतत्कर्म कुरुते, तस्यै एतन्नमः कुरुते। उपोत्थानानन्तरं शालां प्रत्यागमनं धर्मविशिष्टं विधाय स्तौति—अप्रतीक्षमायन्तीति। प्रतिनिवृत्य नैर्ऋतस्थानस्येक्षणमकृत्वा आयन्ति शालामागच्छन्ति, तद् तेनाप्रतीक्षणेन निर्ऋतिरूपं पाप्मानमप्रतीक्षमेव प्रतीक्षणमकृत्वैव जहति त्यजन्ति।

अध्यात्मपक्षे—हे साधक, निर्ऋतिदेवी साधिष्ठाना विद्या यं पाशमविचृत्यमविच्छेद्यं जननमरणाविच्छेदलक्षणं बन्धनं ग्रीवासु जीवानां गलेष्वाबबन्ध तं ते बन्धनं पाशमायुषो जीवनकालस्य मध्यान्न इदानीमेव विष्यामि मुञ्चामि। अथ बन्धनमुक्तः सन्नेतं पितुमन्नं सर्वानन्दरससाररूपं ब्रह्मात्मकमद्धि भक्षय। तया निर्ऋतिरूपया देवतयाऽनुज्ञातो भगवदाभिमुख्ये जाते बन्धिकापि माया मुक्तौ ब्रह्मानन्दरसास्वादने साहाय्यमाचरति। महामहेश्वरी स्वीयया अविद्याशक्त्या बध्नाति, विद्याशक्त्या च मोचयति। 'सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये ॥ सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी। संसारबन्धहेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी ॥' (दु० श० १।५७-५८) इति सप्तशत्युक्तेः। अतस्तया प्रसूतोऽभ्यनुज्ञातः, नवीनप्रसूत इव पितुं परमभोग्यमत्ति, तस्यै भूत्यै श्रीरूपिण्यै नमोऽस्तु। का सा? या महेश्वरी इदं सर्वं जगत् चकार कृतवती। या विश्वेश्वरी जगद्धात्री स्थितिसंहारकारिणी, तस्यै नमः।

दयानन्दस्तु—'हे पते, निर्ऋतिरिव पृथिवी वा अहं ते तव ग्रीवासु कण्ठेषु यमविचृत्यममोचनीयं पाशं धर्म्यं बन्धनमाबबन्ध आसमन्ताद् बध्नामि तं ते तवाप्यहं विष्यामि प्रविशामि। आयुषो जीवनस्य अन्नस्य न इव विष्यामि। अथावयोर्मध्यात् कश्चिदपि नियमात् पृथङ् न गच्छेत्। यथाहमेतं पितुमन्नादिकमद्मि तथा प्रसूत उत्पन्नः सन् त्वमेनमद्धि। हे स्त्रि, या देवी त्वमिदं पतिव्रताधर्मेण सुसंस्कृतं चकार तस्यै भूत्यै नमोऽहं करोमि' इति, तदेतत् सर्वथाऽसम्बद्धम्, असङ्गतेः, अस्य मन्त्रस्य दम्पत्योः संवादरूपत्वे मानाभावात्। नहि निर्ऋतिपदं पृथिवीतुल्यस्त्रीपरम्, ब्राह्मणेन अन्यथा व्याख्यानात्। सा पत्युः कण्ठेऽमोचनीयं पाशं बध्नातीत्यत्रापि न किञ्चित् प्रमाणम्, सूत्रग्रन्थादिषु तदनुल्लेखात्। आयुषोऽन्नस्य न विष्यामीति कथमेतत् सङ्गच्छते? हिन्दी-भाषायामवस्थायाः साधनस्य अन्नस्य न समानाहं विष्यामीत्युक्तम्, तदप्यसङ्गतम्, षष्ठ्यन्तस्य पदस्य विष्यामीत्यत्र कथं कर्तृत्वेनान्वयः? न च पाशे स्त्रियाः प्रवेशो दृश्यते। न च धर्ममय एव पाश इति वाच्यम्, तस्य ग्रीवासु बन्धनासम्भवात्। कथं वा तत्र स्त्रियाः प्रवेशः? मध्यादिति पदेनावयोर्मध्यात् कश्चिदपि नियमात् पृथङ् न गच्छेदित्यादिकं सर्वं निर्मूलम्, वेदबाह्यत्वात्। यथाहं पितुमद्मि तथेत्यादिकमपि वेदबाह्यमेव। 'प्रसूत उत्पन्नस्त्वमद्धि' इति किं केन श्लिष्यते। अनुत्पन्ने कथमदनप्रसक्तिः? नह्यप्रसिद्धो नास्त्यन्नमिति भावार्थोऽपि मूलासम्बद्ध एव ॥ ६५ ॥

नि॒वेश॑नः स॒ङ्गम॑नो॒ वसू॑नां॒ विश्वा॑ रू॒पाभिच॑ष्टे॒ शची॑भिः।
दे॒व इ॑व सवि॒ता स॒त्यध॒र्मेन्द्रो॒ न त॑स्थौ सम॒रे प॑थी॒नाम् ॥ ६६ ॥

मन्त्रार्थ—यजमान को उसके घर में स्थिर रूप से रखनेवाला, धन-सम्पत्ति को देने वाला, अवश्य होने वाले फल से युक्त, अग्निहोत्र आदि शुभ कर्मों का सम्पादक यह अग्नि देवता अपने अपने कर्मों से संयुक्त सम्पूर्ण आहवनीय, प्रणीता, आग्नीध्र, धिष्ण्य आदि रूपों को प्रकाशित करता है। सविता देवता के समान प्रकाशित होकर शत्रुओं के साथ उसी प्रकार युद्ध करता है, जैसे कि इन्द्र असुरों के साथ युद्ध में प्रवृत्त होता है ॥ ६६ ॥

'अनपेक्षमेत्य शालाद्वार्योपस्थानं निवेशन इति' (का० श्रौ० १७।२।६)। ब्रह्मयजमानाध्वर्यवो नैर्ऋतीष्टको-पधानदेशात् पश्चादपश्यन्तः शालां गच्छन्ति। अध्वर्युरेत्य शालाद्वारि भवं गार्हपत्यचितिरूपमग्निमुपतिष्ठत इति सूत्रार्थः। विश्वावसुगन्धर्वदृष्टा इन्द्रदेवत्या त्रिष्टुप्। अयमग्निर्निवेशनो निवेशयति यजमानं स्वगृहे स्थापयतीति निवेशनः। अथवा निविशन्तेऽस्मिन् प्राणिन इति निवेशनः। तथा वसूनां प्रजापशुरूपाणां सङ्गमनः सङ्गमयति प्रापयतीति सङ्गमनः। सङ्गच्छन्ते वसून्यत्र वेति सङ्गमनः। सत्यधर्मा सत्योऽवश्यम्भाविफलोपेतो

धर्मोऽग्निहोत्रादिलक्षणो यस्यासौ। सविता देव इव यथा सूर्यो देवस्तथा विश्वा विश्वानि रूपा रूपाणि आहवनीयदक्षिणाग्न्यतिप्रणीताग्नीध्रधिष्ण्यादीन्यभिचष्टे सर्वतः पश्यति। इन्द्रः परमैश्वर्यवान्। अत एव पथीनां परिपन्थिनां समरे युद्धे न तस्थौ स्वयमागत्य न तिष्ठति, किन्तु तदीयनामग्रहणमात्रेण ते पलायन्ते। कथंभूतानि रूपाणि ? शचीभिः स्वैः स्वैः कर्मभिर्युक्तानि। अथवा यश्चाग्निः पथीनां पथिभिः परिपन्थिभिः सह समरे संग्रामे इन्द्रो न इन्द्र इव तस्थौ स्थितवान्। यथेन्द्रो युद्धेऽविचलस्तिष्ठति तद्वत्। तं वयं स्तुम इति शेषः। पथिन्शब्दस्य मार्गेऽर्थे वृत्तिः। इह तु गौण्या वृत्त्या स परिपन्थिवाचकः। मार्गबोधके पथिन्शब्दे 'भस्य टेः' (पा० सू० ७।१।८८) इति सूत्रप्रवृत्तिः, न परिपन्थिवाचके। तस्मादनेन सूत्रेण टिलोपाभावात् षष्ठीबहुवचने छान्दसे दीर्घे पथीनामिति रूपम्। यद्वा पृथिवीलोकसंस्तुतोऽयमग्निः, निवेशनो निविशन्तेऽस्मिन्निति निवेशनः, वसूनां धनानां सङ्गमनः सङ्गच्छन्तेऽस्मिन्निति सङ्गमनः, यश्चायं विश्वा विश्वानि सर्वाणि रूपाण्याहवनीयदक्षिणाग्न्यादीनि शचीभिः स्वैः कर्मभिर्युक्तानीति शेषः, अभिचष्टे अभितः पश्यति। कथं पश्यतीति चेत्, सत्यधर्मा देवः सविता इव अवितथकर्मकारी सूर्यो देव इव। यश्च इन्द्रो न इन्द्र इव। पथीनां पन्थिभिः सह समरे संग्रामे तस्थौ, तं वयं स्तुम इति शेषः।

तत्र ब्राह्मणम् –'प्रत्येत्याग्निमुपतिष्ठते। एतद्वा एतदयथायथं करोति यदग्नौ सामिचित एतां दिशमेति तस्मा एवैतन्निह्नुतेऽहिᳪसायै' (श० ७।२।१।१८)। उपोत्थानानन्तरं शालां प्रत्यागमनं गार्हपत्योपस्थानं च विधत्ते—प्रत्येत्येति। नैर्ऋतस्थानात् प्रतिनिवृत्य गार्हपत्यमग्निमुपतिष्ठते। उपस्थानस्य प्रयोजनमाह—एतद्वा इति। एतद्वा एतस्मिन् समये खल्वेतदयथायथमयथास्वमन्याय्यं करोति। किं पुनरेतदिति ? तदाह— यदग्नाविति। अग्नौ गार्हपत्यचितिरूपे शालाद्वार्ये सामिचिते अर्धचिते एतां दिशं नैर्ऋतीमेति गच्छति। अहिंसायै हिंसापरिहाराय। तस्मै गार्हपत्यचितिरूपायाग्नये एतद् निह्नुत एव, अयथायथकरणजनितमपराधं शमयत्येव। 'यद्वेवोपतिष्ठते। अयं वै लोको गार्हपत्यः प्रतिष्ठा वै गार्हपत्य इयमु वै प्रतिष्ठाऽथैतदपथमिवैति यदेतां दिशमेति तद्यदुपतिष्ठत इमामेवैतत्प्रतिष्ठामभिप्रत्यैत्यस्यामेवैतत् प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति' (श० ७।२।१।१९)। प्रकारान्तरेणाप्युपस्थानस्य कर्तव्यतामाह—यद्वेवेति। अयं वा इति। गार्हपत्यः पृथिवीलोकात्मकः खलु प्रतिष्ठात्मकश्च सः। इयमु वै पृथिव्यपि खलु प्रतिष्ठा आस्पदम्। अथैतदिदानीमपथमिवैति अमार्गेणैव प्रतिपद्यते यदेतां नैर्ऋतीं दिशमेति गच्छति। उपस्थानस्य प्रतिष्ठितिहेतुतां प्रतिपादयति—तद्यदिति। एतद् एतेनैवोपस्थानेनेमां प्रतिष्ठारूपां पृथिवीमेवाभिप्रत्यैति साम्मुख्येन प्रतिपन्नो भवति। प्रतिष्ठायामस्यां प्रतितिष्ठति च चिरं स्थितिं लभत इत्यर्थः। 'निवेशनः सङ्गमनो वसूनामिति। निवेशनो ह्ययं लोकः सङ्गमनो वसूनां विश्वा रूपाऽभिचष्टे शचीभिरिति सर्वाणि रूपाण्यभिचष्टे शचीभिरित्येतद्देव इव सविता सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे पथीनामिति यथैव यजुस्तथा बन्धुः' (श० ७।२।१।२०)। विहिते शालाद्वार्योपस्थाने मन्त्रमनूद्य व्याचष्टे—निवेशन इति। आधाराधेययोरभेदोपचारेणाग्नेः पृथिवीलोकत्वमित्यभिप्रेत्याह—निवेशनो ह्ययं लोक इति। शेषं निगदव्याख्यातम्।

अध्यात्मपक्षे यः परमेश्वरोऽग्निः श्रीरामः, निवेशनः निविशन्ते सर्वे जनाः सर्वाणि वस्तूनि वाऽत्रेति। सर्वाश्रयः, सर्वकारणत्वात् सर्वाधिष्ठानत्वात्। वसूनां धनानां सङ्गमनः प्रापकः। देवो दीप्यमानः सविता सूर्य इव। सत्यधर्मा सत्योऽवितथो धर्मो विश्वसृष्ट्यादिलक्षणो भक्तादिपालनलक्षणो मुमुक्ष्वादिभ्यः स्वात्मप्रतिपादन-लक्षणो वा कर्म यस्य सः। यश्च इन्द्रो न इन्द्र इव पथीनां पथिभिः परिपन्थिभी रावणादिभिः सह समरे तस्थौ यश्च विश्वा विश्वानि सर्वाणि रूपा रूपाणि मनुष्यान् मनुष्योपलक्षितान् जीवान्, रूपशब्दो मनुष्यार्थको निघण्टौ, शचीभिः प्रज्ञाभिः, अभिचष्टे अभिपश्यति, तं वयं स्तुम इति शेषः।

दयानन्दस्तु—'यः सत्यधर्मा सविता देव इव ईश्वरतुल्यो निवेशनो यः स्त्रियां निविशते सङ्गमनः सम्यग्गन्ता शचीभिः प्रज्ञाभिः कर्मभिर्वा वसूनां पृथिव्यादीनां पदार्थानां विश्वा सर्वाणि रूपाणि, अभिचष्टे अभिपश्यति ? इन्द्रो न सूर्य इव समरे संग्रामे पर्थानां गच्छतां सम्मुखे तस्थौ, स एव गृहाश्रमाय योग्यो भवति' इति तन्न, असङ्गतेः श्रुतिसूत्रविरोधात्, सङ्गमन इत्यस्य स्त्रियां गन्तेत्यर्थकत्वे मानाभावात्। नाद्यत्वे कश्चन पृथिव्यादीनां पदार्थानां सर्वरूपाभिद्रष्टा, तत्किं न कश्चनापि गृहाश्रमयोग्यः ? धन्येयं सुमतिः ? धन्यमिदं च व्याख्यानम् ॥ ६६ ॥

सीरा॑ युञ्जन्ति क॒वयो॑ यु॒गा वित॑न्वते॒ पृथ॑क् । धीरा॑ दे॒वेषु॑ सुम्न॒या ॥ ६७ ॥

मन्त्रार्थ—बुद्धिमान्, अग्निविद्या में कुशल, कृषि कर्म के मर्म को जानने वाले विद्वान् देवलोक में सुख प्राप्त करने के लिये हल और बैल को खेती के लिये जोतते हैं, युगों का भिन्न-भिन्न विस्तार करते हैं ॥ ६७ ॥

'दक्षिणामग्निश्रोणिमपरेण तिष्ठन् युज्यमानमभिमन्त्रयते सीरा युञ्जन्तीति' (का० श्रौ० १७।२।११)। चितेर्दक्षिणश्रोणेः पश्चिमे तिष्ठन्नध्वर्युः प्रतिप्रस्थात्रोत्तरांसं षड्भिर्दशभिश्चतुर्विंशत्या वा वृषैर्युज्यमानमौदुम्बरं हलं द्वाभ्यामभिमन्त्रयत इति सूत्रार्थः। सीरदेवत्ये सोमपुत्रबुधदृष्टे द्वे गायत्रीत्रिष्टुभौ। कवयः सीराः सीराणि लाङ्गलानि हलानि युञ्जन्ति सज्जीकुर्वन्ति वृषैर्योजयन्ति वा। तथा युगा युगानि पृथग् नाना एकैकं विस्तारयन्ति। कीदृशाः कवयः ? धीरा धैर्योपेताः, अनलसा इत्यर्थः। किमर्थम् ? देवेषु देवताविशेषेषु सुम्नया, सुम्नमिति सुखनामा, सुम्नं सुखमिच्छतीति सुम्नायति, सुम्नायतीति सुम्ना तया हेतुभूतया, देवानां सुखं कर्तुमित्यर्थः। अथवा चतुर्थ्या यादेशः। देवानां सुखाय, सुखप्राप्तय इत्यर्थः। सीरकविशब्दयोर्बहुत्वं पूजार्थम्, तयोरेकत्वात्। युगानि तु बहूनि भवन्ति।

तत्र ब्राह्मणम्—'प्रत्येत्य प्रायणीयेन प्रचरति। प्रायणीयेन प्रचर्य सीरं युनक्त्येतद्वा एनं देवाः संस्करिष्यन्तः पुरस्तादन्नेन समार्धयंस्तथैवैनमयमेतत् संस्करिष्यन् पुरस्तादन्नेन समर्धयति सीरं भवति सेरꣳ हैतद्यत् सीरमिरामेवास्मिन्नेतद्दधाति' (श० ७।२।२।२)। 'अथ प्रायणीयं निर्वपति' (श० ७।२।२।१) इति शालाद्वार्योपस्थानमभिधाय विहितस्य प्रायणीयहविषः प्रचारं विधत्ते—प्रत्येत्येति। प्रायणीयेन प्रायणीयशेषेण प्रचर्य प्रचारं कृत्वा सीरं हलं युनक्ति युञ्ज्यात्। विहिते सीरयोजने प्रजापतेः सीरलक्षणेनान्नेन समर्धनद्वारा देवकर्तृकं संस्कारं प्रतिपादयति—एतद्वा एनमिति। एतद् एतस्मिन्नवसरे एनं पितरं प्रजापतिं विस्रस्तावयवं चयनेन संस्करिष्यन्तो देवाः पुरस्तात् ततः प्रागेव सीरलक्षणेनान्नेन समृद्धमकुर्वन्। एवमेवायं यजमानोऽप्येनं प्रजापतिं चित्याग्निरूपेण संस्करिष्यन् ततः प्रागेव सीरलक्षणेनान्नेन समर्धयति। नामनिर्वचनेन तस्यान्नरूपता-माविष्करोति—सीरं भवतीत्यादिना। इरया अन्नेन सह वर्तत इति सेरम्, एतदेव पारोक्ष्येण सीरमित्युच्यते। अतः कर्षणसाधनत्वेन सीरस्य विधानादिरामन्नमेवास्मिन् संस्क्रियमाणे चित्याग्निरूपे प्रजापतौ, एतद् एतर्हि दधाति स्थापयति। 'औदुम्बरं भवति। ऊर्वै रस उदुम्बर ऊर्जैवैनमेतद्रसेन समर्धयति मौञ्जं परिसीर्यं त्रिवृत् तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।२।२।३)। सीरोपादानभूतं वृक्षविशेषं विधाय स्तौति—औदुम्बरं भवतीति। ऊर्ग् बलकरमन्नम्, तदात्मको रस एव उदुम्बरवृक्षात्मना परिणतः, 'देवा वा ऊर्जं व्यभजन्त तत उदुम्बर उदतिष्ठत्' (श० ३।२।१।३३) इति श्रुतेः। सीरयोजनार्थानां रज्जूनां प्रकृतिद्रव्यं विधत्ते—मौञ्जमिति। परिसीर्यं परितः सीरस्य योजनायोपयुज्यमानं दाम मौञ्जं मुञ्जतृणैर्निर्मितं त्रिवृत् त्रिगुणं च कर्तव्यम्। मौञ्जस्य त्रिवृत्त्वस्य च स्तावकं 'सैषा योनिरग्नेर्यन्मुञ्जः' (श० ६।३।१।२६) इत्यादिवाक्यं प्रागाम्नातमत्रानुसन्धेयमित्यर्थः।

'सोऽग्नेर्दक्षिणाᳪ श्रोणिम् । जघनेन तिष्ठन्नुत्तरस्याᳪसस्य पुरस्ताद्युज्यमानमभिमन्त्रयते सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथगिति ये विद्वाᳪसस्ते कवयस्ते सीरं च युञ्जन्ति युगानि च वितन्वते पृथग्धीरा देवेषु सुम्नयेति यज्ञो वै सुम्नं धीरा देवेषु यज्ञं तन्वाना इत्येतत्' (श० ७।२।२।४)। युज्यमानस्य सीरस्य स्थानविशेषविशिष्टमभिमन्त्रणं विधत्ते—सोऽग्नेरिति । चेष्यमाणस्याग्नेर्यावान् भूभागः शौल्बेन मानेन चतुरस्री-कृतस्तस्य दक्षिणां श्रोणिं जघनेन दक्षिणापरेण तस्य पश्चात् तिष्ठन् उत्तरांसस्याग्निक्षेत्रसम्बन्धिन उत्तरपूर्वकोणस्य पुरस्ताद् युज्यमानं सीरं युगबलीवर्दादिभिः सह रज्ज्वा बध्यमानं 'सीरा युञ्जन्ति' इति मन्त्रद्वयेन अभिमन्त्रयते। अभिमन्त्रणं नाम मन्त्रेण स्मर्यमाणस्यार्थस्य ईक्षणपूर्वकमनुसन्धानम् । उक्तं हि—'मन्त्रमुच्चारयन्नेव मन्त्रार्थं-त्वेन संस्मरेत् । सेक्षणं तन्मना भूत्वा स्यादेतदनुमन्त्रणम् ॥ एतदेवाभिमन्त्रणलक्षणं चेक्षणावधि ।' इति । अत्र सीरयोजनस्य तदभिमन्त्रणस्य च भिन्नदेशकर्तव्यकर्मतया यौगपद्याय कर्तृभेदोऽवसीयते । तत्राभिमन्त्रणस्य संस्कार्यतया प्रधानत्वात् सीरयोजनमध्वर्युः कुर्यात्, तत्संस्कारात्मकमभिमन्त्रणं तु द्वितीयः प्रतिप्रस्थाता कुर्यात् । उक्तं हि सूत्रभाष्यकृता कर्कोपाध्यायेन—'प्रतिप्रस्थाताभिमन्त्रयते सीरा युञ्जन्तीत्यनेन मन्त्रेण, योजने तु प्रधानत्वादध्वर्युः' (का० श्रौ० १७।२।११ इत्यत्र) इति ।

मन्त्रस्य पूर्वार्धमनूद्य व्याचष्टे—सीरा युञ्जन्तीति । ये विद्वांसस्ते कवय इति मन्त्रगतेन कविशब्देन सीरयोजनप्रकारं सम्यग्जानानास्तदभिज्ञा विवक्षिताः । सीरं चेति । मन्त्रगतस्य 'सीरा' इत्यस्य व्याख्यानं सीरमिति । मन्त्रे सीरशब्दात् परस्य द्वितीयैकवचनस्य 'सुपां सुलुक्…' (पा० सू० ७।१।३९) इत्याकारादेशः । युगानि चेति । 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (पा० सू० ६।१।७०) इति युगशब्दात् परस्य शेर्मन्त्रे लोप इत्यर्थः । तेन तत्र युगा वितन्वत इति पाठः । उत्तरार्धमनूद्य व्याचष्टे—धीरा देवेष्विति । सुम्नशब्देन सुखमुच्यते । तद्धेतुत्वाद् यज्ञोऽपि सुम्नशब्दाभिधेयः । तदाह ब्राह्मणम्—यज्ञो वै सुम्नमिति । तस्मात्परस्य द्वितीयैकवचनस्य यादेशः । तदयं मन्त्रार्थः—कवयस्तदभिज्ञाः सीरं च युञ्जन्ति कर्मणो योग्यं बध्नन्ति षड्द्वादशादिसंख्यानामनडुहां योजनाय पृथग् भेदेन युगानि च वितन्वते विस्तारयन्ति । किं कुर्वन्तः ? देवेषु सुम्नमग्निचयनलक्षणं यज्ञं तन्वाना विस्तारयन्त इति । अत एव धीरास्तदुपायभूतया धिया युक्ता इति ।

अध्यात्मपक्षे—धीराः, धियं बुद्धिमीरयन्ति प्रेरयन्तीति धीराः, देवेषु परमेश्वरे, पूजायां बहुवचनम्, मनो युञ्जन्ति योजयन्ति, तदर्थं पृथग् यमनियमादिसाधनानि वितन्वते विस्तृण्वन्ति । किमर्थम् ? सुम्नया सुम्नं पारमार्थिकं ब्रह्मात्मकं सुखं प्राप्तुम् । क इव ? कवयो यथा सुखार्थं सीराणि हलानि युगानि च बलीवर्दादिभिर्योजयन्ति तद्वत् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा धीराः कवयः सीरा हलानि युगा युगानि च युञ्जन्ति, सुम्नया सुम्नेन सुखेन देवेषु विद्वत्सु पृथग्वितन्वते विस्तृणन्ति, तथा सर्वैरेतदनुष्ठेयम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यथा धीरा हलं युञ्जन्ति सुखाय तथैव सर्वैरपि कर्तव्यमित्यस्यानुक्तत्वात्, निरर्थकत्वाच्च । साधारणहलप्रयोगस्य लोक-प्राप्तत्वात् । यच्च भावार्थे—'यथा योगिनो नाडीषु परमेश्वरं समाधियोगेनोपकुर्वन्ति, तथैव कृषिकर्मद्वारा सुखोपयोगः कर्तव्यः' इति, तदपि तथैव, प्रकृतमन्त्रे तदर्थबोधकपदाभावात् । युञ्जन्तीति क्रियापदं सीराणि युञ्जन्तीति गतार्थमेव ॥ ६७ ॥

युनक्त सीरा वियुगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम् ।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात् ॥ ६८ ॥

मन्त्रार्थ— हे कर्षकगण, तुम हलों को जोतो, हल के जुए, शम्या और योक्त्र आदि का विस्तार करो। कर्षण संस्कार करते समय इस स्थान में 'या ओषधीः' इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए चमस द्वारा संस्कृत व्रीहि आदि के बीजों का वपन करो। व्रीहि आदि अन्नसमूह फलवान् होकर पुष्ट हो, पके हुए धान्य को शीघ्र ही दराती से काटकर हमारे घर में ले आओ ॥ ६८ ॥

हे कर्षकाः, सीरा लाङ्गलानि युनक्त योजयत। 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा० सू० ७।१।४५) इति थस्य तबादेशे श्नसोरल्लोपाभावे युनक्तेति रूपम्। युगा युगानि वितनुध्वं विस्तारयत। कृते कर्षणेन संस्कृते इह अस्मिन् योनौ स्थाने बीजं व्रीह्यादिकं यूयं वपत। किञ्च, तद्बीजं गिरा आशीर्वादरूपेण मङ्गलवाक्येन युक्तं बीजं वपतेति सम्बन्धः। श्रुष्टिस्तत्र निष्पन्नः स्तम्बो नोऽस्मदर्थं सभरा असत् फलभारयुक्तोऽस्तु। पक्वं च फलं धान्यं नेदीय इद् अन्तिकमेव अल्पकालनिष्पाद्यमेव सत् सृण्यः सृण्या लवनसाधनेन दात्रेण लूनं सद् आ इत्याद् अस्मत्समीपमागच्छतु। यद्वा गिरा 'ओषधीः' (वा० सं० १२।७५) इत्यादिकया मन्त्रवाचा चकाराच्चमसेन च वपत। तथा वपत यथा श्रुष्टिरन्नजातिर्व्रीह्यादिका सभरा, आनमितफलाः, भृत्रः 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।१८८) इत्यसुन्प्रत्यये रूपसिद्धिः, सान्तोऽयं स्त्रीलिङ्गशब्दः, भराः फलपुष्टिः, तया सह वर्तमाना सभरा व्रीह्यादिजातिः फलव्रातपोषयुक्तास्तु, 'वाग्वै गीरन्नꣳ श्रुष्टिः' (श० ७।२।२।५) इति श्रुतेः। सृण्यो दात्रान् पक्वमोषधम् आ इयात् आगच्छेत्। अतिघनत्वादोषधीनां निकटतमं दात्रं भूमेश्च दात्रपूरं (दात्रलूनम्) पक्वमोषधमागच्छेद् यथा तथा वपतेत्यर्थः। यद्वा—हे यजमानपुरुषाः, सीरा हलानि युनक्त योजयत विशेषेण योक्त्रप्रभृतिभिर्विस्तारयत। इह क्षेत्रे योनौ स्थाने कृते संस्कृते सति बीजं व्रीह्यादि वपत निःक्षिपत। केन साधनेनेत्यपेक्षायामाह—गिरा चेति। गिरा वाचा या ओषधीरित्यादिवक्ष्यमाणमन्त्ररूपया चकाराच्चमसेनापि वपतेत्यर्थः। श्रुष्टिर्व्रीह्यादिकान्नजातिः सभरा फलकृतेन भरसा भरणेन सह वर्तत इति सभराः, अभिमतफलेति यावत्। तादृशी नोऽस्माकं यथा असद् भवेत्, इत्शब्दोऽनर्थकः, तथा सृण्योऽङ्कुशाकारस्य लवनसाधनस्य दात्रस्य नेदीयोऽन्तिकतमं पक्वं व्रीह्याद्यन्नं यथा आ इयाद् आगच्छेत्, तथा वपतेति सम्बन्धः। 'सृणिरङ्कुशो भवति सरणात्, अङ्कुशोऽञ्चतेराकुञ्चितो भवतीति वा' (नि० ५।२८) इति यास्कः।

तत्र ब्राह्मणम्—'युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वमिति। युञ्जन्ति हि सीरं वि युगानि तन्वन्ति कृते योनौ वपतेह बीजमिति बीजाय वा एषा योनिष्क्रियते यत्सीता यथा ह वा अयोनौ रेतः सिञ्चेदेवं तद्यदकृष्टे वपति गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्न इति वाग्वै गीरन्नꣳ श्रुष्टिर्नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयादिति यदा वा अन्नं पच्यतेऽथ तत्सृण्योपचरन्ति द्वाभ्यां युनक्ति गायत्र्या च त्रिष्टुभा च तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।२।२।५)। अयं द्वितीयोऽभिमन्त्रणमन्त्रः। पुरा परोक्षवदुक्तोऽत एवास्य पादेन प्रत्यक्षवदुच्यते। हे यजमानपुरुषाः, सीरा सीरं विभक्तेराकारः। युनक्त बध्नीत। इरित्संज्ञकस्य युजे रौधादिकस्य लोटि मध्यमपुरुषबहुवचने तबादेशेन रूपम्। युगा युगानि वितनुध्वं विस्तारयतेति। द्वितीयपादमनूद्य व्याचष्टे—बीजाय वा इति। बीजवपनाय सीतारूपा योनिर्विधीयते। विपक्षे दोषमुद्भावयति—यथा ह वा इति। अकृष्टेऽलिखिते यद् यदि वपति तर्ह्ययोनौ गर्भाशयादन्यत्र यथा रेतःसेकस्तथा व्यर्थं भवेदित्यर्थः। तृतीयपादनूद्य तन्मध्यपातिनोर्गीःश्रुष्टिशब्दयोरर्थमाह—वाग्वै गीरन्नं श्रुष्टिरिति। 'स दक्षिणमेवाग्रे युनक्ति। अथ सव्यमेवं देवत्रेतरथा मानुषे षड्गवं भवति द्वादशगवं वा चतुर्विꣳशतिगवं वा संवत्सरमेवाभिसम्पदम्' (श० ७।२।२।६)। विहिते सीरयोजने दक्षिणसव्ययोर्धुर्ययोः पौर्वापर्यं विधत्ते—स दक्षिणमेवाग्र इति। सीरयोजनेऽनड्हां वैकल्पिकं संख्यात्रितयं विधत्ते—षड्गवमित्यादिना। षडृतु-द्वादशमास-चतुर्विंशतिपक्षसम्पत्त्यात्मकः संवत्सरः। तमभिलक्ष्य त्रयोऽप्येते पक्षा उपपन्ना इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे धीराः, सीरा हलानि युगानि च रज्ज्वादिभिर्बलीवर्दैर्योजयमानाः कर्षका इव यूयं यमैर्नियमैश्च मन इन्द्रियाणि च योजयत। यथा कृते कृष्टे योनौ क्षेत्रकर्षका बीजं वपन्ति, तथैव यमनियमादिभिः परिष्कृते मनसि वेदान्तश्रवणादिलक्षणं बीजं वपत। केन साधनेन ? इत्याकाङ्क्षायामाह—गिरा वेदान्तवाक्येन, चकारात् षड्विधैर्लिङ्गैस्तात्पर्यनिर्धारणेन च वपत। यथा बीजवपनेन कर्षकाणां सभराः श्रुष्टिरभिमतफला व्रीह्यादिका अन्नजातिः स्यात्, यथा च कर्षकाणां सृण्यो दात्रस्य नेदीयोऽन्तिकतमं पक्वमन्नम् आ इयात्, तथैव भरसा पुष्ट्या सहिता सभरा श्रुष्टिर्ब्रह्मात्मव्याप्तिर्ब्रह्मसाक्षात्कृतिः, असत् स्यात्, ययाऽङ्कुशस्य अन्तिकतमं पक्वमन्नमिव मोक्षाख्यं फलं हस्तगतं भवति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयमिह साधनानि वितनुध्वम्। सीरा हलादीन्युपकरणानि नाडीर्वा युगान्युपासनयुक्तानि कर्माणि वा युनक्त। कृते कर्षिते योनौ क्षेत्रे अन्तःकरणे वा वपत। इहास्यां भूमौ बुद्धौ वा बीजं यवादिकं सिद्धिमूलं गिरा च कृषियोगकर्मोपयुक्तया सुशिक्षितया वाचा स्वसुविचारेण च सभराः समानधारणपोषणाः श्रुष्टिः शीघ्रं भवत। 'श्रुष्टीति शीघ्रनामसु' (नि० ६।१२)। याः सृण्यः क्षेत्रयोगानुगता यवादिजातय उपासनावृत्तयस्ताभ्यो यन्नेदीयोऽतिशयेनान्तिकम्, असद् अस्तु पक्वं भवेत् तद् इद् एव एयात्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात्। याः सृण्य इत्यस्य क्षेत्रयोगानुगता यवादिजातय इति कथमर्थ इत्यनिरूपणात्। धर्मपरत्वं तु श्रुतिसूत्रसम्मतम्, ब्रह्मपरत्वमपि श्रुतिसम्मतम् ॥ ६८ ॥

शुनꣳ सफाला विकृषन्तु भूमिꣳ शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तनास्मे ॥ ६९ ॥

मन्त्रार्थ—हे सुन्दर फलक वाले हल, तुम पृथ्वी को सुखपूर्वक जोतो। फलक वाले मनुष्य हल आदि को लेकर सुखपूर्वक विचरण करें। हे वायु और आदित्य देवताओं, आप लोग जल से भूमि को सींचते हुए हमारी ओषधियों को सुन्दर फलों से भर दो ॥ ६९ ॥

'आत्मनि कृषत्यनु परिश्रिच्छुनꣳ सुफाला इति प्रत्यृचम्' (का० श्रौ० १७।२।१२)। परिश्रित्संलग्नं हलेनात्मनि भूमिं कृषेत्, न पक्षपुच्छयोः। हलस्याग्रे महतीं मौञ्जीं त्रिवृतं रज्जुं बद्ध्वा तस्याः प्रान्तं बलीवर्दानां स्कन्धे युगे बध्नीयात्। बलीवर्दास्त्वग्निक्षेत्राद्बहिरेव तिष्ठन्ति। सीरं च कर्षणवेलायामध्वर्युपुरुषा अग्रतो नयन्ति। तथा च चितिस्थाने परिश्रित्समीपे चतुर्भिर्ऋत्विग्भिर्दक्षिणपश्चिमोत्तरपूर्वेषु चतस्रः सीताः कृषति शुनमिति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। कुमारहारितदृष्टाः सीतादेवत्याश्चतस्रः। द्वे त्रिष्टुभौ तृतीया पङ्क्तिश्चतुर्थ्यनुष्टुप्। सुफालाः सुशोभनाः फाला लाङ्गलाग्रस्थितलोहविशेषाः 'ञिफला विशरणे' इत्यस्मात् णिजन्तात् पचादेराकृतिगणत्वादच्। 'फालः सीरोपकरणोत्प्लवयोः फालमंशुके' इति रामाश्रम्यामुद्धृतम्। भूमिं शुनं सुखं यथा स्यात्तथा, 'शुनमिति सुखनाम' (निघ० ३।६।११), विकर्षन्तु कर्षणं कुर्वन्तु। कीनाशा हलिनः कर्षका वाहैर्बलीवर्दैः सह शुनं सुखं यथा स्यात्तथा अभियन्तु अभितो गच्छन्तु प्रवर्तयतां वा। शुनासीरा हे शुनासीरौ विभक्तेर्डाऽऽदेशः। शुनो वायुः, सीर आदित्यः, तावुभौ युवामेव क्षेत्रे कृष्टे हविषा उदकेन तोशमाना तोशमानौ। तोशतिर्वधकर्मा। सुपिप्पलाः शोभनफलोपेता ओषधीः, अस्मे अस्मभ्यं कर्तन कुरुतम्, बीजावापं कुरुतमित्यर्थः। कुरुतेति वचनव्यत्ययः। तस्य तनबादेशः। 'कीनाशः कर्षके क्षुद्रे कृतान्तोपांशुघातिनोः'। 'शुनो वायुः। शु इत्यन्तरिक्षे। सीरआदित्यः सरणात्' (नि० ९।३५) इति यास्कः। पिप्पलं फलम्।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनं विकृषति। अन्नं वै कृषिरेतद्वा अस्मिन् देवाः संस्करिष्यन्तः पुरस्तादन्नमदधु-स्तथैवास्मिन्नयमेतत्संस्करिष्यन् पुरस्तादन्नं दधाति' (श० ७।२।२।७)। चित्याग्निक्षेत्रमध्ये विकर्षणं विधत्ते—अथैनमिति। एनमात्मानम्। तदेव कर्षणमन्नात्मना स्तौति—अन्नं वा इति। अन्नं खलु कृषिस्तद्धेतुत्वात्। कृष्ट एव हि सम्यगन्नं पच्यते। कर्षणमेव तद्देवकर्तृकान्नाधानतया स्तौति—एतद्वा इति। पुरस्तात् चयनात् प्रागेव देवाः संस्कारं करिष्यन्तोऽस्मिन्नात्मन्येतदेतेन कर्षणेनान्नमेव स्थापितवन्तः, तथैवायं यजमानोऽपीति। 'स वा आत्मानमेव विकृषति। न पक्षपुच्छान्यात्मंस्तदन्नं दधाति यदु वा आत्मन्नन्नं धीयते तदात्मानमवति तत्पक्षपुच्छान्यथ यत्पक्षपुच्छेषु नैव तदात्मानमवति न पक्षपुच्छानि' (श० ७।२।२।८)। पक्षपुच्छानि विहायात्मन्येव कर्षणं विधत्ते—स वा आत्मानमिति। तत् तेन विकर्षणेन आत्मन् आत्मनि अन्नमेव स्थापितवान् भवति। अथात्मन्यन्नाधानं स्तौति—यदु वा इति। आत्मनि यदेवान्नं धीयते स्थाप्यते तदेवान्नं पक्षपुच्छ-सहितमात्मानं रक्षति। पक्षपुच्छेष्वन्नाधानं त्वकिञ्चित्करमित्याह अथ यदित्यादिना। 'स दक्षिणार्धेनाग्नेः। अन्तरेण परिश्रितः प्राचीं प्रथमाꣳ सीतां कृषति शुनꣳ सुफाला विकृषन्तु भूमिꣳ शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैरिति शुनꣳ शुनमिति यद्वै समृद्धं तच्छुनꣳ समर्धयत्येवैनामेतत्' (श० ७।२।२।९)। अथ परिश्रितां समीपे आत्मनो दक्षिणभागेऽन्तरतः प्रागायतां सीतां विधत्ते—स दक्षिणार्धेनेति। परिश्रितोऽन्तरेण तत्संलग्नमेव चित्याग्नेरात्मनो दक्षिणार्धेन दक्षिणपार्श्वे प्रागपवर्गां प्रथमां सीतां लाङ्गलपद्धतिं कृषेत्। 'अन्तरान्तरेण युक्ते' (पा० सू० २।३।४) इति परिश्रिच्छब्दे द्वितीया। मन्त्रं विधाय तन्मध्यपातिशुनशब्दस्य समृद्धार्थकतया प्रथमसीतायाः समर्धनमाह—शुनं सुफाला इत्यादिना।

अध्यात्मपक्षे—शोभनफाला लाङ्गलाग्राः शुनं सर्वसुखकारकमैहिकामुष्मिकं मोक्षरूपं च सुखं यथा स्यात्तथा भूमिं कृषन्तु, ध्यानादीनि साधनानि हृदयभूमिं विलिख्य मलापसारणं कुर्वन्त्वित्यर्थः। कीनाशा जनकादयः कर्षका यजमाना वाहैर्बलीवर्दैः सह शुनं यथा स्यात्तथा अभियन्तु। सिद्धा मलविक्षेपादिनिवारणार्थं साधकैः समागच्छन्त्वित्यर्थः। शुनासीरा शुनासीरौ वाय्वादित्यौ हविषोदकेन भूमिं तोशमाना तोशमानौ ओषधीः सुपिप्पलाः कर्तन कुरुतम्। 'अन्नं वै कृषिः' इति पूर्वोक्तश्रुत्या अन्नरूपैव कृषिरुक्ता। तत एव चयनात् प्राग् आत्मन्यन्नाधानाय कर्षणेन देवा इव चयनाख्ययज्ञे इदानीन्तनोऽपि यजमान आत्मन्यन्नमादधाति। सीता लाङ्गलपद्धतिः, सैवान्नस्य हेतुः, सैव च कृषिः। शुनासीरौ वाय्वादित्यौ अन्तर्भूतौ स्तो यस्मिन्नसौ शुनासीरः, स शुनासीरः सीरध्वजो जनको वैदेहः। अर्शआद्यच्। तादृशेन कर्षणेनैव सर्वैश्वर्यपरिपूर्णाया भूमेः सकाशात् सीतां सर्वैश्वर्यजनयित्रीं लाङ्गलपद्धतिं तदुपलक्षितां सीतोपनिषदुक्तामनन्तसत्तासामान्यरूपां सम्पत्तिं लक्ष्मीं मोक्षलक्ष्मीमष्टसिद्धिनवनिधिरूपां कल्पवृक्ष-चिन्तामणि-कामधेनुरूपां सस्यपत्रपुष्पफलपल्लवाढ्यां शाकम्भरीरूपां वेदरूपां प्रकृतिरूपां च प्रादुश्चक्रे। यद्वा साधको यमनियमादीन् वाहान् योजयित्वा अभ्यासलाङ्गलस्थसुमति-फालेन पुनः पुनः परिकृष्य परिष्कृतायां बुद्धिरूपायां भूमौ गुरूपदेशरूपं बीजं निक्षिपति। ततश्च सर्वैश्वर्यापितां रामोपेतां सीतां लभते। लोकेऽपि सैव लाङ्गलपद्धतिरूपेण सर्वैश्वर्यदात्रीति। सुफालाः शोभनाः सीराग्रस्था लोहविशेषाः शुनं सुखं यथा स्यात्तथा भूमिं विकृषन्तु। कीनाशाः शुनं सुखवाहैः सहाभियन्तु। हे शुनासीरा शुनासीरौ युवाम्, अस्मे अस्मभ्यम्, सुपिप्पला ओषधीः कर्तन कुरुतम्। लौकिकेन पुरुषार्थेनोपासिता कृष्यधिष्ठात्री सीतैव श्रियं प्रयच्छति। यद्वा शोभनबुद्धिरूपाः फाला वेदपुराणादिरूपां भूमिं शुनं सुखेन विकृषन्तु। कीनाशाः कृषीबलाः साधका वाहैर्यमनियमरूपैर्बलीवर्दैः सह तत्राभितो यन्तु। हे शुनासीरौ वाय्वादित्यौ ज्ञानवैराग्यरूपौ हविषा एकाग्रतारूपेण जलेन भूमिं तोशमानौ सिञ्चन्तौ उपदेशरूपा व्रीह्यादिका ओषधीर्ब्रह्मात्मसाक्षात्कार-फलवतीः कुरुतमित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'ये कीनाशाः, ये श्रमेण क्लिश्यन्ति ते कृषीबलाः। फालाः फलन्ति भूमिं विस्तीर्णां कुर्वन्ति यैस्ते। वाहैः वहन्ति यैस्ते वाहास्तैर्वृषभादिवाहनैः सह वर्तमाना हलादिभिर्भूमिं विकृषन्तु विलिखन्तु। शुनं सुखमभियन्तु प्राप्नुवन्तु। हविषा शुद्धघृतादिना तोशमाना सन्तुष्टिकरौ तुष्टौ वर्णव्यत्ययेन शः, शुनासीरौ शुनो वायुः, सरत्यन्तरिक्षे इति सीर आदित्यः, तावेव अस्मे अस्मभ्यं सुपिप्पलाः सुशोभनानि पिप्पलानि फलानि यासु ताः ओषधीर्यवादीन् कर्तन कुर्वन्तु। ताभिः सुशुनं च प्राप्नुयुः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'तोशमानौ शुनासीरौ' इति द्विवचनासङ्गतेः। हिन्दीभाष्ये तु वायुसूर्यसदृशानि कृषिसाधनानीत्युक्तम्। तथा च कथं द्विवचनसङ्गतिः? कथं च साधनानां वायुसूर्यतुल्यत्वम्? कथं च तोषकत्वमिति? शुनासीरा इत्यत्र 'देवताद्वन्द्वे च' (पा० सू० ६।३।२६) इति पूर्वपदस्यानङ्ङादेशः। महीधरस्य पूर्वपददीर्घवचनं चिन्तनीयमिति, तत्तुच्छम्, अत्र पूर्वपदे आनङ्ङादेश एव महीधराभिमतः। यतस्तेन सूत्रमुद्धृतम्—'देवताद्वन्द्वे च' इति। असत्यानङ्ङादेशे दीर्घासम्भवः। तथा लेखनं तु लेखकप्रमादादिति मन्तव्यम् ॥ ६९ ॥

घृतेन सीता मधुना समज्यतां विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः।
ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमानास्मान् सीते पयसाभ्याववृत्स्व ॥ ७० ॥

मन्त्रार्थ—सम्पूर्ण देवगण से अंगीकृत यह हल की फाल मधुर घृत, अर्थात् अमृतमय जल से सिंचित हो। हे फाल, तुम ओज, अन्न तथा दूध-दही, घृत आदि से दिशाओं को पूरित करती हुई सब प्रकार से अनुकूल बनो, खेत में उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण ओषधियाँ अमृत जल से परिपुष्ट होकर सतेज हों। हे फाल, इस प्रकार तुम अमृतमय जल का संचय करके हमारी कामनाएं पूरी करो ॥ ७० ॥

इयं सीता लाङ्गलपद्धतिः, मधुना मधुरेण, घृतेन उदकेन, समज्यतां संसिच्यताम्। अतः सा सीता विश्वैर्देवैर्मरुद्भिश्च अनुमता समीचीनेयमित्यङ्गीकृता सा पुनरूर्जस्वती रसवती पयसा जलेन पिन्वमाना आप्यायिता वर्तते। हे सीते, जलेनाप्यायिता त्वमस्मान् प्रत्यभ्याववृत्स्व अभित आवृत्ता भव। यद्वा पयसा पयोदधिघृतादिभिः पिन्वमाना दिशः पूरयन्ती सती पयसा दुग्धादिभिः सह अस्मदभिमुखा सती आवृत्ता अस्मदनुकूला भवेत्यर्थः। ववृत्स्वेति 'वृतु वर्तने' इत्यस्मात् 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इति शपः श्लौ लोटि रूपम्। उव्वटाचार्यरीत्या—घृतेन उदकेन मधूदकेन समज्यतां संसिच्यताम्। विश्वैः सर्वैर्देवैरभ्यनुज्ञाता, मरुद्भिश्चानुज्ञाता। मरुतो ह वै वर्षास्वीशते। एवं क्षारोदकेन सिक्ता अभ्यनुज्ञाता मरुदादिभिः। शेषं पूर्ववत्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ जघनार्धेनोदीचीम्। घृतेन सीता मधुना समज्यतामिति यथैव यजुस्तथा बन्धुर्विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिरिति विश्वे च वै देवा मरुतश्च वर्षस्येशत ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमानेति रसो वै पय ऊर्जस्वती रसेनान्नेन पिन्वमानेत्येतदस्मान् सीते पयसाऽभ्याववृत्स्वेत्यस्मान् सीते रसेनाभ्याववृत्स्वेत्येतत्' (श० ७।२।२।१०)। ततो दक्षिणश्रोणेरारभ्योदगपवर्गां पश्चिमपार्श्वे द्वितीयां सीतां विधत्ते—अथ जघनार्धेनेति। तत्र मन्त्रं विधत्ते—घृतेनेति। तत्र प्रथमपादो निगदव्याख्यातः। द्वितीयपादेऽनुमतेतिशब्दस्य विश्वेदेवानां मरुतां च वृष्टेरीशितृत्वं प्रयोजकमिति व्याचष्टे—विश्वे च वै देवा इति। तृतीयपादे पयःशब्दस्य रसोऽर्थ इति व्याचष्टे—रसो वै पय इति। तत्रैव पिन्वमानेति पदमध्याहृत्यान्नपदेनान्वेतीति व्याचष्टे—अन्नेन पिन्वमानेत्येतदिति। ततश्च मन्त्रस्यायमर्थः—सीता पश्चिमत उदीची क्रियमाणा लाङ्गलपद्धतिर्मधुना घृतेन मधुरेणोदकेन समज्यतां संसिच्यताम्। 'घृतमित्युदकनाम जिघर्तेः सिञ्चतिकर्मणः' (नि० ७।२४) इति हि यास्कः।

विश्वैर्देवैर्वृष्टेरीशानैर्मरुद्भिश्च गणदेवैरनुमताऽभ्यनुज्ञाता तथा पयसा रसेन ऊर्जस्वती बलकररसोपेता तथा पिन्वमाना सेचनं कुर्वती, अन्नेनेति शेषः। तथा श्रुतिरेव व्याचष्टे—अन्नेनेति। एवं स्तुते हे सीते, त्वमस्मान् अभ्याववृत्स्व अतिशयेनाभिमुखमावृत्ता भवेति।

अध्यात्मपक्षे—सीता कृष्युपलक्षिता चिद्रूपा परमैश्वर्याधिष्ठात्री जनकनन्दिनी विश्वैः सर्वैर्देवैरनुमता पूजिता घृतेन आज्येन मधुना क्षौद्रेण च समज्यतां सिक्ता भवतु। हे सीते भगवति, ऊर्जस्वती दिव्यान्नरसवती भूत्वा त्वं पयसा दुग्धादिभिः पिन्वमाना दिशः पूरयन्ती ऋद्धिसिद्धिसमृद्धिज्ञानविज्ञानादिभिः साधकानन्तर्बहिः पूरयन्ती अस्मदभिमुखमावृत्ता भव।

अत्र दयानन्दः—'विश्वैः सर्वैः देवैरन्नादिकामयमानैर्विद्वद्भिर्मनुष्यैरनुमताऽनुज्ञापिता पयसा जलेन दुग्धेन वा ऊर्जस्वती ऊर्जः पराक्रमसम्बन्धो विद्यते यस्याः सा, पिन्वमाना सिक्ता सेविता वा सीता साययन्ति क्षेत्रस्थलोष्टान् क्षपयन्ति यया सा सीता काष्ठपट्टिका घृतेन आज्येन मधुना क्षौद्रेण शर्करादिना वा समज्यतां संयुज्यताम्। सा सीताऽस्मान् घृतादिना संयोक्ष्यतीति पयसाऽभ्याववृत्स्व अभ्यावर्तताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृश्याः काष्ठमय्याः सीताया घृतदुग्धक्षौद्रादिभिः संयोजनस्य प्रयोजनानुक्तेः। कथं च सा जडा प्रार्थ्यते ? कथं च सा प्रार्थिता सती अस्मान् घृतादिभिः संयोक्ष्यति ? सीता च लाङ्गलेन क्रियमाणा रेखैव, 'सीता लाङ्गलपद्धतिः' (२।९।१४) इत्यमरकोषवचनात्। तथा च श्रुतिः—'प्राचीं प्रथमा१ृ सीतां कृषति' (श० ७।२।२।९) इति। ज्ञायतेऽनया यद् हलेन क्रियमाणा रेखैव सीता। सायते क्षीयते खन्यते भूमिर्यया लाङ्गलगत्या सैव सीता भवति, तथैव सायणादिभिर्व्याख्यातत्वात् ॥ ७० ॥

लाङ्ग॑लं पवी॑रवत् सु॒शेव॑ᳬ सोम॒पित्स॑रु। तदुद्व॑पति॒ गामविं॑ प्रफ॒र्व्यं॑ च॒ पीव॑रीं प्रस्था॒वद्र॑थ॒वाह॑णम् ॥ ७१ ॥

मन्त्रार्थ—वह पूर्वोक्त फाल संयुक्त, यजमान के निमित्त भूमि को खोदने वाला सुखकारक हल अति वेगवान् छाग, स्थूल पुष्ट अंग वाली गाय और गमन में समर्थ रथवाहक अश्व आदि को प्राप्त करता है ॥ ७१ ॥

इदं लाङ्गलमुद्वपति उद्गमयति प्रापयतीत्यर्थः। उद्धतानि प्रौढलोष्ठानि यथा भवन्ति तथा कर्षणं कुर्यादित्यर्थः। कीदृशं लाङ्गलम् ? पवीरवद् वज्रवत् तीक्ष्णधारोपेतम्। सुशेवं कर्षकैः सुष्ठु सेवितुं शक्यम्। अतितीक्ष्णत्वेन सहसा भूमिभेदात् कर्षकाणां नास्ति प्रयास इत्यर्थः। सोमपित्सरु सोमं पिबतीति सोमपा यजमानस्तस्मिन् सोमपि यजमानरूपायां भूमौ त्सरणशीलं पापनाशकं खननशीलं वा। अनेन कर्षणेन फलाधिक्ये सति गवादिकं यजमानः प्राप्नोत्विति शेषः। तत्र गौरविरित्युभयं प्रसिद्धम्। प्रफर्व्यं प्रकर्षेण फर्वितुं योग्या प्रफर्वी, तां प्रफर्व्यं प्रथमवयस्कां कन्यां पीवरीं पुष्टाङ्गीम्। प्रस्थावत् प्रस्थानसमर्थं रथवाहणं रथं वोढुं योग्यमश्वादिकं तदानीमेवैतत्सर्वं यजमानस्य सुलभं यदा कृषिः समृद्धा भवेत्। यद्वा तत्पूर्वोक्तं लाङ्गलं हलं गां धेनुमविं छागविशेषं रथवाहणं रथवाहकमश्वादिकमुद्वपति उद्गमयति प्रापयति। अत एव लाङ्गलं गवादिप्रापकम्। कीदृशं लाङ्गलम् ? पवीरवत् पविर्धारास्यास्तीति पवीरं फालं तदस्यास्तीति पवीरवत् फालसंयुक्तम्। सुशेवं सु शोभनं शेवं सुखं यस्मात् तत्। 'शेवमिति सुखनाम' (निघ० ३।६।१७)। सोमपित्सरु सोमपि यजमाने त्सरु त्सरति नाशयति पापमिति त्सरु, 'त्सर छद्मगतौ' इति धातोः शीलार्थे 'भृमृशीतॄचरित्सरितनिधनिमिमस्जिभ्य उः' (उ० १।७) इत्युप्रत्ययः। 'हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्' (पा० सू० ६।३।९) इति विभक्तेरलुक्। 'आतो धातोः' (पा० सू० ६।४।१४०) इत्याकारलोपे हलन्तत्वात्। यजमान-

निमित्तं भूमिं त्सरति खनति वा । यद्वा सोमः पीयतेऽनेनेति सोमपिश्चमसः, तस्य त्सरु निष्पादकं सोमपित्सरु । नहि लाङ्गलकर्म विना सोमचमसाः स्युः । ईदृशं लाङ्गलं गवादि गमयति । कीदृशीं गामविं च ? प्रफर्व्यं प्रकर्षेण फर्वति फरफरध्वनिं कुर्वन् गच्छतीति प्रफर्वी, ताम् । 'वा छन्दसि' (पा० सू० ६।१।१०६) इत्यमि पूर्वसवर्णदीर्घाभावे यणादेशः । युवतित्वादतिवेगवतीमित्यर्थः । तथा पीवरीं स्थूलां पुष्टाङ्गीम् । कीदृशं रथवाहनम् ? प्रस्थावत् । प्रस्थानं प्रस्था गतिः, साऽस्यास्तीति प्रस्थावत् प्रयाणसमर्थम्, उत्कृष्टजवोपेतमित्यर्थः ।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथोत्तरार्धेन प्राचीम् । लाङ्गलं पवीरवदिति लाङ्गलꣳ रयिमदित्येतत् सुशेवꣳ सोमपित्सर्वित्यन्नं वै सोमस्तदुद्वपति गामविं प्रफर्व्यं च पीवरीं प्रस्थावद् रथवाहणमित्येतद्धि सर्वꣳ सीतोद्वपति' (श० ७।२।२।११) । अथोत्तरपार्श्वे प्रागपवर्गां तृतीयां सीतां विधत्ते—अथोत्तरार्धेनेति । सप्तम्यर्थे 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (पा० सू० २।३।१८) इति सूत्रस्थात् 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इति वार्त्तिकात् तृतीया । तत्र मन्त्रं विधत्ते—लाङ्गलमिति । तत्र प्रथमपादे भूमेः खननेन श्रीरूपान्ननिष्पादनद्वारा फालस्य साधनत्वाल्लक्षणया पवीरवद् रयिमदिति व्याचष्टे—लाङ्गलं रयिमदिति । द्वितीयपादे 'सोमपित्सरु' इति पदैकदेशभूतस्य सोमशब्दस्यान्नमर्थ इत्याह—अन्नं वै सोम इति । उत्तरार्धपरिष्ठितस्य पदार्थजातस्य सीतैवोद्गमयित्रीत्याह—एतद्धि सर्वं सीतोद्वपतीति । उद्वपति उद्गमयतीत्यर्थः ।

एतदनुसारी मन्त्रार्थस्तु—लाङ्गलं हलं पवीरवत्, पविः धारा सा अस्यास्तीति पवीरं फालः, रो मत्वर्थे, छान्दसं दीर्घत्वम्, तदस्यास्तीति पवीरवत्, फालसंयुक्तमित्यर्थः । सुशेवं सुष्ठु शोभनं शेवयति सुखयति तत् सुशेवम् । 'शेवमिति सुखनाम' (निघ० ३।६।१७) । सोमपित्सरु सोमं पिबतीति सोमपा यजमानः, तस्मिन् सोमपि यजमाने त्सरति पापादिकं नाशयतीति सोमपित्सरु । यद्वा सोममन्नं पाति रक्षतीति सोमपाः, तस्मिन् वर्तमानमशनायादुःखं त्सरति नाशयतीति तथा । श्रुतेरभिमतमेतद् व्याख्यानम् । सोमपीत्यत्र 'हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्' (पा० सू० ६।३।९) इति विभक्तेरलुक् छान्दसः । यदित्थंभूतं लाङ्गलं तत् कर्तृ गवादिरथवाहनान्तमुद्वपति उद्गमयति । गां गोजातिम्, अविं मेषजातिम्, प्रफर्व्यं प्रथमयुवतिम्, तरुणीमित्यर्थः । फर्वतिर्गतिकर्मा । प्रकर्षेण फर्व्या गम्या प्रफर्व्यः, छान्दसो ह्रस्वः, तां प्रफर्व्यम् । कीदृशीं ताम् ? पीवरीम् उन्नतस्तनकपोलाम् । प्रस्था प्रस्थानम्, तद्वदुत्कृष्टजवोपेतं रथवाहणम् अश्वम्, रथं वहतीति रथवाहनं यानम् ।

अध्यात्मपक्षे—लाङ्गलं सीताप्रादुर्भावसाधनमुपासनं कर्म वा पवीरवद् बुद्धिरूपफालयुक्तं सुष्ठु सुखकरं सोमपित्सरु सोमपि यजमाननिमित्तं पूर्वोक्तवेदशास्त्ररूपभूमिं त्सरति खनतीति सोमपित्सरु तद्रूपं तदुपासनं गां कामरूपाम्, अविं रक्षणसाधनं दिव्यास्त्रादिकम्, प्रथमयुवतिं पीवरीमुच्छूनस्तनकपोलां दृढां परमात्मबुद्धिं वा प्रस्थावद् उत्कृष्टजवोपेतं रथवाहणमश्वं च उद्वपति उद्गमयतीत्यर्थः । सर्वसमृद्धिमुद्गमयतीति यावत् ।

दयानन्दस्तु—'हे कृषीबलाः, यूयं यत् सोमपित्सरु ये सोमयवाद्योषधीः पालयन्ति तान् त्सरयति कुटिलं गमयति तत् । पवीरवत् पवीरः फालो विद्यते यस्मिन् तत् । सुशेवं सुष्ठु सुखकरं लाङ्गलं सीरा पश्चाद्भागे दार्ढ्याय संयोज्यं काष्ठं प्रफर्व्यं प्रफर्वितुं योग्यं प्रस्थानवत् प्रशस्तं प्रस्थानं यस्यास्ति तत् । रथवाहणं रथं वहति येन तत् । येन अविं रक्षणादिहेतुं पीवरीं यया पाययन्ति तां स्थूलां गां पृथिवीमुद्वपति उत्खनति, तद्यूयं साध्नुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तद्यूयं साध्नुतेत्यध्याहारे मानाभावात्, असङ्गतेश्च, सोमरक्षकान् किं किमर्थं कुटिलं चालयतीत्यनुक्तेः । लाङ्गलं रथवाहनं कथं भवति ? पीवरीमित्यस्य यया पाययन्ति तामिति द्रविडप्राणायामेन पृथिवीरूपाया गोविशेषणत्वेऽपि नार्थसङ्गतिः । पृथिव्याः स्थूलत्वबोधनस्यापि व्यावर्त्याभावाद् वैयर्थ्यमेव ॥ ७१ ॥

कामं॒ का॑म॒दुघे॑ धुक्ष्व मि॒त्राय॒ वरु॑णाय च।
इन्द्रा॑या॒श्विभ्यां॑ पू॒ष्णे प्र॒जाभ्य॒ः ओष॑धीभ्यः ॥ ७२ ॥

मन्त्रार्थ—हे मनोरथ को पूरा करने वाली सीते ! मित्र, वरुण, इन्द्र, दोनों अश्विनीकुमार और पूषा देवता प्रजाओं के भोगार्थ और औषधियों के निमित्त अपेक्षित भोग का सम्पादन करें ॥ ७२ ॥

हे कामदुघे, काम्यन्त इति कामा भोगा मनोरथा वा, तान् दोग्धि प्रपूरयतीति कामदुघा लाङ्गलपद्धतिः, तत्सम्बुद्धौ। मित्राय सूर्याय, वरुणाय जलाधिष्ठात्रे देवाय, इन्द्राय देवराजाय, अश्विभ्याम्, पूष्णे तन्नामकाय देवाय, प्रजाभ्य ओषधीभ्यः प्रजार्थमोषधिनिष्पत्त्यर्थं च काममपेक्षितं भोगं धुक्ष्व निष्पादय।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ पूर्वार्धेन दक्षिणाम्। कामं कामदुघे धुक्ष्व मित्राय वरुणाय च। इन्द्रायाश्विभ्यां पूष्णे प्रजाभ्य ओषधीभ्य इति सर्वदेवत्या वै कृषिरेताभ्यो देवताभ्यः सर्वान् कामान् धुक्ष्वेत्येतदित्यग्रे कृषत्यथेति। अथेत्यथेति तद्दक्षिणावृत् तद्धि देवत्रा' (श० ७।२।२।१२)। पूर्वपार्श्वे दक्षिणापवर्गां चतुर्थीं सीतां विधत्ते—अथ पूर्वार्धेनेति। तत्र मन्त्रः—'कामं कामदुघे' (वा० सं० १२।७२) इति। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। इतिशब्दो मन्त्रसमाप्तिद्योतक। कृषेः सर्वदेवतासम्बन्धद्वारा मन्त्रोक्तदेवताभ्यः कामप्रपूरणमाशास्यमिति मन्त्रतात्पर्यमाह—सर्वदेवत्या वै कृषिरिति। इत्थं दक्षिणादिचतसृषु दिक्षु प्रादक्षिण्येन कृतं कर्षणमभिनयेन निर्दिश्य स्तौति—इत्यग्र इति। अथ अनन्तरम्। इति अनेन प्रकारेण। अथ जघनार्धेन इत्युक्तलक्षणेन पश्चिमत उदीचीं कृषति। अथ उत्तरार्धेन उत्तरतः प्राचीं कृषति। अथ पूर्वार्धेन पूर्वस्यां दिश्युदग्दक्षिणायतां सीतां कृषति। तदेवं सति दक्षिणावृत् प्रादक्षिण्येन आवृत्तिर्भवति। तत्खलु देवत्रा देवसम्बन्धिनि कर्मणि योग्यं भवति। 'चतस्रः सीता यजुषा कृषति। तद्यच्चतसृषु दिक्ष्वन्नं तदस्मिन्नेतद्दधाति तद्वै यजुषाऽद्धा वै तद्यद्यजुरद्धो तद्यदिमा दिशः' (श० ७।२।२।१३)। उक्तं कर्षणं समन्त्रकमनूद्य स्तौति—चतस्र इति। स दक्षिणार्धेन इत्यादिना चतसृषु दिक्षु क्रमेण प्रोक्ताश्चतस्रः सीताः शुनं सुफाला विकृषन्तु भूमिमित्यादिना यजुषा यजुर्वेदपठितेन मन्त्रेण कृषति। तेन प्रागादिषु दिक्षु यत् प्रसिद्धं कृष्टपच्यं व्रीहियवादिकमन्नमस्ति, तदस्मिन्नग्नौ यजमाने वा एतेन कर्षणेन दधाति। यजुर्मन्त्रेण कर्षणं प्रकारान्तरेण स्तौति—तद्वा इति। तत्खलु कर्षणं यजुषा क्रियते। यजुरिति यदस्ति तद् अद्धा वै अनुष्ठेयार्थप्रकाशकत्वात् प्रत्यक्षतो विस्पष्टम्। इमाः प्रागाद्या दिशश्च प्रत्यक्षत्वाद् विस्पष्टतराः, अतो यजुषो दिशां चाद्धात्वसाम्याद् दिक्षु यजुषा कर्षणं युक्ततरमिति भावः। 'तिस्रस्तिस्रः सीताः कृषति' (श० ७।२।२।१५), 'द्वादश सीतास्तूष्णीं कृषति' (श० ७।२।२।१६) इत्यादिभिः सीतापदेन लाङ्गलपद्धतय एव विहिताः। सीतापदेन लोष्ठादिनाशककाष्ठविशेषादिग्रहणं दयानन्दस्यासङ्गतमेव। एतच्चानुपदमेव तदर्थालोचने आलोच्यते।

अध्यात्मपक्षे—हे सीतोपलक्षिते कामप्रपूरिके, मित्रादिभ्यः कामं धुक्ष्व पूरय।

दयानन्दस्तु—'हे कामदुघे पाचिके, त्वं भूमिरिव सुसंस्कृतैरन्नैर्मित्राय सुहृदे वरुणाय उत्तमविदुषे च अतिथये इन्द्राय परमैश्वर्ययुक्ताय अश्विभ्यां प्राणापानाभ्यां पूष्णे पुष्टिकराय प्रजाभ्यः स्वसन्तानेभ्य ओषधीभ्यः सोमयवादिभ्यः काममिच्छां धुक्ष्व पिपूर्हि' इति, तदपि निरर्थकमेव, असङ्गतेः, पाचिकाया ओषधीनामिच्छा-पूरकत्वासम्भवात्। प्राणापानयोरिच्छापूरकत्वे जाते कृतमन्येषामुल्लेखेन। यश्च पुष्टिकरस्तस्य कामपूरकत्वं कथं तस्यां सम्भवति ? तस्मात् सीतैव कामदोग्ध्री। लाङ्गलपद्धत्याः पारम्पर्येण तदधिष्ठात्र्याः सीताया अपि पारमैश्वर्यात् सुतरां सर्वकामपूरकत्वम् ॥ ७२ ॥

विमु॑च्यध्वमघ्न्या देवयाना अग॑न्म तम॑सस्पा॒रम॒स्य ज्योति॑रापाम ॥ ७३ ॥

मन्त्रार्थ— देवताओं के निमित्त कार्य करने वाले मारने के अयोग्य हे बलीवर्द ! जगत् की स्थिति के लिये तुम कृषि कार्य का सम्पादन करो। तुम्हारी कृपा से हम क्षुधा, पिपासा आदि से उत्पन्न हुए दुःख के पार को प्राप्त हो गये हैं, हम ज्योतिस्वरूप परमात्मा को प्राप्त हुए हैं ॥ ७३ ॥

'अनडुहो विमुच्य विमुच्यध्वमिति, पशुवदुत्सृज्य दक्षिणाकालेऽध्वर्यवे ददाति' (का० श्रौ० १७।२।२१-२२)। वृषान् हलाद्विमोच्य पशुवदित्यैशानीं दिशं प्रति विसृजत्यध्वर्युः। यजमानश्च सुत्यायां ससीरांस्तानध्वर्यवे ददातीति सूत्रार्थः। विमोचने मन्त्रः। आर्षी गायत्री पादानियमात्। हे अघ्न्या अहन्तव्या गावो बलीवर्दाः, यूयं विमुच्यध्वम्। मुचेः कर्मकर्तरि यक्। लोटि रूपम्। युगानि मुञ्चत। देवयाना देवेभ्यो देवार्थं यानं कृष्याद्युद्यमो येषां ते तथोक्ताः। यद्वा देवयानमार्गहेतुभूताः कर्मद्वारा तत्प्रापका यूयमस्य क्रियात्मकस्य तमसः परं पारं तीरं वयमगन्म गताः स्मेति संवदध्वमिति शेषः। यद्वा क्षुत्पिपासाद्युद्भूतस्य दुःखस्य पारं समाप्तिं प्राप्ताः स्मेति। अतो वयं ज्योतिः सुखाभिव्यञ्जकं यज्ञलक्षणं परमात्मरूपं वा ज्योतिः। आपाम प्राप्तवन्तः।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनान् विमुञ्चति। आप्त्वा तं कामं यस्मै कामायैनान् युङ्क्ते विमुच्यध्वमघ्न्या इत्यघ्न्या ह्येते देवत्रा देवयाना इति दैवꣳ ह्येभिः कर्म करोत्यगन्म तमसस्पारमस्येत्यशनाया वै तमोऽगन्मास्या अशनायायै पारमित्येतज्ज्योतिरापामेति ज्योतिर्ह्याप्नोति यो देवान् यो यज्ञमथैनानुदीचः प्राचः प्रसृजति तस्योक्तो बन्धुस्तानध्वर्यवे ददाति स हि तैः करोति तांस्तु दक्षिणानां कालेऽनुदिशेत्' (श० ७।२।२।२१)। कर्षणानन्तरमनडुहां विमोचनं विधत्ते—अथैनानिति। यस्मै खलु प्रयोजनाय एनान् पूर्वं युक्तवान् तं कामं कर्षणलक्षणं प्रयोजनमाप्त्वा लब्ध्वा तेषां विमोचनं युक्तमिति शेषः। विमोचने मन्त्रं विधाय व्याचष्टे—विमुच्यध्वमिति। 'अघ्न्या इति गोनाम' (निघ० २।११।१)। एते खल्वनड्वाहो देवत्रा देवेष्वघ्न्या अहन्तव्याः, देवसम्बन्धिनो गाव इत्यर्थः। दैवं ह्येभिरिति। एभिरनडुद्भिर्दैवं देवसम्बन्धि कर्षणलक्षणं कर्म करोति। तस्माद्देवान् याति प्राप्नोत्येभिरिति व्युत्पत्त्या देवयाना इत्यनडुद्विशेषणं युक्तमिति भावः। द्वितीयं पादमनूद्य तत्रत्यतमःशब्दस्य विवक्षितमर्थमाह—अगन्मेति। अशनस्येच्छा अशनाया क्षुत्पीडा। 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) इति क्यचि 'अशनायोदन्य....' (पा० सू० ७।४।३४) इति निपातनात्, 'क्यचि च' (पा० सू० ७।४।३३) इति ईत्वाभावे, 'अप्रत्ययात्' (पा० सू० ३।३।१०२) इत्यकारप्रत्यये 'अशनाया' इति रूपम्। स्पष्टमन्यत्। ज्योतिर्हीत्यादि। यो हि हविःप्रदातृत्वेन यज्ञं तत्रत्यान् देवांश्च प्राप्नोति, एष हि ज्योतिर्ज्योतिर्मयं स्वर्गादिभोगयोग्यं शरीरमाप्नोति, 'सुकृतां वा एतानि ज्योतींषि' (तै० सं० ५।४।१।३) इति श्रुतेः। अतोऽत्र मन्त्रे ज्योतिरापाम इति ज्योतिराप्तिप्रतिपादनं युक्ततरमित्यर्थः। उत्तरपूर्वस्यां दिशि तेषामनडुहां प्रस्थापनं विधत्ते—अथैनानुदीच इति। अथ विमोचनानन्तरमेवानडुह उदीच उदङ्मुखान् प्राचः प्राङ्मुखांश्च कृत्वा प्रसृजति प्रस्थापयति। तत्स्तावकं प्रागाम्नातं वाक्यशेषमतिदिशति—तस्योक्त इति। 'एषा ह्युभयेषां देवमनुष्याणां दिग् यदुदीची प्राची' (श० ६।६।२।३) इत्यादि। तेषां दक्षिणाकाले दानं विधत्ते—तानध्वर्यव इति। अध्वर्योरेव सम्प्रदानत्वे कारणमाह—स हीति। अध्वर्युर्हि तैरनडुद्भिः कर्षणं करोति, तस्मादध्वर्यवे दानं युक्तमित्यर्थः। तस्मिन् दाने कालविशेषं विधत्ते—तांस्त्विति। ऋत्विक्परिक्रयहेतवो दातव्या गावो दक्षिणाः। तासां यः कालो माध्यन्दिनसवनात्मकस्तस्मिन्ताननडुहोऽनुदिशेद् दद्यात्।

अध्यात्मपक्षे—हे अघ्न्या गाव इन्द्रियाणि, यूयं देवयाना देवस्य कार्यब्रह्मणः परब्रह्मणश्च प्राप्तिसाधनभूताः, कर्मानुष्ठानद्वारा श्रवणादिद्वारा तत्तद्ब्रह्मप्राप्तिहेतुत्वात्। विमुच्यध्वम् उपरता भवत। त्वत्प्रसादाद्

वयं तमसोऽविद्यातत्कार्यलक्षणस्य तमसः पारमगन्म प्राप्ताः । ज्योतिरपरब्रह्मलक्षणं परब्रह्मलक्षणं वा आपाम प्राप्तवन्तः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा यूयमघ्न्या देवयाना याभिर्देवान् दिव्यान् भोगान् प्राप्नुवन्ति ताः प्राप्य संस्कृतान्यन्नानि भुक्त्वा रोगेभ्यो विमुच्यध्वम्, तथा वयमपि विमुच्येमहि । यथा यूयं तमसः पारं रात्रेः पारं प्राप्नुत तथा वयमगन्म । यथा यूयमस्य सूर्यस्य ज्योतिः प्रकाशं व्याप्नुत तथा वयमप्यापाम' इति, तदपि वेदमन्त्राणां लौकायतिकत्वापादनमेव, तादृशसम्बोधने मानाभावात्, 'अघ्न्या''''इति नव गोनामानि' (निघ० २।११) इति निघण्टुविरोधाच्च, श्रुतिसूत्रविरोधाच्च, देवपदस्य दिव्यभोगा अर्थं इत्यस्य साधयितुमशक्यत्वाच्च । लोके तु लौकिका एव भोगा इति कुतो भोगानां दिव्यत्वम् ? मनुष्ययोनेर्भिन्ना देवयोनिरिति भूमिकाभागे देवतावादप्रसङ्गे प्रोक्तत्वाच्च । सुसंस्कृतान्यन्नानि देवयाना इत्यपि निर्मूलमेव । वाचकलुप्तोपमालङ्काराश्रयणमपि निर्मूलमेव । अस्य सूर्यस्य ज्योतिः पशवोऽपि प्राप्नुवन्त्येवेति तदाम्रेडनं व्यर्थमेव ॥ ७३ ॥

सजूरब्दो अयवोभिः सजूरुषा अरुणीभिः । सजोषसावश्विना दꣳसोभिः सजूः सूर एतशेन सजूर्वैश्वानर इडया घृतेन स्वाहा ॥ ७४ ॥

मन्त्रार्थ— जलों का दाता, मास-अधिमास आदि अवयवों के साथ विद्यमान संवत्सर हमारे ऊपर प्रीतियुक्त हों । प्रातःकाल की अधिष्ठात्री उषा देवता अरुण वर्ण वाली गायों से प्रीति युक्त हो, अश्विनीकुमार चिकित्सा कार्य से, सूर्य घोड़े से और वैश्वानर अग्नि पृथ्वी और घृत से प्रीति युक्त हों । इन सब देवताओं के निमित्त हम श्रेष्ठ आहुतियाँ देते हैं ॥ ७४ ॥

'पञ्चगृहीतेनोद्गृह्णन्नभिजुहोति सजूरब्द इति' (का० श्रौ० १७।३।२) । तदानीं संस्कृतेन जुह्वा पञ्चगृहीतेन आज्येन कृष्टात्ममध्यस्थापितकुशस्तम्बे स्रुचमूर्ध्वां कुर्वन् जुहोति सजूरब्द इति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः । लिङ्गोक्तदेवत्यं यजुः । ब्राह्मी अनुष्टुप् छन्दः । अब्दः, अपो जलानि ददातीत्यब्दः संवत्सरः । स हि अपो ददाति । अयवोभिः यवा अर्धमासाश्च अयवा मासाश्च अयवसः, तैः । छान्दसं निपातनम् । सजूः जोषणं जुट् प्रीतिः । सह जुषा वर्तत इति सजूः । समाना जुड्वा यस्यासौ सजूः । जुषतेः सम्पदादित्वाद् भावे क्विप् । मासार्धमासैः प्रीतियुक्तो भवत्विति शेषः । तथा उषाः प्रातरधिष्ठात्री देवता अरुणीभिः अरुणवर्णाभिः गोभिः सजूः प्रीतियुक्ता भवतु । अश्विना अश्विनौ देवभिषजौ दंसोभिः कर्मभिश्चिकित्सादिभिः सजोषसौ प्रीतिमन्तौ भवताम् । सूरः सूर्यः एतशेन अश्वेन सजूस्तुष्टो भवतु । वैश्वानरोऽग्निरिडया पृथिव्या सजूः प्रीतो भवतु, तस्य पृथिव्यधिष्ठानत्वात् । गौर्वागन्नं च इडाशब्देनोच्यन्ते । अत्र तु इडाशब्देन पृथिव्येव ग्राह्या । कथङ्कारमेतेषां सजोषणम् ? इत्युच्यते—घृतेन स्वाहेति । एभ्योऽब्दादिभ्यो घृतेन स्वाहा सम्पद्यतामिति शेषः । इदं घृतमेतेभ्यः सुहुतमस्त्विति भावः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ दर्भस्तम्बमुपदधाति । एतद्वै देवा ओषधीरुपादधत तथैवैतद्यजमान ओषधीरुपधत्ते' (श० ७।२।३।१) । अथ कुशस्तम्बोपधानं विधत्ते—अथ दर्भस्तम्बमिति । एकमूलोऽनेकशाखः स्तम्ब इत्युच्यते । दर्भाणां स्तम्बो दर्भस्तम्बः । तमात्ममध्ये पक्षपुच्छातिरिक्तचितिमध्ये तूष्णीमुपदधाति स्थापयेदित्यर्थः । तदुपधानं देवकर्तृकौषध्युपधानद्वारा स्तौति—एतद्वा इति । 'यद्वेव दर्भस्तम्बमुपदधाति । जायत एष एतद्यच्चीयते स एष सर्वस्मा अन्नाय जायत उभयं वेतदन्नं यद्दर्भा आपश्च ह्येता ओषधयश्च या वै वृत्राद्बीभत्समाना आपो धन्व दृभन्त्य उदायंस्ते दर्भा अभवन्यद्दृभन्त्य उदायंस्तस्माद्दर्भास्ता हैताः शुद्धा मेध्या आपो वृत्राभिप्रक्षरिता यद्दर्भा

यद् दर्भास्तेनौषधय उभयेनैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति' (श० ७।२।३।२)। तदेव प्रकारान्तरेण स्तौति—यद्वेवेति। य एष आहवनीयोऽग्निश्चीयते, एष जायत उत्पद्यत एव। स एष जायमानोऽग्निः सर्वस्मै कृत्स्नाय अन्नाय तदुपभोक्तुं जायते। नामनिर्वचनद्वारा दर्भाणामुभयविधान्नत्वमुच्यते—उभयं वेतदिति। उभयविधत्वमेव विवृणोति—या वै वृत्रादिति। 'वृत्रो ह वा इदंꣳ सर्वं वृत्वा शिश्ये' इत्युपक्रम्य 'तस्माद् हैका आपो बीभत्साञ्चक्रिरे' (श० १।१।३।४-५) इत्यादिना प्रथमकाण्डे दर्भोत्पत्तिरुक्ता। या आपो वृत्रासुराद्बीभत्समाना जुगुप्साश्रयत्वाद्विकुर्वाणा धन्व अन्तरिक्षं दृभन्त्यो गुम्फनं कुर्वन्त्य उदायन् उद्गतवत्यः, 'धन्वान्तरिक्षम्। धन्वन्त्यस्मादापः' (नि० ५।५) इति यास्कोक्तेः। दृभन्त्य इति तौदादिकात् 'दृभी ग्रन्थे' इति धातोः शतरि 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (पा० सू० ४।१।५) इति ङीपि प्रथमाबहुवचने। ते दर्भा अभवन् आप एव दर्भत्वमाप्ता इत्यर्थः। 'ते' इति पुंल्लिङ्गत्वं दर्भापेक्षम्। यस्माद् दृभन्त्यो गुम्फनं कुर्वन्त्य उद्गतवत्यः, तस्माद्दृभणादापो दर्भा दर्भपदवाच्याः। ताः प्रशंसति—ता हैता इति। एता आपः शुद्धाः शुद्धिसाधनभूताः, तथा मेध्या मेधार्हाः। तदेव स्पष्टयति—आपोऽवृत्राभिप्रक्षरिता इति। न वृत्रादभिप्रक्षरिता अभिप्रस्रुताः, किन्तु उ पुनर्यद् यस्माद् दर्भाः, तेन कारणेन ओषधयः। दर्भाणामोषधित्वमन्यत्राप्याम्नायते—'ओषधयो बर्हिः' इति। एनं चित्याग्निमेतद् एतेनोभयविधेनान्नेन प्रीणाति।

'सीतासमरे। वाग्वै सीतासमरः प्राणा वै सीतास्तासामयꣳ समयो वाचि वै प्राणेभ्योऽन्नं धीयते मध्यतो मध्यत एवास्मिन्नेतदन्नं दधाति तूष्णीमनिरुक्तं वै तद्यत्तूष्णीꣳ सर्वं वा अनिरुक्तꣳ सर्वेणैवास्मिन्नेतदन्नं दधाति' (श० ७।२।३।३)। तदुपधानं क्षेत्रे विधाय स्तौति—सीतासमर इति। कृष्टाः सीता समृच्छन्ते सङ्गच्छन्ते यत्रासौ सीतासमरः क्षेत्रमध्यप्रदेशः, तत्रोपदध्यादिति शेषः। आधियज्ञिकस्य सीतासमरस्याध्यात्मं मुखरूपतामाह—वाग्वा इति। वागायतनत्वाद् वाङ्मुखं खलु सीतासमरः। कथमित्यपेक्षायां तदुपपादयति—प्राणा वा इति। प्राणाः खलु सीता नाड्यः, तत्सञ्चारितत्वात्। तासां नाडीरूपाणां सीतानामयं मुखलक्षणः समयः सङ्गमः, सम्यगयन्ते सङ्गच्छन्ते यत्र सोऽयं समयः। मुखे हि सर्वे प्राणा नाड्यः सङ्गच्छन्ते। ततः किमित्याकाङ्क्षायामाह—वाचि वा इति। वाचि वै मुखे एव प्राणेभ्योऽर्थेऽन्नं धीयते स्थाप्यते, मुखेनैव हि जग्धेऽन्ने प्राणानामाप्यायनस्य सद्भावात्। सीतासमरेऽपि मध्यदेश उपदध्यादित्याह—मध्यत इति। सप्तम्यर्थे तसिल्। अस्मिन् चित्याग्नौ मध्य एव एतद् एतेनान्नं स्थापितवान् भवति। उपधाने मन्त्राभावमाह—तूष्णीमिति। अन्यत् स्पष्टम्।

'अथैनमभिजुहोति। जायत एष एतद्यच्चीयते स एष सर्वस्मा अन्नाय जायते सर्वस्यो अस्यैष रसो यदाज्यमपां च ह्येष ओषधीनां च रसोऽस्यैवैनमेतत्सर्वस्य रसेन प्रीणाति यावानु वै रसस्तावानात्मानेनैवैनमेतत्सर्वेण प्रीणाति पञ्चगृहीतेन पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावित्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति' (श० ७।२।३।४)। अभिहोमं विधत्ते—अथैनमभीति। एनं दर्भस्तम्बम्। अभिहोमे आज्यं द्रव्यं विधातुं स्तौति—सर्वस्यो अस्यैष इति। यद् आज्यं सर्पिः, एषोऽस्य सर्वस्य विश्वस्य रसः। रसत्वमेवोपपादयति—अपां च हीति। गोभिरपां पानादोषधीनां च भक्षणाद् हि आज्यमुत्पद्यते। रसत्वोपपादनस्य प्रयोजनमाह—अस्यैवैनमिति। एनं चित्याग्निं प्रीणाति तर्पयति। आज्यस्य पञ्चगृहीतत्वं विधत्ते—पञ्चगृहीतेनेति। पञ्चगृहीतत्वं स्तौति—पञ्चचितिकोऽग्निरित्यादिना। 'सजूरब्द इति चितिः। अयवोभिरिति पुरीषꣳ सजूरुषा इति चितिररुणीभिरिति पुरीषꣳ सजोषसावश्विनेति चितिर्दꣳसोऽभिरिति पुरीषꣳ सजूः सूर इति चितिरेतशेनेति पुरीषꣳ सजूर्वैश्वानर इति चितिरिडयेति पुरीषं घृतेनेति चितिः स्वेति पुरीषꣳ हेति चितिः' (श० ७।२।३।८)। अभिहोमं बहुधा प्रशस्य तत्र मन्त्रं विधाय व्याहृतिरूपेण त्रयोदशधा विभज्य चितिपुरीषात्मना स्तौति—सजूरब्द इति चितिरित्यादिना। तदनुसारेणायं मन्त्रार्थः—अब्दः संवत्सरः,

अयवोभिर्मासैरर्धमासैश्च सजूः समानजोषणः। यवा अयवाश्चार्धमासा मासाश्चोच्यन्ते, अर्धमासा एव वा, 'पूर्वपक्षा वै यवा अपरपक्षा अयवाः' (श० ८।४।२।११) इति श्रुतेः। उषा रात्रेरपरः कालः। अरुणीभिररुण-वर्णाभिर्गोभिः सजूः समानजोषणः। 'अरुण्यो गाव उषसम्' (निरु० १।१५)। अश्विना नासत्यौ देवौ दंसोभिः कर्मभिः सजोषसौ समानजोषणौ। सूरः सूर्यः। एतशेन हरितवर्णेनाश्वेन सजूः। 'एतश इति अश्वनामसु पठितः' (निघ० १।१४।१०)। वैश्वानरो विश्वनरनेता अग्निः, इडया अन्नाद्या, घृतेन आज्येन हविषा च सजूः। स्वाहा इदमाज्यं सुहुतमस्तु।

अध्यात्मपक्षे—यथा अब्दादयो मासार्धमासादिभिः प्रीतिमन्तः, तथैव स्वाहा परमेश्वरे स्वात्मसमर्पणरूपो ज्ञानयोगो घृतेन स्नेहेन भक्त्या सजूः, प्रीतिमान् इति शेषः। भवतीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, वयं सर्वे स्त्रीपुरुषा यथाऽवयोभिर्मिश्रिताभिश्चितैरन्नैः क्षणादिभिः कालावयवैः सजूः सह वर्तमानोऽब्दः संवत्सरोऽरुणीभी रक्तप्रभाभिः सजूः उषाः प्रभातो दंसोभिः कर्मभिः सजोषसावश्विनौ एतशेनाश्वेनेव व्याप्तिशीलेन वेगवता किरणनिमित्तेन वायुना सजूः संयुक्तः। सूर्य इडया अन्नादिरूपया पृथिव्या घृतेन जलेन स्वाहा सत्येन वागिन्द्रियेण सजूर्वैश्वानरश्च वर्तते तथैव प्रीत्या वर्तामहे' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तथैव प्रीत्या वर्तामह इत्यस्याप्रामाणिकत्वात्, स्वाहापदस्य सत्यार्थत्वे मानाभावाच्च, श्रुतिसूत्रविरोधाच्च ॥ ७४ ॥

या ओष॑धीः पूर्वा॑ जा॒ता दे॒वेभ्य॑स्त्रियु॒गं पु॒रा।
मनै॑नु ब॒भ्रूणा॑म॒हꣳ श॒तं धामा॑नि स॒प्त च॒ ॥ ७५ ॥

मन्त्रार्थ—सृष्टि के आदि में जो ओषधियां वसन्त, वर्षा और शरद् ऋतु में पहले उत्पन्न हुई थीं, वे ही ओषधियां अब भी जगत् की उत्पत्ति और पालन में समर्थ हैं। पाक से पीली हुई इस तरह की ओषधियों की संख्या सैकड़ों है, उनमें व्रीहि, गोधूम आदि सात प्रधान ओषधियों के नाम मैं जानता हूँ ॥ ७५ ॥

'या ओषधीरिति तृचैर्वपत्युदपात्रवत्' (का० श्रौ० १७।३।७)। या ओषधीरित्यारभ्य पञ्चभिस्तृचैः, अर्थात् पञ्चदशभिर्ऋग्भिरुदचमसोन्नयनवत् सर्वौषधं वपति। एकैकचमसस्थाने एका ऋक्। धान्यानि च चमसेनैव वपेन्न तु हस्तेन, औदुम्बरेण चमसेन चतुःस्रक्तिनेति चमसस्य वपनकरणत्वेन श्रवणादिति सूत्रार्थः। इत आरभ्य यो अस्मानभिदासतीत्यन्ता सप्तविंशतिरनुष्टुभ ओषधिदेवत्याः। तत्र पूर्वाः पञ्चदश ऋचोऽथर्वपुत्र-भिषग्दृष्टाः। शेषा मुञ्चन्तु मेत्याद्या द्वादश बन्धुदृष्टा, अनारभ्याधीताः। पादानां न्यूनाधिक्ये व्यूहाधिक्ये कार्ये। त्रियुगं त्रयाणां युगानां समाहारस्त्रियुगम्। युगशब्दः कालवाची। त्रिकालं वर्षाशरद्वसन्तेति कालत्रय-मुद्दिश्य पुरा सृष्ट्यादौ देवेभ्यः सकाशाद् ओषधय पूर्वाः प्रथमा भाविनीभ्य आद्या जाता उत्पन्नाः। किमर्थं जाताः ? इत्याकाङ्क्षायामाह—देवेभ्य इति। देवेभ्य ऋतुभ्यः, 'ऋतवो वै देवाः' (श०७।२।४।२६) इति श्रुतेः। ऋतव ओषधियुक्ताः कर्तव्या एतदर्थम्। बभ्रूणां प्राणिभरणसमर्थानां परिपाकेन पिङ्गलवर्णानां वा तासामोषधीनां शतं धामानि स्थानभेदान् जातिभेदान् असंख्यान् सप्त च विशेषाकारेण ग्राम्यान् आरण्यांश्च सप्त धान्यभेदान् अहं मनै नु मन्ये जानामि। मनै इति मन्यतेर्लोटि आत्मनेपदे उत्तमैकवचने शपि 'एत ऐ' (पा० सू० ३।४।९३) इत्यैकारे रूपम्। यद्वा संवत्सरोपलक्षितमेकैकं स्थानम्। 'शतायुर्वै पुरुषः' इति श्रुत्यनुसारेण वर्षात्मकानि शिरःस्थानि मुखदङ्नासाश्रोत्राख्यानि सप्त स्थानानि, 'य एवेमे सप्त

शीर्षन् प्राणास्तानेतदाह' (श० ७।२।४।२६) इति श्रुतेः। नराणां शतवर्षपर्यन्तमिन्द्रियाणामोषधिभिस्तर्प्यमाणत्वात् तासां तत्स्थानत्वम्।

तत्र ब्राह्मणम्—'या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरेत्यृतवो वै देवास्तेभ्य एतास्त्रिः पुरा जायन्ते वसन्ता प्रावृषि शरदि मनै नु बभ्रूणामहमिति सोमो वै बभ्रुः सौम्या ओषधय ओषधः पुरुषः शतं धामानीति यदिदꣳ शतायुः शतार्घः शतवीर्य एतानि हास्य तानि शतं धामानि सप्त चेति य एवेमे सप्त शीर्षन् प्राणास्तानेतदाह' (श० ७।२।४।२६)। अथ बीजावापमन्त्रपदानामनुवादपूर्वकमभिप्रायं व्याचष्टे—या ओषधीरित्यादिना। देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा इत्यस्य मन्त्रभागस्याभिप्रायमाह—ऋतवो वै देवा इति। या ओषधीः ओषधयः सृष्ट्यादावुत्पन्नास्ता देवेभ्य ऋतुभ्यो वसन्तादिभ्यः पुरा पूर्वं वसन्तप्रावृट्शरदामादिषु संवत्सरमध्ये त्रियुगं त्रिकालं जायन्त इत्यर्थः। उत्तरार्धमनूद्य व्याचष्टे—मनै नु बभ्रूणामिति। अमृतरूपेण सर्वेषां भरणाद् बभ्रुः सोमः। ओषधयोऽपि सोमदेवताकत्वादत्र बभ्रुशब्दाभिधेयाः, तादृगोषधिपरिणामविशेष एव पुरुषो मनुष्यशरीरमिति तत्तादात्म्यम्। अयमर्थः—बभ्रूणां सौम्यानामोषधीनां सम्बन्धीनि वक्ष्यमाणानि, अहं नु अद्य मनै मन्ये जानामि। कानि पुनस्तानि मन्तव्यानीत्याशङ्क्य चतुर्थपादं व्याचष्टे—शतं धामानीति। ओषधीपरिणामस्य पुरुषस्य शरीरस्य यदिदं शतसंवत्सरं जीवनम्, एवं शतसंख्याका अर्घाः पूजाप्रयोजनानि, यानि च तन्निष्पादकानि शतसंख्याकानि वीर्याणि सामर्थ्यानि, एतानि खल्वस्य ओषधिविकारस्य शरीरस्य तानि मन्त्रोक्तानि शतसंख्याकानि धामानि, 'धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि, नामानि, जन्मानीति' (निरु० ९।२८) इति धामशब्दस्य त्रयोऽर्था यास्केनोक्ताः। 'जन्मान्यत्राभिप्रेतानि' इत्यपि तत्रैव यास्केनोक्तम्। सप्त चेति। य एवेमे सप्तसंख्याकाः शीर्षन् शीर्ष्णि सम्बद्धाश्चक्षुःश्रोत्रादिरूपाः प्राणाः सप्त चेत्येतत् तानेव प्राणान् प्रतिपादयतीत्यर्थः। एवमुक्तलक्षणानि शतसंख्याकानि धामानि सप्त शीर्षण्यान् प्राणांश्च ओषधीनां सम्बन्धित्वेन जानामीत्यन्वय इति श्रीसायणाचार्यः।

अध्यात्मपक्षे—तानि सर्वाण्यहं मनै ब्रह्मविवर्तत्वाद् ब्रह्मत्वेन मनै मन्ये जानामि, अधिष्ठानसत्तातिरिक्तायाः कल्पितसत्ताया अनङ्गीकारात्। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'अहं या ओषधीः सोमाद्या देवेभ्यः पृथिव्यादिभ्यस्त्रियुगं वर्षत्रयं पुरा पूर्वा जाता प्रसिद्धाः, या बभ्रूणां भरणानां धारकाणां रोगिणां शतं शतसंख्याकानि सप्त च धामानि मर्मस्थानानि व्याप्नुवन्ति, ता नु मनै शीघ्रं जानीयाम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्रियुगमित्यस्य वर्षत्रयार्थकत्वे मानाभावात्, धामानीत्यस्य स्थानार्थकत्वेऽपि मर्मस्थानानि व्याप्नुवन्तीत्यर्थकत्वे मानाभावात्, पूर्वोक्तश्रुतिव्याख्यानविरोधाच्च ॥ ७५ ॥

शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः।
अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मे अगदं कृत ॥ ७६ ॥

मन्त्रार्थ—हे माता के समान हमारा पालन करने वाली ओषधियों, तुम्हारे सैकड़ों नाम हैं और तुम्हारे अंकुर असंख्य हैं। तुम्हारे बल से जगत् के सारे कार्य होते हैं, अतः हे अनन्तकार्यसाधक ओषधियों, तुम सब मेरे इस यजमान को क्षुधा, पिपासा आदि छः प्रकार के रोगों से विमुक्त करो, अर्थात् हमारा यह यजमान किसी प्रकार के रोग से पीड़ित न हो ॥ ७६ ॥

हे अम्ब ! मातृस्थाना ओषधयः, वो युष्माकं धामानि जातिभेदाः क्षेत्राणि वा शतं सन्ति । उत अपि च वो युष्माकं रुहः प्ररोहा अङ्कुराश्च सहस्रं सन्ति । शतसहस्रशब्दाभ्यामपरिमितत्वमुपलक्ष्यते । अधा अथैवं बहुभेदोपेतत्वेऽपि सति शतसङ्ख्याका क्रतवो याभिर्युष्माभिर्निष्पाद्यन्ते, तादृश्यः शतक्रत्वः शतं क्रतवः कर्माणि याभिस्ताः शतक्रत्वः । शतक्रतुशब्दात् प्रथमाबहुवचने जसि 'जसि च' (पा० सू० ७।३।१०९) इति प्राप्तस्य गुणस्य छान्दसत्वादभावे यणि रूपम् । शतक्रत्वो यूयं मे मदीयमिमं यजमानमगदं क्षुत्पिपासादिरोगरहितं कुरुत । 'अधा' इत्यत्र 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) इति संहितायां दीर्घः । उव्वटाचार्यास्तु—हे ओषधयः ! अश्वमातरः, शतक्रत्वो युष्माकं धामानि जन्मानि, उतापि च सहस्रं वो युष्माकं रुहो विरोहणानि सन्ति । अधा अथैवं सति हे शतक्रत्वो बहुकर्माणो यूयमिमं प्रजापतिं यजमानं वा मे सम्बन्धिनमगदमव्याधिं कृत कुरुत । करोतेश्छान्दसत्वात् शपो लुकि कृतेति रूपम् ।

अत्र ब्राह्मणम्—'शतं वो अम्ब धामानि । सहस्रमुत वो रुह इति यदिदꣳ शतधा च सहस्रधा च विरूढा अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मे अगदं कृतेति यमिमं भिषज्यामीत्येतत्' (श० ७।२।४।२७) । द्वितीयस्या ऋचः पूर्वार्धमनूद्य व्याचष्टे—शतं वो अम्बेति । इदम् इदानीं शतधा शतप्रकारेण सहस्रधा सहस्रप्रकारेण च विरूढा उत्पन्ना ओषधयो दृश्यन्त इति यदेतद् एतेनार्धेन प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । अम्ब हे मातः ओषधयः, वो युष्माकं धामानि स्थानानि शतं शतसंख्याकानि । उतशब्दोऽप्यर्थे । तथा वो युष्माकं रुहः प्ररोहा अंकुरा अपि सहस्रं सहस्रसंख्याका इति । द्वितीयार्धमनूद्य तात्पर्यमाह—अधा शतक्रत्व इति । अधशब्दो हेतौ । हे शतक्रत्वः शतकर्माण ओषधयः । यूयं मदीयमिमं पुरुषमगदं व्याधिरहितं कृत कुरुत । यमिममातुरमिदानीमहं भिषज्यामि चिकित्सामि । 'भिषज् चिकित्सायाम्' इति कण्ड्वादीयधातो रूपम् । चिकित्सकोऽनेन मन्त्रेण आतुरस्य ओषधीः प्रार्थयेदित्यपि सिद्ध्यति ।

अध्यात्मपक्षे—हे अम्ब कृष्युपलक्षितसोमादिसर्वौषध्यधिष्ठात्रि सीते मातः, शतमनन्तानि वो युष्माकमोषधिरूपाणां धामानि स्थानानि क्षेत्राणि वा सन्ति, उतापि सहस्रं सहस्राण्यनन्तानि वो विरोहणानि । अध अतो हे शतक्रत्वः शतकर्माणो यूयमिमं मे मदीयं शिष्यं यजमानमातुरं वा अगदं ज्वरादिरोगरहितं कामादिदोषरहितं वा कृत कुरुत ।

दयानन्दस्तु—'हे शतक्रत्वः ! शतं क्रतवः प्रज्ञाः क्रिया येषां तत्सम्बुद्धौ, तादृशा मनुष्या यूयं यासां शतमुत सहस्रं रुहो नाड्यङ्कुराः सन्ति, ताभिर्मे मम इमं देहमगदं रोगरहितं कृत कुरुत । अध स्वयं वो युष्माकं देहानगदान् कुरुत । यानि वोऽसंख्यानि धामानि गर्भस्थानानि तानि प्राप्नुत । हे अम्ब, त्वमप्येवमाचर' इति, तदपि निरर्थकम्, अज्ञस्यैवं वचनानुपपत्तेः, विज्ञस्य स्वयमेव तथाचरणसम्भवेन तादृग्वचनायोगात्, अम्बामात्रस्य तथावगमाभावेन तथोक्त्ययोगाच्च, अध्याहारबाहुल्याच्च ॥ ७६ ॥

ओषधीः प्रतिमोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः ।
अश्वा इव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्णवः ॥ ७७ ॥

मन्त्रार्थ—हे ओषधिगण, पुष्पों से युक्त फल उत्पन्न करने वाली, घोड़ों के समान वेग से गमन करने वाली, अनेक प्रकार की व्याधियों का निवारण करने वाली, फलपाकान्त के सिवाय बहुत काल तक कर्मपरायण तुम सब हमारे ऊपर प्रसन्न रहो, अश्व के समान वेग से शीघ्र पुष्पवान् और फलवान् बनो ॥ ७७ ॥

ओषधीः हे ओषधयः, यूयं प्रतिमोदध्वं प्रहृष्यत। कीदृश्यो यूयम्? पुष्पवतीः पुष्पवत्यः पुष्पैरुपेताः। पुनः कीदृश्यः? प्रसूवरीः प्रसुवते जनयन्ति फलानीति प्रसूवरीः प्रसूवर्यः फलप्रसववत्यः। प्रोपसृष्टसूतेः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति वनिपि 'वनोर च' (पा० सू० ४।१।७) इति ङीपि रान्तादेशे च रूपम्। अश्वा इव संग्राम्या अश्वा इव सजित्वरीः सह जयन्ति तच्छीला इति सजित्वरीः सजित्वर्यः। यथा अश्वाः संग्रामे जयशीलास्तथा फलपाकपर्यन्तत्वाद् जयशीला भूत्वा वीरुधो विविधं व्याधिं रुन्धन्तीति वीरुधो विभिन्नव्याधिनिवारिकाः। 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः। अथवा विविधं रोहन्तीति वीरुधः। न्यङ्क्वादिगणे 'वीरुत्' शब्दपाठान्निपातनाद् दीर्घत्वमिति पदमञ्जरी। अथवा विविधं रोचत इति वीरुत्। 'नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ' (पा० सू० ६।३।११६) इति दीर्घः। पारयिष्णवः पारयन्ति तच्छीला इति पारयिष्णवः। फलपाकानन्तरमपि बहुकालं यावत् कर्मपरायणशीलाः। भवताऽस्माकमिति शेषः। 'णेश्छन्दसि' (पा० सू० ३।२।१३७) इति 'पार तीर कर्मसमाप्तौ' इति चौरादिकात् पारधातोरिष्णुचि रूपम्।

तत्र ब्राह्मणम्—'ता एता एकव्याख्यानाः। एतमेवाभि यथैतमेव भिषज्येदेतं पारयेत्ता अनुष्टुभो भवन्ति वाग्वा अनुष्टुब्वागु सर्वं भेषज७ँ सर्वेणैवैनमेतद्भेषजेन भिषज्यति' (श० ७।२।४।२८)। ता एता बीजवपनार्था ऋच एकव्याख्यानाः समानव्याख्यानाः। अतो न पृथग् व्याख्यायन्त इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे ओषधयः, यूयं प्रतिमोदध्वं प्रहृष्टा भवत, युष्मदीयपत्रपुष्पफलादीनां भगवति समर्पणात्। पुष्पवतीः प्रशस्तभगवत्समर्पणादिपुष्पवत्यः प्रसूवरीः प्रशस्तफलवत्यः। अश्वा इव भगवत्समर्पित-पुष्पफलवत्त्वेन परमपदफलविजयित्र्यो वीरुधो विविधरोगनाशयित्र्यः पारयिष्णवो जीवानां संसारपारतारयित्र्यः, भवतेति शेषः। अनेनैव मन्त्रेण भक्ता भगवति पुष्पाणि पुष्पमालाश्च समर्पयन्ति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयमश्वा इव सजित्वरीः शरीरैः संयुक्ता रोगान् जेतुं शीला वीरुधः सोमादीन् पारयिष्णवो रोगजदुःखेभ्यः पारं नेतुं समर्थाः पुष्पवतीः प्रशस्तपुष्पवतीः सुखप्रसाविका ओषधीः संसेव्य प्रतिमोदध्वम्' इति, तदपि तुच्छम्, हे मनुष्या इति सम्बोधने मानाभावात्, श्रुतिसूत्रादिविरोधाच्च, पारयिष्णव इति पदस्य कर्मतयाऽन्वयायोगात्॥ ७७॥

ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुपब्रुवे।
सनेयमश्वं गां वास आत्मानं तव पूरुष॥ ७८॥

मन्त्रार्थ—हे जगत् का निर्माण करने वाली, दिव्य गुणों से युक्त सम्पूर्ण ओषधियों, आगे बताई गई विधि से हम तुम सबसे प्रार्थना करते हैं। हे यज्ञपुरुष, आपके प्रसाद से मैं अश्व, गौ, वस्त्र आदि से सम्पन्न हो रोगों से रहित शरीर को प्राप्त कर सकूँ, यज्ञपुरुष से की गई इस प्रार्थना को ओषधियाँ सावधानी से सुनें॥ ७८॥

ओषधीः, हे ओषधयः, यूयमितीत्थमशन-दान-व्याध्यपगमादि कुर्वन्त्यो मातरो जगन्निर्मात्र्यो हे देव्यः, वो युष्मान् देवीरित्यमुना प्रकारेण तत् प्रसिद्धं मदभीष्टमुपब्रुवे उपसङ्गम्य प्रार्थये। हे पुरुष यज्ञपुरुष, तव कृपया अश्वं तुरङ्गं गां धेनुं वास उत्तमवस्त्रमात्मानं सुशरीरं च सनेयं सम्भजेयम्। यज्ञपुरुषो यदश्वादिकृते प्रार्थ्यते तदोषधिभिरनुमन्यतामित्यर्थः। यद्वा—हे मातरः मातृसमाना देवीर्देवाः, इतिशब्दोऽत्र हेत्वर्थः। यस्मादोषधी-र्यूयमोषधयस्तस्माद्वो युष्मान् उपब्रुवे प्रार्थये। कथं प्रार्थनमिति तदुच्यते—हे पुरुष, तव त्वदीयं सनेयं सह नेतव्यमश्वं तुरङ्गं गां पशुं वासो वस्त्रं स्थानं वा आत्मानं शरीरमेतत्सर्वमोषधयोऽभिवृद्धिं प्रापयन्त्वित्यह-मोषधीः प्रार्थये। हे ओषधयो यूयं यजमानाश्वादिकं वृद्धिं प्रापयतेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे ओषधीः ! ओषधय ओषधिरूपाः, वो युष्मान् देवीर्दीप्यमाना उपब्रुवे प्रार्थये। कथं प्रार्थनमिति तदाह—हे पुरुष आत्मानं तव सनेयं सहसम्भजनीयमश्वादिकमोषधिरूपा मातरोऽभिवर्धयन्ति, त्वया तु निश्चिन्तेन धर्मपरायणेन भवितव्यमिति।

दयानन्दस्तु 'हे ओषधीः ! ओषधय इति इव मातरः, अहं तनयो वो युष्मान् तत् पथ्यं वच उपब्रुवे। हे पुरुष, सुसन्तानाहं माता तव अश्वं गां वास आत्मानं च सततं सनेयं सम्भजेयम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, परस्परासङ्गतेः। इतिशब्दस्य इवार्थकत्वं चिन्तनीयम्। केवलस्य जीवस्य अमूर्तत्वात् कथं तत्सम्भजनं सम्भवति ? ॥ ७८ ॥

अ॒श्व॒त्थे वो॑ नि॒षद॑नं प॒र्णे वो॑ वस॒तिष्कृ॒ता।
गो॒भाज॒ इत्किला॑सथ॒ यत्स॒नव॑थ॒ पूरु॑षम् ॥ ७९ ॥

मन्त्रार्थ— पीपल की लकड़ी से निर्मित उपभृत् और स्रुक्पात्र तुम्हारा स्थान है, पलाशपत्र से निर्मित जुहू में तुम्हारा स्थान है। इस पात्र में हम हवि रखते हैं, होम के निमित्त जुहू में रखते हैं। हे हविर्भूत ओषधियों, निश्चय ही तुम सब आदित्य की उपासना करने वाली हो, क्योंकि अग्नि में दी हुई आहुति आदित्य को प्राप्त होती है। इस कारण तुम सब यजमान को अन्न आदि से पुष्ट करो ॥ ७९ ॥

हे ओषधिदेवताः, वो युष्माकम् अश्वत्थे निषदनम् अश्वत्थवृक्षच्छायायामुपवेशनस्थानं भवति। पर्णे पलाशवृक्षे वो युष्माकं वसतिर्निवासकारणं गृहं कृतम्। देवताधिष्ठितत्वाल्लोकेऽश्वत्थवृक्षः प्रदक्षिणानमस्कारादिभिः पूज्यते, पलाशवृक्षश्च इध्मादिरूपेण यज्ञाङ्गत्वेनाद्रियते। ईदृश्योऽपि यूयं गोभाज इद् भवदीये स्थावररूपे भूमिभाज एव भूत्वा असथ स्थिताः किल। तत्किमर्थमिति चेदुच्यते—इद् यस्मात् कारणादिमं यजमानं मनुष्यं सनवथ सनुथ अन्नदानेन पोषयथ। 'षणु दाने' इत्यस्य लटि मध्यमबहुवचने रूपम्। शबौत्सर्गिकः। छान्दसी द्विविकरणता। यद्वा—हे ओषधयो व्रीहियवाद्याः, यस्माद् यूयं पुरुषं यजमानं सनवथ सेवध्वे अन्नदानेन पोषयथ तस्माद् वो युष्माकमश्वत्थे आश्वत्थ्यामुपभृति स्रुचि हवीरूपेण निषदनं स्थानं भवति। पर्णे पलाशमय्यां जुह्वां युष्माकं वसतिः स्थितिर्होमार्थमध्वर्युणा कृता। अश्वत्थपर्णशब्दाभ्यां विकारार्थकप्रत्ययलोपश्छान्दसः। 'अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति' (नि० २।२५)। हे हवीरूपा ओषधयः, यूयं गोभाज इत्किल। गोशब्देनादित्योऽभिधीयते। आदित्यभाजो यूयमित्किल भवथ। 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥' (म० ३।७६) इति मनूक्तेः। यद्वा—अश्वत्थे फलिते सर्वौषधीनां फलवत्त्वाद् अश्वत्थे वो निषदनमित्युक्तिः। पर्णे पलाशे फलिते व्रीह्यादीनां फलितत्वेन च पर्णे वो वसतिष्कृता—इत्युक्तिः। अत एव यूयमुप्ताः सत्यो गोभाजो भूमिभाज एव किल असथ भवथ। असधातोर्लटि मध्यमपुरुषबहुवचने छान्दसत्वादकारस्य शपश्चुलोपाभावे रूपम्। 'गौर्नादित्ये बलीवर्दे मखभेदर्षिभेदयोः। स्त्रियां स्याद्दिशि भारत्यां भूमौ च सुरभावपि ॥' इति कोशाद् गोपदस्य भूम्यर्थकत्वात्।

अध्यात्मपक्षे—अश्वत्थे न श्वोऽपि स्थाता इत्यश्वत्थः संसारः, तस्मिन्। हे ओषधयो जीवाः, वो युष्माकं निषदनं भवनं स्थानमित्यर्थः। पर्णे पत्रपुष्पफलादिनिमित्ता वो युष्माकं स्थितिः परमेश्वरेण कृता। यद् यस्मात् कारणाद् यूयं गोभाज गा इन्द्रियाणि गां गोविकारं देहं वात्मत्वेन भजन्तीति गोभाजः, इद् एव किल असथ भवथ। तस्मादश्वत्थे पर्णे वा युष्माकमवस्थानं स्थितिर्वा। अतः सर्वानर्थप्रशान्तये पुरुषं पूर्यते सर्वं जगदनेनेति पूरुषः परमात्मा, तम्। सर्वतोभावेन सेवध्वम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, ओषधय इव यद् वोऽश्वत्थे देहनिषदनम्। पर्णे चलितपत्रे वसतिः कृता। तस्माद् गोभाजः किल पुरुषं देहं सनवथ ओषधीभिः सेवध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य स्वकपोलकल्पितत्वात्, अश्वत्थपदस्य देहार्थत्वे मानाभावाच्च। न च श्वोऽपि स्थाना न वेति सन्देहास्पदत्वेन देहस्य तथात्वमिति वाच्यम्, संसारस्यापि तथात्वेन देहार्थग्रहणे विनिगमनाविरहात्। पर्णपदस्यापि चलितपत्र इति कथमर्थः ? सर्वस्यैतस्य गौणार्थकत्वात् ॥ ७९ ॥

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ॥ ८० ॥

मन्त्रार्थ—हे ओषधियों, तुम सब चिकित्सा करने वाले वैद्य के पास उसी प्रकार जाती हो, जैसे राजा संग्राम में शत्रु पर विजय पाने के लिये जाता है। वह चिकित्सा करने वाला वैद्य तुम्हारी सहायता से ही पुरोडाश, क्वाथ आदि बनाकर राक्षस रूप रोगों का नाश करता है। औषधि देकर रोग का नाश करने वाला यह ब्राह्मण वैद्य कहलाता है ॥ ८० ॥

हे ओषधीः ओषधयः, यत्र यस्मिन् क्षेत्रे यूयं समग्मत फलप्रदानाय सङ्गता भवत, क इव राजानः समिताविव यथा युद्धे प्रतिपक्षिणः सेनां जेतुं परस्परमनुकूला राजानः सङ्गच्छन्ते, एवं सङ्गता भवत। ओषधीषु तादृशीष्वोषधीषु विप्रो मेधावी रसवीर्यविपाकाभिज्ञो यः पुरुषः स भिषगुच्यते। क्षुदादिरोगस्य चिकित्सकोऽभिधीयते। कथं भिषक्त्वमिति तदुच्यते—रक्षोहा पक्वाभिरेताभिरोषधीभिः पुरोगमं रक्षो हन्ति तदुपद्रवं रोगं निवारयति। अमीवचातन ओषधिजन्यपथ्यादिभिरमीवो रोगान् चातयति नाशयतीत्यमीवचातनः। 'चातयतिर्नाशने' (नि० ६।३०)। यद्वा राजानः समिताविव यथा राजानः समितौ संग्रामे शत्रून् जेतुं समागच्छन्ति, तद्वदित्यर्थः। यस्मिन् पुरुषे भैषज्यकर्तरि यूयं समागच्छत व्याधिं जेतुं विप्रः स भवदाश्रितो ब्राह्मणो भिषग् वैद्य उच्यते। कीदृशो विप्रः ? रक्षोहा रक्षांसि हन्तीति रक्षोहा। यथा रक्षोघ्नं पुरोडाशं कृत्वा रक्षसां हन्ता रक्षःकृतोपद्रवानां नाशकः, तथा अमीवचातन ओषधिदानैः रोगनाशकः। समग्मतेति सम्पूर्वस्य गमेर्लुङि मध्यमपुरुषबहुवचने 'पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।१।५५) इति च्लेरङि 'गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि' (पा० सू० ६।४।९८) इति छान्दस उपधालोपे रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—यत्र देशे काले वा ओषधीः ओषधयः संसाररोगदाहकाः शमदमादयः श्रवणमनननिदिध्यासनतत्त्वसाक्षात्काराः सम्भाव्यन्ते, तत्र राजानो यथा समितौ संग्रामे सन्नद्धाः सङ्गच्छन्ते, तथैव हे साधकाः, यूयं समग्मत सङ्गच्छध्वम्। यस्तासु विप्रो मेधावी प्रविष्टबुद्धिः स भिषक् संसाररोगनिवारको वैद्य उच्यते। स च रक्षोहा अज्ञानकामादिरक्षसां हन्ता। अमीवचातनः सर्वरोगनाशकः सर्वतोभावेनाश्रयणीय इति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं यत्रौषधीः सोमाद्याः सन्ति ता राजानः समिताविव समग्मत प्राप्नुत। यो रक्षोहा दुष्टानां रोगाणां हन्ता अमीवचातनोऽमीवान् रोगान् शातयति सः। वर्णव्यत्ययः। विप्रो भिषग् भवेत् स युष्मान् प्रत्युच्यते तद्गुणान् प्रकाशयेत् तास्तं च सदा सेवध्वम्' इति, तदपि न, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। स युष्मान् प्रत्युच्यते, तद्गुणान् प्रकाशयेत्, तास्तं च सदा सेवध्वमित्यादिकं मन्त्रबाह्यमेव। यत्तूच्यते—'उपदिश्येत लेट्प्रयोगोऽयम्' इति, तदपि न, स भिषगुच्यत इति कर्मणि प्रत्ययेनैवोपपत्तौ लेट्लकाराश्रयणस्य निरर्थकत्वात् ॥ ८० ॥

अश्वा॒वती॑ᳪ॒ सो॑माव॒तीमू॒र्जय॑न्ती॒मुदो॑जसम् ।
आवि॑त्सि॒ सर्वा॒ ओष॑धीर॒स्मा अ॑रि॒ष्टता॑तये ॥ ८१ ॥

मन्त्रार्थ—इस यजमान के अरिष्ट का नाश करने वाली, अश्व आदि पशुगण के लिये उपयोगी, सोमयाग के लिये उपयोगी, बल और प्राण का सम्पादन करने वाली, तेज का सम्पादन करने वाली सभी ओषधियों को मैं भली प्रकार से जानता हूँ ॥ ८१ ॥

अश्वावती काचिदोषधिजातिः । अथवा अश्वाः सन्त्यस्यां सा अश्वावती, 'मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ' (पा० सू० ६।३।१३१) इति दीर्घः, तामश्वावतीम् । ओषधिसमृद्धौ सत्यां धनवत्त्वं तथात्वे अश्वा लभ्यन्त इत्यर्थः । अन्या काचिदोषधिः सोमावती । सोमः सोमयागोऽस्यामस्तीति सोमावती । यस्याः सत्त्वे धनबाहुल्येन सोमयागः सुलभः सा सोमावती, ताम् । अपरा काचिदोषधिजातिरूर्जयन्ती, ऊर्जं बलं प्राणचेष्टां या करोतीत्यूर्जयन्ती, 'ऊर्ज बलप्राणनयोः' । उदोजा अन्या जातिः । उद् उत्कृष्टमोजोधातुरङ्गे यस्याः सा उदोजास्ताम्, या अन्नद्वारेण शरीरस्थमोजोधातुं पोषयति सा उदोजाः । ताः सर्वा ओषधीरहमाविस्सि सर्वतो लब्धवानस्मि, वेद्मि वा । वेत्तेर्लुङि आत्मनेपदे उत्तमपुरुषैकवचने इडभावे अवित्सीति रूपम् । किमर्थम् ? अस्मा अस्य यजमानस्य अरिष्टतातये । रिषतिर्नाशनार्थः, रेषणं रिष्टं भावे क्तः, न रिष्टमरिष्टमनाशो मङ्गलमिति यावत्, अरिष्टं करोतीत्यरिष्टतातिः, 'शिवशमरिष्टस्य करे' (पा० सू० ४।४।१४३) इति तातिल्प्रत्यये रूपम् । अथवा क्रियत इति करः क्रियामात्रम्, भाव इत्यभिप्रायः, अरिष्टस्य करो भावोऽरिष्टतातिः, तस्मै यजमानस्य हिंसाराहित्याय । यद्वा तननं तातिर्विस्तारः, अरिष्टस्य मङ्गलस्य तातिर्विस्तारस्तस्मै । सर्वा ओषधीरिति बहुवचनानुरोधेनाश्वावतीमित्यादावपि बहुवचनमूह्यम् । तथा च या ओषधयोऽश्ववत्योऽश्वसम्पादिन्यः, सोमवत्यः सोमयागसम्पादिन्यः, ऊर्जयन्त्यो बलप्राणसम्पादिन्यः, उदोजस उत्तमौजःसम्पादिन्यस्ताः सर्वा अहमाविस्सि जानामि । विदित्वा चास्मै अरिष्टतातयेऽस्य यजमानस्यारिष्टविनाशमङ्गलविस्ताराय भैषज्यं करोमीति शेषः ।

अध्यात्मपक्षे—अस्मे अस्य साधकस्य अरिष्टतातये मङ्गलविस्ताराय अहं सर्वा भौतिकीराध्यात्मिकीश्च ओषधीर्जानामि । कास्ता इत्याकाङ्क्षायां पूर्वोक्तोऽर्थः । अश्वावतीम् अश्वः सूर्यः, विवस्वदयुतप्रकाशाम् । सोमावतीं परःशतसुधामयूखशीतलाम् । ऊर्जयन्तीं बलप्रदात्रीम्, उत्कृष्टपराक्रमसम्पादयित्रीं कुण्डलिनी-महमाविस्सि जानामि, तस्या ज्ञानेन अनुभवेन ध्यानेन सर्वारिष्टनिवृत्तिसम्भवात् । एकैव सा सर्वौषधिकार्य-कारिणी, अतः सर्वा ओषधीरिति बहुवचनेन निर्दिश्यते ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाहमरिष्टतातये रिष्टाणां हिंसकानां रोगाणामभावाय अश्वावतीं प्रशस्तशुभगुणयुक्तां सोमावतीं बहुरससहितामूर्जयन्तीं बलं प्रापयन्तीमुदोजसमुत्कृष्टपराक्रमं महौषधीमाविस्सि जानीयाम्, यतः सर्वा ओषधीर्मह्यं सुखप्रदाः स्युः, तथा अस्मै यूयमपि प्रयतध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्याध्याहृतांशानां च निर्मूलत्वात् । अश्वशब्दस्य प्रशस्तगुणार्थत्वं च चिन्त्यम् । उदोजसमित्यस्य उत्कृष्टपराक्रममिति व्याख्यानम्, हिन्दीभाष्ये तु उत्कृष्टपराक्रमवर्धनीमिति व्याख्यानमिति परस्परं विरोधः । उत्कृष्टपराक्रममित्यस्य केन सम्बन्ध इति च नोक्तम् ॥ ८१ ॥

उच्छुष्मा॒ ओष॑धीनां॒ गावो॑ गो॒ष्ठादि॑वेरते ।
धन॑ᳪ॒ सनि॒ष्यन्ती॑नामा॒त्मानं॒ तव॑ पूरुष ॥ ८२ ॥

मन्त्रार्थ—हे यज्ञपुरुष, तुम्हारे शरीर के प्रति धनरूप हवि को देने की इच्छा वाली ओषधियों की सामर्थ्य उसी प्रकार प्रकट होती है, जैसे कि गाय अपने बाड़े में से निकलती है ॥ ८२ ॥

पूरुष हे यज्ञपुरुष, तव आत्मानं शरीरं प्रति धनं हवीरूपं सनिष्यन्तीनां दातुमिच्छन्तीनामोषधीनां सकाशात् शुष्मा तदुपभोगजन्यबलविशेषा उदीरते उद्गच्छन्ति । कथमिव ? गावो गोष्ठादिव । यथा गावो गोष्ठात् स्वनिवासस्थानाद् गृहादेररण्यदेशं प्रति उदीरते उद्गच्छन्ति, तद्वत् । 'ईर गतौ कम्पने च' । उदुपसर्गस्य क्रियया सम्बन्धः । यद्वा—ओषधीनां शुष्मा वीर्याणि सामर्थ्यान्युदीरते प्रकाशीभवन्ति । कथमिव ? गोष्ठादिव निष्क्रान्ता गाव इव । किं कुर्वतीनाम् ? हे पुरुष, तव त्वदीयमात्मानं प्रति धनं सनिष्यन्तीनां संविभजमानानामिति यावत् ।

अध्यात्मपक्षे—हे पूरुष साधक, तव आत्मानं प्रति धनमैश्वर्यं सनिष्यन्तीनां दातुमिच्छन्तीनां पूर्वोक्तानामोषधीनां कुण्डलिनीरूपाणां वा शुष्मा बलानि सामर्थ्यान्युदीरते उद्गच्छन्ति । कथमिव ? गोष्ठाद् गाव इव ।

दयानन्दस्तु—'हे पुरुष देहिन्, या धनं यद् धिनोति वर्धयति तत् । सनिष्यन्तीनां संभजन्तीनामोषधीनां सोमयवादीनां शुष्माः प्रशस्तबलकारिण्यः, अर्शआदित्वादच् । गावो धेनवः किरणा वा गोष्ठादिव तवात्मानं शरीराद्यधिष्ठातारमुदीरते वत्सान् प्राप्नुवन्ति, तास्त्वं सेवस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यद्धिनोति तद्धनमिति व्युत्पत्त्या धनपदेन ऐश्वर्यवर्धकार्थबोधासम्भवात् । पुरुषविशेषणे पुंलिङ्गतापत्तिश्च, शुष्मा उदीरत इति क्रियान्वयोपपत्तौ ताः सेवस्वेति क्रियाध्याहारस्यासङ्गतत्वाच्च ॥ ८२ ॥

इष्कृ॑तिर्नाम॑ वो मा॒ताथो॑ यू॒यᳪं स्थ॒ निष्कृ॑तीः ।
सी॒राः प॑त॒त्रिणीः॑ स्थन॒ यदा॒मय॑ति॒ निष्कृ॑थ ॥ ८३ ॥

मन्त्रार्थ—हे ओषधियों, निष्कृति नाम वाली तुम्हारी माता है, तुम व्याधि को दूर करने वाली हो, अन्न के सहित वर्तमान, गमनयुक्त और प्रसरणशील हो, अतः तुम सब मनुष्यों में स्थित रोगों का निवारण करो ॥ ८३ ॥

'हे ओषधयः, वो युष्माकम् इष्कृतिर्निष्कृतिः । 'निशब्दो बहुलम्' (३।१।१७) इति प्रातिशाख्यसूत्रेणोपसर्गैकदेशस्य नकारस्य लोपः । निष्क्रयणं क्षुदादिविनाशनमेव माता मातृवदुत्पत्तिनिमित्तम्, क्षुदादिकं निवारयितुमेव युष्माकमुत्पत्तिः । वो युष्माकं माता निष्कृतिनाम्नी वा । यूयं व्याधिनिष्क्रमणाः । निष्करोति व्याधिं नाशयतीति निष्कृतिः । अथो अपि चैवं सति यूयं निष्कृतिर्निष्कृतयः क्षुदादिविनाशका भवथ । सीरा इरया अन्नेन सह वर्तन्त इति सीराः सहस्य सादेशे टिलोप इकारदीर्घश्छान्दसः । यद्वा सीराः क्षुदादीनामपसारयित्र्यः । यद्वा सीरं हलं निष्पादकत्वेन यासु ताः सीराः । पतत्रिण्यः पतत्रं पतनमस्मान् प्रत्यागमनं तदस्त्यासामिति पतत्रिण्यः । तेनागमनेनोपेता इत्यर्थः । स्थन भवथ । 'वा छन्दसि' (पा० सू० ६।१।१०६) इति पूर्वसवर्णदीर्घः । अस धातोर्लोटि मध्यमपुरुषबहुवचने 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा० सू० ७।१।४५) इति थस्य थनादेशः । यद् यस्माद् आमयति आमयाविनि 'अम रोगे' चुरादिः शत्रन्तः, नरे स्थितं रोगं निष्कृथ नाशयथ । यद्वा यत् क्षुदादिकं रोगवद् बाधते, तन्निष्कृथ नाशयथ । करोतेर् उविकरणे लुप्ते लटि रूपम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे पूर्वोक्ता अश्वावत्यादयः, कुण्डलिनीरूपा वा, वो युष्माकं माता जननी निष्कृतिः सर्वव्याधिविनाशिनी चितिरूपिणी, यस्याः साक्षात्कारात् सर्वानर्थनिवृत्तिसद्भावाद् यूयमपि निष्कृतयः

सर्वव्याधिविनाशिन्यः, 'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते' इति न्यायात्। सीरा अभीष्टानन्दात्मकदिव्यान्नसहिता पतत्रिणीः प्रसरणशीलाः स्थन भवथ। यद् यत आमयति भौतिकाध्यात्मिकरोगवति पुरुषे स्थितं रोगं संसारं वा निष्कृथ नाशयथ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं या वो युष्माकमिष्कृतिर्निष्कर्त्री माता जननीव ओषधिर्नाम वर्तते, तस्याः सेवका इव ओषधीः सेवितारः स्थ। पतत्रिणीः पतितुं गन्तुं शीलाः सीरा नद्य इव निष्कृतीः प्रत्युपकारान् सम्पादयन्तः स्थन भवत। अथो यदामयति रोगयति तन्निष्कृथ नितरां कृथ कुरुत' इति, तदपि न युक्तम्, सर्वस्यैतस्य लोकसिद्धत्वात्, अध्याहारबाहुल्यसापेक्षत्वाच्च ॥ ८३ ॥

अति विश्वाः परिष्ठाः स्तेन इव व्रजमक्रमुः ।
ओषधीः प्राचुच्यवुर्यत्किञ्च तन्वो रपः ॥ ८४ ॥

मन्त्रार्थ—सब ओर से रोगों को दबाकर बैठने वाली रोगनाशक सम्पूर्ण औषधियाँ जब भक्षित होकर देह को व्याप्त करती हैं, जैसे कि दस्यु गोष्ठ को व्याप्त करते हैं, उस समय वे शरीर में स्थित सिर की व्यथा, गुल्म, अतीसार आदि पाप के फल के रूप में उत्पन्न हुए सभी रोगों का नाश करती हैं ॥ ८४ ॥

परिष्ठाः परि उपरि तिष्ठन्तीति परिष्ठाः शरीरस्योपरि स्थिता उदरमध्ये प्रविष्टा विश्वाः सर्वा ओषधयः, अति अजीर्णादिदोषमतिलङ्घ्य अक्रमुः क्रान्ता देहे व्याप्ता भवन्ति, तत्र दृष्टान्तः—स्तेन इव व्रजमिति। यथा रात्रौ गुप्तश्चोरो गोष्ठ उपविश्य गामपहर्तुं सावधानो गोशालायां सर्वत्र व्याप्नोति तद्वत्। तन्वः शरीरस्य सम्बन्धी यत्किञ्चिद् रपः पापं शरीरे शिरोव्यथागुल्मातिसाररूपं पापफलं यत्किञ्चिदस्ति, तत्सर्वमोषधीर् ओषधयः प्राचुच्यवुः प्रच्यावयन्ति विनाशयन्ति। यद्वा परिष्ठाः परि सर्वतो व्याधीनधिष्ठाय तिष्ठन्तीति। सर्वा ओषधीर् ओषधयो यदा अक्रमुर् आक्राम्यन्ति, भक्षिताः सत्यो देहं व्याप्नुवन्ति। झेरुस् छान्दसः। कथमिव ? स्तेन इव व्रजं यथा तस्करो व्रजमत्यक्रमत्, एवं परिमुमोचयिषया ओषधयो रोगानपहर्तुमत्यक्रमुः। अथ अनन्तरमेव ओषधयो यत्किञ्चित् तन्वः शरीरस्य रपः पापजनितं व्याधिं प्राचुच्यवुः प्रच्यावयन्ति नाशयन्ति। 'रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः' (नि० ४।२१)। अचुच्यवुरिति 'च्युङ् गतौ' इत्यस्य णिजन्तस्य लुङि 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' (पा० सू० ३।१।४८) इति च्लेश्चङादेशे रूपम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं या परिष्ठाः सर्वतः स्थिता विश्वाः सर्वा ओषधीः सोमयवाद्या ओषधयो व्रजं गोस्थानं स्तेना अत्यक्रमुः अतिक्रामन्ति, यत् किञ्च तन्वो रपः पापफलमिव रोगाख्यं दुःखं तत्सर्वं प्राचुच्यवुः प्रच्यावयन्ति, ता युक्त्योपयुञ्जीध्वम्' इति, तदपि तुच्छम्, दृष्टान्तानुपपत्तेः, स्तेनस्य व्रजप्रवेशे भित्तिस्फोटानुक्तेः, उपयुञ्जीध्वमित्यस्य कल्पनाप्रसूतत्वाच्च ॥ ८४ ॥

यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्त आदधे ।
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा ॥ ८५ ॥

मन्त्रार्थ—जिस समय मैं इन औषधियों का पूजन करता हुआ इन्हें अपने हाथ में लेता हूँ, उस समय यक्ष्मा रोग खाने से पहले ही उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जैसे कि वध के निमित्त ले जाया जा रहा प्राणी वध से पहले ही अपने को मरा हुआ मान लेता है ॥ ८५ ॥

यद् यदाऽहं वाजयन् वाजमन्नमिच्छन्नहमिमा ओषधीर्हस्ते आदधामि, तदानीमेव यक्ष्मस्य क्षुदादिरोगस्य आत्मा स्वरूपं पुरा नश्यति। भोजनादोषधिभक्षणात् प्रागेव नष्टमदृश्यं भवति। तत्र दृष्टान्तः—यथा लोके धीवरैर्जीवगृभो जीवित एव मारणार्थं गृह्यत इति जीवगृप्, तस्य जीवितस्य शशादेर्ग्रहणात् पुरा प्रागेव स यथा भीतः कर्णाभ्यां नेत्रे पिधाय भूमिसंश्लिष्टो मृत इव तिष्ठति तद्वत्। यद्वा—यदा यदैव इमा ओषधीर्वाजयन् पूजयन् मानयन् अहं हस्ते आदधे स्थापयामि तदैव यक्ष्मस्य आत्मा भक्षणात् प्रागेव नश्यति। जीवगृभो जीवन्नेव हिंसार्थं यो गृह्यते पशुर्वा अन्यो वा मनुष्यादिराघातस्थानं नीयते स जीवगृप्, तस्य प्रागेव विषादाद् मृतोऽहमिति मन्यमानस्य आत्मा यथा नश्यति नष्टप्रायो भवति, तथौषधौ हस्ते धृतायां व्याधेरात्मा नश्यतीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—यद् यदा इमाः पूर्वोक्ताः शमदमादिसहिताः कुण्डलिन्युपासनारूपा वा सर्वा ओषधीः, वाजयन् मानयन् अहं हस्त आदधे उपासनार्थम् अङ्गीकर्तुमिच्छामि, तदैव भौतिकस्य आध्यात्मिकस्य च रोगस्य आत्मा स्वरूपं नश्यति। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा पुरा वाजयन् प्रापयन् अहं यद् या इमा ओषधीर्हस्त आदधे याभ्यो जीवगृभो यो जीवं गृह्णाति तस्य व्याधेर्यक्ष्मस्य क्षयस्य राजरोगस्य आत्मा तत्त्वमूलं नश्यति, तथा भवन्तस्ताः सद्युक्त्योपयुञ्जताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सिद्धान्तरीत्याऽध्याहारमन्तरैव व्याख्यानसम्भवे निर्मूलाध्याहारस्याऽकिञ्चित्करत्वात्, जीवस्यामूर्तत्वाद् व्याधिभिर्ग्रहीतुमशक्यत्वात्। अत एव व्याधिभिर्देह एव नश्यति, न जीव इति सिद्धान्तः॥ ८५॥

यस्यौषधीः प्रसर्पथाङ्गमङ्गं परुष्परुः। ततो यक्ष्मं विबाधध्व उग्रो मध्यमशीरिव॥ ८६॥

मन्त्रार्थ—हे ओषधियों, तुम जिस रोगी के अंग-अंग में, ग्रन्थि-ग्रन्थि में फैलती हो, तब यक्ष्मा आदि रोगों को उसी प्रकार नष्ट कर देती हो, जिस प्रकार देह के मध्य में मर्म भाग को पीड़ा देने वाला उग्र रुद्र युगान्त में त्रिशूल के मध्य भाग से जगत् को पीड़ा देता है॥ ८६॥

हे ओषधीः! ओषधयः, यस्य रोगिणोऽङ्गमङ्गं प्रत्यङ्गं सर्वाण्यङ्गानीति यावत्। परुष्परुः परुष्शब्दः पर्ववचनः। प्रतिपरुः सर्वाणि पर्वाणीति यावत्। सर्वान् ग्रन्थीन् यूयं प्रसर्पथ प्रगच्छथ व्याप्नुथ ततोऽङ्गपर्वसमुदायाद् यक्ष्मं रोगं यूयं विबाधध्वे निवर्तयथ। तत्र दृष्टान्तः—मध्यमशीर्मध्ये देहमध्ये भवतीति मध्यमो देहमर्मभागः, तं शृणाति हिनस्तीति मध्यमशीर्मर्मघातक उग्रो बद्धगोधाङ्गुलित्राण उद्गूर्णशस्त्रः क्षत्रियो यथा शत्रुं बाधते, एवं यूयमपि रोगिणो रोगं बाधध्वमित्यर्थः। यद्वा उग्रो रुद्रो देवः, स यथा त्रिशूलस्य मध्यमेन शूलेन शृणाति हिनस्तीति मध्यमशीः, स यथा युगान्ते सर्वं जगद् भस्मसात्करोति, एवं यूयमपि व्याधिं विबाधध्व इत्यर्थः। 'शॄ निगरणे' इति तौदादिकस्य क्विपि 'ऋत इद् धातोः' (पा० सू० ७।१।१००) इति ऋकारस्येदादेशे 'उरण् रपरः' (पा० सू० १।१।५१) इति रपरत्वे च रूपसिद्धिः।

अध्यात्मपक्षे—हे ओषधयः, पूर्वोक्ता यस्यातुरस्य अङ्गमङ्गं परुष्परुः प्रसर्पथाः, ततोऽङ्गादिसमुदायाद् यक्ष्मं दैहिकं मानसं च रोगं विबाधध्वे। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं यस्य अङ्गमङ्गं परुष्परुः प्रति वर्तमानं यक्ष्मं तस्य उग्रो मध्यमशीरिव यो मध्यमानि मर्माणि शृणातीति विबाधध्वे तत ओषधीः प्रसर्पथ विजानीथ ता वयं सेवेमहि' इति, तत्तुच्छम्, मनुष्याणां सम्बोधने मानाभावात्, बाह्याध्याहारापेक्षया ओषधीरित्यस्य सम्बोधनत्वे विपरिणामस्य लाघवात्, तासामेव प्रत्यङ्गं प्रतिपरुः प्रसर्पणसम्भवात्। न च मनुष्याणां व्याधिबाधने सामर्थ्यमस्ति, ओषधीनामेव

तथाविधसामर्थ्यस्य प्रसिद्धत्वात्। प्रसर्पणस्य ज्ञानार्थता असिद्धैव। उग्र इत्यस्य क्वान्वयः? न चोग्र इति यक्ष्मणो विशेषणम्, नपुंसकत्वापातात्। अत एव तीव्रमिति तद्व्याख्यानमप्यसङ्गतम् ॥ ८६ ॥

साकं यक्ष्म प्रपत चाषेण किकिदीविना।
साकं वातस्य ध्राज्या साकं नश्य निहाकया ॥ ८७ ॥

मन्त्रार्थ—हे व्याधियों, तुम कफ से रुके कण्ठ से उठे शब्द के द्वारा क्रीड़ा करने वाले श्लेष्म रोग और पित्त रोग के साथ इस शरीर से निकल जाओ, वात रोग के साथ नष्ट हो जाओ। सर्वांग वेदना से रोगी का जो हाहाकार है, उस दुःख के साथ तुम सब नष्ट हो जाओ ॥ ८७ ॥

हे यक्ष्म, यक्षयते लोकान् यक्ष्यते वा लोकैः प्राणत्यागभीतैरिति यक्ष्म राजरोगः। औणादिको मनिन्, तत्सम्बुद्धौ। किकिदीविना श्लेष्मावरुद्धकण्ठजन्यध्वनेरनुकरणार्थोऽयं किकिशब्दः। किकिना ध्वनिविशेषेण दीव्यति व्यवहरतीति किकिदीविः, तेन श्लेष्मजन्येन व्याधिना। चाषः 'चष भक्षणे' चषते व्याकुलान् कृत्वा सर्पशावकानपि भक्षयतीति चाषः पक्षिविशेषः। तद्वत्तीव्रत्वात् पित्तजन्यरोगोऽपि चाषः, तेन। अर्थात् श्लेष्मजन्येन पित्तजन्येन च व्याधिना साकं त्वं प्रपत प्रपलायस्व, प्रकर्षेण नष्टो भव। तथा वातस्य वातीति वातः, 'हसिमृ.....' इत्यादिना औणादिकस्तन्। अर्थाद् वातजन्यो व्याधिस्तस्य। ध्राज्या गत्या व्याध्या सह नष्टो भव। तथा निहाकया नितरां हतोऽस्मि हा कष्टमिति यया पीडया शब्दं करोति सा निहाका सर्वाङ्गवेदना, तया साकं नश्य नष्टो भव। यद्वा हे यक्ष्म, त्वं चाषेण पक्षिणा साकं प्रपत प्रणश्य प्रकर्षेण गच्छ वा। कीदृशेन चाषेण? किकिदीविना किकीत्यनुकरणशब्दः, तेन दीव्यतीति किकिदीविस्तेन। स हि चाषस्तवोचितः सार्थः। वातस्य ध्राज्या गत्या साकं प्रपत वातगतिवत् पलायस्व। किञ्च, निहाकया नितरां हन्ति कायमिति निहाका निर्ऋतिः कृच्छ्रापत्ति, तया सह नश्य। यद्वा हे यक्ष्म, त्वं निहाकया हा कष्टं कया ओषध्या निहतोऽहमिति शब्दं करोति यस्यां साऽवस्था निहाका, तामवस्थामापन्नः, विभक्तिव्यत्ययः, त्वं नश्य। वातस्य ध्राजिर्वातरोगस्तया, अर्थात् त्वं कफवातपित्तरोगैः सह प्रपत गच्छ।

अध्यात्मपक्षे—हे यक्ष्म, अस्वास्थ्यमूलाज्ञान! त्वमित्यादि पूर्वव्याख्यानवत्।

दयानन्दस्तु—'हे चिकित्सो विद्वन्, किकिदीविना किं किं ज्ञानं दीव्यति ददाति यस्तेन चाषेण भक्षणेन, 'चष भक्षणे', साकं यक्ष्म रोगराजः प्रपत प्रपतति यथा तस्य वातस्य ध्राज्या गत्या साकमपनश्य। निहाकया नितरां हातुं योग्यया साकं दूरीभवेत् तदर्थं प्रयतस्व। हे वैद्य विद्वन्, ज्ञानवर्धकेन आहारेण साकमौषधियुक्तेन पदार्थैर्यक्ष्म प्रपत नश्यति यथा तस्य वातस्य ध्राज्या गत्या सह नश्येत्, निहाकया निरन्तरं हातुं योग्यया पीडया सार्धं नश्येत् तथा प्रयतस्व। 'कि ज्ञाने' इत्यस्मात् सन्वति डौ कृते 'किकिः' इति, तदपि न, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, मूलमन्त्रगतस्य यक्ष्मेतिपदस्य सम्बोधनत्वे सम्भवत्यध्याहारबहुलकल्पनायोगाच्च ॥ ८७ ॥

अन्या वो अन्यामवत्वन्यान्यस्या उपावत।
ताः सर्वाः संविदाना इदं मे प्रावता वचः ॥ ८८ ॥

मन्त्रार्थ—हे ओषधियों, तुम्हारे बीच में से कोई एक ओषधि दूसरी की रक्षा करे, रक्षित हुई कोई दूसरी ओषधि रक्षा करने के लिये समीप आवे, अर्थात् आपस में मिलकर तुम रोगनिवारण की शक्ति को बढ़ाओ, तुम सब परस्पर एकमति होकर मेरी इस प्रार्थना को स्वीकार करो ॥ ८८ ॥

हे ओषधयः, वो युष्माकं मध्ये अन्याः काचिदोषधिव्यक्तिरन्यामोषधिव्यक्तिमवतु। तथा रक्षिता सा अन्या अन्यस्या रक्षिकाया उपावत समीपमागत्य तामभ्यवतु। पुरुषवचनव्यत्ययः। संहत्यकारित्वात् परस्पर-रक्षकत्वमुचितमेव। ताः सर्वास्तथाविधा ओषधयः संविदानाः परस्परमैकमत्यं गताः सत्यो यूयं मे मम इदं वचो वाक्यं प्रार्थनारूपं प्रावत प्रकर्षेण रक्षत। यद्वा अन्या अन्यस्याः प्रभावमवतु।

अध्यात्मपक्षे—हे दैवीसम्पद्रूपाः शमदमादिरूपाः संसाररोगनाशका ओषधयः, वो युष्माकमन्या अन्यामवतु, सर्वासां सम्भूयसंसाररोगनिवर्तकत्वे परस्परोपकार्योपकारकभावस्य युक्तत्वात्। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रियः, संविदानाः परस्परं संवादं कुर्वाणा यूयमिदं मे वचः प्रावत। ताः सर्वा ओषधीरन्या अन्यस्या इवोपावत। यथान्याऽन्यां रक्षति तथा वोऽध्यापिकाऽवतु' इति, तत्त्वतीबोपहासास्पदम्। एतादृशसम्बोधनकल्पनायां स्त्रीलिङ्गदर्शनमात्रस्य मूलत्वात्, अस्मिन् मन्त्रे ओषधिशब्दस्याभावाच्च। ता इति पदेन तत्परामर्शेऽपि सादृश्यार्थकपदाभावेन तासां दृष्टान्तत्वानुपपत्तेश्च ॥ ८८ ॥

याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वꣳहसः ॥ ८९ ॥

मन्त्रार्थ—जो ओषधियाँ फलवाली हैं, या फल से रहित हैं, जो ओषधियाँ फूलवाली हैं, अथवा फूलों से रहित हैं, वे सब ओषधियाँ प्रजापालक परमात्मा की प्रेरणा से हमारे पापों को दूर करें (रोगों को दूर करें) ॥ ८९ ॥

या ओषधयः फलिनीः फलिन्यः फलवत्यः, विभक्तिव्यत्ययः, ताः सर्वा ओषधयो बृहस्पतिप्रसूता बृहस्पति-प्रेरिताः सत्यो नोऽस्मानंहसः पापाद् रोगाद् मुञ्चन्तु मोचयन्तु।

अध्यात्मपक्षे—हे ओषधयः, युष्मासु काश्चन संसाररोगनिवर्तिकाः, काश्चन फलवत्यः साक्षात् फल-सम्पादयित्र्यः, यथा सन्तोषेण असन्तोषनिवृत्तिः, वस्तुयाथात्म्यज्ञानेन भ्रान्तिनिवृत्तिः, काश्चन तथा फलवत्यो न दृश्यन्ते यथाहिंसासत्यादयः, किन्तु पर्यवसाने स्वास्थ्यनिर्वर्तकाः, काश्चन पुष्पवत्योऽदृष्टोत्पत्तिद्वारा फलजन-यित्र्यो नित्याग्निहोत्रादयः, काश्चन अपुष्पाः, या दृष्टफला विवेकविचारादयस्ताः सर्वा बृहस्पतिप्रसूता ज्ञान-विज्ञानाधिष्ठातृदेवेन प्रेरिता नोऽस्मान् संसाररूपाद् अंहसो मोचयन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, याः फलिनीर्बहुफला याश्चाफला याः पुष्पिणीर्बहुपुष्पा बृहस्पतिप्रसूता बृहतां पतिनेश्वरेण उत्पादिता नोंऽहसो मुञ्चन्तु मोचयन्तु' इति, तदपि न, तथा सम्बोधनासिद्धेः, तथा युष्मानपि मोचयन्त्वित्यस्याप्रामाणिकत्वाच्च ॥ ८९ ॥

मुञ्चन्तु मा शपथ्यादथो वरुण्यादुत।
अथो यमस्य पड्वीशात् सर्वस्माद् देवकिल्बिषात् ॥ ९० ॥

मन्त्रार्थ—हे ओषधियों, आप सब हमें शपथ के कारण होने वाले पाप से, जल क्रीड़ा से पैदा होने वाले रोग से, यम सम्बन्धी पाप से और भी सभी प्रकार के देवापराध आदि से पैदा होने वाले पापों से हमें छुड़ाओ ॥ ९० ॥

इमं मन्त्रमारभ्य द्वादशमन्त्रा अनारभ्याधीताः। एतेषां लिङ्गबलाद्विनियोगः। शपथ्यात् शपथे भवं शपथ्यं तस्मात्, किल्बिषात् पापाद् मामौषधयो मुञ्चन्तु मोचयन्तु। अथो अपि च वरुण्याद् वरुणे भवं वरुण्यम्,

तस्माद् वरुणापराधनिमित्तात् पापाद् मां मुञ्चन्तु। उत अथो अपि च यमस्य यमसम्बन्धिनः पड्वीशात् यमबन्धननिमित्तात् पापात्, पड्वीशशब्दो बन्धनवचनः, मां मुञ्चन्तु। अथो अपि च सर्वस्माद् देवकिल्बिषाद् देवतापराधनिमित्तात् पापाद् मां मुञ्चन्तु।

अध्यात्मपक्षे—हे शमदमसत्यादिरूपा ओषधयः, यूयं मां शपथ्यादिभ्यो मुञ्चन्तु, तासां सत्त्वे तत्प्रसङ्गानापत्तेः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः, भवन्तो यथौषधयो रोगात् पृथग् रक्षन्ति, तथा शपथ्यात् शपथे भवात् कर्मणः, वरुण्याद् वरुणे भवादपराधात्, उतापि यमस्य न्यायाधीशस्य पड्वीशाद् न्यायविरोधाचरणात् सर्वस्माद् देवकिल्बिषाद् मां मुञ्चन्तु यथा, तथा युष्मानपि रोगेभ्यो मुञ्चन्तु' इति, तदपि तुच्छम्, अध्याहार-बाहुल्यात्, यथौषधयो रोगात् पृथग् रक्षन्तीत्यस्य मूलेऽभावात्। न च विद्वांसोऽपि शपथ्यादिभ्यः पापेभ्यो रक्षन्ति, तथा सति व्यवस्थाकोपप्रसङ्गात्। किञ्च, यथा विद्वांसो भवन्तो मां शपथ्यादिभ्यो रक्षन्तु, तथा युष्मान् रोगेभ्यो मुञ्चन्त्विति दृष्टान्तः कथमुपपद्यते? रोगेभ्यः सेविता ओषधयः स्वयमेव मुञ्चतेति व्याख्याने प्रार्थनाया वैयर्थ्यमेव। पड्वीशपदस्य न्यायविरुद्धाचरणं कथमर्थः? अयमर्थो निर्मूल एव। बन्धनार्थकत्वं तु बृहदारण्यके प्रसिद्धम्। तथाहि—'अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन् यथा महासुहयः सैन्धवः पड्वीशशङ्कून् संवृहेदेवꣳ हैवेमान् प्राणान् संववर्ह' (बृ० उ० ६।१।१३) इत्यत्र बन्धनार्थत्वं तस्य दृश्यते। तथा च पशनं पड्, 'पश बन्धने', तस्य वीः प्रजन उपक्रम इति यावत्, तमेव श्यति तनूकरोतीति पड्वीशो दृढबन्धनम्। तथा चोव्वटमहीधरादीनामाचार्याणां पदवी अधुनातनानां कृते दवीयसी॥ ९०॥

अवपतन्तीरवदन् दिव ओषधयस्परि।
यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः॥ ९१॥

मन्त्रार्थ—द्युलोक से भूमि पर आती हुई ओषधियों ने कहा कि जिस प्राणी को हम व्याप्त करती हैं, वह कभी नष्ट नहीं होता॥ ९१॥

द्युलोकात् पतन्तो वृष्टिबिन्दव ओषधिरूपेणोत्पद्यन्ते। तथा च—'यावन्तः स्तोका अवापद्यन्त तावती-रोषधयोऽजायन्त' (तै० ब्रा० २।१।१।१) इति तैत्तिरीयाग्निहोत्रब्राह्मणवचनम्। तद्रीत्यैवात्रापि दिवः परि स्वर्गस्योपरितनप्रदेशादवयतीरवयत्योऽधस्ताद् भूमौ पतन्त्य ओषधय समवदन्त परस्परं सम्यगेतद्वचन-मुक्तवत्यः। कीदृशं तद्वचनमिति तदुच्यते—यं जीवं प्राणिनमश्नवामहै व्याप्नुमः, स पुरुषो न रिष्यतीति। पूरुष इत्यत्र छान्दसो दीर्घः। रिष्यातीति लेटि रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—दिवः परि द्युलोकात् सकाशाद् भूमौ साधकानुग्रहार्थमवाचीनं पतन्त्यः शमाद्यभिमानिन्यो देवता अवदन्—यं जीवं साधकं वयं शमादयोऽश्नवामहै स पुरुषो न रिष्यति न म्रियते, जननमरणाविच्छेद-लक्षणायाः संसृतेर्मुक्तो भवतीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'वयं या दिवोऽवपतन्तीर् ओषधयः सन्ति, या विद्वांसः पर्यवदन् या भ्यो यं जीवमश्नवामहै, ताः संसेव्य स पूरुषो न रिष्याति कदाचिद् रोगैर्हिंसितो न भवति' इति, तदपि तुच्छम्, प्रत्यक्षं मन्त्रगतं कर्तृपद-मुपेक्ष्य विद्वांस इत्यध्याहारस्याप्रामाणिकत्वात्। पर्यवदन्नित्यस्य उपदेशार्थतापि चिन्त्या॥ ९१॥

या ओषधीः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः।
तासामसि त्वमुत्तमारं कामाय शꣳ हृदे॥ ९२॥

मन्त्रार्थ—जो सोम की पत्नियां हैं, अनन्त असंख्यात शुभ गुणों से युक्त ओषधियां हैं, उनके मध्य में हे ओषधि, तुम सबसे उत्तम हो। इच्छित रोग की निवृत्ति में समर्थ तुम मन से रोग-निवृत्ति के द्वारा हमको सुख देने वाली बनो ॥ ९२ ॥

या ओषधीर् ओषधयः, सोमराज्ञीः सोमो राजा यासां ताः सोमराज्यः, बह्वीर् बह्वयोऽनन्ताः शतविचक्षणाः शतं विचक्ष्यन्ते प्रोच्यन्त इति शतविचक्षणाः, बहुवीर्या वा। शतं विचक्षणाः स्तोतारो यासां ताः शतविचक्षणाः सन्ति, तासामोषधीनां मध्ये हे ओषधे, त्वमुत्कृष्टासि, अतः कामाय अभीप्सिताय अरमलमत्यर्थं समर्थासि। ततो हृदे हृदयाय शं सुखकारिणी, भवेति शेषः।

अध्यात्मपक्षे—सोमराज्ञीः सोमस्तत्प्रधानः शमो राजा यासां ता दयादिरूपा या ओषधयः सन्ति, कीदृश्यः? बह्व्योऽनन्ताः, शतविचक्षणाः शतवीर्या बहुस्तोतृका वा, तासां मध्ये ब्रह्मसाक्षात्कृतिरूपे हे ओषधे, त्वमुत्कृष्टासि कामाय अभीष्टब्रह्मप्रापणाय अरं समर्थासि, हृदे हृदयाय शं शान्तिरूपासि।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, यतस्त्वं याः शतविचक्षणा बह्वीः सोमराज्ञीर् ओषधीः सन्ति, तासामुत्तमा विदुष्यसि, तस्मात् शं कल्याणकारिणी हृदे हृदयाय अरं कामाय भवितुमर्हसि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्। मूले सोमराज्ञीर् ओषधीः, तासां त्वमुत्तमाऽसीति प्रत्यक्षसम्बन्धमपहाय तासां त्वं विदुष्यसीति सम्बन्धकल्पनस्य स्वैरित्वमेव बोधयति ॥ ९२ ॥

या ओष॑धीः सोम॑राज्ञीर्विष्ठि॑ताः पृथिवीमनु॑।
बृहस्पति॑प्रसूता अ॒स्यै सन्द॑त्त वी॒र्य॑म् ॥ ९३ ॥

मन्त्रार्थ—जो सोम की पत्नी ओषधियां पृथ्वी पर नाना प्रकार से स्थित हैं, बृहस्पति द्वारा प्रेरित वे ओषधियां हमारी लाई हुई इस औषधि को पराक्रम दें, अर्थात् इसको वीर्यसपम्न कर दें ॥ ९३ ॥

याः सोमराज्य ओषधयः पृथिवीमनु विष्ठिता विविधं स्थिताः, ता यूयं बृहस्पतिप्रसूता बृहस्पतिना प्रेरिताः सत्यः, अस्यै मद्गृहीतायै ओषध्यै वीर्यं सामर्थ्यं सन्दत्त प्रयच्छत। 'अस्यै पृथिव्यै' इति काण्वसंहिताभाष्यम्। तच्च चितिक्षेत्राभिप्रायेण द्रष्टव्यम्।

अध्यात्मपक्षे—याः पूर्वोक्ता ओषधयः सोमराज्यः पृथिवीं व्यवहारभूमिमनु विष्ठिताः, बृहस्पतिना प्रेरितास्ता अस्यै ब्रह्मविद्यायै वीर्यं प्रपञ्चोन्मूलनसामर्थ्यं सन्दत्त।

दयानन्दस्तु—'हे विवाहितपुरुष, याः सोमराज्ञीर्बृहस्पतिप्रसूता ईश्वरस्य निर्माणादुत्पन्ना ओषधीः पृथिवीमनु विष्ठितास्ताभ्योऽस्यै पत्न्यै वीर्यं देहि। हे विद्वांसः, यूयमेतासां विज्ञानं सर्वेभ्यः सन्दत्त' इति, तदपि न किञ्चित्, असङ्गतेः। निर्माणादुत्पन्ना इत्यसङ्गतिः। ताभ्योऽस्यै वीर्यं देहीत्यस्य कोऽभिप्रायः? एतासां विज्ञानमित्यादिकं तु मन्त्रबाह्यमेव ॥ ९३ ॥

याश्चे॒दमु॑पशृ॒ण्वन्ति॒ याश्च॑ दू॒रं परा॑गताः।
सर्वाः॑ स॒ङ्गत्य॑ वीरुधो॒ऽस्यै सन्द॑त्त वी॒र्य॑म् ॥ ९४ ॥

मन्त्रार्थ—जो ओषधियां हमारे पास हैं, अथवा हमसे दूर हैं, वे हमारे इस वचन को सुन रही होंगी। वे सारी वनस्पतियां मिलकर हमारे द्वारा गृहीत इस ओषधी में बल का आधान करें ॥ ९४ ॥

याश्चौषधिदेवताः समीपस्थाः सत्य इदं मदीयं प्रार्थनारूपं वचः शृण्वन्ति, याश्च दूरं यथा भवति तथा परागता व्यवहिताः सत्य ईषच्छृण्वन्ति, हे वीरुधो विविधरोहणा लतारूपाः सर्वा ओषधयः, यूयं सङ्गत्य सङ्गत्येदं भूत्वा अस्यै ओषध्यै पृथिव्यै वा वीर्यं सामर्थ्यं पृथग् दत्त ।

अध्यात्मपक्षे—याः सन्निहिता असन्निहिता वा ओषधिरूपाः शमदमादयः सन्ति, तास्ताः सङ्गत्य अस्यै ब्रह्मविद्यायै सामर्थ्यं दत्त ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसो भवन्तो याश्चोपश्रृण्वन्ति याश्च दूरं परागतास्ताः सर्वा वीरुधः सङ्गत्य वीर्यं प्रसाध्नुवन्ति, तासां विज्ञानमस्यै कन्यायै सन्दत्त' इति, तदप्यसङ्गतमेव, यस्यै पूर्वं वीर्यदानमुक्तं तस्याः कन्यात्वायोगात् । सङ्गत्य एकीभूत्वेति संस्कृतव्याख्यानस्य हिन्दीभाषायां (निकट प्राप्त कर) इत्यर्थः कृतः, सर्वमेव तदसङ्गतम्, प्रकृतिप्रत्ययार्थविरोधात् । सम्बोधनं च निर्मूलम् ॥ ९४ ॥

मा वो रिषत्खनिता यस्मै चाहं खनामि वः ।
द्विपाच्चतुष्पादस्माकꣳ सर्वमस्त्वनातुरम् ॥ ९५ ॥

मन्त्रार्थ—हे ओषधियों, रोग की चिकित्सा के लिये तुम्हारी जड़ की जरूरत है, इसलिये कोई तुम्हें खोदता है । वह खनन के अपराध से हानि को प्राप्त न हो । जिस रोगी की चिकित्सा के लिये तुम्हें खोदा गया है, वह भी हानि को प्राप्त न हो । हमारे सम्बन्धी स्त्री-पुत्र आदि द्विपद और चतुष्पद सब रोगरहित हों ॥ ९५ ॥

हे ओषधयः, वो युष्मान् खनिता चिकित्सायै युष्माकं खननकर्ता मा रिषत् मा विनश्यतु । यस्मै रुग्णाय चिकित्सार्थं वो युष्मानहं खनामि युष्मन्मूलमादातुं खननं करोमि, स च मा रिषत् । किं बहुना, अस्माकं सम्बन्धि द्विपात् स्त्रीपुंसम्, चतुष्पाद् गवादिप्राणिजातम्, सर्वमनातुरं रोगरहितमस्तु । यद्वा हे ओषधयः, वो युष्माकं चिकित्सायै खनिता युष्मदीयं मूलं ग्रहीतुं खननस्य कर्ता मा रिषत् । अहं च यस्मै रुग्णाय चिकित्सार्थं वः खनामि युष्मन्मूलं ग्रहीतुं सोऽहमपि मा विनश्यामि । किं बहुना, अस्माकं सम्बन्धि सर्वं द्विपाच्चतुष्पाद् वा प्राणिजातं युष्मानुपजीवति तत्सर्वमनातुरमस्तु ।

अध्यात्मपक्षे—हे ओषधयः पूर्वोक्ताः शमादिरूपाः, युष्माकं खनिता वेदादिशास्त्रपर्वतेभ्य उद्धर्ता मा रिषत् । यस्मै संसाररोगनाशाय अहं वो युष्मान् खनामि उद्धरामि सोऽहं मा विनश्येयमिति शेषः । सर्वमस्माकं सम्बन्धि प्राणिजातमनातुरमस्तु । शान्तस्य सर्वं वस्त्वनातुरमेव भवति । सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, अहं यस्मै यामोषधीं खनामि सा खनिता सती वो युष्मान् मा रिषत् । यतो वोऽस्माकं च सर्वं द्विपात् चतुष्पादनातुरमस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वद्रीत्या हि जडानामोषधीनां प्रार्थना निरर्थिकैव ॥ ९५ ॥

ओषधयः समवदन्त सोमेन सह राज्ञा ।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तꣳ राजन् पारयामसि ॥ ९६ ॥

मन्त्रार्थ—अपने स्वामी सोम को ओषधियाँ कहती हैं कि ब्राह्मण जिस रोगी के निमित्त हमारे मूल, फल, पत्र आदि से चिकित्सा करता है, हे स्वामी सोम ! उस रोगी को हम रोगरहित करती हैं ॥ ९६ ॥

ओषधय ओषधिदेवता राज्ञा स्वस्वामिना सोमेन राज्ञा सह समवदन्त संवादं कृतवत्यः। सोमो हि ओषधीनां राजा। कथं संवादस्तमाह—ब्राह्मणो यस्मै रुग्णाय कृणोति अस्मत्पत्रपुष्पमूलादिभिश्चिकित्सां करोति, हे राजन् स्वामिन् सोम, तं रुग्णं नरं वयं पारयामसि व्याधेरुत्तारयामः। सोमसंवादोऽयं व्याधिनाशदार्ढ्यार्थम्। 'कृञ् हिंसायाम्' इति सौवादिकस्य कृणोतीति रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—ओषधयः सोमेन राज्ञा समवदन्त। मनोऽधिष्ठात्रा सोमेन सह ओषधयः शमदमादिरूपाः समवदन्त, हे राजन्, यस्मै अस्वस्थाय अनात्मतादात्म्याभिमानिने ब्राह्मणो ब्रह्मविद्वरिष्ठः कृणोति चिकित्सां शमदमादिपूर्वकब्रह्मज्ञानोपदेशेन तं वयमस्वस्थं पारयामः अपारसंसारसागराद् उत्तारयामः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, याः सोमेन राज्ञा सह वर्तमाना ओषधयः सन्ति, तद्विज्ञानार्थं भवन्तः समवदन्त परस्परं संवादं कुर्युः। हे राजन्, वयं वैद्या ब्राह्मणो वेदोपवेदविद् यस्मै ओषधीः कृणोति, तं रोगिणं रोगात्पारयामसि रोगसमुद्रात्पारं गमयेम' इति, तदपि तुच्छम्, अन्यव्यापारेऽन्यस्य पारगमनहेतुत्वासम्भवात्, तद्विज्ञानमित्यध्याहारस्य निर्मूलत्वाच्च ॥ ९६ ॥

नाशयित्री बलासस्यार्शस उपचितामसि ।

अथो शतस्य यक्ष्माणां पाकारोरसि नाशनी ॥ ९७ ॥

मन्त्रार्थ—हे ओषधियों, तुम क्षय, अर्श, मेदरोग, श्वयथु (सूजन), श्लीपद आदि रोगों का नाश करने वाली हो और क्षत आदि सैकड़ों रोगों का तथा मुखपाक आदि रोगों का नाश करने वाली हो ॥ ९७ ॥

हे ओषधे, त्वं बलासस्य बलमस्यति क्षिपतीति बलासस्तस्य अर्शसो मूलव्याधेर्नाशयित्र्यसि। किञ्च, उपचिताम् उपचीयन्ते शरीरेऽन्ये ये रोगास्ते उपचितः, तेषामपि नाशयित्र्यसि। अथो अपि च शतस्य यक्ष्माणां व्याधीनां शतस्यापि नाशिनी त्वमसि। पाकारोः क्षयव्याधेरपि नाशिनी त्वमसि। यद्वा—बलासस्य क्षयव्याधेः, अर्शसो गुदव्याधेश्च त्वं नाशयित्री। शरीरे ये उपचीयन्ते उपचिन्वन्ति वर्धयन्ति वा शरीरं ये ते उपचितः श्वयथुगड्डुश्लीपदादयस्तेषां नाशयित्री। अथो अपि यक्ष्माणां रोगाणां शतस्य असंख्यरोगाणां पाकारोः, अरुः क्षतमुच्यते। पाकेनारुः पाकारुः, मुखपाकक्षतादिस्तस्य नाशिनी त्वमसि। यद्वा पाकस्य अन्नपाकस्य अरुर् अदीप्तिर्मन्दाग्नित्वं तस्य च त्वं नाशिनी भवसि। 'रुच दीप्तौ' इत्यस्मात् 'अश्वादयश्च' (उ० ५।२९) इति डुनि 'रुः' इति रूपम्। न रुः अरुः।

अध्यात्मपक्षे—हे विरतिरूपौषधे, त्वं बलासस्य बलक्षपयितुः शोकस्य नाशयित्र्यसि। तथा मोहरूपस्य मूलव्याधेरपि क्षपयित्र्यसि। उपचितां रोगाणां यक्ष्माणां महारोगाणां शतस्य नाशयित्र्यसि। तथा पाकारोर्मन्दाग्निरूपस्य मन्दजिज्ञासुत्वादेरपि नाशिनी असि।

दयानन्दस्तु—'हे वैद्याः, या बलासस्य आविर्भूतकफस्य अर्शसो मूलेन्द्रियव्याधेः, उपचितां वर्धमानानां रोगाणां नाशयित्र्यसि। अथो शतस्य अनेकेषां यक्ष्माणां महारोगाणां पाकारोर्मुखादिपाकस्यारोर्मर्मच्छिदः शूलस्य च नाशिनी असि, तामोषधिं यूयं विजानीत' इति, तदपि तुच्छम्, अध्याहारादिदोषबाहुल्यात्, एतमुपदेशं विनापि वैद्यानां तत्र स्वारसिकप्रवृत्तेः। मर्मच्छिदः शूलस्य इत्यत्र मूलं मृग्यम् ॥ ९७ ॥

त्वां ग॑न्धर्वा अ॑खनंस्त्वामिन्द्र॑स्त्वां बृह॒स्पति॑: ।
त्वामो॑षधे॒ सोमो॒ राजा॑ वि॒द्वान् यक्ष्मा॑दमुच्यत ॥ ९८ ॥

मन्त्रार्थ—हे ओषधियों, गन्धर्वों ने तुमको खोदा, इन्द्र और बृहस्पति ने तुमको खोदा। सोम राजा ने तुम्हारी सामर्थ्य जानकर तुमको सेवन कर यक्ष्मा रोग से छुटकारा पाया। तुम्हारे गुणों के ज्ञाता तुमको पाकर अनेकों रोगों से मुक्त हुए हैं ॥ ९८ ॥

हे ओषधे, यतस्त्वमित्थंभूतासि, अतस्त्वां गन्धर्वा देवयोनिविशेषा अखनन् अभिलषितकामप्राप्त्यर्थं खननमकुर्वन्, त्वामिन्द्रो बृहस्पतिश्चाखनत्। हे ओषधे, सोमो राजा विद्वान् त्वत्सामर्थ्यं जानन् त्वामखनत्। उपयुज्य च त्वां यक्ष्माद् महाव्याधेरमुच्यत मुक्तोऽभूत्।

अध्यात्मपक्षे—हे विरते यतस्त्वमित्थंप्रभावासि, अतस्त्वां गन्धर्वा गाननिपुणा अखनन् अन्विष्टवन्तः। ततो भगवद्गानपरायणाः सन्तो मुक्ता अभवन्। इन्द्रः परमैश्वर्यवान् चक्रवर्ती नरेन्द्रो देवराजश्च त्वामखनत्। 'न सुखं देवराजस्य न सुखं चक्रवर्तिनः। यत्सुखं वीतरागस्य मुनेरेकान्तवासिनः॥' इत्यभियुक्तोक्तेः। बृहस्पतिर्वाचस्पतिरपि त्वामखनत्, त्वां विना वाचस्पत्यस्य नैरर्थक्यात्। 'पण्डिता बहवो राजन् बहुज्ञाः संशयच्छिदः। सदसस्पतयोऽप्येके असन्तोषात् (अविरतेः) पतन्त्यधः॥' (भा० पु० ७।१५।२१) इति। सोमो राजा त्वां विद्वान् यक्ष्मान्महाव्याधेर्मोहान्मुक्तोऽभवत्। यद्वा सोम उमया सहितः शिवः, राजा सर्वोपरि राजमानस्त्वां विद्वान् यक्ष्मात् संसाररोगाद् मुक्तः सन् श्मशाने क्रीडतीति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यया सेवितया रोगी यक्ष्मादमुच्यत। ओषधे यामोषधिं यूयमुपयुङ्ध्वं तां त्वां गन्धर्वा गानविद्याकुशला अखनन् खनन्ति। इन्द्रः परमैश्वर्ययुक्तः, बृहस्पतिर्वेदवित्, सोमः सौम्यगुणसम्पन्नः, राजा प्रकाशमानो राजन्यस्त्वां खनेत्' इत्यादि, तदपि निरर्थकम्। 'ओषधे' इति सम्बोधनपदस्य व्यत्यये प्रमाणानुक्तेः, सायणादिकृतसरलव्याख्यानमुपेक्ष्य द्रविडप्राणायामतुल्यस्य व्यापारस्याकिञ्चित्करत्वात्, यया सेवितयेत्याद्यंशस्य निर्मूलत्वाच्च, गन्धर्वादिदेवजातेरपलापस्य शास्त्रविरुद्धत्वाच्च ॥ ९८ ॥

सह॑स्व मे॒ अरा॑तीः सह॑स्व पृतनाय॒तः ।
सह॑स्व॒ सर्वं॑ पा॒प्मान॑ᳪ सह॑मानास्योषधे ॥ ९९ ॥

मन्त्रार्थ—हे ओषधियों, तुम शत्रुओं का तिरस्कार करने वाली हो, मेरे अदानशील शत्रु की सेना का तिरस्कार करो, संग्राम चाहने वाले शत्रुओं को जीतकर सारे अशुभ को दूर करो ॥ ९९ ॥

हे ओषधे, यतस्त्वमेवंभूतासि, अतस्त्वां याचे। सहस्व अभिभव मे मम अरातीः, नास्ति रातिर्दानं यासु ता अरातयोऽदानशीलाः शत्रुसेनाः, ताः। तथा सहस्व अभिभव च पृतनायतः पृतनाः संग्रामान् कामयन्त इति पृतनायतः, तान्। सर्वं पाप्मानम् अशुभं च सहस्व अभिभव। ननु कथमभिभवकर्मणि त्वमस्माभिर्नियुज्यस इति चेत्, तत्राह—त्वं सहमानासि यतस्त्वमभिभवनशीलाऽसि, अतो नियुज्यसे।

अध्यात्मपक्षे—हे ओषधे विरते, मे अरातीः कामादिशत्रून् सहस्व। पृतनायतोऽन्यान् क्रोधादीन् सहस्व। सर्वं पाप्मानं मोहाज्ञानादिकं सहस्व। यतस्त्वं सहमानासि अभिभवनशीलासि।

दयानन्दस्तु—'हे ओषधे, ओषधिवद्वर्तमाने स्त्रि, यथौषधिः सहमानासि मे मम रोगान् सहते, तथा अरातीः सहस्व। स्वस्य पृतनायत आत्मनः पृतनां सेनामिच्छतः सहस्व। सर्वं पाप्मानं सहस्व' इति, तदपि बालभाषितम्, स्त्रीषु तथा प्रार्थनाऽयोगात्, तासु पृतनायतः प्रतीकारासामर्थ्यात् ॥ ९९ ॥

दीर्घायुस्त ओषधे खनिता यस्मै च त्वा खनाम्यहम्।
अथो त्वं दीर्घायुर्भूत्वा शतवल्शा विरोहतात् ॥ १०० ॥

मन्त्रार्थ—हे ओषधियों, तुम्हारा खनन करने वाला दीर्घायु हो, जिस रोगी के निमित्त तुम्हारा खनन किया गया है, वह भी दीर्घायु हो। तुम भी दीर्घायु होकर सैकड़ों अंकुर वाली होकर वृद्धि को प्राप्त करो ॥ १०० ॥

हे ओषधे, पुनरपि त्वां प्रार्थयामहे। अहं ते तव खनिता दीर्घायुर्भूयासम्। यस्मै च आतुराय त्वां खनामि स च दीर्घायुर्भूयात्। अथो अपि च त्वं दीर्घायुर्भूत्वा अनवखण्डितायुर्भूत्वा शतवल्शा शतं वल्शा अङ्कुरा यस्याः सा। बह्वङ्कुरा सती विरोहताद् विरोह। 'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्' (पा० सू० ७।१।३५) इति तातङ्ङादेशः। अनवखण्डिता भूत्वा त्वमनेकैरङ्कुरैः सन्तिष्ठस्वेति प्रार्थना।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेव व्याख्यानम्। विरतेरन्वेषकस्य यस्मै च तदन्वेषणं तस्य च दीर्घायुष्ट्वं जननमरणराहित्येन ब्रह्मात्मभावप्राप्तिः। विरतिः स्वयमपि ब्रह्मात्मभावप्राप्तिमूला तत्त्वसाक्षात्कारप्राप्तिद्वाराऽनवखण्डितमूला बह्वङ्कुरा भवति, सर्वेषां साधनानां तन्मूलत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे ओषधे, ओषध इव मनुष्य, यस्य ते तव यामोषधीं खनिता सेविताहं यस्मै खनामि तया त्वं दीर्घायुर्भव। दीर्घायुर्भूत्वाऽथो त्वं या शतवल्शौषधिर्वर्तते, त्वा तां सेवित्वाऽथ सुखी भव तथा विरोहतात्' इति, तदप्यव्यापारेषु व्यापारमात्रम्, कार्यकारणभावानुपपत्तेः। नहि वीरुधां गुणदोषज्ञो वीरुद् भवति। तेषामोषधीमहं खनिता यस्मै पुरुषाय खनामि तस्मादपि त्वं दीर्घायुर्भवेति सर्वथाऽसम्बद्धं निरर्थकमेव ॥ १०० ॥

त्वमुत्तमास्योषधे तव वृक्षा उपस्तयः।
उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं यो अस्माँ२ अभिदासति ॥ १०१ ॥

मन्त्रार्थ—हे ओषधि, तुम श्रेष्ठ हो। तुम्हारे निकट के शाल, ताल, तमाल आदि वृक्ष तुम्हारे समीप में स्थित होकर, उपद्रवों का निवारण कर छाया आदि के द्वारा सबका उपकार करते हैं। जो हमसे चिरकाल से द्वेष कर रहे हैं, वे हमारे अनुगत हों ॥ १०१ ॥

हे ओषधे, त्वमुत्तमा उत्कृष्टगुणासि। वृक्षा अन्ये साल-तमाल-वटाश्वत्थादयस्तव उपस्तय उप समीपे संहताः सन्त उपासका इव तिष्ठन्ति। अथवा उपस्त्यायन्ति उपकाराय उपद्रवनिरासाय च समीपे संहतास्तिष्ठन्तीत्युपस्तयो वृक्षाः, 'स्त्यै ष्ट्यै शब्दसङ्घातयोः'। किञ्च, यः कश्चिन्नरोऽस्मान् अभिदासति अभिहन्ति, सोऽस्माकमुपस्तिः समीपस्थ उपासको भवतु त्वत्प्रसादात्। 'दासृ दाने' इत्यस्य रूपम्। अत्र 'दोऽवखण्डने' इत्यस्य दासशब्दः, तस्माद् हिंसार्थकता।

अध्यात्मपक्षे—हे ओषधे विरतिरूपे, त्वमुत्तमा संसाररोगस्य ओषधिरसि। तव वृक्षा अन्ये वृक्षा विवेक-

विज्ञानादय उपस्तयः संहतास्तव सेवकाः सन्ति। योऽस्मानभिदासति हिनस्ति स त्वत्प्रसादादस्माकमुपस्तिरुपासको भवतु।

दयानन्दस्तु—'हे वैद्यजन, योऽस्मानभिदासति, अभीष्टं सुखं ददाति 'दासृ दाने', स त्वमस्माकमुपस्तिः संहतिरस्तु। योत्तमौषधे ओषधिरस्ति, तव यस्य वृक्षा उपस्तयस्तेनौषधिनाऽस्मभ्यं सुखं देहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। हे ओषधे, त्वमुत्तमासीति सरलतयाऽन्वये सम्भवे व्यत्ययेनार्थान्यथात्वसम्पादनस्यायुक्तत्वात्॥ १०१॥

इत्यनारभ्याधीतानां मन्त्राणां व्याख्यानम्।

मा मा हिꣳसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवꣳसत्यधर्मा व्यानट्।
यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ १०२॥

मन्त्रार्थ—जो प्रजापति पृथ्वी को उत्पन्न करने वाला है, जो सत्य को धारण करने वाला है, द्युलोक की सृष्टि कर चुका है और जो आदिपुरुष जगत् के आह्लादक एवं तृप्तिसाधक जल को उत्पन्न करने वाला है, वह प्रजापति मुझे किसी प्रकार की हानि न पहुँचावे, उस प्रजापति के निमित्त यह आहुति अर्पित है, वह हमारी रक्षा करे॥ १०२॥

'लोगेष्टकाः स्फ्येनाहृत्य बहिर्वेदेरनूकान्तेषूपदधाति तिष्ठन् मा मा हिꣳसीदिति प्रत्यृचं प्रतिदिशं पुरस्तात् प्रथमम्' (का० श्रौ० १७।३।१०)। अध्वर्युस्तिष्ठन् प्रत्यृचं सर्वासु दिक्ष्वनूकान्तेषु पद्याप्रमाणानि स्फ्येन वेदेर्बाह्यत आनीयोपदध्यादिति सूत्रार्थः। मा मा हिꣳसीदित्यादिभिश्चतसृभिर्ऋग्भिः पूर्वादिदिक्क्रमेण प्रादक्षिण्येन लोगेष्टकासंज्ञका लोकरूपा इष्टका उपदध्यात्। तदुक्तं शतपथब्राह्मणे—'अथ लोगेष्टका उपदधाति। इमे वै लोका एषोऽग्निर्दिशो लोगेष्टका एषु तल्लोकेषु दिशो दधाति तस्मादिमा एषु लोकेषु दिशः' (श० ७।३।१।१३)। लोगेष्टकानामुपधानं विधाय प्रशंसति—इमे वै लोका इति। इमे खलु ये पृथिव्यादयस्त्रयो लोका एष एव खल्वग्निरिति। लोकसंस्तुताभिः स्वयमातृण्णाभिर्युक्तत्वाल्लोकत एव सिद्धा लोष्टरूपा इष्टका लोकेष्टकाः। ता एव परोक्षतया लोगेष्टका इत्युच्यन्ते। तैत्तिरीयकेऽपि तथैवाम्नातम् –'दिग्भ्यो लोष्टान् समस्यति, दिशामेव वीर्यमवरुध्य' (तै० सं० ५।२।५।६) इति। लोकसम्बन्धिन्यः प्राच्यादिदिशः, ता लोकेष्टकाः। अतस्तदुपधानेन एष्वेव लोकेषु ता एव दिशः स्थापयति। तस्मात् कारणादिमाः प्राच्यादिदिश एषु लोकेषु दृश्यन्ते।

'बाह्येनाग्निमाहरति। आप्ता वा अस्य ता दिशो या एषु लोकेष्वथ या इमाँल्लोकान् परेण दिशस्ता अस्मिन्नेतद्दधाति' (श० ७।३।१।१४)। वेदेर्बाह्यदेशेनेष्टकानामाहरणं विधाय स्तौति—बाह्येनाग्निमिति। अग्निं बाह्येनाग्निक्षेत्राद् बाह्यदेशेन एता इष्टका आहरति। आप्ता वेत्यादि। अस्याग्नेर्यजमानस्य वा ता दिश आप्ताः प्राप्ता या इमा एषु लोकेषु दृश्यन्ते। अथ या दिश इमान् लोकान् परेण एभ्यो लोकेभ्यो बहिर्वर्तन्ते, अस्मिन्नग्नौ, एतदेतेन बाह्यदेशादाहरणेन दधाति धारयति। 'बहिर्वेदेरियं वै वेदिः। आप्ता वा अस्य ता दिशो या अस्यामथ या इमां परेण दिशस्ता अस्मिन्नेतद्दधाति' (श० ७।३।१।१५)। आहरणस्याग्निक्षेत्रापेक्षया बहिर्देशसम्बन्धो विहितः, वेद्यपेक्षयापि तथात्वं विधत्ते—बहिर्वेदेरिति। अग्नेर्लोकत्रयात्मकत्वात् ततो बहिराहरणं लोकत्रयाद् बहिरवस्थितानां दिशामाप्तिहेतुरित्युक्तम्, इदानीं तु वेदेर्भूमिरूपत्वादस्या बहिरवस्थिता यावत्यो दिशस्तासां प्राप्त्यर्थं वेदिबाह्यदेशादाहरणमित्यभिप्रेतोऽर्थः। अथ या इमां परेणेत्यस्याः पृथिव्याः परेण परस्ताद् बहिरित्यर्थः। 'यद्वेव लोगेष्टका उपदधाति। प्रजापतेर्विस्रस्तस्य सर्वा दिशो रसोऽनु-

व्यक्षरत्तं यत्र देवाः समस्कुर्वंस्तदस्मिन्नेताभिर्लोगेष्टकाभिस्तꣳ रसमदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति' (श० ७।३।१।१६)। प्रकारान्तरेण लोगेष्टकाविधानं स्तौति—यद्वेवेति । विस्रस्तस्य विस्रस्तावयवस्य सर्वाः प्राच्यादिदिशोऽनुलक्ष्य तदीयो रसो व्यक्षरद् विविधमस्रवत् । यत्र यस्मिन् देशे तत् तथाविधं प्रजापतिं देवाः समस्कुर्वन् चित्याग्निरूपेण संस्कृतवन्तः, तत्राग्न्यात्मके प्रजापतौ एताभिर्लोगेष्टकाभिस्तं रसमदधुः स्थापितवन्तः, एवमेवास्मिन्नग्नावयं यजमानोऽप्येतं रसं दधाति धारयति, लोगेष्टकोपधानेनेत्यर्थः ।

'बाह्येनाग्निमाहरति । आप्तो वा अस्य स रसो य एषु लोकेष्वथ य इमाँल्लोकान् पराङ् सोऽत्यक्षरत् तमस्मिन्नेतद्दधाति' (श० ७।३।१।१७) । आहरणस्याग्निबाह्यत्वमनूद्य स्तौति—बाह्येनेति । 'एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः' (पा० सू० ५।३।३५) इत्येनप् । अत एव—'एनपा द्वितीया' (पा० सू० २।३।३१) इत्यनेनाग्निमित्यत्र द्वितीया । अग्नेर्बाह्यदेशेनेत्यर्थः । तेन एषु लोकेषु यो रसोऽस्ति, स आप्तो भवति । इमान् पृथिव्यादिलोकान् विहाय पराङ् यः परागतो रसो भवति, तमस्मिन् एतेन दधातीत्यर्थः । 'बहिर्वेदेरियं वै वेदिः । आप्तो वा अस्य स रसो योऽस्यामथ य इमां पराङ् सोऽत्यक्षरत्तमस्मिन्नेतद्दधाति' (श० ७।३।१।१८) । बहिर्वेदेरित्येतदप्यनूद्य पृथिवीसकाशाद् बहिर्भूतरसस्थापनहेतुत्वेन स्तौति—बहिर्वेदेरिति । 'स्फ्येनाहरति । वज्रो वै स्फ्यो वीर्यं वै वज्रो वित्तिरियं वीर्येण वै वित्तिं विन्दते' (श० ७।३।१।१९) । इत्थं लोकेष्टकानामाहरणेऽग्नेर्वेदेश्च बाह्यो देशो विहितः । तत्र साधनं विधाय स्तौति—स्फ्येनेति । वज्रो वै स्फ्य इति । त्रेधा भग्नस्य वज्रस्यांशत्वात् स्फ्यस्य वज्रात्मकता । तथा च तैत्तिरीयकम्—'इन्द्रो वृत्राय वज्रं प्राहरत्, स त्रेधा व्यभवत्, स्फ्यस्तृतीयꣳ रथस्तृतीयं यूपस्तृतीयम्' (तै० सं० ५।२।६।१-२) इति । वृत्रासुरवधहेतुत्वात् स वज्रो वीर्यात्मकः । इयं वेदिलक्षणा भूमिर्वित्तिर्लब्धव्या धनरूपा । तथा च स्फ्येनाहरन् वज्ररूपेण वीर्येणैव वित्तिं लब्धव्यां भूमिं विन्दते लभते ।

एवं विस्तरशः श्रुत्यर्थनिरूपणेन सूत्रार्थः स्फुटतरं विज्ञायते । तथाहि—अध्वर्युः स्फ्येन वेदेर्बाहिः प्रदेशाद् लोगेष्टकाश्चतुरो मृत्खण्डान् पद्मप्रमाणानानीयात्मनो दक्षिणोत्तरपूर्वापरमध्यसूत्रप्रान्तेषु पूर्वादिषु तिष्ठन् मन्त्रचतुष्टयेनोपदध्यात् । हिरण्यगर्भदृष्टा कदेवत्या त्रिष्टुप् । यः प्रजापतिः पृथिव्या धरित्र्या जनिता जनयिता 'जनिता मन्त्रे' (पा० सू० ६।४।५३) इति णिचो लोपः । यश्च दिवं द्युलोकं व्यानट् व्याप्तवान् । यश्च चन्द्रा आह्लादिका जगत्कारणभूता अपो जलानि प्रथम आदिभूतः सन् जजान जलसृष्टिद्वारा उत्पादितवान् । कीदृशः प्रजापतिः ? प्रथमः, शरीरीति शेषः । पुनः कीदृशः ? सत्यधर्मा सत्यं धरतीति सत्यस्य धारयिता । स प्रजापतिर्मा हिंसीद् मा वधीद् । मा माम् । यतः कस्मै काय प्रजापतये हविषा विधेम हविर्दद्मः । हविर्दानाद् मा वधीदिति । कशब्दस्य देवतावाचकत्वेन सर्वनामत्वाभावात् 'स्मै' आदेशश्छान्दसः । हविषेत्यत्र विभक्तिव्यत्ययः । विदधातिर्दानार्थः । अत्र 'एकस्मै' इत्यस्य स्थाने छान्दस एकारलोप इति भगवान् शङ्कराचार्यः । तथा च कस्मै एकस्मै प्रधानाय प्रजापतिदेवायेत्यर्थः । 'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा । साधारणे समानेऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते ॥' इति शिष्टाः । यद्वा यश्चाप आपनीयः प्रथमः शरीरी आपनीयानां कारणभूतानां जननेन मनुष्यान् जनितवान् इति कारणे कार्योपचारः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'स पुरस्तादाहरति । मा मा हिꣳसीज्जनिता यः पृथिव्या इति प्रजापतिर्वै पृथिव्यै जनिता मा मा हिꣳसीत् प्रजापतिरित्येतद्यो वा दिवꣳ सत्यधर्मा व्यानडिति यो वा दिवꣳ सत्यधर्माऽसृजतेत्येतद्''''कस्मै देवाय हविषा विधेमेति प्रजापतिर्वै कस्तस्मै हविषा विधेमेत्येतत्तामाहृत्यान्तरेण परिश्रित आत्मन्नुपदधाति स यः प्राच्यां दिशि रसोऽत्यक्षरत्तमस्मिन्नेतद्दधात्यथो प्राचीमेवास्मिन्नेतद्दिशं दधाति' (श० ७।३।१।२०) ।

पूर्वस्माद्दिग्भागादाहरणं समन्त्रकं विधत्ते—स पुरस्तादाहरतीति। पुरस्तात् पूर्वस्या दिशः सकाशाल्लोकेष्टकां रूपेण आहरति। 'दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः' (पा० सू० ५।३।२७) इति पञ्चम्यर्थे अस्तातिः। तत्र मन्त्रः—'मा मा हिंसीदिति। यः पृथिव्या जनिता जनयिता स मा मां मा हिंसीद् मा वधिष्ट। य इति सर्वनाम्ना सर्वजगत्कारणत्वेन प्रसिद्धः प्रजापतिरेव प्रतिपाद्यत इत्याह—प्रजापतिर्वा इति। पृथिव्यै इति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। जनिता जनयिता। उक्तमर्थं योजयति—मा मा हिंसीत् प्रजापतिरित्येतदिति। द्वितीयपादमनूद्य तत्र व्यानडिति क्रियापदस्यार्थमाह—यो वा दिवमिति। यो दिवं द्युलोकं व्यानट् व्याप्नोत्। व्यापनमत्र सर्जनमेवेत्याह—असृजनेत्येतदिति। चन्द्रा आह्लादिका आपो रेतोरूपाः। अनेन कारणवाचिना शब्देन कार्यभूता मनुष्या एवोच्यन्ते। अत एव छान्दोग्ये समाम्नातम्—'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० उ० ५।९।१) इति। पर्यवसितार्थमाह—मनुष्यान् प्रथम इति। सर्वप्राणिभ्यः पूर्वमुत्पन्नत्वात् प्रजापतिरेव प्रथमः। अत एवाम्नातम्—'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' (वा० सं० १३।४) इति। स्मृतं च—'स वै शरीरी प्रथमः' इति। चतुर्थपादमनूद्य 'क' इति शब्दस्यार्थमाह—प्रजापतिर्वै क इति। निरुक्तानिरुक्तरूपेणा-निर्धारितस्वरूपत्वात् किंशब्दः प्रजापतेर्वाचक इत्यर्थः। एवं भूतो यस्तस्मै देवाय। अत्र 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' (पा० सू० १।४।३२) इति सूत्रे वार्त्तिकम्—'क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम्' इति। अर्थात् क्रियया यमभिप्रैति तस्यापि सम्प्रदानसंज्ञा भवतीति वार्त्तिकेण कर्मणः सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। तं देवं विधेम परिचरेम। विदधातिः परिचरणार्थः। एवमाहृताया इष्टकायाः स्थानविशेषे उपधानं विधत्ते—तामाहृत्येति। परिश्रित्संज्ञानामुपहितानां शर्कराणामभ्यन्तरदेशे आत्मनि तामुपदध्यात् स्थापयेत्। तस्य प्रयोजनमाह—स य इति। स यः प्रसिद्धो यो रसो विस्रस्तात् प्रजापतिशरीरात् प्राच्यां दिश्यत्यक्षरद् अतिक्रम्य स्रुतोऽभवत्, एतेनोपधानेन तमेव रसमस्मिन् प्रजापतिरूपेऽग्नौ पुनः स्थापयति। अथो अपि च प्राचीं दिक्सम्बन्धात्तामेव दिशमस्मिन् स्थापितवान् भवति।

अध्यात्मपक्षे—यः पृथिव्या जनयिता यः सत्यधर्मा सत्यधारकः सत्यं धर्मः प्रधानभूतः प्राप्तिसाधनं यस्य सः। यश्च दिवं द्युलोकं व्यानट् व्याप्तवान् ततोऽपि सूक्ष्मा यश्चाह्लादिका अपः प्रथमः सन् सर्वादिः सन् जजान प्रजापतिरूपं तं परमात्मानं हविषा परिचरेम।

दयानन्दस्तु—'यः सत्यधर्मा जगदीश्वरः पृथिव्या जनिता, यो वा दिवं सूर्यादिकमपो वायुं च चन्द्राश्चन्द्रादिलोकान् व्यानट् व्याप्तोऽस्ति, तं यो जजान यस्मै कस्मै सुखस्वरूपाय देवाय हविषा वयं विधेम स प्रथमो जगदीश्वरो मा मा हिंसीत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, श्रुत्या अपश्चन्द्रा इति मनुष्या व्यानड् इत्यसृजतेति च व्याख्यातत्वात्॥ १०२॥

अ॒भ्याव॑र्तस्व पृथिवि य॒ज्ञेन॒ पय॑सा स॒ह। व॒पां ते॑ अ॒ग्निरि॑षि॒तो अ॑रोहत्॥ १०३॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि, यज्ञ और उसके फल वृष्टि के साथ तुम हमारे सामने आओ, परितृप्त हुए प्रजापति से प्रेरित अग्नि तुम्हारे पृष्ठ देश में आरोहण करे॥ १०३॥

अग्निदेवत्या उष्णिक्। हे पृथिवि, यज्ञेन यज्ञसाधनभूतेन हविषा, यद्वा अस्मच्चिकीर्षितेन यज्ञेन पयसा यज्ञफलभूतेन दुग्धादिभोगेन च सह अभ्यावर्तस्व आभिमुख्येनागच्छ। कस्मात् कारणात्? इत्यत आह—इषितः प्रजापतिप्रेषितोऽग्निस्ते तव वपां त्वचं पृष्ठं वपासदृशमिमं प्रदेशमरोहद् आरोहतु। अनयर्चा दक्षिणे लोगेष्टकोप-

धानम् । यद्वा इषित इच्छावानग्निः, ते वपां त्वदीयवपासदृशमिमं प्रदेशम् अरोहद् आरोहतु स्वीकरोतु । यद्वा यज्ञेन यागसाधनेन पयसा पयोलक्षणेन रसेन सह अभ्यावर्तस्व । इषितः प्रेरितो दीप्तोऽयमग्निस्ते वपां त्वदीयं तरुगुल्मादिरूपं पृष्ठम् अरोहद् आरोहति, अधितिष्ठतीति यावत् ।

तथा च ब्राह्मणम्—'अथ दक्षिणतः। अभ्यावर्तस्व पृथिवि यज्ञेन पयसा सहेति यथैव यजुस्तथा बन्धुर्वपान्ते अग्निरिषितो अरोहदिति यद्वै किञ्चास्याऽ सास्यै वपा तामग्निरिषित उपादीप्तो रोहति तामाहृत्यान्तरेण पक्षसन्धिमात्मन्नुपदधाति स यो दक्षिणायां दिशि रसोऽत्यक्षरत्तमस्मिन्नेतद्दधात्यथो दक्षिणामेवास्मिन्नेतद्दिशं दधाति' (श० ७।३।१।२१) । दक्षिणस्या दिश आहरणं समन्त्रकं विधत्ते—अथ दक्षिणत इति । 'पञ्चम्यास्तसिल्' (पा० सू० ५।३।७) इति पञ्चम्यर्थे तसिल् । आहरतीति शेषः । अथवा पूर्वदिग्विभागाद्यदाहरणं तदनन्तरं दक्षिणस्या दिशः सकाशाल्लोकेष्टकामाहरतीत्यर्थः । 'अभ्यावर्तस्व' इति तन्मन्त्रः । पूर्वार्धं निगदव्याख्यातम् । उत्तरार्धमनूद्य तत्र वपाशब्दार्थमाह—यद्वै किञ्चेति । अस्यां पृथिव्यां यदेव किञ्चिद्वस्तु तरुगुल्मादिकं दृश्यते, सैवास्यै वपा विधेया । यत्किञ्चेति नपुंसकलिङ्गस्य आर्थिको निर्देशः सेति स्त्रीलिङ्गरूपेण विहितः । स च विधेयापेक्षः । एवमेव कविकुलगुरुः कालिदासोऽपि व्याजहार—'शैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य' इति । इषितः, प्रेरितः, दीप्तः, उपादीप्त इतिशब्दैरिषितपदार्थ उक्तः । आहृतायास्तस्याः स्थानविशेषे उपधानं विधत्ते—तामाहृत्येति । लोकेष्टकां दक्षिणदिग्विभागाद् बहिर्वेदेराहृत्य पक्षसन्धिमन्तरेण दक्षिणपक्षस्य आत्मभागस्य च यः सन्धिप्रदेशः, तस्याभ्यन्तरे आत्मभागे स्थापयेदित्यर्थः । अनेनापि पूर्ववद् रसस्थापनं दिक्स्थापनं चात्र कृतवान् भवतीत्याह—स यो दक्षिणायामिति ।

अध्यात्मपक्षे—हे पृथिवि सीताविशिष्टे, त्वं यज्ञेन तत्फलेन पयसा रसेन भोगेन च सहास्मानभ्यावर्तस्व । अग्निरिषित इच्छातो राक्षसचमूनाशकोऽग्निरूपो रामचन्द्रस्ते वपां तत्तुल्यां त्वत्त आविर्भूतां सीतां जानकीम् अरोहत् प्राप्नोतु ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, त्वं या पृथिवी भूमिर्यज्ञेन सङ्गमनेन पयसा जलेन च सह वर्तते, तामभ्यावर्तस्वाभिमुख्येनावर्तस्व तस्या उपयोगं कुरु । यस्ते वपां वपनमिषितः प्रेरितोऽग्निररोहद् उत्पादयति, स गुणकर्मस्वभावतः सर्वैर्वेदितव्यः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'पृथिवि' इति सम्बोधनपदस्य व्यत्यासे मानाभावात् । अभ्यावर्तस्वेत्यस्योपयोगं कुरु, वपामित्यस्य वपनमित्यादिव्याख्यानं निर्मूलम्, वपाशब्दस्याङ्गविशेषे रूढत्वात् । सोऽग्निः सर्वैर्वेदितव्य इत्यपि निर्मूलमेव ॥ १०३ ॥

अग्ने यत्ते शुक्रं यच्चन्द्रं यत्पूतं यच्च यज्ञियम् । तद् देवेभ्यो भरामसि ॥ १०४ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, तुम्हारा जो अंग शुक्ल वर्ण का है और दीप्तिमान् है, जो ज्योति चन्द्रमा के समान आह्लाद देने वाली है, जो ज्योति पवित्र है, गृहकार्य के योग्य है, सब प्रकार से श्लाघनीय उस ज्योति को देवकार्य की सिद्धि के लिये हम सम्पादित करते हैं ॥ १०४ ॥

अग्निदेवत्या गायत्री पश्चाल्लोगेष्टकोपधाने विनियुक्ता । हे अग्ने, यत्ते त्वदीयमङ्गं शुक्रं सारं शुक्लं शुद्धं दीप्तिमद्वा, यच्चन्द्रमाह्लादकरं यदन्यत् पूतं पवित्रं यच्चान्यदङ्गं यज्ञियं यज्ञार्हम्, तत्सर्वं श्लाघ्यरूपं देवेभ्यो देवानामर्थे, अथवा देवेभ्यः सकाशाद् भरामसि भरामः सम्पादयामः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ पश्चात् । अग्ने यत्ते शुक्रं यच्चन्द्रं यत्पूतं यच्च यज्ञियमितीयं वा अग्निरस्यै तदाह तद्देवेभ्यो भरामसीति तदस्मै दैवाय कर्मणे हराम इत्येतत्तामाहृत्यान्तरेण पुच्छसन्धिमात्मन्नुपदधाति स यः

प्रतीच्यां दिशि रसोऽत्यक्षरत्तमस्मिन्नेतद्दधात्यथो प्रतीचीमेवास्मिन्नेतद्दिशं दधाति स न सम्प्रति पश्चादाहरे-न्नेद्यज्ञपथाद्रसमाहराणीनीत इवाहरति' (श० ७।३।१।२२) । प्रतीच्यां दिशि समन्त्रकं लोकेष्टकाया आहरणं विधत्ते—अथ पश्चादिति । अथ अनन्तरं प्रतीच्या दिशः सकाशात् स्फ्येन लोकेष्टकामाहरतीति शेषः । तत्र मन्त्रः—'अग्ने यत्ते' इति । अत्राग्निशब्देन तदधिष्ठिता भूमिरेवाभेदोपचारेणोच्यत इत्याह—इयं वा अग्निरिति । अस्यै पृथिव्यै इति तादर्थ्ये चतुर्थी । पूर्वार्धेन प्रार्थनं पृथिव्यर्थमित्यर्थः । तदस्मै दैवायेति । एतदग्निचयनाख्यं कर्मैवात्र देवशब्दार्थः । चितिरूपावयवभेदापेक्षया बहुवचनमित्यभिप्रायः ।

तथा चायमर्थः—हे पृथिवि, त्वदीयं यत् शुक्रं रसवदङ्गं यच्च चन्द्रम् आह्लादकरं यच्च पूतं शुद्धं यज्ञियं यज्ञार्हं च यदस्ति, तदस्मै अग्न्याख्याय दैवाय कर्मणे आहराम इति । तां चेष्टकामाहृत्यान्तरेण पुच्छात्मसन्धिमिति पक्ष्याकारस्य चित्याग्नेः पुच्छस्यात्मभागस्य च यः सन्धिः, तमन्तरेण तस्य मध्ये आत्मन् आत्मन्युपदधाति । तेन प्रतीचीदिग्गतं रसं तां दिशं च स्थापितवान् भवतीति पूर्ववद् व्याख्येयम् । साक्षात्पश्चादाहरणं निषेधति—स न सम्प्रतीति । स अध्वर्युः सम्प्रति मुख्या या प्रतीची दिक्, तत्सकाशान्नाहरेत् । निषेधाभिप्रायमाह—नेद्यज्ञपथादिति । यज्ञस्य पन्था यज्ञपथः, अग्नेः पाश्चात्यो देशो हविर्द्धानादिः । ततः सकाशान्नैव रसमाहराणीति । यदि खलु तादृग्विधात् साक्षात् पश्चाद्भागादाहरेत्, तर्हि प्रजापतिसम्बन्धिनो विस्रस्तरसस्याहृतत्वात् तत्र करिष्यमाणो यज्ञो नीरसः स्यात् । कथं तर्हि तत्राहरणमित्यत आह—इत इवेति । इतः प्रतीच्या दिश इव न तु साक्षात् प्रतीच्या दिशः, उत्तरापरस्या दिश आहरेदित्यर्थः । तदुक्तं कात्यायनेन—'उत्तरापरस्याः पश्चात्' (का० श्रौ० १७।३।११) । अपरस्यां दिश्युपधानार्थं वायव्यकोणा-द्बहिर्वेदेर्लोकेष्टका आनीयोपदध्यादिति तदर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, हे श्रीराम, यत्ते शुक्रं सारं शुक्लं वाङ्गं यच्च चन्द्रं चन्द्रवदाह्लादकं रूपं यच्च पूतं शुद्धं सर्वशुद्धिहेतुत्वाद् यच्च यज्ञियं यज्ञादिभिः समर्हणीयत्वाद् यज्ञियं यज्ञयोग्यं यजनीयं वा, तत्सर्वं श्लाघ्यरूपं देवेभ्यो देवेभ्यो हिताय भरामसि हृदये धारयामः ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, यत् पावकस्य शुक्रमाशुकरं यच्चन्द्रं हिरण्यवदानन्दप्रदं यच्च पूतं पवित्रं यच्च यज्ञियं यज्ञानुष्ठानार्हं स्वरूपमस्ति, तत्ते देवेभ्यो दिव्यगुणेभ्यो भरामसि भरेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विदुषि मनुष्ये तादृशगुणासम्भवात् । देवशब्दस्य दिव्यगुणार्थत्वमपि चिन्त्यमेव, योनिविशेषस्य देवस्य युक्तिप्रमाणाभ्यां साधितत्वात् ॥ १०४ ॥

इषमूर्जमहमित आदमृतस्य योनिं महिषस्य धाराम् ।
आ मा गोषु विशत्वा तनूषु जहामि सेदिमनिराममीवाम् ॥ १०५ ॥

मन्त्रार्थ—सत्य की उत्पत्तिके कारण अन्न और उसके उपसेचन दही, दूध, घृत आदि को, महत् इच्छा वाले अग्नि की आहुति को इस प्रदेश में, उदीची दिशा में मैं भक्षण करता हूँ । ये मुझमें प्रवेश करें, मेरे पुत्र आदि के शरीरों में, धेनु आदि पशुओं में प्रवेश करें । अन्न के अभाव में क्लेशदायक व्याधियों का मैं परिहार करता हूँ ॥ १०५ ॥

आशीःप्रायो मन्त्रः । दैवी त्रिष्टुप् । पादत्रयस्योत्तरतो लोकेष्टकोपधाने विनियोगः । इषमन्नम्, ऊर्जं तदुपसेचनं पयोदधिघृतादिकम्, ऋतस्य सत्यस्य योनिं स्थानं विद्यात्रयं महिषस्य महत इच्छावतोऽग्नेर्धारां धारणामाहुतिं वा इतोऽस्मात् प्रदेशादुदीच्या दिशः सकाशादहमादमद्मि भक्षयामि स्वीकरोमि वा । 'अद भक्षणे'

इत्यस्य लङि रूपम्। किञ्च, एतत्सर्वमिडादिकं मामाविशतु आगत्य प्रविशतु। तनूषु मदीयपुत्रादिशरीरेषु गोषु मदीयधेन्वादिपशुषु चाविशतु। 'उत्तरस्याः सिकताः प्रमार्ष्टि जहामि सेदिमिति' (का० श्रौ० १७।३।१२) उत्तरलोकेष्टकातः सिकताः पातयतीति तदर्थः। अनिराम् अविद्यमाना इरा अन्नं यस्यां सा अनिरा अन्नरहिता, ताम्। अमीवां व्याधियुताम्। सेदिमवसादमहं जहामि त्यजामि। अन्नाभावरोगदुःखानि मे मा सन्त्विति। यद्वा अस्मिन् मन्त्रे विशेषणविशेष्यभावाद् यत्तद्भ्यां वाक्यं परिपूर्यते। यद् इषमन्नं यच्च ऊर्जं तदुपसेचनं दध्यादिकं तदहमित उदीच्या दिशः सकाशाद् आदम् आददे गृहीतवान्। यच्च ऋतस्य सत्यस्य योनिं स्थानं तिस्रो विद्या तद् अहमाददे। यच्च महिषस्य महत इच्छावतोऽग्नेर्धारामाहुतिमहमाददे उदीच्या दिशः, एतत् सर्वम् आ मा गोषु विशतु मदीयगोषु मा आविशतु तनूषु मदीयपुत्रपौत्रादिकासु च मा आविशतु। सिकताः प्रध्वंसयत्यग्रेतनेन मन्त्रेण। जहामि परित्यजामि, उदीच्यां दिशि स्थापयामि। सेदिमवसादम्। अनिरामनन्ताम् अमीवां व्याधिम्। इराशब्देन अन्नप्रभवा पृथिवी लक्ष्यते। सा हि सर्वस्य वस्तुजातस्य सीमा। अनिरा सीमारहिता, अनन्तेति यावत्। यद्वा ऋतस्य यज्ञस्य योनिं स्थानम्, महिषस्य महतोऽग्नेर्धारां धारणमिषमन्नमूर्जं रसं च इतोऽस्मात् प्रदेशादहमादं स्वीकरोमि। एतत्सर्वं मामाविशतु पूर्ववदन्यत्।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथोत्तरतः। इषमूर्जमहमित आदमितीषमूर्जमहमित आदद इत्येतदृतस्य योनिमिति सत्यं वा ऋतꣳ सत्यस्य योनिमित्येतन्महिषस्य धारामित्यग्निर्वै महिषः स हीदं जातो महान् सर्वमैष्णादा मा गोषु विशत्वा तनूष्वित्यात्मा वै तनूरा मा गोषु चात्मनि च विशत्वित्येतज्जहामि सेदिमनिराममीवामिति सिकताः प्रध्वꣳसयति तद्यैव सेदिर्याऽनिरा याऽमीवा तामेतस्यां दिशि दधाति तस्मादेतस्यां दिशि प्रजा अशनायुकास्तामाहृत्यान्तरेण पक्षसन्धिमात्मन्नुपदधाति स य उदीच्यां दिशि रसोऽत्यक्षरत्तमस्मिन्नेतद्दधात्यथो उदीचीमेवास्मिन्नेतद्दिशं दधाति' (श० ७।३।१।२३)। उत्तरस्या दिश आहरणं विधत्ते—अथोत्तरत इति। आहरतीति शेषः। 'इषमूर्जम्' इत्याहरणमन्त्रः। आदमिति क्रियापदस्यार्थमाह—आदद इत्येतदिति। मनसा यथार्थं सङ्कल्पनमृतम्, यथार्थं भाषणं सत्यम्, अत्र तु ऋतस्य योनिमिति मन्त्रभागे तादृशो भेदो न विवक्षित इत्यभिप्रेत्याह—सत्यं वा ऋतमिति। महिषस्य धारामिति। अग्निर्वै महिषः। कथमग्नेर्महिषशब्दाभिधेयतेत्याशङ्क्य तन्निर्ब्रूते—स हीदमिति। सः खल्वग्निरिदमिदानीम्, जातो जातमात्र एव, महानतिरिक्तो भूत्वा सर्वं जगद् ऐष्णाद् व्याप्नोत्। अतो महत्त्वादेषितृत्वाच्च महिषशब्दाभिधेयः सम्पन्न इत्यर्थः। 'इष आभीक्ष्ण्ये' इत्यस्माल्लङि रूपमैष्णादिति। तृतीयपादमनूद्य तत्र तनूशब्दस्यार्थमभिधाय योजयति—आ मेति। तथा चायं निर्गलितोऽर्थः—इष्यमाणमन्नमूर्जं बलकरं रसमितोऽस्या उदीच्या दिशः सकाशादहमाददे। किं विशिष्टम्? ऋतस्य सत्यस्य यथार्थफलस्य यज्ञस्य योनिं कारणम्। महिषस्य महतो जातमात्रव्यापकस्याग्नेर्धारां धाराप्रवाहभूतां तद्वत् साधितां धारणामाहुतिं वा अहमादद इति सम्बन्धः। ईदृशी च सा मामुद्दिश्य मदीयासु गोषु तनूषु शरीरेष्वाविशत्विति चतुर्थपादेन सम्बध्यते। तस्यां दिशि सिकतानां प्रध्वंसनं विधत्ते—जहामीति। मन्त्रस्यार्थमाह—तद्यैवेति। तत् तत्र यैव खलु सेदिरवसादापरपर्याया हानिः, या च अनिरा, इरा अन्नम् (निघ० २।७।१३) अन्ननामसु, तदभावरूपा पीडा, या च अमीवा रोगात्मिका पीडा, तामेतस्यामुत्तरस्यां दिश्येतन्मन्त्रकरणेन सिकताप्रध्वंसनेन जहामि परित्यजामि स्थापयामीति। इरादीनां तत आहृतत्वादिति भावः। एतच्च तत्कार्यदर्शनादवगम्यत इत्याह—तस्मादिति। एतस्यामुत्तरस्यां दिशि प्रजा अशनायुका अशनाया अशनेच्छा क्षुधा, तया पीडिता अशनायुका दृश्यन्ते। तामाहृत्येत्यादि पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—ऋतस्य मोक्षाख्यस्य सत्यफलत्वात् सत्यस्य ब्रह्मात्मसाक्षात्कारस्य योनिं कारणम् इषमिष्यमाणमुपासनरूपम् अन्नम् ऊर्जं बलकरमहमितोऽस्माद् गुरूपदेशाद् गुरूपदिष्टाद्वेदाद्वा आदम् आददे।

महिषस्य महतो जातमात्रव्यापकस्य च अग्नेर्भगवतो रामचन्द्रस्य धारां धारिकां भक्तिमहमाददे। एतादृशी भक्तिर्मामाविशतु, तनूषु मदीयपुत्रपौत्रादिषु गोषु धेन्वादिषु चाविशतु। मदीयपशुपुत्रादयः सर्वेऽपि भक्तिपरायणा भवन्त्विति भावः। तत्प्रसादादेव हि अनिरामन्नरहितां व्याधियुक्तां सेदिमवसादरूपां जहामि परित्यजामि।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाहमितोऽस्मात् पूर्वोक्ताद् विद्युत्स्वरूपाद् आदम् अत्तुं योग्यम् इषमन्नम् ऊर्जं पराक्रमं महिषस्य महत ऋतस्य सत्यस्य योनिं कारणं धारां धारिकां वाचं प्राप्नुयाम्, यथेयमिडूर्क् मामाविशतु, येन मम गोषु तनूषु प्रविष्टां सेदिं हिंसाम्, अनिराम् अविद्यमाना इरा अन्नभुक्तिर्यस्या ताम्, अमीवां रोगोत्पन्नां पीडां जहामि त्यजामि, तथा यूयमपि कुरुत' इति, तदपि न युक्तम्, श्रुतिविरोधात्। श्रुतौ तु आदमित्यस्य आदद इत्यर्थ उक्तः। महिषस्य महत इत्यपि श्रुतिविरुद्धम्, तया पूर्वोक्तरीत्या अन्यथा व्याख्यातत्वात्। इत इत्यस्य पूर्वोक्तविद्युत्स्वरूपाद् इत्यप्यनर्थः, इतःशब्दस्य पूर्वोक्तार्थत्वाभावात्। न च पूर्वमन्त्रे विद्युत्प्रसङ्गः, त्वया 'अग्ने' इत्यस्य विद्वन् पुरुष इत्यर्थस्योक्तत्वात्। धारामित्यस्य धारिकां वाणीमित्यप्यसङ्गतोऽर्थः, निर्मूलत्वात्। इरेत्यस्य नान्नभुक्तिरर्थः, निर्मूलत्वादेव। अमीवां रोगोत्पन्नां पीडामित्यपि निर्मूलम्, इरामीवशब्दयोर् अन्नरोगयोरेव प्रसिद्धत्वात्॥ १०५॥

अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो।
बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं दधासि दाशुषे कवे॥ १०६॥

मन्त्रार्थ—हे कान्तिरूप धन वाले अत्यन्त प्रकाशशील अग्नि देवता, तुम यजमान के अभिप्राय को जानने वाले हो, तुम्हारी यज्ञीय प्रवृत्ति को देवताओं तक पहुँचाने वाला धूम और तुम्हारी कान्ति है। तुम हविर्दाता यजमान के निमित्त बल सहित, शस्त्र आदि से युक्त, यज्ञ के योग्य अन्न को देते हो॥ १०६॥

'अग्ने तवेति सिकता न्युप्य छादयत्यात्मानम्' (का० श्रौ० १७।३।१४)। उत्तरवेदौ सिकताः षड्चेन प्रक्षिप्य ताभिः पुच्छपक्षं विना आत्मानं छादयेदिति सूत्रार्थः। पावकाग्निदृष्टं षड्चमग्निदेवत्यम्। आद्ये द्वे विष्टारपङ्क्ती। यस्या द्वितीयतृतीयपादौ द्वादशाक्षरौ आद्यतुर्यावष्टाक्षरौ सा विष्टारपङ्क्तिः। हे अग्ने, तव श्रवस्त्वदीयत्वेन श्रूयमाणं वयोऽन्नं महि महदस्ति। हे विभावसो, विभा दीप्तिरेव वसु धनं यस्यासौ विभावसुः, तत्सम्बुद्धौ। तव अर्चयो दीप्तयो भ्राजन्ते। हे बृहद्भानो, बृहन्तो भानवो रश्मयो यस्यासौ बृहद्भानुः, तत्सम्बुद्धौ। कविः क्रान्तदर्शी विद्वान् यजमानाभिप्रायज्ञः, तत्सम्बुद्धौ। तादृश हे अग्ने, दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय उक्थ्यं शस्त्राद्युपेतयज्ञयोग्यं वाजमन्नं शवसा त्वदीयेन बलेन दधासि स्वयं ददासीत्यर्थः। वयो, वीयते भक्ष्यते प्राणिभिरिति वयोऽन्नम्, 'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु', यद्वा वयो धूमः, तस्याहुतिपरिणामद्वारेणान्नहेतुत्वात्। कीदृशं वयः? श्रवः श्रावयति कृतं कर्म द्युलोक इति श्रवो धूमः। धूमदर्शनादेव देवानां कर्मज्ञानम्। पुनः कथंभूतं तत्? महि महद् नभोव्यापित्वात्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथोत्तरवेदिं निवपति। इयं वै वेदिर्द्यौरुत्तरवेदिर्दिशो लोगेष्टकास्तद्यदन्तरेण वेदिं चोत्तरवेदिं च लोगेष्टका उपदधातीमौ तल्लोकावन्तरेण दिशो दधाति तस्मादिमौ लोकावन्तरेण दिशस्तां युगमात्रीं वा सर्वतः करोति चत्वारिᳬशत्पदां वा यतरथा कामयेताथ सिकता निवपति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।३।१।२७)। चोदकप्राप्तमुत्तरवेदिनिवपनमस्मिन् काले कर्तव्यमिति विधत्ते—अथेति। लोकेष्टकोपधानानन्तर्यमथशब्दार्थः। तदुपपादयति—इयं वा इत्यादिना। इयं भूमिरेव महावेदिः, उत्तरवेदिर्द्युलोकात्मिका,

लोकेष्टकात्मिका दिशः। एवं च वेद्युत्तरवेद्योर्मध्ये लोकेष्टकोपधानं द्यावापृथिव्योर्मध्ये दिशां स्थापनाय भवति। तस्मात् कारणाद् इदानीमनयोर्लोकयोर्मध्ये दिशो लक्ष्यन्त इत्यर्थः। उत्तरवेदेः परिमाणं विधत्ते—तां युगमात्रीमिति। षडशीत्यङ्गुलपरिमितं युगम्। उक्तं ह्यापस्तम्बेन—'अष्टाशीतिशतमीषा तिर्यगक्षश्चतुःशतं षडशीतिर्युगं चास्य' इति। सर्वतः सर्वासु दिक्षु तावन्मात्रामुत्तरवेदिं कुर्यादित्येकं परिमाणम्, 'चत्वारिंशत्पदां वा' इति परिमाणान्तरम्, चत्वारिंशत्पदानि प्रमाणमस्याः सा तथोक्ता। अनयोः प्रमाणयोर्मध्ये यथा कामयेत तथा कुर्यात्। सिकतानिवपनं विधत्ते—अथेति। उत्तरवेदिनिवपनानन्तर्यमथशब्दार्थः। तस्योक्त इति। तस्य सिकतानिवपनस्य स्तावको वाक्यशेषः—'वैश्वानरस्य भस्म' (श० ७।१।१।९) इत्यादिः प्रागाम्नातः। 'ता उत्तरवेदौ निवपति। योनिर्वा उत्तरवेदिर्योनौ तद्रेतः सिञ्चति यद्वै योनौ रेतः सिच्यते तत्प्रजनिष्णु भवति ताभिः सर्वमात्मानं प्रच्छादयति सर्वस्मिंस्तदात्मन् रेतो दधाति तस्मात् सर्वस्मादेवात्मनो रेतः सम्भवति' (श० ७।३।१।२८)। निवपनस्य स्थानविशेषं विधाय स्तौति—ता उत्तरवेदाविति। अग्निवपनक्षेत्रे युगमात्रीत्यादिलक्षणा योत्तरवेदिर्नियुक्ता, तस्यां सिकता निवपति। योनिर्वा उत्तरवेदिरिति। निखिलयागोत्पत्तिकारणाहवनीयस्थानत्वाद् उत्तरवेदिरपि योनिः। तत् तेन उत्तरवेदौ सिकतानां निवपनेन योनावेव रेतः सिक्तं भवतीत्यर्थः। यत् खलु योनौ गर्भाशये रेतः सिच्यते, तत् प्रजनिष्णु प्रजननशीलं भवति। अस्यात्मभागस्य ताभिः प्रच्छादनं विधत्ते—ताभिः सर्वमिति। तत् तेन प्रच्छादनेन सर्वस्मिन्नेव आत्मनि रेतो दधाति स्थापयति। तस्मादेव कारणात् सर्वस्मादेव हस्तपादादिसर्वावयवसहितादात्मनो देहाद् रेतः सम्भवति। अत एव मन्त्रवर्णः—'अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे' इति।

'अग्ने तव श्रवो वय इति। धूमो वा अस्य श्रवो वयः स ह्येनममुष्मिल्लोके श्रावयति महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसविति महतो भ्राजन्तेऽर्चयः प्रभूवसवित्येतद् बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यमिति बलं वै शवो बृहद्भानो बलेनान्नमुक्थ्यमित्येतद्दधाति दाशुषे कव इति यजमानो वै दाश्वान् दधासि यजमानाय कव इत्येतत्' (श० ७।३।१।२९) अस्मिन्निवपने 'अग्ने तव' इति षडृचं सूक्तं करणत्वेन विधत्ते—अग्ने तव श्रवो वय इतीति। तत्र श्रवःपदस्याभिप्रेतार्थमाह—धूमो वा अस्येति। अस्याऽग्नेः श्रवः श्रवणहेतुर्वयः स्वरूपं धूमो वै धूमः खलु। एतदुपपादयति—स ह्येनमिति। एनमग्निम् अमुष्मिन् स्वर्गे लोके स खलु धूमः श्रावयति प्रख्यापयति। आकाशे यज्ञीयं धूमं दृष्ट्वा यागार्थमग्नय आहिता इति द्युलोकवर्तिनो देवा बुध्यन्त इत्यर्थः। अतोऽन्तर्भावितण्यर्थात् शृणोतेः श्रावयत्यनेनेति करणे 'ऋदोरप्' (पा० सू० ३।३।५७) इत्यप्प्रत्यये श्रव इति रूपम्। महि भ्राजन्त इति महत्प्रातिपदिकस्याच्छब्दलोपे महीति ससम्यन्तं पदम्। अत्र व्यत्ययेन षष्ठीति व्याचष्टे—महतो भ्राजन्त इति। विभाशब्दस्य तेजोवाचकत्वं प्रसिद्धम्, अत्र तु भूयस्त्वमेव विवक्षितमित्याह—प्रभूवसवित्येतदिति। शवःशब्दस्य बलमर्थः (निघ० २।९।३), वाजशब्दस्य चान्नमर्थं (निघ० २।७।२) इत्याह—बलं वै शव इत्यादिना। दाशुषे इति पदस्यार्थमाह—यजमानो वै दाश्वानिति। तच्चतुर्थ्यां दाशुषे इति। तथा चायमृगर्थः—हे अग्ने, तव सम्बन्धी श्रवो धूम आहुतिपरिणामरूपत्वाद् वयो देवानामन्नम्। हे विभावसो, प्रभूतधनसम्पन्नाग्ने दीप्तिधनाग्ने वा, महि महतस्तव अर्चयः अर्चींषि भ्राजन्ते दीप्यन्ते। किञ्च, हे बृहद्भानो महादीप्ते हे कवे क्रान्तदर्शिन्, शवसा बलेन सहितमुक्थ्यम् उक्थार्हं प्रशस्यं वाजमन्नं दाशुषे आहुतिं दत्तवते यजमानाय दधासि प्रयच्छसि।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन्, तव श्रवो यशो वयो भक्तानामन्नम्। हे ज्ञानधन महि महतस्तव अर्चयो ज्ञानप्रकाशा भ्राजन्ते दीप्यन्ते। हे महाप्रकाश कवे सर्वज्ञ शवसा बलेन सहित, उक्थार्हं प्रशस्यं वाजं

भक्तानामभीष्टमन्नं स्वस्वरूपं प्रयच्छसि, 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्, अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः' (तै० उ० ३।१०।६) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—हे बृहद्भानो, बृहन्तो भानवो विद्याप्रकाशा यस्य तत्सम्बोधने, अग्निवद्विद्याप्रकाशयुक्त विभावसो, यो विविधायां कान्त्यां वसति तत्सम्बुद्धौ। हे कवे बुद्धिमन् विद्वन्, यतस्त्वं शवसा बलेन साकं दाशुषे दातुं योग्याय विद्यार्थिने उक्थ्यं वक्तुं योग्यं वाजं विज्ञानं दधासि धारयसि, तस्मात्त्वाग्नेरिव महि पूजितुं योग्यं श्रवः श्रोतुं योग्यं शब्दं वयो जीवनं अर्चयो दीप्तयो भ्राजन्ते' इति, तदयुक्तम्, पूर्वोक्तश्रुतितद्व्याख्यानविरुद्धत्वात्, गौणार्थाश्रयणाच्च ॥ १०६ ॥

पावकवर्चाः शुक्रवर्चा अनूनवर्चा उदियर्षि भानुना।
पुत्रो मातरा विचरन्नुपावसि पृणक्षि रोदसी उभे ॥ १०७ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्ने, तुम शोधक दीप्ति वाले, निर्मल कान्ति वाले और पूर्ण शक्ति वाले हो। तुम अपनी दीप्ति से उत्कृष्टता को प्राप्त हो तथा चारों ओर विचरण करते हुए देवता और मनुष्य सहित सारे जगत् की रक्षा करते हो। जैसे पुत्र वृद्ध हुए माता-पिता की रक्षा करता है, उसी प्रकार तुम माता-पिता रूप द्यावापृथिवी का धूमपुंज द्वारा, अर्थात् हवि के द्वारा द्युलोक का और जल के द्वारा भूमि का पालन करते हो ॥ १०७ ॥

हे अग्ने, त्वं पावकवर्चाः पावकं शोधकं वर्चो दीप्तिशक्तिर्यस्य सः। शुक्रवर्चाः शुक्रं शुक्लं निर्मलं वर्चो दीप्तिशक्तिर्यस्य सः। अनूनवर्चाः अनूनमहीनं वर्चो यस्य सः पूर्णशक्तिरन्यूनशक्तिर्वा। भानुना दीप्त्या भासा उदियर्षि उत्कर्षं गच्छसि। किञ्च, हे अग्ने, त्वमुभे रोदसी द्यावापृथिव्यौ विचरन् परिचरन् उप सङ्गम्य अवसि पालयसि सदेवमनुष्यं जगद्रक्षसि, पृणक्षि च तयोः सम्पर्कमपि करोषि। परिचरणे दृष्टान्तः—पुत्रो मातरा यथा, यथा लोके शास्त्रीयमार्गेणानुशिष्टः पुत्रो मातरा मातरौ मातापितरौ परिचरति तद्वत्। यद्वा उभे रोदसी पृणक्षि पूरयसि हविषा द्यां वृष्ट्या भूमिं पूरयसीत्यर्थः। तं त्वां स्तुम इति वाक्यशेषः।

अत्र ब्राह्मणम्—'पावकवर्चाः शुक्रवर्चा इति। पावकवर्चा ह्येष शुक्रवर्चा अनूनवर्चा उदियर्षि भानुनेत्यनूनवर्चा उद्दीप्यसे भानुनेत्येतत्पुत्रो मातरा विचरन्नुपावसीति पुत्रो ह्येष मातरा विचरन्नुपावति पृणक्षि रोदसी उभे इतीमे वै द्यावापृथिवी रोदसी ते एष उभे पृणक्ति धूमेनामूं वृष्टयेमाम्' (श० ७।३।१।३०)। द्वितीयामृचं पादशो व्याचष्टे—पावकवर्चा इति। उदियर्षीत्यस्यार्थमाह—उद्दीप्यस इति। अग्नेरुद्गमनं नामोर्ध्वज्वलनम्, अत उद्दीप्यस इत्यर्थे पर्यवस्यति। पृणक्ति संयुक्तं करोति। केन किमिति तत्राह—धूमेनेति। द्यावापृथिव्योर्मध्ये वर्तमानोऽयमग्निर्धूमेनोद्गच्छता अमूं दिवं पृणक्ति, आहुतिद्वारा जनितया वृष्ट्या च इमां पृथिवीं संयोजयति।

तथा चायं मन्त्रार्थः—पावकवर्चाः शोधकदीप्तिः, शुक्रवर्चा निर्मलदीप्तिः, अनूनवर्चा न्यूनतारहिततेजस्कश्च सन् हे अग्ने, त्वं भानुना तेजसा उदियर्षि उद्गच्छसि उद्दीप्यसे। द्यावापृथिव्योर्मध्ये जातत्वात् तयोः पुत्रो भूत्वा मातरा सकलभूतानां निर्मात्र्यौ द्यावापृथिव्यौ विचरन्नुपावसि समीपगतो रक्षसि। यथा लौकिकः पुत्रो मातृसमीपे सञ्चरन् तां रक्षति तद्वत्। रक्षणप्रकारोऽभिधीयते—उभे रोदसी द्यावापृथिव्यौ क्रमाद् धूमेन वृष्ट्या च पृणक्षि संयोजयसि।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन् रामचन्द्र, त्वं पावकवर्चाः शुक्रवर्चा अनूनवर्चा इत्यादेः पूर्ववद् व्याख्यानम्। भानुना प्रतापेन उदियर्षि उत्कर्षं प्राप्नोषि, उद्दीप्यसे वा। यथा पुत्रोऽनुशिष्टो मातरौ मातापितरौ विचरन् परिचरन् उप समीपमागत्य अवति रक्षति, तथा उभे रोदसी द्यावापृथिव्यौ विचरन् दण्डकादिषु विचरन् उपावसि मानुषरूपेण समीपमागत्य जगति स्थितः सन् सर्वं जगद्रक्षसि। पृणक्षि उभे पूरयसि यज्ञेनामूं दिवं धनधान्यादिभिरिमां च पूरयसि। सर्वैः काकगृध्रवानरभल्लूकनिषादकोलभिल्लकिरातदेवर्ष्यादिभिश्च सम्पर्कं करोषि।

दयानन्दस्तु—'हे जन, यतस्त्वं यथा पुत्रो ब्रह्मचर्यादिषु विचरन् सन् विद्यामवाप्नोति, यथा भानुना धर्मप्रकाशेन पावकवर्चाः पावकस्य पवित्रीकारिकाया विद्युतो वर्चो दीप्तिरिव वर्चोऽध्ययनं यस्य सः, शुक्रवर्चाः शुक्रस्य सूर्यस्येव वर्चो न्यायाचरणं यस्य सः, अनूनवर्चा न विद्यते ऊनं न्यूनं वर्चो विद्याभ्यासो यस्य स राजा न्यायं करोति, यथा उभे रोदसी सम्बध्नीत, तथा विद्याम् उद् इयर्षि प्राप्नोषि राज्यं पृणक्षि, मातरा मातापितरौ उपावसि रक्षसि, तस्मात् त्वं धार्मिकोऽसि' इति, तदपि तुच्छम्, तादृशसम्बोधने मानाभावात्, यथादिशब्दस्य मूलेऽभावाच्च, न्यायं करोषि धार्मिकोऽसीत्यादीनां मन्त्रबाह्यत्वाच्च ॥ १०७ ॥

ऊर्जो नपाज्जातवेदः सुशस्तिभिर्मन्दस्व धीतिभिर्हितः।
त्वे इषः सन्दधुर्भूरिवर्पसश्चित्रोतयो वामजाताः ॥ १०८ ॥

मन्त्रार्थ—हे जल देवता के पौत्र अग्निदेव, (जल से वृक्ष और वृक्षों के मथन से उत्पन्न होने से यह जल देवता का पौत्र कहलाता है।) हे प्रज्ञावान्, यज्ञीय कर्मों के निमित्त स्थापित हुए तुम श्रेष्ठ स्तुतियों से हृष्ट-पुष्ट बनो। अनेक रूप वाले, बहुत प्रकार की रक्षा करने वाले तुमसे तर्पित श्रेष्ठ जाति और कुल में उत्पन्न हुए यजमानों ने तुममें हविरूप अन्न की आहुति दी है ॥ १०८ ॥

तिस्रः सतोबृहत्यः। यस्या आद्यतृतीयौ द्वादशार्णौ द्वितीयचतुर्थावष्टार्णौ सा सतोबृहती। ऊर्जोऽन्नस्य नपान्न पातयतीत्यविनाशयिता तादृश हे जातवेदो जातप्रज्ञानाग्ने, धीतिभिर्दीप्तिभिर्हितो युक्तः सन् सुशस्तिभिः शोभनाभिः स्तुतिभिर्मन्दस्व हृष्यस्व। भूरिवर्पसः भूरीणि वर्पांसि येषां ते नानारूपा यजमानाः, त्वे त्वयि इषो हविर्लक्षणान्यन्नानि सन्दधुः सम्पादितवन्तः। ईदृशा यजमानाश्चित्रोतयश्चित्रास्त्वया कृता ऊतयो रक्षा येषां ते। वामजाता वामं वननीयं सम्भजनीयं जातं जन्म येषां ते। देशतो जातितः कुलतो वा विशिष्टजनिमन्त इत्यर्थः। उव्वटाचार्यरीत्या तु ऊर्क्शब्देनाप उच्यन्ते, नपाच्छब्देन च पौत्रः। अद्भ्यो वनस्पतयो जायन्ते तेभ्योऽग्निर्जायते, एवमपांनपादग्निरुच्यते। जातवेदो जातप्रज्ञानः सुशस्तिभिः शोभनैः स्तवैः, स्तुत इति शेषः। मन्दस्व दीप्यस्व मोदस्व, हृष्टो भवेति शेषः। 'मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु' इति धातुः। धीतिभिः कर्मनिमित्तभूतैर्हितो निहितः स्थापितः। कुतो हर्ष इत्याह—भूरिवर्पस इति। भूरीणि बहूनि वर्पांसि रूपाणि येषां ते जगदात्मत्वेनोपगन्ता बहुरूपा यजमानाः, त्वे त्वयि इषो हविर्लक्षणान्यन्नानि सन्दधुः जुहुवुः। 'वर्प इति रूपनाम' (निघ० ३।७।३)। कीदृशा यजमानाः ? चित्रोतश्चित्राणि चायनान्यूतयोऽवनानि तर्पणानि येषां ते, अथवा चित्रा नानाविधा ऊतयोऽवनानि येषां ते चित्रोतयः। त्वया तर्पिता रक्षिता वेत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'ऊर्जो नपाज्जातवेदः सुशस्तिभिरिति। ऊर्जो नपाज्जातवेदः सुष्टुतिभिरित्येतन्मन्दस्व धीतिभिर्हित इति दीप्यस्व धीतिभिर्हित इत्येतत्त्वे इषः सन्दधुर्भूरिवर्पस इति त्वे इषः सन्दधुर्बहुवर्पस

इत्येतच्चित्रोतयो वामजाता इति यथैव यजुस्तथा बन्धुः' (श० ७।३।१।३१) । इदं ब्राह्मणं तृतीयामृचं व्याचष्टे । एतद्रीत्या मन्त्रार्थस्तु—हे ऊर्जो नपाद् बलकरस्य अन्नरसस्य न पातयितः, पौत्र वा, सुशस्तिभिः सुष्टुतिभिरस्मत्प्रयुक्ताभिर्हृष्टो भूत्वा हिनो निहितस्त्वं धीतिभिः कर्मभिः प्रभाभिर्वा मन्दस्व दीप्यस्व । त्वे त्वयि खलु इष इष्यमाणान्यन्नानि सन्दधुः संहितानि बभूवुः । इषो विशेष्यन्ते—भूरिवर्पस इति । भूरिवर्पसो बहुरूपाश्चित्रोतयो विचित्ररक्षणोपेताः, वामजाताः प्रशस्तजननोपेताः ।

अध्यात्मपक्षे—हे जातवेदः, जाता आविर्भूता वेदा यस्मादसौ जातवेदास्तत्सम्बुद्धौ । हे सर्वज्ञ परमेश्वर, ऊर्जोऽन्नस्य रसस्य वा नपाद् अविनाशयितः, सुशस्तिभिः सुष्टुतिभिर्धीतिभिः कान्तिभिश्च हितो भक्तैः स्वहृदये सुनिहितः सुसंस्थापितो मन्दस्व मोदस्व । कुतो मोद इति तत्राह—त्वे त्वयि भक्ता इषोऽन्नानि भक्तिरसाक्तानि विविधनिवेदनीयानि दधुः समर्पितवन्तः । कीदृशा भक्ताः ? भूरिवर्पसो नानारूपा देवर्षिमनुष्यपशुपक्ष्यादयः, चित्रोतयश्चित्राणि त्वत्कृतानि विचित्राण्यूतयोऽवनानि रक्षणानि येषां ते । वामजाता विशिष्टदेशजातिकुलोत्पन्ना इत्यादि पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे जातवेदस्तनय, नपान्न विद्यते पातो धर्मात्पतनं यस्य सः, यस्मिंस्त्वे त्वयि भूरिवर्पसो बहूनि प्रशंसनीयानि रूपाणि यासु ताः, चित्रोतयश्चित्रा आश्चर्यवद्रक्षणाद्याः क्रिया यासु ताः, वामेषु प्रशस्येषु कुलेषु कर्मसु वा जाताः प्रसिद्धाः, 'वाम इति प्रशस्यनामसु' (निघ० ३।८।९), मात्रादयोऽध्यापिका इषोऽन्नादीनि सन्दधुः । सुशस्तिभिः शोभनाभिः प्रशंसाभिः क्रियाभिः सह धीतिभिः स्वाङ्गुलीभिः, 'धीतय इत्यङ्गुलिनामसु' (निघ० २।५।७), आहूतस्त्वम् ऊर्जो नपाद् ऊर्जः पराक्रमस्य नपाद्धितः सदा मन्दस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, जातवेदःपदस्य पुत्रार्थत्वे मानाभावात्, समासार्थस्यान्यपदार्थस्यान्यस्यापि ग्रहणसम्भवे पुत्रपदार्थग्रहणे विनिगमनाविरहात् । तथैव भूरिवर्पसः, चित्रोतयः, वामजाता इत्यादिपदैरध्यापिकादिग्रहणे मूलाभावः, विनिगमनाविरहादेव । श्रुतिविरोधश्च दुस्तरः ॥ १०८ ॥

इ॒र॒ज्यन्न॑ग्ने प्रथयस्व ज॒न्तुभि॑र॒स्मे रायो॑ अमर्त्य ।
स द॑र्श॒तस्य॒ वपु॑षो॒ वि रा॑जसि पृ॒णक्षि॑ सान॒सिं क्रतु॑म् ॥ १०९ ॥

मन्त्रार्थ—हे मरणधर्मरहित अग्निदेवता, हवि देने वाले प्राणियों के द्वारा प्रदीप्त हुए तुम हमारे निकट अनेक प्रकार के धन और ऐश्वर्य का विस्तार करो । तुम दर्शनीय चित्याग्नि रूप शरीर के मध्य में विशेष रूप से प्रदीप्त होते हो, सभी प्राणियों के चिरन्तन संकल्प को पूर्ण करते हो ॥ १०९ ॥

हे अमर्त्य अमरणधर्मन्नग्ने, अस्मे अस्मासु रायो धनानि त्वं प्रथयस्व विस्तारय । कीदृशस्त्वम् ? जन्तुभिः पुरोडाशादिहविःप्रदैः प्राणिभिरध्वर्य्वादिभिरिरज्यन् दीप्यमानः । किञ्च, एवंभूतस्त्वं दर्शतस्य दर्शनीयस्य वपुषश्चित्याग्निरूपस्य शरीरस्य मध्ये विराजसि विशेषेण दीप्यसे । यद्वा विभक्तिव्यत्ययेन दर्शतेन दर्शनीयेन वपुषा ज्वालालक्षणेन शरीरेण विराजसि सानसिं चिरन्तनं क्रतुं सङ्कल्पं पृणक्षि, सर्वेष्टं ददासीत्यर्थः । यद्वा हे अग्ने, जन्तुभिः प्रशस्तजननैर्मनुष्यैर्ऋत्विग्भिः, इरज्यन् दीप्यमानः, प्रथयस्व विस्तीर्णो भव । स्वार्थिको णिच् । हे अमर्त्य मरणरहिताग्ने, त्वत्प्रसाद् अस्मे अस्माकं रायो धनानि सन्तु । ब्राह्मणे तु अस्मे रयिं दधद् इत्यर्थतो व्याख्यातम् । तथाविधः स त्वं दर्शतस्य दर्शनीयस्य वपुषो ज्वालारूपशरीरस्य शोभया अतिशयेन विराजसि विशेषेण दीप्यसे, तथा सानसिं सनातनं नित्यफलविषयं क्रतुं यजमानसङ्कल्पं पृणक्षि फलेन संयोजयसि ।

तथा च ब्राह्मणम्—'इरज्यन्नग्ने प्रथयस्व जन्तुभिरिति । मनुष्या वै जन्तवो दीप्यमानोऽग्ने प्रथस्व मनुष्यै-रित्येतदस्मे रायो अमर्त्येत्यस्मे रयिं दधदमर्त्येत्येतत् स दर्शतस्य वपुषो विराजसीति दर्शतस्य ह्येष वपुषो विराजति पृणक्षि सानसिं क्रतुमिति पृणक्षि सनातनं क्रतुमित्येतत्' (श० ७।३।१।३२) । चतुर्थीमृचमनूद्य व्याचष्टे—मनुष्या वै जन्तव इति । जायन्ते पुरुषार्थोपयोगित्वेनोत्पद्यन्त इति जन्तवो मनुष्याः, न तु कृमिकीटपतङ्गादयः । इरज्यतिः कण्ड्वादिर्दीप्तिकर्मा । राय इत्यस्यार्थमाह—रयिं दधदिति । सानसिशब्दः सनातनपर्याय इति श्रुत्यैवोक्तम्—सनातनं क्रतुमिति । ब्राह्मणानुसारी अर्थस्तूक्त एव ।

अध्यात्मपक्षे—हे अमर्त्य अग्ने परमेश्वर, अस्मे अस्मासु रायः श्रियः प्रथयस्व । जन्तुभिः प्राणिभिर्मनुष्य-देवगन्धर्ववानरगृध्रादिभिश्च इरज्यन् स्तुत्यादिभिर्दीप्यमानः स त्वं दर्शतस्य दर्शनीयस्य वपुषः श्रीरामादि-शरीरस्य शोभातिशयेन विराजसि । तादृशेन चिदानन्दमयेन शरीरेण वा विराजसि विशेषेण दीप्यसे । सानसिं चिरन्तनं क्रतुं सङ्कल्पं जन्मजन्मान्तरैर्भावितं त्वत्प्राप्तिसम्बन्धिनं सङ्कल्पं पृणक्षि पूरयसि । पृणक्षीति दानकर्मसु (निघ० ३।२०।६) ।

दयानन्दस्तु—'हे अमर्त्याग्ने, य इरज्यन् ऐश्वर्यं कुर्वन् । 'इरज्यतीति ऐश्वर्यकर्मसु पठितः' (निघ० २।२१।१)। त्वं दर्शतस्य द्रष्टुं योग्यस्य वपुषो रूपस्य 'वपुरिति रूपनामसु' (निघ० ३।७।४) । सानसिं सनातनीं क्रतुं प्रज्ञां पृणक्षि सम्बध्नासि तत्रैव विराजसि, सोऽस्मे अस्मभ्यं जन्तुभिर्मनुष्यादिप्राणिभी रायः श्रियः प्रथयस्व विस्तारय' इति, तदपि न सङ्गतम्, द्रष्टुं योग्यस्य रूपस्य सनातनीं प्रज्ञां बध्नासीत्यस्य निरर्थकत्वात् । नहि देवानां सनातनी प्रज्ञा सम्भवति तस्या अनित्यत्वात् । रूपे च कथं तस्य सम्बन्धः ? विषयत्वेन आश्रयत्वेन वा ? नाद्यः, अवैशेष्यात् । नान्त्यः, अनुपपत्तेः । तत्रैव विराजसीत्यपि न, पुरुषस्य तदाधारत्वायोगात् । अन्यदपि व्याख्यानं तादृगेव ॥ १०९ ॥

इ॒ष्क॒र्तार॑मध्व॒रस्य॒ प्रचे॑तसं॒ क्षय॑न्त॒ꣳ राध॑सो म॒हः ।
रा॒तिं वा॒मस्य॑ सु॒भगां॑ म॒हीमिषं॒ दधा॑सि सान॒सिꣳ र॒यिम् ॥ ११० ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ की रचना करने वाले और श्रेष्ठ चित्त वाले हे अग्निदेव, तुम यज्ञ स्थान में निवास करने वाले यजमान के निमित्त श्रेष्ठ धन-सम्पत्ति और श्रेष्ठ ऐश्वर्ययुक्त धनधान्य रूपी चिरन्तन धन प्रदान करो, क्योंकि तुम्हीं इन सबके स्वामी हो ॥ ११० ॥

हे अग्ने, अध्वरस्य यज्ञस्य इष्कर्तारं निष्पादकम् । 'निस्' उपसर्गस्य नकारस्य 'निशब्दो बहुलम्' (वाज-सनेयिप्रातिशाख्य ३।१८) इति नकारलोपः । प्रचेतसं प्रकृष्टचित्तयुक्तं क्षयन्तं विशिष्टस्थाने निवसन्तम्, 'क्षि निवासगत्योः' । यजमानं प्रति वामस्य वननीयस्य महो महतो राधसो धनस्य रातिं दानं त्वं दधासि ददासि । किञ्च, सुभगां सुष्ठु भजनीयां महीं महतीमिषमन्नं च ददासि । सानसिं पुराणं रयिं धनम् अस्मर्यमाणविषयं निधानलक्षणं च दधासि निधिं दर्शयसीत्यर्थः । उव्वटाचार्यरीत्या—राधसो मह इति सप्तम्यर्थे षष्ठ्यौ । राधसि महति स्तुमः । महाधननिमित्तं प्रार्थयामह इति यावत्, अथवा धननिमित्तं महत्त्वनिमित्तं वा, केशेषु चमरीं हन्तीतिवत् । स त्वं रातिं दानं दधासि । कस्य सम्बन्धिनीम् ? वामस्य वननीयस्य दातुः सम्बन्धिनीम् । कथंभूताम् ? सुभगाम् । भगशब्दो धनवचनः । महीमिषं महतीं वृष्टिमन्नं वा दधासि । सानसिं पुराणं रयिम् अस्मर्यमाणविषयं निधानलक्षणं दधासि ।

अत्र ब्राह्मणम्—'इष्कर्तारमध्वरस्य प्रचेतसमिति । अध्वरो वै यज्ञः प्रकल्पयितारं यज्ञस्य प्रचेतसमित्येतत् क्षयन्तꣳ राधसो मह इति क्षयन्तꣳ राधसि महतीत्येतद्रातिं वामस्य सुभगां महीमिषमिति रातिं वामस्य सुभगां महतीमिषमित्येतद्दधासि सानसिꣳ रयिमिति दधासि सनातनꣳ रयिमित्येतत्' (श० ७।३।१।३३)। पञ्चमीमृचं व्याचष्टे—इष्कर्तारमिति । 'निष्कर्तारमध्वरस्य' (तै० सं० ४।२।७।३) इति तित्तिरिणाम्नातम् । उपसर्गादिनकारलोपश्छान्दसः । इष्कर्तारं निश्चयेन निःशेषेण वा अध्वरस्य यज्ञस्य कर्तारं यज्ञस्य प्रकल्पयितारम् । द्वितीयपादे राधसो मह इति षष्ठयन्तयोः सप्तम्यर्थतामाह—राधसि महतीति । तृतीयपादे महीतिशब्दस्य महतीशब्दपर्यायतामाह—महतीमिषमिति । तदयं निर्गलितोऽर्थः—इष्कर्तारं यज्ञस्य निःशेषेण कर्तारम्, अत एव प्रचेतसं प्रकृष्टज्ञानवन्तम् । 'राध इति धननाम' (निघ० २।१०.१७) महति प्रभूते राधसि धने धनविषये क्षयन्तम्, 'क्षयतिरैश्वर्यकर्मा' (निघ० २।२१।३)। ईश्वरत्वेन सन्तम्, ममेति शेषः । तादृशं मां यजमानं प्रति हे अग्ने, सुभगां सुष्ठु भजनीयां महीं महतीम् इषमन्नं सानसिं चिरन्तनं गवाश्वादिपशुरूपं च दधासि ।

अध्यात्मपक्षे—हे पूर्वोक्त अग्ने, अध्वरस्य अश्वमेधादेरिष्कर्तारं निष्कर्तारं प्रचेतसं प्रकृष्टप्रज्ञावन्तं सर्वज्ञं महति राधसि धने क्षयन्तम् ईश्वरत्वेन सन्तं यस्त्वं वामस्य वननीयस्य अभीष्टफलस्य रातिं दानं सुभगां सुष्ठु भजनीयां महीं सानसिं पुराणं रयिं धनं दधासि ददासि तं त्वा पूर्वोक्तं रामचन्द्रं परमेश्वरं स्तुम इति शेषः ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यस्त्वमध्वरस्याहिंसनीयस्य वर्धितुं योग्यस्य यज्ञस्य इष्कर्तारं निष्कर्तारं प्रचेतसं प्रकृष्टप्रज्ञम्, 'चेत इति प्रज्ञानामसु' (निघ० ३।९।३)। वामस्य प्रशस्यस्य महो महतो राधसो धनस्य रातिं दातारं क्षयन्तं निवसन्तं सुभगां शोभनैश्वर्यप्रदां महीं पृथिवीम् इषमन्नादिकं सानसिं पुराणं रयिं च दधासि, तस्मादस्माभिः पूज्योऽसि' इति, तदेतदसाम्प्रतम्, तस्मादित्यादेर्मन्त्रबाह्यत्वात् । न च यस्तादृशं धनं धारयति स पूजनीयो भवति, रागप्राप्ते कर्मणि प्रवृत्तेः स्वाभाविकत्वेनाचोदनीयत्वात् । यज्ञोऽपि त्वद्रीत्या वायुशुद्धिसाधनत्वेन लौकिक एव ॥ ११० ॥

ऋतावानं महिषं विश्वदर्शतमग्निꣳ सुम्नाय दधिरे पुरो जनाः ।
श्रुत्कर्णꣳ सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा युगा ॥ १११ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, बुद्धिमान् मनुष्यों ने पूर्णमासी, अमावस्या आदि पर्वों में वेदवाणी द्वारा सत्यस्वरूप, महान् गुण शाली, संसार के दर्शनीय, कर्णों से प्रार्थना सुनने वाले, अतिकीर्तिमान्, देवताओं के हितकारी तुमको यज्ञ के निमित्त पूर्व भाग में स्थापित किया है ॥ १११ ॥

उपरिष्टाज्ज्योतिः । यस्यास्त्रयः पादा द्वादशाक्षराश्चतुर्थोऽष्टाक्षरः सोपरिष्टाज्ज्योतिः । मानुषा मनुष्याः, जना जन्तवो मनुष्यजातियुक्ता जन्तव ऋत्विग्यजमानाः । पुरः पूर्वस्मिन् काले युगा गिरा योग्यया स्तुतिरूपया वाचा विभक्तेराकारः, सुम्नाय सुखार्थम् । 'सुम्नमिति सुखनामसु' (निघ० ३।६।१६)। अग्निमत्र दधिरे स्थापितवन्तः । कीदृशमग्निम् ? ऋतावानं सत्यवन्तं यज्ञवन्तं वा । पुनः कीदृशम् ? महिषं महान्तम् । पुनः कीदृशम् ? विश्वदर्शतं सर्वतो दर्शनीयम् । पुनः कीदृशम् ? श्रुत्कर्णम्, श्रृण्वत्कर्णम् । यद्विज्ञाप्यते तत्सत्यमेव कर्णाभ्यां श्रुत्वा सम्पादयतीत्यर्थः । पुनः कीदृशम् ? सप्रथस्तमम्, प्रथनं प्रथः कीर्तिः, 'प्रथ प्रख्याने' भौवादिकादस्मात् 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।१८८)। इत्यसुन्प्रत्ययः, प्रथसा सह वर्तमानः सप्रथाः, अतिशयेन सप्रथाः सप्रथस्तमस्तम्, अतिकीर्तिमन्तम् । पुनः कीदृशम् ? दैव्यम्, देवेभ्यो हितम् ।

दधिरे स्थापितवन्त इति सम्बन्धः। यद्वा युगा युगैः कालैर्दर्शपौर्णमासादिनिमित्तैः। गिरा वेदवाचा कृत्वा सुम्नाय सुखाय सुखप्राप्तिहेतवे यज्ञाय त्वामग्निं पुरोऽग्रतः पूर्वभागे आहवनीयरूपेण दधिरे स्थापितवन्तः। कीदृशमग्निम्? ऋतावानम्, ऋतमस्यास्तीति ऋतावान् तं सत्यवन्तम्, छान्दसो दीर्घः। 'छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ वंश्च मतुप् च' (पा० सू० ५।२।१०९-३) इत्यस्त्यर्थे वन्प्रत्ययः। श्रुत्कर्णं शृणोत्याह्वानं श्रुत्वा चानुतिष्ठति यः स श्रुत्कर्णः। यद्वा शृणुत इति श्रुतौ, क्विप्। श्रुतौ कर्णौ यस्य तम्। यद्विज्ञाप्यते भक्तैस्तत्सत्यमेव कर्णाभ्यां श्रुत्वा सम्पादयतीत्यर्थः। महिषं महान्तम्। महति आद्रियते सर्वानिति महिषः, 'अविमह्योष्टिषच्' (उ० १।४६) इति 'मह पूजायाम्' इत्यस्मात् टिषच्प्रत्ययः, तम्। विश्वदर्शतं विश्वस्य दर्शनीयम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'ऋतावानमिति। सत्यावानमित्येतन्महिषमित्यग्निर्वै महिषो विश्वदर्शतमिति विश्वदर्शतो ह्येषोऽग्निᳬ सुम्नाय दधिरे पुरो जना इति यज्ञो वै सुम्नं यज्ञाय वा एतं पुरो दधते श्रुत्कर्णᳬ सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा युगेत्याशृण्वन्तᳬ सप्रथस्तमं त्वा गिरा देवं मनुष्या हवामह इत्येतत्' (श० ७।३।१।३४)। षष्ठीमृचमनूद्य पादशो व्याचष्टे—ऋतावानमिति। यद्यपि ऋतसत्ययोर्मानसवाचिकयथार्थसङ्कल्पनतद्भाषणरूपत्वाद् भेदोऽस्ति, तथाप्यत्र तादृशो भेदो न विवक्षित इत्याह—सत्यावानमेतदिति। अग्निर्वै महिष इति, 'सहीदं जातो महान् सर्वमैष्णात्' (श० ७।३।१।२२) इति तन्नामनिर्वचनस्य प्रागाम्नातत्वात्। यज्ञो वै सुम्नमिति। यद्यपि सुम्नशब्दः सुखवाची (निघ० ३।६।१६), तथाप्यत्र प्रकरणात् तत्साधनं यज्ञ एव तस्यार्थः। श्रुत्कर्णपदं व्याचष्टे—आशृण्वन्तमिति। श्रवणशीलकर्णोपेतम्, आ समन्तात् शृण्वन्तमिति यावत्। 'गिरा' इति विशिष्टसाधनश्रवणाद् योग्यक्रियाध्याहारेण वाक्यं पूरयति—मनुष्या हवामह इत्येतदिति। तदयमृचो निर्गलितोऽर्थः—सत्यवन्तं महान्तं सर्वेषां दर्शनीयम् एवंभूतमग्निम् ऋत्विग्यजमानलक्षणा जनाः सुम्नाय सुखसाधनाय यज्ञाय पुरो दधिरे पुरस्कुर्वन्ति। वयमपि श्रुत्कर्णम् अभिमतफलप्रार्थनं सम्यक् शृण्वन्तं सप्रथस्तमम् अतिशयकीर्तिमन्तं दैव्यं देवं देवहितं वा त्वां गिरा स्तुतिरूपया वाचा हवामहे आह्वयामः। आह्वानकर्तारो विशेष्यन्ते—मानुषेति। मानुषाणि मनोः सम्बन्धीनि युगा युगानि युगलानि भूत्वा, जायापत्यात्मना युगलभूता मनुष्या इत्यभिप्राय इति शतपथे सायणाचार्यः।

अध्यात्मपक्षे—मानुषाः सम्बन्धिनो मानुषाः अग्निम् अग्रगामिनं परमात्मानं रामचन्द्रं पुरो दधिरे पुरस्कुर्वन्ति। कीदृशमग्निम्? ऋतावानं सत्यवन्तं सत्यव्रतं सत्यव्रतप्राप्यं महिषं महान्तं सन्तं सर्वलोकव्यापकं विश्वदर्शतं सर्वैर्दर्शनीयम्। यं सुम्नाय परमार्थसुखाय जनाः पुरो दधिरे हे अग्ने भगवन् श्रुत्कर्ण भक्तकृतप्रार्थनां श्रुत्वा चानुतिष्ठति यस्तं सप्रथस्तमम् अतिशयकीर्तिमन्तं त्वां गिरा वेदलक्षणया दिव्यया वाचा दैव्यं देवेभ्यो हितं त्वां प्रसादयाम इति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, यथा जना गिरा वाचा सुम्नाय सुखाय दैव्यं देवेषु विद्वत्सु कुशलं श्रुत्कर्णं श्रुतौ श्रवणसाधकौ कर्णौ यस्य बहुश्रुतस्य तं विश्वदर्शतं सर्वविद्याबोधस्य द्रष्टारं सप्रथस्तमं प्रथसा विस्तरेण सह वर्तमानः सप्रथाः, तमतिशयितम् ऋतावानम् ऋतं सत्यं बहु विद्यते यस्मिंस्तं महिषमग्निं महान्तं विद्वांसं मानुषा विद्याविज्ञानेन प्रादुर्भूता मनुष्या युगा युगानि वर्षाणि कृतादीनि वा पुरो दधिरे, तथैव विद्वांसमेतानि च त्वं धेहीति त्वां शिक्षयामि' इति, तत्तुच्छम्, तादृशसम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, विश्वपदस्य सर्वविद्याबोधार्थत्वे मानाभावात्। जना इत्यस्यापि विद्याविज्ञानेन प्रादुर्भूता मनुष्या इत्यपि स्वाभ्यूहमात्रम्, निर्मूलत्वात्। पूर्वोक्तश्रुतिव्याख्याविरुद्धं चैतद् व्याख्यानम्॥ १११॥

आप्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम् । भवा वाजस्य सङ्गथे ॥ ११२ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम, सब ओर से सब प्राणियों की उत्पत्ति करने वाला तेज तुमको प्राप्त हो। तुम अपने वीर्य से सब प्रकार से परिवर्धित होकर यज्ञ आदि सत्कार्य के उपयोगी अन्न की प्राप्ति के निमित्त हमारे निकट आओ ॥ ११२ ॥

'आप्यायस्वेति सिकतालम्भनमृग्भ्याम्' (का० श्रौ० १७।३।१५)। आत्मनि विस्तारिताः सिकताः स्पृशति ऋग्द्वयेनेति सूत्रार्थः। गोतमदृष्टाः सोमदेवत्यास्तिस्र ऋचो गायत्रीत्रिष्टुबुष्णिक्छन्दस्काः। एतासु तृतीयस्या विनियोगः सूत्रे नास्ति। हे सोम, त्वम् आप्यायस्व सर्वतो वर्धस्व। विश्वतः सर्वस्माद् वृष्ण्यं वीर्यं सर्वोत्पत्तिकृद्वीजं ते तव समेतु समागच्छतु। तेन च वीर्येण आप्यायस्व सर्वतो वर्धस्व। ते तव वृष्ण्यं वीर्यं विश्वतः सर्वस्मात् समेतु सम्प्राप्नोतु। किञ्च, वाजस्य अन्नस्य सङ्गथे सङ्गमननिमित्तं भव, अन्नमस्मासु सङ्गमयेत्यर्थः। यद्वा हे सोम, आप्यायस्व अस्मानभिवर्धय। विश्वतः सर्वतो वृष्ण्यं वीर्यं ते समेतु त्वामागच्छतु। ततस्त्वं सर्वभूतोत्पत्तिना वृष्ण्येन वीर्येण युक्तो भवेत्यर्थः। वाजस्य अन्नस्य सङ्गथे सङ्गमने निमित्तं भव, अन्नभावं प्राप्नुहि अन्नं वा प्राप्नुहि।

अत्र ब्राह्मणम्—'ता एता यजुष्मत्य इष्टकाः। ता आत्मन्नेवोपदधाति न पक्षपुच्छेष्वात्मन् ह्येव यजुष्मत्य इष्टका उपधीयन्ते न पक्षपुच्छेषु न सादयति नेद्रेतः प्रजातिꣳ स्थापयानीति' (श० ७।३।१।४४)। लोकेष्टकावत् सिकतानामप्यात्मभाग एवोपधानं विधत्ते—ता एता इति। सिकतानामपीष्टकात्वाद् इतरेष्टकास्विव प्रसक्तं सादनं निषेधति—न सादयतीति। 'तया देवतया' इति मन्त्रेण स्थापनं सादनम्, तन्न कर्तव्यम्। निषेधकारणमाह—नेद् रेत इति। प्रजातिं प्रजोत्पत्तिकारणं रेतः शुक्रं नैव क्वचिदपि स्थापयानीत्यभिप्रायेणेत्यर्थः। सादने हि तत् क्वचिदेकत्रैव प्रतिष्ठितं स्यात्, न तु चलितं सद् गर्भाशये प्रविशेत्। 'अथैना आप्यानवतीभ्यामभिमृशति। इदमेवैतद्रेतः सिक्तमाप्याययति तस्माद्योनौ रेतः सिक्तमाप्यायते सौमीभ्यां प्राणो वै सोमः प्राणं तद्रेतसि दधाति तस्माद्रेतः सिक्तं प्राणमभिसम्भवति पूयेद्ध यदृते प्राणात् सम्भवेदेषो हैवात्र सूददोहाः प्राणो वै सोमः प्राणः सूददोहाः' (श० ७।३।१।४५)। समन्त्रकमेतासामभिमर्शनं विधत्ते—अथैना इति। आप्यानवतीभ्याम् आप्यायनक्रियावतीभ्याम्, 'आप्यायस्व, सं ते' (वा० सं० १२।११२-११३) इति ऋग्भ्यामित्यर्थः। इदमेवैतत् सिकतात्मकं सिक्तं रेत आप्याययति धातुयुक्तमन्त्रकरणकाभिमर्शनेन आप्याययति प्रवर्धयति। यत एवं तस्मात् स्त्रीणां योनौ पुरुषैः सिक्तं रेत आप्यायते शरीराकारेण परिणतं सद्वर्धते। मन्त्रसम्बन्धिदेवताद्वारेण प्रशंसति—सौमीभ्यामिति। सोमोऽनयोर्देवतेति ताभ्यामृग्भ्यामभिमृशतीत्यर्थः। प्राणो वै सोम इति। प्राणस्य तावदुदकमयत्वं प्रसिद्धम्, 'आपोमयः प्राणः' (छा० उ० ६।५।४) इति श्रुतेः। सोमोऽप्यमृतमयरसात्मकतया प्राणोपादानत्वात् प्राण एव। तत् तेन सौमीभ्यामभिमर्शनेन सिकतात्मके सिक्ते रेतसि सोमात्मकं प्राणमेव स्थापयति। यत्तु प्राणादृते रेतः सिच्यते, तत् पूयेद् ह, न शरीराकारता तस्य सम्पद्येतेत्यर्थः। अस्याभिमर्शनस्य सूददोहसाधिवदनकार्यकरत्वात् तदात्मकतामाह—एषो हैवात्रेति। यत् सौमीभ्यामभिमर्शनमेषैवात्र सिकतोपधाने सूददोहाः। 'ता अस्य सूददोहसः' इति मन्त्रकरणकमधिवदनम्। कथमन्यस्यान्यात्मतेत्यत आह—प्राणो वा इति। अभिमर्शनमन्त्रप्रतिपाद्यस्य सोमस्य सूददोहसश्च प्राणात्मकत्वसाम्यादित्यर्थः। 'आप्यायस्व समेतु ते। विश्वतः सोम वृष्ण्यमिति रेतो वै वृष्ण्यमाप्यायस्व समेतु ते सर्वतः सोम रेत इत्येतद् भवा वाजस्य सङ्गथ इत्यन्नं वै वाजो भवान्नस्य सङ्गथ इत्येतत् सं ते पयाꣳसि समु यन्तु वाजा इति रसो वै पयोऽन्नं वाजाः' (श० ७।३।१।४६)। प्रथमामृचमनूद्याप्रसिद्धार्थं पदं व्याचष्टे—आप्यायस्वेति। वृषा सेचनसमर्थो युवा, तत्र भवं वृष्ण्यमिति व्युत्पत्तेर्वृष्ण्यशब्देन रेतः

प्रतिपाद्यत इत्यर्थः। पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थं योजयति—सर्वतः सोम रेत इत्येतदिति। अन्नं वै वाज इति। वाजशब्दस्य 'वज व्रज गतौ' इत्यस्माद् व्युत्पन्नस्य गत्यर्थत्वादत्र च तत्प्रतिपादकत्वायोगाद् रूढ्या वाजशब्देनान्न-मुच्यते। अत एव वाजशब्दोऽन्ननामसु पठ्यते—'अन्धः। वाजः। पयः' (निघ० २।७।१-३)। तथा च हे सोम, त्वमाप्यायस्व वर्धस्व, अस्मान् वा वर्धय। त्वदीयं वृष्णस्त्वत्सम्बन्धि रेत इममग्निं विश्वतः सर्वतः समेतु प्राप्नोतु। अन्नस्य सङ्गमनाय त्वमस्माकं भवेति मन्त्रार्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम साम्बसदाशिव, त्वमाप्यायस्व आत्मानमस्मांश्च वर्धयस्व। विश्वतः सर्वतो वृष्ण्यं वीर्यं समेतु त्वयि समागच्छतु, सर्वाश्रयत्वात्। तेन वीर्येण आप्यायस्व सर्वं वर्धयस्व। किञ्च, वाजस्यान्नस्य सङ्गथे सङ्गमननिमित्तं भव, सर्वकारणत्वात् सर्वपोषकत्वाच्च।

दयानन्दस्तु—'हे सोम कान्तियुक्तराजपुरुष, तादृशस्य विदुषः सङ्गात् ते वृष्ण्यं वृष्णो वीर्यवतः कर्म विश्वतः सर्वतः समेतु सङ्गच्छताम्। तेन त्वमाप्यायस्व वर्धस्व। वाजस्य विज्ञानवेगाभ्यां संग्रामस्य वेत्ता सन् सङ्गथे युद्धे विजयी भव' इति, तदपि सारशून्यम्, निर्मूलकल्पनाजालप्रायत्वात्। सोमकान्तियुक्तराजपुरुषबोध-कत्वं सोमशब्दस्य गौणार्थाश्रयणमेव। अन्वयाद्यनुपपत्तेस्तदयुक्तमेव। नह्यत्र कश्चन तादृशो विद्वान् प्रसक्तो न च तत्सङ्गादेव वृष्ण्यसङ्गमो दृश्यते, न वा संग्रामवेदनेनैव जयो लभ्यते, शस्त्रास्त्रादिबलप्रयोगसाध्यत्वाद् विजयस्येति॥ ११२॥

सं ते पया॑ꣳसि॒ समु॑ यन्तु॒ वाजाः॒ सं वृष्ण्या॑न्यभिमाति॒षाहः॑।
आ॒प्याय॑मानो अ॒मृता॑य सोम दि॒वि श्रवा॑ꣳस्युत्त॒मानि॑ धिष्व॥ ११३॥

मन्त्रार्थ—हे सोम, पीने योग्य यह रस तुम्हारे सम्पर्क से पापनाशक शक्ति को प्राप्त करे, यजमान को अन्न की संगति प्राप्त हो, वीर्य तुमको प्राप्त हो। दूध, अन्न और वीर्य से वृद्धि को प्राप्त होते हुए तुम अमरण धर्म को प्राप्त कराने वाले हो और द्युलोक में श्रेष्ठ आहुति के परिणामस्वरूप अन्न को धारण करने वाले हो॥ ११३॥

हे सोम, तव पयांसि पातव्यानि क्षीरादीनि संयन्तु सम्प्राप्तानि भवन्तु। उतापि च वाजा अन्नान्यपि संयन्तु। वृष्ण्यानि रेतांस्यपि संयन्तु। कीदृशस्य तव ? अभिमातिषाहः अभिमाति पाप्मानं सहते तिरस्करोतीत्यभिमातिषाट्, तस्य। षत्वं छान्दसम्। हे सोम, क्षीरादिसम्पत्तौ सत्यां स्वयं पयोऽन्नवृष्ण्यैराप्यायमानो वर्धमानोऽमृताय यजमानस्यामृतत्वाय देवभावाय भवेति शेषः। तथा प्रजात्यै यजमानस्य पुत्रादिवृद्ध्यै यजमानस्य भव। अमृतशब्देन श्रुत्या प्रजातिर्व्याख्याता। तथा च श्रुतिः—'प्रजात्यां तदमृतं दधाति तस्मात् प्रजातिरमृतेति' (श० ७।३।१।४६)। एवं चामृतायामरणधर्मिण्यै प्रजात्यै पुत्रादिवृद्ध्यै यजमानस्य भवेति। दिवि द्युलोके उत्तमानि उत्कृष्टानि श्रवांस्यन्नानि आहुतिपरिणामजनितानि धिष्व धारय सम्पादय। 'धि धारणे' इति तौदादिकस्य रूपम्। विकरणव्यत्यय आत्मनेपदं च छान्दसम्। धत्स्वेत्यर्थे 'सुधितवसुधितनेमधितधिष्वधिषीय च' (पा० सू० ७।४।४५) इति निपातनं वा।

अत्र ब्राह्मणम्—'सं ते रसाः समु यन्त्वन्नानीत्येतत् सं वृष्ण्यान्यभिमातिषाह इति सꣳरेताꣳसि पाप्मसह इत्येतदाप्यायमानो अमृताय सोमेति प्रजात्यां तदमृतं दधाति तस्मात् प्रजातिरमृता दिवि श्रवाꣳस्युत्तमानि धिष्वेति चन्द्रमा वा अस्य दिवि श्रव उत्तमꣳ स ह्येनममुष्मिँल्लोके श्रावयति द्वाभ्यामाप्याययति गायत्र्या च त्रिष्टुभा च तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।३।१।४६)। द्वितीयामाप्यानवतीमनूद्याप्रसिद्धार्थानि पदानि

व्याचष्टे—सं ते पयांसीति। अत्र पयःशब्दो रसपरः, वाजशब्दोऽन्नपरः। अभिमातिशब्देन पाप्मोच्यत इत्याह—पाप्मसह इत्येतदिति। तृतीयपादेऽमृतशब्दस्याभिप्रायमाह—प्रजात्यामिति। पुत्रपौत्रादिरूपेण यैव प्रजातिलक्षणा प्रजोत्पत्तिरूपा क्रिया सा अमृता। आप्यायमान इत्यनेन मन्त्रभागेन तस्यां प्रजात्याममृतत्वं स्थापयति। यस्मादेवं तस्मात् प्रजातिः प्रजोत्पत्तिः, अमृता मरणरहिता अविच्छिन्ना सार्वकालिकी वर्तत इत्यर्थः। चतुर्थपादे श्रवःशब्दस्यार्थमाह—चन्द्रमा वा अस्य दिवि श्रव इति। अस्य अधियज्ञं लतारूपेण वर्तमानस्य सोमस्य दिवि द्युलोके उत्तमम् उत्कृष्टं श्रवो नाम चन्द्रमा एवोच्यते। अस्य श्रवःशब्दाभिधेयतां प्रतिपादयति—स ह्येनमिति। अमुष्मिन् स्वर्गे लोके स खलु चन्द्रमा एनं सोमममृतात्मना पीयमानः सन् श्रावयति प्रख्यापयति, अतः श्रावयितृत्वात् श्रवःशब्देन स उच्यत इत्यर्थः। मन्त्रगतं द्वित्वं छन्दोविशेषं चानूद्य तस्य स्तावको वाक्यशेषः प्रागाम्नात इत्याह—द्वाभ्यामिति। तथा च हे सोम, पयोऽन्नवृष्ण्यैराप्यायमानः सन् अमृताय अमरणधर्मिण्यै प्रजात्यै पुत्रादिवृद्धयेऽविच्छित्तये वा यजमानस्य भव। दिवि उत्तमानि उत्कृष्टानि श्रवांसि अन्नानि आहुतिपरिणामजनितानि धिष्व धारय। लोकद्वयसंयोगं सम्पादयेति निर्गलितार्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे तथाविध सोम, पयांसि पातव्या रसाः, ते तव संयन्तु सङ्गच्छन्ताम्। तथैव वाजा अन्नानि वृष्ण्यानि वीर्याणि च संयन्तु। अभिमातिषाहः स्वरूपेणैव पाप्मतिरस्कर्तुस्तव प्रसादात् पयोऽन्नवृद्ध्या आप्यायमानस्त्वं साधकस्य अमृताय अमृतत्वाय मोक्षपदप्राप्तये भव। ततो दिवि द्युलोके स्वप्रकाशे परमात्मनि श्रवांसि भगयशोरूपाण्यन्नानि धिष्व धारय।

अत्र दयानन्दः—'हे सोम, यस्मै ते पयांसि संयन्तु अभिमातिषाहो येऽभिमानयुक्तान् शत्रून् सहन्ते निवारयन्ति वाजा धनुर्वेदबोधजा वेगाः समुयन्तु वृष्ण्यानि वीर्याणि संयन्तु, स आप्यायमानस्त्वं दिवि द्योतनात्मके परमेश्वरे अमृताय मोक्षसुखाय उत्तमानि श्रवांस्यन्नानि धत्स्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यरूपाय सोमाय नह्याशीर्वादमात्रेण संयन्ति, न वा अभिमानिशत्रुनिवारणसमर्था वीरा धनुर्वेदबोधजा वेगाश्च आशीर्वादमात्रलभ्याः। तस्मान्निरर्थकप्रलापमात्रमेतत् ॥ ११३ ॥

आप्यायस्व मदिन्तम सोम विश्वेभिरꣳशुभिः।

भवा नः सप्रथस्तमः सखा वृधे ॥ ११४ ॥

मन्त्रार्थ—अतिशय तृप्त अन्तःकरण वाले हे सोमदेव, अत्यन्त विख्यात कीर्ति वाले तुम सम्पूर्ण सूक्ष्म अंशों के द्वारा वृद्धि को प्राप्त करो और हमारी वृद्धि के निमित्त सहायक बनो ॥ ११४ ॥

हे मदिन्तम, मदयति तर्पयतीति मदी, 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (पा० सू० ३।१।१३४) इति ग्रह्यादित्वाण्णिनिः, यद्वा मदस्तृप्तिरस्यास्तीति मदी, 'अत इनिठनौ' (पा० सू० ५।२।११५) इतीनि, अतिशयेन मदी मदिन्तमः। 'नाद् घस्य' (पा० सू० ८।२।१७) इति नान्तात् परस्य तमपो नुडागमः। ईदृश हे सोम, त्वमात्मानमाप्यायस्व वर्धस्व। ततो विश्वेभिर्विश्वैः सर्वैरंशुभिः सूक्ष्मांशैः सखा सखिभूतः सन्नोऽस्माकं वृधे वर्धनाय सखा सहायो भव। 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति संहितायां दीर्घः। कीदृशस्त्वम्? सप्रथस्तमः, अतिशयसत्कीर्तिः।

अध्यात्मपक्षे—हे मदिन्तम तर्पयितृतम सोम साम्बसदाशिव, त्वमस्मान् आप्यायस्व वर्धयस्व। कैः साधनैरित्याशङ्क्याह—विश्वेभिः सर्वैरंशुभिर्ज्ञानरूपै रश्मिभिः। एवंभूत हे सोम, स त्वं नोऽस्माकं वृधे वर्धनाय सखा सहायो भूत्वा सप्रथस्तमो भव निरवच्छिन्नपरब्रह्मरूपेण आविर्भूतस्वरूपो भव।

दयानन्दस्तु—'हे मदिन्तम सोम, त्वमंशुभिः किरणैः सूर्य इव विश्वेभिः साधनैराप्यायस्व। सप्रथस्तमः सखा मित्रः सन् नो वृधे वर्धनाय भव' इति. तदपि यत्किञ्चित्, जीवस्य कस्यचिदपि तादृशानन्दासम्भवात्। किञ्च, नात्राल्पज्ञ उपदेष्टा, तथा सति वेदे पौरुषेयत्वापत्तिः। न वा सर्वज्ञः, तथा सति नो वृधे भवेति प्रार्थनायोगात्। सुहृद्वाचकस्य मित्रशब्दस्य नित्यनपुंसकत्वं स्वीकुर्वाणोऽप्यत्र 'मित्रः' इति प्रयुङ्क्ते। तदस्य बुद्धिवैशद्यम् ॥ ११४ ॥

आ ते॑ व॒त्सो मनो॑ यमत् पर॒माच्चि॑त् स॒धस्था॑त्। अग्ने॒ त्वां का॑मया गि॒रा ॥ ११५ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, तुम्हारा वत्सस्वरूप यजमान तुम्हारी स्तुति करने को इच्छा वाली वेदवाणी के द्वारा उत्कृष्ट द्युलोक से तुम्हारे मन को अपनी तरफ आकृष्ट करता है ॥ ११५ ॥

'श्वेतेऽश्वे पुरस्तात्तिष्ठति श्वेताभावेऽश्वेतेऽश्वाभावेऽनडुहि, अग्निभ्यः प्रह्रियमाणेभ्योऽनुवाचयति' (का० श्रौ० १७।३।१९–२०)। प्राच्यां दिशि श्वेतेऽश्वे तदभावेऽश्वेतेऽश्वे तदभावेऽनडुहि तिष्ठति सत्यग्निभ्यः प्रह्रियमाणेभ्योऽनुब्रूहीति प्रेषितो होता आ ते वत्स इति तृचमनुवक्तीति सूत्रार्थः। अयमभिप्रायः—क्वचित् पाकस्थे घृते कुशाग्राणि न्यज्य तैराज्याक्तैः कुशाग्रैश्चर्मस्था इष्टकाः प्रोक्षेत्। इष्टकाचर्मणः प्राच्यां दिशि श्वेतेऽश्वेते वा अश्वे, तदभावेऽनडुहि तिष्ठति सत्यग्निभ्यः प्रह्रियमाणेभ्योऽनुब्रूहीति वाचयेत्। इदं चानुवाचनम्—'उत्तरवेदिप्रोक्षणाद्यासम्भारनिवपनात् कृत्वा' (का० श्रौ० १७।३।२६) इति वक्ष्यमाणत्वादत्र पूर्वमाज्यं संस्कृत्य पञ्चगृहीतं गृहीत्वा आज्यप्रोक्षणीरुद्यम्य इष्टकाश्चोद्यम्य कुर्यात्। अग्निदेवत्यास्तिस्रो गायत्र्यः। आद्या वत्सारदृष्टा, द्वितीया विरूपदृष्टा, तृतीया तु प्रजापतिदृष्टैव। हे अग्ने, ते तव वत्सः प्रियभूतो यजमानस्त्वां कामया त्वां स्तोतुं काम्यया अनया गिरा वाचा परमाच्चित् सधस्थादुत्कृष्टादपि स्थानाद् मनः अन्तःकरणम् आ यमत् समन्तात् नियच्छति। यद्वा हे अग्ने, आयमद् गृहीतवान् ते तव वत्सः, पयोजीवनसामान्याद् यजमानो वत्सः, स हि पयोव्रतो भवति। पयोव्रतत्वाद् वत्ससमस्त्वत्प्रियः। परमाद् उत्कृष्टात्। चिच्छब्दोऽप्यर्थः। उत्कृष्टादपि सधस्थात् सह तिष्ठति यस्मिंस्तत् सधस्थं द्युलोकम् 'सधमादस्थयोश्छन्दसि' (६।३।९६) इति सहस्य सधादेशः। द्युलोके देवैः सह अग्निस्तिष्ठतीत्यर्थः। उत्कृष्टादपि द्युलोकाद् मन आहृत्येति शेषः। आ यमद् आयच्छति, मनोनिग्रहं करोतीत्यर्थः। 'इषुगमियमां छः' (पा० सू० ७।३।७७) इति छत्वाभावः, 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इतीकारलोपश्च छान्दसौ। केन कारणेन मन आयमति तत्राह—त्वाङ्कामया त्वां स्तोतुं कामयमानया गिरा वाचा। यद्वा त्वां कामयते स्तोतुमिच्छतीति त्वाङ्कामस्तया, अलुक्समासश्छान्दसः।

तत्र ब्राह्मणम्—'तद्धैकेऽन्वाहुः। पुरीष्यासो अग्नयः प्रावणेभिः सजोषस इति प्रायणरूपं न तथा कुर्यादाग्नेयीरेव गायत्रीः कामवतीरनुब्रूयादा ते वत्सो मनो यमत्तुभ्यं ता अङ्गिरस्तमाग्निः प्रियेषु धामस्विति' (श० ७।३।२।८)। तत्र होत्राऽनुवक्तव्यामृचमेकीयमतेनोपन्यस्य व्याचष्टे—तद्धैक इति। तत् तत्र एके केचन ऋक्शाखाध्यायिनः 'पुरीष्यासो अग्नयः' (ऋ० सं० ३।२२।४) इत्येतामृचं होत्रानुवक्तव्यामाहुः। पुरीषशब्दस्य पशुपर्यायत्वात् पुरीष्यास इत्यस्य पशव्यास इति व्याख्यानम्। पशुभ्यो हिता इत्यर्थः। प्रावणेभिरिति पदस्यार्थमाह—प्रायणरूपमिति। प्रायणस्य प्रगमनकर्मप्रवृत्तेः प्रावणेभिरिति प्रशब्दोपेतं पदं सूचकम्। एतदेकीयमतं प्रतिषिध्य स्वमतमाह—न तथा कुर्यादिति। आग्नेयीरग्निदेवताकाः, कामवतीः कामशब्दोपेताः, गायत्रीर् गायत्रीच्छन्दस्का एव ऋचो ब्रूयात्। का पुनस्ता इत्याह—आ ते वत्स इत्यादिना।

'आग्नेयीरन्वाह । अग्निरूपाणामुपाप्त्यै कामवतीः कामानामुपाप्त्यै गायत्रीर्गायत्रोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतद्रेतोभूतꣳ सिञ्चति तिस्रस्त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतद्रेतोभूतꣳ सिञ्चति ताः सप्त सम्पद्यन्ते सह त्रिरनूक्ताभ्याꣳ सप्तचितिकोऽग्निः सप्तर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्तद् भवत्युपाꣳश्वन्वाह रेतो वा अत्र यज्ञ उपाꣳशु वै रेतः सिच्यते पश्चादनुब्रुवन्नन्वेति छन्दोभिरेवैतद्यज्ञं पश्चादभिरक्षन्नेति' (श० ७।३।२।९)। आग्नेयीत्यादिधर्मानवयुत्यानूद्य स्तौति—आग्नेयीरन्वाहेति । देवतारूपेणाग्निना तत्सम्बन्धिनां सर्वेषां रूपाणामुपाप्तिर्भवतीत्यर्थः । तथा तासामृचां कामशब्दोपेतत्वात सर्वकामोपाप्तिरपि भवति । रेतोभूतं सिञ्चतीति । अस्यामवस्थायां रेतःसंस्तुतानां सिकतानां निवपनाद् रेतोरूपापन्नः खल्वयं चित्योऽग्निस्तादृशं सिञ्चति, अङ्गप्रत्यङ्गयुक्तं संस्करोतीत्यर्थः । ऋचां त्रित्वमनूद्य स्तौति— तिस्र इति । ताः सप्तेत्यादि । तास्तिस्र ऋचः सप्तसंख्याकाः सम्पद्यन्ते । सम्पत्तिप्रकारमाह— सहेति । त्रिः त्रिवारम् अनूक्ताभ्याम् आद्योत्तमाभ्यां सह सप्तसंख्या सम्पद्यत इत्यर्थः । सप्तर्तवः संवत्सर इति । वसन्ताद्याः षट संसर्पांहस्पतिलक्षणः सप्तम ऋतुः । अनुवचने उपांशस्वरं विधाय स्तौति— उपाꣳश्वन्वाहेति । यथा पार्श्वस्था जना न श्रृणुयुस्तथाऽनुब्रूयादित्यर्थः । रेतःसेचनस्योपांशुत्वं परैरज्ञायमानत्वेन कर्तव्यत्वं लोके प्रसिद्धम् । तस्मादनुवचनमुपांश कर्तव्यमित्यर्थः । अनुवचनसमये होतुरनुगमनं विधत्ते— अनुब्रवन्नेतीति । अनुवचनं कुर्वन् होता स्वयमपीष्टका अन्वेत्यनुगच्छति । सर्वेषां छन्दसां गायत्र्यामन्तर्भावात् तदन्तर्भूतैश्छन्दोभिरेवैतदेतेनानुगमनेन यज्ञं पृष्ठतोऽभिरक्षन् अभितः सर्वतो रक्षःप्रभृतिभ्यो गोपायन् एति ।

'अथाश्वꣳ शबलं पुरस्तान्नयन्ति । एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इह रक्षाꣳसि नाष्ट्रा न हन्युरिति त एतं वज्रमपश्यन्नमुमेवादित्यमसौ वा आदित्य एषोऽश्वस्त एतेन वज्रेण पुरस्ताद्रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहत्याभयेऽनाष्ट्रे स्वस्ति समाश्नुवत तथैवैतद्यजमान एतेन वज्रेण पुरस्ताद्रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहत्याभयेऽनाष्ट्रे स्वस्ति समश्नुवत आगच्छन्त्यग्निं दक्षिणतः पुच्छस्य चितिमुपनिदधत्युत्तरतोऽश्वमाक्रमयन्ति' (श० ७।३।२।१०) । इष्टकाहरणसमये श्वेताश्वस्य पुरतो नयनं विधत्ते—अथाश्वमिति । अश्वस्य आदित्यरूपवज्रात्मकत्वं कथयंस्तस्य पुरस्तान्नयनं यज्ञविघातकरक्षोनिबर्हणहेतुत्वेन स्तौति—एतद्वा इत्यादिना । असौ वा आदित्य एषोऽश्व इति । विराड्रूपस्य प्रजापतेश्चन्द्रसूर्यौ हि चक्षुषी, अश्वश्च तदीयाच्चक्षुष उत्पन्नः । तथा च श्रूयते—'प्रजापतेरक्ष्यश्वयत्तत्परापतत्ततोऽश्वः समभवत्' (श० १३।३।१।१) । तथा तैत्तिरीयेऽपि—'अमुमादित्यमश्वं श्वेतं भूतं दक्षिणामनयन्' (तै० ब्रा० १।६।८) । आगच्छन्त्यग्निं दक्षिणत इति । अश्वप्रमुखास्ते ऋत्विग्यजमाना इष्टकाभिः सहाग्निसमीपमागच्छेयुः, आगत्य चाग्निचितिक्षेत्रे पुच्छस्य दक्षिणभागे चर्मणा हृतां चितिमुपनिदधति, चित्यर्थमानीता इष्टकाः स्थापयन्तीत्यर्थः । तस्याग्निपुच्छस्योत्तरभागे तमश्वमाक्रमयन्ति । आक्रमणानन्तरं पुनस्तमश्वमग्नेरुत्तरार्धेनाग्निक्षेत्रस्योत्तरभागे परिश्रिदाख्याः शर्करा अन्तरेण परिश्रितामग्नेश्च मध्यप्रदेशे प्राङ्मुखं नयन्ति । तेन प्राचीदिक्सम्बन्धिनं पाप्मानमादित्यात्मकाश्वलक्षणेन वज्रेणापहन्ति । पुनस्तमश्वं पूर्वस्यां दिश्यग्नेः परिश्रितां च मध्ये दक्षिणा दक्षिणतो निहितमुखमित्यर्थः । तं प्रत्यञ्चमित्यादावेवमेव योज्यम् । एवं चतसृषु दिक्ष्वाक्रमणेन सर्वाभ्य एव दिग्भ्यो रक्षांसि विनाश्यानन्तरमेनमश्वं प्रागुदङ्मुखं विमुञ्चति । 'तं प्रत्यञ्चं यन्तम् । एतां चितिमवघ्रापयत्यसौ वा आदित्य एषोऽश्वः.....' (श० ७।३।२।१२) । तस्याश्वस्य प्रत्यङ्मुखनयनसमये चितेरवघ्रापणं विधत्ते—तं प्रत्यञ्चमिति । यथा सोऽश्वश्चितिमवजिघ्रति, तथा तं प्रेरयेदित्यर्थः । तदेतदिष्टकानामादित्येऽवघ्रापणं प्रजासु प्राणप्रतिष्ठापनहेतुत्वेन स्तौति—असौ वा आदित्य एषोऽश्व इति ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, ते तव वत्सो वत्सवत् प्रिय उपासकः परमाच्चित् सधस्थाद् उत्कृष्टादपि द्युलोकाद् गिरा वेदवाचा, मन आहृत्येति शेषः । आयमद् आयच्छति गृह्णाति । त्वत्कृपया दुष्करमपि चित्त-

निग्रहं सम्पादयतीत्यर्थः। कीदृश्या वाचा? त्वाङ्कामया त्वां कामयते स्तोतुमिच्छति या सा त्वाङ्कामा, तया त्वत्स्तुतिप्रवणया इति यावत्।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, त्वाङ्कामया यया त्वां कामयते तया गिरा वाचा यस्य ते मनः परमादुत्कृष्टात् चिद् अपि सधस्थात् समानस्थानाद् वत्सो गोरिव अयमत् उपरमेत, स त्वं मुक्तिं कथं नाप्नुयाः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'विद्वन्' इति सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्, श्रुतिसूत्रविरोधाच्च ॥ ११५ ॥

तुभ्यं ता अङ्गिरस्तम विश्वाः सुक्षितयः पृथक्। अग्ने कामाय येमिरे ॥ ११६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अतिहविर्भक्षक अग्निदेवता, सम्पूर्ण प्रसिद्ध स्वर्ग आदि सुन्दर स्थानों को देने वाली ये अनेक प्रकार की स्तुतियाँ हमारी अभिलाषा को पूर्ण करने वाले तुम्हारे निमित्त हमने की हैं ॥ ११६ ॥

हे अङ्गिरस्तम, अन्यते जीव्यते येन तद् अन् अन्नम्, अन् गिरति स्वात्मसात् करोतीत्यङ्गिराः, अतिशयेन अङ्गिरा अङ्गिरस्तमः, तत्सम्बुद्धौ, हे अग्ने! तुभ्यं यजमानैः कृता याः पृथग् नानाभूता विश्वाः सर्वाः सुक्षितयः सुष्ठु शोभना क्षितिर्निवासो यासां ताः स्थानकरणानुप्रदानवत्यो देवता याथात्म्यचिन्तनगर्भाः। अथवा सुष्ठु क्षितिर्याभ्यस्ताः स्वर्गादिशुभस्थानप्रदाः स्तुतयः कामाय अभिलाषपूरणार्थं तुभ्यं त्वयि येमिरे नियम्यन्ते, यजमानैरिति शेषः। कर्मणि लिट्। यजमाना इह कामनापूर्त्यै द्युलोकावाप्त्यै च मन्त्रैस्त्वामेव स्तुवन्तीति भावः ॥ ११६ ॥

अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य। सम्राडेको विराजति ॥ ११७ ॥

इति श्रीमाध्यन्दिनीयायां वाजसनेयिसंहितायां द्वादशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ—उत्पन्न और उत्पद्यमान यजमानों की कामनाओं को पूर्ण करने वाले, सम्यक् प्रकार से विराजमान अग्नि देवता अपने प्रिय स्थानों में बिना किसी की सहायता के सम्राट् के समान विराजमान रहते हैं ॥ ११७ ॥

१२वाँ अध्याय समाप्त।

अग्निर्भूतस्य उत्पन्नस्य भव्यस्य भविष्यतश्च जनस्य कामः कामपूरकः। कथम्भूतोऽग्निः? सम्राट्, सम्यग् राजत इति सम्राट्। पुनः कथंभूतः? कामः, काम्यत इष्यते सर्वैर्यष्टुमिति कामः। अथवा भूतस्य भव्यस्य च सम्राड् ईश्वरः। प्रियेष्वभिरुचितेषु धामसु स्थानेषु, एकः सहायनिरपेक्षः सन् विराजति विशेषेण दीप्यते।

अध्यात्मपक्षे—योऽग्निः परमेश्वरो रामचन्द्रो भूतस्य भव्यस्य तदुपलक्षितस्य सर्वस्यैव सम्राट् परमेश्वरः, कामः काम्यते सर्वैरपि परप्रेमास्पदतयेति कामः। प्रियेष्वभिरुचितेषु धामसु स्थानेषु, एकोऽसहायो विराजति देदीप्यते, अन्यनिरपेक्ष एव सर्वकामपूरको भगवान् रामचन्द्र इति यावत्।

दयानन्दस्तु—'यो मनुष्यः पावक इव वर्तमानः सम्राट् सम्यक् प्रकाशकः, एकोऽद्वितीयः सभेशः परमेश्वर इव भूतस्य भव्यस्य आगामिसमयस्य प्रियेष्विष्टेषु धामसु जन्मस्थाननामसु विराजति, स एव राज्येऽभिषेचनीयः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणात्, अध्याहारस्यापि निर्मूलत्वात् ॥ ११७ ॥

इति वेदार्थपारिजाते द्वादशोऽध्यायः।

—:०:—

त्रयोदशोऽध्यायः

मयिं गृह्णाम्यग्रे॑ अ॒ग्निᳪ रा॒यस्पोषा॑य सुप्रजा॒स्त्वाय॑ सु॒वीर्या॑य। माम् दे॒वताः॑ सचन्ताम् ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—मैं यजमान सबसे पहले धन की पुष्टि के लिये, श्रेष्ठ पुत्र आदि की प्राप्ति के लिये तथा उत्तम सामर्थ्य की प्राप्ति के लिये अग्निदेव को अपनी आत्मा में धारण करता हूँ। देवगण मेरी सहायता करें ॥ १ ॥

तत्र द्वादशेऽध्याये उखाधारणगार्हपत्यचयनक्षेत्रकर्षणौषधवपनादिमन्त्रा उक्ताः। अधुना त्रयोदशेऽध्याये पुष्करपर्णाद्युपधानमन्त्रा उच्यन्ते। 'उत्तरवेदिप्रोक्षणाद्या सम्भारनिवपनात् कृत्वोत्तरवेदिमपरेण तिष्ठन् यजमानो मयि गृह्णामीति जपति' (का० श्रौ० १७।३।२६)। 'उत्तरवेदिं प्रोक्षतीन्द्र घोषस्त्वेति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० ५।४।१०) इत्यारभ्य 'अग्नेः पुरीषमिति निवपति' (का० श्रौ० ५।४।१५) इत्येतदन्तं कृत्वा उत्तरवेदेः पश्चात्तिष्ठन् यजमानो मयि गृह्णामीति जपति। अग्निदेवत्या ककुप्। यस्या मध्यपादो द्वादशकः, आद्यतृतीयावष्टकौ सा ककुप्। अत्र मध्यश्चतुर्दशस्तेन द्व्यधिका। अहं यजमानः, अग्रे प्रथमम्, मयीति अहमित्यर्थे, मयि आत्मनि, अग्निं गृह्णामि धारयामि, ततोऽग्निं चिनोमीति शेषः। किमर्थमग्निचयनमिति चेत्—रायस्पोषाय रायो धनस्य पोषाय पुष्ट्यर्थम्। पुनः किमर्थम्? सुप्रजास्त्वाय सुष्ठु शोभनाः प्रजा यस्यासौ सुप्रजाः, तस्य भावः सुप्रजास्त्वम्, दीर्घश्छान्दसः, तस्मै। शोभनपुत्रादिनिष्पत्त्यै इत्यर्थः। सुवीर्याय सुष्ठु शोभनं वीर्यं सुवीर्यम्, तस्मै। शोभनशक्तय इति यावत्। उकारोऽप्यर्थे। किञ्च, देवता उ अपि मां सचन्तां सेवन्ताम्। उकार एवार्थको वा। देवता मामेव सचन्ताम्।

तत्र ब्राह्मणम्—'आत्मन्नग्निं गृह्णीते चेष्यन्। आत्मनो वा एतमधि जनयति यादृशाद्वै जायते तादृङ्ङेव भवति स यदात्मन्नगृहीत्वाग्निं चिनुयाद् मनुष्यादेव मनुष्यं जनयेन्मर्त्यान्मर्त्यमनपहतपाप्मनोऽनपहतपाप्मानमथ यदात्मन्नग्निं गृहीत्वा चिनोति तदग्नेरेवाध्यग्निं जनयत्यमृतादमृतमपहतपाप्मनोऽपहतपाप्मानम्' (श० ७।४।१।१)। अग्निग्रहणसत्यसामगानपुष्करपर्णोपधानानि पूर्वस्मिन् ब्राह्मणे संग्रहेण विहितानि। तथाग्निग्रहणं प्रपञ्चयति—आत्मन्नग्निमित्यादिना। चेष्यन् चयनं करिष्यन्नध्वर्युः। आत्मनोऽधि, अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी, आत्मनः सकाशात् खल्वध्वर्युः, एतं चित्याग्निं जनयति। इयं खलु लोकस्थितिः। यादृशाद् मनुष्यादिशरीराद् गर्भो जायते स तादृङ् निष्पद्यते। सति ह्यात्मन्नग्निग्रहणेऽध्वर्युरग्न्यात्मको भवति। तस्मादध्वर्योर्जायमानश्चित्याग्निरपि साक्षादग्निरूपो भवति। शिष्टं स्पष्टमेव। 'स गृह्णाति। मयि गृह्णाम्यग्रे अग्निमिति तदात्मन्नेवाग्रेऽग्निं गृह्णीते रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्यायेति तदु सर्वा आशिष आत्मन् गृह्णीते मामु देवताः सचन्तामिति तदु सर्वान् देवानात्मन् गृह्णीते तद्यत्किञ्चनात्मनोऽधि जनयिष्यन् भवति तत्सर्वमात्मन् गृह्णीते स वै तिष्ठन्नात्मन्नग्निं गृहीत्वाऽनूपविश्य चिनोति पशुरेष यदग्निस्तस्मात् पशुभिस्तिष्ठन् गर्भं धित्वाऽनूपविश्य जायते' (श० ७।४।१।२)। समन्त्रकमग्निग्रहणं विधत्ते—स गृह्णातीति। मयि गृह्णामीति ग्रहणमन्त्रः। तत्र मयीत्यस्मच्छब्दश्रवणादात्मन्यग्नेर्ग्रहणं निगदसिद्धमित्याह—तदात्मन्नेवेति। रायस्पोषो धनसमृद्धिः। सुप्रजास्त्वं शोभनपुत्रपौत्रादियुक्तत्वम्। शोभनवीर्ययोगः सुवीर्यम्। तत् तेन मन्त्रभागेनोक्तलक्षणाः सर्वा आशिषः फलान्यात्मनि स्वीकरोति। तृतीयभागमनूद्य व्याचष्टे—मामु देवता इति। यक्ष्यमाणदेवता माम् उ एव सचन्तां मदीययज्ञमेव सेवन्तामित्येतेन

मन्त्रभागेन देवतानामात्मनि ग्रहणं कृतं भवति। चयनसमये तूपवेशनं तस्य विधत्ते—अनूपविश्य चिनोतीति। यत्र यत्रेष्टकामुपदधाति, तं तं देशं गत्वा तत्समीपे उपविश्य चिनुयादित्यर्थः। एतदुभयं स्तौति—पशुरेष इति। पशुरूपो ह्येषोऽग्निः। तस्मादेव हि कारणाद् गवादिलक्षणः पशुस्तिष्ठन्नेव गर्भं धत्ते अनूपविश्य विजायते प्रसूते। अतोऽग्निग्रहणं गर्भधारणभूतत्वात् तिष्ठतैव कार्यम्। चयनं तु प्रसवरूपत्वादुपविष्टेनैवेति तात्पर्यम्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, अहं मयि स्वात्मनि, अग्निं सर्वेषामग्रगण्यं परमात्मानं गृह्णामि त्वंपदार्थे तत्पदार्थमभेदेनानुसन्दधामि। किमर्थम्? रायस्पोषाय मोक्षलक्ष्म्याः पुष्ट्यर्थम्। सुप्रजास्त्वाय शोभनब्रह्मवित्पुत्र-शिष्यादिप्राप्त्यर्थम्। सुवीर्याय शोभनसामर्थ्यसिद्ध्यर्थम्। मामु मामेव ब्रह्मात्मभावापन्नं देवताः सचन्तां सङ्गच्छन्ताम्, 'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः' (भा० पु० ५।१८।१२) इति श्रीमद्भागवतोक्तेः।

दयानन्दस्तु—'हे कुमाराः कुमार्यश्च, यथाहमग्रे मयि आत्मनि रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय अग्निं परमविद्वांसं गृह्णामि, येन मामु देवता विद्वांसो गुणा वा सचन्तां समवयन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, एतादृशार्थस्य नैकधा प्रतिपादितत्वात्। परमविदुषो ग्रहणमपि कीदृशम्? शुश्रूषाध्ययनादिकं संतोषादिसम्पादनं वा? नाद्यः, तज्जनितविद्यादिप्राप्यत्वे रायस्पोषादिकं प्रति तस्यान्यथासिद्धत्वात्। नान्त्यः, तस्य तदहेतुत्वात्॥ १॥

अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानम्।
वर्धमानो महाँ२ आ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्व॥ २॥

मन्त्रार्थ—हे पुष्करपर्ण, तुम जल के ऊपर रहने से पृष्ठ रूप हो, अग्नि के निमित्त पिण्ड के कारण हो। सूखी जमीन को सींचता हुआ यह जल समुद्र की ओर वृद्धि को प्राप्त करे, समुद्र के जल में सब तरह से समा जाय। हे पत्र, तुम द्युलोक के परिमाण की दीर्घता से विस्तार को प्राप्त करो॥ २॥

'पुष्करपर्णमुपदधाति स्तम्बे पूर्ववत्' (का० श्रौ० १७।४।१)। ततोऽध्वर्युः कुशस्तम्बोपरि कमलिनीपत्र-मुपदधाति पूर्ववदित्युखासम्भरणवत्। तेन 'अपां पृष्ठम्' इति मन्त्रेण पुष्कर इत्यन्तेन उपधानं 'दिवो मात्रया' इति मन्त्रेण तस्य मार्जनमिति सूत्रार्थः। व्याख्यातपूर्वेयं कण्डिका एकादशेऽध्याये एकोनत्रिंश्याम्।

अत्र ब्राह्मणम् 'अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेरिति। अपाᳬ ह्ययं पृष्ठं योनिर्ह्ययमग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानमिति समुद्रो ह्येनमभितः पिन्वते वर्धमानो महाँ२ आ च पुष्कर इति वर्धमानो महीयस्व पुष्कर इत्येतद्दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्वेत्यनुविमार्ष्ट्यसौ वा आदित्य एषोऽग्निर्नो हैतमन्यो दिवो वरिमा यन्तुमर्हति द्यौर्भूत्वैनं यच्छेत्येवैतदाह....' (श० ७।४।१।९)। पुष्करपर्णोपधाने मन्त्रं विधाय पदशो व्याचष्टे—अपां पृष्ठमसीति। इयं पृथिवी अपामुपर्यवस्थानात् पृष्ठवत् पृष्ठम्। अतो हे पुष्करपर्ण, त्वमपामुदकानां पृष्ठमसि पृष्ठभागो भवसि। योनिर्ह्ययमिति। चित्यस्याग्नेर्योनिः पृथिवी, इष्टकोपादानत्वात्। हे पुष्करपर्ण, त्वमग्ने-स्तादृशी योनिरसीति प्रथमपादार्थः। समुद्रो ह्येनमिति। इमां पृथिवीमभितः सर्वतः पृथिव्याः सर्वासु दिक्षु समुद्रः पिन्वते सिञ्चति। 'पिवि सेचने' इति भौवादिको धातुः। महच्छब्दस्य व्याख्यानं महीयस्वेति। 'महीङ् पूजायाम्' कण्ड्वादिः। हे पुष्करपर्ण, आसमन्ताद् महीयस्व पूजितो भव। अनुविमार्ष्टीति, चतुर्थपादावसाने पुष्करपर्णमुपदधानस्वस्यानुलोम्येन विमार्जनं कुर्यात्। नो हैतमन्य इति। द्युलोकव्यति-

रिक्तोऽन्यो वरिमा, भाववाचिना तद्वाँल्लक्ष्यते, उरुतरः पदार्थः। एतमग्निं नो खलु यन्तुमर्हति। तथा च 'दिवो मात्रया वरिम्णा' इति इत्थंभावे तृतीया। अतोऽयमर्थः—हे पुष्करपर्ण, त्वं द्युलोको भूत्वा एतमग्निं यच्छ यमय।

'अथ रुक्ममुपदधाति। असौ वा आदित्य एष रुक्म एष हीमाः सर्वाः प्रजा अतिरोचते रोचो ह वै तꣳ रुक्म इत्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवा अमुमेवैतदादित्यमुपदधाति स हिरण्मयो भवति परिमण्डल एकविꣳशतिनिर्बाधस्तस्योक्तो बन्धुरधस्तान्निर्बाधमुपदधाति रश्मयो वा एतस्य निर्बाधा अवस्ताद्‌ वा एतस्य रश्मयः' (श० ७।४।१।१०)। आकाशात्मना स्तुतस्य पुष्करपर्णस्य मध्ये सूर्यमण्डलात्मना ध्यातव्यस्य रुक्मस्योपधानं विधत्ते—अथ रुक्ममिति। एष परिदृश्यमान आदित्यो रुक्म इमाः सर्वाः प्रजा अतिरोचते, अतो रोच इति तस्य नाम सम्पद्यते। तदेव पारोक्ष्येण रुक्म इत्युच्यते। स रुक्मः सुवर्णमयः कार्यः परिमण्डलो वर्तुलाकृतिः, एकविंशतिनिर्बाध एकविंशतिसंख्याकैः पुलकैर्युक्तः कार्यः। 'तं पुष्करपर्ण उपदधाति। योनिर्वै पुष्करपर्णं योनावेवैनमेतत्प्रतिष्ठापयति' (श० ७।४।१।११)। तस्य रुक्मस्य पुष्करपर्णमध्ये उपधानं विधत्ते—तं पुष्करपर्ण इति। 'यद्वेव पुष्करपर्ण उपदधाति। प्रतिष्ठा वै पुष्करपर्णमियं वै पुष्करपर्णमियमु वै प्रतिष्ठा यो वा अस्यामप्रतिष्ठितोऽपि दूरे सन्नप्रतिष्ठित एव स रश्मिभिर्वा एषोऽस्यां प्रतिष्ठितोऽस्यामेवैनमेतत्प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति' (श० ७।४।१।१२)। प्रकारान्तरेण पुष्करपर्णे रुक्मोपधानं स्तौति —यद्वेवेति। प्रतिष्ठा आस्पदम्। यो वा अस्यामिति। यः खल्वस्यां पृथिव्यामप्रतिष्ठितः प्रतिष्ठितो न भवति, स दूरदेशे वर्तमानोऽप्यप्रतिष्ठितः प्रतिष्ठारहितो निरालम्बन एव भवति। आकाशे वर्तमानस्य सूर्यस्य पृथिव्यामनवस्थानादेतेन पुष्करपर्णोपधानेन एनं रुक्मरूपमादित्यं पृथिवीरूपायामेव प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति। 'इन्द्रो वृत्रꣳ हत्वा नास्तृषीति मन्यमानोऽपः प्राविशत्ता अब्रवीद्बिभेमि वै पुरं मे कुरुतेति स योऽपाꣳ रस आसीत्तमूर्ध्वꣳ समुदौहंस्तामस्मै पुरमकुर्वंस्तद्यदस्मै पुरमकुर्वंस्तस्मात्पूष्करं पूष्करꣳ ह वै तत्पुष्करमित्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवास्तद्यत्पुष्करपर्ण उपदधाति यमेवोस्मै तमापो रसꣳ समुदौहन्यामस्मै पुरमकुर्वंस्तस्मिन्नेवैनमेतत्प्रतिष्ठापयति' (श० ७।४।१।१३)। नास्तृषि न खल्वहमद्यापि वृत्रमहिंसिषमिति विपर्यस्तमतिः सन्नित्यर्थः। स इन्द्रोऽपः प्राविशत् ता अब्रवोच्च अहं वृत्राद्बिभेमि। बिभ्यतो मम पुरं भयरहितमावासस्थानं हे आपः, यूयं कुरुत। आपश्चैतद्वचः श्रुत्वा यः स्वकीयो रसः प्रातिस्विक आसीत्, तमूर्ध्वं समुदौहन् समुदक्षिपन्। तमेव रसं पुष्करपर्णात्मना परिणतं निवासस्थानमकुर्वन्। यस्मादेवं पूरक्रियत तस्मात्तस्य पुष्करमिति नाम सम्पन्नम्। पूः क्रियतेऽनेनेति व्युत्पत्तेः पूष्करमिति प्रयोक्तव्ये पुष्करमिति प्रयोगस्तु पारोक्ष्यकरणायेति संग्रहार्थः। एवं पुष्करनामनिर्वचनं कृत्वा प्रकृते योजयति—तद्यत्पुष्करपर्ण इति। अस्मै इन्द्राय यमेव तं रसमापः पुरा समुदौहन् समुत्क्षिप्तवत्यः, तदनन्तरमस्मा एवेन्द्राय यां पुरं पुष्करपर्णात्मिकां अकुर्वंस्तस्मिन्नेव उभयरूपे स्वाश्रये रुक्मरूपेणावस्थितमिन्द्रशब्दाभिधेयमेनं सूर्यमेतेन प्रतिष्ठापयतीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वमपामबुपलक्षितानां लोकानां पृष्ठमधिष्ठानमसि। अग्नेर्भौतिकस्य योनिः कारणमसि। पिन्वमानं सिञ्चन्तं समुद्रमभितः सर्वतो वर्धमानो महान्, ततोऽपि ज्यायानसीत्यर्थः। पुष्करे हृदयकमले दिवोमात्रया वरिम्णा उरुत्वेन उरोर्महतो भावेन आप्रथस्व।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यस्त्वमभितोऽपां व्यापकानां प्राणानां जलानां वा पृष्ठमधिकरणं समुद्रं पिन्वमानमन्तरिक्षमिव सागरं पिन्वमानं सिञ्चमानमग्नेर्विद्युदादेर्योनिः कारणं दिवो द्योतमानस्य मात्रया यया सर्वं मिमीते पुष्करे वर्धमानो महांश्चासि, सोऽस्मासु वरिम्णा प्रथस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणात्। यदुक्तमयं मन्त्रः (श० ७।४।९।१) इत्यत्र व्याख्यात इति, तत्तु मूर्खजनप्रतारणमेव, तत्रास्याव्याख्यानात् ॥ २ ॥

ब्रह्म॑ जज्ञा॒नं प्र॑थ॒मं पु॒रस्ता॒द्वि सी॑म॒तः सु॒रुचो॑ वे॒न आ॑वः ।
स बु॒ध्न्या॒ उप॒मा अ॑स्य वि॒ष्ठाः स॒तश्च॒ योनि॒मस॑तश्च॒ वि॑वः ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—पूर्व दिशा में सबसे प्रथम प्रकट हुए आदित्य रूप ब्रह्म ने भूगोल के मध्य से आरम्भ कर सुन्दर रुचि वाले अन्य सभी लोकों में अपने प्रकाश को फैलाया है। यह कमनीय मेधावी सूर्य अवकाश युक्त और जगत् के वासस्थान अन्तरिक्ष में स्थित दिशाओं तथा उनमें विद्यमान मूर्त घट, पट आदि और अमूर्त वायु आदि के उत्पत्ति स्थान ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है ॥ ३ ॥

'तस्मिन् रुक्ममधःपिण्डं ब्रह्म जज्ञानमिति' (का० श्रौ० १७।४।२)। तस्मिन् पुष्करपर्णे पूर्वं कण्ठे धृतं सौवर्णं रुक्मं पिण्डस्याधस्तात् प्राङ्मुखोऽध्वर्युरुपदध्यादिति सूत्रार्थः। एतदर्थकं ब्राह्मणमग्र उद्धरिष्यते। आदित्य-देवत्या त्रिष्टुप्। प्रथमं जज्ञानम् आदौ उत्पन्नम्, जनेर्लिटः कानजादेशे रूपम्, इदं रुक्मस्वरूपं ब्रह्म परिवृढम् अत्यन्तं महदित्यर्थः। तस्य रुक्मस्य दृष्टान्तत्वेन सूर्यः प्रपञ्च्यते। पुरस्तात् पूर्वस्यां दिश्यवस्थितः, वेनः कमनीयः सूर्यः सीमतः सर्वस्यां सीम्नि सुरुचः शोभनरश्मीन् वि विशेषेण आवः आवृणोत्। अस्य रुक्मस्य उपमा उपमानभूता विष्ठा विशेषेणावस्थिताः, बुध्न्या बुध्ने मूले पृथिवीरूपे भवाः, यदा ये सन्ति तदा तानपि सेवन्ते। विवो विवृतवान् प्रकाशितवानित्यर्थः। यद्वा ब्रह्मलक्षण आदित्यो जज्ञानम् अधियज्ञं यजमानः प्रथमं पुरस्तात् प्राच्यां दिशि जायते। ततोऽनन्तरं विसीमतः सीमतो मध्यतो मर्यादातः सुरुचः सुरोचनानिमान् लोकान् वेनः कान्तो मेधावी वा आदित्यः, बुध्नमन्तरिक्षं तत्र भवा बुध्न्या दिशः, उपमा उपमीयन्ते आसु स्थितानि भूतानीत्युपमा दिशः, अस्य जगतो विष्ठा विविधं स्थानं सतश्च विद्यमानस्य मूर्तस्य स्थानम्, असतश्च अमूर्तस्य वाय्वादेर्योनिं विवा विवृणोति। आदित्य एव लोकान् दिशो भूतानि चाभिव्यनक्ति, नान्य इति स्वीयेन कर्मणा स एव स्तूयते।

अत्र ब्राह्मणम्—'ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तादिति। असौ वा आदित्यो ब्रह्माहरहः पुरस्ताज्जायते वि सीमतः सुरुचो वेन आवरिति मध्यं वै सीमेमे लोकाः सुरुचोऽसावादित्यो वेनो यद्वै प्रजिजनिषमाणोऽवेनत्त-स्माद्वेनस्तानेष सीमतो विवृण्वन्नुदेति स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठा इति दिशो वा अस्य बुध्न्या उपमा विष्ठास्ता ह्येष उपवितिष्ठते सतश्च योनिमसतश्च विवरितीमे वै लोकाः सतश्च योनिरसतश्च यच्च ह्यस्ति यच्च न तदेभ्य एव लोकेभ्यो जायते त्रिष्टुभोपदधाति त्रैष्टुभो ह्येष सादयित्वा सूददोहसाऽधिवदति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।४।१।१४)। तस्मिन् रुक्मोपधाने मन्त्रं दर्शयति—ब्रह्म जज्ञानमिति। ब्रह्म जज्ञानं प्रादुर्भूतम्। ननु जनिरिति षड्भावविकारेषु गण्यते—जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यतीति षड् भावविकाराः। औपनिषदं ब्रह्म तु विक्रियारहितम्। कथं तस्य जनिक्रियायोगो मन्त्रेण प्रतिपाद्यते? इत्याशङ्क्य व्याचष्टे—असौ वा आदित्यो ब्रह्मेति। अत्र प्रादुर्भाव एव जनेरर्थो न तूत्पत्तिः। अयमर्थः—ब्रह्म सगुणं सद् द्युलोकस्थ आदित्यो भूत्वा प्रत्यहं पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि जायते उदेति। जज्ञानमिति जनेर्लिटः 'लिटः कानज्वा' (पा० सू० ३।२।१०६) इति कानजादेशे रूपम्। द्वितीयपादे क्रमेण पदार्थानाह—मध्ये वा इति। सीमत इति पदं यत्सीमेति प्रातिपदिकं तन्मध्यमाचष्टे। सुरुचः सुष्ठु रोचन्ते सवितृप्रकाशेन दीप्यन्त इति सुरुचः पृथिव्यादिलोकाः। असावादित्यो वेन इति यद्वेनोऽसावुच्यते, तन्नामनिर्वचनं करोति—यद्वा इति। यस्मात् कारणात् प्रजिजनिषमाणः प्रजनितुं प्रादुर्भवितुमुदेतुमिच्छन्, अवेनत् कान्तियुक्तोऽभवत्, तस्माद्वेनति दीप्यत इति। अत एव यास्कोऽप्याह—'वेनो वेनतेः कान्तिकर्मणः' (निरु० १०।३८)। इत्थं पदार्थानुक्त्वा वाक्यार्थमाह—तानेष इति। तान् सुरुक्छब्दा-भिधेयान् पृथिव्यादिलोकान्, एष सूर्यः सीमतो मध्यतो व्यावो व्यावृणोद् उदयेन प्रकाशितवान्। तृतीयपादमनूद्य

व्याचष्टे—स बुध्न्या इति। बुध्नो मूलं तत्र भवा बुध्न्याः पादाः। ते चास्य सूर्यस्य दिगात्मकाः, रश्मिप्रसरण-हेतुत्वात्। ता बुध्न्यशब्दाभिधेया दिशः। उपमा उप समीपे स्वगतिभेदेन निर्मिमीत इत्युपमाः सूर्यः। तथा ता दिशोऽनुलक्ष्य वितिष्ठते विविधं पूर्वपश्चिमादिदिग्भेदहेतुत्वेनावतिष्ठत इति विष्ठाः। तिष्ठतेर्माङश्च 'आतो मनिन्क्वनिप्वनिपश्च' (पा० सू० ३।२।७४) इति विच्। एवंभूतः सूर्यः सतो लोकत्रयात्मकस्य भावरूपस्य, असतोऽभावात्मकस्य च योनिमुत्पत्तिस्थानं विवः विवृणोति। सदसच्छब्दयोश्च भावाभावपरतां व्याचष्टे—यच्च ह्यस्ति यच्च नेति। छन्दोद्वारेण प्रशंसति—त्रिष्टुभेति। त्रैष्टुभो ह्येष इति। 'गायत्री वै पृथिवी त्रैष्टुभमन्तरिक्षम्' (तै० सं० ५।२।१।१) इत्यादिश्रुतेः। द्वितीयस्थानत्वाच्चान्तरिक्षस्य त्रिष्टुप्सम्बन्धः। तत्र सञ्चरतस्त्रिष्टुप्छन्दस इन्द्रेण सहोत्पत्तेश्च इन्द्रात्मक एष सूर्योऽपि त्रैष्टुभः।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मसत्यज्ञानादिलक्षणं सीमतः सीमानं मर्यादां मध्यभागमारभ्य सुरुचः सुरोचनानिमाँल्लोकान् वि विशेषेण आवः स्वप्रकाशेन विवृतानकरोत्। कीदृशं ब्रह्म? प्रथममादौ सूर्यरूपेण पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि जायमानं प्रादुर्भूयमानम्। यद्वा सर्वप्रकाशिकाया बुद्धेरपि प्रथमं सर्वप्रकाशेभ्यः पुरस्ताद् जज्ञानं सर्वप्रकाशकत्वेन प्रसिद्धम्, 'तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मुण्डको० २।२।१०) इति श्रुतेः। किञ्च, वेनः कमनीयः सर्वप्राणिभिरिष्यमाणो बुध्न्याः बुध्ने अन्तरिक्षे भवा दिशो विवः विवृणोति। सर्वसाक्षित्वेन सूर्यरूपेण वा सतो विद्यमानस्य मूर्तस्य योनिः स्थानम्, असतोऽमूर्तस्य वाय्वादेश्च प्रभवं विवः प्रकाशयति। बुध्न्याः पुनः कीदृशीः? उपमाः, उप समीपे मान्ति भूतानि यासु ताः, सावकाशा इत्यर्थः। अत एवास्य जगतो विष्ठा विविधस्थानभूताः, विविधं तिष्ठन्ति यासु ताः।

दयानन्दस्तु—'यत् पुरस्ताद् जज्ञानं सर्वस्य जनकं विज्ञात् प्रथमं विस्तृतं विस्तारयितृ ब्रह्म सर्वेभ्यो बृहद् यः सुरुचः सुप्रकाशमानः सुष्ठु रुचिविषयश्च वेनः कमनीयः, यस्यास्य बुध्न्या बुध्न्ये जलसम्बन्धेऽन्तरिक्षे भवाः सूर्यचन्द्रपृथिवीतारकादयो लोका उपमा उपमिमते याभिस्ताः सन्ति, सर्वभावः स विसीमतः विसीमातो मर्यादातः सतश्च विद्यमानस्य व्यक्तस्य असतश्च अविद्यमानस्य अव्यक्तस्य कारणस्य च महत्त्वादेर्योनिं स्थानम् आकाशं विवो विवृणोति, तत्सर्वैरुपासनीयम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पुरस्तादित्यस्य सृष्ट्याद्यर्थत्वे मानाभावात्, 'अहरहः पुरस्ताज्जायते' (श० ७।४।१।१४) इति श्रुतिविरोधाच्च। जज्ञानं सर्वस्य जनकमित्यप्यशुद्धम्, क्रियापदविरोधात्। यः सुरुचः सुप्रकाशमानमित्यप्यसङ्गतम्, 'इमे लोकाः सुरुचः' (श० ७।४।१।१४) इति श्रुतिविरोधात्। वेनः कमनीय इत्यप्यसङ्गतम्, 'आदित्यो वेनः' (श० ७।४।१।१४) इति श्रुतिविरोधात्। प्रथममित्यस्य विस्तृतो विस्तारकर्ता चेत्यप्यसङ्गतम्, प्रसिद्धार्थत्यागे मानाभावात्। बुध्न्या अन्तरिक्षस्थाः सूर्यचन्द्रादय इत्यपि व्यर्थम्, 'दिशो वा अस्य बुध्न्याः' (श० ७।४।१।१४) इति श्रुतिविरोधात्। विष्ठा विविधस्थलस्थिता उपमा ईश्वरज्ञानदृष्टान्तभूता लोका इत्यप्यशुद्धम्, योनिं कारणं गृह्णातीत्यप्यशुद्धम्, विवो विवृणोतीति स्वव्याख्यानविरोधश्च ॥ ३ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—हिरण्यपुरुषरूप ब्रह्माण्ड में गर्भ रूप से अवस्थित प्रजापति हिरण्यगर्भ प्राणी मात्र की उत्पत्ति के प्रथम कारण हैं। वे उत्पन्न होते ही बाद में उत्पन्न हुए इस सारे जगत् के स्वामी हैं। वे ही अन्तरिक्ष, द्युलोक और भूलोक नामक तीनों लोकों का निर्माण कर उन्हें धारण करते हैं। उस प्रजापति के निमित्त हम आहुति देते हैं ॥ ४ ॥

'उत्तानं प्राञ्चꣳ हिरण्यपुरुषं तस्मिन् हिरण्यगर्भ इति' (का० श्रौ० १७।४।३)। तस्मिन् रुक्मे प्राञ्चमुत्तानं सुवर्णमयं पुरुषाकारमुपदध्यात्, ऋग्द्वयेनेति शेष इति सूत्रार्थः। हिरण्यगर्भदृष्टा प्रजापतिदेवत्या त्रिष्टुप्। हिरण्यगर्भो हिरण्ये हिरण्यपुरुषरूपे ब्रह्माण्डे गर्भो गर्भरूपेणावस्थितः समष्टिसूक्ष्मशरीराभिमानी हिरण्यगर्भः प्रजापतिः, भूतस्य प्राणिमात्रस्य अग्रे पूर्वं समवर्तत प्राणिजातोत्पत्तेः पुरा स्वयं शरीरधारी बभूव। स च जात उत्पन्नमात्र एक एव उत्पत्स्यमानस्य सर्वस्य जगतः पतिर् ईश्वरः स्वामी पालको वासीत्। अत एव पृथिवीं द्यां विस्तीर्णां दिवं दाधार धृतवान्। उतापि इमां प्रत्यक्षां भूमिं दाधार। तादृशाय कस्मै प्रजापतये देवाय वयं हविषा विधेम परिचरेम। यद्वा हिरण्यं गर्भो गर्भरूपेण ब्रह्माण्डरूपेणावस्थितः, अथवा हिरण्यं ब्रह्माण्डं गर्भे यस्य सः, सर्वस्यैव प्रपञ्चस्य चित्कवलितत्वात्। स एव पृथिवीमन्तरिक्षं द्यां द्युलोकमुतापि चेमां भूमिं दाधार धारयति। 'पृथिवीत्यन्तरिक्षनामसु' (निघ० १।३।९)।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथ पुरुषमुपदधाति। स प्रजापतिः सोऽग्निः स यजमानः स हिरण्मयो भवति ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरग्निरमृतꣳ हिरण्यममृतमग्निः पुरुषो भवति पुरुषो हि प्रजापतिः' (श० ७।४।१।१५)। रुक्ममध्ये हिरण्मयपुरुषस्योपधानं विधत्ते—अथ पुरुषमिति। स उपधेयः पुरुषः प्रजापतिः स्थूलप्रपञ्चाभिमानी विराडात्मकः, स एवाग्निः सूक्ष्मप्रपञ्चाभिमानी हिरण्यगर्भात्मकः, यजमानस्य तद्रूपप्राप्तेर्यजमानात्मकोऽपि स एवेत्यर्थः। तस्य हिरण्यविकृतित्वं विधाय स्तौति—स हिरण्मय इति। ज्योतिर्वा इति। भास्वररूपोपेतत्वाद् ज्योतिरात्मकं हिरण्यम्। तथाऽत्यन्ताग्निसंयोगेऽपि समुच्छित्त्यभावादमृतममरणस्वभावं हिरण्यम्। चीयमानोऽग्निरप्येतदुभयात्मक इति हिरण्मयत्वं युक्तम्। पुरुषरूपतामनूद्य प्रतिपादयति—पुरुषो भवतीति। हि यस्माच्चित्याग्निरूपेण संस्कर्तव्यः प्रजापतिः पुरुषविधस्तत्प्रतिरूपत्वाद् हिरण्मयस्योपधेयस्य पुरुषाकृतिर्युक्तेत्यर्थः। 'यद्वेव पुरुषमुपदधाति। प्रजापतेर्विस्रस्ताद्रम्या तनूर्मध्यत उदक्रामत्तस्यामेनमुत्क्रान्तायां देवा अजहुस्तं यत्र देवाः समस्कुर्वंस्तदस्मिन्नेताꣳ रम्यां तनूं मध्यतोऽदधुस्तस्यामस्य देवा अरमन्त तद्यदस्यैतस्याꣳ रम्यायां तन्वां देवा अरमन्त तस्माद्धि रम्यꣳ हिरम्यꣳ ह वै तद्धिरण्यमित्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवास्तथैवास्मिन्नयमेताꣳ रम्यां तनूं मध्यतो दधाति तस्यामस्य देवा रमन्ते प्राणो वा अस्य सा रम्या तनूः प्राणमेवास्मिन्नेतं मध्यतो दधाति' (श० ७।४।१।१६)। एतदेव पुरुषोपधानमनूद्य मनःप्राणाद्यात्मकसूक्ष्मशरीरस्थापनरूपेण स्तौति—यद्वेवेति। प्रजापतिर्हि पुरा विस्रस्तशरीरोऽभूत्। तथाविधात्तस्माद्रमणीया ज्ञानक्रियाशक्तिरूपा सूक्ष्मा तनूर्मध्यतः शरीरमध्याद् उदक्रामद् उद् ऊर्ध्वं निरगमत्। तस्यामूर्ध्वं निष्क्रान्तायां प्रजापतिमेनं चक्षुराद्यभिमानिनो देवा आदित्यादयः, अजहुः अत्यजन्। 'ओहाक् त्यागे' इत्यस्य रूपम्। तं तथाविधं प्रजापतिं देवास्तत्पुत्रा यत्र यस्मिन् प्रदेशे समस्कुर्वन् चित्याग्निरूपेण संस्कृतवन्तः, तत् तत्र अस्मिन् प्रजापतौ एतां निष्क्रान्तां रम्यां तनूं मध्यतोऽदधुः स्थापयाञ्चक्रुः। अस्य प्रजापतेस्तस्यां तन्वां पुरा निष्क्रान्ता इन्द्रियदेवता अरमन्त पुनः प्रविश्यातिष्ठन्नित्यर्थः। उक्तार्थोपजीवनेन हिरण्यनामनिर्वचनं करोति—तद्यदस्येति। एतस्यां हितायां स्थापितायां ज्ञानक्रियाशक्त्युपेतत्वेन रमणीयायां तन्वां यस्माद्देवा अरमन्त, तस्माद् हितेऽस्मिन् रमत इति व्युत्पत्त्या हिरम्यमिति नाम सम्पन्नम्। तदेव पारोक्ष्येण हिरण्यमित्युच्यते। 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (पा० सू० ६।३।१०९) इति रूपसिद्धिः। अत एवाह यास्कः—'हिरण्यं कस्मात्' इति प्रक्रम्य 'हितरमणं भवतीति वा' (निरु० २।१०)। एवं पुराकल्पमभिधाय प्रकृते योजयति—तथैवास्मिन्नित्यादिना। अयं यजमान एतां रम्यां तनूं मध्यतो दधाति। तस्यामस्यां देवा रमन्ते। का पुनरसौ रम्या तनूरिति तामाह—प्राणो वा अस्य सा रम्या तनूः प्राणमेवास्मिन्नेतं मध्यतो दधातीति। प्राणापानादिपञ्चवृत्त्यात्मकः प्राणोऽस्य प्रजापतेरेव रम्या तनूः, अतस्तत्स्थापनमेव कृतं भवतीति।

'तꣳ रुक्म उपदधाति। असौ वा आदित्य एष रुक्मोऽथ य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः स एष तमेवैतदुपदधाति' (श० ७।४।१।१७)। तस्य पुरुषोपधानस्याधारविशेषं विधाय स्तौति—तं रुक्म इति। यो रुक्मः पुष्करपर्णे उपहितस्तस्य मध्ये तं हिरण्मयं पुरुषमुपदध्यात्। आदित्यमण्डलात्मको ह्येष रुक्मः। आदित्यमण्डलमध्ये यो हिरण्मयः पुरुष आस्ते, स एवैष उपधीयमानो हिरण्मयः पुरुषो रुक्मरूपे आदित्यमण्डले तमेव पुरुषमुपहितवान् भवति। अत एव श्रूयते—'एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः' (छा० उ० १।६।६) इति, 'हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः' (छा० उ० १।६।६) इति च।

'उत्तानमुपदधाति। एतद्वै देवा अब्रुवन् यदि वा इमाववाञ्चा उपधास्यामः सर्वमेवेदं प्रधक्ष्यतो यद्य पराञ्चौ पराञ्चावेव तप्स्यतो यद्य सम्यञ्चावन्तरैवैतावेतज्ज्योतिर्भविष्यत्यथो अन्योन्यꣳ हिꣳसिष्यत इति तेऽर्वाञ्चमन्यमुपादधुः पराञ्चमन्यꣳ स एष रश्मिभिरर्वाङ् तपति रुक्मः प्राणैरेष ऊर्ध्वः पुरुषः प्राञ्चमुपदधाति प्राङ् ह्येषोऽग्निश्चीयते' (श० ७।४।१।१८)। तत्रोपधाने पुरुषस्योपरिमुखत्वं विधत्ते—उत्तानमुपदधातीति। तत्र आख्यायिकामाह—'एतद्वै देवा अब्रुवन्निति। यदि खलु इमौ रुक्मपुरुषौ अर्वाञ्चौ अधोमुखौ उपधास्यामः, तदोभयोस्तेजसोः संसृष्टत्वे प्रबलतरौ अधोमुखौ सन्तौ सर्वमेवेदं जगत् प्रधक्ष्यतः। यदि पराञ्चौ पराङ्मुखौ ऊर्ध्वमुखौ उपधास्यामः, तथा सति पराञ्चावेव पराङ्मुखावेव सन्तौ तप्स्यतः, अर्थात् सूर्यमण्डलाद्ये उपरितना लोकास्तत्रैव सूर्यप्रकाशः स्यात्, न त्वधस्तनेषु लोकेष्विति भावः। यदि सम्यञ्चौ परस्पराभिमुखौ रुक्मपुरुषौ उपदध्यामस्तदा एतावन्तरैव एतयोर्मध्य एव तदीयं ज्योतिर्भविष्यति। तथा च व्यवधानादुपरितनानधस्तनांश्च लोकान् न प्रकाशयेताम्। अथो अपि च अन्योन्यं हिंसिष्यतः, रुक्मस्य ज्योतिषा पुरुषज्योतिः प्रतिहन्येत, तेन च रुक्मज्योतिरिति परस्परहिंसेत्यर्थः। कथं तर्हि तावुपधेयाविति तत्राह—तेऽर्वाञ्चमिति। ते देवा अन्यम् एकं सूर्यमण्डलात्मकं रुक्मम् अर्वाञ्चमधस्तान्निर्बाधम् उपादधुः, अन्यं पुरुषं पराञ्चं पराङ्मुखमुत्तानमुपादधुरित्यनुषङ्गः। यस्मादेवं तस्मादेष मण्डलात्मकः सूर्यो रश्मिभिः किरणैरर्वाङ् अधोमुखस्तपति। स एव रुक्मात्मक एष प्राणात्मको मण्डलान्तरवर्ती पुरुषः प्राणिनां प्राणैः सह ऊर्ध्वो वर्तते। अत एवान्यत्राम्नातम्—'सोऽसौ तपन्नुदेति स सर्वेषां भूतानां प्राणानादायोदेति' (तै० आ० १।१४।१) इति। तस्य प्राङ्मुखत्वं विधाय स्तौति—प्राञ्चमिति। तमुत्तानं पुरुषं प्राञ्चं प्राङ्मुखमुपदध्यात्। हि यस्मादेवं प्राङ्मुखः प्राक्शिरस्कश्चीयते, तस्माद्धिरण्मयपुरुषस्यापि तथात्वं युक्तम्।

'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्र इति। हिरण्यगर्भो ह्येष समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीदित्येष ह्यस्य सर्वस्य भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमामित्येष वै दिवं च पृथिवीं च दाधार कस्मै देवाय हविषा विधेमेति प्रजापतिर्वै कस्तस्मै हविषा विधेमेत्येतत्' (श० ७।४।१।१९)। यत्पूर्वमुक्तमृग्द्वयेन सुवर्णमयं पुरुषाकारमुपदध्यादिति, तत्र प्रथमामृचं पादशोऽनूद्य व्याचष्टे हिरण्यगर्भ इत्यादिना। हिरण्यगर्भो ह्येष इति। एष हिरण्यपुरुषः सूर्यमण्डलान्तर्वर्ती हिरण्यगर्भः, अपञ्चीकृतभूततत्कार्याभिमानी परमेश्वरो हिरण्यगर्भः, स च हिरण्मयाण्डमध्ये गर्भवदवस्थानाद् हिरण्यगर्भ इत्युच्यते। अयमग्रे सृष्ट्यादौ हिरण्यगर्भाख्यः प्रजापतिः प्रथमं समवर्तत प्रथमशरीरी जात इत्यर्थः, 'स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते' इति स्मरणात्। एष ह्यस्येत्यादि। एष खलु हिरण्यगर्भोऽस्य सर्वस्य भूतभौतिकात्मकस्य कृत्स्नस्य जगतो जातावस्थ एव सन् एकोऽसाधारणः पतिर्नियन्ता आसीत्। एष आदित्यात्मको हिरण्यगर्भः, दिवं द्युलोकं पृथिवीं भूमिं च प्रकाशन-वर्षणादिव्यापारेण दाधार धृतवान्। कस्मै देवायेति। किंशब्दादिह निरुक्तानिरुक्तकृत्स्नजगदात्मकत्वाद् ईदृग्रूप इति निर्वक्तुमशक्यः प्रजापतिरेवोच्यते इत्याह—प्रजापतिर्वै क इति।

अध्यात्मपक्षे—हिरण्यगर्भः हिरण्यं सर्वज्ञानलक्षणं ज्योतिर्गर्भवद् यस्मिन् स सर्वज्ञः परमेश्वरः, अग्रे सृष्टेः प्राक् समवर्तत। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वयं योऽस्य भूतस्य जातः जनकः, कर्तरि क्तः, पतिरेको हिरण्यगर्भोऽग्रे समवर्ततासीत्, हिरण्यानि सूर्यादीनि ज्योतींषि गर्भे मध्ये यस्य सः, 'ज्योतिर्वै हिरण्यम्' (श० ६।७।१।१) इति श्रुतेः। स इमां सृष्टिं रचयित्वोतापि पृथिवीं प्रकाशरहितं भूगोलादिकं द्यां प्रकाशमयं सूर्यादिकं दाधार, तस्मै कस्मै सुखरूपाय देवाय परमेश्वराय हविषा विधेम, तथा यूयमप्येनं सेवध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहार-बाहुल्यात्। हिरण्यानि सूर्यादीनि तेजांसि गर्भे मध्ये यस्येत्यप्यसङ्गतम्, परमेश्वरस्य निर्विकारस्य निरवकाशस्य सूर्याद्याधारत्वायोगात्। सिद्धान्ते तु दर्पणे प्रतिबिम्बस्येव निरवकाशेऽपि चिदात्मनि सूर्याद्याधारत्वमुपपद्यते। न च तव तथा, अपसिद्धान्तापातात्। एवमन्यान्यपि दूषणान्यूह्यानि ॥ ४ ॥

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः।
समानं योनिमनु सञ्चरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—जो प्रथम उत्पन्न हुआ हिरण्यपुरुष सबका मुख्य कारण है, जिसका कोई आदि नहीं है और जो प्रसिद्ध आदित्य का रूप धारण कर अन्तरिक्ष को मनुष्य आदि के धारण के निमित्त सींचता है, द्युलोक के साथ वह भूलोक को भी आहुति के परिणाम स्वरूप रस से सींचता है, उस सम्पूर्ण स्वरूप वाले त्रिलोकी में विचरण करते हुए आदित्य को मैं सब दिशाओं में स्थापित करता हूँ ॥ ५ ॥

आदित्यदेवत्या देवश्रवोदृष्टा त्रिष्टुप्। द्रव्यान्तरसङ्घट्टनेन स्फुरितो हिरण्यपुरुषावयवलेशो द्रप्सः, स पृथिवीमन्तरिक्षमनु चस्कन्द गच्छति। स च द्रप्सो हुतः सन् स्थानत्रयेण सञ्चरति—द्युलोकेऽन्तरिक्षलोके भूलोके च। तदभिप्रेत्यैव स्मर्यते—'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥' (म० ३।७६) इति। सोऽयमर्थो द्यामित्यादिनाभिधीयते। द्यामिमं च योनिमनु अन्तरिक्ष-रूपमिदं स्थानमनु सञ्चरति। यश्च पूर्वो योऽपि पृथिवीमन्तरिक्षमनु चस्कन्देति पूर्वोक्तस्थानविशेषः, तमप्यनु-सञ्चरति। समानं सदृशं स्वस्य योग्यं योनिं द्युलोकमादित्यस्थानमनुसञ्चरति। तमिमं त्रिषु स्थानेष्वनुसञ्चरन्तं द्रप्सं जुहोमि, मनसा हुतमिव भावयामीत्यर्थः। कुत्र होम इति तदुच्यते—अनु सप्त होत्रा इति। यस्यां दिशि द्रप्सः पतितः, तद्व्यतिरिक्ताः सप्त दिशः सन्ति। तास्वनुक्रमेण जुहोमि, यथायं द्रप्सो हुत आदित्यादि-स्थानत्रये सञ्चरन्नुपकरोति, तथा भावयामीत्यर्थः। यद्वा अनुजुहोमि सप्त होत्रा इति विभक्तिव्यत्ययः। सप्तसु होत्रासु दिक्षु स्थापयामि, हिरण्यपुरुषरूपेण सर्वदिक्षु सूर्यमेव स्थापयामीत्यर्थः, 'असौ वा आदित्यो द्रप्सो दिशः सप्त होत्रा अमुमादित्यं दिक्षु प्रतिष्ठापयति' (श० ७।४।१।२०) इति श्रुतेः। पूर्वादिचतस्रो दिशः, अध एका, उपर्येका, मध्य एका चेति सप्त दिशः। उव्वटाचार्यरीत्या अस्यामृच्यादित्यः सर्वं बिभर्ति पालयतीत्युच्यते। य आहुतिपरिणामरसनिधानभूतो द्रप्स आदित्यश्चस्कन्द पृथिवीमन्तरिक्षमुदकरूपेण स्कन्दति गच्छति मनुष्यादिधारणाय, यश्च द्युलोकमनुस्कन्दति गच्छत्याहुतिपरिणामभूतेन रसेन देवादिधारणाय। इमं च य इमं योनिं स्थानं भूलोकमनुस्कन्दत्यागच्छत्याहुतिग्रहणाय, एवं समानं योनिं सर्वेषां तुल्यं स्थानं लोकत्रयमनुसञ्चरन्तं द्रप्समादित्यं सप्त होत्रा अनु सञ्जुहोमि। यद्वा यश्चेमं लोकं स्कन्दत्याहुतिग्रहणाय, यश्चानुस्कन्दति पूर्वयोनिममुं लोकं सुकृतिनां तर्पणाय, तमेव समानं योनिं स्थानमनुसञ्चरन्तं द्रप्समादित्य-मनुजुहोमीत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिति। असौ वा आदित्यो द्रप्सः स दिवं च पृथिवीं च स्कन्दतीत्यमूमितीमामिमं च योनिमनु यश्च पूर्व इतीमं च लोकममुं चेत्येतदथो यच्चेदमेतर्हि चीयते यच्चादः

पूर्वमचीयतेति समानं योनिमनु संचरन्तमिति समानᳪ ह्येष एतं योनिमनु संचरति द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्रा इत्यसौ वा आदित्यो द्रप्सो दिशः सप्त होत्रा अमुं तदादित्यं दिक्षु प्रतिष्ठापयति' (श० ७।४।१।२०)। द्वितीयामृचमनूद्य व्याचष्टे—द्रप्सश्चस्कन्देति। असौ वा आदित्य इत्यादि। द्रप्सो द्रवानुदबिन्दून् किरणैः प्साति भक्षयतीति, द्रवणेन प्सानीयो वा, द्राक् प्सानीयो वा। 'घञर्थे कविधानम्' (पा० सू० ३।३।५८.२) घञर्थे कः। पृषोदरादित्वाद् द्रादेशः। स दिवं च पृथिवीं च स्कन्दति गच्छति शोषयति वा। 'स्कन्दिर् गतिशोषणयोः' इति भौवादिकस्य रूपम्। स्कन्दनप्रकारविशेषमभिनयेन दर्शयति—इत्यमूमितीमामिति। इत्यनेनोर्ध्वगमनप्रकारेणामूं दिवं व्याप्नोति, इत्यनेन प्रकारेणाधोमुखैः किरणैः प्रकाशनेनेमां पृथिवीं व्याप्नोतीत्यर्थः। द्वितीयपादमनूद्य व्याचष्टे—इमं च योनिमिति। इमं चाहवनीयाख्यं योनिं यश्च पूर्वश्चितो गार्हपत्यः। तदुभयं द्यावापृथिव्यात्मकमसावादित्यो व्याप्नोतीत्येतदर्थपरतां व्याचष्टे—इमं च लोकमिति। लोकद्वयरूपतामुक्त्वा चितिद्वयरूपतामाह—अथो इति। अपि च, एतर्हि एतस्मिन् समये यदिदं चीयते आहवनीयाख्यं स्थानम्, यच्चादो विप्रकृष्टं गार्हपत्याख्यं स्थानं पूर्वमचीयत, एतदुभयं हिरण्मयपुरुषरूपः सूर्यो व्याप्नोतीत्यर्थः। तृतीयपादमनूद्य व्याचष्टे—समानं योनिमिति। एष सूर्यः समानमेकविधमेतं योनिं स्थानमनुलक्ष्य सञ्चरति, प्राच्यां दिश्युद्यन् एकेनैव मार्गेण प्रतिदिवसं सञ्चरतीत्यर्थः। चतुर्थपादमनूद्य व्याचष्टे—द्रप्सं जुहोमीति। तं सञ्चरन्तं द्रप्सं प्राच्यां दिश्युद्यन्तं तद्व्यतिरिक्तासु सप्तस्वपि दिक्षु जुहोमि प्रतिष्ठापयामि। 'अनुर्लक्षणे' (पा० सू० १।४।८४) इत्यनोः कर्मप्रवचनीयत्वम्, 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' (पा० सू० २।३।८) इति होत्राशब्दाद् द्वितीया। 'द्वाभ्यामुपदधाति·····' (श० ७।४।१।२१)। मन्त्रद्वित्वमनूद्य स्तौति—द्वाभ्यामिति।

अध्यात्मपक्षे—यः पूर्वः प्रथमः, मुख्य इति यावत्। द्रप्सो द्रवान् अविद्योपस्थापितान् भोगान् प्साति भक्षयतीति द्रप्सश्चिदादित्यांशो भोक्ता जीवः, पृथिवीमन्तरिक्षं द्यां द्युलोकं चानुलक्ष्य चस्कन्द गच्छति। इमं भूलोकं योनिं स्थानं चस्कन्द। एवं समानं योनिं लोकत्रयमनुसञ्चरन्तं द्रप्सं सप्त होत्रा अनुजुहोमि। सप्तसु दिक्षु स्थापयामि, उपाधितादात्म्यापोहेन सर्वव्यापकं ब्रह्म चिदादित्यरूपेणानुसन्दधामीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाहं यस्य सप्त पञ्च प्राणा मन आत्मा चेति होत्रा आदातारः, यः पृथिवीं भूमिं द्यां प्रकाशमिमं च योनिं कारणं चानु यः पूर्वो द्रप्सो हर्ष उत्साहः, 'दृप विमोहनहर्षणयोः', अनु चस्कन्द प्राप्नोति, तस्य योनिं स्थानमनु सञ्चरन्तं समानं द्रप्सं सर्वत्राभिव्याप्तमानन्दमनु जुहोमि गृह्णामि, तथैनमादत्त' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्याणां सम्बोध्यत्वस्य पञ्चप्राणमनआत्मनां सप्तहोत्रत्वस्य च निर्मूलत्वात्, 'असौ वा आदित्यो द्रप्सो दिशः सप्त होत्राः' इत्यादिश्रुतिविरोधाच्च ॥ ५ ॥

नमो॑ऽस्तु स॒र्पेभ्यो॒ ये के च॑ पृथि॒वीमनु॑।
ये अ॒न्तरि॑क्षे॒ ये दि॒वि तेभ्यः॑ स॒र्पेभ्यो॒ नमः॑ ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—पृथ्वी के अनुगत जो नक्षत्र आदि लोक हैं, उनके निमित्त मेरा नमस्कार। जो लोक अन्तरिक्ष में वर्तमान हैं, जो सम्पूर्ण द्युलोक में आश्रित हैं, उन नक्षत्रों के निमित्त भी मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ६ ॥

'उपतिष्ठते यजमानो नमोऽस्त्विति' (का० श्रौ० १७।४।६)। यजमानो हिरण्यपुरुषं पश्यन् इत आरभ्य ऋक्त्रयं पठेदिति सूत्रार्थः। सर्पदेवत्यास्तिस्रोऽनुष्टुभः। ये केचित् सर्पाः पृथिवीमनुगतास्तेभ्यः सर्पेभ्यो

नमोऽस्तु। अन्तरिक्षलोके वर्तमाना ये सर्पा दिवि द्युलोके वा वर्तमाना वासुकिप्रभृतयस्तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः। यद्वा ये के च ये केचित् सर्पाः सर्पन्तीति सर्पा लोकाः, 'इमे वै लोकाः सर्पाः' (श० ७।४।१।२५) इति वक्ष्यमाणश्रुतेः सर्पशब्देन लोका उच्यन्ते।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथ सर्पनामैरुपतिष्ठते। इमे वै लोकाः सर्पास्ते हानेन सर्वेण सर्पन्ति यदिदं किञ्च सर्वेषामु हैष देवानामात्मा यदग्निस्ते देवा एतमात्मानमुपधायाबिभयुर्यद्वै न इमे लोका अनेनात्मना न सर्पेयुरिति' (श० ७।४।१।२५)। 'त एतानि सर्पनामान्यपश्यन्। तैरुपातिष्ठन्त तैरस्मा इमाँल्लोकानस्थापयंस्तैरनमयन् यदनमयंस्तस्मात् सर्पनामानि तथैतद्यजमानो यत् सर्पनामैरुपतिष्ठत इमानेवास्मा एतल्लोकान् स्थापयतीमाँल्लोकान्नमयति तथो हास्यैत एतेनात्मना न सर्पन्ति' (श० ७।४।१।२६)। यजमानकर्तृकं हिरण्यपुरुषस्योपस्थानं विधत्ते—अथ सर्पनामैरिति। नमोऽस्तु सर्पेभ्य इत्याद्याः सर्पनामाख्या मन्त्राः। अथैतत्सर्पनामभिरुपस्थानं लोकत्रयस्थापनहेतुत्वेनाख्यायिकया प्रतिपादयति—इमे वै लोका इत्यादिना। यदिदं लोकत्रयवर्ति किमपि प्राणिजातमस्ति, अनेन सर्वेण सह पृथिव्यादयस्ते लोकाः सर्पन्ति। तस्मात् सर्पणनिमित्तात् सर्पशब्दाभिधेया लोका इत्यर्थः। तथा चित्याग्निरिति यदस्ति एष एव खलु सर्वेषां देवनामात्मा। अतस्ते देवा एनमात्मानं हिरण्मयपुरुषमुपधायाबिभयुर्भयं प्राप्ताः। यद्वै न इत्यादिना भयस्वरूपप्रतिपादनम्। यदि खलु नोऽस्माकमनेनात्मना सह इमे लोका न सर्पेयुस्तर्हि अस्मदीयस्यात्मनो लोकसम्बन्धविरहाद् आश्रयो न स्यादित्येवं भीतास्ते देवा एतानि 'नमोऽस्तु' इत्यादीनि सर्पनामान्यपश्यन्, दृष्ट्वा च तैरुपस्थानं कृतवन्तः। तेन चोपस्थानेनास्मै हिरण्मयपुरुषरूपायाग्नये इमान् पृथिव्यादिलोकान् अस्थापयन्, तैः स्थापितैर्लोकैरनमयन् वशीकृतवन्तः। यदनमयन्निति सर्पनामाख्यानिर्वचनम्। सर्पाणां नमनहेतुत्वाच्च सर्पनामानीत्यर्थः। तथैवैतदित्यादिनाख्यायिकया सिद्धार्थस्य दार्ष्टान्तिके योजनम्। सर्पनामभिरुपस्थाने सत्यस्य यजमानस्य एते लोका एतेन चित्याग्निरूपेण आत्मना न सर्पन्ति, किन्त्ववतिष्ठन्त इत्यर्थः।

'यद्वेव सर्पनामैरुपतिष्ठते। इमे वै लोकाः सर्पा यद्धि किञ्च सर्पत्येष्वेव तल्लोकेषु सर्पति तद्यत्सर्पनामैरुपतिष्ठते यैवैषु लोकेषु नाष्ट्रा यो व्यध्वरो या शिमिदा तदेवैतत्सर्वꣳ शमयति' (श० ७।४।१।२७)। तदेव प्रकारान्तरेण स्तौति—यद्वेवेति। यदिदं किञ्च स्थावरजङ्गमात्मकं प्राणिजातमस्ति, तत्सर्वमेष्वेव लोकेषु सर्पति चलति, अतः सर्पणाधिकरणत्वात् सर्पा लोकाः। तत् तथा सति सर्पनामाख्यैर्मन्त्रैरुपतिष्ठत इति यदस्ति, तत् तेन एष्वेव लोकेषु वर्तमानं नाष्ट्रादिकं शमयति। नाष्ट्रा नाशकारिणी आसुरी प्रजा। व्यध्वरो व्यधनशीलो दन्दशूकादिः। शिमिदा विषहेतुर्लूतावृश्चिकादिः। 'नमोऽस्तु सर्पेभ्यः। ये के च पृथिवीमनु ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नम इति य एवैषु त्रिषु लोकेषु सर्पास्तेभ्य एतन्नमस्करोति' (श० ७।४।१।२८)। तत्र प्रथमं सर्पनाममन्त्रमनूद्य तात्पर्यं व्याचष्टे—नमोऽस्त्वित्यादिना। एषु त्रिषु लोकेषु ये सर्पणशीला दन्दशूकाद्याः प्राणिनस्तेभ्य एतन्नमस्करोतीति मन्त्रार्थः। 'पृथिवीमनु' इत्यत्र 'अनुर्लक्षणे' (पा० सू० १।४।८४) इत्यनोः कर्मप्रवचनीयत्वम्। 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' (पा० सू० २।३।८) इत्यनेन पृथिवीमित्यत्र द्वितीया।

अध्यात्मपक्षे—सार्वात्म्यविवक्षया परस्यैकस्यैव सर्पणशीलत्वादिविविधरूपतां दन्दशूकादिरूपेण प्रदर्श्य तेभ्यो नमस्करणम्। तेषां च देवविशेषत्वेन पृथिव्यां दिव्यन्तरिक्षे च सर्पणं सम्भवत्येव।

दयानन्दस्तु—'ये के चात्र सर्पाः सन्ति तेभ्यो नमोऽन्नमस्तु। ये चान्तरिक्षे ये दिवि ये च पृथिवीमनुसर्पन्ति तेभ्यः सर्पेभ्यो नमोऽन्नमस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, दिव्यन्तरिक्षे च के जीवाश्चरन्ति, कथं च तेभ्योऽन्नं केन दीयत इत्याद्यनुक्तेः। शतपथब्राह्मणसङ्गतिस्तूक्तैव ॥ ६ ॥

या इषवो यातुधानानां ये वा वनस्पतीँ२ रनु ।
ये वाऽवटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—राक्षस गणों के साथ जो सर्प बाण रूप से रहते हैं, या जो सर्प चन्दन, वृक्ष आदि वनस्पतियों के आश्रित हैं और जो बिलों में शयन करते हैं, उन सबको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ७ ॥

याः सर्पजातयो यातुधानानां यातुं यातनां तीव्रवेदनां परेषां कृते दधति ये ते यातुधाना रक्षःप्रभृतयः, तेषामिषवो बाणरूपेण वर्तन्ते । ये चान्ये वनस्पतीन् चन्दनादिवृक्षान् अनुवेष्ट्य स्थिताः, ये चान्येऽवटेषु बिलेषु शेरते, तेभ्यः सर्पेभ्यो नमोऽस्तु ।

अत्र ब्राह्मणम्—'या इषवो यातुधानानामिति । यातुधानप्रेषिता हैके दशन्ति ये वा वनस्पतीँ२रनु । ये वाऽवटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नम इति ये चैव वनस्पतिषु सर्पा ये चाऽवटेषु शेरते तेभ्य एतन्नमस्करोति' (श०७।४।१।२९) । स्पष्टार्थं ब्राह्मणम् ।

अध्यात्मपक्षे—सार्वात्म्यप्रदिदर्शयिषया तत्तत्सर्पाद्यात्मना स्थिताय परमात्मन एवैतन्नमस्करणम् ।

दयानन्दस्तु—हे मनुष्याः, यूयं या यातुधानानां ये यान्ति परपदार्थान् दधति तेषामिषवो गतयः, ये वा वनस्पतीननु वर्तन्ते, ये वावटेषु शेरते, तेभ्यश्चञ्चलदुष्टप्राणिभ्यो नमो वज्रं प्रक्षिपत' इति, तदपि न सङ्गतम् । अनेके महात्मानो वनस्पतीनाश्रित्य तिष्ठन्ति, अवटेषु लोके 'भूइंधरा' इत्याख्येषु च शेरते, तेषां कृते वज्रप्रहारोपदेशस्यासङ्गतत्वात् । न च केचनापि सर्पाः परधनापहारिणामिषवो गतयो भवन्ति, जीवानां गतिरूपत्वायोगात्, 'यातुधानप्रेषिता हैके दशन्ति' इति श्रुतिविरोधाच्च ॥ ७ ॥

ये वामी रोचने दिवो ये वा सूर्यस्य रश्मिषु ।
येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—जो सर्प सम्पूर्ण द्युलोक के दीप्तिमय स्थान में हैं, जो हमें नहीं दिखाई पड़ते अथवा जो सूर्य की किरणों में निवास करते हैं, जिन्होंने जल में अपना स्थान बनाया है, उन सभी प्रकार के सर्पों को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ८ ॥

दिवो द्युलोकस्य रोचने दीप्तस्थाने ये चामी सर्पा अस्माभिरदृश्यमानाः सन्ति, तथा सूर्यस्य रश्मिषु ये सर्पा वसन्ति, येषां सर्पाणामप्सु जलेषु सदः स्थानं कृतम्, तेभ्यः सर्पेभ्यो नमोऽस्तु, 'रोचनो ह नामैष लोको यत्रैष एतत्तपति' (श० ७।१।१।२४) इति श्रुतेः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'ये वामी रोचने दिवः । ये वा सूर्यस्य रश्मिषु येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नम इति यत्र यत्रैते तदेवैभ्य एतन्नमस्करोति नमो नम इति यज्ञो वै नमो यज्ञेनैवैनानेतन्नमस्कारेण नमस्यति तस्मादु ह नायज्ञियं ब्रूयान्नमस्त इति यथा हैनं ब्रूयाद्यज्ञस्त इति तादृक् तत्' (श० ७।४।१।३०) । तृतीयं सर्पनाममन्त्रमनूद्य मन्त्रत्रयतात्पर्यं व्याचष्टे—ये वामीति । सर्वत्र वाशब्दश्चार्थे । दिवो द्युलोकस्य सम्बन्धिनि रोचने रोचमाने स्थाने ये च अमी सर्पाः सूर्यस्य रश्मिषु च ये वर्तन्ते, येषां सर्पाणामप्सु उदकमध्ये सदः सदनं स्थानं कृतमस्ति, तेभ्यः सर्पेभ्यो नम इति । यत्र यत्रेत्यादिना मन्त्रत्रयतात्पर्यकथनम् । यत्र यत्र देशे एते सर्पा वर्तन्ते, तत्र तत्रैव एभ्यः सर्पेभ्यो नमो नम इति त्रिष्वपि मन्त्रेषु पठितानां नमःशब्दानां संग्रहार्था पुनरुक्तिः । नमो नम इति पुनः पुनर्नमः-

शब्दप्रयोगेण एतान्नमस्करोति । नमस्कारं स्तौति—यज्ञो वै नम इति । देवतोद्देश्येन द्रव्यत्यागो यज्ञः, स यथा देवताप्रीतिकरस्तद्वन्नमस्कारोऽपीति तस्य यज्ञात्मकता । तथा च यज्ञात्मकेन नमस्कारेण एतान् सर्पान् नमस्यति पूजयति । नमसः पूजायामर्थे 'नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्' (पा० सू० ३।१।१९) इति क्यचि रूपम् । प्रासङ्गिकं किञ्चिदाह श्रुतिः—तस्मादिति । यस्मादेवं नमस्कारप्रतिपादको नमःशब्दोऽपि यज्ञात्मकः प्रयुज्यते, तस्मादेव कारणाद् अयज्ञियं यज्ञानर्हं हे देवदत्त नमस्तुभ्यमित्येवं न ब्रूयात् । कथं तर्हि ब्रूयात् ? 'भो देवदत्त नमस्ते' इत्येव ब्रूयात् । तस्य वचनस्य यज्ञियत्वमाविष्करोति—यथा खल्वेनमतिथिं ब्रूयाद् यज्ञस्ते कल्पित इति तादृक् तत्सदृशमेव तन्नमस्ते इति वचनम् ।

अध्यात्मपक्षे—परस्यैव सर्वात्मत्वदिदर्शयिषया पूर्ववदेव व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, येऽमो दिवो विद्युतो रोचने दीप्तौ सूर्यस्य रश्मिषु येषां वाप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो दुष्टप्राणिभ्यो नमो वज्रं दत्त' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणात्, पूर्वोक्तशतपथश्रुति-विरोधाच्च ॥ ८ ॥

कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ२इभेन ।
तृष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानोऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप शत्रुओं का नाश करने वाले हो, आप उनकी तरफ बढ़ो । जैसे सहायवान् राजा हाथी पर चढ़कर शत्रुओं पर आक्रमण करता है, वैसे ही तुम आगे बढ़ो । पक्षियों को पकड़ने के लिये जैसे जाल बिछाया जाता है, वैसे ही तुम अपने बल का विस्तार करो, मजबूत जाल में शत्रुओं को फँसाने वाले राक्षसों को तुम शिक्षा दो ॥ ९ ॥

'उपविश्य पञ्चगृहीतं जुहोति पुरुषे कृणुष्व पाज इति प्रत्यृचं प्रतिदिशं परिसर्पम्' (का० श्रौ० १७।४।७) । अध्वर्युराज्यं संस्कृत्य पञ्चगृहीतमादायात्मानमारुह्य पुरुषान्तिके उपविश्य प्रतिदिशं गत्वा पुरुषस्योपरि पञ्चभिर्जुहोतीति सूत्रार्थः । पञ्चगृहीतमाज्यं हिरण्मये पुरुषे कृणुष्व पाज इत्यादिभिः पञ्चभिर्ऋग्भिः क्रमेण प्रागाद्यूर्ध्वान्तं पञ्चदिशोऽभिलक्ष्य जुहुयादित्यर्थः । वामदेवदृष्टा राक्षोघ्नाः प्रतिसरा अग्निदेवत्याः पञ्च त्रिष्टुभः । प्रतिसरशब्देनाग्निदेवत्या रक्षोघ्ना मन्त्रा उच्यन्ते । 'पाज इति बलनामसु' (निघ० २।९।२) । हे अग्ने, पाजो बलं कृणुष्व कुरुष्व । तत्र दृष्टान्तः—पृथ्वीं विशालां प्रसितिं न प्रसितिमिव । प्रसितिर्जालम्, 'पाजः पालनात्''''प्रसितिः प्रसयनात् तन्तुर्वा जालं वा' (निरु० ६।१२) इति यास्कोक्तेः, 'षिञ् बन्धने' प्रसीयन्ते प्रबध्यन्ते पक्षिणो मृगा वा यया सा प्रसितिः, ताम् । नकार इवार्थकः । अर्थाद् मृगबन्धनहेतुभूतां वागुरामिव पृथ्वीं प्रसारितामतोऽनन्तरं याहि । पक्षिग्रहणाय प्रसारितं जालमिव शत्रुग्रहणाय बलं प्रसारयेत्यर्थः । ततो राजेव नृप इव अमवान् सहायवान् इभेन गजेन याहि शत्रून् प्रति गच्छ । अमन्तीत्यमाः सेवकाः । 'अम् गत्यादिषु' आदिशब्देन गतेः परयोः शब्दसम्भक्तिरूपयोरर्थयोर्ग्रहः, 'अम् गतौ शब्दे सम्भक्तौ च' इति तात्पर्यार्थः । अमाः सन्ति यस्यासौ अमवान् । तृष्वीं क्षिप्रगामिनीम् । 'तृष्विति क्षिप्रनामसु' (निघ० २।१५।१०) । प्रसितिं प्रकृष्टसेनां द्रूणानो हिंसन् । 'द्रूञ् हिंसायाम्' द्रूणीतेऽसाविति द्रूणानः, शानच्प्रत्ययः । अस्ता शत्रूणां क्षेप्तासि, अतो रक्षसो राक्षसान् तपिष्ठैरतिसन्तापकैर्बाणैर्विध्य ताडय । अर्थाद् हे अग्ने, मृगबन्धनाय प्रसारितां पृथ्वीं च वागुरां रक्षोनिरोधाय प्रौढबलां कुरु । अमात्ययुक्तो गजेन सहितो राजेव रक्षसामुपरि याहि । क्षिप्रगामिनीं परकीय-सेनामनु पृष्ठतो गत्वा पलायनविशिष्टायां धावयिता भव । पलायमानान् राक्षसान बाणैस्तीक्ष्णैर्विध्य ।

यद्वा—हे अग्ने, पृथिवीं विशालां प्रसितिं वागुरामिव पृथुजालमिव वा बलं कुरुष्व अमवान् अमात्मवान् भूत्वा अभ्यमनवान् वा अभ्यमनं शत्रूणां भयादप्रतिपक्षकरणम्। गृहवान् वा भूत्वा शत्रून् प्रति इभेन हस्तिना तद्रूपेण बलेन वा राजेव याहि। तृष्वीमनुप्रसितिं द्रूणानस्तृष्व्या प्रसित्या शत्रून् हिंसन्। विभक्तिव्यत्ययः। यतश्च त्वं तृष्व्या क्षिप्रया प्रसित्या तन्तुना जालेन वा द्रूणानो हिंसन् अस्ता क्षेप्ता असि विकटः कृतास्त्रोऽसि, अतो ब्रवीमि विध्य ताडय छिन्धि रक्षसो राक्षसान् तपिष्ठैस्तप्ततमैः प्रहारैः। यद्वा अतीव तप्ततमैरतिशयेन क्लेशकरैर्बाणादिभिः। पक्षिग्रहणाय प्रसारितं जालमिव शत्रुग्रहणाय बलं प्रसारय। ततो राजेव नृप इव अमात्यादिसेवकयुक्तराजेव याहि। अस्ता शत्रूणां क्षेप्तासि, अतो रक्षसो विध्य ताडय। तपिष्ठैः तपन्ति तापयन्ति वेति तप्तृणि, अतिशयेन तप्तृणि तपिष्ठानि, तैस्तादृशैरायुधैः, तृष्व्या क्षिप्रया प्रसित्या वागुरयेव अनुद्रूणानः शत्रून् मारयन्निति मन्त्रार्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमुपविश्याभिजुहोति। आज्येन पञ्चगृहीतेन तस्योक्तो बन्धुः सर्वतः परिसर्पꣳ सर्वाभ्य एवैनमेतद्दिग्भ्योऽन्नेन प्रीणाति' (श० ७।४।१।३२)। अभिहोमं विधत्ते—अथैनमिति। एनं हिरण्मय-पुरुषम् अभिजुहोति अभितः सर्वासु दिक्षु उपरिहोमेन संस्कुर्यात्। तत्र द्रव्यं विधत्ते—आज्येनेति। आहुति-पञ्चकार्थं पञ्चगृहीतमाज्यं स्रुचि गृहीत्वा तेनाभिजुहुयादित्यर्थः। सर्वतः परिसर्पं तां तां दिशं परिक्रम्य। आभीक्ष्ण्ये णमुल्। परिसर्पणस्य प्रयोजनमाह—सर्वाभ्य इति। सर्वाभ्यो दिग्भ्यः सकाशादेनं पुरुषमन्नेन प्रीणाति। 'यद्वेवैनमभिजुहोति। एतद्वै देवा एतमात्मानमुपधायाबिभयुर्यद्वै न इममिह रक्षाꣳसि नाष्ट्रा न हन्युरिति त एतान् राक्षोघ्नान् प्रतिसरानपश्यन् कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीमिति राक्षोघ्ना वै प्रतिसरास्त एतैः प्रतिसरैः सर्वाभ्यो दिग्भ्यो रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहत्याभयेऽनाष्ट्र एतमात्मानꣳ समस्कुर्वत तथैवैतद्यजमान एतैः प्रतिसरैः सर्वाभ्यो दिग्भ्यो रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहत्याभयेऽनाष्ट्र एतमात्मानꣳ संस्कुरुते' (श० ७।४।१।३३)। मन्त्रविध्यर्थमनुवदति—यद्वेवैनमिति। कृणुष्व पाज इत्याद्यान् राक्षोघ्नान् पञ्च मन्त्रान् विधातुमाख्या-यिकामाह—एतद्वै देवा इति। यद्वै न इममिति। नः अस्माकम् इमम् आत्मानम् इह अस्मिन्नवसरे नाष्ट्रा रक्षांसि यद् येनोपायेन न हन्युः, स उपायः क इति विचारितवन्त इत्यर्थः। राक्षोघ्नान् प्रतिसरानित्यादि। राक्षसान् प्रति अस्त्ररूपेण सरन्ति गच्छन्तीति प्रतिसराः 'कृणुष्व पाजः' इत्याद्या मन्त्राः। प्रसिद्धौ वैशब्दः। सा च 'अस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः' इत्यादि मन्त्रवर्गैरवसेया। तथैवैतदित्यादिना उक्तार्थदृष्टान्तमुखेनाभिहोममन्त्रविधिः। 'आज्येन जुहोति। वज्रो वा आज्यं वज्रेणैवैतद्रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहन्ति पञ्चगृहीतेन पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चर्तवः....संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैतद्रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहन्त्याग्नेयीभिरग्निर्वै ज्योती रक्षोहाऽग्निनैवैतद्रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहन्ति त्रिष्टुब्भिर्वज्रो वै त्रिष्टुब् वज्रेणैवैतद्रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहन्ति सर्वतः परिसर्पꣳ सर्वाभ्य एवैतद्दिग्भ्यो रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहन्ति' (श० ७।४।१।३४)। मन्त्रद्वारा रक्षोहननहेतुतां प्रतिपाद्य द्रव्यमुखेनापि तत्प्रतिपादयति—वज्रो वा इति। 'घृतं खलु वै देवा वज्रं कृत्वा सोममघ्नन्' (तै० सं० ६।२।२) इति तैत्तिरीयके प्रसिद्धं घृतस्य वज्ररूपत्वमत्र वैशब्दो द्योतयति। आज्यस्य अग्निज्वालाहेतुत्वादपि वज्रत्वम्। पञ्चर्तवः संवत्सर इति हेमन्तशिशिरयो-र्मासाभिप्रायेण। मन्त्रदेवताद्वारेणार्थं प्रशंसति—आग्नेयीभिरिति। छन्दोद्वारेण स्तौति—त्रिष्टुब्भिरिति।

'पश्चादग्नेः प्राङासीनः। अथोत्तरतो दक्षिणाथ पुरस्तात् प्रत्यङ्ङथ जघनेन परीत्य दक्षिणत उदङ्ङासीन-स्तद्दक्षिणावृत् तद्धि देवत्राऽथानुपरीत्य पश्चात् प्राङासीनस्तथो हास्यैतत् प्रागेव कर्म कृतं भवति' (श० ७।४।१।३५)। पश्चादग्नेरित्यादिना परिसर्पणप्रकार उच्यते। अग्नेः पश्चात् प्रतीच्यां दिशि प्राङ्मुख उपविष्टः सन् प्रथमेन मन्त्रेण पुरुषमभिजुहोति। अथोत्तरभागे दक्षिणामुख उपविष्टः सन् द्वितीयेन

मन्त्रेणाभिजुहोति। अथ पुरस्तात् प्राच्यां दिशि प्रत्यङ्मुख उपविष्टस्तृतीयेन मन्त्रेण। अथ यथेतं प्रतिनिवृत्य जघनेन परीत्य पुरुषस्य पश्चाद्भागेन परिक्रम्य दक्षिणतो दक्षिणस्यां दिश्युदङ्मुख उपविष्टश्चतुर्थेन मन्त्रेणाभिजुहोति। तद्दक्षिणावृदिति। एवं क्रियमाणे सति होमस्य प्रादक्षिण्येन वृत्तिरुपपन्ना भवति। तत्खलु प्रादक्षिण्यं देवत्रा देवसम्बन्धिनि कर्मणि योग्यम्। अथ अनन्तरम् अनुपरीत्य दक्षिणदिक्सकाशात् प्रतीचीं दिशं गत्वा तत्र प्राङासीनः पञ्चमेन मन्त्रेणाभिजुहुयात्। तथैवं सति ह्यस्यैतदभिहोमाख्यं कर्म प्रागपवर्गं कृतं भवति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, प्रशस्ताङ्गवान् श्रीराम, पृथिवीं विशालां प्रसृतिं वागुरामिव पाजो वानरर्क्षबलं कुरुष्व। ततोऽमवान् सुग्रीवजाम्बवदादिसहायवान् राजेव इभे इभेन, विभक्तिव्यत्ययः, इभकोटिप्रबलेन हनूमता शत्रून् रावणादीन् याहि। यतस्त्वममोघबाणानामस्ता प्रक्षेप्तासि, तृष्वीं क्षिप्रसितिं वेगवतीं वागुरां शत्रुबन्धनहेतुभूतां शत्रुसेनां वा द्रूणानो हिंसन् तपिष्ठैरतिशयेन सन्तापकैरायुधैः रक्षसो रावणप्रभृतीन् विध्य ताडय, विनाशयेत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे सेनापते, त्वं पाजो बलं कृणुष्व। प्रसृतिं जालं न इव पृथिवीं भूमिं याहि। यतस्त्वमस्ता प्रक्षेप्तासि, तस्मादिभेन हस्तिना अमवान् अमा अमात्या बहवः सचिवा विद्यन्ते यस्य स भवान् राजेव तपिष्ठैरतिशयेन सन्तापकरैः शस्त्रैः प्रसितिं जालं संसाध्य रक्षसश्च द्रूणानो हिंसन् तृष्वीं क्षिप्रगतिमनु विध्य ताडय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सेनापतेः सम्बोधने मानाभावात्, अमशब्दस्य सचिवार्थकत्वे मूलाभावात्, शतपथश्रुतिविरोधश्च ॥ ९ ॥

तव॑ भ्र॒मास॑ आशु॒या प॑त॒न्त्यनु॑स्पृश धृष॒ता शोशु॑चानः।
तपू॑ᳪंष्यग्ने जु॒ह्वा॒ पत॒ङ्गानस॑न्दितो॒ वि सृ॑ज॒ विष्व॑गु॒ल्काः ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ— हे अग्नि देवता, आपकी जो शीघ्रगामी ज्वालाएँ पवन से इधर-उधर चलायमान होती हैं, उस प्रगल्भ ज्वालासमूह से प्रकाशमान आप तपाने वाले राक्षसों और पक्षियों को जला डालो। स्रुचा से हूयमान अखण्डित होकर आप सर्वत्र तिरछी, ऊँची-नीची ज्वालाओं को राक्षसों के नाश के लिये छोड़ो, पतंगों के समान राक्षस आपमें प्रविष्ट होकर नष्ट हो जाँय ॥ १० ॥

हे अग्ने, तव ये भ्रमासो भ्रमणशीला विस्फुलिङ्गा वातोद्धूता ज्वालासमूहा वा आशुया आशवः शीघ्रगमनाः। आशुशब्दात् परस्य जसः 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इत्यादिना यादेशः। अथवा आशु यान्तीत्याशुयाः शीघ्रयातारः, पतन्ति गच्छन्ति, तैर्भ्रमैस्तपूंषि तपन्ति सन्तापयन्तीति तपूंषि तापयितॄणि रक्षांसि तानि पतङ्गान् पतन्तः सन्तो गच्छन्तीति पतङ्गाः पिशाचास्तांश्च अनुस्पृश स्पर्शनं कुरु, ज्वालाभिस्तान् दहेत्यर्थः। कीदृग्भूतस्त्वम्? धृषता प्रगल्भेन ज्वालौघेन शोशुचानः, अत्यन्तं शुच्यते वैरूप्यादिनिराकरणेन पूतीभवतीति शोशुच्यते, शोशुच्यत इति शोशुचानो देदीप्यमानः। 'ईशुचिर पूतीभावे' इति दैवादिकाद् यङन्तात् शानच्। जुह्वा स्रुचा हूयमान इति शेषः। असन्दितः अखण्डितः सन् विष्वक् सर्वतस्तिर्यग् ऊर्ध्वमधश्च उल्का ज्वाला रक्षोविघाताय विसृज विविधरूपेण उत्पादय। 'दोऽवखण्डने' इत्यस्य निष्ठायां दितः, सम्पूर्वकः सन्दितः, नञ्समासे असन्दितः। छन्दस्त्वात् ल्यबभावः। इत्युव्वटाचार्यो महीधराचार्यश्च।

अध्यात्मपक्षे—'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठो० १।२।१५) इति रीत्या श्रीरामरूपेणावतीर्णः परमात्मैवात्राग्निपदेन सम्बोध्यते। हे अग्ने, खलवनदवाग्ने! ये तव भ्रमासो भ्रमणशीला वानरभटा आशुयाः

शीघ्रगमना मनोजवा राक्षसेषु पतन्ति तैः पतङ्गान् पतन्तो गच्छन्ति ये ते पतङ्गास्तान् पिशाचांश्च तपूंषि तापयितॄणि रक्षांसि शत्रूंश्च अनुस्पृश सन्दह । धृषता धृष्टेन प्रगल्भेन वानरर्क्षभटसमूहेन शोशुचानो भृशं देदीप्यमानः स्रुचा स्रुगादिभिर्बह्वा समर्च्यमान इति शेषः । असन्दितः अखण्डितः, विष्वक् सर्वतः, उल्का विद्युत्पातानिव बाणसमूहान् विसृज रक्षोविघातायेत्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने सेनापते, शोशुचानो भृशं पवित्राचरणस्त्वं ये तव भ्रमासो भ्रमणशीला वीरा यथा विष्वक् सर्वत आशयाः शीघ्रगमना उल्का विद्युत्पातास्तथा शत्रुषु पतन्ति, तान् धृषता दृढेन सैन्येन अनुस्पृश अनुगतो भव । असन्दितः अखण्डितः सन् जुह्वा आज्यहवनसाधनतया अग्नेः अग्निरिव वर्तमानस्तपूंषि तापा इव शत्रूणामुपरि सर्वतो विततो विसृज । पतङ्गान् सुशिक्षितानश्वान् कुरु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य अप्रामाणिकत्वात्, 'धृषता' इत्यस्य दृढेन सैन्येनेति व्याख्यानस्य निर्मूलत्वात्, निघण्टुरीत्या पतङ्गशब्दस्याश्वार्थकत्वेऽपि 'सुशिक्षितान् कुरु' इत्यस्य निर्मूलत्वात् ॥ १० ॥

प्रति स्पशो विसृज तूर्णितमो भवा पायुर्विशो अस्या अदब्धः ।
यो नो दूरे अघशꣳसो यो अन्त्यग्ने मा किष्टे व्यथिरादधर्षीत् ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ— हे अग्निदेवता, हमारा दूर देश में जो शत्रु स्थित है, अथवा वर्तमान में निकट है, आप उसकी तरफ तीव्र गति से बढ़कर उसे बाँध लो । आप हमारी प्रजा के रक्षक बनो । कोई भी शत्रु आपको पराजित न कर सके ॥ ११ ॥

अत्र तृतीयपादस्य प्रथमं व्याख्यानम्, यच्छब्दयोगात् । यः अघशंसः अघं पापं शंसतीच्छतीति तथाविधः, अस्मद्द्रोही अथवा अघस्य पापस्य शंसः शंसक उत्कीर्तकः कश्चन दुर्जनो दूरे वसतीति शेषः । यश्च अन्ति समीपे वसति तं प्रति हे अग्ने ! स्पशः स्पशन्ति बध्नन्तीति स्पशस्तान् 'स्पश बाधनस्पर्शनयोः' इति भौवादिकस्य रूपम् । प्रणिधीन् गुप्तघातकान विसृज प्रेरय । अपि च, अस्या अस्मदीयाया विशः प्रजायाः पायुः पालको भव । पातीति पायुः । कीदृशस्त्वम् ? तूर्णितमः, तूर्णं वेगोऽस्यास्तीति तूर्णी, अतिशयेन तूर्णी तूर्णितमो वेगवत्तरः । अदब्धः अनुपहिंसितः । एवं चेत्थमस्मदनुग्रहार्थं प्रवृत्तस्य ते मा किः मा कश्चिद् इत्यस्य स्थाने 'किः' इति प्रयोगश्छान्दसः । अथवा माकिरित्यव्ययपदं परिवर्जने । व्यथिः व्यथयतीति व्यथिः पीडकः शत्रुः । आदधर्षीद् मा धाष्टर्यं कार्षीत् । अर्थाद् दूरस्थान् समीपस्थांश्चास्मच्छत्रून् प्रति त्वरितं बन्धकान् प्रेरय । केनाप्यहिंसितोऽस्मत्प्रजापालको भव, राक्षसाश्च त्वां प्रति धृष्टा मा सन्त्वित्यर्थः । 'ञिधृषा प्रागल्भ्ये' इति लुङि छान्दसं द्वित्वम्, अडभावश्च माङ्योगादिति काण्वभाष्ये सायणः । अघशंसः पापस्योत्कीर्तको दुर्जन इत्युव्वटाचार्यः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने निशाचरचमूदाहक रामचन्द्र, नोऽस्माकं दूरे बाह्यो योऽघशंसश्चौरादिः, यश्चान्ति समीपे अघशंसः कामादिरनिष्टेच्छुः शत्रुरस्ति, तं प्रति स्पशो बन्धनकृतः प्रणिधीन् विसृज । तूर्णितमः अतिशयं त्वरन् अदब्धः कस्याप्यनुपहिंसितो विशः प्रजायाः पायू रक्षको भवा भव । हे भगवन्, एवमस्माकमनुग्रहे प्रवृत्तस्य ते तव व्यथिर्व्यथयिता शत्रुः, मा किः मा कश्चिद् आदधर्षीत् प्रत्यनीको भवतु ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने अग्निवच्छत्रुदाहक, ते तव नोऽस्माकं च यो व्यथिर्व्यथकः शत्रुः, अघशंसः योऽघं पापं कर्तुं शंसति स स्तेनः, दूरे विप्रकृष्टे अन्ति निकटेऽस्ति, यथा सोऽस्मान् माकिः निषेधे, अत्र मकिधातोर्बाहुलकादिन् नुमभावश्च, दधर्षीत् धर्षेत, तं प्रति त्वं तूर्णितमः अतिशयेन त्वरितः सन् भव, स्पशो बन्धनानि विसृज,

अस्या विशः प्रजायाः पायुः रक्षकः अदब्धोऽहिंसको भव' इति, तदपि न युक्तम्, मनुष्यविशेषस्य संबोधने मानाभावात्। नह्यल्पज्ञो दूरस्थान् अन्तिकस्थांश्च शत्रून् ज्ञातुं प्रभवति, न वा तेषु बन्धनानि प्रक्षेप्तुं शक्नोतीति व्यर्थमेतत् प्रार्थनम्॥ ११॥

उदग्ने तिष्ठ प्रत्यातनुष्व न्यमित्राँ२ओषतात् तिग्महेते।
यो नो अरातिꣳ समिधान चक्रे नीचा तं धक्ष्यतसं न शुष्कम्॥ १२॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेवता, आप जागृत होकर अपनी ज्वालाओं का विस्तार करो। हे उत्साहरूप आयुध वाले, आप शत्रुओं को पूरी तरह से भस्म कर दो। हे दीप्तिमान्! हमारे जो शत्रु दान का प्रतिषेध करते हैं, उनको पूरी तरह से भस्म कर दो। जिस प्रकार आप सूखे अलसी के पौधों को भस्म कर देते हैं, उसी तरह से हमारे शत्रुओं का नाश कर दो॥ १२॥

हे अग्ने, त्वम् उत्तिष्ठ। ततः प्रत्यातनुष्व ज्वाला विस्तारय। हे तिग्महेते तिग्मास्तीक्ष्णा उत्साहवन्तो हेतयो वज्रोपमा बाणा यस्यासौ तिग्महेतिः, तत्सम्बुद्धौ, उत्साहवदायुध। 'हेतिर्वज्रनामसु पठितः' (निघ० २।२०।३)। अमित्रान् शत्रूंश्च नि नितराम् ओषताद् दह। 'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्' (पा० सू० ७।१।३५) इति हेस्तातङ्ङादेशः। हे समिधान, समिन्धे दीप्यतेऽसाविति समिधानस्तत्सम्बुद्धौ। हे दीप्यमानाग्ने, यो नोऽस्माकम् अरातिं चक्रे दानं प्रतिषेधति तं नीचा नीचैः कृत्वा धक्षि दह। 'दह भस्मीकरणे' इति भौवादिकाद् लोटि मध्यमैकवचने 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इति शपो लोपे 'दादेर्धातोर्घः' (पा० सू० ८।२।३२), 'खरि च' (पा० सू० ८।४।५५), 'आदेशप्रत्यययोः' (पा० सू० ८।३।५९) इति घत्व-चर्त्व-षत्वानि। छान्दसत्वाद्धिकाराभावः। धक्षीति रूपम्। तत्र दृष्टान्तः—शुष्कम् अतसं न शुष्कवृक्षमिव। अतसो वृक्षः। अदातारं दानप्रतिषेधकं वा निर्दहेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने रामचन्द्र, त्वमुत्तिष्ठ भक्तानां रक्षार्थं सन्नद्धो भव। प्रत्यातनुष्व शस्त्रास्त्रजालान् विस्तारय। हे तिग्महेते वज्रोपमायुध, अमित्रान् शत्रून् बाह्यान् आन्तरांश्च न्योषताद् नितरां दह। यश्च नोऽस्मभ्यमरातिमदानं चक्रे अश्रद्धालुः सन् न दातुमिच्छेत्, हे समिधान देदीप्यमान देव, तं नीचा नीचैः कृत्वा अतसं न शुष्कं वृक्षमिव दह।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने सभाध्यक्ष, त्वं राजधर्मं उत्तिष्ठ धार्मिकान् प्रत्यातनुष्व। हे तिग्महेते, तिग्मा तीव्रा हेतिर्वज्रो दण्डो वा यस्य सः, अमित्रान् धर्मद्वेष्टॄन् शत्रून् न्योषतात्। हे समिधान सम्यक् तेजस्विन्, यो नोऽरातिं शत्रुं चक्रे करोति, तं नीचा न्यग्भूतं कृत्वा शुष्कमतसं न काष्ठमिव धक्षि' इति, तन्न, सम्बोधनस्याप्रामाणिकत्वात्। अक्षरार्थस्तु सायणादिकृतानेवार्थाननुसरति॥ १२॥

ऊर्ध्वो भव प्रतिविध्याध्यस्मदाविष्कृणुष्व दैव्यान्यग्ने। अव स्थिरा तनुहि यातुजूनां जामिमजामिं प्रमृणीहि शत्रून्। अग्नेष्ट्वा तेजसा सादयामि॥ १३॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेवता, हमारे ऊपर आक्रमण करने के लिये तत्पर उद्धत शत्रुओं को आप दण्डित करें, देव सम्बन्धी कर्मों को प्रकट करें, राक्षसों के स्थिर धनुषों को प्रत्यंचा रहित करें, ताड़ित-अताड़ित सभी प्रकार के शत्रुओं का नाश करें। हे स्रुक्‌देवता, मैं अग्नि के तेज से आपको भरता हूँ॥ १३॥

हे अग्ने, ऊर्ध्वो भव ऊर्ध्वस्तिष्ठ। स्थित्वा च अध्यस्मद् अस्मत्त उपरि व्यवस्थितान् शत्रून् प्रतिविध्य प्रतिताडय। दैव्यानि देवसम्बन्धीनि कर्माणि आविष्कृणुष्व प्रकाशीकुरुष्व। किञ्च, यातुजूनां जवनप्रधानानां यातुधानानां स्थिरा स्थिराणि धनूंषि अवतनुहि अवतारय, शिथिलयेत्यर्थः। यज्ञस्य जामिं पुनरुक्तवचनम्, अजामिम् अपुनरुक्तवचनं कृत्वा शत्रून् प्रमृणीहि प्रमारय। पुनः पुनः ताडनमताडनं वा कृत्वा शत्रून् प्रमारयेत्यर्थः। जाम्यजामिशब्दौ पुनरुक्तापुनरुक्तवचनौ। अत्र कात्यायनः—'कार्ष्मर्यमयीं दक्षिणतः पाणिमात्रपुष्करां बाहुमात्रीं पादमात्रीं वा सामर्थ्याद् घृतपूर्णामग्नेष्ट्वेति' (का० श्रौ० १७।४।१२)। कार्ष्मर्यः श्रीपर्णी। तन्निर्मितां पादमात्रदीर्घां षडङ्गुलविपुलां प्रागग्रां घृतपूर्णां स्रुचमग्नेष्ट्वेति यजुषा (वा० सं० १३।१३), अग्निर्मूर्धेति ऋचा (वा० सं० १३।१४) चोपदधाति। आग्नेयं यजुः। हे स्रुक्, अग्नेस्तेजसा त्वा त्वां सादयामि।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ स्रुचा उपदधाति। बाहू वै स्रुचौ बाहू एवास्मिन्नेतत् प्रतिदधाति·····' (श० ब्रा० ७।४।१।३६)। स्रुचोरुपधानं विधत्ते—अथ स्रुचाविति। तत्प्रशंसति—बाहू वा इति। 'जुहूर्दक्षिणो हस्त उपभृत् सव्यः' (तै० ब्रा० ३।३।१।५) इत्यादिश्रुत्यन्तरप्रसिद्धेः स्रुचोर्बाहुरूपता। तथा सत्येतद् एतेन स्रुगुपधानेन, अस्मिन् हिरण्मयपुरुषे बाहू एव प्रतिदधाति सन्दधाति। 'कार्ष्मर्यमयीं दक्षिणत उपदधाति।···· आज्येन पूर्णा भवति····' (श० ब्रा० ७।४।१।३७)। तत्र दक्षिणपार्श्वे उपधेयायाः स्रुचो वृक्षविशेषं विधत्ते—कार्ष्मर्यमयीमिति। कार्ष्मर्यः, काश्मरी, श्रीपर्णी, गम्भारिरिति समानार्थाः। कुम्भेर, खम्भारी इति लोके प्रसिद्धो वृक्षविशेषः। कार्ष्मर्यवृक्षेण निर्मिता स्रुक्। स्रुच आज्येन पूरणं विधाय स्तौति—आज्येन पूर्णा भवतीति। 'वज्रो वा आज्यं वज्रेणैवैतद् दक्षिणतो रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहन्ति' (श० ७।४।१।३७)। 'अथौदुम्बरीमुत्तरत उपदधाति' (श० ७।४।१।३८), 'यद्वेव स्रुचा उपदधाति' (श० ७।४।१।३९), 'तावब्रवीत्' (श० ७।४।१।४०) इति ब्राह्मणकण्डिकासु स्रुचोरुपधानमनूद्य तयोर्बाहुरूपतोक्ता। तथाहि तत्र—'प्रजापतेर्विस्रस्तस्याग्निस्तेज आदाय दक्षिणाकर्षत् सोऽत्रोदरमद्यत्कृष्ट्वोदरमत्तस्मात्कार्ष्मर्योऽथास्येन्द्र ओज आदायोदङ्ङुदक्रामत् स उदुम्बरोऽभवत्' (श० ७।४।१।३९)। स्रुचोरुपधानमनूद्य तयोर्बाहुरूपतां वक्तुं तावत्तदुपादानयोर्वृक्षयोरुत्पत्तिमाह—यद्वेवेत्यादिना। विस्रस्तस्य विश्लिष्टावयवस्य प्रजापतेस्तेज आदाय गृहीत्वा अग्निर्दक्षिणतोऽकर्षद् अनैषीत्। स अग्निरत्र कार्ष्मर्यवृक्षे उदरमद् उत्कृष्टम् अरमद् अवात्सीदित्यर्थः। कृषेर्धातो रमेश्च कार्ष्मर्यशब्दो निष्पन्नः। सा च निष्पत्तिर्वर्णविकारेण द्रष्टव्या। अथ अग्निनिर्गमनानन्तरम् अस्य विस्रस्तावयवस्य प्रजापतेरोज आन्तरं वीर्यं स्वीकृत्य इन्द्र उत्तरामुखः सन् उत्तरभागे उदक्रामत्, उत्क्रमणात् स उदुम्बरो वृक्षो जातः।

अनन्तरम्—'तावब्रवीत्। उप मेतं प्रति म एतद्धत्तं येन मे युवमुदक्रमिष्टमिति ताभ्यां वै नौ सर्वमन्नं प्रयच्छेति तौ वै मा बाहू भूत्वा प्रपद्येथामिति तथेति ताभ्यां वै सर्वमन्नं प्रायच्छत्तावेनं बाहू भूत्वा प्रापद्येतां तस्माद् बाहुभ्यामेवान्नं क्रियते बाहुभ्यामद्यते बाहुभ्याꣳ सर्वमन्नं प्रायच्छत्' (श० ७।४।१।४०)। ततस्तावग्नीन्द्रौ प्रजापतिरब्रवीत्। मा उपेतम् उपगच्छतम्। एतद् मदीयमङ्गं प्रतिधत्तं पुनःसन्धानेन संस्कुरुतम्। येन कारणेन मे मदीयशरीराद् युवमुदक्रमिष्टमिति। प्रजापतिवाक्यावसाने इतिशब्दः। ताभ्यामित्यादि तयोरग्नीन्द्रयोर्वाक्यम्। हे प्रजापते, ताभ्यां वै खलु नौ आवाभ्यां सर्वमन्नं प्रयच्छ तर्हि आवां त्वामुपगच्छावेति। 'युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ' (पा० सू० ८।१।२०) इति चतुर्थ्यन्तस्य नौभावः। पुनः प्रजापतिरब्रवीत्—हे अग्नीन्द्रौ, तौ युवां बाहू भूत्वा मा मां प्रपद्येथां प्रविशतामिति। तौ अग्नीन्द्रावपि तथास्तु इत्यब्रूताम्। एवं तौ वशीकृत्य प्रतिज्ञातप्रकारेण प्रजापतिः सर्वमन्नं ताभ्यां प्रायच्छत्। तौ अग्नीन्द्रावपि बाहू भूत्वा एनं प्रजापतिं प्रापद्येतां प्राप्तवन्तौ। हि यस्मात् प्रजापतिरुक्तक्रमेण सर्वमन्नं प्रायच्छत्, तस्मादेव कारणाद् अन्ननिष्पादनम् अन्नादनं च बाहुकरणकं लोके दृश्यते। 'स कार्ष्मर्यमयीं दक्षिणत

उपदधाति। अग्नेष्ट्वा तेजसा सादयामीति यदेवास्य तदग्निस्तेज आदाय दक्षिणाऽकर्षत्तदस्मिन्नेतत् प्रतिदधाति' (श० ७।४।१।४१)। इत्थं कार्ष्मर्योदुम्बरयोरुत्पत्तिमग्नेरिन्द्रस्य च बाहुरूपतां प्रतिपाद्य तदुपजीवनेन आग्नेय-मन्त्रेण कार्ष्मर्यमय्याः स्रुच उपधानं विधत्ते—स कार्ष्मर्यमयीमिति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने भगवन् श्रीराम, ऊर्ध्वो भव आन्तरबाह्योभयविधशत्रुनिग्रहाय उद्युक्तो भव। अस्मद् अस्मत्त उपरि वर्तमानान् बाह्यान् आन्तरांश्च शत्रून् प्रतिविध्य प्रतिताडय। स्वीयानि दैव्यान्यलौकिकानि सामर्थ्यान्याविष्कृणुष्व प्रकटय। यातुजूनां यातुधानानां स्थिरा स्थिराणि दृढानि शस्त्रास्त्राण्यवतनुहि अवसन्नानि कुरु। किञ्च, यज्ञस्य जामिम् अजामिं वा पुनः पुनस्ताडितमताडितं वा कृत्वा शत्रून् प्रमृणीहि। हे साधक, अग्नेर्भगवतः श्रीरामस्य तेजसा त्वा त्वां सादयामि प्रतिष्ठापयामि।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन् राजन्, यतस्त्वमूर्ध्व उत्कृष्टो भव शत्रून् प्रति विध्य अस्मत् स्थिरा निश्चलानि दैव्यानि देवैर्विद्वद्भिर्निर्वृत्तानि वस्तूनि, आविष्कृणुष्व प्राकट्यं कुरुष्व, सुखानि तनुहि विस्तृणुहि, यातुजूनां ये यान्ति ये च जवन्ते तेषां जामिं भोजनयुक्तम् अजामिं भोजनरहितम् अवतनुहि विनाशय, जमुधातोर्वपादिभ्य इञ्, शत्रून् प्रमृणीहि। तस्मादहं त्वा अग्नेस्तेजसा सादयामि' इति, तदपि न सङ्गतम्, तादृशसम्बोधनस्य स्वकपोलकल्पितत्वात्, देवपदेन वेदेषु योनिविशेषस्य ग्रहणमिति भूमिकायां विस्तरशः साधितत्वात्। 'वसिवपियजि' इत्यादिके औणादिके सूत्रे न वपादिगणः प्रस्तुतः। अत एव दयानन्दीयभाष्यटिप्पण्यामस्याः प्रक्रियायाः प्रामादिकत्वमेवोक्तम्। अपरोऽपि दोषः। इञ्प्रत्यये आद्युदात्तेन भाव्यम्। अस्ति चात्र पदेऽन्तोदात्तता। जाम्यजामिशब्दाभ्यां भोजनाभोजनयुक्तस्थानग्रहणे मानाभावश्च ॥ १३ ॥

अ॒ग्निर्मू॒र्धा दि॒वः क॒कुत्पतिः॑ पृथि॒व्या अ॒यम्। अ॒पाᳪं᳭ रेता॑ᳪं᳭सि जिन्वति। इन्द्र॑स्य त्वौज॑सा सादयामि ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—यह अग्नि स्वर्गलोक का सिर के समान प्रधान देवता है, बैल के कन्धे के समान सर्वोन्नत एवं जगत् का महान् कारण है। सूर्य रूप से प्रकाश देने के कारण यह पृथ्वी का पालक है। यह जल के सार भाग को पुष्ट करता है, अर्थात् द्युलोक से गिरते हुये वर्षा के जल से अन्न आदि के पकाने की शक्ति देता है, अथवा आहुति के फल से वर्षा को उत्पन्न करता है। हे अग्निदेवता, आपको मैं इन्द्र के तेज से आप्यायित करता हूँ ॥ १४ ॥

तृतीयेऽध्याये द्वादशीयं कण्डिका। व्याख्याता च तत्र। 'एवमौदुम्बरीमुत्तरतो दधिपूर्णामिन्द्रस्य त्वेति' (का० श्रौ० १७।४।१३)। एवंविधामेवोदुम्बरीं दधिपूर्णां स्रुचमुत्तरस्यामुपदधाति, इन्द्रस्य त्वेति यजुषा भुव इति ऋचा च। इन्द्रदेवत्यं यजुः। हे स्रुक्, इन्द्रस्यौजसा तेजसा त्वां सादयामि स्थापयामि।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथौदुम्बरीमुत्तरत उपदधाति। इन्द्रस्य त्वौजसा सादयामीति यदेवास्य तदिन्द्र ओज आदायोदङ्ङुदक्रामत् तदस्मिन्नेतत् प्रतिदधाति भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेतेत्येष उ स इन्द्रः सा यदाग्नेय्यग्निकर्म ह्यथ यत्त्रिष्टुप् त्रैष्टुभो हीन्द्र ऐन्द्राग्नोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनामेतदुपद-धातीन्द्राग्नी वै सर्वे देवाः सर्वदेवत्योऽग्निर्यावानग्नियावत्यस्य मात्रा तावतैवैनामेतदुपदधाति दध्ना पूर्णा भवत्यैन्द्रं वै दधि स्वेनैवैनमेतद्भागेन स्वेन रसेन प्रीणाति' (श० ७।४।१।४२)। एवं दक्षिणभागे कार्ष्मर्यमय्युपधानमुक्त्वा तथैवोत्तरभागे औदुम्बर्युपधानमिन्द्रदेवत्येन यजुषा कर्तव्यमित्याह—अथौदुम्बरीमिति। अत्रैव मन्त्रान्तरं विधत्ते—भुवो यज्ञस्येति। एष उ स इन्द्र इति। एष खलु चित्योऽग्निः स प्रसिद्धो

मन्त्रप्रतिपाद्य इन्द्रः। सा यदित्यादि। सा भुवो यज्ञस्येति ऋग् यस्मादाग्नेयी, कथमैन्द्रे औदुम्बरीस्रुगुपधाने विनियोग इत्यत्राह—अथ यत्त्रिष्टुबिति। यस्मात् सा ऋक् त्रिष्टुप्छन्दस्का तस्मादैन्द्रे कर्मणि विनियोक्तुमर्हा, यस्मादिन्द्रस्त्रिष्टुप्छन्दसा सहोत्पन्नः। अभिधावृत्त्या छन्दोद्वारेण च मन्त्रस्योपाधिसिद्धमिन्द्राग्निदेवताकत्वं प्रशंसति—ऐन्द्राग्नोऽग्निरिति। एतदेव विवृणोति—इन्द्राग्नी वै सर्वे देवा इति। इन्द्रस्य अधिपतित्वात् सर्वदेवतात्मकत्वम्। अग्नेरपि सर्वान् देवान् प्रति हविषो वहनात् सर्वदेवतात्मकता। यद्वा इन्द्रस्य प्राथम्याद् अग्नेश्चरमभावित्वात् तदन्तरवर्तिन एव सर्वे देवा इतीन्द्राग्न्योः सर्वदेवतात्मकत्वम्। चित्याग्निश्च सर्वदेवत्यः सर्वदेवताप्रीतिकरः। दध्ना पूरणमनूद्य स्तौति—दध्ना पूर्णेति। ऐन्द्रं वा इत्यादि। ऐन्द्रम् इन्द्रदेवत्यं खलु दधि, दर्शयागे इन्द्रं प्रति दध्नो हविष्ट्वेन दीयमानत्वात्, 'ऐन्द्रं दध्यमावास्यायाम्' (तै० सं० २।५।२) इति श्रुतेः। स्वेन रसेनेति। इन्द्रस्य स्वकीयो रसः सान्नाय्यम्। वृत्रवधानन्तरमिन्द्रशरीरान्निर्गतस्य पृथिव्यामोषधिवीरुदात्मना परिणतस्य पशुभिर्भक्षणेनात्मन्याहृतस्येन्द्रसम्बन्धिनो वीर्यस्यैव पयोरूपेण परिणामात् तद्विकारभूतं दध्यपि परम्परया इन्द्रस्य स्वकीयो रसः। एतदेव—'इन्द्रस्य वृत्रं जघ्नुष इन्द्रियं वीर्यम्' (तै० सं० २।५।३) इत्यादिना श्रुत्यन्तरे प्रपञ्चितम्। अन्यत् स्पष्टम्।

'तावस्यैताविन्द्राग्नी एव बाहू। तावेनं तेजसा च वीर्येण च सह प्रपद्येते स सम्प्रत्युरः पुरुषमाकाश्य यत्राभ्याप्नोति तदालिख्यैने उपदधात्येष हैतयोर्लोकः' (श० ७।४।१।४३)। अस्य प्रजापतेरिन्द्राग्नी बाहू अभूताम्। स्रुचोरुपधाने स्थानविशेषमाह—स सम्प्रतीति। सोऽध्वर्युरुपहितस्य हिरण्मयपुरुषस्य उरः, सम्प्रति उरःप्रदेशेन समानं स्रुचौ उपदध्यात्। तत्कथमिति चेदुच्यते—पुरुषमाकाश्य अभिज्ञाय यत्र यस्मिन् स्थाने उपहितं स्रुग्द्वयं तदुरःप्रदेशमभ्याप्नोति, तत् तत्र आलिख्य चिह्नं कृत्वा एने स्रुचौ उपदध्यात्। एष य उरोदेशः खल्वेतयोर्बाहुसंस्तुतयोर्लोकः स्थानमित्यर्थः। 'ते हैके तिरश्च्या उपदधति। तिर्यञ्चौ वा इमौ बाहू' (श० ७।४।१।४४) इति पूर्वपक्षस्य 'न तथा कुर्यात्' इति प्रतिषिद्धय प्रागग्रत्वमुपपाद्य स्रुचोरपि प्रागग्रतैव युक्तेति सिद्धान्तयति श्रुतिः—'नैतस्य पुरुषस्य बाहू कुर्यात्' (श० ७।४।१।४५) इति। ते स्रुचौ उपहिते खलु बाहू, तदतिरिक्तौ बाहू न कार्याविति पूर्वपक्षस्य कुर्यादेवेति सिद्धान्त उक्तः।

अध्यात्मपक्षे—अग्निः परमेश्वरः श्रीरामः, दिवो द्युलोकस्य मूर्धा शिरोवदुत्कृष्टः। पृथिव्या भूमेः ककुत्तुल्यः पतिः पालकः, अयं भक्तैरपरोक्षतया सूर्यरूपेण उपलभ्यमानो भगवान् अपां जलानां रेतांसि वीर्याणि व्रीहियवादिरूपेण परिणतानि जिन्वति प्रीणयति तर्पयति वर्धयति च।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, यथायमग्निः सूर्यो दिवः प्रकाशयुक्तस्याकाशस्य पृथिव्या भूमेर्मूर्धा, सर्वेषां शिर इव ककुद् महान् पतिः पालकोऽपां रेतांसि वीर्याणि जिन्वति तर्पयति तथा त्वं भव। अहं त्वामिन्द्रस्य सूर्यस्य ओजसा पराक्रमेण राज्याय सादयामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनादेरप्रामाणिकत्वात्। तथा त्वं भवेत्यादिकमपि कपोलकल्पितमेव, मन्त्रे तदभावात्। अपां रेतांसि जिन्वतीत्यपि निरर्थकमेव, रेतसां तर्पणीयत्वायोगात्॥ १४॥

भुवो॑ य॒ज्ञस्य॒ रज॑सश्च ने॒ता यत्रा॑ नि॒युद्भिः॒ सच॑से शि॒वाभिः॑।
दि॒वि मू॒र्धानं॑ दधिषे स्व॒र्षां जि॒ह्वाम॑ग्ने चकृषे हव्य॒वाह॑म्॥ १५॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप जब हवि धारण करने वाली जिह्वा रूप ज्वाला को प्रकट करते हैं, तब द्रव्य-देवतात्यागात्मा यज्ञ के और यज्ञ के परिणामरूप जल के प्रवर्तक और पावक होते हो। यहाँ मंगलरूप अश्वों के साथ आते हो और द्युलोक में स्वर्ग देनेवाले आदित्य को धारण करते हो॥ १५॥

त्रिशिरोदृष्टा अग्निदेवत्या त्रिष्टुप्। हे अग्ने, त्वं यदा हव्यवाहं हव्यं वहतीति हव्यवाट्, तां हविषो वोढ्रीं जिह्वां ज्वालां चकृषे करोषि। लडर्थे लिट्। तदा यज्ञस्य देवतोद्देश्येन द्रव्यत्यागात्मनो नेता भुवो भवसि। भवतेर्लेटि मध्यमैकवचने सिपि 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इतीकारलोपे 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्यडागमे 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' (पा० सू० ६।४।७७) इत्युवङि च कृते भुव इति रूपम्। रजसो यज्ञपरिणामरूपोदकस्य च नेता भवसि। यत्र यस्मिन् स्थाने शिवाभिर्मङ्गलरूपाभिर्नियुद्भिरश्वाभिस्त्वं सचसे समवैषि सम्बन्धं प्राप्नोषीति यावत्। नियुतो नाम वायोरश्वाः। ताभिर्वायुर्लक्ष्यते, तेन चान्तरिक्षम्। यत्र च दिवि द्युलोके मूर्धानमादित्यं दधिषे धारयसि। अत्रापि लिट् लडर्थे। कीदृशं मूर्धानम्? स्वर्षां स्वः स्वर्गं सनोति ददातीति स्वर्षाः। 'षणु दाने' इत्यस्मात् 'जनसनखनक्रमगमो विट्' (पा० सू० ३।२।६७) इति विट्प्रत्यये 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (पा० सू० ६।४।४१) इति नकारस्य आत्वे कृते रूपम्। यद्वा स्वः स्वर्गे स्यति अवसानं भजते स्थिरं तिष्ठतीति स्वर्षाः, तम्। 'षोऽन्तकर्मणि' अस्मात् क्विपि 'आदेच उपदेशेऽशिति' (पा० सू० ६।१।४५) इत्यात्वे रूपम्। अन्तरिक्षे द्युलोके यज्ञस्य रजसश्च नेता भवसीत्यर्थः। यत्रेत्यस्य संहितायाम् 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१२६) इति दीर्घः। यस्य तवैतत्कर्म तं त्वां स्रुग्रूपेण स्थापयामीति पूर्वतोऽनुवृत्तम्।

उव्वटाचार्यरीत्या—यज्ञस्य द्रव्यदेवतात्यागात्मनो नेता देवयानपितृयानमार्गानुसारिणो रजसश्चोदकस्य यज्ञपरिणामभूतस्य नेता भवसि जगदुत्पत्त्यर्थम्। कुत्र नेता भवसीत्याह—यत्र यस्मिन् स्थाने नियुद्भिर्नियुद्गुण-विशिष्टाभिः शिवाभिरश्वाभिः सहितं वायुं सचसे सेवसे 'नियुतो वायोरित्यादिष्टोपयोजनानि' (निघ० १।१५) इति नियुद्भिर्वायुर्लक्ष्यते, वायुना चान्तरिक्षम्। अत्रेदमवधेयम्—'दशोत्तराण्यादिष्टोपयोजनानीत्याचक्षते साहचर्यज्ञानाय' (निरु० २।२८) इत्युत्तराणि यानि दशाश्वनामानि, तान्यादिष्टोपयोजनान्यादिष्टेनादेशेनोपदेशेनोपयोजनमुपयोगो येषां तानि, तथाविधानीत्यर्थः। शास्त्रैर्वा आचार्यैर्वा यथोपदिश्यते, यथा हरी इन्द्रस्य रोहितोऽग्नेः, तदनुसार्येव एतेषामुपयोगः। अयं चोपयोगोऽनादिष्टदैवतेषु मन्त्रेषु, एतेषां शब्दानां साहचर्येणामुकदैवतोऽयं मन्त्र इति ज्ञातव्य इति यावत्। यथाऽत्र 'नियुतो वायोः' (निघ० १।१५) इत्यादेशाद् नियुद्भिःशब्देन वायुर्लक्ष्यते, तद्वत्। अत्रत्यं ब्राह्मणम्—'अथौदुम्बरीमुत्तरत उपदधाति' इत्यादि पूर्वमेवोद्धृतम्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने श्रीराम, त्वं यज्ञस्य नेता आचरणेन मर्त्यान् शिक्षयन् प्रवर्तकः। तथा च श्रीमद्भागवतम्—'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः' (भा० पु० ५।१९।५)। श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणमपि—'प्रचारज्ञश्च कर्मणाम्' (सुन्दरकाण्डे ३५।१२) इति। रजसो लोकस्य नेता सन्मार्गे प्रवर्तकः। कुत्र नेतासीत्याह—यत्र शिवाभिर्मङ्गलाभिर्नियुद्भिरश्वाभिः सहितं वायुं सचसे सिञ्चसि स्वसम्बन्धेनानुगृह्णासि। यत्र दिवि द्युलोके मूर्धानमादित्यं दधिषे। कीदृशं मूर्धानम्? स्वः स्वर्गे स्यति तिष्ठतीति स्वर्षास्तम्। हे अग्ने, त्वं यज्ञवाहं जिह्वां यज्ञनिर्वाहाय तद्रसास्वादाय जिह्वां चकृषे, उपलक्षणमेतत्। अप्राणो ह्यमना अपि सन् भक्तेच्छानुसारेण मनः प्राणान् जिह्वादिकमपि निर्माय भक्तसमर्पितवस्तून्यास्वादयसीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्! यथाग्निर्नियुद्भिर्वायोर्वेगादिगुणैः सह रजसो लोकस्य ऐश्वर्यस्य वा नेता नयनकर्ता सन् दिवि न्यायप्रकाशे मूर्धानं शिरो धरति, तथा यत्र राज्ये शिवाभिः कल्याणकारिकाभिर्नीतिभिः सह भुवः पृथिव्या यज्ञस्य राजधर्मस्य सचसे समवैषि राज्यं दधिषे धरसि, हव्यवाहं होतुं दातुमर्हाणि प्रज्ञानानि वहन्ति यया तां जिह्वां जोहवीति यया तां वाचं चकृषे करोषि, तत्र सर्वाणि सुखानि वर्धन्त इति जानीहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशसम्बोधनस्यैवाप्रामाणिकत्वात्। यत्र राज्ये इत्यपि निर्मूलम्, नियुद्भिर्वायुवेगादिगुणैर्युक्तो

वायुर्दिवि न्यायप्रकाशे मूर्धानं धरतीत्यादिकं सर्वं निष्प्रमाणं स्वकपोलकल्पितं च। भुवः पृथिव्या यज्ञस्य राजधर्मस्य पालयितेत्यादिकं सर्वं निराधारमेव, प्रकृतिप्रत्ययार्थविरोधात्। किं बहुना, सर्वत्रैवान्वयानुपपत्तिं तात्पर्यानुपपत्तिं चान्तरा गौणार्थाश्रयणेन वेदार्थपारम्पर्योपरोधमेव करोत्ययं व्याख्याता ॥ १५ ॥

ध्रुवासि धरुणास्तृता विश्वकर्मणा। मा त्वा समुद्र उद्वधीन्मा सुपर्णोऽव्यथमाना पृथिवीं दृꣳह ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—हे स्वयमातृण्णा नामक देवी, तुम भूमि रूप से विश्व को धारण करने वाली हो, प्रजापति द्वारा विस्तृत की गई हो, दृढ़ हो। समुद्र तुमको नष्ट न कर सके, अचल होकर तुम भूभाग को दृढ़ करने में समर्थ हो, इस कारण तुम इस पृथ्वी को दृढ़ करो ॥ १६ ॥

'स्वयमातृण्णां पुरुषे शर्करां छिद्रां ध्रुवासीति' (का० श्रौ० १७।४।१५)। हिरण्मयस्य पुरुषस्योपरि शर्करां पाषाणमयीं छिद्रां छिद्रवतीं स्वयमातृण्णाख्यामिष्टकामुपदध्याद् ध्रुवासीति मन्त्रेण। छिद्राणि सन्त्यस्यामिति छिद्रा ताम्। 'अर्शआदिभ्योऽच्' (पा० सू० ५।२।१२७) इत्यच्। छिद्राणि तत्र स्वाभाविकान्येव भवेयुर्न कृत्रिमाणीति। अश्ममयी इष्टकैव स्वयमातृण्णेति। अत एव स्वयमातृण्णेत्यभिधानं तस्याः। द्वादशाक्षरपादा त्रिपादा ऊर्ध्वबृहती। अत्र प्रथमस्त्रयोदशार्णः, तृतीयो दशार्णः। हे स्वयमातृण्णे, त्वं ध्रुवा स्थिरासि। कीदृशी त्वम्? धरुणा भूमिरूपेण विश्वस्य धारयित्री। विश्वकर्मणा विश्वं करोतीति विश्वकर्मा तेन। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति मनिन्। विश्वकर्त्रा प्रजापतिना आस्तृता उपहिता। समुद्रो रुक्मस्त्वा मोद्वधीत् स्वोदरमध्ये निमज्जनलक्षणं वधं मा कार्षीत्। सुपर्णः पक्षिराजोऽपि सर्पोद्यमनवेलायां त्वामादाय मोद्वधीत्। दूरे तत्परित्यागलक्षणं वधं मा कार्षीत्। एवं सत्यव्यथमाना भयरहिता त्वं पृथिवीमिमां दृंह दृढीकुरु। यद्वा सुपर्णः पुरुषश्च त्वां मोद्वधीत्, 'रुक्मो वै समुद्रः पुरुषः सुपर्णः' (श० ७।४।२।५) इति वक्ष्यमाणश्रुतेः।

अत्र ब्राह्मणम्—'स्वयमातृण्णामुपदधाति। इयं वै स्वयमातृण्णेमामेवैतदुपदधाति तामनन्तर्हितां पुरुषादुपदधात्यन्नं वै स्वयमातृण्णेयं वै स्वयमातृण्णेयमु वा अन्नमस्याꣳ हि सर्वमन्नं पच्यतेऽनन्तर्हितमेवास्मादेतदन्नं दधात्युत्तरामुत्तरमेवास्मादेतदन्नं दधाति' (श० ७।४।२।१)। अत्र ब्राह्मणे स्वयमातृण्णादूर्वेष्टकाद्युपधानं विधास्यते। तथाह कात्यायनः—'स्वयमातृण्णां…शर्करां छिद्रां…' (का० श्रौ० १७।४।१५) इति। पुरुषप्रयत्नमन्तरेण स्वत एव छिद्रयुक्ता शर्करा क्षुद्रपाषाणविशेषः सा स्वयमातृण्णा, तां हिरण्मये पुरुषे उपदध्यात्। तद्विधत्ते—स्वयमातृण्णामुपदधातीति। अत्र स्वयमातृण्णाख्यामिष्टकामुपदध्यादिति विधिरुन्नेयः। यथा 'औदुम्बरो यूपो भवत्यूर्ग्वा उदुम्बर ऊर्क् पशव ऊर्जैवास्मा ऊर्जं पशून् अवरुन्धे' (तै० सं० २।१।१।६) इति श्रुतौ भवतीति वर्तमानापदेशत्वात् प्रत्यक्षविधित्वासम्भवेऽपि 'ऊर्ग्वा उदुम्बरः' इत्याद्यर्थवादकृतस्तुत्या विधिरुन्नीयत इति प्रथमाध्याये द्वितीयपादे द्वितीयाधिकरणे निर्णीतम्। ननु 'ऊर्ग्वा उदुम्बरः' इत्यादेर्यूपोदुम्बरस्य फलाभिधायकत्वात् कथमर्थवादत्वमिति चेन्न, अविहितस्य फलाभिधानायोगाद् विहितस्यैव तदिति वक्तव्यम्। विधिश्च तस्यार्थवादत्वमन्तरेण न सम्भवतीति। एवमेवात्रापि 'इयं वा' इत्याद्यर्थवादस्य वर्तमानापदेशत्वाद् उन्नेतव्यो विधिः। एवमन्यत्रापि वर्तमानापदेशेष्वयमेव न्यायो द्रष्टव्य इति श्रीसायणाचार्याः। तस्याः स्वयमातृण्णायाः पृथिवीविकारत्वात् तदुपधानेन पृथिव्युपधानमेव सम्पादितं स्यादित्याह—इयं वा इति। यदुक्तं सूत्रे पुरुष इति तद्विधत्ते—तामनन्तर्हितामिति। तामिष्टकां पुरुषादनन्तर्हिताम् अव्यवहितां तत्सम्बद्धामुपदध्यादित्यर्थः। पुरुषसम्बद्धत्वेनोपधानं

प्रशंसति—अन्नं वा इति । पृथिव्यां व्रीह्यादीनां सर्वेषामन्नानां पच्यमानत्वादन्नरूपा हि पृथिवी । स्वयमातृण्णा च पृथिवीत्युक्तम् । अतश्च पुरुषसम्बद्धेनोपधानेन तस्मिन्नन्नं निहितवान् भवति । अनन्तर्हितामित्युक्तत्वात् क्वचित् तत्पार्श्वे संश्लेषेणाप्यव्यवधानमुपपद्यत इत्यत आह—उत्तरामिति । उत्तरां पुरुषस्य उपरि अवस्थिताम् । विधेयविशेषणमेतत् । अत एव सूत्रे 'पुरुषे' इति सप्तम्योपधानाधिकरणत्वमुक्तम् । उत्तरमेवास्मादिति । अस्मात् पुरुषाद् उत्तरम् उपर्यवस्थितम् अन्नं करोति, पुरुषस्य मुखे दधातीति भावः ।

'यद्वेव स्वयमातृण्णामुपदधाति । प्राणो वै स्वयमातृण्णा प्राणो ह्येवैतत् स्वयमात्मन आतृन्ते प्राणमेवैतदुप-दधाति तामनन्तर्हितां पुरुषादुपदधाति प्राणो वै स्वयमातृण्णेयं वै स्वयमातृण्णा इयमु वै प्राणो यद्धि किञ्च प्राणीयं तत्सर्वं बिभर्त्यनन्तर्हितमेवास्मादेतत्प्राणं दधात्युत्तरामुत्तरमेवास्मादेतत् प्राणं दधाति' (श० ७।४।२।२) । विहितां स्वयमातृण्णामनूद्य प्राणात्मना स्तौति -यद्वेवेति । स्वयमातृण्णामुपदधातीति यदस्ति तत्कारणमुच्यत इत्यर्थः । प्राणो नाम शरीरान्तर्वर्तमानो वायुः । स ह्यात्मनोऽर्थे स्वयमातृन्ते आतर्दनं कुरुते शरीरान्तर्गतनाडीष्ववकाशं कृत्वा प्रवर्तते । अथवा आत्मनः शरीरस्य अन्त आतृन्ते । 'उतृदिर् हिंसानादरयोः' इत्यस्माद् आङ्पूर्वकाद् रौधादिकाल्लटि 'आतृन्ते' इति रूपम् । अतः स्वयमातर्दनसामान्यात् स्वयमातृण्णायाः प्राणात्मत्वमित्यर्थः । विहितमव्यवधानमनुवदन् न केवलमातर्दनसामान्यात् स्वयमातृण्णायाः प्राणत्वम्, अपि तु पूर्वोक्तपृथिवीत्वप्रणाल्यापि प्राणत्वमस्या विद्यत इति दर्शयति—तामनन्तर्हितामित्यादिना । यत्किञ्चिन्मनुष्य-सरीसृपादिकं प्राणिजातमस्ति, तत्सर्वं पृथिवी बिभर्ति खलु । अनेन पृथिव्याः प्राणात्मकत्वमुपपादितम् । अन्यत् स्पष्टम् । 'यद्वेव स्वयमातृण्णामुपदधाति । प्रजापतिं विस्रस्तं देवता आदाय व्युदक्रामंस्तासु व्युत्क्रामन्तीषु प्रतिष्ठामभिपद्योपाविशत्' (श० ७।४।२।३) । अथ पुनरपि तामेवेष्टकां विस्रस्तावयवस्य प्रजापतेः प्रतिष्ठारूपेण प्रशंसति—यद्वेवेति । पूर्वं प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा विस्रस्ताङ्गोऽभूत् । तादृशं प्रजापतिं देवा अवयवश आदाय व्युदक्रामन् । तेषु व्युत्क्रामत्सु स प्रजापतिः प्रतिष्ठारूपमङ्गं स्वयमभिपद्य गृहीत्वा उपाविशत् । 'स यः स प्रजापति-र्व्यस्रꣳसत । अयमेव स योऽयमग्निश्चीयतेऽथ या सा प्रतिष्ठैषा सा प्रथमा स्वयमातृण्णा तद्यदेतामत्रोपदधाति यदेवास्यैषात्मनस्तदस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति तस्मादेतामत्रोपदधाति' (श० ७।४।२।४) । स यः प्रजापति-र्विस्रस्तोऽभूत्, स अयमेव य इष्टकासङ्घातरूपोऽग्निश्चीयते । अथ या च प्रजापतिना प्राप्ता प्रतिष्ठा, सा एषा इदानी-मुपधीयमाना प्रथमा स्वयमातृण्णा । प्रथममध्यमोत्तमासु तिसृष्वपि चितिषु तिस्रः स्वयमातृण्णा उपधीयन्ते, अतः प्रथमेति स्वयमातृण्णाया विशेषणम् । तद्यदिति । यत एतामिष्टकामस्मिन् पुरुष उपदधाति, तत् तेन अस्य प्रजापते-रात्मनः स्वस्य यदेतत् प्रतिष्ठालक्षणमङ्गम्, एषेति लिङ्गव्यत्ययः, तदस्मिन् प्रजापतावेव एतद् निहितवान् भवति ।

'तां वै प्रजापतिनोपदधाति । प्रजापतिर्ह्येवैतत्स्वयमात्मनः प्रत्यधत्त ध्रुवासीति स्थिरासीत्येतदथो प्रतिष्ठितासीति धरुणेति प्रतिष्ठा वै धरुणमास्तृता विश्वकर्मणेति प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा तेनास्तृतासीत्येतन्मा त्वा समुद्र उद्वधीन्मा सुपर्ण इति रुक्मो वै समुद्रः पुरुषः सुपर्णस्तौ त्वा मोद्वधिष्टामित्येतदव्यथमाना पृथिवीं दृꣳहेति यथैव यजुस्तथा बन्धुः' (श० ७।४।२।५) । विहित उपधाने मन्त्रं विधत्ते—तां वा इत्यादिना । अत्र 'ध्रुवासि धरुणास्तृता', 'प्रजापतिष्ट्वा सादयतु', 'भूरसि भूमिरसि' इति तिसृभिर्ऋग्भिः, 'विश्वस्मै प्राणाय' इति यजुषा चैषा स्वयमातृण्णेष्टकोपधीयते । अतः प्रजापतिशब्देन तद्विशिष्टं मन्त्रं लक्षयित्वा तेन लक्षितलक्षणया ते सर्वे मन्त्रा उच्यन्ते । 'प्रजापति र्ह्येवैतत् स्वयमात्मनः प्रत्यधत्त' इत्यनेन लक्षितलक्षणाविवक्षाकारणमुच्यते । यतः प्रजापतिः स्वयमात्मन एतत्प्रतिष्ठालक्षणमङ्गं प्रत्यधत्त, अतस्तत्प्रतिष्ठात्मकस्वयमातृण्णोपधानमन्त्रेऽपि तत्सम्बन्ध-प्रतीतिर्यथा स्यादिति प्रजापतिनोपदध्यादित्युक्तम् । तत्र प्रथमामृचं व्याचष्टे ध्रुवासीति । स्थिरासीत्येतदिति ध्रुवासीत्यस्य व्याख्यानम् । अथो प्रतिष्ठासीति । एतदपि ध्रुवासीत्येतस्यैव विवरणम् । धरुणेति प्रतीकमादाय

व्याचष्टे प्रतिष्ठा वै धरुणमिति। सर्वस्याधारभूतेत्यर्थः। आस्तृता विश्वकर्मणेत्यस्य व्याख्यानम्—प्रजापतिर्वै विश्वकर्मेति। विश्वस्य कृत्स्नप्रपञ्चस्य कर्म सृष्टिलक्षणमस्यास्तीति विश्वकर्मशब्देन प्रजापतिरभिधीयते। तेन आस्तृता आच्छादिना उपहिता इति। रुक्मो वै समुद्रः पुरुषः सुपर्ण इति। अत्र पुष्करपर्णे रुक्मं निधाय तत्र च हिरण्मयपुरुषमवस्थाप्य तस्योपरि स्वयमातृण्णोपधानं कर्तव्यम्। अतश्च 'मा त्वा समुद्र उद्वधीन्मा सुपर्णः' इत्यनेनाधारभूतौ रुक्मपुरुषौ तव हिंसां मा कार्ष्टाम्, किन्त्वानुकूल्येनाङ्गीकुरुतामित्यर्थः। अन्यत् स्पष्टम्।

अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धे, त्वं ध्रुवासि स्थिरासि दृढनिश्चयासि। धरुणा अन्येषां धारयित्री असि। विश्वकर्मणा परमेश्वरेण आस्तृता विस्तारं नीतासि। त्वा त्वां समुद्रः समुद्रतुल्यविश्वप्लावकमज्ञानम्, सुपर्णः पक्षिराजतुल्यवेगोऽहङ्कारश्च मोद्वधीत्। अव्यथमाना पृथिवीं दृंह दृढीकुरु।

दयानन्दस्तु—'हे राजपत्नि, यतो विश्वकर्मणा पत्या सह वर्तमाना आस्तृता वस्त्रालङ्कारादिगुणैः सम्यगाच्छादिता धरुणा विद्याधर्मादिधर्त्री ध्रुवा निष्कम्पासि। साऽव्यथमाना पीडामप्राप्ता सती त्वं पृथिवीं, स्वराज्यभूमिम् उद्दृंह वर्धय, त्वा समुद्रो समुद्द्रवन्ति कामुका यस्मिन् व्यवहारे स जारव्यवहारः, सुपर्णः शोभनानि पर्णानि पालितान्यङ्गानि यस्य, त्वत्पतिर्मावधीत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। विश्वकर्मणा पत्या इत्यप्यसाम्प्रतम्, विनिगमनाविरहात्। समुद्रपदं जारपरम्, सुपर्णपदं च पतिपरमित्यपि निर्मूलम्, व्युत्पत्तेरन्यपरत्वेऽप्युपपत्तेः॥ १६॥

प्रजापतिष्ट्वा सादयत्वपां पृष्ठे समुद्रस्येमन्।
व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं प्रथस्व पृथिव्यसि॥ १७॥

मन्त्रार्थ—हे स्वयमातृण्णे, प्रजापति ने तुम्हें अवकाशवाली और विस्तारयुक्त बनाया है, जल के ऊपर और समुद्र में तुम्हें स्थापित किया है। तुम प्रजापति के द्वारा विस्तार को प्राप्त होकर भूमि के निकट तक पहुँच गई हो, इसलिये तुम पृथ्वीरूप हो॥ १७॥

अनुष्टुप्। हे स्वयमातृण्णे प्रजापतिस्त्वा त्वां सादयतु स्थापयतु। स हि त्वामासादयितुं समर्थः। क्व स्थापयत्वित्यपेक्षायामाह—अपां जलानां पृष्ठे उपरि। समुद्रस्य उदकसङ्घातस्य एमन् एमनि अवस्थाने समुद्रवलयिते पृथिवीस्थाने। कथंभूतां त्वामासादयतु? व्यचस्वतीं व्यञ्जनवतीमभिव्यक्तियुक्ताम्, प्रथस्वतीं पृथुत्वयुक्तां विस्तारयुक्ताम्। त्वमपि सादिता सती प्रथस्व अस्याश्चितेः प्रथनं कुरु। यतस्त्वं पृथिव्यसि, पृथिव्युत्पन्नत्वात्। प्रजापतिरपां पृष्ठे आच्छादके समुद्रं प्राप्तवति भूप्रदेशे व्यचस्वतीं विस्तारवतीं त्वां सादयतु। यतस्त्वं पृथिव्यसि, अतः प्रथस्व विस्तारवती भव।

'प्रजापतिष्ट्वा सादयत्विति। प्रजापतिर्ह्येतां प्रथमां चितिमपश्यदपां पृष्ठे समुद्रस्येमन्नित्यपाᳬ ह्येयं पृष्ठᳬ समुद्रस्य ह्येयमेमा व्यचस्वतीं प्रथस्वतीमिति व्यचस्वती च ह्येयं प्रथस्वती च प्रथस्व पृथिव्यसीति प्रथस्व पृथिवी चासीत्येतत्' (श० ७।४।२।६)। अथ द्वितीयामृचं व्याचष्टे—प्रजापतिष्ट्वेति। यतः प्रजापतिरेतां प्रथमां चितिमपश्यत्, अतः प्रजापतिष्ट्वा सादयत्विति मन्त्र आह। अपामाच्छादकत्वादियं पृथिवी अपां पृष्ठे तथा समुद्रमपि, एमन् 'इण् गतौ' इत्यस्माद् धातोः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति मनिन्प्रत्ययः। समुद्रस्येति 'कर्तृकर्मणोः कृति' (पा० सू० २।३।६५) इति कृद्योगे षष्ठी। समुद्रस्य एमा समुद्रं प्राप्तेत्यर्थः, परितः समुद्रेण वलयितत्वात्। सप्तम्येकवचनस्य 'सुपां सुलुक्

पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः' (पा० सू० ७।१।३९) इति लुकि रूपम्। अपां पृष्ठे, पृथिव्यामित्यर्थः। इयं पृथिवी व्यचस्वती व्यञ्जनवती अभिव्यक्तियुक्ता, प्रथस्वती विस्तारयुक्ता चेत्येतत् प्रत्यक्षसिद्धम्। स्वयमातृण्णा च पृथिव्यात्मिका। अतश्च व्यचस्वतीं प्रथस्वतीमिति मन्त्र आह। प्रथस्व पृथिवी चासीदित्येतदिति। यतस्त्वं पृथिव्यसि, अतः प्रथस्व इत्येतदुक्तं भवतीत्यर्थः। 'तत्पुष्करपर्णेऽप्रथयत् यदप्रथयत्तत्पृथिव्यै पृथिवीत्वम्' (तै० ब्रा० १।१।३।७) इति श्रुतेः, 'साऽप्रथत सा पृथिव्यभवत् तत्पृथिव्यै पृथिवीत्वम्' (तै० सं० ७।१।५।१) इति श्रुतेश्च।

अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धे माये वा, प्रजापतिः परमेश्वरस्त्वां सादयतु प्रतिष्ठापयतु। क्व? अपां लोकानां पृष्ठे उपरि ब्रह्मात्मके शुद्धचैतन्ये, तस्य प्रपञ्चातीतत्वेन सर्वलोकानामुपरि स्थितत्वात्, 'अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' (वा० सं० ३१।१) इति मन्त्रवर्णात्। समुद्रस्येमन् संसारसमुद्रं प्राप्ते, तस्यैव संसाराधिष्ठानत्वात्। त्वं व्यचस्वतीम् अभिव्यक्तियुक्ताम्, प्रथस्वतीं विस्तारवतीं ब्रह्माकारां वृत्तिं प्रथस्व विस्तारयस्व। त्वमपि पृथिव्यसि तत्कारणत्वात् तद्रूपासीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे विदुषि प्रजापालिके राज्ञि, यथा प्रजापतिः प्रजायाः स्वामी समुद्रस्य सागरस्य अपां जलानाम् एमन् प्राप्तव्ये स्थाने पृष्ठे उपरि नौकेव व्यचस्वतीं बहु व्यचो व्यञ्जनं विद्यागमनं सत्करणं वा विद्यते यस्यास्ताम्, प्रथस्वतीं प्रथा प्रख्याता कीर्तिर्विद्यते यस्यास्ताम्, त्वां सादयतु, यतस्त्वं पृथिव्यसि भूमिरिव सुखप्रदासि, तस्मात् स्त्रीन्यायकरणे प्रथस्व प्रख्याता भव, तथा ते पतिर्भवेत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निष्प्रमाणाध्याहारबाहुल्यात्, गौणार्थाश्रयणाच्च। यथा प्रजापतिः समुद्रस्य अपामेमन् पृष्ठे नौकेवेत्यप्यस्पष्टमेव। प्रथस्वतीमित्यत्र कीर्तिपदसन्निवेशोऽपि निर्मूल एव ॥ १७ ॥

भूर॑सि भूमि॑रस्यदि॑तिरसि वि॒श्वधा॑या॒ विश्व॑स्य॒ भुव॑नस्य ध॒र्त्री।

पृ॒थि॒वीं य॑च्छ पृ॒थि॒वीं दृ॑ꣳह पृ॒थि॒वीं मा हि॑ꣳसीः ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—हे स्वयमातृण्णे, तुम सुखों की भावना करने वाली भूमि के नाम से प्रसिद्ध हो, विश्व को पुष्ट करने वाली देवमाता हो, सम्पूर्ण संसार को धारण करने वाली हो। तुम पृथ्वी को कृपादृष्टि से देखो, भूभाग को दृढ़ करो, पृथ्वी को कष्ट मत दो ।। १८ ।।

प्रस्तारपङ्क्तिः। 'आद्यौ चेत् प्रस्तारपङ्क्तिः' इति कात्यायनोक्तेर्यत्राद्यौ पादौ द्वादशकौ, अन्त्यौ अष्टकौ सा प्रस्तारपङ्क्तिः। अत्र त्वाद्य एकादशकः, द्वितीयचतुर्थौ पञ्चकौ पञ्चमः षडक्षर एवं पञ्च पादाः। हे स्वयमातृण्णे, त्वं भूरभीष्टानां भावयित्री असि। भूमिः पृथिव्यसि, भूम्यभिमानिनी देवतारूपासि। अदिति-रखण्डनीया देवमाता वासि। विश्वधाया विश्वं दधाति पुष्णातीति विश्वधायाः, विश्वं धीयतेऽस्यामिति वा विश्वधायाः। विश्वोपपदाद् धाधातोः 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उणा० ४।१९०) इत्यसुनि 'वसेर्णित्' (उ० ४।२१९) इति बाहुलकाद् असुनो णिद्वद्भावात् 'आतो युक् चिण्कृतोः' (पा० सू० ७।३।३३) इति युगागमे विश्वधाया इति रूपम्। विश्वस्य सर्वस्य भुवनस्य भूतग्रामस्य धर्त्री धारयित्री भवसि, सा त्वं पृथिवीं यच्छ नियन्त्रितां कुरु। पृथिवीं दृंह दृढीकुरु। पृथिवीं मा हिंसीः। यद्वा यतश्च त्वमियमेव, अतः पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृंह इत्यादिभिरात्मानं निगृह्णीष्व, आत्मानं दृढीकुरु, आत्मानं मा हिंसीरित्युक्तं भवतीत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'भूरसीति। भूर्हीयं भूरसीति भूमिर्हीयमदितिरसीतीयं वा अदितिरियꣳ हीदꣳ सर्वं ददते विश्वधाया इत्यस्याꣳ हीदꣳ सर्वꣳ हितं विश्वस्य भुवनस्य धर्त्रीति सर्वस्य भुवनस्य धर्त्रीत्येतत्

पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृꣳह पृथिवीं मा हिꣳसीरित्यात्मानं यच्छात्मानं दृꣳहात्मानं मा हिꣳसीरित्येतत्' (श० ७।४।२।७)। तृतीयामृचं व्याचष्टे—भूरसीति । इयं पृथिवी यतः सर्वेभ्यः सुखानि भावयतीति भूः। अस्याः सकाशादिदं सर्वमविज्ञातमभूदिति भूमिश्च, 'अभूद्वा इयमिति तद् भूम्यै भूमित्वम्' इति, तस्माद् भूरसि भूमिरसीत्यभिधत्ते। 'इयं हीदं सर्वं ददते' इत्यनेनादितित्वोपपादनम्। इयं पृथिवी इदं सर्वं भोग्यवस्तुजातमस्मभ्यं ददते तस्माददितिः। नञो दाञो डितिः, ददेश्चेति वचनाद् ददधातोर्डिति प्रत्यये प्रथमदकारलोपे च 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (पा० सू० ६।३।१०९) इति साधुः। विश्वं सर्वमस्यां निहितमिति विश्वधायाः। सर्वस्य भुवनस्येति। भुवनशब्देनात्र भुवनवर्तिपदार्थजातं लक्ष्यते। तस्य सर्वस्य भुवनवर्तिपदार्थजातस्य धारयित्रीत्येतदुक्तं भवति। पृथिवीरूपत्वादात्मनः 'पृथिवीं यच्छ' इत्यादिना आत्मन एव नियमनादिकं क्रियतामित्युच्यते।

अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धे माये वा, त्वं भूरसि सर्वस्याभीष्टभावयित्री असि, भूमेरपि त्वत्कृतकर्मफलत्वात्, त्वत्परिणामत्वाद्वा। अदितिरसि अबाधितविषयत्वादखण्डनीयासि, परमेश्वरशक्तित्वाद्वा। विश्वधाया असि, विश्वस्य पोषणत्वात्। विश्वस्य भुवनस्य भूतग्रामस्य धर्त्री। पृथिवी विस्तृतब्रह्मविषयत्वात्। पृथिवीं ब्रह्माकारां वृत्तिं यच्छ नियतां कुरु। तामेव दृढीकुरु। तां च मा हिंसीः, 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' (कठो० १।२।९) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—'हे राजपत्नि, यतस्त्वं भूरिवासि तस्मात् पृथिवीं यच्छ निगृहाण। यतस्त्वं विश्वधाया या विश्वं सर्वं गृह्णाति गृहाश्रमी राजव्यवहारं दधाति सा। विश्वस्य सर्वस्य भुवनस्य राज्यस्य धर्त्री धारिका भूमिरिवासि, तस्मात्पृथिवीं दृंह वर्धय। यतस्त्वमदितिरिवासि तस्मात् पृथिवीं मा हिंसीः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, भूरिव भूमिरिव अदितिरिवेत्यादाविवशब्दाध्याहारस्य निष्प्रमाणत्वात्। सम्बोधनमपि तादृगेव। भवन्ति भूतानि यस्मिन् राज्ये तस्येत्यपि निर्मूलम्, राज्यादन्यत्रापि भूतानां भवनात्, गृहाश्रमीत्यस्यासङ्गतेश्च ॥ १८ ॥

विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय। अग्निष्ट्वाऽभिपातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—हे स्वयमातृण्णे, सम्पूर्ण प्राण, अपान, व्यान, उदान नामक शरीर स्थित वायुओं की उन्नति की कामना के निमित्त तथा प्रतिष्ठा-कीर्ति के लाभ के निमित्त, शास्त्रीय आचरण के निमित्त अग्निदेवता महान् कल्याण, योगक्षेम की सम्पत्ति और अत्यन्त सुखकारी गृह के द्वारा तुम्हारी रक्षा करें। उस परम देवता के अनुग्रह से दृढ़ होकर तुम अङ्गिरा के समान स्थित रहो ॥ १९ ॥

यजुः, एकाधिका आर्षी अनुष्टुप्। हे स्वयमातृण्णे विश्वस्मै प्राणाय अपानाय व्यानाय प्राणापानव्यानोदानाख्यवायुवृत्तिलाभाय प्रतिष्ठायै कीर्त्यै स्वगृहे स्थितिलाभाय वा चरित्राय शास्त्रीयाचरणाय च प्राणिनामेतस्य सर्वस्य सिद्धयर्थं त्वां सादयामीति शेषः। अयमग्निस्त्वामभितः पातु रक्षतु। केन रक्षणमित्याह—मह्या महत्या योगक्षेमसम्पत्त्या शन्तमेन छर्दिषा अत्यन्तसुखकारिणा छर्दिषा गृहेण। तया देवतया वाग्रूपया तव स्वामिभूतया अनुगृहीता सती त्वं ध्रुवा स्थिरा सती सीद उपविश। अङ्गिरस्वद् अङ्गिरसां चयनानुष्ठाने यथा त्वं स्थिरस्थिता तद्वदिहोपविश।

अत्र ब्राह्मणम्—'विश्वस्मै प्राणायापानाय। व्यानायोदानायेति प्राणो वै स्वयमातृण्णा सर्वस्मा उ वा एतस्मै प्राणः प्रतिष्ठायै चरित्रायेतीमे वै लोकाः स्वयमातृण्णा इम उ लोकाः प्रतिष्ठा चरित्रमग्निष्ट्वाभि-

पात्वित्यग्निष्ट्वाभिगोपायत्वित्येतन्मह्या स्वस्त्येति महत्या स्वस्त्येत्येतच्छर्दिषा शन्तमेनेति यच्छर्दिः शन्तमं तेनेत्येतत्सादयित्वा सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुरथ साम गायति तस्योपरि बन्धुः' (श० ७।४।२।८)। यजुर्मन्त्रं व्याचष्टे—विश्वस्मै प्राणायेति। एक एव प्राणवायुर्वृत्तिभेदात् प्राणापानव्यानोदानसमानशब्दैरुच्यते। 'प्राणो ह्येवैतत् स्वयमात्मन आतृन्ते' (श० ७।४।२।२) इति स्वयमातृण्णायाः प्राणत्वमुक्तम्। 'सर्वस्मा उ वा एतस्मा' इति 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।३।६२) इति सूत्रस्थितेन 'षष्ठयर्थे चतुर्थीवचनम्' इति वार्त्तिकेन षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। सर्वस्य खलु प्राणिसङ्घस्य प्राण एवाशास्यो भवति, अतः सर्वस्यापि प्राणादिस्थैर्यार्थं तवोपधानमित्यर्थः। इमे वै लोका इति। तिस्रः स्वयमातृण्णाः पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकात्मिकाः। इमे खलु लोकाः प्रतिष्ठा सर्वप्राणिनामाधारः। चरित्रमिति प्रत्येकविवक्षया एकवचनम्। नियतलिङ्गत्वान्नपुंसकलिङ्गम्। ततश्च प्रथमायाः स्वयमातृण्णायाः पृथिव्यात्मकत्वात् सर्वेषामाधारभूताय संसारसाधनभूताय चास्मै लोकाय तवोपधानम्। गोपायत्वित्येतदिति। पृथिव्यभिमानिदेवतात्वाद् अग्निस्त्वां गोपायत्वित्येतदुक्तम्। यच्छर्दिः शन्तमं तेनेत्येतदिति। हे स्वयमातृण्णे त्वं स्थिरासि सर्वेषां प्रतिष्ठासि प्रजापतिनोपहितासि। त्वां रुक्मो मोद्वधीत्, हिरण्मयपुरुषश्च मोद्वधीत्। तथा सती अव्यथमाना त्वं पृथिवीं दृढीकुरु। किञ्च, प्रजापतिरपां पृष्ठेऽपामाच्छादके समुद्रे प्रास्रवति भूप्रदेशे समुद्रवलयिते व्यचस्वतीं विस्तारवतीं त्वां सादयतु। यतस्त्वं पृथिव्यसि, अतः प्रथस्व विस्तारवती भव। किञ्च, त्वं सर्वेषां सुखानां भावयित्र्यसि, सर्वेषां चोत्पत्तिस्थानमसि। सर्वस्यापि भोग्यवस्तुनो दात्र्यसि। कृत्स्नस्य भुवनवर्तिपदार्थजातस्य धारयित्र्यसि। तादृशी त्वं पृथिवीरूपमात्मानं नियच्छ। मा हिंसीः। प्रयोजनमन्तरेण त्वां नोपदधे, किन्तु सर्वस्य प्राणिजातस्य स्थैर्यार्थं त्वामुपदधामि। त्वं चाग्निर्मह्या महत्या। टिलोपश्छान्दसः। स्वस्त्या अविनाशेन छर्दिषा शन्तमेन सुखातिशयसम्पादकेन तेजसा च गोपायतु। तया देवतया अङ्गिरस्वद् अङ्गिरसा तुल्या ध्रुवा स्थिरा सती सीदेति सायणाचार्यरीत्या कृत्स्नमन्त्रार्थः। अथ तया देवतयेति मन्त्रेण सादयित्वा ता अस्येत्यनेनाधिवदेत्।

अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धे माये वा, विश्वस्य सर्वस्य प्राणादिवायुवृत्तिलाभाय प्रतिष्ठायै कीर्त्यै चरित्राय प्राणिनामेवत्सर्वसिद्ध्यर्थं त्वां सादयामि प्रतिष्ठापयामि, सर्वस्यैव बुद्धिप्रतिष्ठापनाधीनत्वात्, 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' (भ० गी० २।६३) इति गीतोक्तेः, परमेशशक्तिमायाधीनत्वाच्च सर्वस्य। किञ्च, मह्या महत्या स्वस्त्या योगक्षेमसम्पत्त्या शन्तमेन अत्यन्तसुखकारिणा छर्दिषा गृहेण चाग्निः परमेश्वरस्त्वां सर्वतः पातु। तया त्वदभिमानिभूतया देवतयाऽनुगृहीता सती त्वम् अङ्गिरस्वत् प्राणवत् सीद सदोपस्थिता भव।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, योऽग्निस्ते पतिर्मह्या महत्या स्वस्त्या सुखप्रापकक्रियया शन्तमेन अत्यन्तसुखरूपेण कर्मणा छर्दिषा प्रदीप्तेन 'उच्छृदिर् दीप्तिदेवनयोः' रुधादिः, उपादिपठिते इसिप्रत्यये विश्वस्मै सम्पूर्णाय प्राणाय जीवनहेतवे, अपानाय दुःखनिवारणाय, उदानाय उत्कृष्टाय बलाय प्रतिष्ठायै सत्कृतये चरित्राय धर्माचरणाय यां त्वाभिपातु, सा त्वं तया देवतया सुखप्रदया पतिरूपया सह अङ्गिरस्वत् कारणवद् ध्रुवा निश्चला सीद' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशसम्बोधनस्य कपोलकल्पितत्वात्। स्वस्त्या सुखप्रापिकया क्रिययेत्यपि निर्मूलमेव। प्राणाय जीवनहेतव इत्यपि निर्मूलम्, प्राणस्य जीवनहेतुत्वेऽपि प्राणशब्दस्य तत्राशक्तिः। अपानाय दुःखनिवारणाय, व्यानाय विविधोत्तमव्यवहाराय उदानाय उत्कृष्टबलाय—इतीमानि सर्वाण्यपि व्याख्यानानि व्याख्यानाभासान्येव, निर्मूलत्वात्॥ १९॥

काण्डा॑त् काण्डात् प्ररोह॑न्ती परु॑षः परुषस्परि॑।
एवा नो॑ दूर्वे॒ प्रत॑नु स॒हस्रे॑ण श॒तेन॑ च॥ २०॥

मन्त्रार्थ—हे दूर्वा, तुम प्रत्येक काण्ड से और प्रत्येक पर्व से सब ओर से अंकुरित होती हो। इसी तरह से हमें भी निश्चय ही सैकड़ों-हजारों, अर्थात् असंख्य पुत्र-पौत्र आदि के रूप में अंकुरित कर हमारी सब प्रकार से वृद्धि करो ॥२०॥

'मूलाग्रवर्ती दूर्वां तस्यां पुरस्ताद् भूमिप्राप्तां काण्डात् काण्डादिति' (का० श्रौ० १७।४।१८) अध्वर्युरुदङ्मुख उपविश्य मूलाग्रयुक्तां दूर्वां दूर्वेष्टकां स्वयमातृण्णाया उपरि काण्डात् काण्डादिति ऋग्द्वयेन उपदध्यादिति सूत्रार्थः। इदमत्रावधेयम्—तस्या मूलानि स्वयमातृण्णाया उपरि भवन्ति, अग्राणि च स्वयमातृण्णायाः पुरस्ताद् भूमावर्धपद्यालोकं यथा व्याप्नुवन्ति तथोपधानं कार्यमिति विद्याधरः। अग्निदृष्टे दूर्वेष्टकादेवत्ये द्वे अनुष्टुभौ। काण्डशब्दः स्तम्बवाची। मूलैर्भूसम्बद्धं पर्व काण्डं भूम्यसम्बद्धं परुः। यावन्तः काण्डाः स्तम्बाः सन्ति, तत्र एकैकस्मात् प्रकर्षेण दूर्वोत्पद्यते। हे दूर्वेष्टके, त्वं तत्तत्काण्डात् तत्तत्पर्वणः प्रकर्षेणोत्पद्यमाना वर्तसे। एवं परुषः परुषः प्रतिपरुः सर्वतः प्ररोहन्ती सती यथा शताङ्कुरा भवसि, एवा एवमनेन प्रकारेण नोऽस्मदर्थं शतसंख्याकेन सहस्रसंख्याकेन वा त्वदीयभेदेन तत्तत्स्वरूपं धनपुत्रादिकं प्रतनु विस्तृतं कुरु। यद्वा भूमौ सम्बद्धं जटाभिः पर्व काण्डम्। हे दूर्वेष्टके, काण्डात् काण्डात् प्रतिकाण्डम्, परुषः परुषः प्रतिपरुः, भूमिसम्बद्धासम्बद्धेभ्यः सर्वपर्वभ्यः सकाशाद् यथा त्वं परि समन्तात् प्ररोहन्ती शताङ्कुराँल्लभसे, एवा एवं हे दूर्वे, स्वाङ्कुरविस्तारवत् सहस्रेण शतेन च असंख्येयैः पुत्रपौत्रादिभिः, नोऽस्मान् प्रतनु। 'नित्यवीप्सयोः'' (पा० सू० ८।१।४) इति वीप्सार्थे काण्डपरुषोर्द्वित्वम्। एवेत्यत्र 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) इति संहितायां दीर्घः। शतसहस्रशब्दावसंख्येयार्थकौ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ दूर्वेष्टकामुपदधाति। पशवो वै दूर्वेष्टका पशूनेवैतदुपदधाति तद्यैरदोऽग्निरनन्तर्हितैः पशुभिरुपैत्त एते तानेवैतदुपदधाति। तामनन्तर्हिताᳬं स्वयमातृण्णाया उपदधातीयं वै स्वयमातृण्णा अनन्तर्हितांस्तदस्यै पशून् दधात्युत्तरामुत्तरांस्तदस्यै पशून् दधाति' (श० ७।४।२।१०)। स्वयमातृण्णेष्टकोपधानानन्तरं दूर्वेष्टकोपधानं विधत्ते—अथेति। इष्टकाशब्दो मृण्मयेष्टकासु मुख्यः, दूर्वायां तूपधानसामान्याद् गौणः। पशुपुष्टिसाधनत्वेन दूर्वाणामपि पशुत्वात् तदुपधानेन पशूनामेवोपधानं कृतं भवतीत्याह—पशवो वा इति। तत्किं साधारणपशुविषयम्? नेत्याह—तद्यैरद इति। अदः पुरस्ताद् अग्निः, अनन्तर्हितैरव्यवहितैः, स्वस्य तेष्वनुप्रवेशादनन्तर्हितत्वम्, तादृशैर्यैः पञ्चभिः पशुभिरन्यत्रोपजगाम, ते पशव एते दूर्वेष्टकाः। अग्निः पशून् प्रविश्य अन्यत्र जगामेत्येतत् 'स एतान् पञ्च पशून् प्राविशत्' (श० ६।२।१।४) इत्यादिना षष्ठकाण्डे विस्तरश उक्तम्। उपदधातीति सामान्येन विधानात् स्थानविशेषं विधाय प्रशंसति—तामनन्तर्हितामित्यादिना। 'तामनन्तर्हितां पुरुषादुपदधाति' (श० ७।४।२।१) इति स्वयमातृण्णेष्टकास्थानविधिव्याख्यानेनैव कृतव्याख्यानमेतत्। 'यद्वेव दूर्वेष्टकामुपदधाति। प्रजापतेर्विस्रस्तस्य यानि लोमान्यशीर्यन्त ता इमा ओषधयोऽभवन्नथास्मात् प्राणो मध्यत उदक्रामत्तस्मिन्नुत्क्रान्तेऽपद्यत' (श० ७।४।२।११)। विहितमुपधानमनूद्य ओषधीनां दूर्वायाश्च उत्पत्तिप्रदर्शनपूर्वकं तदुपधानेनैवान्याः सर्वौषधीः प्राणं रसं चोपहितवान् भवतीति स्तौति—यद्वेवेत्यादिना। 'सोऽब्रवीदयं वाव मा धूर्वीदिति यदब्रवीदधूर्वीन्मेति तस्माद् धूर्वा धूर्वा ह वै तां दूर्वेत्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवास्तदेतत्क्षत्रं प्राणो ह्येष रसो लोमान्यन्या ओषधय एतामुपदधत् सर्वा ओषधीरुपदधाति' (श० ७।४।२।१२)। अयमेव प्राणो माम् अधूर्वीद् अहिंसीदिति प्रजापतिर्यदब्रवीत्, तस्माद् एष प्राणो नाम्ना धूर्वा अभूत्। ननु धूर्वा कथं दूर्वा भवितुमर्हति? इत्यत आह—धूर्वा ह वै तां दूर्वा इत्युच्यते। धूर्वाशब्दः पचाद्यजन्तः। लोके किञ्चिन्नामधेयविशिष्टं पुरुषं गौरवार्थं भ्राता पितेत्येव परोक्षेण व्यपदिशन्ति। तदेतदिति। यत एष दूर्वा प्राणात्मको रसः। प्राणस्य रसात्मकत्वं श्रूयते—'प्राणो हि वा अङ्गानाᳬं रसः' (श० १४।१।१।२१) इति। एष इति पुंल्लिङ्गत्वं प्राणरसापेक्षम्। अतस्तदेतद् दूर्वाक्षत्रं प्रधानम्। क्षत्रशब्देनात्र प्राधान्यं लक्ष्यते। तदेतदित्यपि क्षत्रशब्दा-

पेक्षम् । तथा सति लोम्नः प्राणानुविधायित्वात् प्राणरसात्मिकामेतां दूर्वेष्टकामुपदधद् लोमात्मिकाः सर्वा अपि ओषधीरुपदधाति ।

'तं यत्र देवाः समस्कुर्वंस्तदस्मिन्नेतं प्राणꣳ रसं मध्यतोऽदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति तामनन्तर्हिताꣳ स्वयमातृण्णाया उपदधातीयं वै स्वयमातृण्णानन्तर्हितास्तदस्या ओषधीर्दधात्युत्तरामुत्तरास्तदस्या ओषधीर्दधाति सा स्यात् समूला साग्रा कृत्स्नतायै यथा स्वयमातृण्णायामुपहिता भूमिं प्राप्नुयादेवमुपदध्यादस्याꣳ ह्येवैता जायन्त इमामनुप्ररोहन्ति' (श० ७।४।२।१३)। किञ्च, यदा देवास्तं प्रजापतिं चयनसंस्कारेण संस्कृतवन्तः, तदा अस्मिन् प्रजापतौ मध्यतो मध्ये प्राणं रसमदधुः, तथैवायमध्वर्युरेतद् एतेन दूर्वेष्टकोपधानेन प्राणं रसं निहितवान् भवतीत्यर्थः । अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम् । उपधातव्याया दूर्वेष्टकाया लक्षणमाह—सा स्यादिति । कृत्स्नतायै अविच्छिन्नमूलाग्रं हि सम्पूर्णमन्यूनं भवति । ततो मूलाग्रवती कार्या । उपधाने विशेषमाह—यथेति । अत्र कात्यायनः—'मूलाग्रवतीं दूर्वां तस्यां पुरस्तादभिप्राप्ताम्' (का० श्रौ० १७।४।१८)। दूर्वेष्टकायाः पुरस्ताद् भूमिसंस्पर्शेनोपधान इमां दूर्वामुपलक्ष्यैता ओषधयो भूमौ प्ररोहेयुरित्याह—अस्यां ह्येवैता इति । 'काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्ती परुषः परुषस्परीति काण्डात् काण्डाद्ध्येषा पर्वणः पर्वणः प्ररोहत्येवा नो दूर्वे प्रतनु सहस्रेण शतेन चेति यथैव यजुस्तथा बन्धुः' (श० ७।४।२।१४)। यावन्तः काण्डाः स्तम्बा विद्यन्ते, तत्र एकैकस्मात् स्तम्बात् प्रकर्षेणोत्पद्यमाना, एकैकस्मात् पर्वणः परितः प्रकर्षेण उत्पद्यमाना । अथवा काण्डशब्देन पर्वणोर्मध्यवर्ती दण्ड उच्यते । काण्डात् काण्डात् सर्वस्मात् काण्डात्, परुषः परुषः सर्वस्मात् पर्वणः, हे दूर्वे, येषु काण्डेषु यानि सर्वाणि पर्वाणि विद्यन्ते, तेभ्यः सर्वेभ्यः परितः प्ररोहन्ती भवसीत्यर्थः । एवा एवं यथा त्वं भवसि, एवं नः अस्मान् शतेन सहस्रेण च शतसहस्रसंख्याकैः पुत्रादिभिः प्रतनु विस्तारयेति ।

अध्यात्मपक्षे—हे भगवच्छक्तिभूते प्रकृते, मूलसम्बन्धासम्बन्धेभ्यः सर्वपर्वभ्यः प्रतिकाण्डं प्रतिपरुः प्ररोहन्ती प्रकर्षेण वर्धमाना भवसि । कार्याणि काण्डाः, अवान्तरकार्यकारणभावः परुरिति वा । यथा त्वं सहस्रेण शतेन असंख्यातैः कार्यकारणभावैः कार्यैश्च वर्धसे, एवा एवमेव नोऽस्मान् पुत्रपौत्रशिष्यप्रशिष्यादिभिश्च प्रतनु । भक्तिज्ञानवैराग्यादिपारम्पर्यैर्वा प्रतनु ।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, त्वं यथा सहस्रेण शतेन च काण्डात् काण्डाद् ग्रन्थेर्ग्रन्थेः परुषः परुषो मर्मणो मर्मणः परि सर्वतः प्ररोहन्ती प्रकृष्टतया वर्धमाना हे दूर्वे ! दूर्वावद्वर्तमाने, तथैव नोऽस्मान् पुत्रपौत्रैश्वर्यादिभिः प्रतनु विस्तृणुहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, काण्डपरुष्शब्दयोर्ग्रन्थिमर्मार्थत्वे प्रमाणाभावात्, स्वकीयहिन्दीभाष्येऽवयवग्रन्थिपरत्वोक्तिविरोधाच्च ॥ २० ॥

या श॒तेन॑ प्र॒तनो॑षि स॒हस्रे॑ण वि॒रोह॑सि ।
तस्या॑स्ते देवीष्टके वि॒धेम॑ ह॒विषा॑ व॒यम् ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—हे देदीप्यमान इष्टके, तुम सैकड़ों काण्डों से विस्तार को प्राप्त होती हो, सहस्रों अंकुरों से अनेक प्रकार से अंकुरित होती हो । हम तुम्हारे लिये हवि का विधान करते हैं ॥ २१ ॥

हे देवि, दीव्यमाने हे इष्टके ! या त्वं शतेन काण्डानां प्रतनोषि विस्तारयसि, सहस्रेण च अङ्कुराणां विरोहसि विविधं प्ररूढा भवसि, वयं हविषा सह ते तव स्वरूपं स्थानं वा विधेम परिचरेम । अत्र ब्राह्मणम्—'या शतेन प्रतनोषि सहस्रेण विरोहसीति शतेन ह्येषा प्रतनोति सहस्रेण विरोहति तस्यास्ते देवीष्टके विधेम हविषा वयमिति····' (श० ७।४।२।१५)। पूर्ववदेव व्याख्यानम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे चिदधिष्ठिते प्रकृते, या त्वं काण्डानां शतेन प्रतनोषि अङ्कुराणां सहस्रेण विरोहसि। हे देवि, द्योतमाने इष्टके ! अनुकम्पमाने इष्टदेवते तस्यास्ते स्वरूपं हविषा वयं परिचरेम।

दयानन्दस्तु—'हे इष्टके इष्टकावद् दृढाङ्गे देवि स्त्रि, यथेष्टकाशतेन असंख्यातेन प्रतनोति सहस्रेण विरोहति, तथा त्वमस्मान् शतेन प्रतनोषि सहस्रेण विरोहसि, तस्यास्ते तव हविषा वयं विधेम त्वां परिचरेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनादेर्निर्मूलत्वात्, 'इष्टके' इति सम्बोधनस्य निरर्थकत्वाच्च। यदि दृढाङ्गत्वमेवापेक्षितम्, तदा शैलीति सम्बोधनं स्यात्। न चेष्टका प्रतनोति न वा विरोहति, तस्या निर्जीवत्वात्। न चैकया इष्टकया भवनादिनिर्मितिर्भवति। तस्मात् सर्वमेतदनर्गलमेव। श्रुतिसूत्रविरोधस्तु पदे पदे शिरस्यापतितः। सिद्धान्ते दूर्वेष्टकायां सर्वमुपपन्नमेव ॥ २१ ॥

यास्ते॑ अग्ने॒ सूर्ये॒ रुचो॒ दिव॑मात॒न्वन्ति॑ र॒श्मिभिः॑।
ताभि॑र्नो अ॒द्य सर्वा॑भी रु॒चे जना॑य नस्कृधि ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आपकी जो दीप्ति सूर्यमण्डल में वर्तमान किरणों के द्वारा द्युलोक को प्रकाशित करती है, उस सम्पूर्ण कान्ति के द्वारा आज इस समय आप हमारी शोभा के निमित्त बनें तथा हमारे पुत्र-पौत्र आदि को जगत् में प्रसिद्ध करें ॥ २२ ॥

'यास्त इति द्वियजुषं द्वितीये' (का० श्रौ० १७।७।२०)। दूर्वेष्टका पुरस्ताद् द्वितीये पद्यालोके 'यास्ते' इति ऋग्द्वयेन द्वियजुःसंज्ञां पद्येष्टकामुपदध्यादिति सूत्रार्थः। इन्द्राग्निदृष्टे अग्निदेवत्ये द्वे अनुष्टुभौ। हे अग्ने, सूर्ये सूर्यमण्डले ते तव या रुचो दीप्तयो रश्मिभी रश्मिस्वरूपेण दिवमन्तरिक्षमातन्वन्ति सर्वतो व्याप्नुवन्ति, या अग्नेर्दीप्तयस्ता एव सूर्योदयकाले सूर्यरश्मयो भवन्ति। एतच्च तैत्तिरीयेऽग्निहोत्रब्राह्मणे स्फुटम्। 'उद्यन्तं वावादित्यमग्निरनुसमारोहति' (तै० ब्रा० २।१।२।१०)। ताभिः सर्वाभिर्दीप्तिभिरद्यास्मिन् दिने नोऽस्मदर्थं नोऽस्मदीयाय जनाय पुत्रभृत्यादिरूपाय रुचे कृधि रुचं दीप्तिं कुरु। 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३।१।८५) इति विभक्तिव्यत्ययः। यद्वा रश्मिः सरूपभूतैः किरणैस्ताभिः सर्वाभी रुग्भिर्नोऽस्मान् रुचे रोचनाय शोभायै अद्य अस्मिन् दिने कृधि जनाय पुत्रपौत्रादिकाय च कुरु। नस्कृधीत्यत्र 'कः करत्करतिकृधिकृतेष्वनदितेः' (पा० सू० ८।३।५०) इत्यादिना विसर्जनीयस्य सः। द्युलोकप्रकाशिकाः सर्वाः कान्तीः पुत्रांश्च अस्मभ्यं देहीत्यर्थः। यद्वा विभक्तिव्यत्ययेन नोऽस्माकं जनाय जनं पुत्रादिकं ताभी रुग्भी रुचे शोभायै कुरु जगत्प्रसिद्धं पुत्रादिकं देहीत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ द्वियजुषमुपदधाति। इन्द्राग्नी अकामयेताꣳ स्वर्गं लोकमियावेति तावेतामिष्टकामपश्यतां द्वियजुषमिमामेव तामुपादधातां तामुपधायास्यै प्रतिष्ठायै स्वर्गं लोकमैतां तथैवैतद्यजमानो यद् द्वियजुषमुपदधाति येन रूपेण यत्कर्म कृत्वेन्द्राग्नी स्वर्गं लोकमैतां तेन रूपेण तत्कर्म कृत्वा स्वर्गं लोकमयानीति सा यद् द्वियजुर्नाम द्वे ह्येतां देवते अपश्यतां यद्वेव द्वियजुषमुपदधाति यजमानो वै द्वियजुः' (श० ७।४।२।१६)। 'यास्ते अग्ने सूर्ये रुचः' (वा० सं० १३।२२), 'या वो देवाः' (वा० सं० १३।२३) इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्यां द्वियजुर्नामिष्टकामुपदध्यादिति सूत्रार्थः। एतद्विधत्ते—अथेति। विहितामिष्टकां यजमानस्य स्वर्गप्राप्तिसाधनत्वेन प्रशंसति—इन्द्राग्नी इत्यादिना। स्पष्टमेतत्। इमामेवेति। ताम् आत्मना दृष्टाम् इमाम् अस्माभिरधिष्ठीयमानाम् इष्टकामेव उपादधाताम्। तामुपधाय अस्यै प्रतिष्ठायै अस्याः प्रतिष्ठायाः, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, सकाशात् सोपानवदिमामारुह्य

स्वर्गं लोकं प्राप्नुतामित्यर्थः। तथैवैतदिति यजमानो द्वियजुषमुपदधातीति। यदेतत्तथैवेन्द्राग्निदेवतावदेव दर्शयति— येनेति। येन प्रकारेण यत्कर्म कृत्वा इन्द्राग्नी स्वर्गं लोकं प्राप्नुतां तेनैव प्रकारेण तत्कर्म कृत्वा अहमपि स्वर्गं लोकमियानीति यजमानो द्वियजुषमुपदधाति। तस्मादेषा स्वर्गप्राप्तिसाधनमिति भावः। इष्टकाया द्वियजुरिति नामधेयप्राप्तिं दर्शयति—सा यदिति। यत एतां द्वे एव देवते इन्द्राग्नी अपश्यताम्, तस्माद् द्वियजुर्नाम्नी इयमिष्टकेत्यर्थः। ननु कथमेतदिति चेदुच्यते—यतो द्वे देवते एतामपश्यताम्, अत एव द्वाभ्यां यजुर्भ्यामुपधीयते। तथा सति यजुर्द्वयेनोपधानस्यापि देवताद्वयदर्शनोपाधिकत्वाद् द्वियजुरिति नामधेयस्यापि देवताद्वयदर्शनमेव निमित्तमिति। ननु 'यास्ते अग्ने', 'या वो देवाः' इत्यनयोर्मन्त्रयोर्ऋग्व्यवस्थया पठितत्वात् कथं यजुःशब्देन तदभिधानमिति चेन्न, प्रकृते यजुःशब्देन मन्त्रमात्रस्य लक्षितत्वात् (विवक्षितत्वात्)—'तेषामृक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुःशब्दः' (जै० सू० २।१।११,३५,३७) इति। अत एवोक्तमभियुक्तैः— 'नर्क्सामयजुषां लक्ष्मसाङ्कर्यादिति शङ्क्यते। पादश्च गीतिः प्रश्लिष्टपाठ इत्यस्त्वसङ्करः॥' इति। यद्यपि जैमिन्यादिभिर्मन्त्रभेद उक्तः, तथापि प्रकृते मन्त्र एव यजुःशब्दव्यवहारो लाक्षणिकः, 'तस्यास्ते देवीष्टके विधेम हविषा वयमिति यथैव यजुस्तथा बन्धुः' (श० ७।४।२।१५) इत्येवमादौ तथा दर्शनात्। अथ तामेवेष्टकां यजमानात्मना प्रशंसति—यद्वेवेति। द्वियजुषो यजमानात्मकत्वात् तदुपधानेन यजमानमेवामुष्मिल्लोकेऽर्पितवान् भवति।

'तदाहुर्यदसावेव यजमानो योऽसौ हिरण्मयः पुरुषोऽथ कतमदस्येदꣳ रूपमिति दैवो वा अस्य स आत्मा मानुषोऽयं तद्यत्स हिरण्मयो भवत्यमृतं वा अस्य तद्रूपं देवरूपममृतꣳ हिरण्यमथ यदियं मृदः कृता भवति मानुषꣳ ह्यस्येदꣳ रूपम्' (श० ७।४।२।१७)। द्वियजुषो यजमानत्वोक्त्या याज्ञिकानां जिज्ञासामवतारयति—तदाहुरिति। अथ कतमदिति। अस्य यजमानस्य इदं द्वियजुर्नाम कतमद्रूपं स्वरूपम्? रूपत्वापेक्षया नपुंसकत्वम्। उक्तस्योत्तरमाह दैवो वा इति। स हिरण्मयः पुरुषोऽस्य यजमानस्य देवत्वप्रयुक्त आत्मा शरीरम्, यद् द्वियजुरिष्टका स मनुष्यत्वप्रयुक्त आत्मेत्यर्थः। हिरण्मयत्वात् पुरुषस्य देवशरीरत्वम्, मृण्मयत्वाद् द्वियजुषो मानुषशरीरात्मकत्वम्। तदेतत्प्रतिपादयति—तद्यदित्यादिना। देवरूपमिति। यतो देवरूपम्, अतोऽस्य यजमानस्य तद्रूपममृतं खलु, विलायनेऽप्यविनश्वरत्वात्। मानुषं होति। इदं द्वियजुर्लक्षणं स्वरूपं यतो मानुषम्, अत इयं मृदः कृता भवति पार्थिवी भवति, मानुषाणां पार्थिवत्वादित्यर्थः। 'स यदमूमेवोपदध्यात्। नेनामपशिꣳष्यात् क्षिप्रे हास्माल्लोकाद् यजमानः प्रेयादथ यदिमामपशिनष्टि यदेवास्येदं मानुषꣳ रूपं तदस्यैतदपशिनष्टि तथो हानेनात्मना सर्वमायुरेति' (श० ७।४।२।१८)। द्वियजुष उपधानस्य अन्वयव्यतिरेकयोर्गुणदोषप्रदर्शनेनावश्यकत्वमाह—स यदमूमिति। स यदि हिरण्मयलक्षणामिष्टकामेवोपदध्यात्, नेमां द्वियजुर्लक्षणामिष्टकामपशिष्यात् क्षिप्रं झटिति इह अस्माल्लोकाद् यजमानः प्रेयाद् एतस्यास्तदानीमनुपधानेन, अवशेषणे त्वनेन द्वियजुर्लक्षणेन मानुषशरीरेण अस्मिल्लोके यजमानः कृत्स्नमायुरेतीत्यर्थः। 'स यन्नानूपदध्यात्। न हैतं दैवमात्मानमनुप्रजानीयादथ यदनूपदधाति तथो हैतं दैवमात्मानमनुप्रजानाति तामनन्तर्हितां दूर्वेष्टकाया उपदधाति पशवो वै दूर्वेष्टका यजमानं तत्पशुषु प्रतिष्ठापयति' (श० ७।४।२।१९)। समीपेऽनुपधाने सत्यसम्बन्धाद् यजमानः स्वकीयं देवरूपमनुक्रमेण न प्रजानीयात्, उपधाने तु प्रजानीयात्। अथ तामेवेष्टकां दूर्वेष्टकासंस्पर्शेन उपदध्यादित्याह—तामनन्तर्हितामिति।

'प्राणो वै स्वयमातृण्णा' (श० ७।४।२।२०) इति स्वयमातृण्णायाः प्राणत्वमुक्तम्। 'अथास्मात् प्राणो मध्यत उदक्रामत्' (श० ७।४।२।११) इत्यादिना प्राणरस एव दूर्वाभूदित्यप्युक्तम्। यजमानस्य हिरण्मयः पुरुषो दैवं शरीरम्, द्वियजुस्तु मानुषमित्युक्तम्। तयोर्मध्ये स्वयमातृण्णादूर्वेष्टकयोरुपधानेनाव्यवधानात् शरीरद्वयस्यापि

प्राणेनाव्यवच्छेद इत्याह—'एवम् हाग्न्यैतावात्मानौ प्राणेन सन्ततावव्यवच्छिन्नौ भवतः' (श० ७।४।२।२०) इति। 'यास्ते अग्ने सूर्ये रुचः। या वो देवा सूर्ये रुच इति रुचॐ रुचमित्यमृतत्वं वै रुगमृतत्वमेवाग्मिन्नेतद् दधाति द्वाभ्यामुपदधाति तस्योक्तो बन्धुरथो द्वयॐ ह्येवैतद्रूपं मृच्चापश्च सादयित्वा सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।४।२।२१)। मन्त्रयोः पुनः पुना रुक्पदप्रयोगस्याभिप्रायमाह—रुचं रुचमिति। अस्मिन् यजमाने रुचं दधातीति यावत्। हे इन्द्राग्नी, हे बृहस्पते, त्रयोऽपि यूयं सूर्यमण्डले वर्तमानाभिः सर्वाभिर्दीप्तिभिरस्मत्सम्बन्धिने यजमानाय प्रकाशं सम्पादयत इति भावः। ननु चास्य मन्त्रस्याध्वर्युणा पठ्यमानत्वाद् रुचं नो धत्तेति लिङ्गेन अध्वर्योरेव तत्फलं युज्यते, अतो 'न' इति पदं किमित्युपचरितमिति चेन्न, यजेतेत्यात्मनेपदश्रुत्या साङ्गप्रधानफलस्य यजमानगामित्वप्रतीतेः। न च परिक्रीतस्याध्वर्योर्दक्षिणातिरिक्तफलसम्बन्धो न्याय्यः, तस्मात् श्रुतिन्यायाभ्यां विरुद्धं तल्लिङ्गं यजमानपरत्वेनोपचरणीयम्। तस्माद्यजमानेन पाठ्येषु 'आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि' इत्यादिषु क्रियमाणानुवादिषु प्रत्यगाशीर्मन्त्रेषु श्रुतं फलं यथा याजमानमेव, तथैवाध्वर्युणा पाठ्येषु करणमन्त्रेषु श्रुतमपि फलं याजमानमेव। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, ते तव सम्बन्धिन्यो या रुचः स्वरूपज्ञानलक्षणा दीप्तयः, ता एव सूर्ये सूर्यमण्डले रश्मिभी रश्मिरूपेण दिवमातन्वन्ति. 'यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥' (भ० गी० १५।१२) इति गीतोक्तेः। हे देव, ताभिः सर्वाभिर्दीप्तिभिर्नोऽस्मभ्यं जनाय पुत्रपौत्रादिकाय च रुचं ब्रह्मात्मसाक्षात्कारलक्षणं ज्ञानं कृधि सम्पादय।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विदुष्यध्यापिके स्त्रि, यास्ते रुचयः सन्ति, ताभिः सर्वाभिर्नो यथा रुचः सूर्ये रश्मिभिर्दिवमातन्वन्ति, तथा त्वमातनु। अद्य रुचे रुचिकारकाय जनाय प्रसिद्धाय नः प्रीतान् कृधि' इति, तदपि न किञ्चित्, तादृशसम्बोधनादेर्निर्मूलत्वात्। नह्यग्निपदस्याध्यापिकार्थता सम्भवति, तत्र तस्याशक्तत्वात्। न च रुच इत्यस्य रुचय इत्यर्थः सम्भवति। न च रश्मिभिर्व्यतिरिक्तोऽन्यः प्रकाशो वितन्यतेऽप्रसिद्धेः। 'विस्तृतसुखयुक्तान्' इति हिन्दीभाष्यं प्रीतान् कुरु इति च निर्मूलमेव॥ २२॥

या वो॑ दे॒वाः सूर्ये॒ रुचो॒ गोष्वश्वे॑षु॒ या रुचः॑।
इन्द्रा॑ग्नी॒ ताभि॒ः सर्वा॑भि॒ रुचं॑ नो धत्त बृहस्पते॥ २३॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र, अग्नि और बृहस्पति देवों, आपकी जो दीप्ति सूर्यमण्डल में वर्तमान है, जो दीप्ति धेनुओं और अश्वों में स्थित है, उन सम्पूर्ण दीप्तियों से देदीप्यमान होकर आप सब हमारे निमित्त कान्ति और नीरोगता को प्रदान कीजिये॥ २३॥

हे देवाः, वो युष्माकं सम्बन्धिन्यो या रुचः सूर्यमण्डले वर्तमाना दीप्तयः सन्ति, तथा गोषु अश्वेषु च या रुचः सन्ति, हे इन्द्राग्नी! हे बृहस्पते! त्रयोऽपि यूयं ताभिः सर्वाभी रुग्भिः कृत्वा नोऽस्मदर्थं रुचं धत्त, विशिष्टरुचोऽस्मान् कुरुतेत्यर्थः। एतत्सम्बन्धि ब्राह्मणं तद्व्याख्यानं च पूर्वकण्डिकायामेवोपन्यस्तम्।

अध्यात्मपक्षे—हे देवास्तत्तदधिष्ठातारः, हे इन्द्राग्नी, विशेषतो स्तनयित्नुपावकाधिष्ठातारौ बृहस्पते बृहत्या वेदलक्षणाया वाचः पालक परमेश्वर, वो युष्माकं या रुचो दीप्तयः सूर्यमण्डले सन्ति, याश्च गोषु धेनुषु, अश्वेषु तुरगेषु विद्यन्ते, ताभिः सर्वाभिर्नोऽस्माकं मध्ये रुचं विशिष्टब्रह्मात्मज्ञानं धत्त।

दयानन्दस्तु—'हे देवाः, यूयं या वः सूर्ये रुचो रुचयो या गोषु धेनुषु अश्वेषु च रुचः प्रीतयः सन्ति, ताभिः सर्वाभी रुग्भिर्नोऽस्माकं मध्ये रुचं कामनाम् इन्द्राग्नी विद्युत्सूर्याविव तदध्यापकोपदेशकौ धत्त। हे बृहस्पते परीक्षक, भवानस्माकं परीक्षां कुरुताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित् विसङ्गतेः। विदुषां याः सूर्यादिषु प्रीतयस्ताभिः कथं प्रार्थयितृषु कामना देवैराधातुं शक्याः ? इन्द्राग्निपदाभ्यामध्यापकोपदेशकग्रहणं यथेष्टचेष्टत्वमेव द्योतयति ॥ २३ ॥

वि॒राड् ज्योति॑रधारयत् स्व॒राड् ज्योति॑रधारयत्। प्र॒जाप॑तिष्ट्वा सादयतु पृ॒ष्ठे पृ॑थि॒व्या ज्योति॑ष्मतीम्। विश्व॑स्मै प्रा॒णाया॑पा॒नाय॑ व्या॒नाय॒ विश्वं॒ ज्योति॑र्यच्छ। अ॒ग्निष्टेऽधि॑पति॒स्तया॑ दे॒वत॑याऽङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वा सी॑द ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—विशेष शोभा से युक्त विराट् रूप इस लोक ने अग्निरूप ज्योति को धारण किया है। स्वयं प्रकाशमान द्युलोक ने अग्निरूप ज्योति को धारण किया है। हे इष्टके, प्रजा के पालक प्रजापति देव प्राण, अपान, व्यान की सम्पत्ति के निमित ज्योतिर्युक्त तुमको पृथ्वी के ऊपर स्थापित करें, तुम सम्पूर्ण ज्योतियों पर अपना नियन्त्रण स्थापित करो। अग्नि तुम्हारा अधिपति है। तुम उस प्रसिद्ध देवता के साथ दृढ़ होकर अंगिरा के समान स्थित रहो ॥ २४ ॥

'विराट् स्वराडिति रेतःसिचौ प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।४।२२)। द्वियजुषः पूर्वे अव्यवहिते रेतःसिचौ द्वे पद्येष्टके प्राग्लक्षणे अनूकमभित उदङ्मुखो विराट् स्वराडिति, प्रतिमन्त्रमुपदधाति, विराडित्युत्तरां स्वराडिति दक्षिणामिति सूत्रार्थः। द्वे यजुषी इदंलोकादोलोकदेवत्ये क्रमाद्यजुरनुष्टुभौ। विशेषेण राजते दीप्यत इति विराट्। एवंविधा रेतःसिचाख्या प्रथमा इष्टका। अस्मदनुग्रहार्थं ज्योतिरधारयत्। स्वयमेव राजत इति स्वराट्, तादृशी द्वितीया रेतःसिचाख्या इष्टका अस्मदनुग्रहार्थं ज्योतिरधारयत्। यद्वा विराड् अयं लोको ज्योतिरग्निलक्षणमधारयद् धारयति। स्वेनैव राजते इति स्वराट् असौ लोको ज्योतिरादित्यलक्षणमधारयत्। 'प्रजापतिरिति विश्वज्योतिषम्' (का० श्रौ० १७।४।२३)। रेतःसिग्भ्यां पुरस्ताद् विश्वज्योतिषं यजमानकृतां प्रथमां पद्यामिष्टकामुदङ्मुखोऽध्वर्युरनूके उपदध्यादिति सूत्रार्थः। विश्वज्योतिर्दैवतं यजुः शक्वरीछन्दस्कम्। पृथिव्या पृष्ठे उपरि ज्योतिष्मतीं ज्योतिषोपेतां त्वामिष्टकां प्रजापतिः सादयतु। किमर्थम् ? विश्वस्मै सर्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय प्राणादिसम्पत्त्यर्थम्। किञ्च, हे इष्टके ! त्वं विश्वं सर्वं ज्योतिर्यच्छ निगृह्णीष्व देहि वा। अग्निश्च ते तव अधिपतिः स्वामी। तया देवतया अग्निलक्षणया ध्रुवा स्थिरा सती सीद। अङ्गिरस्वद् यथा अङ्गिरसां चयने स्थिरा सीदः, तद्वदत्रापि।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ रेतःसिचा उपदधाति। इमौ वै लोकौ रेतःसिचाविमौ ह्येव लोकौ रेतः सिञ्चत इतो वा अयमूर्ध्वꣳ रेतः सिञ्चति धूमꣳ साऽमुत्र वृष्टिर्भवति तामसावमुतो वृष्टिं तदिमा अन्तरेण प्रजाः प्रजायन्ते तस्मादिमौ लोकौ रेतःसिचौ' (श० ७।४।२।२२)। रेतःसिङ्नामधेययोरिष्टकयोरुपधानं विधत्ते—अथेति। विहिते इष्टके पृथिवीद्युलोकात्मना प्रशंसति—इमौ वै लोकावित्यादिना। तद्रेतःसेचनमेतयोः प्रत्यक्षसिद्धमित्याह—इमौ ह्येवेति। इतो वा अयमित्यादिना तदेव प्रत्यक्षत्वं दर्शयति—अयं लोक इतोऽस्मात् प्रदेशाद् धूमलक्षणं रेतः सिञ्चति। सा धूमोऽमुत्र द्युलोके वृष्टिर्भवति। सेति वृष्ट्यपेक्षं स्त्रीलिङ्गत्वम्, धूमस्य मेघकारणत्वात् तद्द्वारा वृष्टिकारणत्वाद् धूमो वृष्टिरिति कारणे कार्यत्वोपचारः। तां वृष्टिमसौ द्युलोकः, अमुतोऽमुष्मात् प्रदेशात् सिञ्चति। तस्मादनयोर्लोकयोर्मध्ये वृष्टिपरिणतान्नद्वारा प्रजाः प्रजायन्ते। 'अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते' (तै० उ०

२।२) इति श्रुतेः, 'वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः' (मनु० ३।७६) इति स्मृतेश्च । तस्मादिमौ लोकौ रेतःसिचौ। तद्रूपेणानुसन्धानाद् इष्टके अपि रेतःसिचावित्युच्येते। 'विराड् ज्योतिरधारयदिति। अयं वै लोको विराट् स इममग्निं ज्योतिर्धारयति स्वराड् ज्योतिरधारयदित्यसौ वै लोकः स्वराट् सोऽमुमादित्यं ज्योतिर्धारयति विराड्वहेमौ लोकौ स्वराट् च नानोपदधाति नाना हीमौ लोकौ सकृत्सादयति समानं तत् करोति तस्माद् ह्यानयोर्लोकयोरन्ताः समायन्ति' (श० ७।४।२।२३)। प्रथमाया उपधाने मन्त्रं विधाय व्याचष्टे—विराड् ज्योतिरिति। अयं लोकः पृथिवी विराट्शब्देनाभिधीयते। स च इममस्मदादीनां प्रत्यक्षमग्निरूपं ज्योतिर्धारयति। प्रथमा रेतःसिग् भूलोकात्मिकेत्युक्तम्। तस्मात् प्रथमरेतःसिगात्मको विराट्शब्दाभिधेयो भूलोकोऽग्निरूपं ज्योतिर्धारयति। स्वराड् ज्योतिरिति द्वितीयोपधानमन्त्रः। अनयोर्विराट्स्वराट्शब्दाभिधेयत्वमेवोपपादयति—विराड्वहेमाविति। इह स्थापनाकर्मणि विराट्स्वराट्नाम्न्यौ इष्टके लोकद्वयस्वरूपे विराड्वेहेमावित्यस्य स्थाने विराड्वहेमाविति व्यत्ययेन एकारस्थाने अकारः। तयोः पृथक् पृथङ्मन्त्रेणोपधानमाह—नानोपदधातीति। यत इमौ लोकौ नाना तस्मात्तदात्मिकयोरिष्टकयोरुपधानं पृथक् पृथङ्मन्त्रेण कर्तव्यमित्यर्थः। उपाधानमन्त्रवत्सादनमन्त्रस्यापि पार्थक्येन प्राप्तावाह—सकृदिति। 'तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद' इति सादनमन्त्रः। तमेकवारमुच्चार्य सादयेत्, न तु प्रतीष्टकमित्यर्थः। तेन तदुपधानं समानं करोति। तस्मादनयोर्लोकयोरन्ताः प्रान्ताः समायन्ति परस्परं सम्बद्धा भवन्ति। अन्तरिक्षभागा हि पृथिवीभागैः सम्बद्धचन्त इत्येतत् प्रत्यक्षसिद्धमेव। 'यद्वेव रेतःसिचा उपदधाति। आण्डौ वै रेतःसिचौ यस्य ह्याण्डौ भवतः स एव रेतः सिञ्चति विराड्ज्योतिरधारयत् स्वराड्ज्योतिरधारयदिति विराड्वहेमावाण्डौ स्वराट् च तावेतज्ज्योतिर्धारयतो रेत एव प्रजातिमेव नानोपदधाति नाना हीमावाण्डौ सकृत् सादयति समानं तत्करोति तस्मात् समानसम्बन्धनौ ते अनन्तर्हिते द्वियजुष उपदधाति यजमानो वै द्वियजुरनन्तर्हितौ तद्यजमानादाण्डौ दधाति' (श० ७।४।२।२४)। आण्डौ पुरुषसम्बन्धिनौ बीजकोशा उच्येते। अण्डशब्दात् 'प्रज्ञादिभ्यश्च' (पा० सू० ५।४।३८) इति स्वार्थिको अण्। यस्य ह्याण्डौ भवत इत्याण्डयो रेतःसिक्त्वं प्रतिपादितम्। आण्डयोः प्रजोत्पादनसामर्थ्याद् विराट्त्वं प्रत्यक्षसिद्धम्। प्रजातिशब्देन प्रजोत्पादनमभिधीयते। रेतःप्रजातिशब्दाभ्यां प्रजा लक्ष्यन्ते। तत्प्रकाशकत्वाज्ज्योतिष्ट्वमवगन्तव्यम्। प्रकृतयोरिष्टकयोः स्थानविशेषमाह—ते अनन्तर्हिते इति।

'अथ विश्वज्योतिषमुपदधाति। अग्निर्वै प्रथमा विश्वज्योतिरग्निर्ह्यवास्मिंल्लोके विश्वं ज्योतिरग्निमेवैतदुपदधाति। तामनन्तर्हिताᳪं रेतःसिग्भ्यामुपदधातीमौ वै लोकौ रेतःसिचावनन्तर्हितं तदाभ्यां लोकाभ्यामग्निं दधात्यन्तरेवोपदधात्यन्तरेव हीमौ लोकावग्निः' (श० ७।४।२।२५)। विश्वज्योतिराख्याया इष्टकाया उपधानं विधाय तामग्न्यात्मना स्तौति—अथेति। स्वयमातृण्णा इव विश्वज्योतिषोऽपि तिस्रा विद्यन्ते, अतोऽत्र प्रथमेति विशेषणम्। अस्मिंल्लोके यत्किञ्चन ज्योतिरस्ति तत्सर्वमग्निमयमेव। अग्निर्विश्वज्योतिरिति तदात्मकत्वेनानुसन्धानादिष्टकापि विश्वज्योतिः, अतस्तदुपधानेऽग्निमेवोपहितवान् भवतीति। सादनप्रकारं विधत्ते—तामनन्तर्हितामिति। तां विश्वज्योतिषं रेतःसिग्भ्यामनन्तर्हितामव्यवहितां तत्संस्पर्शेनोपदध्यात्। तथा सति रेतःसिचोः पृथिवीद्युलोकात्मकत्वात् ताभ्यामव्यवहितमेवाग्निं दधाति। क्वचित् पार्श्वेऽपि तत्संस्पर्शेनोपधानेऽव्यवधानमुपपद्यत इत्यत आह—अन्तरेव हीति। अन्तरा इव इति पदविभागः। इवशब्द एवकारार्थः। 'अन्तरान्तरेण युक्ते' (पा० सू० २।३।४) इत्यनेन इमौ इति द्वितीया। अनयोर्लोकयोर्मध्ये पृथिव्या उपरि अन्तरिक्षे खल्वग्निः प्रकाशते, तस्मान्मध्यत उपधानम्। 'यद्वेव विश्वज्योतिषमुपदधाति। प्रजा वै विश्वज्योतिः प्रजा ह्येव विश्वं ज्योतिः प्रजननमेवैतदुपदधाति तामनन्तर्हिताᳪं रेतःसिग्भ्यामुपदधात्याण्डौ वै रेतःसिचावनन्तर्हितां तदाण्डाभ्यां प्रजातिं दधात्यन्तरेवोपदधात्यन्तरेव ह्याण्डौ प्रजाः प्रजायन्ते' (श० ७।४।२।२६)। अथैतामिष्टकां प्रजात्मनापि

स्तौति—यद्वेवेति । प्रजा हि विश्वज्योतिः । यतः प्रजा ज्ञानशक्त्या सर्वान् पदार्थान् प्रकाशयति, तस्मात् प्रजा विश्वं ज्योतिरित्येतदपरोक्षम् । तथा सत्येतद् एतेनेष्टकोपधानेन प्रजननं प्रजोत्पादनमेवोपहितवान् भवति । प्रजायाः प्रजोत्पादनस्य च कार्यकारणभावादभेदविवक्षया एवमुक्तम् । रेतःसिचोराण्डत्वाद् विश्वज्योतिश्च प्रजात्वात् ताभ्यामव्यवहितत्वेन मध्यत उपधाने प्रजोत्पादनमेवाण्डयोर्निहितं भवतीति दर्शयति—तामनन्तर्हितामिति । आण्डयोर्मध्यत एव रेतोनिर्गमनद्वारत्वात् तत एव प्रजाः प्रजायन्ते । 'प्रजापतिष्ट्वा सादयत्विति । प्रजापतिर्ह्येतां प्रथमां चितिमपश्यत् पृष्ठे पृथिव्या ज्योतिष्मतीमिति पृष्ठे ह्ययं पृथिव्यै ज्योतिष्मानग्निः' (श० ७।४।२।२७) । तत्रोपधाने मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे—प्रजापतिष्ट्वेत्यादिना । यतः प्रजापतिरेतां प्रथमां चितिमपश्यत्, अतः प्रथमां विश्वज्योतिषं 'प्रजापतिष्ट्वा सादयतु' इति मन्त्रेणोपदध्यादित्यर्थः । यतश्च पृथिव्याः पृष्ठे उपरि अग्निर्ज्योतिष्मान् विश्वज्योतिश्चाग्निः, 'अग्निर्वै प्रथमा विश्वज्योतिः' इत्युक्तम्, अतः पृष्ठे पृथिव्या इति मन्त्रवचनम् ।

'विश्वस्मै प्राणायापानाय । व्यानायेति प्राणो वै विश्वज्योतिः सर्वस्मा उ वा एतस्मै प्राणो विश्वं ज्योतिर्यच्छेति सर्वं ज्योतिर्यच्छेत्येतदग्निष्टेऽधिपतिरित्यग्निमेवास्या अधिपतिं करोति सादयित्वा सूददोहसाधि-वदति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।४।२।२८) । प्राणस्य सत्त्व एव सर्वेषामिन्द्रियाणां स्वस्वविषयप्रकाशकत्वात् तस्य विश्वज्योतिष्ट्वम् । सर्वस्मा उ वा एतस्मा इति । सर्वस्य खल्वेतस्य लोकस्य, प्राण आशास्यो भवतीति शेषः । अपानो व्यानश्चेति प्राण एव वृत्तिभेदभिन्नः । प्राणस्य विश्वज्योतिष्ट्वाद् विश्वस्मै सर्वस्य लोकस्य प्राणादिस्थैर्यार्थं तवोपधानमिति मन्त्रभाग आह । सर्वं ज्योतिरिति विश्वशब्दार्थविवरणम् । 'अग्निष्टेऽधिपतिः' इति मन्त्रभागकथनेनाग्निमेवास्या विश्वज्योतिषोऽधिपतिं करोति । हे विश्वज्योतिः, पृथिव्याः पृष्ठे उपरि ज्योतिष्मतीं ज्योतिषा युक्तां त्वां प्रजापतिः सादयतु स्थापयतु । किमर्थमिति तत्राह—विश्वस्मा इति । विश्वस्मै विश्वस्य सर्वलोकस्य प्राणायापानाय व्यानाय प्राणादिव्यापारार्थम् । किञ्च, विश्वं समस्तं ज्योतिस्तेजो यच्छ नियच्छ अस्मदायत्तं कुरु । ते तव अग्निरधिपतिः, अतः स त्वां परेभ्यो गोपायत्विति कृत्स्नमन्त्रार्थः ।

अध्यात्मपक्षे—विविधं राजत इति विराट् परमेश्वरः समष्टिप्रपञ्चोपहितः, ज्योतिरादित्यादिकं धारयति । स्वेनैव राजत इति स्वराट् प्रत्यक्चैतन्यात्मा ज्ञानलक्षणं ज्योतिर्धारयति । प्रजापतिः परमेश्वरो ज्योतिष्मतीं रुचां शक्तिं पृथिव्याः पृष्ठे उपरि सादयतु । किमर्थम् ? प्राणादिव्यापारार्थम् । हे भगवति ज्योतिष्मति, ज्योतिर्यच्छ । अग्निः परमेश्वरस्तेऽधिपतिः । तया देवतया अङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ।

दयानन्दस्तु—'या विराट् स्त्री विविधासु राजते सा ज्योतिर्विद्याप्रकाशमधारयद् धारयति । यः स्वराट् पुरुषो ज्योतिर्विद्युदादिप्रकाशं धारयेत्, सा स च अखिलं सुखं प्राप्नुयात् । हे स्त्रि, योऽग्निर्विज्ञानवान् ते तवाधिपतिरस्ति तया देवतया सह त्वमङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद । हे पुरुष, योऽग्निस्तवाधिपत्यस्ति तया देवतया त्वमङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद । हे स्त्रि, यः प्रजापतिः पृथिव्याः पृष्ठे तले विश्वस्मै प्राणाय प्राणिति सुखं येन तस्मै, अपानाय अपानिति दुःखं येन तस्मै, व्यानाय व्यानिति सर्वान् शुभगुणकर्मस्वभावान् येन तस्मै, ज्योतिष्मतीं विद्युतमिव त्वां सादयतु । सा त्वं ज्योतिर्विज्ञानं यच्छ । एतस्मा एतं पतिं त्वं सादय' इति, तदपि यत्किञ्चित् । तादृशसम्बोधनादेरप्रामाणिकत्वात्, अध्याहारबाहुल्याच्च । 'अग्निष्टेऽधिपतिः' इति तु मूलम्, अग्निस्तवाधिपत्यस्तीति भाष्यम्, भाष्यमेतत् कपोलकल्पितमेव । प्राणापानादिव्याख्यानमपि निर्मूलमेव ॥ २४ ॥

मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू अग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे। वासन्तिकावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ — चैत्र और वैशाख मास वसन्त ऋतु सम्बन्धी हैं, अथवा हे ऋतुरूप दोनों इष्टकाओं! तुम चीयमान अग्नि के अन्तर में स्थिर होकर श्लेष, अर्थात् दृढ़ता के निमित्त लगाई गई हो। मुझ यजमान की उत्कृष्टता के निमित्त यह द्युलोक और भूलोक अपने योग्य उपकार की कल्पना करें, जल और औषधियाँ हमारा प्राधान्य सम्पादन करें, समान व्रत वाली अनेक नाम की अग्नि स्वयमातृण्णा आदि इष्टकाएं उत्कर्ष का सम्पादन करें। यह द्यावापृथिवी के मध्य में वर्तमान एक मन वाली जो अग्नियाँ हैं, वे चयन की हुई वसन्त सम्बन्धी ऋतु का सम्पादन कर इस कर्म को सहारा दें, जैसे कि देवता इन्द्र की सेवा करते हुए उसकी सहायता करते हैं। हे इष्टके, उस प्रसिद्ध देवता के द्वारा स्थापित होकर तुम अंगिरा के समान स्थिर बनो ॥ २५ ॥

'ऋतव्ये मधुश्च माधवश्चेति' (का० श्रौ० १७।४।२४)। विश्वज्योतिषः पुरस्तात् संलग्ने द्वे पद्ये ऋतव्ये प्रागुक्तलक्षणे अनूकमभित उदङ्मुख उपदध्याद् मधुश्च माधवश्चेति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। ऋतुदैवतं यजुः। अष्टोत्तरशताक्षरत्वात् छन्दो नास्ति। मधुश्चैत्रो मासः। माधवो वैशाखो मासः। तावुभौ वासन्तिकौ वसन्तसम्बन्धिनौ ऋतू ऋत्ववयवौ। हे तादृश वसन्ताख्य ऋतो, त्वं चीयमानस्याग्नेः, अन्तःश्लेषोऽसि यथा कुड्यस्यान्तर्दार्ढ्याय काष्ठपाषाणादयः श्लिष्यन्ते तद्वत्। मम अग्निं चिन्वतो यजमानस्य ज्यैष्ठ्याय उत्कर्षार्थम्, इमे द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ कल्पेतां स्वोचितमुपकारं सम्पादयताम्। यद्वा मयेति तव स्थाने व्यत्ययः। द्यावाभूमी तवोत्कर्षाय कल्पेतामित्यर्थः। आपश्च ओषधयश्च कल्पन्तां स्वोचितमुपकारं सम्पादयन्तु। सव्रताः समानं व्रतं कर्म येषां ते, एकस्मिन् चयनाख्यकर्मण्यवस्थिता आहवनीयाद्यग्नयोऽपि पृथक्कल्पन्तां प्रत्येकं स्वस्वोचितं व्यापारं सम्पादयन्तु। इमे द्यावापृथिवी अन्तरा अनयोर्द्यावापृथिव्योर्मध्ये वर्तमानाः समनस एकमनस्का येऽग्नयोऽन्यैरपि चिताः, तेऽपि वासन्तिकौ ऋतू वसन्तसम्बन्धिनौ ऋत्ववयवौ अभिकल्पमानाः सम्पादयन्तः सन्तः, अभिसंविशन्तु एतत्कर्म आश्रयन्तु। तत्र दृष्टान्तः—इन्द्रमिव देवा इति। यथा देवा इन्द्रं परिचरणाय अभिसंविशन्ति अभितः सेवन्ते तद्वत्। हे ऋतव्ये, युवां तया देवतया अङ्गिरसां कर्मणेव ध्रुवे सत्यौ सीदतम् उपविशतम्। यद्वा मधुश्च माधवश्च वसन्तः। वसन्त एव वासन्तिक ऋतुः। विनयादेराकृतिगणत्वात् स्वार्थिकष्ठक्। ऋतू इति द्विवचनम् एकवचनस्थाने, अर्थसम्बन्धात्। यस्त्वमग्नेश्चीयमानस्य संवत्सराख्यस्य अन्तःश्लेषोऽसि, अन्तर्मध्ये व्यवस्थितः श्लेषकोऽसि, तस्य तव द्यावापृथिव्यौ ज्यैष्ठ्याय ज्येष्ठभावाय कल्पेताम्। अग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय कल्पन्ताम्, 'अग्नयो हैत पृथग् यदेता इष्टकाः' (श० ८।७।१।६) इति श्रुतेः। मम त्वेति प्राप्ते व्यत्ययेन ममेति च्छान्दसः। याः स्वयमातृण्णादयो नानाभूतास्तव ज्यैष्ठ्याय ज्येष्ठत्वाय सव्रताः समानकर्माणः समानं कर्म इष्टकानामग्निचयनं नाम। किञ्च, येऽग्नयोऽन्यैरपि चिताः समनसः समानमनस्का अनयोर्द्यावापृथिव्योरन्तरा मध्ये वर्तन्ते, तेऽपि वसन्तमृतुमभिकल्पमानाः संविशन्त्विति सम्बन्धः। अत्रापि वासन्तिकाविति स्वार्थे तद्धितः। ऋतू इति द्विवचनमेकवचनस्यार्थे। यथेन्द्रं राजानं परिचरणाय देवा अभिसंविशन्ति, एवं वसन्तमृतुमन्या इष्टकाः परिचरणायाभिसंविशन्तु। अन्यत् सर्वं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथर्तव्ये उपदधाति। ऋतव एते यदृतव्ये ऋतूनेवैतदुपदधाति मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू इति नामनी एतनयोरेते नामभ्यामेवैने एतदुपदधाति द्वे इष्टके भवतो द्वौ हि मासावृतुः सकृत्सादयत्येकं तदृतुं करोति' (श० ७।४।२।२९)। ऋतव्याख्ययोरिष्टकयोरुपधानं विधत्ते—अथेति। ऋतव्ये इति। ऋतुर्देवताऽनयोरिति विग्रहे 'वाय्वृतुपित्रुषसो यत्' (पा० सू० ४।२।३१) इति देवतार्थे यत्प्रत्यये 'यचि भम्' (पा० सू० १।४।१८) इति भसंज्ञायाम्, 'ओर्गुणः' (पा० सू० ६।४।१४६) इति गुणे, 'वान्तो यि प्रत्यये' (पा० सू० ६।१।७९) इत्यवादेशे रूपम्। ऋतुदेवत्येष्टकोपधानेन ऋतूनामेवोपधानं भवतीत्याह—ऋतव एते इति। ऋतव्यसंज्ञकयोरिष्टकयोरुपधाने मन्त्रं विधाय व्याचष्टे—मधुश्चेति। ऋतुशब्दो मासद्वये मुख्यः। अत्र तदवयवभूते मासे उपचाराद् वर्तते। मधुश्च माधवश्चेत्येतौ वसन्तसम्बन्धिनौ ऋतू मासौ, अतश्च तद्देवत्यत्वेन तदात्मिके वामुपदधामि। नामनी इत्यादिना मधुमाधवशब्दोपयोगं दर्शयति। मधुमाधवशब्दाभ्यां चैत्रवैशाखा उच्येते। ननु स्वयमातृण्णादिवद् एकैकस्या इष्टकाया उपधानं विहाय किमिति द्वयोरुपधानम्? तत्राह—द्वे इष्टके इति। इष्टकयोर्द्वित्वेऽपि सकृत्वादनेन एकमेव ऋतुं सम्पादयतीति। वसन्तर्तोः संवत्सरप्रथमावयवत्वात् प्रतिष्ठात्वम्। यत्रावयवे प्रतितिष्ठति सा प्रतिष्ठा। यथा पुरुषः पादयोः प्रतितिष्ठति तद्वत् संवत्सरोऽपि वसन्ततौ प्रतितिष्ठति। प्रथमायाश्चितेस्तूत्तरचितिलक्षणान् प्रजापतेरवयवान् प्रत्याधारत्वात् प्रतिष्ठात्वम्। अतश्च प्रथमायां चितौ प्रकृतयोरिष्टकयोरुपधाने प्रजापतेः स्वस्य वसन्तर्तुदेवत्यत्वेन तदात्मकैतदिष्टकाद्वयलक्षणं यत्प्रतिष्ठारूपमङ्गमस्ति, तदस्मिन्नेतेन प्रतिनिहितवान् भवतीत्यर्थः। 'प्रजापतिरेषोऽग्निः संवत्सर उ प्रजापतिस्तस्य प्रतिष्ठैव प्रथमा चितिः....' (श० ७।४।२।३१)। तयोः स्थानविशेषं विधाय प्रशंसति—ते अनन्तर्हिते इति। 'ते अनन्तर्हिते विश्वज्योतिष उपदधाति प्रजा वै विश्वज्योतिरनन्तर्हितास्तत्प्रजा ऋतुभ्यो दधाति' (श० ७।४।२।३१)। अनन्तर्हितोपधानेन ऋतुषु प्रतिष्ठापयतीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—अत्र कालात्मनो भगवतः स्तुतिः। हे मधुमाधवरूपवसन्तर्तो, त्वं संवत्सरस्य अग्नेः श्लेषोऽसि श्लेषको भवसि। तव ज्येष्ठत्वाय द्यावापृथिवी कल्पेताम्। आपश्चौषधयश्च तव ज्येष्ठत्वाय कल्पन्ताम्, सर्वेषां कालहेतुकत्वात्, प्रागभाव-प्रध्वंसाभावप्रतियोगित्वात्, कालायत्तत्वाच्च। समानकर्माणोऽग्नय आहवनीयाद्याः पृथग् नानाभूतास्तव ज्यैष्ठ्याय कल्पन्ताम्, तैरपि संवत्सराख्यस्याग्नेरेवाराध्यत्वात्। किञ्च अनयोर्द्यावापृथिव्योरन्तरा (मध्ये) वर्तमानाः समनस एकमनस्काश्चिता अग्नयो वसन्तमृतुमभिकल्पमानाः सम्पादयन्तः सर्वे देवा इन्द्रमिव संवत्सरात्मानं त्वामेव संविशन्तु। हे मधुमाधवौ, युवां क्रत्वभिमानिन्या तया देवतया अङ्गिरस्वत् प्राण इव ध्रुवे स्थिरे सीदतम्। ऋतूनां कालात्मकत्वात् कालस्य च सदातनत्वात् सर्वोत्पत्तिनिमित्तत्वाद् अजातावस्था, जायमानावस्था, जातावस्था च तत्रैव सम्पद्यत इति भावः।

दयानन्दस्तु—'यथा मम ज्यैष्ठ्याय यावग्नेरुत्पद्यमानौ ययोरन्तःश्लेषो भवति, तौ मधुश्च माधवश्च वासन्तिकौ सुखायतू कल्पेताम्, याभ्यां द्यावापृथिवी चापः कल्पन्ताम्, पृथगोषधयोऽग्नयश्च कल्पन्ताम्। हे सव्रताः समनसो देवाः, वासन्तिकावृतू येऽत्रान्तराग्नयश्च सन्ति तांश्चाभिकल्पमानाः सन्तो भवन्त इन्द्रमिवाभिसंविशन्तु। यथेमे द्यावापृथिवी तया देवतया सहाङ्गिरस्वद् ध्रुवे वर्तेते, तथा युवां स्त्रीपुरुषौ निश्चितौ सीदतम्' इति, तत्सर्वं वेदस्य लोकायतिकापादनमेव, तादृशसम्बोधनाद्यसम्भवात्। चैत्रवैशाखयोरग्नेरुत्पत्तिः, तयोरन्तर्वायुः, तथा युवां स्त्रीपुरुषौ निश्चितौ सीदतमित्यादिकं सर्वं निर्मूलमेव, युवामित्यनेन ऋतव्यसंज्ञकयोरिष्टकयोरेव ग्रहणात्॥ २५॥

अषा॑ढासि॒ सह॑माना॒ सह॒स्वारा॑ती॒: सह॑स्व पृतनाय॒तः। स॒हस्र॑वीर्यासि॒ सा मा॑ जिन्व॥२६॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके, तुम स्वभाव से शत्रुओं को जीतने वाली हो, तुम शत्रुओं को सहन नहीं कर सकती, अतः शत्रुओं का तिरस्कार करो, संग्राम की इच्छा करने वाले शत्रुओं का तिरस्कार करो, तुम अनन्त बल वाली हो, मुझ पर प्रसन्न होवो ।। २६ ।।

'अषाढासीत्यषाढाम्' (का० श्रौ० १७।४।२५)। अषाढासंज्ञकामिष्टकां पत्नीकृतां पद्यां प्राग्लक्षणाम् ऋतव्याभ्यां पुरस्तात् संलग्नाम् अनूके उपदधात्यषाढासीति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। सवितृदृष्टा देवदृष्टा वा इष्टकादेवत्या विराडनुष्टुप्। हे इष्टके त्वमषाढासि शत्रून्न सहते इत्यषाढा केनाप्यपरिभूता, स्वभावतश्च सहमाना सहते विरोधिन इति सहमाना विरोधिपरिभवशीला असि, अतोऽरातीरदानशीला येऽस्मभ्यं दातव्यं धनं न प्रयच्छन्ति तथाविधाः प्रजाः सहस्व अभिभव। तथा पृतनायतः पृतनां संग्राममिच्छन्ति ये ते पृतनायन्ति, पृतनायन्तीति पृतनायन्तस्तान् संग्रामेच्छून् शत्रून् सहस्व। किञ्च, या त्वं स्वभावतः सहस्रवीर्या बहुसामर्थ्या सा मां जिन्व प्रीणीहि। यद्वा अषाढासि नाम्ना। नाम चान्वर्थम्—'यदसहन्त तस्मादषाढेति' (श० ७।४।२।३३) इति श्रुत्यभिप्रायकम्। जिन्वतिः प्रीतिकर्मा।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथाषाढामुपदधाति। इयं वा अषाढेमामेवैतदुपदधाति तां पूर्वार्धे उपदधाति प्रथमा हीयमसृज्यत' (श० ७।४।२।३२)। अथ ऋतव्येष्टकोपधानानन्तरम् अषाढाभिधामिष्टकामुपदध्यात्। अषाढाया मृण्मयेष्टकात्वात् तदुपधाने पृथिव्युपधानमेव सम्पादितं भवतीत्याह—इयं वा इति। तस्या आधानं चयनस्थलस्य पूर्वभागे कर्तव्यमित्याह—तां पूर्वार्धे इति। ननु किमर्थं तथोपधानमिति चेत्तत्राह—प्रथमेति। इयमषाढा उखायाः प्रथमा असृज्यत खलु। 'सा यदषाढा नाम। देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्या अस्पर्धन्त ते देवा एतामिष्टकामपश्यन्नषाढामिमामेव तामुपादधत तामुपधायासुरान् सपत्नान् भ्रातृव्यानस्मात् सर्वस्मादसहन्त यदसहन्त तस्मादषाढा तथैवैतद्यजमान एतामुपधाय द्विषन्तं भ्रातृव्यमस्मात् सर्वस्मात् सहते' (श० ७।४।२।३३)। अषाढेति नामधेयप्राप्तिप्रदर्शनपूर्वकमुपधानोपयोगं दर्शयति—सा यदषाढा नामेत्यादिना। पुरा खलु देवाश्चासुराश्च प्राजापत्याः प्रजापतेरपत्यभूताः 'दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः' (पा० सू० ४।१।८५) इत्यनेनाऽपत्यार्थे पत्युत्तरत्वात् ण्यप्रत्यये रूपसिद्धिः। उभये अप्येते स्पर्धां परस्परं सङ्घर्षमकुर्वन्। ते देवाः केनोपायेन असुरान् जयेमेति विचार्य तदुपायत्वेन एनाम् अषाढाभिधामिष्टकामपश्यन्। दृष्ट्वा च तामिष्टकामुपहितवन्तः। तामुपधाय असुरान् सपत्नान् वैरिणो भ्रातृव्यान् इति सपत्नशब्दार्थविवरणम्। भ्रातृशब्दात् 'भ्रातुर्व्यच्च' सपत्ने' (पा० सू० ४।१।१४५) इति सपत्नार्थे व्यनो विधानात्। तानसुरान् अस्मात् सर्वस्मात् स्थानाद् असहन्त निराकुर्वन्। यथा तेषु लोकेषु असुरा अवस्थानं न लभन्ते तथा पर्यबीभवन्नित्यर्थः। यत एतया असुरान् असहन्त तस्मात् अषाढेति नामधेयम्। अत्र असुराणां सहनकथनेन स्वेषामसहनमर्थतः प्राप्तम्। अतश्च एतस्या इष्टकायाः स्वेषामसहनं प्रत्यपि कारणत्वाद् असहनसाधनत्वेन अषाढेत्युच्यते। 'साढ्यै साढ्वा साढेति निगमे' (पा० सू० ६।३।११३) इति साढाशब्दो निपातितः। ततो नञ्समासः। ततो मूर्धन्यादेशो व्यत्ययेन। तथैवैतदिति। यथैव देवा अषाढामुपधाय असुरान्निराकुर्वन्, तथैव यजमान एतामुपधाय द्विषन्तं द्वेषं कुर्वन्तं भ्रातृव्यम् अस्मात् सर्वस्मात् प्रदेशान्निराकुरुते।

'यद्वेवाषाढामुपदधाति। वाग्वा अषाढा वाचैव तद्देवा असुरान् सपत्नान् भ्रातृव्यान् अस्मात् सर्वस्मादसहन्त तथैवैतद्यजमानो वाचैव द्विषन्तं भ्रातृव्यमस्मात् सर्वस्मात् सहते वाचमेव तद्देवा उपादधत तथैवैतद्यजमानो वाचमेवोपधत्ते' (श० ७।४।२।३४)। वागात्मनापि तामिष्टकां प्रशंसति—यद्वेवेति। वाचैव तद्देवा इत्यादिना वाग्रूपत्वमषाढायाः प्रतिपाद्यते। यतो देवा निर्भर्त्सनादिविशिष्टया वाचैव असुरान् असहन्त तस्मान्निराकरणसाधनत्वसाधर्म्याद् अषाढा वाक् खलु। ततो देववद्यजमानोऽपि वाचैव द्विषन्तं सहते। उक्तन्यायेन वागात्मिका

सा। अतोऽषाढोपधानेन वाचमेव उपादधत देवाः, तथैव यजमानो वाचमेवोपधत्ते। 'सेयं वामभृत्। प्राणा वै वामं यद्धि किञ्च प्राणीयं तत्सर्वं बिभर्ति तेनेयं वामभृद् वाग्घ त्वेव वामभृत् प्राणा वै वामं वाचि वै प्राणेभ्योऽन्नं धीयते तस्माद् वाग् वामभृत्' (श० ७।४।२।३५)। इयं वा अषाढेति यत्पृथिव्यात्मकत्वमषाढाया उक्तम्, तदुपजीव्य अस्या इष्टकाया वामभृत्संज्ञाप्राप्तिं दर्शयति—सेयमिति। वामं वननीयं प्रार्थनीयं वस्तु। प्राणा वै सर्वैराशास्यमानत्वाद् वामं वस्तु। यत्किञ्चित्प्राणवदर्थजातमस्ति, तत्सर्वमियं पृथिवी बिभर्ति खलु। अतश्च वामदेवशब्देन प्राणानामभिधानात् प्राणानां प्राणिनां चाभेदविवक्षयेयं पृथिवी वामभृत्संज्ञका इति तदात्मिका अषाढापि वामभृत्संज्ञकेत्यर्थः। 'वाग्वा अषाढा' इति यदुक्तमषाढाया वागात्मत्वम्, तदुपजीव्य एतत्संज्ञालाभमाह— वाग्घ त्वेवेति। 'वाचि वै' इत्यत्र वाक्शब्देन वागिन्द्रियस्थानं मुखं लक्ष्यते, प्राणानुविधायित्वात्। प्राणशब्देन च श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि। प्राणेभ्योऽर्थे वाचि मुखेऽन्नं धीयते, तस्माद्वाग् वामभृद् इति तदात्मिका अषाढापि वामभृदभिधीयते। 'त एते सर्वे प्राणा यदषाढा। तां पूर्वार्धं उपदधाति पुरस्तात्तत्प्राणान् दधाति तस्मादिमे पुरस्तात्प्राणास्तान्नान्यया यजुष्मत्येष्टकया पुरस्तात् प्रत्युपदध्यादेतस्यां चितौ नेत् प्राणानपि दधानीति' (श० ७।४।२।३६)। सेयमित्यादिना निष्पन्नमर्थमाह—त एत इति। सेयमित्यादिना त्वषाढाया आधिभौतिकप्राणात्मकत्वमुक्तम्। 'वाग्घ त्वेव' इत्यादिना त्वाध्यात्मिकप्राणात्मकत्वम्। ततश्च अषाढा इति यद् एषा ते सर्वे प्राणाः। आध्यात्मिकाधिभौतिकत्वादिभेदेनोभयविधा अपि प्राणा इत्यर्थः। त एते इति प्राणा इत्येतदपेक्षया लिङ्गवचने। उक्तमषाढाया उभयविधप्राणात्मकत्वमुपजीव्य तस्याः पूर्वभागे उपधानमुपपादयति—तां पूर्वार्धं इति। अषाढायाः पूर्वभागे मन्त्रवत्या इष्टकाया उपधानं निवारयति—तान्नान्ययेति। तत्र हेतुः—एतस्यां चिताविति। 'नेत्' इति निपातः परिभये वर्तते (निघ० १।३।५)। अषाढाया प्राणात्मकत्वादेतस्यां प्रथमायां चितौ तस्याः पुरस्ताद् मन्त्रवदिष्टकोपधाने तद्व्यवधानात् प्राणानेवापिहितवान् भवतीति परिभयेन नोपदध्यात्। 'यद्वपस्याः पञ्च पुरस्तादुपदधाति। अन्नं वा आपोऽनपिहिता वा अन्नेन प्राणास्तामनन्तर्हितामृतव्याभ्यामुपदधात्यृतुषु तद्वाचं प्रतिष्ठापयति सेयं वागृतुषु प्रतिष्ठिता वदति' (श० ७।४।२।३७)। ननु यदि समन्त्रकाणामिष्टकानामुपधाने प्राणापिधानम्, तर्हि अपस्यानामपि मन्त्रविशिष्टानामुपधानेन तत्कस्मान्न भवतीत्यत आह—यद्वपस्या इति। अपस्यानामन्नात्मकत्वं तद्विधायकब्राह्मणे—'अपां त्वा पाथसि सादयामि' (श० ७।५।२।६०) इत्यत्राभिधास्यते। आपश्चान्नात्मिकास्तत्कारणत्वात्। अन्नेन तु प्राणानामपिधानं न सम्भवति, अन्नोपजीवित्वात् प्राणानाम्। अतश्च अन्नात्मकत्वाद् अपस्यानां समन्त्रकाणामप्युपधानं न विरुद्ध्यते। अथ तस्या ऋतव्ययोः समीपे उपधानं विधाय स्तौति—तामनन्तर्हितामिति। सेयमिति। ऋतुष्ववस्थितेषु प्राणिष्वित्यर्थः।

'प्रजा वै विश्वज्योतिः' इति विश्वज्योतिषः प्रजात्वमुक्तम्। 'वाग्वा अषाढा' इत्यषाढाया वाक्त्वं प्रतिपादितम्। ततश्च विश्वज्योतिषः समीपेऽषाढाया उपधाने सति प्रजासु वागुपहिता भवति। तदकृत्वा तयोर्मध्ये किमर्थमृतव्ययोरुपधानमित्याशङ्क्य तत्कारणमाह—'तदाहुः। यत्प्रजा विश्वज्योतिर्वागषाढाऽथ कस्मादन्तरेणर्तव्ये उपदधातीति संवत्सरो वा ऋतव्ये संवत्सरेण तत्प्रजाभ्यो वाचमन्तर्दधाति तस्मात्संवत्सरवेलायां प्रजा वाचं प्रवदन्ति' (श० ७।४।२।३८)। 'ऋतव एते यदृतव्ये' (श० ७।४।२।२९) इति ऋतव्ययोर्ऋत्वात्मकत्वात् सम्भूय सर्वेषामृतूनां संवत्सरात्मकत्वाद् ऋतव्ये संवत्सरः। ततश्च ऋतव्ययोर्मध्ये उपधाने संवत्सरेण प्रजाभ्यो वाचं व्यवहितां करोति। तस्मादिदानीमुत्पत्तेरुपरि संवत्सरे गते सति पश्चात् प्रजा वाचं प्रवदन्ति। 'अषाढासि सहमानेति। असहन्त ह्येतया देवा असुरान् सहस्वारातीः सहस्व पृतनायत इति यथैव यजुस्तथा बन्धुः सहस्रवीर्यासि सा मा जिन्वेति सर्वं वै सहस्रꣳ सर्ववीर्यासि सा मा जिन्वेत्येतत् सादयित्वा

सूददोहमाऽधिवदति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।४।२।३९)। प्रकृताया अषाढाया इष्टकाया उपधाने मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे—अषाढासीत्यादिना। यतो देवा एतया इष्टकया असुरान् असहन्त निराकुर्वन्, अतः सहनसाधनत्वाद् अषाढासीति मन्त्र आह। सहस्रवीर्यासीत्यत्र सहस्रशब्देनापरिमितसंख्या विवक्षितेति दर्शयति—सर्वं वै सहस्रमिति। तथा चेत्थं मन्त्रार्थः— हे इष्टके त्वं सहमाना असुराणां निराकर्त्री, अतो नाम्ना अषाढासि। तस्माद् अरातीरदानशीलान् शत्रून् सहस्व परिभावय। किञ्च, ये पूर्वं विरोधिनो न भवन्ति, इतः परं पृतनां संग्राममिच्छन्ति ते पृतनायन्तः, तानपि परिभावय। किञ्च, त्वं सहस्रवीर्यासि अपरिमितवीर्यविशिष्टासि। अनेन विशेषणेन शत्रुनिराकरणसामर्थ्यमुपपादितं भवति। सा त्वं मां जिन्व प्रीणीहि। दूर्वेष्टकादीनां स्वयमातृण्णायाः प्राग्भागे उपधाने कारणमाह—'तदाहुः। कस्मादभि स्वयमातृण्णमन्या इष्टका उपधीयन्ते प्राच्य एता इति द्वौ वै योनी इति ब्रूयाद्देवयोनिरन्यो मनुष्ययोनिरन्यः प्राचीनप्रजनना वै देवाः प्रतीचीनप्रजनना मनुष्यास्तद्यदेताः प्राचीरुपदधाति देवयोनेरेवैतद्यजमानं प्रजनयति' (श० ७।४।२।४०)। अभिस्वयमातृण्णं स्वयमातृण्णामभिलक्ष्य स्वयमातृण्णाया उपरि भाग इत्यर्थः। 'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये' (पा० सू० २।१।१४) इत्यव्ययीभावसमासः। अन्या इष्टका उपरि वक्ष्यमाणा उपधीयन्ते, एता दूर्वेष्टकादयस्तु तस्याः प्राच्य उपधीयन्ते, तत्कथमिति यच्चोद्यमस्ति तत्रोत्तरमाह—द्वौ वै योनी इति। अर्थाद् देवयोनिरन्यः, मनुष्ययोनिरन्यः। एतद्विवृणोति—प्राचीनप्रजनना इति। प्राचीने पूर्वभागे प्रजननम् उत्पत्तिस्तत्कारणं वा येषां ते तथोक्ता देवाः। मनुष्यास्तु प्रतीचीनप्रजननाः। ततश्च एता इष्टकाः स्वयमातृण्णायाः प्राचीः प्रागपवर्गा उपदधातीति यत्तेन देवयोनेरेव एनं यजमानमुत्पादयति। एतेन मनुष्ययोनेर्भिन्ना देवयोनिर्नास्तीति वदन्तोऽर्धनास्तिकाः परास्ता वेदितव्याः।

अध्यात्मपक्षे—हे भगवति राजराजेश्वरि, त्वमषाढासि शत्रून्न सहसे इति यावत्। सहमाना शत्रून् सहते अभिभवतीति तथाविधासि, अतोऽरातीर्बाह्यानान्तरांश्च शत्रून् अभिभव। पृतनायतोऽरातीः शत्रून् सहस्व। त्वमनन्तपराक्रमासि, अतः सा त्वं मां जिन्व प्रीणीहि, स्वचरणारविन्दयोरनुरागं दत्त्वेति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे पत्नि, या त्वमषाढासि शत्रुभिरसह्यमानासि, सा त्वं सहमाना पत्यादीन् सोढुमर्हा सती पतिं मां सहस्व। या त्वं सहस्रवीर्या असंख्यातपराक्रमासि, सा त्वं पृतनायतोऽरातीरात्मनः पृतनां सेनामिच्छतः शत्रून् सहस्व। यथाहं त्वां प्रीणामि तथा मां पतिं जिन्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मूले यथाहं त्वां प्रीणामि तथा त्वं मां जिन्वेत्याद्यभावात्, सम्बोधनस्यापि निर्मूलत्वाच्च ॥ २६ ॥

मधुव्वाता॑ ऋताय॒ते मधु॑ क्षरन्ति॒ सिन्ध॑वः। माध्वी॑र्नः स॒न्त्वोष॑धीः ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ की इच्छा करने वाले यजमान के निमित्त वायु पुष्परस का वहन करती है, बहती हुई नदियाँ मधु के समान जल को बहाती हैं। सम्पूर्ण औषधियाँ हमारे लिये मधुर रस से भर जाँय ॥ २७ ॥

'कूर्मं दधिमधुघृतैरनक्ति मधु वाता इति' (का० श्रौ० १७।४।२७)। दधिमधुघृतैर्मिश्रितैर्मधुव्वातेति तिसृभिर्ऋग्भिः कूर्मं कच्छपमनक्तीति सूत्रार्थः। गोतमदृष्टा विश्वेदेवदेवत्यास्तिस्रो गायत्र्यः। ऋतायते ऋतं यज्ञमिच्छतीति ऋतयति, ऋतयतीति ऋतयन् तस्मै ऋतयते। छान्दसो दीर्घः। यजमानाय वाता वायवो मधु मधुमन्तो रसवन्तो वान्तु इति शेषः। सिन्धवः स्यन्दमाना नद्यः समुद्रा वा मधु मधुरसं क्षरन्ति स्रावयन्तु। मधुमद् रसवद् उदकं स्रवन्तु। ओषधीर् ओषधयोऽपि नोऽस्मदर्थं माध्वीर्मधुररसोपेताः सन्तु। 'ऋतायते' इत्यत्र प्राप्तस्य 'क्यचि च' (पा० सू० ७।४।३३) इतीत्वस्य 'न छन्दस्यपुत्रस्य' (पा० सू० ७।४।३५) इत्यनेन निषेधात्, 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' (पा० सू० ७।४।२५) इति प्राप्तदीर्घत्वस्य 'अश्वाघस्यात्' (पा० सू० ७।४।३७) इति क्यचि अश्वाघशब्दयोरेव आत्वविधाननियमान्निषेधेन छान्दसमेव दीर्घत्वमिति भावः।

तत्र ब्राह्मणम् —'कूर्ममुपदधाति । रसो वै कूर्मो रसमेवैतदुपदधाति यो वै स एषां लोकानामप्सु प्रविद्धानां पराङ्रसोऽत्यक्षरत्स एष कूर्मस्तमेवैतदुपदधाति यावानु वै रसस्तावानात्मा स एष इम एव लोकाः' (श० ७।५।१।१)। कूर्मोपधानं विधाय तं रसात्मना स्तौति कूर्ममुपदधातीति। उक्तमेव कूर्मस्य रसत्वं प्रतिपादयति— यो वै स इति। एषां पृथिव्यादिलोकानामप्सु प्रविद्धानां मग्नानां स प्रसिद्धो यो रसः पराङ् अनावृत्तः, अत्यक्षरत् अस्रवत्, स रस एषोऽस्माभिरुच्यमानः कूर्मोऽतस्तमेव रसमेतेन कूर्मोपधानेन उपहितवान् भवति। लोकरसत्वप्रणाल्या कूर्मस्य लोकात्मकत्वमेवाह यावानु वा इति। रसो यावान् यावत्परिमाणः, आत्मा देहोऽपि तावान् तावत्परिमाणः, रस एव देहस्यान्तर्भावात्। यथा विलीने लोहपिण्डे तत्स्वरूपं तद्रसे सूक्ष्माकारेणावतिष्ठते, तद्वल्लोकरसात्मके कूर्मे लोका अपि सूक्ष्मरूपेण अवतिष्ठन्ते। स एष कूर्म एव सर्वलोकात्मकः। 'तस्य यदधरं कपालम्। अय७ँ स लोकस्तत्प्रतिष्ठितमिव भवति प्रतिष्ठित इव ह्ययं लोकोऽथ यदुत्तर७ँ सा द्यौस्तद् व्यवगृहीतान्तमिव भवति व्यवगृहीतान्तमेव हि द्यौरथ यदन्तरा तदन्तरिक्ष७ँ स एष इम एव लोका इमानेवैतल्लोकानुपदधाति' (श० ७।५।१।२)। पृथिव्यादिलोकत्रयात्मकत्वं विविच्य कूर्मशरीरे दर्शयति— तस्येति। तस्य कूर्मस्य यदधस्तनं कपालं कठिनत्वक् सोऽयं लोकः पृथिवी। अधरकपालपृथिव्योः कस्यचित्साधर्म्यस्य प्रदर्शनात् तदात्मकत्वमुपपादयति—तत्प्रतिष्ठितमिवेति। प्रतिष्ठितम् अधः सर्वत्र पृष्ठतलम्। अधरकपालपृथिव्योस्तथाविधत्वात् तस्य पृथिव्यात्मकत्वम्। अथेति यदुत्तरं कपालं तद् द्यौः द्युलोकः। तदेवोपपादयति—तद् व्यवगृहीतान्तमिति। विविधम् अवगृहीतोऽवनतोऽन्तः प्रान्तो यस्य तत्। कूर्मस्योपरिकपालं सर्वतो मण्डलाकारेणावनतप्रान्तमिव भवति। द्यौरपि तथाविधा। तेन तस्य तदात्मकत्वम्। यदधरोत्तरयोर्द्वयोः कपालयोरन्तरा मध्यमस्ति तदन्तरिक्षम्। अतः स एष कूर्म इमे पृथिव्यादय एव लोकाः। तस्मादेतेनोपधानेन इमानेव लोकानुपदधाति।

'तमभ्यनक्ति। दध्ना मधुना घृतेन दधि हैवास्य लोकस्य रूपं घृतमन्तरिक्षस्य मध्वमुष्य स्वेनैवैनमेतद्रूपेण समर्धयत्यथो दधि हैवास्य लोकस्य रसो घृतमन्तरिक्षस्य मध्वमुष्य स्वेनैवैनमेतद्रसेन समर्धयति' (श० ७।५।१।३)। विहितस्य कूर्मस्य दधिमधुघृतैरभ्यञ्जनं विधत्ते—तमभ्यनक्तीति। दधिमधुघृतानां पृथिव्यादिलोकरूपत्वात् तैरभ्यञ्जनैः कूर्मं स्वकीयेनैव रूपेण समृद्धं करोतीत्याह—दधि हैवेति। घनीभावसाधर्म्याद् दध्नः पृथिवीलोकरूपत्वम्, घृतस्य दध्न उपरिभावित्वात् पृथिव्युपरितनान्तरिक्षलोकरूपत्वम्, मधुनस्तु वृक्षाचलशिखरादिषूपरिभागेष्ववस्थितत्वाद् द्युलोकात्मकत्वम्। अथवा मधुनो मधुररसत्वेन सोमात्मकत्वात् सोमस्य च द्युलोकेऽवस्थानाद् मधुनो द्युलोकरूपत्वम्। प्रकारान्तरेणापि दध्यादिभिरभ्यञ्जनं प्रशंसति—अथो इति। 'मधुव्वाता ऋतायत इति। यां वै देवतामृगभ्यनूक्ता यां यजुः सैव देवता सर्क् सो देवता तद्यजुस्तद्धैतन्मध्वेदेवं त्रिचो रसो वै मधु रसमेवास्मिन्नेतद्दधाति गायत्रीभिस्त्रिसृभिस्तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।५।१।४)। अभ्यञ्जने मन्त्रं विधत्ते—मधुव्वाता ऋतायत इति। विहितमभ्यञ्जनं रसात्मना प्रशंसति — यां वै देवतामिति। यां देवतामभिलक्ष्य या ऋग् अनूक्ता उच्चारिता यद्देवताप्रतिपादकत्वेनोच्यते, सा ऋक् तत्प्रतिपादकत्वात् सैव प्रतिपाद्या देवता, तथैव यजुरपि। अत एव छान्दोग्यादिषु ब्रह्मप्रतिपादकत्वात् प्रणवस्य ब्रह्मरूपता मात्राणां च पादरूपतोक्ता—'ओमितीदं ब्रह्म मात्राः पादाः पादाश्च मात्राः' इति। साम्नां गीतिरूपत्वान्नार्थान्तरत्वम्, ऋक्ष्वेव तेषामध्यूढत्वात्। तथा सति तत्तद्देवतास्वरूपमेतन्मधु, 'मधुव्वाता ऋतायते' इत्यनया ऋचा प्रतिपाद्यत्वात्। ततश्च एष तृचः प्रतिपाद्यत्वेन देवताभूतमध्वात्मकः। तिस्र ऋचो यस्मिन् समुदाये स तृचः। 'ऋचि त्रेरुत्तरपदादिलोपश्च छन्दसि' (पा० सू० ६।१।३४ वा० १) इति त्रिशब्दस्य सम्प्रसारणमृवर्णस्य च लोपः। 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' (पा० सू० ५।४।७४) इति समासान्तः। मधु च रसः रसस्वरूपम्। अतश्चैतेन तृचेन उपधाने सति रसात्मकेऽस्मिन् कूर्मे रसमेव निहितवान्

भवति । अभ्यञ्जनमन्त्राणां छन्दःसंख्ये विधत्ते—गायत्रीभिस्तिसृभिरिति । तद्व्याख्यानं प्रागुक्तमित्याह—तस्योक्तो बन्धुरिति । एतच्च 'गायत्रीभिः प्राणो गायत्री प्राणमेवास्मिन्नेतद्दधाति, तिसृभिस्त्रयो वै प्राणाः प्राण उदानो व्यानस्तानेवास्मिन्नेतद्दधाति' (श० ६।४।२।५) इति षष्ठकाण्डे विहितम् ।

अध्यात्मपक्षे—ऋतं सत्यज्ञानादिलक्षणं परमार्थतत्त्वमात्मन इच्छतीति ऋतायन् उपासकः परब्रह्मात्मदर्शी वा, तस्मै । वाता वायवो मधु मधुरसं क्षरन्ति स्रवन्ति स्रावयन्ति वा । सर्वस्य परमार्थब्रह्मरूपत्वाद् ब्रह्मात्मकं रसमेवानुभावयन्ति । सिन्धवः स्यन्दमाना नद्यः समुद्रा वा मधु क्षरन्ति । ओषधीर् ओषधयोऽपि 'वा च्छन्दसि' (पा० सू० ६।१।१०६) इति पूर्वसवर्णदीर्घः । नोऽस्मभ्यम् उपासनाकारिभ्यो माध्वीः मधुररसोपेताः सन्तु । सर्वमेव वस्तु परमानन्दरसमयं सद् रसमेव क्षरति ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वाता वसन्ते नो मधु मधुरं यथा स्यात्तथा ऋतायते ऋतमिवाचरन्ति, अत्र वचनव्यत्ययः, सिन्धवो नद्यः समुद्रा वा मधु क्षरन्ति, ओषधीर् ओषधयो माध्वीर्माध्व्यः सन्तु, तथा वयमनुतिष्ठेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निष्प्रमाणमध्याहारव्यत्ययबाहुल्यात् । अन्वयाद्यनुपपत्त्यैव श्रुतार्थपरित्यागेनाश्रुतार्थकल्पनं युक्तम् ॥ २७ ॥

मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवꣳ रजः । मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—पिता के समान हमारा पालन करने वाला द्युलोक अमृतमय हो, माता रूप पृथ्वी सम्बन्धी रज अमृतमय हो, रात्रि और दिन अमृतमय हों, अर्थात् ये सब हमारा मंगल सम्पादन करें ॥ २८ ॥

नक्तं रात्रिर्नः अस्माकम्, मधु मधुमयमानन्दकरमस्तु । उतापि च उषस उषःकाला दिवसा वा मधुमद् मधुमन्तः सन्तु । पार्थिवं रजः पृथिवीलोकः, मातृभूतो मधुमद् मधुररसोपेतमस्तु । पिता पितृभूतो द्यौर्द्युलोको मधुमान् मधुररसोपेतोऽस्तु । लिङ्गवचनव्यत्ययः । मधुमद् इत्ययं मतुप् सर्वेषां मधुशब्दानामनुसङ्गी द्रष्टव्यः, साकाङ्क्षत्वात् ।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मचिन्तनपरायणानां साधकानामपि नोऽस्माकं ब्रह्मध्यानेन नक्तं मधुमयं भवतु । उषस उषःकाला मधुमन्तः स्युः । तथा यत्पार्थिवं रजस्तत्सर्वं मधुमद् भवतु । नोऽस्माकं पितृभूता द्यौर्मधुवस्तु । ब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण सर्वं ब्रह्मरसमयं भवत्वित्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वसन्ते नक्तं मधु, उतापि उषसः प्रातर्मुखानि दिनानि मधुमन्ति, पार्थिवं पृथिव्या विकारो द्व्यणुकादिरूपो मधुमत्, द्यौः प्रकाशो मधु पिता पालको नोऽस्तु, तथा यूयमप्येतं युक्त्या सेवध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणात्, अध्याहाराश्रयणाच्च ॥ २८ ॥

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—सम्पूर्ण वनस्पतियाँ हमारे लिये मधुर रस से भर जांय, सूर्य हमारे लिये मधुर रस से सम्पन्न हो जाय, गायें हमें मधुर रस से सम्पन्न दुग्ध प्रदान करें ॥ २९ ॥

वनस्पतिः वनस्य पतिर्वनस्पतिः, 'पारस्करप्रभृतीनि च' (पा० सू० ६।१।१५७) इति निपातनात् सुट् । अश्वत्थ-न्यग्रोध-प्लक्षादिरस्मदर्थं मधुमानस्तु रसवानस्तु माधुर्यगुणविशिष्टो भवतु । सूर्योऽपि मधुमान् सन्तापराहित्यलक्षणमाधुर्यरसोपेतोऽस्तु । तथा गावो नोऽस्मदर्थं माध्वीर्मधुरक्षीरोपेता भवन्तु । यद्वा वनस्पतिः सोमो नोऽस्मदर्थं मधुमान् यज्ञसाधनभूतोऽस्तु । सूर्योऽपि मधुमान् यज्ञसाधनभूतोऽस्तु, 'आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं

ततः प्रजाः' (म० ३।७६) इति स्मृतेः। माध्वीर्मधुमत्यो रसवत्यो गावो रश्मयः पशवो वा भवन्तु, 'रसो वै मधु' इति श्रुतेः। वाय्वादीनि रसवन्ति नो भोग्यानि भवन्त्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—नः अस्माकं साधककुलानां कृते वनस्पतिर्वनानां जलानां संस्काररूपेण स्थितानां पतिः पालको द्रष्टा अन्तर्यामी मधुमान् मधुमयो भवतु। अर्थादन्तःकरणे स्थितास्तदितरवासनाः समाप्तिं भजन्ताम्। सूर्यो लोकानुग्रहाय प्रकाशं तन्वन् मधुमान् भवतु अतिवृष्ट्यनावृष्ट्यादिनिवारको भवतु। गाव इन्द्रियाण्यपि माध्वीर्मधुमन्ति रागद्वेषाद्यपर्याकुलानि भवन्तु। अथवा मधुविद्योपदिष्टब्रह्मज्ञानेन वनस्पत्यादयः सर्वेऽपि मधुमन्तो ब्रह्मरूपा भवन्तु, सर्वमोदहेतुत्वात् तस्यैव ब्रह्मरूपत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः, यथा वसन्ते नो वनस्पतिर्मधुमान् सूर्यश्च मधुमानस्तु, नो गावो गोतुल्याः किरणा माध्वीर्माधुर्योपेता भवन्तु, तथोपदिशत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्रे तादृशपदाभावात्॥ २९॥

अपां गम्भन्त्सीद मा त्वा सूर्योऽभिताप्सीन्माऽग्निर्वैश्वानरः।
अच्छिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्षस्वानु त्वा दिव्या वृष्टिः सचताम्॥ ३०॥

मन्त्रार्थ—प्रस्तुत मन्त्र में कूर्म रूप में प्रजापति या आदित्य का ग्रहण किया गया है। हे कूर्म, तुम जल के गम्भीर स्थान आदित्यमण्डल में स्थित हो, वहाँ रहते समय सूर्यदेव तुमको सन्तप्त न करें, सम्पूर्ण मनुष्यों के हितकारी अग्निदेव तुमको सन्तप्त न करें, अखण्डित अवयव वाली इष्टका तुमको निरन्तर देखे और दिव्य वर्षा तुम्हारी सेवा करे॥ ३०॥

'अरत्निमात्रेऽषाढां दक्षिणेनावकासूपरिष्टाच्च पुरुषमभिमुखमपां गम्भन्निति तिसृभिः' (का० श्रौ० १७।४।२८-५।१)। अषाढाया दक्षिणस्यां दिश्यरत्निमात्रे पद्यालोकद्वयमन्तरालं मुक्त्वा तृतीये पद्यालोके तत्र पूर्वमेव स्थापितास्ववकासु शेवालेषु 'अपाम्' इत्यादिऋक्त्रयेण पुरुषसम्मुखं कूर्ममुपदधातीति सूत्रार्थः। स्वराट् पङ्क्तिः, दशाक्षरचतुष्पादा एकाधिका कूर्मदेवत्या। कूर्मः प्रजापतिरादित्यो वा। हे कूर्म, अपां जलानां गम्भन् गम्भनि गम्भीरे स्थाने रविमण्डले त्वं सीद उपविश, 'एतद्वापां गम्भिष्ठं यत्रैष एतत्तपति' (श० ७।५।१।८) इति श्रुतेः। तत्रोपविष्टं त्वा त्वां सूर्यो माभिताप्सीद् अभितो मा सन्तापयतु। वैश्वानरः सर्वेषामुदरस्थोऽग्निस्त्वामभितो मा सन्तापयतु। त्वम् अच्छिन्नपत्रा अखण्डितपक्षाः प्रजारूपा इष्टका अनुवीक्षस्व निरन्तरं पश्य। किञ्च, दिव्या दिवि भवा वृष्टिश्च त्वा त्वाम् अनु सचतां सेवताम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अपां गम्भन् सीदेति। एतद्वापां गम्भिष्ठं यत्रैष एतत्तपति मा त्वा सूर्योऽभिताप्सीन्माऽग्निर्वैश्वानर इति मैव त्वा सूर्यो हिꣳसीन्मो अग्निर्वैश्वानर इत्येतदच्छिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्षस्वेतीमा वै सर्वाः प्रजा या इमा इष्टकास्ता अरिष्टा अनार्ता अनुवीक्षस्वेत्येतदनु त्वा दिव्या वृष्टिः सचतामिति यथैवैनं दिव्या वृष्टिरनुसचेतैवमेतदाह' (श० ७।५।१।८)। अथ कूर्मोपधाने मन्त्रं विधाय व्याचष्टे—अपां गम्भन्नित्यादिना। यत्र स्थाने एष सूर्य एतत्तपनं करोति, एतत्खल्वपां गम्भिष्ठं गम्भीरतमं स्थानम्, ह्रद इत्यर्थः। सूर्यस्य वृष्टिहेतुत्वात् तस्यावस्थानप्रदेशस्य ह्रदत्वमुच्यते। ततश्च कूर्मस्यापामन्तरेवावस्थानात् सूर्यावस्थानसमीपदेशलक्षणेऽपां ह्रदे सीद उपविशेति मन्त्र आह। गम्भन्निति गम्भीरशब्दस्य छान्दसो गम्भन्नादेशः। ततः सप्तम्याः 'सुपां सुलुक्…' (पा० सू० ७।१।३९) इत्यादिना लुकि रूपम्। अतिशयेन गम्भीरमिति विग्रहे 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' (पा० सू० ५।३।५५) इतीष्ठनि प्रत्यये, 'टेः' (पा० सू० ६।४।१५५) इति टिलोपे रूपम्। 'अच्छि-

ताप्सीदित्येतत्पदार्थमाह—मैव त्वेति। अच्छिन्नपत्रा इति पत्रशब्देनात्रावयवो लक्ष्यते। तेनात्राच्छिन्नावयवा इत्यर्थः। या इमा उपहिता इष्टकास्ता इमा एव सर्वाः प्रजाः खलु। इष्टकानां प्राजापत्यात्मकत्वेन प्रजापतेश्च सर्वप्रजाकारणत्वेन तदात्मकत्वादित्यर्थः। रिष्टशब्देन अनिष्टं व्याधिप्रभृतिकमुच्यते, हिंसार्थकाद् रिष्धातोर्निष्पन्नत्वात्। तद्रहिता अरिष्टाः। एतस्यैव विवरणम्—अनार्ता इति। तथा सत्यच्छिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्षस्वेत्यनेन एतदुपहितेष्टकारूपाः प्रजा यथा अरिष्टा अनार्ता भवन्ति, तथा ता अनुवीक्षस्व अनुपालयेत्येतदुक्तं भवतीत्यर्थः। यथैवैनमिति। एनं कूर्ममनुलक्ष्य यथैव दिव्या वृष्टिः सम्बध्नीयात्, एवमनेनाभिप्रायेणैतद् अनु त्वा इत्यादिकमाह।

एवं मन्त्रं व्याख्याय कूर्मोपधानीयं ब्राह्मणमुद्ध्रियते—'स यत्कूर्मो नाम। एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत यदसृजताकरोत्तद्यदकरोत्तस्मात् कूर्मः कश्यपो वै कूर्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति' (श० ७।५।१।५)। अथ कूर्म इति नाम्नः प्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयति—स यत्कूर्म इति। एतत्कूर्मसम्बन्धि रूपम् आत्मनः कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत। असृजतेत्यस्य व्याख्यानम्—यदसृजताकरोदिति। असृजत इति यत् तद् अकरोदित्यर्थः। तत् तेन कूर्मरूपेण अकरोदिति यत् तस्मादकरोदिति कूर्म इति कूर्मशब्दो नामधेयमित्यर्थः। बाहुलकात् करोतेरौणादिके मकि प्रत्यये, 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० ७।१।१०३) इति ऋकारस्य उत्वे, 'उरण्रपरः' (पा० सू० १।१।५१) इति रपरत्वे, 'हलि च' (पा० सू० ८।२।७७) इति दीर्घे च कूर्म इति रूपं सिद्ध्यति। 'कश्यपो वा' इत्यादेरयमर्थः—कूर्मशब्दस्य करणप्रवृत्तिनिमित्तकत्वात् कश्यपस्य प्रजापतित्वेन प्रजाकारकत्वात् कश्यपः कूर्मः खलु। अत एव सर्वाः प्रजा काश्यप्य इत्याहुर्जनाः। अतश्च कूर्मस्य कश्यपात्मकत्वात् तदुपधानं प्रशस्तमिति भावः। 'स यः स कूर्मोऽसौ स आदित्यः। अमुमेवैतदादित्यमुपदधाति तं पुरस्तात् प्रत्यञ्चमुपदधात्यमुं तदादित्यं पुरस्तात् प्रत्यञ्चं दधाति तस्मादसावादित्य पुरस्तात् प्रत्यङ् धीयते दक्षिणतोऽषाढायै वृषा वै कूर्मो योषाऽषाढा दक्षिणतो वै वृषा योषामुपशेतेऽरत्निमात्रेऽरत्निमात्राद्धि वृषा योषामुपशेते सैषा सर्वासामिष्टकानां महिषी यदषाढैतस्यै दक्षिणतः सन्त्सर्वासामिष्टकानां दक्षिणतो भवति' (श० ७।५।१।६)। अथ तमेव कूर्ममादित्यात्मना प्रशंसति—स य इति। स प्रकृतो यः कूर्मोऽस्ति, असौ विप्रकृष्ट आदित्यः। आदित्यात्मकत्वं मण्डलाकारसाम्यात्। यथा 'आदित्यो यूपः' इति। एतस्योपधाने आदित्यस्यैवोपधानं कृतं भवति। उक्तमादित्यात्मकत्वमुपजीव्य तस्य चयनप्रदेश एव पूर्वभागे प्रत्यङ्मुखत्वेनोपधानमाह—तं पुरस्तादिति। ननु कूर्मस्य आदित्यात्मकत्वेन पुरस्तात् प्रत्यगुपधानेन आदित्यस्य पुरस्तात् प्रत्यङ्निधानम्, तथा निधानेन च कूर्मस्य आदित्यात्मकत्वमित्यन्योन्याश्रयता ? इति चेन्नायं दोषः, कारकज्ञापकयोर्हेतुहेतुमद्भाववैपरीत्यस्य भूषणत्वानपायात्। यथा धूमोऽग्नेर्ज्ञापको हेतुः, अग्निश्च धूमस्य कारको हेतुरिति, तथात्रापि कूर्मस्य पुरस्तात् प्रत्यगुपधानमादित्यस्य पुरस्तात् प्रत्यङ्निधाने कारकम्, आदित्यस्य पुरस्तात् प्रत्यगवस्थानं कूर्मस्य एवंविधोपधाने ज्ञापकम्। पुरस्तात् प्रत्यगुपधानमषाढायाः पुरस्तादुत्तरतो वापि स्यादित्यत आह—दक्षिणत इति। अषाढायै इति 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थीति वाच्यम्' (पा० सू० २।३।६२ वा० १) इति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। उक्तेऽर्थे उपपत्तिमाह—वृषा वा इति। वृषशब्देन सेचनसमर्थः पुमानुच्यते। अषाढाशब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वाद् अषाढा योषा खलु, 'उत्तरतो हि स्त्री पुमाꣳसमुपशेते' (श० १।१।१।२०) इति श्रुतेः। पुमान् दक्षिणभागे योषामुपशेते। उपशयनेन ईप्सिततमत्वाद् योषामित्यत्र 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' (पा० सू० १।४।४९) इति कर्मसंज्ञायाम्, 'कर्मणि द्वितीया' (पा० सू० २।३।२) इति द्वितीया। अतश्चास्य कूर्मस्य अषाढाया दक्षिणभागे उपधानमुपपन्नमित्यर्थः। दक्षिणभागे विप्रकृष्टेऽप्युपधानं सम्भवेदित्यत आह—अरत्निमात्र इति। उखाया अपि पुरस्तादषाढायाः शिष्टत्वेन सर्वेष्टकानामपि प्रशस्तत्वाद् दक्षिणभागे उपधानेन सर्वेष्टकानामपि दक्षिणभागे उपशयनं सिद्धं भवतीति दर्शयति—सैषेति।

'यद्वेव कूर्ममुपदधाति। प्राणो वै कूर्मः प्राणो हीमाः सर्वाः प्रजाः करोति प्राणमेवैतदुपदधाति तं पुरस्तात् प्रत्यञ्चमुपदधाति पुरस्तात्तत्प्रत्यञ्चं प्राणं दधाति तस्मात्पुरस्तात् प्रत्यङ् प्राणो धीयते पुरुषमभ्यावृत्तं यजमाने तत्प्राणं दधाति दक्षिणतोऽषाढायै प्राणो वै कूर्मो वागषाढा प्राणो वै वाचो वृषा प्राणो मिथुनम्' (श० ७।५।१।७)। तमेव कूर्मं प्राणात्मनापि प्रशंसति—यद्वेवेति। प्राणो हीमा इति। प्राणः खलु इमाः सर्वाः प्रजाः करोति, प्राणिभिरेव प्रजानामुत्पादनात्। अतश्च कर्तव्यत्वसाम्यात् प्राणः कूर्म इति तदुपधाने प्राणस्यैवोपधानं भवति। तं पुरस्तादित्यादिनोक्तं प्राणात्मकत्वमुपजीव्य पुरस्तात् प्रत्यङ्मुखत्वेन उपधानमुपपाद्यते—तस्मादिति। यत एवं तस्मात्कारणात् पुरस्तान्मुखः प्राणवायुः प्रत्यङ्मुखत्वेन धीयते ध्रियते। कूर्मस्य प्राणात्मकत्वाद् हिरण्मयपुरुषाभिमुख्येन तस्योपधाने पुरुषस्य यजमानरूपत्वाद् यजमाने प्राणनिधानं भवतीत्याह—पुरुषमभ्यावृत्तमिति। कूर्मस्य प्राणत्वादषाढाया वाक्त्वम्, तस्य अषाढादक्षिणत उपधानं युज्यत इति दर्शयति—दक्षिणत इति। स्त्रीत्वसामान्यादषाढाया वागात्मकत्वम्। प्राणो वाचो वृषा पतिः खलु, प्राणोपजीवनेन वाचः प्रवृत्तेः। अतः प्राणो वागित्युभयमपि मिथुनम्। तथा च वागात्मिकाया अषाढाया दक्षिणभागे प्राणात्मकस्य कूर्मस्य उपधानमुपपन्नमिति।

अध्यात्मपक्षे—'हे साधक, त्वमपां कर्मणां लोकानां वा गम्भन् गम्भीरे स्थाने सूर्यमण्डलान्तर्गतेऽन्तर्यामिणि, अथवा अपां शमहेतूनां गम्भन् गम्भीरे स्थाने शान्तिकेन्द्रे भगवति परमात्मनि सीद उपविश, इदङ्ग्रहोपासनया अहङ्ग्रहोपासनया वा इति शेषः। तत्र स्थितं त्वां सूर्यः प्रसिद्धो माभिताप्सीत्। मा च वैश्वानरोऽग्निस्त्वाभिताप्सीत् क्रोधः सूर्यो मोहोऽग्निर्वा। अच्छिन्नपत्रा अखण्डितावयवाः प्रजा अनुवीक्षस्व। अनु त्वा दिव्या वृष्टिः परमेश्वरीयकृपापीयूषपूर्णदृष्टिवृष्टिः सचतां सम्बध्नीयात्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, त्वं वसन्तेऽपां गम्भन् गम्भनि धारके मेघ इव, गमधातोरौणादिके मनिन्प्रत्यये लुकि च रूपम्, सीद आस्स्व। यतः सूर्यस्त्वा माभिताप्सीत् तपेत, वैश्वानरो विश्वेषु नरेषु राजमानोऽग्निस्त्वां माभिताप्सीत्, अच्छिन्नपत्रा अच्छिन्नानि पत्राणि यासां ताः प्रजाः, अनु त्वा दिव्या वृष्टिः सचताम्, तथा त्वमनुवीक्षस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्। वसन्तपदाध्याहारोऽपि निर्मूल एव। न च वसन्ते मेघो भवति, तस्य वर्षास्वेवोदयात्। वसन्ते तदुदयस्त्वकालजलदोदय एव। न च मेघे मनुष्यस्थितिः सम्भवति। न वा मेघेऽवस्थित्या विद्युतस्तापापनोदनम्। किञ्च, सर्वमेतद् रागास्पदत्वादनायासप्राप्तमेव, अज्ञातज्ञापकस्य वेदस्य तद्बोधनेऽप्रवृत्तेः॥ ३०॥

त्रीन् स॒मु॒द्रान्त्सम॑सृपत् स्व॒र्गान॒पां पति॑र्वृष॒भ इष्ट॑कानाम्।
पुरी॑षं॒ वसा॑नः सुकृ॒तस्य॑ लो॒के तत्र॑ गच्छ॒ यत्र॒ पूर्वे॒ परे॑ताः॥ ३१॥

मन्त्रार्थ—हे कूर्मदेव, तीनों समुद्रों के अधिपति तुम इष्टकाओं की उपधान क्रिया के प्रधान अंग हो। तुमने तीन प्रकार के भोगों के साधन लोकों को भली प्रकार प्राप्त किया है। अब तुम पुरिश का आच्छादन कर उस स्थान में जाओ, जहाँ पुण्यात्माओं के लोक में पुरातन कूर्म अग्नियों से उपहित होकर गये हैं॥ ३१॥

'घट्टयति मध्यमया' (का० श्रौ० १७।५।२)। यत् तिसृभिर्ऋग्भिः कूर्मोपधानमुक्तम्, तत्र मध्यमया 'त्रीन् समुद्रान्' इत्येतया ऋचा हस्तस्थितं कूर्मं कम्पयेदिति सूत्रार्थः। ततश्च तृतीयायामृचि पठितायामन्ते कूर्ममुपदध्यात्। तत उपरिष्टात् पुनरष्टकाभिः कूर्मं प्रच्छादयेत्। कूर्मदेवत्या त्रिष्टुप्। हे कूर्म, यो भवान् इष्टकानां

वृषभो वर्षिता, अपां जलानां पतिर्मेघः, त्रीन् समुद्रान् समुद्द्रवन्ति स्वकारणात् समुद्भवन्तीति समुद्रा लोकास्तान् समसृपत् सम्यक् प्राप्तो भवति। 'सृप्लृ गतौ' इत्यस्माद् लुङि च्लेः 'पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।१।५५) इत्यङि रूपम्। कीदृशान् समुद्रान्? स्वर्गान् भोगसाधनभूतान्। स त्वं यत्र पूर्वे परेता यस्मिन् स्थाने पुरातनाः कूर्मा अन्येष्वग्निषूपहिताः परेताः परागताः सुकृतस्य शोभनकृतस्याग्नेः, तत्र तस्मिन् लोके स्थाने स्थित्वा पुरीषं शुष्कपांसुरूपां मृदं वसान आच्छादयन्, अथवा पुरीषं हुतान् पशून् वसान आच्छादयन् गच्छ गमय, यजमानाय यज्ञफलमिति शेषः। यज्ञोपयुक्तपश्वन्तरापेक्षयापि कूर्मस्य प्रजापतिरूपत्वेनोत्कृष्टगतिकत्वात् फलप्रापकत्वाद्वा।

अत्र ब्राह्मणम् -'अथैनमेजयति। त्रीन् समुद्रान् समसृपत् स्वर्गानितीमे वै त्रयः समुद्राः स्वर्गा लोकास्तानेष कूर्मो भूत्वाऽनुसꣳसर्पापां पतिर्वृषभ इष्टकानामित्यपाꣳ ह्येष पतिर्वृषभ इष्टकानां पुरीषं वसानः सुकृतस्य लोक इति पशवो वै पुरीषं पशून् वसानः सुकृतस्य लोक इत्येतत्तत्र गच्छ यत्र पूर्वे परेता इति तत्र गच्छ यत्रैतेन पूर्वे कर्मणेयुरित्येतत्' (श० ७।५।१।९)। 'अपां गम्भन्, त्रीन् समुद्रान्, मही द्यौः' इति तिसृभिर्ऋग्भिरयं कूर्म उपधीयत इत्युक्तम्। तत्र मध्यमया कूर्मचालनम्, तदेतद्दर्शयन् व्याचष्टे—अथेति। एजयति कम्पयति। इमे इति। य इमे त्रयः समुद्राः समुद्द्रवन्ति समुद्गच्छन्तीति समुद्रा लोकाः, स्वर्गाः सुखसाधनभूताः, तानेष प्रजापतिः कूर्मो भूत्वानुसंससर्प, प्रजापतेर्लोकत्रयात्मकत्वात्। 'स एष इम एव लोकाः' (श० ७।५।१।२) इत्यादिना कूर्मस्य लोकत्रयात्मकत्वाभिधानात् प्रजापतिः कूर्मरूपेण लोकाननुसंससर्प इत्ययमत्रानुसन्धिः। अपां पतित्वं कूर्मस्य तत्रैव सर्वदावस्थानात्। वृषभशब्देन श्रेष्ठत्वं लक्ष्यते। अथवा इष्टकात्मनां स्त्रीणां वृषभः पुमान्। पुरीषशब्देन पशवोऽभिधीयन्ते। तान् वसान आच्छादयन्, यजमानस्य सम्पादयन्नित्यर्थः। अथवा इष्टकारूपान् पशून् आच्छादयन्निति। एतेनोपधानलक्षणेन कर्मणा पूर्वमुपहिताः कूर्मा यत्र परेता मृताः प्राप्नुवन्, तत्र गच्छेत्युक्तं भवति।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, त्वं यथा अपां पतिः प्राणानां रक्षको वृषभो वर्षकः श्रेष्ठो वा पुरीषं पूर्णसुखकरमुदकं वसानो वासयन् सन् इष्टकानाम् इज्यन्ते सङ्गम्यन्ते कामा यैः पदार्थैस्तेषां त्रीन् अधोमध्यमोर्ध्वस्थान् समुद्रान् समुद्द्रवन्ति पदार्था येषु तान् भूतभविष्यद्वर्तमानान् समयान् लोकान् स्वर्गान् स्वः सुखं गच्छन्ति येभ्यस्तान् समसृपत् संसर्पति तथा सर्प। यत्र सुकृतस्य सुष्ठु कृतो धर्मो येन तस्य लोके द्रष्टव्ये स्थाने मार्गे पूर्वे प्राक्तना जनाः परेताः सुखं प्राप्तास्तत्र त्वमपि गच्छ' इति, तदप्यसङ्गतम्, संस्कृतप्राकृतयोः स्वकृतव्याख्यानयोः परस्परं विरोधात्। संस्कृते 'समुद्रान्' इत्यस्य भूतादिसमयानित्यर्थः कृतः, प्राकृते तु लोकानिति। स्वर्गपदव्याख्यानेनापि लोक एवार्थो व्यज्यते स्वः सुखं गच्छन्ति येभ्य इति। यदि समुद्रशब्दस्य भूतादिसमया अर्थोऽभिप्रेयते, तदा तत्राधोमध्यमोर्ध्वत्वं कथं सङ्गच्छते? त्रीनित्यस्य कथं तादृशोऽर्थः? सर्वमेतत् तस्य स्वसिद्धान्तविरुद्धम्। नहि दयानन्दः स्वर्गादिलोकानभिप्रैति। धात्वर्थानुसारेण वसान इत्यस्य आच्छादयन्नित्यर्थो भवति। संस्कृते वासयन्नित्युक्तम्, भाषायां धारयन्नित्युक्तम्। एवमन्या अप्यसङ्गतय ऊह्याः।

अध्यात्मपक्षे—हे साधक, यो भवान् त्रीन् समुद्रान् त्रिसंख्याकान् लोकान् स्वर्गान् स्वर्गतुल्यान् समसृपत् प्राप्तोऽभवत्। कीदृशो भवान्? अपां पतिर्लोकानां पालकः, इष्टकानामभीष्टानां वृषभो वर्षिता। स त्वं यत्र पूर्वे पुरातनाः परेताः परागताः सुकृतस्य सुसम्पादितस्योपासनादेर्लोके फले गच्छ प्राप्नुहि॥ ३१॥

म॒ही द्यौः पृ॑थि॒वी च॑ न इ॒मं य॒ज्ञं मि॑मिक्षताम् । पि॒पृ॒तां नो॒ भरी॑मभिः ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—विशाल द्युलोक और भूलोक हमारे इस यज्ञ को अपने-अपने भागों से पूर्ण करें, कृपा रूपी जल की वर्षा करें, हिरण्य, धन-धान्य, पशु-प्रजा आदि अनेक वस्तुओं के द्वारा, जो कि प्रयोजनीय हों, उन उन अपने भागों से हमारे घर को परिपूर्ण कर दें ॥ ३२ ॥

मेधातिथिदृष्टा इयं कण्डिका (८।३२) इत्यत्र व्याख्याता । तत्रेदं ब्राह्मणं नोद्धृतम् । अत्रोद्ध्रियते—'मही द्यौः पृथिवी च न इति । महती द्यौः पृथिवी च न इत्येतदिमं यज्ञं मिमिक्षतामित्तीमं यज्ञमवतामित्येतत् पिपृतां नो भरीमभिरिति बिभृतां नो भरीमभिरित्येतद् द्यावापृथिव्ययोत्तमयोपदधाति द्यावापृथिव्यो हि कूर्मः' (श० ७।५।१।१०) । 'तस्य यदधरं कपालमयꣳ स लोकः' (श० ७।५।१।२) इत्यादिना कूर्मस्य अधस्तनोपरितनयोः कपालयोर्द्यावापृथिवीरूपस्योक्तत्वात् कूर्मो द्यावापृथिव्यः । अतस्तदुपधाने उत्तमाया ऋचो द्यावापृथिव्यत्वं प्रशस्तमिति यावत् । 'द्यावापृथिवीशुनासीरमरुत्वदग्नीषोम····' (पा० सू० ४।२।३२) इति देवतार्थकयत्प्रत्ययान्तो द्यावापृथिव्यशब्दः ॥ ३२ ॥

विष्णोः॒ कर्मा॑णि पश्यत॒ यतो॑ व्र॒तानि॑ पस्प॒शे । इन्द्र॑स्य॒ युज्यः॒ सखा॑ ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—हे ऋत्विजों, परमात्मा विष्णु के सृष्टि-संहार आदि कर्मों को देखो, क्योंकि वह इन्द्र का अनुरूप मित्र है । उसने लौकिक-वैदिक कर्मों को रचा है ॥ ३३ ॥

'उलूखलमुसले स्वयमातृण्णामुत्तरेणारत्निमात्रे औदुम्बरे प्रादेशमात्रे चतुरस्रमुलूखलं मध्यसंगृहीतमूर्ध्वं वृत्तं मुसलं दक्षिणमुलूखलाद्विष्णोः कर्माणीति' (का० श्रौ० १७।५।३) । स्वयमातृण्णामुत्तरेण स्वयमातृण्णामध्यादरत्निमात्रे तृतीये लोके औदुम्बरे प्रादेशमात्रे उलूखलमुसले स्थापयेत् । तत्रोलूखलं चतुष्कोणं मध्यप्रदेशे संकुचितं प्रयोजनाभावादखातमूर्ध्वमुत्तरे उपदध्यात् । मुसलं च वृत्तमुलूखलाद् दक्षिणमुपदध्यात् । पद्ये चैते भवतः । अत्रोलूखलोपधाने पूर्वमर्थात् परिमाणं खातं कृत्वा तत्रोलूखलाद्युपधानं तथा कर्तव्यम्, यथा सिकतापूर्णाया उखाया उपरि उपहितानि पशुशिरांसि पार्श्वेष्टकाभिः समोच्छ्रयाणि भवन्ति, विष्णोः कर्माणि पश्यतेति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः । इयमपि कण्डिका (६।४) इत्यत्र व्याख्यातपूर्वा ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथोलूखलमुसले उपदधाति । विष्णुरकामयतान्नादः स्यामिति स एते इष्टके अपश्यदुलूखलमुसले ते उपाधत्त ते उपधायान्नादोऽभवत् तथैवैतद्यजमानो यदुलूखलमुसले उपदधाति येन रूपेण यत्कर्म कृत्वा विष्णुरन्नादोऽभवत्तेन रूपेण तत्कर्म कृत्वाऽन्नादोऽसानीति तदेतत्सर्वमन्नं यदुलूखलमुसले उलूखलमुसलाभ्याꣳ ह्येवान्नं क्रियत उलूखलमुसलाभ्यामद्यते' (श० ७।५।१।१२) । कूर्मोपधानानन्तरमुलूखलमुसलयोरुपधानं विधत्ते—अथेति । अन्नादत्वसाधनतया तत्प्रशंसति—विष्णुरित्यादिना । येन प्रकारेण यत्कर्म कृत्वा विष्णुरन्नादोऽभवत्, तेन प्रकारेण तत्कर्म कृत्वा अहमन्नादोऽसानीत्यभिप्रायेण यजमान उलूखलमुसले उपदधाति यतः, अतो यथैव विष्णुरभूत् तथैव एतद् एतेन यजमानोऽप्यन्नादो भवति । अन्नादनसाधनतामुपपादयति—तदेतदिति । यत उलूखलमुसलाभ्यामन्नं क्रियते, ताभ्यां व्रीह्यादीनां वितुषीकरणात्, वितुषीकृतानामेवान्नत्वादन्नमप्युलूखलमुसलाभ्यामेव क्रियते । अतश्चोलूखलमुसले इति यदेतत् कृत्स्नमन्नम्, तथा सत्यन्नादनसाधनताऽनयोरुपपद्यत इति भावः । 'ते रेतःसिचोर्वेलयोपदधाति । पृष्ट्यो वै रेतःसिचौ मध्यमु पृष्ट्यो मध्यत एवास्मिन्नेतदन्नं दधात्युत्तरे उत्तरमेवास्मादेतदन्नं दधात्यरत्निमात्रेऽरत्निमात्राद्ध्यन्नमद्यते' (श० ७।५।१।१३) ।

प्राग्विहितयो रेतःसिचोरिष्टकाविशेषयोः स्थानविशेषं विधाय स्तौति—ते इति। वेलया वेलायां प्रान्ते। सप्तम्यर्थे तृतीया। एते उलूखलमुसले उपदध्यात्। पृष्टिशब्देन कटिपार्श्वस्थौ अस्थिविशेषौ उच्येते। अवयवापेक्षया बहुवचनम्। रेतःसेचनसाधनत्वसामान्याद् रेतःसिचोः पृष्टिरूपता। शरीरमध्येऽवस्थानात् पृष्ट्यो मध्यं हि, अतश्च तत्प्रान्तेऽनयोरुपधानाद् मध्यभाग एवास्मिन् प्रजापतौ चीयमानाग्निरूपे एतदन्नं निहितवान् भवति। दिगन्तरेऽपि रेतःसिचोरुपधानं सम्भवेदित्यत आह—उत्तरे इति। स्वयमातृण्णाया प्रमाणविशेषमाह—अरत्निमात्र इति। लोके ह्यरत्निमात्रप्रदेशादन्नमादायाभ्यवह्रियते। अतश्चान्नरूपयोरनयोरुपधानं तावति प्रदेशे कर्तव्यम्।

'प्रादेशमात्रे भवतः। प्रादेशमात्रो वै गर्भो विष्णुरन्नमेतदात्मसम्मितमेवास्मिन्नेतदन्नं दधाति यदु वा आत्मसम्मितमन्नं तदवति तन्न हिनस्ति यद् भूयो हिनस्ति तद्यत् कनीयो न तदवति' (श० ७।५।१।१४)। प्रकृते उलूखलमुसले प्रादेशमात्रे कर्तव्ये इत्याह- प्रादेशमात्रे भवत इति। परिमाणविशेषोपादाने कारणमाह - प्रादेशमात्रो वा इति। विष्णुर्यज्ञश्चीयमानाग्निरूपस्तदानीमनिष्पन्नत्वेन गर्भः खलु। अतो यज्ञः प्रादेशमात्रः, लोके गर्भाणां तावत्प्रमाणत्वात्। उलूखलमुसलं चान्नम्, 'तदेतत्सर्वमन्नम्' इत्युक्तत्वात्। ततश्चास्मिन् गर्भरूपे विष्णौ, एतेन आत्मसदृशप्रमाणमेवान्नं दधाति। अन्नस्य आत्मानुरूपप्रमाणपरिग्रहे को लाभस्तदतिक्रमे वा को दोष इत्यत आह—यदु वा इत्यादि। आत्मसम्मितमन्नमात्मानं रक्षति, न तु हन्ति। यत्तु ततोऽधिकं न्यूनं वा तत्तथा न करोति। अल्पस्य बलाङ्गपोषानाधायकत्वात्, अधिकस्य च दुर्जरत्वेन पीडाकरत्वादित्यर्थः। 'औदुम्बरे भवतः। ऊर्ग्वै रस उदुम्बर ऊर्जमेवास्मिन्नेतद्रसं दधात्यथो सर्वं एते वनस्पतयो यदुदुम्बर एते उपदधत् सर्वान् वनस्पतीनुपदधाति रेतःसिचोर्वेलयेमे वै रेतःसिचावनयोस्तद्वनस्पतीन् दधाति तस्मादनयोर्वनस्पतयश्चतुःस्रक्ति भवति चतस्रो वै दिशः सर्वासु तद्दिक्षु वनस्पतीन् दधाति तस्मात् सर्वासु दिक्षु वनस्पतयो मध्ये संगृहीतं भवत्युलूखलरूपतायै' (श० ७।५।१।१५)। अनयोर्वृक्षविशेषं विधाय स्तौति—औदुम्बरे इति। उदुम्बरविकारौ उदुम्बरनिष्पन्नौ भवत इत्यर्थः। ऊर्ग् बलकरो रसः। उदुम्बरस्य ऊर्ग्रूपत्वं तैत्तिरीयके श्रूयते—'देवा वाऊर्जं व्यभजन्त तत उदुम्बर उदतिष्ठन्' (तै० सं० १।२।५)। तथा च एतेन अस्मिन् प्रजापतौ ऊर्जमेव रसमेव निदधाति। सर्ववनस्पतीनामुपधानसिद्ध्यर्थमुदुम्बरस्य सर्ववनस्पतिरूपतामाह—अथो सर्व इति। एते उलूखलमुसले उपदधद् उपदधानः सर्वान् वनस्पतीन् उपहितवान् भवति। रेतःसिग्वेलायामुपधानेन द्यावापृथिव्योर्वनस्पत्युपधानं प्रतिपादयति—रेतःसिचोर्वेलयेति। इमे द्यावापृथिव्यौ खलु रेतःसिचाविष्टके। तत् तेन अनयोर्द्यावापृथिव्योर्वनस्पतीनुपहितवान् भवति। तस्माद् द्यावापृथिव्योर्वनस्पतयः सन्तीति शेषः। उलूखलस्य चतुष्कोणत्वाभिधानेन सर्वदिक्षु वनस्पत्युपधानमाह—चतुःस्रक्तीति। चतस्रः स्रक्तयः कोणा यस्य तत् चतुःस्रक्ति। तथा मध्ये संगृहीतं मध्यप्रदेशे संकुचितम्। किमर्थम् ? उलूखलरूपतायै। एवंरूपं हि प्रसिद्धमुलूखलम्। एतस्मादेव वाक्यशेषादुलूखलमेव चतुःस्रक्ति मध्यसंगृहीतं च भवति, न मुसलम्।

'यद्वेवोलूखलमुसले उपदधाति। प्रजापतेर्विस्रस्तात् प्राणो मध्यत उदचिक्रमिषत्तमन्नेनागृह्णात्तस्मात् प्राणोऽन्नेन गृहीतो यो ह्येवान्नमत्ति स प्राणिति' (श० ७।५।१।१६)। अथ विश्लिष्टावयवस्य प्रजापतेः प्राणमन्नमूर्जमस्मिन्नग्नौ प्रतिनिधातुमितिहासमाह—यद्वेवेति। मध्यतो मध्यप्रदेशात् प्राणोऽशेषवृत्तिर्वायुरुदचिक्रमिषद् उत्क्रमितुमैच्छत्। तं प्राणमुत्क्रमितुमिच्छन्तमन्नेनादनीयेनागृह्णाद् गृहीतवान् वशीकृतवान्, प्रजापतिरिति शेषः। अत एव यो ह्यन्नमत्ति, स प्राणिति चेष्टते। 'प्राणे गृहीतेऽस्मादन्नमुदचिक्रमिषत् तत्प्राणेनागृह्णात् तस्मात् प्राणेनान्नं गृहीतं यो ह्येव प्राणिति सोऽन्नमत्ति' (श० ७।५।१।१७)। प्रसन्ना कण्डिका। 'एतयोरुभयोर्गृहीतयोः।

अस्मादूर्गुदचिक्रमिषत्तामेताभ्यामुभाभ्यामगृह्णात् तस्मादेताभ्यामुभाभ्यामूर्ग्ँ गृहीता यो ह्येवान्नमत्ति स प्राणिति तमूर्जयति' (श० ७।५।१।१८)। 'ऊर्जि गृहीतायाम्। अस्मादेते उभे उदचिक्रमिषतां ते ऊर्जाऽगृह्णात् तस्मादेते उभे ऊर्जा गृहीते यँ ह्येवोर्जयति स प्राणिति सोऽन्नमत्ति' (श० ७।५।१।१९)। ऊर्जयति बलयतीति ऊर्ग्ँ बलम्। 'ऊर्ज बलप्राणनयोः' इति धातोरूर्गिति। यद्वा बलहेतुरन्नरसोऽप्यूर्गित्यभिधीयते (निघ० २।७।१६)। शेषा कण्डिका सुप्रसन्ना, स्पष्टार्थेति यावत्।

'तान्येतान्यन्योन्येन गृहीतानि। तान्यन्योन्येन गृहीत्वात्मन् प्रापादयत तदेतदन्नं प्रपद्यमानँ सर्वे देवा अनुप्रापद्यन्तान्नजीवनँ हीदँ सर्वम्' (श० ७।५।१।२०)। यतस्तानि सर्वाण्यन्योन्येन गृहीतानि ततस्तानन्योन्येन गृहीत्वा प्रजापतिरात्मनि प्रापादयत प्रापयत्। यदिदं सर्वमिन्द्रियजातमन्नजीवनमन्नेन जीवनं यस्य तत्, तदभावे सर्वेषामेव स्वस्वव्यापारासमर्थत्वात्। अतोऽस्मिन् प्रजापतौ प्रपद्यमानमन्नं सर्वे देवा इन्द्रियाणि प्रपन्नान्यभूवन्। 'तदेष श्लोकोऽभ्युक्तः' (श० ७।५।१।२१)। एष च मन्त्र इत्थम्—'तद्वै स प्राणोऽभवन्महान् भूत्वा प्रजापतिः। भुजो भुजिष्या वित्त्वा यत् प्राणान् प्राणयत् पुरि॥' इति। तद्धि तदाऽन्नलाभाय स वै खलु प्राणोऽभवत्। प्राणशब्देनेन्द्रियाण्युच्यन्ते। ततश्च सेन्द्रियोऽभूत्। इन्द्रियाणि यदा तं प्रापद्यन्त तदा स महानभूत्। भोगसाधनत्वेन भुजः प्राणा उच्यन्ते, भुजिष्याशब्देन भोग्यत्वादन्नम्। एतत् सर्वं वित्त्वा लब्ध्वा पुरि शरीरे प्राणान् प्राणयत् स्वव्यापारसमर्थानकरोत्। यत एवं प्राणयत् तस्मादिन्द्रियाणि प्राप्यन्त इति व्युत्पत्त्या प्राणा अभूवन्। अथ प्रजापतिस्तान् यत् प्राणयत्, तस्मात् सोऽपि प्राणोऽभूत्। प्रजापतेर्विस्रस्तादित्याद्युपक्रमेण प्रकृते किमायातमित्यत आह—'यो वै स प्राण एषा सा गायत्र्यथ यत्तदन्नमेष स विष्णुर्देवताऽथ या सोर्गेष स उदुम्बरः' (श० ७।५।१।२१)। स पूर्वोक्तः प्रजापतिसम्बन्धी यः प्राणोऽस्ति सैषा गायत्री, 'विष्णोः कर्माणि' (वा० सं० ६।४) इत्यत्र यद् गायत्र्यात्मकं छन्दः स प्राण इत्यर्थः। प्रकृतोपधानमन्त्रसन्निहितत्वादेषेति परामृश्यते। सैषेति स्त्रीलिङ्गं विधेयापेक्षम्। उत्तरत्राप्येवं द्रष्टव्यम्। प्राणो वृत्तिभेदेन त्रेधा भिद्यते, गायत्र्यपि पादभेदेन तथैव। अतः सादृश्यात् प्राणो गायत्रीत्युक्तम्। अथ यत्प्रजापतिसम्बन्धि अन्नमस्ति, स एष विष्णुर्देवता। विष्णुरिति यज्ञोऽभिधीयते। भोगसाधनत्वसामान्यादन्नस्य विष्णुरूपत्वम्। अथ या सा ऊर्क् स एष उदुम्बरः। उदुम्बरस्य बलकरसत्वादूर्गात्मकत्वम्।

'सोऽब्रवीत्। अयं वाव मा सर्वस्मात् पाप्मन उदभार्षीदिति यदब्रवीदुदभार्षीन्मेति तस्मादुदुम्भर उदुम्भरो ह वै तमुदुम्बर इत्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवाः.....सैषा सर्वेषां प्राणानां योनिर्यदुलूखलँ शिरो वै प्राणानां योनिः' (श० ७।५।१।२२)। उदुम्बरोलूखलशब्दनिर्वचनम्—सोऽब्रवीदिति। सर्वस्मात् पाप्मनः कृच्छ्राद् मामयं हि उदभार्षीद् उद्धृतवान् इति स प्रजापतिरब्रवीत्। कृच्छ्रादुद्धरणं चास्यान्नप्राणयोरवरोधकत्वात्। उदभार्षीन्मामिति यदब्रवीत् तस्माद् ऊर्ग् उदुम्भरोऽभूत्। तमेव देवा उदुम्बर इति परोक्षमाचक्षते। पारोक्ष्येणाभिधानं गौरवाय कल्पत इति देवानां परोक्षकामत्वम्। तथा मे उरु अधिकमकरद् अकार्षीदिति यदब्रवीत्, तस्मादुरूकरं देवा उलूखलमिति परोक्षमाचक्षते। उदुम्बरस्योर्गात्मकत्वाद् उलूखलस्य च औदुम्बरत्वाद् उरुकरणं पाप्मन उदभार्षीदित्युक्तं च सम्पद्यते। उलूखलं शिरोरूपेण प्रशंसति—सैषेत्यादिना। शिरः सर्वेषां प्राणानामिन्द्रियाणां योनिः खलु। मुखस्यापि शिरःप्रदेशत्वात् तत्रैव सर्वेन्द्रियाणामुत्पत्तिः। तथा सत्युलूखलमिति यत् सैषापि सर्वेषां प्राणानां योनिः।

'तत्प्रादेशमात्रं भवति। प्रादेशमात्रमिव हि शिरश्चतुःस्रक्ति भवति चतुःस्रक्तीव हि शिरो मध्ये संगृहीतं भवति मध्ये संगृहीतमिव हि शिरः' (श० ७।५।१।२३)। उलूखलस्य शिरःसाधर्म्यसम्पादनादेतदुपपद्यते।

तत्प्रदर्श्यते– तदिति। तदुलूखलं प्रादेशमात्रं चतुःस्रक्ति मध्ये च संगृहीतं भवति। शिरोऽपि तथैवेति सर्वप्राणि-योनित्वमुलूखलस्योपपद्यत इत्यर्थः। 'तं यत्र देवाः समस्कुर्वन्। तदस्मिन्नेतत्सर्वं मध्यतोऽदधुः प्राणमन्नमूर्जं तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति रेतःसिचोर्वेलया पृष्ट्यो वै रेतःसिचौ मध्यमु पृष्टयो मध्यत एवास्मिन्नेतत्सर्वं दधाति' (श० ७।५।१।२४)। तं यत्रेति। यत्र यदा देवास्तं प्रजापतिं संस्कृतवन्तस्तदेतस्मिन् प्राणमन्नमूर्जमित्येतत्सर्वं मध्यप्रदेशे निहितवन्तः। तस्मात्तथैवायं यजमानोऽप्यनेनोपधानेनैतत्सर्वं सम्पादयति। 'विष्णोः कर्माणि पश्यतेति। वीर्यं वै कर्म विष्णोर्वीर्याणि पश्यतेत्येतद्यतो व्रतानि पस्पश इत्यन्नं वै व्रतं यतोऽन्न७ं स्पाशयाञ्चक्र इत्येतदिन्द्रस्य युज्यः सखेतीन्द्रस्य ह्येष युज्यः सखा द्विदेवत्ययोपदधाति द्वे ह्युलूखलमुसले सकृत् सादयति समानं तत्करोति समान७ं ह्येतदन्नमेव सादयित्वा सूददोहसाऽधिवदति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।५।१।२५)। उलूखलमुसलयो-रुपधाने मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे– विष्णोः कर्माणीति। कर्मशब्देन वीर्यं विवक्षितम्। अतश्च हे जनाः, विष्णोर्यज्ञस्य वीर्याणि पश्यतेत्येतदुक्तं भवति। व्रतशब्देनान्नमुच्यते। यतो वीर्यतोऽन्नानि पस्पशे स्पाशयाञ्चक्रे, स्पर्शयमानश्च स्वजनैर्लम्भयामासेत्यर्थः। एष यज्ञ इन्द्रस्य युज्यो योग्यः सखा, तस्य तृप्तिहेतुत्वात्। उलूखलमुसलयोर्द्वित्वात् तदुपधानमन्त्रस्य द्विदेवत्यत्वमुपपन्नमिति दर्शयति—द्विदेवत्ययेति। शेषं प्रसन्नम्।

दयानन्दस्तु —'हे मनुष्याः! य इन्द्रस्य जीवस्य युज्यः सखाऽस्ति, यतोऽयं विष्णोः कर्माणि जगत्सृष्ट्यादीनि व्रतानि सत्यभाषणादीनि च पस्पशे स्पृशति, तस्मात् तस्य एतानि यूयमपि पश्यत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, इन्द्रपदस्य जीवार्थत्वे हेतुत्वानुक्तेः। युज्य इत्यस्य उपासनायोग्य इत्यपि नार्थः, विशेषणस्य व्यर्थत्वात्। न च सृष्ट्यादीनि जीवः स्पृशति, कर्मणाममूर्तानां स्पर्शायोग्यत्वात्।

अध्यात्मपक्षे—'हे भक्ताः, यूयं विष्णोर्व्यापनशीलस्य परमेश्वरस्य कर्माणि जगत्पालनादिलक्षणानि पश्यत, यतो व्रतान्यग्निहोत्रादिलक्षणान्यनुष्ठितवन्तो यजमानाः। स विष्णुः, इन्द्रस्य देवराजस्य, युज्यो योग्यः सखा सहायकः॥ ३३॥

ध्रुवाऽसि धरुणेतो जज्ञे प्रथममेभ्यो योनिभ्यो अधि जातवेदाः।
स गायत्र्या त्रिष्टुभाऽनुष्टुभा च देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्॥ ३४॥

मन्त्रार्थ—हे उखे, तुम जगत् को धारण करने वाली हो, स्थिर हो। अग्निदेव पहले उखा में ही प्रकट हुए थे। वे फिर अपने कारण में से प्रकट होते हैं, वे अपने अधिकार को भली प्रकार जानते हैं। गायत्री, त्रिष्टुप् और अनुष्टुप् छन्दों की सामर्थ्य से देवताओं के निमित्त हवि ले जाते हैं॥ ३४॥

'उलूखल उखां कृत्वोपशयां पिष्ट्वा न्युप्य पुरस्ताद् ध्रुवासीत्युखाम्' (का० श्रौ० १७।५।४)। उलूखलस्योपरि तूष्णीमुखां स्थापयित्वा उपशयां मृदं पिष्ट्वा उखायाः पुरस्ताद् भूमौ प्रक्षिप्य तत्र मन्त्रद्वयेन उखामुपदध्यादिति सूत्रार्थः। उखादेवत्या त्रिष्टुप्। हे उखे, धरुणा जगतो धारयित्री त्वं ध्रुवा स्थिरासि। इदानीमग्निजनकत्वेन उखा स्तूयते। योऽग्निः, इतोऽस्या उखायाः सकाशात् प्रथममादौ जातवेदा जात-प्रज्ञानोऽधिजज्ञे प्रादुर्बभूव, तत एतेभ्यो योनिभ्यः स्वकारणेभ्योऽरण्यादिभ्यः, अधिजज्ञे जायते। स चाग्निर्गायत्र्या अनुष्टुभा त्रिष्टुभा च छन्दस्त्रयेण स्वाधिकारं प्रकर्षेण जानानो देवेभ्यो देवानां प्रीणनाय हव्यमस्मदीयं हविः, वहतु प्रापयतु।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथोखामुपदधाति। योनिर्वा उखा योनिमेवैतदुपदधाति तामुलूखल उपदधात्यन्तरिक्षं वा उलूखलं यद्वै किञ्चास्या ऊर्ध्वमन्तरिक्षमेव तन्मध्यं वा अन्तरिक्षं मध्यतस्तद्योनिं दधाति तस्मात् सर्वेषां भूतानां

मध्यतो योनिरपि वनस्पतीनाम्' (७।५।१।२६)। उलूखलमुसलोपधानानन्तरमुखाया उपधानं विधत्ते - अथेति। इष्टकाचितिषु निधास्यमानस्याग्नेरुखायां कृत्वोत्पादनादुखाया योनित्वेन तदुपधाने योनेरेवोपधानं भवतीत्याह— योनिर्वा इति। विहितमुपधानमुलूखले कर्तव्यमित्याह— तामिति। तत्रोपधानं प्रशंसति—अन्तरिक्षमिति। यत्किमपि वस्त्वस्याः पृथिव्या ऊर्ध्वमुपर्यवस्थितम्, तत्सर्वमन्तरिक्षमेव। अन्तरिक्षं च द्यावापृथिव्योरन्तरालेऽवस्थानान्मध्यम्। ततश्च उलूखलस्यापि पृथिव्या उपर्यवस्थानेन मध्यभूतान्तरिक्षात्मकत्वात् तत्रोपधाने मध्यभाग एव योनेरुपधानं भवति। मध्यत इति सार्वविभक्तिकस्तसिः, मध्ये इत्यर्थः। दृष्टानुसारेणोक्तमर्थं प्रमाणयति—तस्मादिति। वनस्पतीनामपि बीजानां मध्यभागं भित्त्वोत्पन्नत्वाद् मध्यतो योनिरित्यर्थः। 'यद्वेवोखामुपदधाति। यो वै स प्रजापतिर्व्यस्रꣳसतैषा सोखेमे वै लोका उखेमे लोकाः प्रजापतिस्तामुलूखल उपदधाति तदेनमेतस्मिन् सर्वस्मिन् प्रतिष्ठापयति प्राणेऽन्न ऊर्ज्यथो एतस्मादेवैनमेतत्सर्वस्मादनन्तर्हितं दधाति' (श० ७।५।१।२७)। अथोखायाः प्राजापत्यात्मकत्वेनोलूखल उपधानं प्रशंसति—यद्वेवोखामिति। स इति प्रजासर्जनेनावयवविश्लेषदशापन्नः प्रजापतिः परामृश्यते। स यः प्रजापतिर्व्यस्रंसत विस्रस्तावयवोऽभूत्, सा उखा। सेति स्त्रीलिङ्गमुखापेक्षया। अत एव प्रजापतेरेतल्लोकत्रयात्मकत्वादुखापि इमे पृथिव्यादयो लोकाः। तथा सति प्रजापत्यात्मिकाया उखाया उलूखल उपधानेन विस्रस्ताङ्गं प्रजापतिमेतस्मिन् सर्वस्मिन् प्रतिष्ठापयति। तदेव प्रदर्श्यते—प्राणेऽन्न ऊर्जीति। उलूखलस्य औदुम्बरत्वेन तस्य चान्नरसात्मकत्वादन्नरसेन च प्राणानां धारणात् प्राणात्मकत्वमनुसन्धेयम्। प्राणान्नोर्जां परस्परग्रहणमुक्तम्। न केवलं प्रतिष्ठापनमात्रम्, अपि त्वव्यवधानेन तत्सम्बद्धमेव कुर्यादित्याह—अथो इति।

'अथोपशयां पिष्ट्वा लोकभाजमुखां कृत्वा पुरस्तादुखाया उपनिवपत्येष हैतस्यै लोकस्तथो हास्यैषाऽनन्तरिता भवति' (श० ७।५।१।२८)। उपशया नाम उखाभेदे सति तत्प्रतिसन्धानार्थं प्रागवशेषिता मन्त्रसंस्कृता मृत्। तां चूर्णीकृत्य उखायाः पुरोभागे निदध्यादित्याह—अथेति। उखां लोकभाजं स्थानभाजमुलूखलभाजिनीं कृत्वा। उखाभेदप्रतिसन्धानार्थत्वादुपशयायास्तत्पुरोभागेऽवकाशः। अतस्तत्रोपनिवापेन स्वावकाशस्याव्यवहिता भवतीत्याह—एष हैतस्या इति। एष प्रदेश एतस्यै एतस्या उपशयाया लोकः स्थानम्। तथा सत्येषाऽनन्तरिता भवति। 'तदाहुः। कथमस्यैषा पक्वा शृतोपहिता भवतीति यदेव यजुष्कृता तेनाथो यद्वै किं चैतमग्निं वैश्वानरमुपनिगच्छति तत एव तत्पक्वꣳ शृतमुपहितं भवति' (श० ७।५।१।२९)। इष्टकोपधानप्रदेशे पक्वानामेवोपधानादुपशयायाश्चापक्वत्वात् कथमत्रोपधानं युज्यत इति याज्ञिकानां जिज्ञासामवतारयति—तदाहुरिति। अस्योपधानप्रदेशावकाशस्य एषा उपशया पक्वा शृता उपहिता भवति। शृतेति पाकविशेषाभिधानात् पक्वा शृतेति न पुनरुक्तिः। कालकृतपाकेऽपि पाकशब्दः प्रयुज्यते। शृतं तु वह्नौ वह्निसंयुक्तद्रव्यान्तरे वा निधानेन भवति। अथवा पाकेन शृता सतीत्यर्थः। एतस्योत्तरं द्वेधा दर्शयति—यदेवेत्यादिना। एषोपशया नाम यजुष्कृता इति यत् तेनासौ पक्वा शृता च भवति। मन्त्रेण आहृतैव मृद् उपशया क्रियते, अतश्चास्या मन्त्रेण निष्पादनादेव पाकसम्पत्तिरित्यर्थः। किञ्च, यत्किञ्चिदपि वस्तु एतं वैश्वानरमग्निमिष्टकोपधानस्थलात्मकं प्राप्नोति, तत्सर्वं तत एव तत्प्राप्तेरेव पक्वं शृतं सदेव उपहितं भवति। 'ध्रुवासि धरुणेति। तस्योक्तो बन्धुरितो जज्ञे प्रथममेभ्यो योनिभ्यो अधि जातवेदा इत्येतेभ्यो हि योनिभ्यः प्रथमं जातवेदा अजायत स गायत्र्या त्रिष्टुभाऽनुष्टुभा च देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्नित्येतैर्वा एष छन्दोभिर्देवेभ्यो हव्यं वहति प्रजानन्' (श० ७।५।१।३०)। उखोपधाने 'ध्रुवासि' इति, 'इषे राये' इति च द्वौ मन्त्रौ विदधानो व्याचष्टे—ध्रुवासीत्यादिना। ध्रुवासि धरुणा इत्यस्य व्याख्यानं 'ध्रुवासीति स्थिरासि' (श० ७।४।२।५) इत्यादिना प्रागुक्तम्। एतेभ्य इति। प्रथमतो यदुखाया जनयित्वा पश्चादेतेभ्यो योनिभ्यो लोकेभ्यो जातवेदा अजायत, अतश्चामुमर्थमित

इत्यादिमन्त्रभागो ब्रूते। एतैर्गायत्र्यादिभिश्छन्दोभिः सह एषोऽग्निः स्वाधिकारं प्रजानन् हव्यं वहति खलु। छन्दसां हविर्वहनं तैत्तिरीयके समाम्नायते—'छन्दांसि देवेभ्योऽपाक्रामन्न वो भागानि हव्यं वक्ष्याम इति' (तै० सं० ५।१।१।१) इति। एतेनापक्रमणात् पूर्वं तेषां हविर्वहनं विज्ञायते।

अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धे, धरुणा जगतो धारयित्री त्वं ध्रुवासि स्थिरासि। अथ ज्ञानाग्निजनकत्वेन उखा स्तूयते—योऽयं ज्ञानाग्निरितोऽस्या बुद्धेः सकाशात् प्रथममादौ जातवेदा जातमात्रस्य प्रकाशकोऽधिजज्ञे, तत एतेभ्यो योनिभ्यः स्वकारणेभ्यः प्रत्यक्षानुमानागमादिभ्योऽधिजज्ञे अधिजायते, सोऽग्निः प्रजानन् स्वप्रकाश्यं प्रकाशयन् गायत्र्या त्रिष्टुभा अनुष्टुभा च छन्दस्त्रयेण देवेभ्यो द्योतमानेभ्यः साधकेभ्यो देवार्थं हव्यं वहतु आदानार्हंब्रह्मात्मकं वस्तु प्रापयतु।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, यथा त्वं धरुणा धर्त्री ध्रुवासि, यथैभ्यो योनिभ्यः कारणेभ्यः स जातवेदाः प्रथममधिजज्ञे तथेतोऽधिजायस्व। यथा स तव पतिर्गायत्र्या विद्यया त्रिष्टुभा अनुष्टुभा च प्रजानन् देवेभ्यो हव्यं वहतु, तथैतया प्रजानन्ती ब्रह्मचारिणी कन्या भवन्तीभ्यः स्त्रीभ्यो विज्ञानं प्राप्नोतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात्, तादृशार्थस्य केनाप्यस्वीकृतत्वात्। सिद्धान्ते तु शतपथादिश्रुतयः प्रमाणम्। इतोऽधिजायस्वेत्यत्र इत इति कर्मणो ग्रहणे पुरुषव्यत्यये च प्रमाणाभावात्। यथेत्यादिकमपि निर्मूलमेव। गायत्र्यादिच्छन्दसां प्रसिद्धत्वेऽपि तद्विद्यानामप्रसिद्धत्वात्। हव्यमित्यस्य विज्ञानार्थतापि चिन्त्यैव, धात्वर्थानुसारेणान्यस्याप्यादानार्हत्वोपपत्तेः। प्रजानन्ती ब्रह्मचारिणी कन्येत्यपि निर्मूलमेव ॥ ३४ ॥

इषे राये रमस्व सहसे द्युम्न ऊर्जे अपत्याय।
सम्राडसि स्वराडसि सारस्वतौ त्वोत्सौ प्रावताम् ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—हे उखे ! अन्न, धन, बल, यश, दुग्ध, दधि, घृत आदि रस और पुत्र-पौत्र आदि प्रजा को देने के लिये तुम यहाँ दीर्घकाल तक स्थित रहो, तुम भूमि पर भली प्रकार प्रकाशित रहो, तुम स्वर्ग में स्वयं दीप्तिमान् राजमान हो, सरस्वती सम्बन्धी वाणी तुम्हारी रक्षा करे ॥ ३५ ॥

उखादेवत्या बृहती। हे उखे, त्वं रमस्व अत्र क्रीडां कुरु। कस्मै प्रयोजनाय ? तदुच्यते—इषे अन्नाय राये धनाय सहसे बलाय द्युम्ने द्युम्नाय यशोऽर्थम्। 'द्युम्नं द्योततेर्यशो वान्नं वा' (निरु० ५।५) इति यास्कः। ऊर्जे उपसेचनाय पयोदधिघृतादिरसार्थम्, अपत्याय पुत्रपौत्रादिकाय। किञ्च, त्वं सम्राडसि सम्यग् राजत इति सम्राट्। स्वराडसि स्वेनैव राजत इति स्वराट्। एवंभूतां त्वामुत्सौ अत्युत्सुकौ सारस्वतौ सरस्वतीसम्बन्धिनौ ऋग्वेदसामवेदौ प्रावतां प्रकर्षेण रक्षताम्, 'ऋक्सामे वै सारस्वतावुत्सौ' (तै० ब्रा० १।४।४।९) इति श्रुतेः। अथवा सारस्वतौ सरस्वतीनदीसम्बन्धिनौ उत्सौ उत्स्यन्दनौ कूपौ प्रवाहौ वा। तौ चोत्सौ मनोवाचौ। सर्वशास्त्रज्ञानाय कूप इवोत्स्यन्दतीति मनः कूपः। तत्प्रतिपादनं कुर्वन्ती वागपि कूपः, 'मनो वै सरस्वान् वाक् सरस्वत्येतौ सारस्वतावुत्सौ' (श० ७।५।१।३१) इति श्रुतेः।

अत्र ब्राह्मणम्—'इषे राये रमस्व। सहसे द्युम्न ऊर्जे अपत्यायेत्येतस्मै सर्वस्मै रमस्वेत्येतत् सम्राडसि स्वराडसीति सम्राट् च ह्येष स्वराट् च सारस्वतौ त्वोत्सौ प्रावतामिति मनो वै सरस्वान् वाक् सरस्वत्येतौ सारस्वता उत्सौ तौ त्वा प्रावतामित्येतद् द्वाभ्यामुपदधाति तस्योक्तो बन्धुरथो द्वयꣳ ह्येवैतद्रूपं मृच्चापश्च सादयित्वा सूददोहसाऽधिवदति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।५।१।३१)। इषे राये इत्यादिना इट्प्रभृतिभ्यः

सर्वेभ्यो रमस्वेत्येतदुक्तं भवतीति व्याचष्टे—एतस्मा इति। सारस्वताविति। सारस्वान् मन उच्यते, सरस्वती च वाक्, एतौ सारस्वतौ। अत्र स्वार्थिकोऽण्प्रत्ययः। उत्सौ वारिप्रवाहौ वाङ्मनसात्मकौ। मनस्तावत् सर्वशास्त्रार्थपरिज्ञानरसाधारत्वाद् वाचश्च तत्प्रतिपादनरसाधारत्वादुत्सत्वमनयोः। तौ त्वा प्रावतां पालयतामभिज्ञानवदनव्यापाराभ्यामित्यर्थः।

एवं च सायणाचार्योक्तरीत्या उपर्युक्तयोर्मन्त्रयोरयमर्थः—हे उखे, त्वं ध्रुवासि स्थिरासि धरुणा धारिणी चासि। जातिवेदा इतस्त्वत्सकाशात् प्रथममधिजज्ञे पश्चादेभ्यो लोकेभ्योऽधिजातः। स तथाविधो जातवेदा गायत्र्यादिच्छन्दोभिः सह स्वाधिकारं प्रजानन् देवेभ्यो हव्यं वहतु धारयतु। किञ्च, त्वमिषे अन्नाय राये धनाय सहसे बलाय द्युम्ने द्युम्नाय यशसे ऊर्जे पयोदध्याद्युपसेचनाय, अपत्याय पुत्रपौत्रादिकाय, अथवा अपत्याय पत्याय स्वामित्वाय रमस्व तत्सर्वं सम्पादयितुं रतिं कुरु। त्वं सम्यग् राजमानासि स्वेनैव राजमानासि। त्वां च वाङ्मनसरूपा उत्सौ प्रकर्षेण पालयतामिति। अत्र 'अथोपशयां पिष्ट्वा' इत्यादिश्रुतिक्रमेणानुष्ठानमुपशयोपनिवापोत्तरकालं च मन्त्रवचनम्। उपधानमन्त्रयोर्द्वित्वसंख्याया व्याख्यानं प्रागुक्तमित्याह—द्वाभ्यामिति। अद्भिरेव सिक्तया मृदा कृतत्वादुखायां मृच्चापश्चेति द्विविधं रूपमस्ति। अतश्च तदुपधानमन्त्रयोर्द्वित्वमुपपद्यत इत्याह—अथो इति। अन्यत् पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धे, इषे अन्नाद्यर्थं क्रीडस्व सर्वस्य बुद्धिवैभवं सम्पादय। साम्राज्यं स्वाराज्यं चापि तत्कार्यमेव। सारस्वतौ चोत्सौ वाङ्मनसे त्वामवतां पालयताम्।

दयानन्दस्तु—'हे पुरुष! यस्त्वं सम्राडसि, हे स्त्रि! या त्वं स्वराडसि, स त्वं च इषे राये सहसे द्युम्न ऊर्जेऽपत्याय रमस्व। उत्साविव सारस्वतौ सन्तावेतानि प्रावतामिति त्वां पुरुषं स्त्रियं चोपदिशामि' इति, तदपि निर्मूलम्, तादृशसम्बोधनस्य निष्प्रमाणत्वात्। न च क्रीडनेन धनादिप्राप्तिः सम्भवति। हिन्दीभाषायां तु यतस्वेत्युक्तम्, तदपि निर्मूलमेव। कूपवत्कोमलीभूत्वेति सर्वथाऽपार्थकमेव वचः, कूपे कोमलताया लोके वेदे चात्यन्तमप्रसिद्धत्वात्। किञ्च, त्वावतामिति मन्त्रस्थयोः कर्मक्रियापदयोरन्वये सम्भवति त्वां पुरुषं स्त्रियं चोपदिशामीति पदान्तराध्याहारः स्वैरित्वमेव द्योतयति। किञ्च, उभयोर्विवक्षायां युवामिति स्यात्, न तु त्वामिति ॥ ३५ ॥

अग्ने॑ यु॒क्ष्वा हि ये तवाश्वा॑सो देव सा॒धवः॑। अरं॒ वह॑न्ति म॒न्यवे॑ ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—हे दीप्यमान अग्निदेवता, आपके चतुर श्रेष्ठ जाति के घोड़े आपको शीघ्र यज्ञ के निमित्त यज्ञस्थान पर ले जाते हैं, उनको आप रथ में जोतिये ॥ ३६ ॥

'अग्ने युक्ष्वा हीति प्रत्यृचꣳ स्रुवाहुतीर्जुहोत्युखायाम्' (का० श्रौ० १७।५।५)। अनया ऋचा, युक्ष्वा हीत्यपरया च ऋग्द्वयेन उखामध्ये द्वे आहुती जुहुयादिति सूत्रार्थः। भरद्वाजदृष्टा अग्निदेवत्या गायत्रीछन्दस्का ऋक्। ऋगर्थस्तु—हे देव दीप्यमान अग्ने, ये साधवो दान्तास्तव सम्बन्धिनोऽश्वासोऽश्वा अरम् अलम् अत्यर्थं मन्यवे मन्यते देवान् यष्टव्यत्वेनात्रेति मन्युर्यज्ञः, तस्मै मन्यवे यज्ञाय वहन्ति देवानिति शेषः। तान् युक्ष्व योजय। हीति पादपूरणार्थः। अथवा हे देव दानादिगुणयुक्त अग्ने! ये साधव उत्कृष्टजातिगुणसमन्विताः प्रशस्ता अश्वा अरम् अलं पर्याप्तं मन्यवे दीप्तये क्रोधाय वा वहन्ति तान् युक्ष्व योजय। 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति दीर्घः। 'युजिर् योगे' इति रौधादिकस्य रूपम्। श्नमो लोपश्छान्दसः। 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३।१।८५) इति विकरणस्य लोपः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनामभिजुहोति। एतद्वा अस्यामेतत्पूर्वᳪ रेतः सिक्तं भवति सिकतास्तदेतदभिकरोति तस्माद्योनौ रेतः सिक्तमभिक्रियत आज्येन जुहोति स्रुवेण स्वाहाकारेण द्वाभ्यामाग्नेयीभ्यां गायत्रीभ्यां तस्योक्तो बन्धुः' (श० ७।५।१।३२)। उपधानानन्तरमुखाया उपरि होमं विधत्ते—अथेति। अभिहोमस्योपयोगमाह—एतद्वा इति। भिन्नं वाक्यमेतत्। एतदित्यस्य एतत्खलु समभूदित्यर्थः। भिन्नवाक्याभावेऽभिहोमपरामर्शकत्वमेतत्पदस्य स्यात्, तथा च नार्थः समञ्जसो भवेत्। भिन्ने वाक्येऽर्थो विव्रियते—अस्यामेतत्पूर्वं रेतः सिक्तं भवति सिकतेति। पूर्वम् अस्याम् उखायाम् एतद्रेतः सिक्तं भवति। सिकतास्तदेतदिति निर्दिष्टप्रदर्शनम्, अग्न्युद्वापानन्तरमेव उखायाः सिकताभिः पूरितत्वात्। तद्रेत एतेन अभिहोमेन अभिकरोति अभिवर्धयति। यत एवं तस्मादिदानीं योनौ सिक्तं रेतोऽभिक्रियते अवयविरूपेण क्रियत इत्यर्थः। विहितोऽभिहोम आज्येन स्रुवेण स्वाहाकारेण द्वाभ्यामाग्नेयीभ्यां गायत्रीभ्यां कर्तव्य इत्याह—आज्येनेत्यादिना। आज्यस्रुवाद्यर्थवादस्तु (श० ६।३।३।१८-२१) इत्यत्र प्रागुक्त इत्याह—तस्योक्तो बन्धुरिति। 'अग्ने युक्ष्वा हि ये तव। युक्ष्वा हि देवहूतमानिति युक्तवतीभ्यामिदमेवैतद्योनौ रेतो युनक्ति तस्माद्योनौ रेतो युक्तं न निष्पद्यते' (श० ७।५।१।३३)। द्वाभ्यामित्यादिनोक्ते ऋचौ प्रदर्शयन् तयोर्युजिधातुसम्बन्धं प्रशंसति—अग्ने युक्ष्वा हीति। युक्तवतीभ्यां युजिधातुमतीभ्यामित्यर्थः। एतद् एतेनोपधानमन्त्रयोर्युजिधातुसम्बन्धेन योनौ सिक्तं रेतो युनक्ति नियच्छति। तस्मादिदानीं योनौ सिक्तं रेतोऽपत्योत्पादनार्हं युक्तं सन्न निष्पद्यते न निष्पतति, तत्रैवावतिष्ठते।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने! श्रीराम परमात्मन् देव जगदुत्पत्तिस्थितिलयक्रीडाविशिष्ट, तव ये अश्वासः अश्वाः साधवः शुभजातिगुणान्वितास्तान् युक्ष्व युङ्क्ष्व। एवं च सति तेऽश्वा मन्यवे रावणादीन् प्रति क्रोधाय यागाद्यर्थम् अरम् अलम् अत्यर्थं त्वां वहन्ति वक्ष्यन्ति। वर्तमानसामीप्ये भविष्यत्यर्थे लृट्।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, देव दिव्यविद्यायुक्त ये तव साधवोऽश्वासस्तुरङ्गा अभीष्टं साध्नुवन्तो मन्यवे शत्रूणामुपरि क्रोधाय अलमत्यर्थं वहन्ति रथादीनि प्रापयन्ति, तान् हि त्वं युक्ष्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तेजस्विनोऽपि विदुषोऽश्वा न भवन्ति। निरर्थकश्चायमुपदेशः। अग्निदेवादिशब्दानां न मनुष्यो विद्वानर्थः, देवशब्दस्य योनिविशेषे रूढत्वात्। अग्निशब्दस्यापि तथाविधैव स्थितिः॥ ३६॥

युक्ष्वा हि देवहूतमाँ २॥ अश्वाँ २॥ अग्ने रथीरिव। नि होता पूर्व्यः सदः॥ ३७॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेवता, आप देवताओं को बुलाने वाले घोड़ों को अवश्य ही रथी के समान उत्साहपूर्वक रथ में शीघ्र जोतिये। कारण यह है कि पुरातन काल से आह्वान करने वाले आप आज इस यज्ञ कर्म में अपना स्थान ग्रहण कर रहे हैं॥ ३७॥

विश्वरूपदृष्टा अग्निदेवत्या गायत्रीछन्दस्का ऋक्। हे अग्ने, देवहूतमान् देवान् ह्वयन्ति ये ते देवह्वः, अतिशयेन देवह्वो देवहूतमाः, तान्। अश्वान् नियुक्ष्व नियोजय। 'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च' इति धातोः क्विपि सम्प्रसारणे तमपि च रूपम्। क इव? रथीरिव। रथोऽस्यास्तीति रथीः। 'छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ' (पा० सू० ५।२।१२२ वा० २) इति मत्वर्थीय ईप्रत्ययः। देवहूतमान् अश्वान् इत्युभयत्र 'दीर्घादटि समानपादे' (पा० सू० ८।३।९) इति नकारस्य रुत्वे 'आतोऽटि नित्यम्' (पा० सू० ८।३।३) इत्याकारस्यानुनासिकत्वम्। हि यस्मादेवमतः सदः सदसि, विभक्तिव्यत्ययः, पूर्व्यः अग्र्यो होता सन्निषोदेति शेषः। यद्वा त्वं पूर्व्यः पूर्वभवः पुरातनो होता मानुषाद्धोतुः प्रथमो हि अस्मिन् प्रसिद्धयागे निसदः होतृसदने निषीद। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति लोडर्थे लुङ्। लृदित्वात् च्लेरङ्। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (पा० सू० ६।४।७५)

इत्यडागमाभावः। यद्वा होता होमोत्पादको भूत्वा अस्मिन् यागस्थाने निषीद। तथा चोव्वटाचार्यो वचनमेक-मुद्धार—'अव्याद्यज्ञं जातवेदा अन्तरः पूर्वोऽस्मिन्निषद्य' इति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने श्रीराम, त्वं देवहूतमान् देवैरतिशयं स्पर्धमानान् अश्वान् इन्द्रियरूपान् रथीरिव रथस्वामीव नियुक्ष्व ममाभीष्टध्यानादौ प्रेरय। त्वं पूर्व्यः पुरातनः, सर्वकारणत्वात्। सदः सदसि मनसि होता भक्तानामाह्वाता सन्निषीदेत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, पूर्व्यः पूर्वैर्विद्वद्भिः कृतशिक्षो होता दाता त्वं देवहूतमान् विद्वद्भिः स्पर्धितान् अश्वान् रथीरिव यथा शत्रुभिर्बहुरथादिसेनाङ्गवान् योद्धा युद्ध्यते तथा युक्ष्व, हि न्यायासने नि षदः निषीद' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अश्वानां विद्वद्भिः स्पर्धास्वरूपानिरूपणात्। तमपश्च क उपयोगः? रथीरित्यस्य कथं सार्थक्यम्? यः स्वयं योद्धा न भवति, तस्य योद्धृतुल्यता कीदृशी? योद्धृत्वे तुल्यताकथनस्य किं वा स्वारस्यम्? एवमेव पूर्वैर्विद्वद्भिः कृतशिक्ष इत्यर्थः कथम्? एतस्मिन्नर्थे कः प्रत्ययः? यत्तु 'ईर् मत्वर्थे' इति महीधरोक्तौ 'ईर् इति रेफान्तः प्रत्यय इति महीधरः, तच्चिन्त्यम्' इति, तत्तुच्छम्, अपदं न प्रयुञ्जीतेति वैयाकरणानां राद्धान्ताद् ईशब्दात् प्रथमैकवचने सौ रुत्वे 'ईर् मत्वर्थे' इति शब्दसाधुत्वात्॥ ३७॥

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।
घृतस्य धारा अभिचाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्ये अग्नेः॥ ३८॥

मन्त्रार्थ—चिति के मध्य में जो हिरण्मय पुरुष स्थित है, वह हृदय के अन्तर में वर्तमान विषयों की व्याकुलता से रहित होकर श्रद्धा वाले मन से पवित्र किये हुए अन्न और घृत की धारा का भली प्रकार क्षरण करता है। जैसे नदियाँ समुद्र को प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार होमी हुई आहुतियां उस हिरण्मय पुरुष को प्राप्त होती हैं। इसका मैं स्वयं द्रष्टा हूँ॥ ३८॥

'प्रतिशिरः सप्त सप्त हिरण्यशकलान् मुखे करोति सम्यक् स्रवन्तीति' (का० श्रौ० १७।५।७)। पञ्चपशुपक्षे प्रतिशिरः सप्त सप्त सुवर्णखण्डानि प्रक्षिपेत्। तत्र मुखे प्रथममेकं शकलं प्रक्षिपेत् सम्यक् स्रवन्तीति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। काण्वभाष्ये तु हिरण्यपुरुषाश्वादीनां मध्ये एकैकस्य शिरःस्थितेषु सप्तसु सप्तसु छिद्रेषु सप्त सप्त स्वर्णशकलानि निक्षिपेत् सम्यक् स्रवन्तीति मन्त्रेणेति।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैषु हिरण्यशकलान् प्रत्यस्यति। प्राणा वै हिरण्यमथवा एतेभ्यः पशुभ्यः संज्ञप्यमानेभ्य एव प्राणा उत्क्रामन्ति तद्यद्धिरण्यशकलान् प्रत्यस्यति प्राणानेवैष्वेतद्दधाति' (श० ७।५।२।८)। तेषु पशुशीर्षेषु सुवर्णशकलानां प्रक्षेपं विधाय प्रशंसति—अथैष्विति। प्राणसाधनत्वाद् हिरण्यस्य प्राणात्मकत्वम्। शेषं स्पष्टम्। 'सप्त प्रत्यस्यति। सप्त वै शीर्षन् प्राणास्तानस्मिन्नेतद्दधात्यथ यदि पञ्च पशवः स्युः पञ्चैव कृत्वः सप्त सप्त प्रत्यस्येत् पञ्च वा एतान् पशूनुपदधाति सप्त सप्त वा एकैकस्मिन् पशौ प्राणास्तदेषु सर्वेषु प्राणान् दधाति' (श० ७।५।२।९)। सुवर्णशकलानां संख्याविशेषं विधत्ते—सप्त प्रत्यस्यतीति। शिरसि वागेका, नेत्रे द्वे, श्रोत्रे द्वे, नासाविवरे च द्वे इति सप्त प्राणाः। सप्तहिरण्यशकलनिधानेन सप्तप्राणवान् भवतीत्याह—सप्त वा इति। पञ्चपशुपक्षः, एकपशुपक्ष इति पक्षद्वयमस्ति। तत्र पञ्चपशुपक्षे पञ्चकृत्वः सप्त सप्त हिरण्यशकलान् प्रतिशीर्षं प्रत्यस्यति। 'तद्वैकेऽपि। यद्येकः पशुर्भवति पञ्चैव कृत्वः सप्त सप्त प्रत्यस्यन्ति पञ्च वा एतान् पशूनुपदधाति सप्त सप्त वा एकैकस्मिन् पशौ प्राणास्तदेषु सर्वेषु प्राणान् दध्म इति न तथा कुर्यादेतस्मिन् वै पशौ सर्वेषां पशूनाꣳ रूपं तद्यदेवस्मिन्

प्रत्यस्यति तदेवैषु सर्वेषु प्राणान् दधाति' (श० ७।५।२।१०)। यद्येकोऽपि पशुर्भवेत्तदापि पञ्चकृत्व एव सप्त सप्त सुवर्णशकलान् प्रत्यस्येदिति एके शाखिन आहुः। तेषामयमाशयः—पञ्चानामपि पशूनां स्थाने एकस्योपधानादसौ अध्वर्युः पञ्च एतान् पशूनुपदधाति। तथा च एकैकस्मिन् पशौ सप्त सप्त प्राणा विद्यन्ते। तस्मात्तावतां हिरण्यशकलानां प्रत्यसनेन एतेषु सर्वेष्वपि प्राणान् दधाति। न तथा कुर्यादित्यनेन तं पक्षं दूषयन्ति—न तथा कुर्यादिति। कथं तर्हि सर्वेषां पशूनां प्राणसङ्घटनेति तत्राह—एतस्मिन् वा इति। एतस्मिन् उपधीयमाने एकस्मिन्नेव पशौ सर्वेषां पशूनां रूपमस्ति। तेषां सर्वेषामपि कार्ये एतस्यैव सामर्थ्यावधारणात्। तस्मादेतस्मिन् सप्तसंख्याविशिष्टहिरण्यशकलप्रत्यसनेन सर्वेष्वपि पशुषु प्राणप्रतिसन्धानं सम्पादितवान् भवति।

लिङ्गोक्ता देवता त्रिष्टुप्। तत्र सम्यक् स्रवन्तीति कण्डिकया प्रथममास्ये स्थापयेत्। हिरण्मयपुरुषोद्देशेन कण्डिकेयं प्रवृत्ता। अन्तः शरीरस्याभ्यन्तरे हृदा मनसा हृदयपुण्डरीकवर्तिना युक्तेनान्तःकरणेन पूयमानाः पवित्रीक्रियमाणा धेना अन्नलक्षणाः, 'अन्नं वै धेनाः' (श० ७।५।२।११) इति श्रुतेः। घृतस्य दीप्तियुक्ता हिरण्मयं पुरुषं प्रति सुवर्णस्य धाराः सम्यक् स्रवन्ति। तत्र दृष्टान्तः—सरितो न, नकार इवार्थः। यथा नद्यः प्रवहन्ति तद्वत्। अपि च, उखाग्निमध्ये यो हिरण्मयो वेतसः पुरुषोऽवभासते, तं पुरुषमभिलक्ष्य स्रवन्तीस्ता धारा अभिचाकशीमि अभिपश्यामि। अग्नेर्मध्ये चितिमध्ये हिरण्मयो वेतसः पुरुषो यो निहितोऽस्ति, तं प्रति धेना अन्नानि सम्यक् स्रवन्ति क्षरन्ति, हूयमानानि हवींषि तं प्रति गच्छन्तीत्यर्थः। कीदृश्यो धेनाः ? अन्तर्हृदा हृदयपुण्डरीकवर्तिना हृत्प्रतिष्ठेन विषयव्यावृत्तेन, अव्याकुलेनेति यावत्, पूयमानाः पवित्रीक्रियमाणाः, श्रद्धायुक्तेन मनसा दत्ता इत्यर्थः, 'अन्तर्वै हृदयेन मनसा सतान्नं पूतं य ऋजुः' (श० ७।५।२।११) इति श्रुतेः। तत्र दृष्टान्तः—सरितो न सरितो यथा सागरं प्रति स्रवन्ति गच्छन्ति तद्वत्। न केवलं धेना एव स्रवन्ति, किन्तु घृतस्य धारा अपि स्रवन्ति। ताश्च धेना घृतधाराश्च हिरण्मयं पुरुषं प्रति स्रवन्तीरहमपि चाकशीमि अभिपश्यामि।

अत्र ब्राह्मणम्—'मुखे प्रथमं प्रत्यस्यति। सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना इत्यन्नं वै धेनास्तदिदꣳ सम्यङ्मुखमभिसꣳस्रवन्त्यन्तर्हृदा मनसा पूयमाना इत्यन्तर्वै हृदयेन मनसा सतान्नं पूतं य ऋजुस्तस्य घृतस्य धारा अभिचाकशीमीति या एवैतस्मिन्नग्नावाहुतीर्होष्यन् भवति ता एतदाह हिरण्ययो वेतसो मध्ये अग्नेरिति य एवैष हिरण्मयः पुरुषस्तमेतदाह' (श० ७।५।२।११)। प्रथमं मुखे शकलस्य प्रत्यसनं विधत्ते—मुखे प्रथममिति। मन्त्रं व्याचष्टे—सम्यक् स्रवन्तीति। धेना इत्यन्नमुच्यते। सम्यक् स्रवन्ति। कथमिव ? सरितो न सरित इवेति मन्त्रभागेनोच्यते। अन्तर्हृदेति। य ऋजुरकुटिलाङ्गस्तस्य अन्तः शरीरमध्ये हृदा हृदयदेशेन मनसा च सता विद्यमानेन अन्नं पूतं भवति, सारासारभेदेन विवेचितं भवति। हृदयदेशस्य अन्नावतरणप्रदेशत्वात् शोधकत्वम्। ऋजुरकुटिलः शोभनकर्मा यजमानः, तस्य मनसेति। घृतस्य धारा इत्यनेन होष्यमाणाहुत्यभिधानमभिप्रेत-मित्याह—या एवैतस्मिन्निति। चतुर्थपादेऽग्निमध्यावस्थितहिरण्मयपुरुषाभिधानं क्रियत इति व्याचष्टे—हिरण्यय इति। तथा च ब्राह्मणानुसारी मन्त्रार्थः—अकुटिलावयवस्य यजमानस्य अन्तः शरीरमध्ये हृदयेन हृत्प्रतिष्ठेन मनसा शोध्यमानान्यन्नानि इदं मुखमभिलक्ष्य स्रवन्ति, यथा नद्यः समुद्रं प्रति स्रवन्ति तद्वत्। तथाविधेऽस्मिन्मुखे शकलं निदधामि। निहितं शकलं चेदमग्नेर्मध्ये यो हिरण्मयो वेतसः पुरुषस्तं प्रति संस्रवन्तीर्घृतस्य धारा अभिचाक-शीमि अभिपश्यति। 'चाकशीमि' इति पुरुषव्यत्ययः। यङ्लुगन्तस्य रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—अग्नेः पार्थिवस्याग्नेः सूर्यस्य वा मध्ये हिरण्मयो वेतसः पुरुषो यो विद्यते हिरण्यश्मश्रुः हिरण्यकेशः सर्वान्तर्यामी 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' (ब्र० सू० १।१।२०) इति न्यायेन निर्धारितस्तं प्रति सरितो न यथा नद्यः समुद्रं प्रति स्रवन्ति, तथा धेना अन्नानि विविधानि स्रवन्ति। कीदृशीर्धेनाः ? अन्तः शरीरस्य मध्ये

हृदा हृत्पुण्डरीकान्तर्वर्तिना समाहितेन मनसा अन्तःकरणेन पूयमानाः पवित्रीक्रियमाणा घृतस्य धाराश्च तं प्रति स्रवन्ति, ताः स्रवन्तीर्धेना धाराश्च अहमभिचाकशीमि ध्यानेनाभिपश्यामि ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा अग्नेर्मध्ये हिरण्यय इव वर्तमानोऽहं या घृतस्य उदकस्य वेतसो वेगवत्यो धाराः सरितो न नद्य इव अन्तः अभ्यन्तरे हृदा हृदयेन मनसा विज्ञानवता चित्तेन पूयमानाः पवित्रा धेना वाचः, 'धेना इति वाङ्नामसु' (१।११।३९), सम्यक् स्रवन्ति, ता अभिचाकशीमि। तथा यूयमप्येताः प्राप्नुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्। न च विद्युतो मध्ये पुरुषावस्थानं सम्भवति। हिरण्यय इवेत्यपि निर्मूलम्, तत्रेवपदाभावात्। सरित इत्यनेनैव गतार्थत्वे वेगयुक्तधारारूपा इत्युक्तिरपार्थैव, वेगवत्यो धारा इत्युक्त्यैव गतार्थत्वे सरित इत्युक्तिर्व्यर्था स्यात् ॥ ३८ ॥

ऋचे त्वा रुचे त्वा भासे त्वा ज्योतिषे त्वा।
अभूदिदं विश्वस्य भुवनस्य वाजिनमग्नेर्वैश्वानरस्य च ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—हे हिरण्यशकल, दीप्ति के निमित्त तुम्हारा वाम नासिका में प्रासन करता हूँ। सम्यक् दीप्ति के लिये तुम्हारा दक्षिण नासा में प्रासन करता हूँ। कान्ति के लिये तुम्हारा वाम चक्षु से स्पर्श कराता हूँ। तेज की प्राप्ति के लिये तुम्हारा दक्षिण नेत्र से स्पर्श कराता हूँ। यह श्रोत्र सम्पूर्ण प्राणिसमूह तथा सम्पूर्ण मनुष्यों के हितकारी अग्नि के वचन को सुनने वाला है, तुम्हारा इससे स्पर्श कराता हूँ ॥ ३९ ॥

'उत्तरान् द्वौ द्वौ, नासिकयोर्ऋचे त्वेति, अक्ष्योर्भासे त्वेति, श्रोत्रयोरभूदिदमिति' (का० श्रौ० १७।५।८-११)। उत्तरान् वक्ष्यमाणान् मन्त्रान् एकप्रतीकोपादानेऽपि द्वौ द्वौ मन्त्रौ प्रतीयात्। एकैकं हिरण्यखण्डं नासिकयोः क्रमेण (१) ऋचे त्वा (२) रुचे त्वा इति मन्त्राभ्याम् आदौ वामनसि ततो दक्षिणनसि स्थापयेत्। चक्षुषोः (१) भासे त्वा (२) ज्योतिषे त्वा इति मन्त्राभ्यां पूर्वं वामचक्षुषि ततो दक्षिणचक्षुषि एकैकं हिरण्यखण्डं स्थापयेत्। श्रोत्रयोः (१) अभूदिदं विश्वस्य भुवनस्य वाजिनम् अग्नेर्वैश्वानरस्य च, (२) अग्निर्ज्योतिषा ज्योतिष्मानित्यादिमन्त्रेण च तेनैव क्रमेण एकैकं हिरण्यखण्डं स्थापयेदिति सूत्रार्थः। हिरण्यशकलदेवत्या आर्षी बृहती, पादार्णनियमाभावात्। हे हिरण्यशकल, ऋचे ऋग्वेदाय तदुक्तहौत्रादिसिद्धये त्वा त्वां वामनसि, क्षिपामीति शेषः। अथवा येयमृक् श्रोत्ररूपा तदर्थं रुचे दीप्त्यै त्वां दक्षिणनासाछिद्रे क्षिपामि। भासे कान्त्यै त्वां वामनेत्रे प्रास्यामि। ज्योतिषे तेजसे तत्प्राप्त्यै त्वां दक्षनेत्रे प्रास्यामि। इदं श्रोत्रं विश्वस्य भुवनस्य भूतजातस्य वैश्वानरस्य विश्वेभ्यः सर्वेभ्यो नरेभ्यो हितस्य अग्नेश्च वाजिनं वाचो ज्ञातृ अभूत्। सर्वप्राणिशब्दा वह्नेश्च शब्दोऽपि श्रोत्रेणैव ज्ञायतेऽतः श्रोत्रे हिरण्यं प्रास्यामीति शेषः। वाचमेति जानातीति वाजिनम्। वाच्पूर्वादितेः 'इण् सिञ्जि' (उ० ३।२) इत्यादिना नक्प्रत्ययः। छान्दसः कुत्वाभावः। 'झलां जशोऽन्ते' (पा० सू० ८।२।३९) इति जश्त्वम्। 'अयमग्निर्वैश्वानरः' (श० १४।८।१०।१) इत्युपक्रम्य 'तस्यैष घोषो भवति यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति' इति श्रूयते। तदनुवादकोऽयं मन्त्रः। यद्वा इदं दक्षिणश्रोत्रे प्रक्षिप्यमाणं सुवर्णं विश्वस्य भुवनस्य सर्वस्य भूतजातस्य वाजिनमन्नं वीर्यरूपं तेजोजनकं वा अभूद् भवति। तथा वैश्वानरस्य विश्वेषां नराणां स्वामिनोऽग्नेः स्ववीर्यरूपमभूद् भवति।

अत्र ब्राह्मणम्—'ऋचे त्वेतीह। प्राणो वा ऋक् प्राणेन ह्यर्चति रुचे त्वेतीह प्राणो वै रुक् प्राणेन हि रोचतेऽथो प्राणाय हीदꣳ सर्वꣳ रोचते भासे त्वेतीह ज्योतिषे त्वेतीह भास्वती हीमे ज्योतिष्मती चक्षुषी अभूदिदं

विश्वस्य भुवनस्य वाजिनमग्नेर्वैश्वानरस्य चेतीहाग्निर्ज्योतिषा ज्योतिष्मान् रुक्मो वर्चसा वर्चस्वानितीह विश्वावतीभ्यां विश्वꣳ हि श्रोत्रम्' (श० ७।५।२।१२)। अथ दक्षिणनासाविवरे समन्त्रकं शकलनिधानं विधत्ते—ऋचे त्वेतीति। 'इह' इति दक्षिणनासाविवरस्य निर्देशोऽभिनयेन। व्याचष्टे—प्राणो वा इति। यतः प्राणो वा अर्चति प्राप्नोति, प्राणवतैव सर्वस्य प्राप्तेः। धातूनामनेकार्थत्वादत्र प्राप्त्यर्थोऽर्चतिः। अतश्च 'ऋक्' इति प्राणः। तथा सति ऋचे प्राणाय सञ्चरमाणाय प्रत्यस्यामीति मन्त्रार्थः। सव्यमपि नासाविवरमभिनयेन निर्दिश्य समन्त्रकं शकलनिधानं विधत्ते—रुचे त्वेतीति। इहेति सव्यनासाविवरस्य अभिनयेन निर्देशः। प्राणो वै रुग् दीप्यमानः। प्राणेन हि शरीरादिकं दीप्यते, प्राणार्थमेव सर्वमिदं जगत् प्रियं भवति। दक्षिणनेत्रमभिनयेन निर्दिश्य समन्त्रकं शकलनिधानं विधत्ते—भासे त्वेतीति। इह दक्षिणनेत्रे। ज्योतिषे त्वेतीह सव्ये नेत्रे प्रत्यस्यति। यत इमे चक्षुषी भास्वती अर्थप्रकाशनलक्षणतेजोविशिष्टे ज्योतिष्मती स्वयं च ज्योतिर्विशिष्टे, अतस्तत्र शकलप्रत्यसनमन्त्रयोः 'भासे' 'ज्योतिषे' इति प्रयुक्तम्। श्रोत्रयोः समन्त्रकं शकलप्रत्यसनं विधत्ते—अभूदिति। इदं दक्षिणश्रोत्रं विश्वस्य भुवनस्य समस्तस्य लोकस्य वाजिनं शब्दोपलब्धिसाधनम् अभूत्। न केवलमस्यैवाभूत्, अपि तु वैश्वानरस्य विश्वेषां नराणामयं वैश्वानरस्तस्य सर्वजनानां जनकत्वेन सम्बन्धिनः। 'तस्येदम्' (पा० सू० ४।३।१२०) इत्यणि, 'नरे संज्ञायाम्' (पा० सू० ६।३।१२९) इति पूर्वपदस्य दीर्घे आदिवृद्धौ च रूपम्। तस्याग्नेः प्रजापतेरपि शब्दोपलब्धिसाधनमभूत्। तादृशे तत्र त्वां प्रत्यस्यामीत्यर्थः। अग्निर्ज्योतिषेति। ज्योतिषा ज्योतिष्मान् प्रशस्तज्योतिष्मान् प्रशस्तज्योतिर्विशिष्टोऽग्निरिव। वर्चसा वर्चस्वान् प्रशस्तवर्चोविशिष्टोऽग्निरिव। इवशब्दोऽध्याहर्तव्यः। इदं यद् दक्षिणेतरत् श्रोत्रं प्रकाशते, तथाविधे तत्र त्वां प्रक्षिपामीत्यर्थः। मन्त्रे विश्वपदप्रयोगस्याभिप्रायमाह—विश्वावतीभ्यामिति। यद्यप्यत्र एकस्यामेव विश्वपदप्रयोगः, तथापि प्राणभृन्न्यायेन लिङ्गसमवायादुभयोरपि 'विश्वावती' इत्यभिधानमुपपद्यते।

अध्यात्मपक्षे—हे परमात्मन्, ऋचे ऋगुपलक्षितचतुर्वर्गप्राप्तिहेतुभूतचतुर्वेदप्राप्त्यर्थम्, त्वा त्वाम्, आश्रय इति शेषः। रुचे रोचनाय भासे कान्त्यै ज्योतिषे तेजसे तत्प्राप्त्यै त्वा त्वाम् आश्रये। इदं परमात्मतत्त्वं विश्वस्य सर्वस्य भुवनस्य भूतजातस्य वैश्वानरस्य सर्वप्राणिहितस्य वह्नेर्वाजिनं वीर्यं तेजोजनकमभूत्। अतस्तदाश्रये।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यस्य तव विश्वस्य सर्वाधिकारस्य जगतो भुवनस्य वैश्वानरस्य अखिलेषु नरेषु राजमानस्य अग्नेर्विद्युदाख्यस्य च वाजिनं वाजिनां विज्ञानवतामिदमवयवभूतं विज्ञानमभूज्जातम्, तमृचे स्तुतये रुचे प्रीतये त्वा भासे विज्ञानाय त्वा ज्योतिषे न्यायप्रकाशाय त्वा वयमाश्रयेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विदुषामपरिगणितत्वादेकस्यैव सम्बोध्यत्वानुपपत्तेः। न चैकस्यैव सर्वत्र विनियोगः सम्भवति। वाजिनामिदमिति वाक्यस्य विज्ञानवतामवयवभूतं विज्ञानमिति कथमर्थः ? यदि 'वज गतौ' इति धातोर्निष्पन्नत्वेन वाजो विज्ञानम्, तदस्त्यस्येति वाजिन्नित्यस्य विज्ञानवानित्यर्थः स्यात्, तथापि वाजिनामिदमिति तदवयवविवक्षणेऽपि नोपपत्तिः, ज्ञानविज्ञानवतोऽवयवानुपपत्तेः। ज्योतिःशब्दस्य न्यायप्रकाशार्थतापि चिन्त्यैव ॥ ३९ ॥

अ॒ग्निर्ज्योति॑षा॒ ज्योति॑ष्मान् रु॒क्मो वर्च॑सा॒ वर्च॑स्वान्। स॒ह॒स्र॒दा अ॑सि स॒ह॒स्राय॑ त्वा ॥४०॥

मन्त्रार्थ—यह अग्नि पशु के कान पर स्थित हिरण्य की कान्ति से कान्तिमान् है। रोचमान अग्नि सुवर्ण की अग्नि से कान्तिमान् है। हे पुरुष, तुम यजमान की हजारों अभिलाषाओं को पूरा करने वाले हो, इस कारण सहस्रों अभिलाषाओं के लाभ के निमित्त मैं तुमको सिद्ध करता हूँ ॥ ४० ॥

हिरण्यशकलदेवत्या उष्णिक्। द्वौ पादौ अष्टार्णौ तृतीयो द्वादशको व्यूहेन। दक्षिणश्रोत्रे शकलं प्रास्यत्यग्निर्ज्योतिषेति मन्त्रेण। अयमग्निर्ज्योतिषा पशुश्रोत्रस्थितहिरण्यतेजसा ज्योतिष्मान् तेजस्वी अस्तु। तथा रुक्मो रोचमानोऽग्निर्वर्चसा हिरण्यकान्त्या वर्चस्वान् कान्तिमानस्तु। बाह्यप्रभा ज्योतिः, शरीरान्तर्गता कान्तिर्वर्च इति ज्योतिर्वर्चसोर्भेदः। यद्वा श्रोत्रमेव हिरण्यज्योतिषाग्निरिव ज्योतिष्मदस्तु। हिरण्यवर्चसा च वर्चस्वदस्तु। रुक्म इव सुवर्णपुरुष इव। उभयत्रापीवशब्दोऽध्याहार्यः, लिङ्गव्यत्ययेन च योजना कार्येति महीधराचार्यः। 'सहस्रदा इति पुरुषशिर उद्गृह्य मध्ये' (का० श्रौ० १७।५।१४) पुरुषशिर आदाय उखामध्ये 'सहस्रदा' इति मन्त्रेण उत्थाप्य उपदधातीति सूत्रार्थः। हे पुरुष, त्वं सहस्रदाः सहस्रसंख्याकस्य धनस्य दातासि। अतः सहस्राय सहस्रधनलाभाय त्वा त्वामुद्गृह्णामीति शेषः। आदौ पुरुषशिरसि शकलप्रासनं ततोऽश्वगोऽव्यजानां क्रमेण। एकपशुपक्षे मुखादिषु प्रत्येकं सप्त सप्त पञ्चकृत्व एकैकमित्यन्येऽभिप्रयन्ति। यथाह कात्यायनः— 'सर्वानप्येकस्मिन्नेके' (का० श्रौ० १७।५।१२) इति।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ पुरुषशीर्षमुद्गृह्णाति। महयत्येवैनदेतत् सहस्रदा असि सहस्राय त्वेति सर्वं वै सहस्रꣳ सर्वस्य दातासि सर्वस्मै त्वेत्येतत्' (श० ७।५।२।१३)। 'पशुशीर्षाण्युपदधाति। पशवो वै पशुशीर्षाणि पशूनेवैतदुपदधाति तान्युखायामुपदधातीमे वै लोका उखा पशवः पशुशीर्षाण्येषु तल्लोकेषु पशून् दधाति तस्मादिम एषु लोकेषु पशवः' (श० ७।५।२।१) इति पशुशीर्षाणामुपधानं विधाय प्रशस्य तेषां पश्ववयवत्वेन पशुत्वेन पशूनामेवोपधानमुक्त्वा तेषामुपधानस्य स्थानविशेष उक्तः—तान्युखायामिति। तस्या लोकात्मकत्वेन लोकेषु पशूनुपहितवान् भवति। पुनश्च—'योनिर्वा उखा पशवः पशुशीर्षाणि योनौ तत्पशून् प्रतिष्ठापयति तस्मादद्यमानाः पच्यमानाः पशवो न क्षीयन्ते' (श० ७।५।२।२)। उपभोगाद् वयःपरिपाकाच्च विनाशे सत्यपि योनौ प्रतिष्ठितत्वाद् नोच्छिद्यन्ते, किन्तु पुनरुत्पद्यन्ते इत्यर्थः। 'या वै ताः श्रिय एतानि तानि पशुशीर्षाण्यथ यानि तानि कुसिन्धान्येतास्ताः पञ्च चितयः' (श० ७।५।२।३)। अत एतेषामुपधाने श्रियामेवोपधानं कृतवान् भवति। 'प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयतान्नꣳ सृजेय प्रजायेयेति स प्राणेभ्य एवाधि पशून्निरमिमीत मनसः पुरुषं चक्षुषोऽश्वं प्राणाद् गाꣳ श्रोत्रादविं वाचोऽजं तद्यदेनान् प्राणेभ्योऽधि निरमिमीत तस्मादाहुः प्राणाः पशव इति' (श० ७।५।२।६) इति पशूनामुत्पत्तिमुक्त्वा—'अथैषु हिरण्यशकलान् प्रत्यस्यति। प्राणा वै हिरण्यमथवा एतेभ्यः पशुभ्यः संज्ञप्यमानेभ्य एव प्राणा उत्क्रामन्ति तद्यद्धिरण्यशकलान् प्रत्यस्यति प्राणानेवैष्वेतद्दधाति' (श० ७।५।२।८)। 'सप्त प्रत्यस्यति। सप्त वै शीर्षन् प्राणास्तानस्मिन्नेतद्दधाति' (श० ७।५।२।९) इति कण्डिकासु पशुशीर्षाणामुपधानं तस्य स्थानविशेषमुपधाने प्रकारभेदं तदुत्पत्त्यादिकं च प्रदर्श्य अनन्तरमुपधानार्थं त्रयोदश्यां कण्डिकायां पुरुषशिरस उद्ग्रहणं विधत्ते—अथेति। विहिते उद्ग्रहणे मन्त्रं विधाय व्याचष्टे—सहस्रदा इति। सर्वं वेति। यतः सहस्रं सर्वम्, तस्मिन्नेव शतादीनामन्तर्भावात्। तस्मात् सर्वस्मै त्वामुद्गृह्णामीत्येतदुक्तं भवतीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—अयं जीवोऽग्निरिव ज्योतिषा परमात्मज्योतिषा ज्योतिष्मान् भवति। रुक्मो रोचमानस्तदीयेन वर्चसा वर्चस्वान् कान्तिमानस्तु। हे परमेश्वर, त्वं सहस्रदा सर्वदातासि, तस्मात् सर्वस्मै सर्वप्राप्तये त्वामुच्चैर्महातात्पर्येण गृह्णामि मनसा धारयामि।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यस्त्वं ज्योतिषा दीप्त्या ज्योतिष्मान् रुक्मः सुवर्ण इव वर्चसा विद्यादीप्त्या वर्चस्वान् विद्याविज्ञानवानसि सहस्रदा असि सहस्राय अतुलविज्ञानाय तं त्वां वयं सत्कुर्याम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्याणां सीमितशक्तिमत्त्वेनासंख्यसुखदातृत्वासम्भवात्। न चाग्नेरिव ज्योतिष्मत्त्वं वर्चस्वत्वं वा सम्भवति, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वाच्च। सिद्धान्ते तु शातपथी श्रुतिरेव मूलम् ॥ ४० ॥

आदित्यं गर्भं पयसा समङ्ग्धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम् ।
परिवृङ्ग्धि हरसा माऽभिमंᳬस्थाः शतायुषं कृणुहि चीयमानः ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ—चयन कार्य में लगे हुए हे पुरुष ! देवताओं की उत्पत्ति के स्थान, सहस्रों मूर्तियों वाले चिति नामक आदित्याग्नि को दूध से सिंचित करो और सम्पूर्ण वीर्य को हरने वाले अग्नि के तेज से यजमान को अलग करो। यजमान को मत मारो और चयन कर्म में लगे हुए यजमान को शतायु बनाओ ॥ ४१ ॥

'अश्वाव्योरुत्तरतः पूर्वापरे, गोऽजयोश्च दक्षिणतः, आदित्यं गर्भमिति प्रतिमन्त्रं मन्त्रक्रमेण' (का० श्रौ० १७।५।१५-१७)। उखायामेवोत्तरे भागेऽश्वाव्योः शिरसी निदध्यात्। तत्र ईशानकोणेऽश्वस्य, वायव्यकोणेऽवे-र्निदध्यात्, उखायामेव दक्षिणभागे आग्नेयकोणे गोर्नैर्ऋत्यकोणेऽजस्य शिरसी निदध्यात्. पुरुषादीनां शिरांसि प्रतिमन्त्रमेकैकं शिर उपदध्यादिति सूत्रत्रयार्थः। अश्वादीनां मध्ये हिरण्यपुरुषमुपदध्यात्। तस्योत्तरतः प्राचीन-देशेऽश्वस्य पश्चिमेऽवेर्दक्षिणतो गोः पश्चिमोत्तरतोऽजस्य शिरः स्थापयेत्। पुरुषादीनामेकैकस्य स्थापनम्। पञ्च ऋचोऽग्निदेवत्यास्त्रिष्टुभः। आदौ पुरुषशिरो मध्ये उपदध्यात्। हे पुरुषशिरः, त्वमादित्यं चित्याग्निं पयसा समङ्ग्धि संरचय समञ्जयसि। अञ्जेर्लोटि मध्यमैकवचने रूपम्। पयसि स्थाप्य इत्येवमुच्यते। आदत्ते पशूनि-त्यादित्यः, आदित्यवद् ईष्टे वा सर्वपशूनामित्यादित्यः, चित्योऽग्निः। कथंभूतमादित्यम्? गर्भम्, गृह्णाति पशूनिति गर्भः, पचाद्यच्। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा० सू० ३।१।८४ वा० १) इति रूपसिद्धिः। पुनः कथंभूतम्? सहस्रस्य प्रतिमां बहुधनस्य प्रतिमाभूतम्, बहुधनप्रदमित्यर्थः। पुनः कथंभूतम्? विश्वरूपम्, विश्वानि रूपाणि यस्मादसौ विश्वरूपः सर्वरूपप्रकाशकस्तम्। किञ्च, हरसा हरति सर्ववीर्यमिति हरः, तेन हरसा। असुन् प्रत्ययः। सर्वाभिभावकेनाग्नितेजसा यजमानं परिवृङ्ग्धि परिवर्जय। 'वृजी वर्जने' रुधादिः। लोटि रूपम्। माभिमंस्थाः मा हिंसीः, यजमानमिति शेषः। अभिपूर्वो मन्यतिर्हिंसार्थः। किञ्च, चीयमान उपधीयमानः सन् यजमानं शतायुषं कृणुहि कुरु। अथवा—हे अग्ने, आदित्यवत् त्वं स्तूयसे। सर्वाणि हि रूपाण्यादित्यस्य। अथवा—हे अग्ने, चीयमानः सन् आदित्यम् अदितिर्देवमाता, तस्याः सम्बन्धि तत्कार्यरूपं गर्भसदृशमिमं पुरुषं पयसा क्षीरेण समङ्ग्धि सम्यगार्द्रीकुरु। कीदृशं तम्? सहस्रस्य प्रतिमां बहुधनस्य प्रतिमानभूतम्। विश्वरूपं परिवृङ्ग्धि परित्यज यजमानम्। हरसा त्वदीयज्वालारूपेण तेजसा माभिमंस्थाः मा हिंसीः।

तथा च ब्राह्मणम्—'अथैनानुपदधाति। पुरुषं प्रथमं पुरुषं तद्वीर्येणात्यादधाति मध्ये पुरुषमभित पशून् पुरुषं तत्पशूनां मध्यतोऽत्तारं दधाति तस्मात् पुरुष एव पशूनां मध्यतोऽत्ता' (श० ७।५।२।१४)। पशूना-मुपधानमनूद्य तत्र पुरुषस्य प्राथम्यं विधत्ते—अथेति। उपधाने पुरुषस्य प्राथम्याद् वीर्येण पुरुषमतिशयितं करोतीत्याह—पुरुषं तदिति। उखायामुपधानस्य विहितत्वात् तस्यां मध्ये पुरुषोपधानम्, तत्पार्श्वयोरितर-पशूनामुपधानं कुर्यादित्यर्थः। विहितस्य सन्निवेशस्य प्रयोजनमाह—पुरुषं तदिति। तत् तेन सन्निवेशेनोपधाने पशूनां मध्ये पुरुषमत्तारं भोक्तारं करोति, भोक्तुः पार्श्वे भोगस्यावस्थानात्। तस्मात् साम्प्रतमपि पशूनां मध्ये पुरुष एव भोक्ता भवति, सामान्येन 'अभित इतरान् पशून्' इति विधानात्। 'अश्वं चाविं चोत्तरतः। एतस्यां दिश्येतौ पशू दधाति तस्मादेतस्यां दिश्येतौ पशू भूयिष्ठौ' (श० ७।५।२।१५)। 'गां चाजं च दक्षिणतः। एतस्यां तद्दिश्येतौ पशू दधाति तस्मादेतस्यां दिश्येतौ पशू भूयिष्ठौ' (७।५।२।१६)। 'पयसि पुरुषमुपदधाति। पशवो वै पयो यजमानं तत्पशुषु प्रतिष्ठापयत्यादित्यं गर्भं पयसा समङ्ग्धीत्यादित्यो वा एष गर्भो यत्पुरुषस्तं पयसा समङ्ग्धीत्येतत्सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपमिति पुरुषो वै सहस्रस्य पुरुषस्य ह्येव सहस्रं भवति परिवृङ्ग्धि हरसा

माभिमᳩ स्था इति पर्येनं वृङ्ग्ध्यर्चिषा मैनᳪ हिᳪ सीरित्येतच्छतायुषं कृणुहि चीयमान इति पुरुषं तत् पशूनाᳪ शतायुं करोति तस्मात् पुरुष एव पशूनाᳪ शतायुः' (श० ७।५।२।१७)। कस्य कुत्रोपधानमिति विशेषजिज्ञासायामाह—अश्वं चावि चेत्यादि। मध्ये पुरुषमिति पुरुषोपधानस्य मध्यस्थानं विहितम्, तत्रैव विशेषं विधत्ते—पयसीति। उखामध्ये पयःपूरिते पुरुषमुपदध्यात्। एवं च सति यजमानस्य पुरुषत्वात् पयसः पशुकार्यत्वेन पशुत्वात् तत्र यजमानं प्रतिष्ठापयति। विहिते उपधाने मन्त्रं विदधानः पादशो विभज्य व्याचष्टे—आदित्यं गर्भमिति। पुरुष इति यदेष आदित्यो गर्भः खलु। अदितेः सकाशाद् विवस्वदाख्य आदित्योऽजायत। तथा च श्रूयते—'ततो विवस्वानादित्योऽजायत' (तै० सं० ६।५।६) इति। विवस्वत्सम्बन्धिनश्च सर्वे पुरुषा इति पुरुषस्याप्यादित्यगर्भत्वम्। तथा सति पुरुषमेव पयसा समङ्ग्धीत्येनदुक्तं भवति। द्वितीयपादेऽपि सहस्रस्य प्रतिमामित्यनेन पुरुष एव विवक्षित इति दर्शयति—सहस्रस्येति। यतः पुरुषस्यैव पशूनां सहस्रं भवति, अतोऽयं सहस्रस्य सदृशः। तृतीयपादे हरःशब्देनार्चिरुच्यते, माभिमंस्था इत्यनेन अहिंसनमिति दर्शयति—परिवृङ्ग्धीति। चतुर्थपादे शतायुषं कृणुहीत्युच्चारणेन पुरुषस्य शतायुष्ट्वं सम्पादयतीत्याह—शतायुषमिति। तथा चायं मन्त्रार्थः—हे अग्ने, चीयमानस्त्वं पूर्वोक्तप्रकारेण आदित्यगर्भरूपं सहस्रस्य सदृशम्, अत एव विश्वरूपं पयसा आर्द्रीकुरु। किञ्च, एनं परितो वर्जय अर्चिषा का हिंसी, शतायुषं च कृणुहि।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वं चीयमानः स्तुतिभिः परिवर्धमान आदित्यम् आदित्यवत् क्षेत्रप्रकाशकम्, गर्भं प्रकृतिगर्भतुल्यं जीवात्मानं पयसा समङ्ग्धि सम्यक् शोधय, भक्तिजलेनेति शेषः। कीदृशम्? सहस्रस्य असंख्यस्य प्रतिमानं प्रतिमानभूतमसंख्यधनप्रदम्, विश्वरूपं कर्मवैचित्र्येण देवमनुष्यतिर्यगादिबहुरूपधरम्। हरसा संसारानलज्वालया परिवृङ्ग्धि परिवर्जय, रक्षेत्यर्थः। माभिमंस्थाः मा हिंसीः। शतायुषं कृणुहि यथायं श्रवणमनननिदिध्यासनैस्त्वां साक्षात्करोतु।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, त्वं यथा विद्युत्पयसा जलेनेव सहस्रस्य असंख्यपदार्थसमूहस्य प्रतिमां प्रतीयन्ते सर्वे पदार्था यया तां विश्वरूपं सर्वरूपवत्पदार्थदर्शकं गर्भं स्तुतिविषयमादित्यं सूर्यं धरति, तथान्तःकरणं संशोधय। हरसा ज्वलितेन तेजसा रोगान् परिवृङ्ग्धि सर्वतो वर्जय। चीयमानः सन् शतायुषं तनयं कृणुहि। कदाचिन्माऽभिमंस्थाः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलाध्याहारबाहुल्यात्, असङ्गतेश्च। प्रतिमामित्यस्य सूर्यार्थत्वे कथं स्त्रीलिङ्गता? सूर्यवन्निश्चयकारिणी बुद्धिरिति कथमर्थः?॥ ४१॥

वातस्य जूतिं वरुणस्य नाभिमश्वं जज्ञानᳪ सरिरस्य मध्ये।
शिशुं नदीनाᳪ हरिमद्रिबुध्नमग्ने मा हिᳪसीः परमे व्योमन्॥ ४२॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, वायु के समान वेग वाले आप वरुण देवता के नाभिस्वरूप जल के मध्य में उत्पन्न, नदियों के बालक, हरित वर्ण, इस लोक में स्थित होने वाले और खुर से पर्वत को खोदने वाले इस घोड़े को मत मारिये॥ ४२॥

वातस्य जूतिमिति मन्त्रेण अश्वशिर ईशाने उपदध्यात्। हे अग्ने, अश्वं मा हिंसीः, ज्वालया मा दहेत्यर्थः। विविधम् ओम रक्षणं परममुत्कृष्टं यद् व्योम सन्ततिसहस्रम् अश्वस्य रोगास्तेभ्यस्तेभ्यः पालनमित्यर्थः। तत्र परममुत्कृष्टं रक्षितस्याश्वस्य पुनरुपद्रवः कदाचिदपि न जायते तथा करणं रक्षणस्य परमत्वम्। तादृशे परमे व्योमन् एतमश्वं स्थापयेत्यर्थः। कीदृशमश्वम्? वातस्य जूतिम्। जूतिर्गतिः प्रेमपात्रं वा। वायोर्गतिस्वरूपवत् शीघ्रगतिमित्यर्थः। वायोः प्रेमपात्रं वा। वरुणस्य अपामधिपतेः, नाभिमभ्यन्तरम्। यथा नरेण

स्वनाभिर्वस्त्रावरणादिना पाल्यते, तद्वद् वरुणेन अतिप्रियत्वात् पाल्यम्, तमभिप्रेत्य 'प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत्' (तै० सं० २।३।१२।१) इति तैत्तिरीये आम्नातत्वात्। सरिरस्य सलिलस्य मध्ये जज्ञानं समुद्रजलमध्ये वडवारूपेणोत्पन्नम्, 'अप्सु योनिर्वा अश्वः' (तै० सं० ५।३।१२।४) इति श्रुत्यन्तराद् वडवारूपेणोत्पन्नमित्यर्थः। नदीनां शिशुं पुत्रम्। यथा नदीनां पतिः समुद्र उक्तन्यायेन अश्वस्य पितापि समुद्रः। तदा नदीनाम् अश्वमातृत्वात् तच्छिशुरप्यश्वः। पुनः कथंभूतमश्वम्? हरिम् उपर्यारूढस्य पुरुषस्य हर्तारं नेतारम्। अद्रिबुध्नम् अद्रिबुद्धम्। नकारोपजनश्छान्दसः। मध्येमार्गं खुरैश्चूर्णीकृता येऽद्रिप्रभवाः पाषाणास्तैर्बुद्धम्। तादृशान् पाषाणान् दृष्ट्वा मार्गेऽस्मिन्नश्वो गत इति बोद्धुं शक्यते। यद्वा—अद्रिः गिरिः, बुध्नं मूलं कारणं यासां ता अद्रिबुध्ना आपः, तज्जातमद्रिबुध्नम्। अथवा—अद्रिः पर्वतः, तस्य बुध्नमादिः, तत्र भवा आपोऽप्यद्रिबुध्नाः, अद्भ्यो जातोऽश्वोऽप्यपत्यप्रत्ययलोपेनाद्रिबुध्नशब्देनोच्यते। परमे व्योमन्निषीदन्तमिति शेषः। 'इमे वै लोकाः परमं व्योम' (श० ७।५।२।१८) इत्यधिलोकं व्याख्यानमित्युव्वटाचार्यः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथोत्तरतोऽश्वम्। वातस्य जूतिमिति वातस्य वा एष जूतिर्यदश्वो वरुणस्य नाभिमिति वारुणो ह्यश्वोऽश्वं जज्ञानꣳ सरिरस्य मध्य इत्यापो वै सरिरमप्सुजा उ वा अश्वः शिशुं नदीनाꣳ हरिमद्रिबुध्नमिति गिरिर्वा अद्रिर्गिरिबुध्ना उ वा आपोऽग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन्नितीमे वै लोकाः परमं व्योमेषु लोकेष्वेनं मा हिꣳसीरित्येतत्' (श० ७।५।२।१८)। उत्तरतोऽश्वस्य उपधानमनूद्य मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे—अथेति। अश्व इति यदेष वातस्य जूतिः खलु। जूतिशब्देन वेग उच्यते। तद्रूपत्वादश्वोऽपि तच्छब्देन वायुवेग इत्यर्थः। अपामधिपतेर्वरुणस्य सम्बन्धित्वादश्वो वरुणस्य नाभिः। अद्रिबुध्नमिति। अद्रिरिति गिरिरुच्यते। आपो गिरिरूपाः खलु, तत्रोत्पद्यमानत्वात्। तथाविधजलसमुद्भूतत्वादश्वोऽपि गिरिबुध्न इत्यर्थः। इमे वै लोकाः परमं व्योमेत्यनेन मन्त्रगतं व्योमपदमितरलोकयोरप्युपलक्षणमिति दर्शितम्। तथा च हे अग्ने, वायुवेगविशिष्टं वरुणस्य नाभिस्थानीयं सलिलमध्ये उत्पन्नमत एव नदीनां शिशुमद्रिबुध्नं गिरिमूलोत्पत्तिस्थानं हरिमारोढुर्हर्तारमश्वं परमे व्योमन् उत्कृष्टेषु पृथिव्यादिषु लोकेषु मा हिंसीरिति मन्त्रार्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, पूर्वोक्तविशेषणमश्वं तद्रूपं प्रजापतिं विराजं मा हिंसीः। अश्वमेधीयस्याश्वस्य प्रजापतिरूपत्वं बृहदारण्यके प्रतिपादितम्—'उषा वा मेध्यस्याश्वस्य शिरः' (बृ० उ० १।१।१) इत्यादिना। अथवा श्रीरामकार्यार्थं समुद्रमुल्लङ्घ्य गच्छतो हनूमतः कुशलं कामयमाना देवा आहुः—हे अग्ने परमेश्वर वा, वातस्य जूतिं वायुवेगं वायोः प्रीतिजनकं वा, वरुणस्य अपांपतेर्नाभिमिव पालनीयं सलिलस्य मध्ये जज्ञानं प्रादुर्भूतमिव श्रीरामलक्ष्मणयोरश्वमिव वाहकं नदीनां शिशुमिव हरिं वानरमद्रिबुध्नमद्रीणां पर्वतानां बुध्नं मूलमिव महास्वर्णशैलाभदेहत्वात् परमे व्योमन् महाकाशे सीतादर्शनार्थं समुत्पतन्तं मा हिंसीः।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने तेजस्विन् विद्वन्, त्वं परमे व्योमन् प्रकृष्टे व्योमनि व्याप्ते आकाशे वातस्य वायोर्मध्ये जूतिं वेगमश्वमश्ववद् व्याप्तुं शीलं सरिरस्य सलिलस्य वरुणस्य जलसमूहस्य नाभिं बन्धनं नदीनां जज्ञानं प्रादुर्भूतं शिशुं बालमिव वर्तमानं हरिं हरमाणमद्रिबुध्नं मेघाकाशं मा हिंसीः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मेघाकाशे पूर्वोक्तविशेषणानुपपत्तेः। न च मनुष्या मेघान् नाशयितुं शक्नोति। मेघाकाशस्य सूक्ष्ममेघस्य वा कथमद्रिबुध्नशब्दवाच्यत्वमिति तु नोक्तम्। अश्वत्वं च तत्र कथम्? निरर्थकमन्यच्च गौणार्थाश्रयणम्॥ ४२॥

अजस्रमिन्दुमरुषं भुरण्युमग्निमीडे पूर्वचित्तिं नमोभिः।

स पर्वभिर्ऋतुशः कल्पमानो गां मा हिꣳसीरदितिं विराजम्॥ ४३॥

मन्त्रार्थ—क्षयरहित, ऐश्वर्य से युक्त, रोषरहित, पूर्व महर्षियों के द्वारा अर्जित, चयन के योग्य, अन्न से सबका पोषण करने वाले अग्निदेव की मैं स्तुति करता हूँ। वह अग्नि अमावास्या आदि पर्वों पर प्रत्येक ऋतु में कर्मों को सम्पादित करता हुआ, अखण्ड और अदीन हो दही, दूध आदि देने वाली गायों को कोई हानि न पहुँचावे ॥ ४३ ॥

गामाग्नेय्यामुपदधात्यजस्रमित्यादिना मन्त्रेण। अहमग्निमीडे स्तौमि। ईड स्तुतौ। कीदृशमग्निम्? अजस्रमनुपक्षीणम्। पुनः कीदृशम्? इन्दुम् इन्दतीति इन्दु, तम्। निरन्तरं परमैश्वर्योपेतम्। अथवा उनत्ति क्लेदयति जनमनांसीति इन्दुः। 'उन्देरिच्चादेः' (उ० १।१२) इत्युप्रत्ययः, आदिवर्णस्य इकारादेशश्च। पुनः कथंभूतम्? अरुषं रोषरहितम्। यद्वा—अरुर्मर्म। मर्मस्थानीयं रहस्यमिति यावत्, आराध्यमित्यर्थः। पुनः कथंभूतम्? नमोभिरन्नैर्भुरण्युं सर्वेषां पोष्टारम्। यथा यजमानमर्माणि वैरिणो नोद्घाटयन्ति तथा कुर्वन्तम्। पुनः कथंभूतम्? पूर्वचित्तिं पूर्वैर्महर्षिभिः चित्तिं चेतव्यम्। योऽग्निरादित्यरूपेण स्थित्वा पर्वभिरमावास्यादिभिस्तिथिभिर्ऋतुश ऋतौ ऋतौ कल्पमानः कर्माणि सम्पादयन् वर्तते स तादृशः। हे अग्ने, उपधीयमानां गां मा हिंसीः। कीदृशीं गाम्? अदितिमखण्डनीयाम्, अदीनां वा। पुनः कीदृशीम्? विराजं विविधं राजमानाम्, विशेषेण राजमानां वा। दुग्धदानादिना गौर्विराट्। गोश्च दशवीर्याणि 'तस्यै श्रृतं तस्यै शरः' (श० ३।३।३।२) इति श्रुतौ समाम्नातानि। यद्वा—यस्य तव संस्कारार्थम् अजस्रम् अनुपक्षीणम् इन्दुं सोमं चन्द्रमसमरुषमरोचनं भुरण्युं भेत्तारं वाहदोहादिभिरग्निमाग्नेयम्, तद्धितलोपः, ईडे याचामि उपधानाय। पूर्वचित्तिं प्राक् चयनम्, 'प्राञ्चमग्निमुद्धरन्ति' (श० ७।५।२।१९) इत्यग्न्यध्यासेन गोस्तुतिः। नमोभिरन्नैरभ्युद्यतैः। स त्वमेताभिः पर्वेष्टकाभिः पर्वभिः पश्वष्टकाभिर्ऋतौ ऋतौ कल्पमानो गां मा हिंसीरित्युव्वटाचार्यः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ दक्षिणतो गाम्। अजस्रमिन्दुमरुषमिति सोमो वा इन्दुः स हैष सोमोऽजस्रो यद् गौर्भुरण्युमिति भर्तारमित्येतदग्निमीडे पूर्वचित्तिं नमोभिरित्याग्नेयो वै गौः पूर्वचित्तिमिति प्राञ्चꣳ ह्यग्निमुद्धरन्ति प्राञ्चमुपचरन्ति स पर्वभिर्ऋतुशः कल्पमान इति यद्वा एष चीयते तदेष पर्वभिर्ऋतुशः कल्पते गां मा हिꣳसीरदितिं विराजमिति विराड् वै गौरन्नं वै विराडन्नमु गौः' (श० ७।५।२।१९)। दक्षिणदेशे गोरुपधानमनूद्य स्तुतिवन्मन्त्रं विधत्ते—अथेति। सोमो वा इन्दुरिति। यतः स एषोऽजस्रः सोमो हि, सर्वदा पयोलक्षणस्य अमृतस्य स्यन्दनाद्। इन्दोस्तु कदाचिदुपक्षयोऽपि विद्यत इत्यभिप्रायेणाजस्रमित्युक्तम्। भुरण्युमिति दोहनादिभिर्भर्तारमित्येतदुक्तं भवति, गोजातीयस्य धृतत्वात्। अथवा गौः पुङ्गवोऽजस्रः सोमः, कृषिसाधनत्वेन सर्वदाह्लादकत्वाद् भर्तृत्वाच्च भुरण्युमिति। अग्निमीड इति यतो गौराग्नेयः, अतोऽसावग्निः। यतोऽग्निं प्राञ्चमुद्धरन्ति प्राञ्चमेव होमादिनोपचरन्ति, अतोऽग्निः पूर्वचित्तिः पूर्वस्मिन् प्रदेशे चित्तिरनुष्ठेयस्य प्रतीतिर्यस्य स तथोक्तः। यद्वा इति। एषोऽग्निश्चीयत इति यत् तेन एष पर्वभिरिष्टकाचितिलक्षणैर्ऋतुशस्तेन तेन ऋतुना कल्पते सम्पद्यते, चितिलक्षणानां पर्वणामृतुरूपत्वादित्यर्थः। विराड् वा इति। अन्नसाधनत्वाद् विराजोऽन्नत्वम्। गोरपि तथैवान्नत्वमिति विराड् गौरेवेत्यर्थः। सर्वदाह्लादकत्वेनाजस्रमिन्दुमरुषमारोचमानं कृष्यादिसाधनत्वेन भर्तारं पूर्वचित्तिं पूर्वत्रानुष्ठेयप्रतीतिविशिष्टमग्निं तदीयत्वेन तदात्मकं गामत्रोपधानाय नमोभिर्नमस्कारैर्युक्तोऽहमीडे। हे अग्ने, पर्वभिश्चितिलक्षणैर्ऋतुशः कल्पमानस्तथाविधस्त्वमदितिमखण्डनीयं विराजमन्नसाधनं गां मा हिंसीः।

अध्यात्मपक्षे—अहमग्निं परमात्मानमीडे स्तौमि। कीदृशमग्निम्? अजस्रम् अनुपक्षीणम्, इन्दुं परमैश्वर्योपेतम्, इन्दुवदाह्लादकं वा। अरुषं रोषरहितम्, सदा प्रसन्नमित्यर्थः। यद्वा मर्मस्थानीयं रहस्यं वा।

पूर्वचित्तिं पूर्वैर्महर्षिभिश्चिन्तनीयं ध्येयम्। नमोभिरन्नैर्भुरण्युं विश्वस्य भर्तारं सर्वेषां पोष्टारम्। हे अग्ने, एवं स्तूयमानः सन् गां वेदलक्षणां भूमिरूपां धेनुरूपां वा मा हिंसीः। कीदृशीं गाम्? अदितिमखण्डनीयां विराजं भृतशरादिदानैर्विशेषेण राजमानाम्। कीदृशस्त्वम्? पर्वभिर्दर्शपूर्णमासचातुर्मास्यादिभिः कर्मकलापैर्हेतुभिः कल्पमानं विश्वं सम्पादयामः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथाहं पर्वभिः पूर्णैः साधनाङ्गैर्नमोभिरन्नैः सह वर्तमानमिन्दुं जलम् (निघ० १।१२), अरुषमश्वम् (निघ० १।१४), भुरण्युं पोषकम्, भुरण्धातोर्युच्प्रत्ययः, पूर्वचित्तिं पूर्वा चित्तिश्चयनं यस्य तमग्निं विद्युतमजस्रं निरन्तरमीडे। ऋतुशो बहून् ऋतून् कल्पमानः समर्थः सन्नदितिमखण्डितां विराजं पृथिवीं न नाशयामि, तथैव त्वमेतमेनां च मा हिंसीः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्निपदस्य मुख्यार्थमुल्लङ्घ्य विद्वदर्थत्वे मानाभावात्। पर्वभिरित्यस्य पूर्णसाधनैरिति व्याख्यापि निर्मूलैव। नमःपदस्यान्नार्थत्वेऽपि न तस्य विद्युतोऽन्वेषण उपयोगः, भोजनोपयोगित्वेऽपि तां प्रत्यन्यथासिद्धत्वात्, विद्युतोऽबिन्धनत्वेऽपि जलरूपत्वानुपपत्तेः। अश्वत्वमपि तस्यामनुपपन्नमेव। ईडे इत्यस्यान्वेषणार्थत्वमपि न युक्तम्, धात्वर्थविरोधात्। पृथिव्या नाशोऽपि नोपपन्नः। यथाहं न नाशयामि तथा त्वमपि मा हिंसीरित्यपि निर्मूलमेव ॥ ४३ ॥

वरूत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिमविं जज्ञानाᳪं रजसः परस्मात्।
महीᳪं साहस्रीमसुरस्य मायामग्ने मा हिᳪंसीः परमे व्योमन् ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, उत्कृष्ट रणस्थान में स्थापित रूपों का निर्माण करने वाले, वरुण की नाभि के समान रक्षणीय विग्रहरूप लोक से जायमान, विशालकाय, सहस्र मूल्य के योग्य, सहस्रों उपकार करने वाले प्राणियों को प्रज्ञा देनेवाली अवि को आप नष्ट मत करो ॥ ४४ ॥

वायव्येऽविमुपदधाति। हे अग्ने, परमे व्योमन् उत्कृष्टे विविधरक्षणस्थाने स्थितामविं मा हिंसीः मा वधीः। कीदृशीमविम्? त्वष्टुः रूपाणां निर्मातुर्देवस्य अनुग्रहात् वरूत्रीम्, वृणोति कम्बलादिना आच्छादयति लोकानिति वरूत्री ताम्। पुनः कीदृशीम्? वरुणस्य नाभिम्, अनिष्टनिवारकस्याग्नेर्नाभिस्थानीयां नाभिवद् रक्षणीयाम्। पुनः कीदृशीम्? परस्माद् उत्कृष्टात् प्राजापत्यरजसो जज्ञानां जायमानाम्। तथा च तैत्तिरीये 'उरसो बाहुभ्याम्' (तै० सं० ७।१।१।४) इत्यादिवाक्ये 'अविः पशूनाम्' (तै० सं० ७।१।१।५) इति श्रुतम्। महीं महतीं साहस्रीं सहस्रमूल्यार्हाम्, सहस्रोपकारक्षमां वा। असुरस्य मायां स्वर्भानोरसुरस्य सम्बन्धित्वेन निर्मिताम्। 'स्वर्भानुर्वा आसुरः' (ता० ब्रा० ६।६।८) इत्यादिवाक्ये 'सा कृष्णाविरभवत्' इति श्रुतम्। यद्वा—वरूत्रीं वरान् वृणोतीति वरूत्री, 'वारुणी च हि त्वाष्ट्री चाविः' (श० ७।५।२।२०) इति श्रुतेः। यजमानानां परस्माद्रजसो जज्ञानामुत्पन्नाम्। 'श्रोत्रं वै परᳪं रजो दिशो वै श्रोत्रं दिशः परᳪं रजः' (श० ७।५।५।२०) इति श्रुतेः। असुरस्य मायाम् असवः प्राणा विद्यन्ते यस्यासावसुरः, मत्वर्थीयश्छान्दसो रः, तस्य प्राणवतो वरुणस्य मायां प्रज्ञाम्। मीयते ज्ञायतेऽनयेति माया प्रज्ञा ताम्। प्राणिनां प्रज्ञाप्रदामित्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथोत्तरतोऽविम्। वरूत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिमिति वारुणी च हि त्वाष्ट्री चाविरविं जज्ञानाᳪं रजसः परस्मादिति श्रोत्रं वै परᳪं रजो दिशो वै श्रोत्रं दिशः परᳪं रजो महीᳪं साहस्रीमसुरस्य मायामिति महतीᳪं साहस्रीमसुरस्य मायामित्येतदग्ने मा हिᳪंसीः परमे व्योमन्नितीमे वै लोकाः परमं व्योमैषु लोकेष्वेनं मा हिᳪंसीरित्येतत्' (श० ७।५।२।२०)। अथोत्तरप्रदेशेऽवेरुपधानमनूद्य मन्त्रं

विधत्ते—अथैति । वारुणी च हीति । यतो वरुणस्याऽनिष्टनिवारस्याग्नेर्नाभिस्थानीया, रूपाणां निर्माता यस्त्वष्टा तस्यानुग्रहणीयरूपयुक्ता, अतोऽविस्त्वष्टुर्वरूत्री वरुणस्य नाभिश्च । श्रोत्रं वा इति । श्रोत्रं खलु परं रज उत्कृष्टो लोकः । तदेवोपपादयति—दिशो वा इति । श्रोत्रं च दिशः खलु, तस्य तत्कार्यत्वात् । 'दिशः परं रजः' दिग्भ्यश्चावय उत्पद्यन्ते, दिशां सर्वोत्पत्तौ निमित्तकारणत्वात् । मही साहस्रीमित्यत्र महीपदस्य महतीत्यर्थं इति दर्शितम्—महतीमिति । तथा च ब्राह्मणानुसारेणायमर्थः—हे अग्ने, त्वष्टुर्वरणीयरूपयुक्तां वरुणस्य नाभिस्थानीयां परस्माद्रजसो दिग्भ्यो जातां महतीं सहस्रमूल्यार्हाम् असुरस्य मायां स्वर्भानोरसुरस्य सम्बन्धित्वेन निर्मिताम् अविं पृथिव्यादिष्वेषु लोकेषु मा हिंसीरिति । अस्मिन्नर्थे तैत्तिरीयश्रुतिः पुरस्तादुद्धृता ॥ ४४ ॥

यो अ॒ग्निर॒ग्नेरध्यजा॑यत॒ शोका॑त् पृथि॒व्या उ॒त वा॑ दि॒वस्परि॑ ।
येन॑ प्र॒जा वि॒श्वक॑र्मा ज॒जान॒ तम॑ग्ने॒ हेडः॒ परि॑ ते वृणक्तु ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ—अग्निरूप अज प्रजापति के शोक से उत्पन्न हुआ है, द्युलोक के और पृथ्वी के शोकरूप अग्नि से उत्पन्न हुआ है । प्रजापति ने जिस अज, अर्थात् वाग् रूप से प्रजा को उत्पन्न किया है, हे चितिनामक अग्निदेव ! आपका क्रोध उस अज को कोई हानि न पहुँचावे ॥ ४५ ॥

अस्याः कण्डिकाया व्याख्यानमुपरिष्टाद्विधास्यते । ब्राह्मणव्याख्येनैवेयं व्याख्याता । अतोऽत्र ब्राह्मणमुद्ध्रियते—'अथ दक्षिणतोऽजम् । यो अग्निरग्नेरध्यजायतेत्यग्निर्वा एषोऽग्नेरध्यजायत शोकात्पृथिव्या उत वा दिवस्परीति यद्वै प्रजापतेः शोकादजायत तद्दिवश्च पृथिव्यै च शोकादजायत येन प्रजा विश्वकर्मा जजानेति वाग्वा अजो वाचो वै प्रजा विश्वकर्मा जजान तमग्ने हेडः परि ते वृणक्त्विति यथैव यजुस्तथा बन्धुः' (श० ७।५।२।२१) । दक्षिणदेशेऽजस्योपधानमनूद्य मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे—अथेति । अग्निर्वा इति । एषोऽग्निरजः, अग्नेः प्रजापतेरध्यजायत । अग्नेः सकाशादुत्पन्नत्वादजस्याग्नित्वम् । अग्नेः सकाशादुत्पत्तिरेव प्रदर्श्यते—शोकादिति । यद्वै प्रजापतेः शोकादजायत तद्दिवः पृथिव्याश्च शोकादजायत । प्रजापतेस्तदात्मकत्वादग्निपदेन प्रजापतिरेवोच्यते । येन अजेनेत्यर्थः । विश्वकर्मा प्रजापतिर्वाचः सकाशात् प्रजा जजान । अन्तर्भावितण्यर्थो जनिः, उत्पादितवानित्यर्थः । अजश्च वागात्मकः । ततश्च येन विश्वकर्मा प्रजा जजान । यथैव यजुस्तथा बन्धुरिति । मन्त्रो यथैव तथैव व्याख्याने स्पष्टार्थः । तथा चायमर्थः—हे अग्ने, उपधीयमानो योऽग्न्यात्मकोऽजोऽग्नेः प्रजापतेरध्यजायत । तत्कथम् ? यतः पृथिव्याः शोकात्, अपि च दिवः शोकादध्यजायत । किञ्च, येन प्रजा विश्वकर्मा जजान तमजं ते, 'हेडः कोपः' (निघ० २।१३।१) इति हेडशब्दः क्रोधनामसु, परिवृणक्तु परिवर्जयतु ।

उभयोः कण्डिकयोरध्यात्ममर्थः प्रदर्श्यते—हे अग्ने भगवन्, परमे व्योमन् परमोत्कृष्टे चिदाकाशब्रह्मणि स्थितां तद्विषयिणीं ब्रह्माकारां वृत्तिमविं संसारतापाद् रक्षित्रीं मा हिंसीः । त्वष्टुर्देवस्य सूर्यस्य अनुग्रहाद् वरूत्रीं ब्रह्मात्मतत्त्ववरयित्रीं वरुणस्य सर्वविघ्ननिवारकस्य गणपतेर्नाभिं नाभिवद्रक्षणीयां परस्माद् उत्कृष्टात् परमेश्वरस्य पादारविन्दरजसोऽनुग्रहाद् जज्ञानामुत्पन्नां महीं महतीं साहस्रीमनन्तमूल्यार्हामसुरस्य प्राणवतो जीवस्य मायां ब्रह्मात्मताज्ञापयित्रीं मा हिंसीः ।

योऽग्निर्ज्ञानाग्निरग्नेर्ब्रह्माग्नेः शोकात् शोकनाशकप्रकाशात्, 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ई० वा० ७) इति मन्त्रवर्णात्, यश्च पृथिव्या उत वा दिवो द्युलोकस्य परि उपरि वर्तते, येन ज्ञानेन विश्वकर्मा परमेश्वरः प्रजा जजान उत्पादितवान्, तं ज्ञानाग्निं हे अग्ने, ते तव हेडः क्रोधो वृणक्तु वर्जयतु न नाशयत्विति यावत् ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, यः पृथिव्याः शोकात् शोषकाद् उत वा दिवः सूर्यादग्नेर्विद्युताख्यादग्निश्चाक्षुषोऽध्यजायत, येन विश्वकर्मा विश्वानि कर्माणि यस्य सः, प्रजाः परिजजान परिजनयति, तं ते हेडोऽनादरः परिवृणक्त छिन्नो भवतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नैरर्थक्यात्, अग्निना परमेश्वरो जगत् सृजतीत्यसिद्धेः। श्रुतौ हि—आकाशादिक्रमेणैव जगत्सृष्टिः समाम्नाता, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० उ० २।१) इति। शोकादित्यस्य शोषकादित्यर्थोऽपि निर्मूल एव। प्रसङ्गेऽस्मिन्नग्नेरग्न्युत्पत्तिवर्णनमपि निष्प्रयोजनम्। सिद्धान्ते तु तात्पर्यानुपपत्तितो लक्षणा वृत्तिराश्रीयते। अथवा पृथिव्याः शोकाद् अग्निदेवस्योऽजः पर्यजायतेति श्रुतिसम्मतं व्याख्यानम्। यद्वै प्रजापतेः शोकादजायत तद्दिवः पृथिव्याः शोकादजायतेति श्रुत्यैवोक्तम् ॥ ४५ ॥

चि॒त्रं दे॒वाना॒मुद॑गा॒दनी॑कं॒ चक्षु॑र्मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्या॒ग्नेः।
आप्रा॒ द्यावा॑पृथि॒वी अ॒न्तरि॑क्ष॒ꣳ सूर्य॑ आ॒त्मा जग॑तस्त॒स्थुष॑श्च ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ—यह कैसा आश्चर्य है कि देवताओं के जीवनाधार, ब्रह्मा, विष्णु और महेश का रूप धारण करने वाले, परमेश्वर के नेत्रों के समान प्रकाशमान, जंगम और स्थावर जगत् के अन्तर्यामी सूर्यदेव उदय को प्राप्त हो रहे हैं, भूलोक से द्युलोक पर्यन्त अन्तरिक्ष को अपने तेज से पूर्ण कर रहे हैं ॥ ४६ ॥

'चित्रं देवानामित्यर्धर्चशः स्रुवाहुती मध्यमे' (का० श्रौ० १७।५।१८)। अर्धर्चद्वयेन मध्यमे (अर्थात् पुरुषशिरसि) आहुतिद्वयं जुहुयादिति सूत्रार्थः। सप्तमेऽध्याये द्वाचत्वारिंश्यामियं व्याख्याता।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ पुरुषशीर्षमभिजुहोति। आहुतिर्वै यज्ञः पुरुषं तत्पशूनां यज्ञियं करोति तस्मात्पुरुष एव पशूनां यजते' (७।५।२।२३)। उपधानानन्तरं पुरुषशिरसि होमं विधत्ते—अथेति। अभिहोमस्योपयोगमाह—आहुतिरिति। यदेषा खल्वाहुतिस्तदात्मको यज्ञः स्यात्। तथा सत्यभिहोमेन पशूनां मध्ये पुरुषं यज्ञियं यज्ञार्हं करोति, तस्मात् पुरुष एव पशूनां मध्ये यजते। 'यद्वेवैनदभिजुहोति। शीर्षंस्तद्वीर्यं दधात्याज्येन जुहोति वज्रो वा आज्यं वीर्यं वै वज्रो वीर्यमेवास्मिन्नेतद्दधाति स्रुवेण वृषा वै स्रुवो वीर्यं वै वृषा वीर्यमेवास्मिन्नेतद्दधाति स्वाहाकारेण वृषा वै स्वाहाकारो वीर्यं वै वृषा वीर्यमेवास्मिन्नेतद्दधाति त्रिष्टुभा वज्रो वै त्रिष्टुब् वीर्यं वै वज्रो वीर्यं त्रिष्टुब् वीर्येणैवास्मिन्नेतद्वीर्यं दधाति' (श० ७।५।२।२४)। न केवलमभिहोमस्य यज्ञियत्वमेव प्रयोजनमपि तु वीर्यत्वमपीत्याह—यद्वेवेति। एतत्पुरुषशीर्षमभिलक्ष्य जुहोतीति यत् तेन शीर्षन् शीर्ष्णि वीर्यं दधाति। 'शीर्षंश्छन्दसि' (पा० सू० ६।१।६०) इति शिरःशब्दस्य शीर्षन्नादेशः। तत उत्तरस्याः सप्तम्याः 'सुपां सुलुक्....' (पा० सू० ७।१।३९) इत्यादिना लुक्। एतदेव वीर्यनिधानमभिहोमसाधनभूताज्यस्रुवादीनां मध्ये प्रत्येकसाध्यतया दर्शयति—आज्येनेत्यादिना। आज्यस्य वज्रत्वं तैत्तिरीयके श्रुतम्—'घृतं खलु देवा वज्रं कृत्वा सोममघ्नन्' (तै० सं० ६।२।२।४)। वज्रस्य प्रहरणरूपत्वाद् वीर्यत्वम्। वृषा वै स्रुव इति। वृषा पुरुषः। स्रुवस्य पुंल्लिङ्गत्वाद् वृषत्वम्। वृष्णश्च वीर्यत्वाद् वीर्याधानहेतुत्वमिति। स्वाहाकारस्याप्येवमेव वीर्यत्वम्। वज्रो वै त्रिष्टुबिति। त्रिष्टुभो रजोहननसाधनत्वसादृश्याद् वज्रता। तथा च वज्रस्य वीर्यरूपत्वात् त्रिष्टुभोऽपि वीर्यतया त्रिष्टुबात्मकत्वेन वीर्येणैव हेतुना अस्मिन् पुरुषशिरसि वीर्यं दधाति।

'स वा अर्धर्चमनुद्रुत्य स्वाहाकरोति। अस्थि वा ऋगिदं तच्छीर्षकपालं विहाप्य यदिदमन्तरतः शीर्ष्णो वीर्यं तदस्मिन् दधाति' (श० ७।५।२।२५)। 'चित्रं देवानामुदगात्' इत्यभिहोममन्त्रस्य पूर्वेण अर्धर्चेन एकाहुतिः क्रियते, उत्तरेणार्धर्चेन चान्या। तत्र पूर्वार्धर्चसाध्यामाहुतिं दर्शयति—स वा अर्धर्चमिति। स खलु अध्वर्युरर्धर्चमनुद्रुत्य स्वाहाकारेण एकामाहुतिं सम्पादयेदित्यर्थः। किमर्थमिति चेत्, तत्राह—अस्थि वा

ऋगिति। ऋचोऽस्थ्यात्मकत्वं पादबन्धेन दार्ढ्ययोगात्। ऋचो दार्ढ्यं तैत्तिरीयके समाम्नातम्—'यद्दृचा तद् दृढम्' (तै० सं० ६।५।१०।४) इति। तथा च सति ऋचो विभागेन तदिदं पुरुषसम्बन्धि शीर्षकपालं विहाप्य विभिद्य, 'ओहाक् त्यागे' इति धातोः ण्यन्तस्य ल्यपि रूपम्, शीर्ष्णः शिरसोऽन्तरे यदिदमत्र विद्यमानं वीर्यं तदस्मिन्निदधाति, आज्यस्वाहाकारयोर्वीर्यात्मकत्वादित्यर्थः। 'अथोत्तरमर्धर्चमनुद्रुत्य स्वाहाकरोति। इदं तच्छीर्षकपाल्ँ सन्धाय यदिदमुपरिष्टात् शीर्ष्णो वीर्यं तदस्मिन् दधाति' (श० ७।५।२।२६)। अथोत्तरार्धर्चस्योपयोगमाह—अथेति। पूर्वमन्तरे वीर्यनिधानार्थं कपालभेदनात् पुनस्तत्कपालं सन्धाय शिरसि उपरितनं वीर्यमत्र निहितवान् भवति। 'चित्रं देवानामुदगादनीकमिति। असौ वा आदित्य एष पुरुषस्तदेतच्चित्रं देवानामुदेत्यनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेरित्युभयेषाꣳ हैतद्देवमनुष्याणां चक्षुराप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षमित्युद्यन् वा एष इमाँल्लोकानापूरयति सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्चेत्येष ह्यस्य सर्वस्यात्मा यच्च जगद्यच्च तिष्ठति' (श० ७।५।२।२७)। मन्त्रं दर्शयन् व्याचष्टे—चित्रं देवानामिति। एष उपधीयमानः पुरुषः, असौ परिदृश्यमान आदित्यः खलु, आदित्यस्य सर्वात्मकत्वात्। आदित्यमण्डलं च देवानां रश्मीनां चित्रमनीकं समुदायः। तथा सत्यस्य पुरुषस्योपधानेन तदेतच्चित्रं देवानामनीकमुदेति। अत उच्यते—चित्रं देवानामुदगादनीकमिति मन्त्रेणेत्यर्थः। चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेरिति। एवं मित्रादिदेवताग्रहणमन्येषामप्युपलक्षणम्। उभयान् प्रत्यस्य प्रकाशकत्वसाधारण्यादिति दर्शितम् उभयेषामिति। उभयेषां देवमनुष्याणां चक्षुरेतदुदेतीत्यर्थः। उद्यन् वेति। उदयमानः सन्नेष आदित्य इमान् पृथिव्यादीन् लोकान् आपूरयति प्राणैः समर्थयति चेष्टयतीत्यर्थः। एतच्च तैत्तिरीयके श्रूयते—'असौ य आपूर्यति स सर्वेषां भूतानां प्राणैरापूर्यति' (तै० आ० १।१४) इति। अत एवोक्तम्—'आ प्रा' इति। 'प्रा प्रपूरणे' इति धातोर्लङि रूपम्। सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्चेत्यनेन स्थावरजङ्गमात्मकस्य सर्वस्य जगतोऽयं सूर्यश्चेष्टकत्वेनान्तर आत्मेति विवक्षितमित्याह—एष हीति। अन्यत्तु पूर्वत्र व्याख्यातमेव।

अध्यात्मपक्षे—देवानां द्योतनात्मकानामिन्द्रियाणामनीकं समष्टिरूपं हिरण्यगर्भाख्यं चित्रभद्भुतं सूर्यरूपेण उदगात्। तच्च मित्रस्य वरुणस्य उपकारकस्य अवरोधकस्य अग्नेश्च चक्षुः प्रकाशकम्। स च जगतस्तस्थुषश्च आत्मेव जोवनहेतुः। द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं च आप्रा आपूरितवान्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, भवन्तो यद् ब्रह्म देवानां पृथिव्यादीनां मध्ये चित्रमद्भुतमनीकं सेनेव किरणसमूहं मित्रस्य प्राणस्य वरुणस्य उदानस्य अग्नेः प्रसिद्धस्य चक्षुर्दर्शकं सूर्य इव उदगात्, जगतो जङ्गमस्य तस्थुषः स्थावरस्य च आत्मा सर्वस्यान्तर्यामी सद् द्यावापृथिवी प्रकाशाप्रकाशे जगती अन्तरिक्षमाकाशं च आप्रा व्याप्नोति, तज्जगन्निर्मातृ, पातृ संहर्तृ व्यापकं सततमुपासीरन्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सूर्यस्येव प्राणोदानादीनां दर्शकस्य ब्रह्मणः प्रत्यक्षेणानुपलम्भात्, दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकायोगात्, ब्रह्मणोऽरूपत्वात् ॥ ४६ ॥

इ॒मं मा हि॑ꣳसीर्द्वि॒पादं॑ प॒शुꣳ स॑हस्रा॒क्षो मेधा॑य ची॒यमा॑नः। म॒युं प॒शुं मेध॑मग्ने जुषस्व॒ तेन॑ चिन्वा॒नस्त॒न्वो॒ निषी॑द। म॒युं ते॒ शुगृ॑च्छतु॒ यं द्वि॒ष्मस्तं ते॒ शुगृ॑च्छतु ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, यज्ञ के निमित्त चयन किये गये, सहस्रों नेत्र वाले सुवर्ण खण्डरूप तुम इस पुरुषरूप पशु को पीड़ा मत दो। यदि तुम्हें किसी को पीड़ा देना है, तो तुम पवित्र तुरंगवदन किंपुरुष पशु के पास जाओ। उसके सेवन से ज्वालारूप शरीर को पुष्ट करते हुए तुम यहाँ स्थित रहो, तुम्हारा संताप किंपुरुष को प्राप्त हो, तुम्हारा संताप, जिससे हम द्वेष करते हैं, उसको प्राप्त हो ॥ ४७ ॥

'बहिर्वेद्युदङ् तिष्ठन्नुपतिष्ठत उत्सर्गैरिमं मा हिꣳसीरिति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।५।१९)। 'इमं मा हिꣳसीः' इत्यादयो मन्त्रा उत्सर्गा इत्युच्यन्ते। चित्याग्नेरुत्तीर्य वेदेर्बहिर्दक्षिणे उदङ्मुखस्तिष्ठन् उत्सर्गसंज्ञैः पञ्चभिर्मन्त्रैः पुरुषादिशिरांस्युपतिष्ठतेऽध्वर्युः। एकपशुपक्षे तमेव पञ्चभिरप्युपतिष्ठत इति सूत्रार्थः। अग्निदेवत्याः पञ्च त्रिष्टुभः। आद्ययोरन्ते द्वे यजुषी। तिसृणामन्ते त्रीणि त्रीणि यजूंषि। हे अग्ने, सहस्राक्षः सहस्राण्यक्षीणि ज्वालारूपाणि यस्य सः, हिरण्यशकलरूपसहस्रनेत्रो वा, 'हिरण्यशकलैर्वा एष सहस्राक्षः' (श० ७।५।२।३२), 'द्विपादा एष पशुर्यत्पुरुषः' (श० ७।५।२।३२) इति श्रुतेः। मेधाय यज्ञाय चीयमानश्चयनेन संस्क्रियमाण इमं द्विपादं पादद्वयोपेतं ग्राम्यपशुं मा हिंसीः मा दह। दाहरूपां हिंसां मा कार्षीः। यदि ते भक्ष्यापेक्षा तर्हि तव भक्षणाय मेधं शुद्धं पशुं मयुं कृष्णमृगं तुरङ्गवदनम्, 'किंपुरुषो वै मयुः' (श० ७।५।२।३२) इति श्रुतेः किम्पुरुषं वा जुषस्व सेवस्व, भक्षयस्वेत्यर्थः। 'मयुर्मृगाश्वमुखयोः' इति हैमः। तेन मयुभक्षणेन तन्वो ज्वालारूपास्तनूश्चिन्वानः पोषयन् निषीद। तन्व इति द्वितीयार्थे प्रथमा। इतः परं यजुः। ते तव शुक् शोकः सन्तापो मयुं किन्नरं मृगं वा ऋच्छतु प्राप्नोतु। किञ्च, यं पुरुषं प्रति वयं द्विष्मो द्वेषं कुर्मः, ते तव शुक् तमृच्छतु।

अत्र ब्राह्मणम् —'अथोत्सर्गैरुपतिष्ठते। एतद्वै यत्रैतान् प्रजापतिः पशूनालिप्सत त आलिप्स्यमाना अशोचंस्तेषामेतैरुत्सर्गैः शुचं पाप्मानमपाहंस्तथैवैषामयमेतदेतैरुत्सर्गैः शुचं पाप्मानमपहन्ति' (श० ७।५।२।२८)। अग्निहोमानन्तरमुपहितानां पुरुषशिरःप्रभृतीनां पशुशिरसामुत्सर्गनामकैर्मन्त्रैरुपस्थानं विधत्ते—अथेति। विहित-मन्त्रसाध्यस्योपस्थानस्य प्रयोजनाभिधानं प्रतिजानीते—एतद्वा इति। एतत्खलु प्रयोजनमित्यर्थः। तदेव दर्शयति—यत्रैतानिति। यत्र यस्मिन् प्रस्तावे प्रजापतिरेतान् पुरुषमुख्यान् पशून् आलब्धुमैच्छत्, तदा आलिप्स्यमानास्ते अशोचन्, आलम्भस्य शोकहेतुत्वात्। ततस्तेषां शोकरूपं पापमेतैर्वक्ष्यमाणैरुपसर्गमन्त्रैरपहतवान्। तथैवायमपि यजमान एतेनोपस्थानेनैषां शोकरूपं पापमपहन्ति। 'मयं पशुं मेधमग्ने जुषस्व' इत्यादिना आरण्यपशूत्सर्गप्रति-पादनेन तेषामुत्सर्गत्वं शोकोत्सर्गहेतुत्वाद्वा। 'तद्धैके। यं यमेव पशुमुपदधति तस्य तस्य शुचमृत्सृजन्ति नेच्छुचं पाप्मानमभ्युपदधामहा इति ते ह ते शुचं पाप्मानमभ्युपदधति याꣳ हि पूर्वस्य शुचमुत्सृजन्ति तामुत्तरेण सहो-पदधति' (श० ७।५।२।२९)। अत्र पञ्चानामपि पशूनामुपधानानन्तरमुत्सर्गमन्त्रैरुपस्थानमिति स्वकीयं मतम्, तथैवोक्तत्वात्। अपरे पुनरत्रानुष्ठानक्रमे किञ्चिद्वैषम्यमाचक्षते। तन्मतं दूषयितुमनुवदति—तद्धैक इति। तेषामाशयमाह—नेदिति। पूर्वमुपहितस्य पशोः शोकमुत्सारितमभिलक्ष्यैवोत्तरपशोरुपधानं स्यात्। अतस्तन्मा भूदिति तथा कुर्वन्तीत्यर्थः। तन्मतं दूषयति —ते हेति। तथाविधाभिप्रायवन्तस्ते खलु याज्ञिकाः शोकरूपं पापमभि-लक्ष्यैवोपदधति। यतः पूर्वस्य पशोर्यां शुचमुत्सृजन्ति, तामेवोत्तरेण सहोपदधति, निवृत्तसजातीयानुवृत्ति-भावादित्यर्थः। 'विपरिक्राममु हैक उपतिष्ठन्ते। ऊर्ध्वाꣳ शुचमुत्सृजाम इति ते ह ते शुचं पाप्मानमनूद्यन्त्यूर्ध्वो ह्येतेन कर्मणैत्यूर्ध्वामु शुचमुत्सृजन्ति' (श० ७।५।२।३०)। अथैतेषामेवोपस्थाने केषाञ्चिच्छाखिनां प्रकारविशेषं दूषयितुमनुवदति—विपरिक्राममिति। पशूनां शुचमूर्ध्वामुत्सृजाम इति केचिद् विपरिक्रम्य विपरिक्रम्योपतिष्ठन्ते। उत्क्रमणपूर्वकत्वाद् विपरिक्रमणस्येति तथोपस्थाने शोक ऊर्ध्व एवोत्सृष्टो भवतीति तेनोपतिष्ठन्त इति भावः। तदपि दूषयति —ते ह ते इति। तथाविधाभिप्रायवन्तस्ते शोकरूपं पापमनूद्यन्ति विपरिक्रमणार्थमुद्गमने कृते शोकं प्रत्यनुगतवन्तो भवन्ति। अतो न तथा कुर्यात्। कथं तर्हि शोक ऊर्ध्वमुत्सृष्टो भवतीत्याह—ऊर्ध्वो हीति। एतेनोपधानलक्षणेन कर्मणा ऊर्ध्वोऽध्वर्युरेति, उत्तरोत्तरमेतेषां शिरसामुपधानात्। अतस्तेनैव कर्मणोर्ध्वामुत्सृजन्ति। व्यत्ययेन बहुवचनं प्रयोगबहुत्वापेक्षं वा।

'बाह्येनैवाग्निमुत्सृजेत्। इमे वै लोका एषोऽग्निरेभ्यस्तल्लोकेभ्यो बहिर्धा शुचं दधाति बहिर्वेदीयं वै वेदिरस्यै तद्बहिर्धा शुचं दधात्युदङ् तिष्ठन्नेतस्याꣳ ह दिश्येते पशवस्तद्यत्रैते पशवस्तदेवैष्वेतच्छुचं दधाति'

(श० ७।५।२।३१)। अग्नेर्बहिर्देशे शोकमुत्सृजेदित्याह—बाह्येनेति। अग्नेर्बाह्यदेशेनोपलक्षिते शुचमुत्सृजेदित्यर्थः। अग्नेः प्रजापत्यात्मकत्वेन तत्पृथिव्यादिलोकात्मनोक्तत्वात् तस्य बहिर्देशे शोकोत्सर्जनेन लोकेभ्य एव शोको बहिर्धा भवतीति। बाह्येनैवाग्निमित्यनेनाग्निप्रदेशव्यतिरिक्तदेशे विधानाद् वेदिमध्येऽपि स्यादित्यत आह—बहिर्वेदीति। वेद्या बहिर्बहिर्वेदि शोकोत्सर्गे वेद्याः कृत्स्नपृथिव्यात्मकत्वात् तस्या बहिरेव शोकोत्सर्गो भवतीति दर्शितम्—इयं वा इत्यादिना। उत्तरस्यां दिशि वक्ष्यमाणा मयुप्रभृतयः पशवोऽवतिष्ठन्त इति तत्र शोकनिधानाय उदङ्मुखस्तिष्ठन्नुत्सृजेदित्याह—उदङ् तिष्ठन्निति। 'पुरुषस्य प्रथममुत्सृजति। तꣳ हि प्रथममुपदधातीमं मा हिꣳसीर्द्विपादं पशुमिति द्विपाद्वा एष पशुर्यत्पुरुषस्तं मा हिꣳसीरित्येतत्सहस्राक्षो मेधाय चीयमान इति हिरण्यशकलैर्वा एष सहस्राक्षो मेधायेत्यन्नायैतन्मयुं पशुं मेधमग्ने जुषस्वेति किम्पुरुषो वै मयुः किम्पुरुषमग्ने जुषस्वेत्येतत्तेन चिन्वानस्तन्वो निषीदेत्यात्मा वै तनूस्तेन चिन्वान आत्मानꣳ संस्कुरुष्वेत्येतन्मयुं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छत्विति तन्मयौ च शुचं दधाति यं च द्वेष्टि तस्मिंश्च' (श० ७।५।२।३२)। उत्सर्गमन्त्रैरुपस्थानं तत्र स्वाभिमतप्रकारं देशविशेषमध्वर्योरवस्थानविशेषं च प्रदर्श्योपधानक्रमेणैव पुरुषस्य शोकं पूर्वमुत्सृजेदित्याह—पुरुषस्येति। तत्र मन्त्रविशेषं प्रदर्शयन् पादशो विभज्य व्याचष्टे—इमं मा हिंसीरिति। सहस्रशब्दो लक्षणया बह्वर्थकः, अत्र सहस्रसंख्यानां हिरण्यशकलानामभावात्। अथवा उत्तरत्र सहस्रसंख्याकैर्हिरण्यशकलैः प्रोक्ष्यमाणत्वात् तदभिप्रायेण सहस्रसंख्यानां हिरण्यशकलानां प्रकाशकत्वेन आक्षिपोपचारः। आत्मा वै तनूरिति, तेनाधिष्ठितत्वादित्यर्थः। तथा चायं मन्त्रार्थः—हे अग्ने, हिरण्यशकलैः सहस्राक्षो मेधाय चीयमानस्त्वं पशूनां मध्ये द्विपादमिमं पुरुषं मा हिंसीः। यदि तव भक्ष्यापेक्षास्ति, तर्हि आरण्यं किम्पुरुषमुत्सृजामि। तेन किम्पुरुषेण आत्मानं पोषयन् संस्कुरुष्व। त्वत्सम्बन्धिनी शुङ् मयुं प्राप्नोतु, यं च वयं द्विष्मस्तमपि प्राप्नोत्विति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने भगवन् श्रीराम प्रत्यगात्मन्, सहस्राक्षः सहस्रमनन्तान्यक्षीणि यस्यासौ, 'सहस्राक्षः सहस्रपात्' (वा० सं० ३१।१) इति मन्त्रवर्णात्। मेधाय ज्ञानरूपाय यज्ञाय चीयमानः शमदमादिभिः संस्क्रियमाणः सन् त्वं द्विपादमिमं मनुष्यं पशुं जीवं मा हिंसीर्ज्ञानेन वञ्चितं मा कार्षीः। मयुं किन्नरं पशुं तदुपलक्षितमृक्षवानरादिकम्, मेधं पवित्रं जुषस्व प्रीणीहि। तेन प्रीणनेन तन्वस्तनूर्गोब्राह्मणसाधुधर्मरूपाश्चिन्वानः सञ्चयनं कुर्वन्, पोषयन्नित्यर्थः। निषीद, भक्तानां हृदयेष्विति शेषः। ते तव शुग् अपराधान्निर्वृत्तं रोषात्मकं तेजो मयुममेधमपवित्रं पशुमृच्छतु, यं च वयं द्विष्मस्तमृच्छतु।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने पावक इव मनुष्य, मेधाय सुखसङ्गमाय चीयमानो वर्धमानः सहस्राक्षोऽसंख्यदर्शनस्त्वमिमं द्विपादं मनुष्यादिकं मेधं पवित्रकारकं मयुं जाङ्गलं पशुं गवादिकं प्रसिद्धं मा हिंसीः, तं पशुं जुषस्व प्रीणीहि। तेन चिन्वानः सन् तन्वो मध्ये निषीद। इयं ते शुङ् मयुं शस्यादिहिंसकं पशुमृच्छतु। ते तव यं शत्रुं वयं द्विष्मस्तं शुगृच्छतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, श्रुतिसूत्रादिविरोधात्, गौणार्थाश्रयणाच्च। सङ्गमार्थकस्य मेधृधातोर्न केवलं सुखसङ्गमोऽर्थो भवितुमर्हति, दुःखसङ्गमस्यापि तदर्थसम्भवात्। असंख्यदर्शनस्य सहस्राक्षत्वे सर्वस्यापि तत्प्रसक्त्या विशेषणवैयर्थ्यात्। तच्च सममन्यत्रापि। मयुमित्यस्य एकत्र गवादिकोऽर्थः, अन्यत्र शस्यादिहिंसकोऽर्थ इत्यर्थभेदे हेतुर्वक्तव्यः। सर्वोऽपि शरीरस्य मध्ये तिष्ठत्येवेति तदुपदेशोऽपि व्यर्थ एव। शोकोऽपि न कस्यचित्प्रार्थनया अन्यत्र गन्तुं प्रभवति त्वद्रीत्या। सनातनधर्मिरीत्या तु देवानामचिन्त्यशक्तित्वेन तत्प्रसादात्तत्सम्भवत्येव ॥ ४७ ॥

इमं मा हिंꣳसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु । गौरमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद । गौरं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ ४८ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, बार-बार हिनहिनाने वाले, वेगवानों में अति वेगवान्, एक खुर वाले घोड़े को तुम पीड़ा मत दो। तुम्हारे लिये मैं वन के गौर वर्ण मृग को देता हूँ। उससे अपना शरीर पुष्ट करते हुए तुम यहाँ रहो। तुम्हारा सन्ताप अश्व को प्राप्त न होकर गौर वर्ण मृग को प्राप्त हो। तुम्हारा सन्ताप उसे प्राप्त हो, जिससे हम द्वेष करते हैं ॥ ४८ ॥

अयमश्वोपस्थानमन्त्रः—इममिति। हे अग्ने, इममेकशफमेकखुरमश्वरूपं पशुं मा हिंसीः। अस्य दाहरूपां हिंसां मा कार्षीः। कीदृशमश्वम्? कनिक्रदम्, ह्रेषाशब्देनात्यन्तक्रन्दनोपेतम्, अतिशयेन क्रन्दितारं ह्रेषमाणमिति यावत्। वाजिनेषु शीघ्रगतियुक्तेषु प्राणिषु वाजिनम् अत्यन्तशीघ्रगतियुक्तम्। यदि ते तव भक्ष्यापेक्षा तर्हि ते तव भक्षणाय इममारण्यं गौरं सिंहम् अनुदिशामि। पुरुषशीर्षमनु त्वद्भक्ष्यत्वेनातिसृजामि। तेन गौरभक्षणेन त्वदीया ज्वालारूपास्तनूः पोषयन् इह निषीद। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथाश्वस्य। इमं मा हिꣳसीरेकशफं पशुमित्येकशफो वा एष पशुर्यदश्वस्तं मा हिꣳसीरित्येतत् कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेष्विति कनिक्रदो वा एष वाज्यु वाजिनेषु गौरमारण्यमनु ते दिशामीति तदस्मै गौरमारण्यमनुदिशति तेन चिन्वानस्तन्वो निषीदेति तेन चिन्वान आत्मानꣳ संस्कुरुष्वेत्येतद् गौरं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छत्विति तद्गौरे च शुचं दधाति यं च द्वेष्टि तस्मिंश्च' (श० ७।५।२।३३)। अथाश्वस्य शोकोत्सर्गमन्त्रं प्रदर्शयन् पूर्ववद् व्याचष्टे—अथेति। अश्वः कनिक्रदः अत्यर्थं क्रन्दिता। वाजिनेषु वेगवत्सु वाजी अत्यर्थं वेगयुक्तः। गौरम्, सिंहमित्यर्थः। शेषं पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने भगवन्, इममेकशफमेकखुरमश्वं वाजिनेषु वाजिनं वेगवत्स्वतिशयेन वेगवन्तं हनूमन्तं मा हिंसीर्ज्ञानवञ्चितं मा कार्षीः, ज्ञानोपदेशेन कृतार्थं कुर्वित्यर्थः। आरण्यं वनवासिनं गौरं तेजोमयं शुद्धसाधकं ते तुभ्यमनुदिशामि त्वामनुलक्ष्य समर्पयामि। तेन तन्वः पूर्वोक्तास्तनूश्चिन्वानः पोषयन्निषीद। तद्भिन्नं गौरं पशुं ते तव शुग् गच्छतु। यं द्विष्मस्तं ते तव मायात्मकं तेजो गच्छतु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, त्वं वाजिनेषु वाजिनानां संग्रामाणामवयवेषु कर्मसु, एकशफम् एकखुरमश्वादिकं कनिक्रदं भृशं विकलं प्राप्तव्यथं वाजिनं वेगवन्तं पशुं मा हिंसीः। ईश्वरोऽहं ते तुभ्यमारण्यं गौरं पशुमनुदिशामि। तेन चिन्वानो वर्धमानस्तन्वोर्मध्ये निषीद। ते तव सकाशाद् गौरं शुगृच्छतु। यं वयं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु' इति, तदपि न युक्तम्, राज्ञोऽत्र सम्बोद्धयत्वे मानाभावात्। वाजिनं मा हिंसीः, तुभ्यमारण्यं पशुमनुदिशामीत्यनयोः सङ्गत्यभावात्। यद्यत्र मन्त्रे परमेश्वरो वक्ता तदा यं वयं द्विष्मस्तमृच्छत्विति नोपपद्यते, तस्य द्वेषादिशून्यत्वात् ॥ ४८ ॥

इमꣳ साहस्रꣳ शतधारमुत्सं व्यच्यमानꣳ सरिरस्य मध्ये। घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन्। गवयमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। गवयं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ ४९ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, उत्कृष्ट स्थान में स्थित सहस्र मूल्य के योग्य शतसंख्याक क्षीरधारा से युक्त कूप के सदृश दूध के सोते वाली, लोकों के मध्य में अनेक प्रकार से व्यवहार को प्राप्त, समस्त जनों के हित के निमित्त घृत के कारणभूत दूध को देने वाली इस नीरोग गौ को किसी प्रकार की पीड़ा मत दें। यदि पीड़ा देने की इच्छा हो, तो वन में रहने वाले गाय सरीखे गवय पशु को मैं तुम्हें सौंपता हूँ। अपने शरीर को उसी से पुष्ट करते हुए आप यहाँ स्थित रहें, आपकी ज्वाला गवय को प्राप्त हो। जिससे हम द्वेष करते हैं, उसे भी आपकी ज्वाला प्राप्त हो॥ ४९॥

अथ गोरुपस्थानमन्त्रः—इमं साहस्रमिति। अत्र विशेषणद्वयं स्त्रीलिङ्गम्। शेषाणि पुंलिङ्गानि। व्यत्ययेनोभाभ्यां गौरेव स्तूयते। हे अग्ने, परमे व्योमन् उत्कृष्टे स्थाने स्थितमिमं गोरूपं पशुं त्वं मा हिंसीः। कीदृशम्? साहस्रम्, सहस्रमूल्यार्हं सहस्रोपकारक्षमं वा। पुनः कीदृशम्? शतधारं शतसंख्याकक्षीरधारायुतम्। अत एवोत्सम् उत्समिव उत्सम्। उत्सः कूपस्तत्सदृशम्, बहुस्रोतसमित्यर्थः। अथवा बाहुदोहादिभिर्बहूपकारकम्। सरिरस्य मध्ये एषु लोकेषु अन्तर् व्यच्यमानं जनैर्विविधैरच्यमानम् उपजीव्यमानम्, 'इमे वै लोकाः सरिरम्' (श० ७।५।२।३४) इति श्रुतेः। जनाय सर्वलोकाय घृतं दुहानां घृतकारणं क्षीरं क्षरन्तीम्, घृतपूरणीं वा। अदितिमखण्डनीयाम्। ते तव आरण्यं गवयं गोसदृशं पशुं ते अनुदिशामि। तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ गोः। इमꣳ साहस्रꣳ शतधारमुत्समिति साहस्रो वा एष शतधार उत्सो यद् गौर्व्यच्यमानꣳ सरिरस्य मध्य इतीमे वै लोकाः सरिरमुपजीव्यमानमेषु लोकेष्वित्येतद् घृतं दुहानामदितिं जनायेति घृतं वा एषाऽदितिर्जनाय दुहेऽग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन्नितीमे वै लोकाः परमं व्योमैषु लोकेष्वेनं मा हिꣳसीरित्येतद् गवयमारण्यमनु ते दिशामीति तदस्मै गवयमारण्यमनुदिशति तेन चिन्वानस्तन्वो निषीदेति तेन चिन्वान आत्मानꣳ संस्कुरुष्वेत्येतद् गवयं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छत्विति तद्गवये च शुच दधाति यं च द्वेष्टि तस्मिꣳश्च' (श० ७।५।२।३४) गोः शोकोत्सर्गमन्त्रं प्रदर्शयन् व्याचष्टे—अथ गोरिति। साहस्रो वा इति। गौरिति यदेष साहस्रः सहस्राक्षः सजातीयधेनुद्वारा शतसंख्याकक्षीरधारासम्पन्नः, अत एव उत्सः कूपः, 'उत्स इति कूपनामसु' (निघ० ३।२३।१०), तस्यानेकजलधारावाहित्वादस्य चानेकक्षीरधारावाहित्वाद् उत्सत्वोपचारः। घृतं वा एषेति। अदितिरखण्डनीया अदीना वा एषा गौः, जनाय घृतं दुहे, क्षीरादिद्वारा तस्य सम्पादनात्। अत्रापि सजातीयधेनुद्वारा घृतदोहनम्, तदपेक्षं वाऽत्र स्त्रीलिङ्गम्। 'दुहे' इत्यत्र 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा० सू० ७।१।४१) इति तकारलोपः। स्पष्टमन्यत्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, इमं साहस्रं सहस्रमनन्तं मूल्यमर्हतीति साहस्रम्, सहस्रोपकारकं वा। शतधारं शतमनन्तं क्षीरधारा यस्मात्तं शतधारम् उत्सं स्रोत इव व्यच्यमानं जनैर्विविधमुपजीव्यमानं परमे व्योमन् उत्कृष्टे स्थाने स्थितं सरिरस्य लोकानां मध्ये घृतं दुहानामाज्यं प्रपूरयन्तीमदितिमखण्डनीयां गां मा हिंसीः, किन्तु सर्वतः परिपालयेत्यर्थः। आरण्यं गवयं गोसदृशं पशुं तेऽनुदिशामि त्वामनुलक्ष्य दिशामि समर्पयामि। तमपि रक्ष। तेन चिन्वानस्तन्वस्तनूः पोषयन् निषीद। ते तव शुक् शुङ्निवर्तकः प्रकाशो गवयमृच्छतु। यं द्विष्मस्तं शत्रुं रोषात्मकं तेजो गच्छतु।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, त्वं जनाय इमं साहस्रं सहस्रस्य असंख्यातानां सुखानामयं साधकस्तं शतधारं शतम् असंख्याता दुग्धधारा यस्मात्तं व्यच्यमानं विविधप्रकारेण पालनीयम् उत्सं कूपमिव पालकं गवादिकं वीर्यसेचकं वृषभं घृतमाज्यं दुहानां प्रपूरयन्तीमदितिमखण्डनीयां धेनुं मा हिंसीः। स ते तुभ्यमारण्यं गवयं गोसदृशमनुदिशामि। तेन परमे व्योमन् प्रकृष्टे व्याप्तेऽन्तरिक्षे सरिरस्य अन्तरिक्षस्य मध्ये चिन्वानः पुष्टः सन्

तन्वो निषीद । तं गवयं ते शुगृच्छतु । यं ते शत्रुं वयं द्विष्मस्तमपि शुगृच्छतु' इति, तदपि न सङ्गतम्, गोसदृशस्य गवयस्य सस्यादिनाशकत्वेन हिंसनीयत्वे तुल्यन्यायेन गवादिपशूनामपि सस्यादिनाशकत्वेन हिंसनीयत्वापत्तेः । न च गवादीनामारण्यकत्वासम्भवः, तादृशानां वन्यानामद्यापि प्रत्यक्षेणोपलम्भात् । तस्माद् गवयादीनां हिंसनीयत्वोक्तिः स्वसिद्धान्तविरुद्धैव । सिद्धान्ते तु विधिदृष्टिरेव सर्वतोऽपि बलीयसीति ॥ ४९ ॥

इ॒ममू॒र्णा॒यु॒ं वरु॑णस्य॒ नाभि॒ त्वचं॑ प॒शू॒नां द्वि॒पदां॒ चतु॑ष्पदाम् । त्वष्टुः॑ प्र॒जानां॑ प्रथ॒मं ज॒नित्र॒मग्ने॒ मा हिꣳसीः पर॒मे व्यो॑मन् ॥ उष्ट्र॑मार॒ण्यमनु॑ ते दिशामि॒ तेन॑ चिन्वा॒नस्त॒न्वो॒ निषी॑द । उष्ट्रं॑ ते॒ शुगृ॑च्छतु॒ यं द्वि॒ष्मस्तं ते॒ शुगृ॑च्छतु ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, उत्कृष्ट स्थान में स्थित ऊन से भरे हुए, वरुण की नाभि, अर्थात् सन्तान के समान प्रिय, मनुष्य और चौपाये, इन दोनों प्रकार के पशुओं को कम्बल आदि से आच्छादित करने के कारण त्वचास्वरूप, प्रजापति की प्रजा में सबसे पहले उत्पन्न हुए अवि (भेड़) नामक पशुको पीड़ा मत दो । मैं वन में रहने वाले ऊँटों को आपको देता हूँ । आप यहीं रहते हुए अपनी ज्वाला को वनैले ऊटों से तृप्त करो । जिससे हम द्वेष करते हैं, उनको भी आपकी ज्वाला प्राप्त हो ॥ ५० ॥

अथावेरुपस्थानमन्त्रः —इममूर्णायुमिति । हे अग्ने, परमे व्योमन् स्थितमिममूर्णायुम् ऊर्णा अस्त्यस्मिन्नित्यूर्णायुस्तम् ऊर्णावन्तम् । 'ऊर्णाया युस्' (पा० सू० ५।२।१२३) इति मत्वर्थीयो युस् । सित्वात् 'सिति च' (पा० सू० १।४।१६) इत्यूर्णाशब्दस्य पदत्वेन 'यस्येति च' (पा० सू० ६।४।१४८) इत्याकारलोपो न भवति । अविं मा हिंसीः । कीदृशमविम् ? वरुणस्य अनिष्टनिवारकस्य अग्नेर्नाभिस्थानीयं तद्वत् प्रियं वा । द्विपदां मनुष्याणां चतुष्पदां गवादीनामुभयरूपाणां पशूनां त्वचं त्वक्सदृशम् । यथा त्वचा शरीरमावृतं तथा द्विपादो मनुष्याः शीतनिवारणार्थमविजन्येन कम्बलादिना आच्छादिता भवन्ति । चतुष्पादोऽप्यश्वादयो बलीवर्दादयश्च भारवहने मार्दवार्थं पृष्ठे कम्बलेन आच्छादिता भवन्ति । पुनः कथंभूतम् ? त्वष्टुः प्रजापतेः प्रजानां मध्ये प्रथमं जनित्रं प्रथममुत्पन्नम्, प्रधानत्वेनोत्पन्नं वा । प्राधान्यं च वीर्यवत्त्वेन । वीर्यवत्त्वं च सर्वेषां बाहुजन्यानां तैत्तिरीये आम्नातम्—'तस्मात्ते वीर्यवन्तो वीर्याद्ध्यसृज्यन्त' (तै० सं० ७।१।१।४) इति । उष्ट्रं प्रसिद्धं ते ददामि । अन्यत् स्पष्टम् ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथावेः । इममूर्णायुमित्यूर्णाबलमित्येतद्वरुणस्य नाभिमिति वारुणो ह्यविस्त्वचं पशूनां द्विपदां चतुष्पदामित्युभयेषाꣳ हैष पशूनां त्वग् द्विपदां च चतुष्पदां च त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रमित्येतद्ध त्वष्टा प्रथमꣳ विचकाराग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन्नितीमे वै लोकाः परमं व्योमैषु लोकेष्वेनं मा हिꣳसीरित्येतदुष्ट्रमारण्यमनु ते दिशामीति तदस्मा उष्ट्रमारण्यमनुदिशति तेन चिन्वानस्तन्वो निषीदेति तेन चिन्वान आत्मानं संस्कुरुष्वेत्येतदुष्ट्रं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छत्विति तदुष्ट्रे च शुचं दधाति यं च द्वेष्टि तस्मिंश्च' (श० ७।५।२।३५) । अवेः शोकोत्सर्गमन्त्रं प्रदर्शयन् व्याचष्टे—उभयेषां हैष इति । एष अविरूपः पशुः, उभयेषां पशूनां द्विपदां मनुष्याणां चतुष्पदामश्वादीनां च त्वग्रूपं भवति, स्वकीयत्वचा कम्बलादिना ह्येषामाच्छादनात् । एतद्धेति । त्वष्टा प्रजानां निर्माता देवः । प्रजानां मध्ये एतद् अविरूपं पशुं प्रथमं विचकार उत्पादितवान् । अत उक्तम्—त्वष्टुरिति । विशदार्थमन्यत् ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, त्वमिमं वरुणस्य नाभिं परमे व्योमन् स्थाने स्थितमविं मा हिंसीः। कीदृशम्? ऊर्णायुमित्यादि पूर्ववत्। त्वष्टुः प्रजापतेः प्रजाः पालय। उष्ट्रं प्रसिद्धं ते ददामि, तमपि पालयेति शेषः, सर्वस्यात्मत्वात् सर्वान्तिर्यामित्वाच्च।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने राजन्, त्वमिमं वरुणस्य वरस्य प्राप्तव्यसुखस्य नाभिं निबन्धनं द्विपदां चतुष्पदां पशूनां त्वचं त्वष्टुः सुखप्रकाशकस्य प्रजानां प्रथममादिमं जनित्रमुत्पत्तिनिमित्तं परमे व्योमन् वर्तमानमूर्णायुमविं मा हिंसीः। ते यं धान्यहिंसकमारण्यमुष्ट्रं हन्तुमनुदिशामि, तेन चिन्वानः सन् तन्वो मध्ये निषीद। ते शुग् आरण्यमुष्ट्रमृच्छतु, यं ते द्वेष्टारं वयं द्विष्मस्तमृच्छतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तेनैव न्यायेनोभयोरपि हिंसनीयत्वापत्तेः। कथमवेः प्रजानामादिममुत्पत्तिनिमित्तमिति तु नोक्तम् ॥ ५० ॥

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात् सो अपश्यज्जनितारमग्रे। तेन देवा देवतामग्रमायंस्तेन रोहमायन्नुप मेध्यासः ॥ शरभमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। शरभं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ—अजा (बकरी) निश्चय ही प्रजापतिरूप अग्नि के शोक से उत्पन्न हुई है। उसने सबसे पहले अपने उत्पन्न करने वाले को देखा है, देवगण उसके द्वारा पूर्वजन्म में यज्ञ आदि कर्म करके देवत्व को प्राप्त हुए हैं तथा वर्तमान काल में यजमान इसकी सहायता से यज्ञ करके स्वर्ग को प्राप्त करते हैं। हे अग्निदेव, मैं वन के शरभ नामक सिंहघाती आठ चरण वाले मृग को आपको देता हूँ। आप उससे अपने शरीर को पुष्ट कर हमारे यहाँ ही रहें। आपकी ज्वाला शरभ को प्राप्त हो। जिससे हम द्वेष करते हैं, उसको भी आपकी ज्वाला प्राप्त हो ॥ ५१ ॥

अथाजस्य शोकोत्सर्गमन्त्रः—अजो ह्यग्नेरिति। हि यस्मादयमजः शोकाद्दीप्तियुक्तादग्नेः सकाशादजनिष्ट, 'यद्वै प्रजापतेः शोकादजायत तदग्नेः शोकादजायत' (श० ७।५।२।३६) इति श्रुतेः। तैत्तिरीया अपि तथैव समामनन्ति—'स आत्मनो वपामुदखिदत् तामग्नौ प्रागृह्णात् ततोऽजस्तूपरः समभवत्' (तै० सं० २।१।१।४) इति। स एवाग्नेः प्रजापतिरूपादुत्पन्नोऽजो जनयितारं स्वोत्पादकं प्रजापतिरूपमग्रेऽपश्यद् उत्पत्त्यनन्तरमेव दृष्टवान्। यस्मादेवमजः प्रशस्तस्तस्मादिदानीं वर्तमाना देवा अग्रे पूर्वस्मिन् जन्मनि तेनैवाजेन कर्माण्यनुष्ठाय देवतां देवभावमायन् प्राप्ताः। किञ्चेदानीं मेध्यासो योग्ययोग्या यजमाना रोहं रोहणीयं स्वर्गमुपायन् सामीप्येनैव प्राप्ताः, अविलम्बेनैव प्राप्ता इत्यर्थः। शरभोऽष्टापदः सिंहघाती। तमारण्यं तेऽनुदिशामीत्यादि पूर्ववत्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथाजस्य। अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकादिति यद्वै प्रजापतेः शोकादजायत तदग्नेः शोकादजायत सो अपश्यज्जनितारमग्र इति प्रजापतिर्वै जनिता सोऽपश्यत् प्रजापतिमग्र इत्येतत्तेन देवा देवतामग्रमायन्निति वाग्वा अजो वाचो वै देवा देवतामग्र आयंस्तेन रोहमायन्नुप मेध्यास इति स्वर्गो वै लोको रोहस्तेन स्वर्गं लोकमायन्नुप मेध्यास इत्येतच्छरभमारण्यमनु ते दिशामीति तदस्मै शरभमारण्यमनुदिशति तेन चिन्वानस्तन्वो निषीदेति तेन चिन्वान आत्मानꣳ संस्कुरुष्वेत्येतच्छरभं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छत्विति तच्छरभे च शुचं दधाति यं च द्वेष्टि तस्मिंश्च' (श० ७।५।२।३६)। अजस्य मन्त्रं दर्शयन् व्याचष्टे—अथाजस्येति। यद्वेति। प्रजापतेः शोकादजायतेति यत् तेन अग्नेरेव शोकादजायत, तस्य तदात्मकत्वात्। अत एव प्रागुक्तम्—'अग्निर्वा एषोऽग्नेरध्यजायत' (श० ७।५।२।२१) इति। प्रजापतिर्वा इति। सर्वोत्पादकत्वात्

प्रजापतिर्जनिता खलु। स जातोऽजः प्रजापतिं प्रागपश्यत्। अत उक्तम्—सो अपश्यदिति। 'प्रकृत्यान्तः-पादमव्यपरे' (पा० सू० ६।१।११५) इति प्रकृतिभावान्न पूर्वरूपत्वम्। तेन देवा इत्यजस्य वागात्मकत्वं तज्जन्यत्वात्। देवाः खलु अग्रे वाचमिमामाश्रित्य देवत्वमाप्नुवन्। स्तोत्रशस्त्रादिरूपया वाचा यज्ञनिष्पत्तेर्यज्ञस्य च देवत्वप्राप्तिहेतुत्वाद् वाचमाश्रित्य देवत्वमाप्नुवन्नित्यर्थः। अथवा वेदलक्षणया वाचा। 'स्वाध्याय एषां देवत्वम्' (म० भा०, वन० ३१३।५०) इति स्वाध्यायेनैव देवत्वाप्तिः स्मर्यते। उप मेध्यास इति मेधार्हा यज्ञार्हाः। शरभो नाम सिंहघातकः कश्चिन्मृगविशेषः। शेषं पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—अजः अजवज्जीवोऽग्नेः परमेश्वरस्य शोकाद् मायारूपाद् अजनिष्ट प्रादुर्भूतः। अजोऽपि सन् परमेश्वरीयस्वरूपभूतात्तेजस उत्पद्यते। सोऽजो हिरण्यगर्भो जनितारं परमात्मानमग्रे पूर्वमपश्यत्। तेनैव स्वजनितृपरमेश्वरदर्शनेनैव देवाः, ऋष्यादीनामप्युपलक्षणमेतत्, देवा ऋषयो मनुष्याश्च देवतां देवत्वं परमात्म-भावमित्यर्थः, उप सामीप्येन अभेदेन आयन् प्राप्तवन्तः। तेनैव च रोहं जीवभावं परित्यज्य रोहणं परमात्म-भावारोहणमायन् उपगताः। मेध्यासः पवित्राः सन्तो मायाकालुष्यानाविलाः परमात्मभावं प्राप्ता इत्यर्थः। शरभं शरवद् भातीति शरभस्तं स्वात्मानं जीवं तुभ्यमतिदिशामि। 'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्य-मुच्यते' (मुण्डकोप० २।२।४) इति श्रुतेः। तेन तनूश्चिन्वानो निषीद। तं ते शुक् ऋच्छतु। यं कामादिकं द्विष्मस्तं ते शुक् सन्तापो गच्छतु। यद्वा—आसु पञ्चसु कण्डिकासु सर्वत्रैवाध्यात्मपक्षे मयु-गौर-गवयोष्ट्र-शरभान् पाप्मरूपांस्तेऽनुदिशामि तुभ्यं समर्पयामि। तांस्ते शुक् तापकः क्रोधो गच्छतु। तेन पाप्मनाशनेन तनूश्चिन्वानो निषीद। अत्र ब्राह्मणम्—'तदाहुः। यां वै तत्प्रजापतिरेतेषां पशूनाᳯ शुचं पाप्मानमपाहंस्त एते पञ्च पशवोऽभवंस्त एत उत्क्रान्तमेधा अमेध्या अयज्ञियास्तेषां ब्राह्मणो नाश्नीयात्तानेतस्यां दिशि दधाति तस्मादेतस्यां दिशि पर्जन्यो न वर्षुको यत्रैते भवन्ति' (श० ७।५।२।३७)। अथानुद्देश्यानां मयुप्रभृतीनां पशूनां शोकादेवोत्पत्तिं ब्राह्मणस्य तदभक्ष्यतां च दर्शयन् दिग्विशेषे तेषां निधानमाह—तदाहुरिति। शेषं स्पष्टम्।

दयानन्दस्तु—'हे राजंस्त्वं यो हि अजश्छागोऽजनिष्ट, सोऽग्रे जनितारमपश्यत्। येन मेध्यासो देवा अग्र देवतां दिव्यगुणतां सुखमुपायन्, येन रोहं प्रादुर्भावमुपायन्, तेन उत्तमगुणतामग्रं सुखं तेन वृद्धिं च प्राप्नुहि। यमारण्यं शरभं शल्यकं तेऽनुदिशामि, तेन चिन्वानः सन् तन्वो निषीद। तं शरभं शुगृच्छतु। शेषं पूर्ववत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वथाप्यसङ्गतेः। छागः कं जनितारं कदा पश्यतीत्यनुक्तेः। नहि स्वोत्पादकं जानाति छागः, परज्ञानस्य अन्याप्रत्यक्षत्वात्। मनुष्यश्छागापेक्षया अधिकज्ञोऽपि न स्वोत्पादकं साक्षात् पश्यति, मात्रादिवचनैरेव तज्ज्ञानसम्भवात्। छागकर्तृकस्वोत्पादकदर्शनेन देवानां विदुषां पावित्र्यस्य कः सम्बन्धः? कथं च तेषां दिव्यगुणतासुखादिप्राप्तिः? शरभपदस्य शल्यकार्थकतापि निर्मूलैव, कोषेषूपनिषत्सु च अष्टापदे सिंहघातिन्येव तत्प्रसिद्धेः ॥ ५१ ॥

त्वं य॑विष्ठ दा॒शुषो॒ नॄः पा॑हि शृणु॒धी गिर॑ः। रक्षा॑ तो॒कमु॒त त्मना॑ ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ—हे अतिशय तरुण अग्निदेव, आप हमारे द्वारा की गई स्तुतियों को सुनें, हवि देने वाले यजमान के मनुष्यों की रक्षा करें और हमारे यजमान के अपत्यों (सन्तानों) की रक्षा करें ॥ ५२ ॥

'एत्य च त्वं यविष्ठेति चित्योपस्थानम्' (का० श्रौ० १७।६।१)। बहिर्वेदेरग्निसमीपमागत्यार्धचित-मग्निमध्वर्युरुपतिष्ठेदिति सूत्रार्थः। उशनोदृष्टाऽनिरुक्ताग्नेयी गायत्री। हे यविष्ठ युवतम, अथवा मिश्रयितृतम

अग्ने ! त्वं दाशुषो हविर्दत्तवतो यजमानस्य नॄन् मनुष्यान् भृत्यादीन् पाहि। ऋत्विजां गिर आशिषः प्रार्थनाः शृणुधी शृणुहि। उतापि च त्मना आत्मना त्वदीयेन प्रयत्नेन तोकमपत्यं रक्ष। शृणुधीत्यत्र 'श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि' (पा० सू० ६।४।१०२) इति हेर्धिः। 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति संहितायां दीर्घः। 'रक्षा' इत्यत्रापि 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति संहितायां दीर्घः।

अत्र ब्राह्मणम्—'प्रत्येत्याग्निमुपतिष्ठते। एतद्वा एतद्यथायथं करोति यदग्नौ सामिचिते बहिर्वेद्येति तस्मा एवैतन्निह्नुतेऽहिᳬसाया आग्नेय्याऽग्नय एवैतन्निह्नुते गायत्र्या गायत्रोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मा एतन्निह्नुतेऽनिरुक्तया सर्वं वा अनिरुक्तᳬ सर्वेणैवास्मा एतन्निह्नुते यविष्ठवत्यैतद्धास्य प्रियं धाम यद्यविष्ठ इति यद्वै जात इदᳬ सर्वमयुवत तस्माद्यविष्ठः' (श० ७।५।२।३८)। उपस्थानानन्तरं पुनरग्निसमीपमागत्य उपतिष्ठत इत्याह—प्रत्येत्येति। तत्र कारणं प्रतिजानीते—एतद्वा इति। तदेवाह—एतदिति। अग्नौ सामिचिते अर्धचिते बहिर्वेद्येति इति यदेतेन तत्कर्म अयथायथं करोति। 'यथास्वे यथायथम्' (पा० सू० ८।१।१४) इति योऽयमात्मा यच्चात्मीयं तत्र यथायथमिति निपात्यते। अयथायथं यथाक्रमं न भवतीत्यर्थः। तथा कृतवान् भवति। अत उपस्थानेनाहिंसार्थं तस्मै अग्नये एतद् निह्नवनं करोति। निह्नवनमपनयः, बहिर्वेदिगमननिबन्धनमपराधं परिमार्ष्टीत्यर्थः। उपस्थानमन्त्र आग्नेयो गायत्रोऽनिरुक्तो यविष्ठशब्दयुक्तश्च भवेदित्याह—आग्नेय्येत्यादिना। अग्नेर्गायत्रत्वं षष्ठकाण्डे उक्तम् (श० ६।१।१।१५) इत्यत्र। अनिरुक्तया अविस्पष्टदेवतया। यत्र देवताविशेषवाचकं पदं नास्ति तदनिरुक्तम्। यविष्ठशब्दस्तु गुणवचनो न पुनरिन्द्रादिशब्दवत् कस्यचिद्देवताविशेषस्य वाचकः। अनिरुक्तत्वादेवास्य आग्नेयत्वम्। अनिरुक्तो मन्त्र आग्नेयः प्राजापत्यो वा भवतीत्यनिरुक्तस्य सर्वत्वं साधारण्यात्, देवताविशेषाप्रतिपादकत्वाच्च। अस्याग्नेर्यविष्ठमिति यदेतत्पदं प्रियं धाम नामधेयम्। अथाग्नौ यविष्ठपदप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयति—यद्वा इति। यतोऽयमग्निर्विराड्रूपत्वादिदं सर्वं कृत्स्नमपि जगद् अयुवत मिश्रितवान् व्याप्तवानित्यर्थः, तस्मादसावग्निर्यविष्ठः। अयुवत इति 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' इत्येतस्य धातोर्लङि व्यत्ययेन शब्विकरणे रूपम्। यविष्ठ इति युधातोः पचाद्यचि निष्पन्नाद् यवशब्दाद् इष्ठन्प्रत्यये रूपम्। तदेतदाह श्रुतिः—'यद्वै जात इदᳬ सर्वमयुवत तस्माद्यविष्ठः' (श० ७।५।२।३८) इति। 'त्वं यविष्ठ दाशुष इति। यजमानो वै दाश्वान्नॄँः पाहीति मनुष्या वै नरः शृणुधी गिर इति शृणु न इमाᳬ स्तुतिमित्येतद्रक्षा तोकमुत त्मनेति प्रजा वै तोकᳬ रक्ष प्रजां चात्मानं चेत्येतत्' (श० ७।५।२।३९)। नॄँः पाहीति। 'नॄन् पे' (पा० सू० ८।३।१०) इति नकारस्य रुः। 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' (पा० सू० ८।३।२) इत्यनुनासिककादेशः। एवं च ब्राह्मणानुसारी मन्त्रस्यायमर्थः— हे यविष्ठ युवतम मिश्रयितृतम वाग्ने, त्वं दाशुषो यजमानस्य नॄन् मनुष्यान् पाहि। नोऽस्माकं स्तुतिरूपा गिरः शृणु। न केवलं यजमानसम्बन्धिमनुष्यपालनं त्वया कार्यम्, अपि त्वात्मना सहितं तोकं प्रजां सन्ततिं रक्षेति।

अध्यात्मपक्षे—हे यविष्ठ युवतम श्रीराम, शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे यविष्ठ, त्वं संरक्षितैरेतैः पशुभिर्दाशुषो नॄन् धर्मनेतॄन् पाहि। इमा गिरः सत्या वाचः शृणुधि। त्मना आत्मना मनुष्याणामुत पशूनां तोकं रक्ष' इति, तदपि यत्किञ्चित्, एतैः संरक्षितैः पशुभिरित्यस्य निर्मूलत्वात्। नहि सत्या अपि सर्वा गिरः श्रोतव्या भवन्ति, अपेक्षितानां श्रोतव्यानामेव श्रवणसम्भवात्। त्मनाशब्देन मनुष्याणां पशूनामिति ग्रहणमपि निर्मूलमेव ॥ ५२ ॥

अपां त्वेमन् सादयाम्यपां त्वोद्मन् सादयाम्यपां त्वा भस्मन् सादयाम्यपां त्वा ज्योतिषि सादयाम्यपां त्वायने सादयाम्यर्णवे त्वा सदने सादयामि समुद्रे त्वा सदने सादयामि सरिरे त्वा सदने सादयाम्यपां त्वा क्षये सादयाम्यपां त्वा सधिषि सादयाम्यपां त्वा सदने सादयाम्यपां त्वा सधस्थे सादयाम्यपां त्वा योनौ सादयाम्यपां त्वा पुरीषे सादयाम्यपां त्वा पाथसि सादयामि । गायत्रेण त्वा च्छन्दसा सादयामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि जागतेन त्वा छन्दसा सादयाम्यानुष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि पाङ्क्तेन त्वा च्छन्दसा सादयामि ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ—हे अपस्या नामक इष्टके, मैं जल के स्थान में तुम्हें स्थापित करता हूँ, औषधियों के स्थान में स्थापित करता हूँ, अभ्र में स्थापित करता हूँ, विद्युत् ज्योति में स्थापित करता हूँ, भूमि पर स्थापित करता हूँ, प्राण के स्थान में स्थापित करता हूँ, मन के स्थान में स्थापित करता हूँ, वाणी के स्थान में स्थापित करता हूँ, चक्षु के निवास में स्थापित करता हूँ, श्रोत्र में स्थापित करता हूँ, द्युलोक में स्थापित करता हूँ । अन्तरिक्ष लोक में स्थापित करता हूँ, समुद्र में स्थापित करता हूँ सिकता (बालू) में स्थापित करता हूँ, अन्न में स्थापित करता हूँ । हे अपस्या, मैं तुम्हारा गायत्री छन्द के प्रभाव से सादन करता हूँ, त्रिष्टुप् छन्द के प्रभाव से स्थापित करता हूँ, जगती छन्द के प्रभाव से स्थापित करता हूँ, अनुष्टुप् छन्द के प्रभाव से स्थापित करता हूँ, पंक्ति छन्द के प्रभाव से तुमको स्थापित करता हूँ ॥ ५३ ॥

'अपरेण स्वयमातृण्णामेत्यापस्याः पञ्च पञ्चानूकान्तेष्वपां त्वेमन्निति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।६।२)। तीर्थेनाग्निमारुह्य स्वयमातृण्णामपरेण पूर्वानूकान्तमेत्य चतुर्ष्वप्यनूकान्तेषु 'अपां त्वेमन्' इति प्रतिमन्त्रं पञ्च पञ्च अपस्यासंज्ञका इष्टका अध्वर्युरुपदध्यादिति सूत्रार्थः । विंशतिरिष्टकादेवत्यानि यजूंषि पञ्चदश अपस्यादेवत्यानि, पञ्च छन्दस्यादेवत्यानि । अब्लिङ्गैर्मन्त्रैरुपधेया इष्टका अपस्यासंज्ञकाः । हे इष्टके अपस्ये, अपामेमन् एमनि जलसम्बन्धिनि प्रवाहादिगमनप्रकारे त्वा त्वां सादयामि । 'इण् गतौ' इत्यस्माद् मनिन्प्रत्ययेन 'एमन्' इति । ततः सप्तम्याः 'सुपां सुलुक्····' (पा० सू० ७।१।३९) इति लुकि 'एमन्' इति रूपम् । त्वा एमन् इत्यत्र पररूपत्वात् त्वेमन्निति । अथवा अपामेमन्नित्यादीनां श्रुत्युक्तोऽर्थो ग्राह्यः । 'वायुर्वा अपामेम' (श० ७।५।२।४६) इति श्रुत्या वायावित्यर्थः । वायौ त्वां सादयामीति । अपाम् ओद्मन् ओद्मनि ओषधिषु त्वां सादयामि, 'ओषधयो वा अपामोद्म' (श० ७।५।२।४७) इति श्रुतेः । 'उन्दी क्लेदने' इत्यस्मान्मनिन् प्रत्ययो नलोपो गुणश्च सप्तम्याश्च लुक् । ओद्मनि वीचितरङ्गादिरूपे जले वा । एवमुत्तरत्रापि व्याख्येयम् । भस्मन् भस्मनि त्वां सादयामि । शुक्लरूपे अभ्रे वा, 'अभ्रं वा अपां भस्म' (श० ७।५।२।४८) इति श्रुतेः । अपां ज्योतिषि विद्युति, 'विद्युद्वा अपां ज्योतिः' (श० ७।५।२।४९) इति श्रुतेः । प्रकाशे नैर्मल्ये वा त्वां सादयामि । अपामयने भूमौ, 'इयं पृथिव्यपामयनम्' (श० ७।५।२।५०) इति श्रुतेः । कूपाद्याधारे वा । अर्णवे सदने स्थाने प्राणरूपे, 'प्राणो वा अर्णवः' (श० ७।५।२।५१) इति श्रुतेः । अथवा अर्णवशब्देन सादृश्यात् प्रौढतटाकाद्युपलक्ष्यते । तत्र सदने स्थाने त्वां सादयामि स्थापयामि । समुद्रे सदने मनसीत्यर्थः, 'मनो वै समुद्रः' (श० ७।५।२।५२) इति श्रुतेः । प्रसिद्धे समुद्रे वा । सरिरे सदने त्वां स्थापयामि, वाचीत्यर्थः, 'वाग्वै सरिरम्' (श० ७।५।२।५३) इति श्रुतेः ।

अथवा अनिर्धारितस्थानविशेषे जलमात्रे वा त्वां स्थापयामि। अपां क्षये चक्षुसि त्वां स्थापयामि, 'चक्षुर्वा अपां क्षयः' (श० ७।५।२।५४) इति श्रुतेः। क्षयो निवासः। अथवा क्षीयन्ते शुष्यन्त्यापोऽत्रेति क्षयः, शुष्कस्तडागादिः, तत्र त्वां स्थापयामि। अपां सधिषि श्रोत्रे त्वां सादयामि, 'श्रोत्रं वा अपाᳩ सधिः' (श० ७।५।२।५५) इति श्रुतेः। अथवा जलेन सह धीयत इति सधिः, वर्षोपलादिः, तत्र त्वां सादयामि। अपां सदने दिवि त्वां सादयामि, 'द्यौर्वा अपाᳩ सदनम्' (श० ७।५।२।५६) इति श्रुतेः। अथवा अपां स्थाने नद्यादौ त्वां सादयामि। अपां सधस्थेऽन्तरिक्षे त्वां सादयामि, 'अन्तरिक्षं वा अपाᳩ सधस्थम्' (श ७।५।२।५७) इति श्रुतेः। अथवा अद्भिः सह विद्युदादयो यत्र मेघे तिष्ठन्ति सोऽयं मेघः सधस्थः, तत्र त्वां सादयामि। अपां योनौ समुद्रे त्वां सादयामि, 'समुद्रो वा अपां योनिः' (श० ७।५।२।५८) इति श्रुतेः। अथवा योनिशब्देन जलमात्रकारणभूतोऽग्निरुच्यते, 'अग्नेरापः' (तै० उप० २।१) इति श्रुतेः। अपां पुरीषे सिकतासु त्वां सादयामि, 'सिकता वा अपां पुरीषम्' (श० ७।५।२।५९) इति श्रुतेः। अपां पाथसि अन्ने त्वां सादयामि, 'अन्नं वा अपां पाथः' (श० ७।५।२।६०) इति श्रुतेः। अथवा पीयते जलं जीमूतैरत्रेति पाथः समुद्रः, तत्र त्वां सादयामि। अतः परं पञ्च यजुर्भिः पञ्च छन्दस्या इष्टका उपदध्यात्। गायत्रेण छन्दसा गायत्री एव गायत्रं तेन त्वां सादयामि। त्रैष्टुभेन त्रिष्टुबेव त्रैष्टुभं तेन छन्दसा त्वां सादयामि। जागतेन जगती एव जागतं तेन छन्दसा त्वां सादयामि। आनुष्टुभेन अनुष्टुबेव आनुष्टुभं तेन छन्दसा त्वां सादयामि। पाङ्क्तेन पङ्क्तिरेव पाङ्क्तं तेन छन्दसा त्वां सादयामि।

अत्र ब्राह्मणम्—'आरुह्याग्निं जघनेन स्वयमातृण्णां परीत्यापस्या उपदधाति। आप एता यदपस्या अथ वा एतेभ्यः पशुभ्य आप उत्क्रान्ता भवन्ति तद्यदपस्या उपदधात्येष्वेवैतत्पशुष्वपो दधात्यनन्तर्हिताः पशुभ्य उपदधात्यनन्तर्हितास्तत्पशुभ्योऽपो दधाति पञ्च पञ्चोपदधाति पञ्च ह्येते पशवः सर्वत उपदधाति सर्वत एवैष्वेतदपो दधाति' (श० ७।५।२।४०)। उपस्थानानन्तरमग्निं पश्चाद्भागेनारुह्य स्वयमातृण्णां प्रदक्षिणीकृत्य गत्वा अपस्याख्या इष्टका उपदध्यादित्याह—आरुह्याग्निमिति। अपस्योपधाने प्रयोजनं दर्शयितुमेतासामबात्मकत्वमाह—आप एता इति। तत्प्रयोजनमाह—अथ वा इति। अथ खलु आलम्भसमये एतेभ्यः पुरुषादिभ्यः पशुभ्य आप उत्क्रान्ता भवन्ति। अतश्च अपस्यानामुपधाने तासामबात्मकत्वादेतेषु पशुष्वपो निहितवान् भवति। तासां पशुशिरःस्वव्यवधानेन उपधानमाह—अनन्तर्हिता इति। एकैकस्मिन् प्रदेशे पञ्च पञ्च उपदध्यादित्याह—पञ्च पञ्चेति। पञ्च पञ्च सर्वासु दिक्षु उपधेया इत्याह—सर्वत इति। 'तद्याः पञ्चदश पूर्वाः। ता अपस्या वज्रो वा आपो वज्रः पञ्चदशस्तस्माद्येनापो यन्त्यपैव तत्र पाप्मानं घ्नन्ति वज्रो हैव तस्यार्धस्य पाप्मानमपहन्ति तस्माद्वर्षत्यप्रावृतो व्रजेदयं मे वज्रः पाप्मानमपहनदिति' (श० ७।५।२।४१)। प्रतिदिशं पञ्चानामुपधाने विंशतिः सम्पद्यन्ते। तत्र याः पञ्चदश पूर्वा इष्टकास्ता अपस्याख्या भवन्तीत्याह—तद्या इति। पञ्चदशसंख्याकानामेव अपस्यात्वमुपपादयति—वज्रो वा इत्यादिना। अपां वज्रत्वं नैशित्यात् पर्यन्तसेचनात्। तदेव श्रूयते—'तस्मादिन्द्रोऽबिभेत्। स प्रजापतिमुपाधावत् शत्रुर्मेऽजनीति। तस्मै वज्रं सिक्त्वा प्रायच्छदेतेन जहीति' (तै० सं० २।५।२।२) इति। पञ्चदशस्य वज्रात्मकत्वं वीर्यवत्त्वात्। तत्पुनः प्रजापतेर्वीर्यवत्प्रदेशादुत्पत्तेः। अत एव श्रूयते—'उरसो बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमीत' इत्यारभ्य—'तस्मात्ते वीर्यवन्तो वीर्याद्ध्यसृज्यन्त' (तै० सं० ७।१।१।५)। यत एवं तस्माद्येन मार्गेण आपो यन्ति तत्र पाप्मानमपघ्नन्त्येव, अपां वज्रत्वात्। वज्र एव खलु तस्य भागस्य पाप्मानमपहन्ति। तस्मात् पापहननादेव वर्षति पर्जन्येऽयं वज्रो मे पाप्मानमपहन्त्वित्यप्रावृत एव व्रजेत्। 'अथ याः पञ्चोत्तराः। ताश्छन्दस्याः पशवो वै छन्दाᳩस्यन्नं पशवोऽन्नमु पशोर्माᳩसमथ वा एतेभ्यः पशुभ्यो माᳩसान्युत्क्रान्तानि भवन्ति तद्यच्छन्दस्या उपदधात्येष्वेवैतत्पशुषु माᳩसानि दधात्यनन्तर्हिताः पशुभ्य उपदधात्यनन्तर्हितानि तत्पशुभ्यो माᳩसानि दधात्यन्तरा अपस्या भवन्ति बाह्याश्छन्दस्या अन्तरा ह्यापो बाह्यानि

माꣳसानि' (श० ७।५।२।४२)। अथ या उत्तराः पञ्चेष्टकास्ताश्छन्दस्या इत्याह—अथेति। छन्दस्यानामुपधानेन पशुषूत्क्रान्तमांसप्रतिविधानं भवतीत्याह—पशवो वा इत्यादिना। पशूनां छन्दस्त्वं यज्ञसाधनत्वात्, अथवा जगत्यानीतत्वात्, 'जगत्युदपतच्चतुर्दशाक्षरा सती साऽप्राप्य न्यवर्तत तस्यै द्वे अक्षरे अमीयेतां सा पशुभिश्च दीक्षया चागच्छत्' (तै० सं० ६।१।६।२) इति श्रुतेः। 'अन्नमु पशोर्मांसम्' इत्यनेन अन्नं पशव इत्येतदुपपादितम्। एवं च सति छन्दस्यानां पश्वात्मकत्वेन मांसरूपत्वाद् आलम्भावसरे उत्क्रान्तानि मांसानि पुनरेतेषु निहितवान् भवति। तासामप्यपस्यावदव्यवधानेनोपधानमाह—अनन्तर्हितानीति। अपामुदरमध्यवर्तित्वेन आन्तरत्वाद् मांसानां ततो बाह्यत्वम्। तथैव अपस्या अन्तराश्छन्दस्या बाह्या भवेयुरित्याह—अन्तरा अपस्या इति। उक्तप्रकारेण पशुष्वापो मांसानि च सम्पादितानि, नैतावता तेषां कार्त्स्न्यं सम्पद्यते, किं पुनस्ततोऽपि बाह्ययोस्त्वग्लोम्नोरपि कारणत्वेन अन्नत्वाच्छन्दस्यानां चान्नात्मकत्वस्योक्तत्वात् तदुपधानेनैव तयोरप्युपधानं सम्पादितं भवतीत्यादिकमपि तत्रैव दर्शितमिति।

'तदाहुः। यदिमा आप एतानि माꣳसान्यथ क्व त्वक् क्व लोमेत्यन्नं वाव पशोस्त्वगन्नं लोम तद्यच्छन्दस्या उपदधाति सैव पशोस्त्वक् तल्लोमाथो यान्यमून्युखायामजलोमानि तानि लोमानि बाह्योखा भवत्यन्तराणि पशुशीर्षाणि बाह्यानि हि लोमान्यन्तर आत्मा यदीतरेण यदीतरेणेति ह स्माह शाण्डिल्यः सर्वानेव वयं कृत्स्नान् पशून् संस्कुर्म इति' (श० ७।५।२।४३)। प्रकारान्तरेण पशूनां लोमसम्पत्तिमाह—अथो इति। कृष्णाजिनलोमादनुबद्धया मृदा उखाया निर्माणात्, उखायां यानि चाजलोमानि सन्ति तान्येव पशूनां लोमानि भवन्ति। लोमाधारत्वेनोखाया अभिधानादुखा लोमानीत्यभिप्रेत्य 'बाह्योखा भवति' इत्यादिनोक्तस्यैवार्थस्योपपादनम्। त्वग्लोमसम्पादने उक्तं पक्षद्वयमप्यभिमतमित्याह—यदीति। यदीतरेण अन्येन प्रकारेण तत्सम्पादनं भवति, तर्हि तथैवास्तु, अथवा इतरेण प्रकारान्तरेण यदि भवति तर्हि तथैवास्तु, इत्यन्योन्यापेक्षया उभयोरपीतरत्वम्। अपस्याद्युपधानेनान्नादिसम्पादनं केन विवक्षितमिति तत्राह—इति स्माह शाण्डिल्य इति। तेनापि केनाभिप्रायेण एवमुक्तमित्यत आह—सर्वानेवेति। सर्वानेव पशून् कृत्स्नान् कार्त्स्न्येन संस्कुर्मः सर्वावयवसम्पादनेन समृद्धान् कुर्म इत्यभिप्रायेण तथोक्तमित्यर्थः। 'यद्वेवापस्या उपदधाति। प्रजापतेर्विस्रस्तादाप आयंस्तास्वितास्वविशद्यदविशत् तस्माद्विꣳशतिस्ता अस्याङ्गुलिभ्योऽध्यस्रवन्नन्तो वा अङ्गुलयोऽन्तत एवास्मात्ता आप आयन्' (श० ७।५।२।४४)। प्रकारान्तरेणाप्यस्योपधानं प्रशंसति यद्वेवेति। विस्रस्तावयवात् प्रजापतेराप आयन् निर्गताः। ततस्तासु निर्गतासु अविशत् उपाविशत्। अपां निर्गमने दौर्बल्याद् गन्तुमक्षमस्तथैवोपविष्टवान्। ततश्चोपवेशनसाधनत्वादपस्या विंशतिः सम्पन्नाः। यद्यपि पूर्वं पञ्चदश अपस्या इत्युक्तम्, तथापि छन्दस्यासाहित्येन अत्र विंशतिरित्युक्तम्। सर्वासां वा अपस्याशब्देनाभिधानं भूमलिङ्गात्, सृष्टीरुपदधातीतिवत्। 'स यः स प्रजापतिर्व्यस्रꣳसत। अयमेव स योऽयमग्निश्चीयतेऽथ या अस्मात्ता आप आयन्नेतास्ता अपस्यास्तद्यदेता उपदधाति या एवास्मात्ता आप आयंस्ता अस्मिन्नेतत् प्रतिदधाति तस्मादेता अत्रोपदधाति' (श० ७।५।२।४५)। एवमपि स यः प्रजापतिर्व्यस्रंसत सोऽयमेव य इदानीमग्निश्चीयते। अथ प्रजापतेः सकाशाद् या आपो निर्गतास्ता अपस्याः। ततश्च एतासामत्रोपधाने ततो निर्गता अप एव प्रतिदधाति।

'अपां त्वेमन् सादयामीति। वायुर्वा अपामेम यदा ह्येवैष इतश्चेतश्च वात्यथापो यन्ति वायौ ताꣳसादयति' (श० ७।५।२।४६)। क्रमेण तासामुपधाने मन्त्रान् प्रदर्शयन् व्याचष्टे—अपां त्वेमन्नित्यादिना। यदा हि एष वायुरितश्चेतश्च वाति, तदा आपो यन्ति चलन्ति। अतो यन्त्यापोऽनेनेति व्युत्पत्त्या एम

वायुः। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति सूत्रेण इणधातोर्व्यत्ययेन करणे मनिन्प्रत्ययः। 'एमन्नादिषु छन्दसि पररूपं वक्तव्यम्' (पा० सू० ६।१।७० वा० १) इति 'त्वा एमन्' इत्यवस्थायां पररूपत्वम्। 'अपां त्वोद्मन् सादयामीति। ओषधयो वा अपामोद्म यत्र ह्याप उन्दन्त्यस्तिष्ठन्ति तदोषधयो जायन्त ओषधिषु ताᳬ सादयति' (श० ७।५।२।४७)। आपो यत्र देशे उन्दन्त्यस्तिष्ठन्ति तत्र ओषधयो जायन्त इत्यधिकरणव्युत्पत्त्या अपामोद्म ओषधयः। 'उन्दी क्लेदने' इत्यस्माद् मनिन्प्रत्यये छान्दसेऽनुनासिकलोपे गुणे च 'ओद्मन्' इति। 'अपां त्वा भस्मन् सादयामीति। अभ्रं वा अपां भस्माभ्रे ताᳬ सादयति' (श० ७।५।२।४८)। अभ्रं मेघः। स चाप्सु निर्गतासु निःसारत्वाद् अपां भस्म इत्युच्यते। एवं भस्म मेघः। भस्मन् इति 'सुपां सुलुक्....' (पा० सू० ७।१।३९) इत्यादिना सप्तम्या लुक्। 'न ङिसम्बुद्ध्योः' इति नलोपाभावः। एवं मेघे त्वां सादयामीति। 'अपां त्वा ज्योतिषि सादयामीति। विद्युद्वा अपां ज्योतिर्विद्युति ताᳬ सादयति' (श० ७।५।२।४९)। प्रसन्ना कण्डिका। 'अपां त्वायने सादयामीति। इयं वा अपामयनमस्याᳬ ह्यापो यन्त्यस्यां ताᳬ सादयति तद्या अस्यैतेभ्यो रूपेभ्य आप आयंस्ता अस्मिन्नेतत्प्रतिदधात्यथो एतान्येवास्मिन्नेतद्रूपाणि दधाति' (श०७।५।२।५०)। सर्वा अप्यापः पृथिवीमधिष्ठायैव प्रवहन्तीति तत् तदा विस्रंसनावसरे खल्वस्य प्रजापतेरेतेभ्यो वाय्वादिभ्यो रूपेभ्य आपो निर्गताः। तथाविधास्ता अप एव एतस्मिन् प्रजापतौ प्रतिदधाति। न केवलमपामेव प्रतिनिधानम्, अपि तु येभ्यो रूपेभ्य आपो निर्गतास्तेषामपि तदा निर्गतत्वात् तान्यपि पुनरस्मिन् योजयति। उक्तमन्त्रसाध्योपधानाः पञ्चेष्टकाः पूर्वस्यां दिशि उपदध्यात्। एवं वक्ष्यमाणमन्त्रसाध्योपधाना अपोष्टकाः पञ्च पञ्च दक्षिणादिषु दिक्षूपधेयाः।

'अर्णवे त्वा सदने सादयामीति' प्राणो वा अर्णवः प्राणे ताᳬ सादयति' (श० ।५।२।५१)। 'अर्णो जलम्' (निघ० १।१२।१) औणादिकादसुन्प्रत्ययादर्तेर्निष्पन्नात् सान्ताद् अर्णस्शब्दात् 'अर्णसो लोपश्च' (पा० सू० ५।२।१०९ वा० २) इति मत्वर्थीये वप्रत्यये सलोपे चार्णवशब्दसिद्धिः। यदा तु पचाद्यजन्तस्तदा 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (पा० सू० ५।२।१०९ वा० १) इति वप्रत्ययेऽर्णवशब्दसिद्धिः। उभयथापि निगमे प्रयोगः। तथाहि— 'सृजदर्णांस्यव यद्युधा' (ऋ० सं० १।१७४।४), 'अग्ने दिवो अर्णमच्छा जिगासि' (ऋ० सं० ३।२२।३) इति। अर्णवत्वं च प्राणवता जलस्य पीयमानत्वात्। तथा च प्राणे त्वां सादयामीत्यर्थः। 'समुद्रे त्वा सदने सादयामीति। मनो वै समुद्रो मनसो वै समुद्राद्वाचाभ्र्या देवास्त्रयीं विद्यां निरखनंस्तदेष श्लोकोऽभ्युक्तो ये समुद्रान्निरखनन् देवास्तीक्ष्णाभिरभ्रिभिः। सुदेवो अद्य तद्विद्याद्यत्र निर्वपणं दधुरिति मनः समुद्रो वाक् तीक्ष्णाभ्रिस्त्रयी विद्या निर्वपणमेतदेष श्लोकोऽभ्युक्तो मनसि ताᳬ सादयति।' (श० ७।५।२।५२) मनःसमुद्राद्वाचा अभ्र्या देवास्त्रयीं विद्यां निरखनन्निति मन्त्रे मनसि समुद्रशब्दप्रयोग उक्तः। तस्मात् समुद्रे मनसि त्वां सादयामीत्यर्थः। 'सरिरे त्वा सदने सादयामीति। वाग्वै सरिरं वाचि ताᳬ सादयति' (श० ७।५।२।५३)। सरणवत्त्वेन वाक् सलिलं खलु। अतो वाचि तां सादितवान् भवति। 'अपां त्वा क्षये सादयामीति। चक्षुर्वा अपां क्षयस्तत्र हि सर्वदैवापः क्षियन्ति चक्षुषि ताᳬ सादयति' (श० ७।५।२।५४)। तत्र हीति। तत्र चक्षुषि सर्वदैवापः क्षियन्ति निवसन्ति, अतश्चक्षुरपां क्षयः। 'अपां त्वा सधिषि सादयामीति। श्रोत्रं वा अपाᳬ सधिः श्रोत्रे ताᳬ सादयति तद्या अस्यैतेभ्यो रूपेभ्य आप आयंस्ता अस्मिन्नेतत्प्रतिदधात्यथो एतान्येवास्मिन्नेतद्रूपाणि दधाति' (श० ७।५।२।५५)। सधिःशब्देन स्थानमुच्यते, श्रोत्रस्यान्तरार्द्रीभावात्। एतच्च तैत्तिरीयके श्रूयते—'तस्मादार्द्रा अन्तरतः प्राणाः' (तै० सं० ६।२।११।२) इति श्रुतौ। 'अपां त्वा सदने सादयामीति। द्यौर्वा अपाᳬ सदनं दिवि ह्यापः सन्ना दिवि ताᳬ सादयति' (श० ७।५।२।५६)। प्रसन्ना कण्डिका।

'अपां त्वा सधस्थे सादयामीति। अन्तरिक्षं वा अपाᳬ सधस्थमन्तरिक्षे ताᳬ सादयति' (श० ७।५।२।५७)। आपोऽस्मिन् सम्भूय तिष्ठन्तीत्यन्तरिक्षमपां सधस्थम्। 'सधमादस्थयोश्छन्दसि' (पा० सू० ६।३।९६) इति सहशब्दस्य सधादेशः। तत्रान्तरिक्षे त्वां सादयामीति तामन्तरिक्षे सादयति। 'अपां त्वा योनौ सादयामीति। समुद्रो वा अपां योनिः समुद्रे ताᳬ सादयति' (श० ७।५।२।५८)। समुद्रस्य सकाशादपामुत्पत्तेरपां योनिः समुद्रः। 'अपां त्वा पुरीषे सादयामीति। सिकता वा अपां पुरीषᳬ सिकतासु ताᳬ सादयति' (श० ७।५।२।५९)। भक्तस्य निःसारोंऽशो लोके पुरीषशब्दवाच्यः, तद्वत् सिकतानामपि निःसारत्वादपां पुरीषत्वम्। सिकतासु त्वां सादयामीत्यर्थः। 'अपां त्वा पाथसि सादयामीति। अन्नं वा अपां पाथोऽन्ने ताᳬ सादयति तद्या अस्यैतेभ्यो रूपेभ्य आप आयंस्ता अस्मिन्नेतत् प्रतिदधात्यथो एतान्येवास्मिन्नेतद्रूपाणि दधाति' (श० ७।५।२।६०)। पाथः सारांशः। अन्नस्य तत्सम्पाद्यत्वेन तत्सारत्वादन्नमपां पाथः। 'गायत्रेण त्वा छन्दसा सादयामि। त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि जागतेन त्वा छन्दसा सादयाम्यानुष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि पाङ्क्तेन त्वा छन्दसा सादयामीति तद्या अस्यैतेभ्यश्छन्दोभ्य आप आयंस्ता अस्मिन्नेतत्प्रतिदधात्यथो एतान्येवास्मिन्नेतच्छन्दाᳬसि दधाति' (श० ७।५।२।६१)। गायत्रेण त्वा छन्दसा सादयामीत्यादिभिः पञ्चभिर्मन्त्रैरुत्तरस्यां दिशि छन्दस्या उपदध्यात्।

अध्यात्मपक्षे—हे सर्वात्मन् ब्रह्मन्, कर्मलोकहेतुभूतानामपाम् एमन् वायौ त्वां सादयामि स्थापयित्वा तद्रूपेण त्वां चिन्तयामि। अन्यत् सर्वं पूर्ववदूह्यम्। गायत्रेण छन्दसा त्वामुपदधामि गायत्रीच्छन्दसा त्वां सर्वत्र अनुसन्दधामि। त्रैष्टुभेन जागतेन आनुष्टुभेन पाङ्क्तेन च छन्दसा त्वामनुसन्दधामि।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, शिक्षकोऽहमपां प्राणानां रक्षणे मे मन एति गच्छति तस्मिन् वायौ त्वां सादयामि। अपां जलानां भस्मन् अभ्रे त्वां सादयामि। अपां व्याप्नुवतां विद्युदादीनां ज्योतिषि विद्युति सादयामि। अपामन्तरिक्षस्यायने भूमौ त्वां सादयामि। अर्णवे प्राणे सदने स्थातव्ये त्वा सादयामि। समुद्रे मनसि त्वा सदने गन्तव्ये सादयामि। सरिरे वाचि त्वा सदने प्राप्तव्ये सादयामि.....' इत्यादिकं शतपथानुसारेणैव कण्डिकां व्याख्याति। तत्र हे मनुष्येति सम्बोधनम्, शिक्षकोऽहमित्यादिकं तु निर्मूलमेव। मनुष्यस्य तत्र तत्र सादनायोगाच्च गायत्रेण गायत्रीनिर्मितेन छन्दसा स्वच्छेनार्थे सादयामीत्यादिकमपि निर्मूलमेव, गायत्रीनिर्मितस्वच्छार्थस्याद्याप्यनिरूपणात्। सादयामि नियोजयामीत्यपि निर्मूलमेव ॥ ५३ ॥

अयं पुरो भुवस्तस्य प्राणो भौवायनो वसन्तः प्राणायनो गायत्री वासन्ती गायत्र्यै गायत्रङ्गायत्रादुपाᳬशुरुपाᳬशोस्त्रिवृत् त्रिवृतो रथन्तरं वसिष्ठ ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया प्राणं गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके, जो यह सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला अग्नि है, तू उसके रूप वाली है। प्राण उस भुव नामक अग्नि की सन्तान है। प्राण का पुत्र वसन्त ऋतु है। वसन्त की सन्तान गायत्री है। गायत्री से गायत्र साम उत्पन्न होता है। गायत्र साम से उपांशु ग्रह उत्पन्न हुआ है। उपांशु ग्रह से त्रिवृत् स्तोम और त्रिवृत् स्तोम से रथन्तर साम उत्पन्न हुआ है। सभी जन्तुओं में अधिष्ठित सर्वाधार वसिष्ठ रूप प्राण सबको जानता है। हे इष्टके, तुम प्रजापति के द्वारा गृहीत हो, तुम्हारी सहायता से मैं प्रजा के नीरोग प्राण-लाभ के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ ॥ ५४ ॥

'व्याघारणवत् प्राणभृतः कर्णसहिता दश दश पुरुषमपार्थ्यैके रेतःसिग्वेलायां च सर्वतो यथायोगमयं पुर इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।६।३)। ततो व्याघारणहोमक्रमेण प्राणभृत्संज्ञका इष्टकाः प्रथमं दक्षिणेंऽसे तत उत्तरश्रोण्यां ततो दक्षिणश्रोण्यां तत उत्तरेंऽसे ततो मध्ये—अनेन क्रमेण चतुर्ष्वप्यक्ष्णयादेशेषु संल्लग्ना मध्ये च दश दश प्राणभृत उपदध्यात्। तत दक्षिणांसोत्तरश्रोण्योरक्ष्णयादेशे प्राणभृतः प्राग्लक्षणा भवन्ति, दक्षिणश्रोण्युत्तरांसयोरक्ष्णयादेशे चोदग्लक्षणाः। दक्षिणांसप्राणभृतां या दशमी स्वयमातृण्णासंल्लग्ना सा अर्धपद्या। उत्तरांसप्राणभृतां च या दशमी स्वयमातृण्णासंल्लग्ना सा तिरश्चालिखिता। तथा दक्षिणोत्तरश्रोण्योर्ये दशम्यौ स्वयमातृण्णासंलग्ने, ते द्वे अपि पादोने पादभागेन ऊने पद्ये इत्यर्थः। शेषाः षट्चत्वारिंशत् पद्या एव भवन्ति। तत्र प्रथमं दक्षिणांसकोणादारभ्य प्राङ्मुख उपविष्ट एवोपसृत्योपसृत्य स्वयमातृण्णापर्यन्ता दश प्राणभृत उपदधाति। तत्रायं पुरो भव इति प्रथमाम्, तस्य प्राण इति द्वितीयाम्, वसन्त इति तृतीयाम्, गायत्रीति चतुर्थीम्, गायत्र्या इति पञ्चमीम्, गायत्रादिति षष्ठीम्, उपा१९ शोरिति सप्तमीम्, त्रिवृत इत्यष्टमीम्, वसिष्ठ इति नवमीम्, प्रजापतिगृहीतयेति दशमीं स्वयमातृण्णासहितामर्धपद्याम्। ततः सक्थ्नित्ये दशसु। तत उत्तरश्रोणेरारभ्य स्वयमातृण्णापर्यन्तं दश प्राणभृतः पश्चिमाभिमुखोऽपसृत्यापसृत्योपदध्यादिति प्रक्रियासहितः सूत्रार्थ इति विद्याधरः। सूत्रार्थस्तु—ततो व्याघारणवद् दक्षिणेंऽसे उत्तरश्रोण्यां दक्षिणश्रोण्यामुत्तरेंऽसे मध्ये च कर्णसंल्लग्नाः कोणादारभ्य स्वयमातृण्णापर्यन्तं दश दश प्राणभृत्संज्ञका इष्टका उपदध्यात्। एके आचार्याः पुरुषसमीपे प्रथमामुपधाय ततोऽक्ष्णयादेशे कोणपर्यन्तमुपधानमिच्छन्ति। अपरे तु कोणादारभ्य पुरुषपर्यन्तमिति दश प्राणभृतो रेतःसिग्वेलायां सर्वासु दिक्षु यथायोगमुपदध्यादिति वदन्ति। एवं चतुर्ष्वक्ष्णयादेशेषु चत्वारिंशत्प्राणभृत उपहिताः। अवशिष्टा दश। तासां दशानां मध्ये चतुर्ष्वपि स्थानेषु अक्ष्णयासंल्लग्ने द्वे द्वे। एवमष्टौ। पश्चादनूकमभितश्च द्वे। एवं दश।

अत्र ब्राह्मणम्—'प्राणभृत उपदधाति। प्राणा वै प्राणभृतः प्राणानेवैतदुपदधाति ताः प्रथमायां चिता उपदधाति पूर्वार्धे एषोऽग्नेर्यत्प्रथमा चितिः पुरस्तात् तत्प्राणान् दधाति तस्मादिमे पुरस्तात् प्राणाः' (श० ८।१।१।१)। प्रथमचितौ प्राणभृदुपधानं विधत्ते—प्राणभृत उपदधातीति। प्राणान् बिभर्ति शरीरे धारयत्याभिरिति प्राणभृत इष्टकाः, प्राणलिङ्गोपेतमन्त्रोपधानाद्वा प्राणभृत इष्टकाः। श्रुत्या तु प्रकारान्तरेणापि निर्वचनमग्रे करिष्यते। ता उपदध्यादित्यर्थः। तदेतत्प्रशंसति—प्राणा वा इति। याः प्राणभृदाख्या इष्टकास्ताश्चक्षुरादिप्राणात्मिकाः खलु। तथा च एतद् एतेन प्राणभृदुपधानेनाग्नौ प्राणानेव स्थापितवान् भवति। प्रथमचितिरग्निशरीरस्य पूर्वो भागः। तत्र प्राणभृतामुपधानेन प्राणानेव स्थापयतीति। 'ता दशदशोपदधाति। दश वै प्राणा यदु वा अपि बहुकृत्वो दश दश दशैव तत्पञ्चकृत्वो दशदशोपदधाति पञ्च वा एतान् पशूनुपदधाति दशदश वा एकैकस्मिन् पशौ प्राणास्तदेषु सर्वेषु प्राणान् दधात्यनन्तर्हिता पशुभ्य उपदधात्यनन्तर्हितांस्तत्पशुभ्यः प्राणान् दधाति सर्वत उपदधाति सर्वत एवैष्वेतत् प्राणान् दधाति' (श० ८।१।१।२)। ताः पञ्चाशत्संख्याकाः प्राणभृतो दशदशोपधेयाः। दशसंख्याकाः खलु प्राणाः सप्त शीर्षण्याः, द्वाववाञ्चौ, नाभिर्दशमीति। अतः संख्यासाम्यात् तासामिष्टकानां प्राणरूपता सिद्धेति। यदु वेत्यादि। यद् यद्यपि बहुकृत्वो बहुवारं दशसंख्याका इष्टका उपधीयन्ते, तथापि विभज्यमानाः सत्यस्ताः प्राणभृतो दशैव सम्पद्यन्ते। दशसङ्ख्यातानां संख्यां विधाय स्तौति—पञ्चकृत्वो दशदशोपदधातीति। पञ्चसंख्याकान् हि पशून् अयमध्वर्युरुपदधाति। तेष्वेकैकस्मिन् पशौ दश दश प्राणाः। तान् तथा सत्येषु सर्वेषु पञ्चस्वपि पशुषु प्रत्येकं दश दश प्राणान् स्थापितवान् भवतीत्यर्थः। उपहितानां पशुशीर्षाणां समीपे तासामुपधानं विधाय स्तौति—अनन्तर्हिताः पशुभ्य इति। पशुभ्यः पशुशीर्षेभ्यः सकाशादनन्तर्हिता अव्यवहितास्तत् तेन पशुभ्योऽनन्तर्हितानव्यवहितानेव प्राणान्

स्थापयति। प्राच्यादासु पञ्चसु दिक्षु तासामुपधानं विधत्ते– सर्वत उपदधातीति। सर्वतः सर्वासु दिक्षु दश दशोपदध्यात्। सर्वतः सर्वाभ्यो दिग्भ्यः। स्पष्टमन्यत्।

'यद्वेव प्राणभृत उपदधाति। प्रजापतेर्विस्रस्तात् प्राणा उदक्रामन् देवता भूत्वा तानब्रवीदुप मेत प्रति म एतद्धत्त येन मे यूयमुदक्रमिष्टेति स वै तदन्नꣳ सृजस्व यत्ते वयं पश्यन्त उपवसामेति ते वा उभये सृजामहा इति तथेति प्राणाश्च प्रजापतिश्चैतदन्नमसृजन्तैताः प्राणभृतः' (श० ८।१।१।३)। प्राणभृत उपधानं प्रकारान्तरेण स्तौति—यद्वेव प्राणभृत उपदधातीति। विस्रस्ताद् विश्लिष्टावयवात् प्रजापतेः सकाशात् प्राणा उत्क्रान्ताः। केन रूपेणेति ? देवता भूत्वेति। अग्न्याद्यधिष्ठातृदेवतारूपं प्राप्येत्यर्थः। प्रजापतिस्तानब्रवीत्—हे प्राणाः, यूयं मा माम् उपेत उपगच्छत मे मदीयमेतदङ्गं प्रतिधत्त व्यवहारयोग्यं संस्कुरुत। येन विस्रस्तेन हेतुना यूयमुदक्रमिष्ट उत्क्रान्ता अभूत तद्यथापूर्वं कुरुत। एवं प्रार्थितानां प्राणानां वाक्यम्—स वै तदन्नमित्यादि। हे प्रजापते, स तादृशस्त्वमस्मदर्थमन्नं सृजस्व। ते तव सम्बन्धि सृष्टमन्नं पश्यन्तो वयं तव समीपे उपवसाम उपविशाम इति। अथ प्रजापतिस्तानब्रवीत्। ते तथाविधा उभये उभयविधा अहं च यूयं च मिलिताः सन्तस्तदन्नं सृजामहा इति प्रार्थितवान्। तेऽपि तथेत्यङ्गीचक्रुः। तदनन्तरं ते प्राणाः प्रजापतिश्च सम्भूय प्राणभृदिष्टकारूपमन्नमसृजन्तेत्यर्थः।

तत्र पञ्चाशद्यजूंषि प्राणभृदिष्टकादेवत्यानि प्रतिकण्डिकं दश दश। प्रथमं दशकं दक्षिणेंऽसे। योऽयं पुरोभुवश्चाग्निर्वर्तते हे इष्टके ! त्वं तद्रूपासि। प्राण एवाग्निर्भूत्वा पुरस्तिष्ठति। अतोऽग्निरूपां त्वामुपदधामीति शेषः। अथवा भवत्यस्माज्जगदिति भुवःशब्दः प्रजापतिमाचष्टे। पुरः पूर्वस्यां दिश्ययं भुवः प्रजापतिर्वर्तत इति शेषः। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासीति। एवमुत्तरेषु योज्यम्। तथा भुवःशब्दाभिधेयस्य प्रजापतेः सम्बन्धी प्राणः। अत एव तत्रापत्यत्वमुपचर्यते। भुवोऽपत्यं भौवायनः। तस्य प्राणस्य श्वासवृत्तिरूपस्यापत्यत्वेनोपचरितः प्राणायनो वसन्त ऋतुः। तस्य च वसन्तस्य सम्बन्धिनी गायत्री। तस्याश्छन्दोरूपाया गायत्र्या सम्बन्धि गायत्रं साम। तस्माच्च गायत्रसाम्न इवोपांशुग्रहः। तस्माच्चोपांशुग्रहादुत्पन्नमिव त्रिवृत्स्तोमम्। तस्मात् त्रिवृत्स्तोमादुत्पन्नं रथन्तरं साम। यो वसिष्ठ ऋषिस्तद्रूपासि। हे इष्टके, यथोक्तप्रकारेण प्रजापतिप्राणवसन्तादिरूपोपचारेण प्रजापतिगृहीतया त्वया प्रजाभ्यः सर्वासां प्रजानां प्राणं गृह्णामि, प्रजानां प्राणसिद्धये त्वां गृह्णामीत्यर्थः। यद्यप्यनेकवाक्यत्वाभावादेक एव मन्त्रः, तथापि प्रतीष्टकमावृत्त्या दश मन्त्राः सम्पद्यन्त इति कण्डिकार्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'स पुरस्तादुपदधाति। अयं पुरो भुव इत्यग्निर्वै पुरस्तात्तमाह पुर इति प्राञ्चꣳ ह्यग्निमुद्धरन्ति प्राञ्चमुपचरन्त्यथ यद्भुव इत्याहाग्निर्वै भुवोऽग्नेर्हीदꣳ सर्वं भवति प्राणो हाग्निर्भूत्वा पुरस्तात्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।१।१।४)। अथ प्राच्यां दिशि प्राणभृदुपधानं समन्त्रकं विधत्ते—स पुरस्तादिति। पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि। सप्तम्यर्थेऽस्तातिः। अत्र 'पञ्चाशदिष्टकाः पञ्चाशद्यजूंषि' इति वचनात् खण्डशः पञ्चाशद्धा विभक्ता मन्त्राः प्रयोक्तव्या इत्येकः पक्षः। विभक्तानां मन्त्रभागानामपरिसमाप्तार्थत्वात् पञ्चैव मन्त्राः, पञ्चाशत्संख्या त्वावृत्त्या पूरणीयेति पक्षान्तरम्। कर्काचार्यरीत्या त्वन्तिम एव पक्षो ज्यायान्। तथा च तद्वचनम्—'अत्र चैके खण्डशो मन्त्रान् प्रयुञ्जते, पञ्चाशदिष्टकाः पञ्चाशद्यजूंषीति वचनात्। तत्पुनरयुक्तम्, वाक्यानामपरिसमाप्तत्वात्। कथं तर्हि यजुषां पञ्चाशत्त्वम् ? अभ्यासेनेत्यदोषः, लिङ्गाच्च। कथमस्यैताः सर्वाः प्राजापत्या भवन्तीति प्रकृत्याह—यदेव सर्वास्वाह। प्रजापतिगृहीतया त्वयेत्येवमु हास्यैताः सर्वाः प्रजापत्या भवन्ति। तस्मात् सकलमन्त्रप्रयोगो न खण्डशः' इति। सायणाचार्यस्तु पक्षद्वयमेतदुपस्थाप्य प्रथमं प्रथमपक्षानुसारं व्याख्याति। तथाहि—'अयं पुरो भुवः' इत्याद्याः पूर्वस्यां दिशि प्राणभृदुपधानमन्त्राः। 'अग्निर्वै पुरः' इति पूर्वदिग्वाचिना पुरःशब्देन तत्सम्बद्धोऽग्निरत्र विवक्षित इत्यर्थः। तदेवोपपादयति—तद्यत्तमाहेति।

तत् तत्र यद् यस्मात् तमग्निं पुर इत्याह पुरःशब्दवाच्यतया प्रतिपादयति, तत्कारणमभिधीयत इति शेषः। प्राञ्चं हीत्यादिना तत्कारणवर्णनम्। प्राञ्चं पूर्वदिगभिमुखमग्निमाहवनीयात्मना उद्धरन्ति। तथा प्राञ्चं प्रागपवर्गमुपचरन्ति, अग्निपरिचर्यां कुर्वन्ति हि यस्मात्, तस्मात् पुरःशब्देनाग्निरभिधीयत इत्यर्थः। पक्षान्तरमनूद्य व्याचष्टे—अथ यद्भुव इति। भवत्यस्मादिति व्युत्पत्त्या भवःशब्दोऽग्निवचनः। उक्तार्थपरतामाह—प्राणो हेति। प्राणवायुरेव ह्यग्निर्भूत्वा पुरस्तात् पूर्वस्यां दिश्याहवनीयात्मना तस्थौ स्थितवान्। तत् तेनाग्न्यात्मकं प्राणमेवोपहितवान् भवति। एवं पुरस्तादुपधीयते, प्रागुद्ध्रियते प्राङुपचर्यत इति पुरोऽग्निः। अतो हे इष्टके, प्राणात्मकाग्निरूपां त्वामुपदधामीति शेष इति प्रथममन्त्रार्थः।

'तस्य प्राणो भौवायन इति। प्राणं तस्माद्रूपादग्नेर्निरमिमीत वसन्तः प्राणायन इति वसन्तमृतुं प्राणान्निरमिमीत गायत्री वासन्तीति गायत्रीं छन्दो वसन्तादृतोर्निरमिमीत गायत्र्यै गायत्रमिति गायत्र्यै छन्दसो गायत्रꣳ साम निरमिमीत गायत्रादुपाꣳशुरिति गायत्रात् साम्न उपाꣳशुं ग्रहं निरमिमीतोपाꣳशोस्त्रिवृदित्युपाꣳशोर्ग्रहात त्रिवृतꣳ स्तोमं निरमिमीत त्रिवृतो रथन्तरमिति त्रिवृतः स्तोमाद् रथन्तरं पृष्ठं निरमिमीत' (श० ८।१।१।५)। द्वितीयं मन्त्रमनूद्य व्याचष्टे—तस्य प्राण इति। भवति सर्वरूपेणेति भुवोऽग्निः, अथवा भवति सर्वमस्मादिति भवोऽग्निः। अग्निरूपेणेष्टका ध्येयेति। भुवस्यापत्यं भौवायनः। स च प्राणस्याग्नेरनन्तरमुत्पन्नः। प्राणं तस्मादिति। तस्मात्प्रथममन्त्रप्रतिपाद्यादग्न्यात्मकाद् रूपात् प्राणं निरमिमीत निर्मितवान् सृष्टवान् भवतीत्यर्थः। 'वसन्तः प्राणायनः' इति तृतीयो मन्त्रः। प्राणस्यापत्यं प्राणायनः। अत्र पूर्वपूर्वमन्त्रप्रतिपाद्यादुत्तरोत्तरमन्त्रप्रतिपाद्यानामुत्पत्तिरिति प्रकरणार्थः। स च प्राणसृष्टो वसन्तः। हे इष्टके, तदात्मिकां त्वामुपदधामीति सर्वत्र योजना। प्राणायन इत्यनेन प्राणाद्वसन्तमृतुं सृष्टवान् इत्यर्थः सिद्धः। वसन्तादुत्पन्नत्वाद् गायत्री वासन्ती। तदेवाह—गायत्रीमिति। गायत्र्याः सकाशाद् गायत्र्याख्यं साम सृष्टम्। तदाह—गायत्र्यै छन्दस इति। षष्ठ्यर्थे 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थीति वाच्यम्' (पा० सू० २।३।६२ वा० १) इति चतुर्थी। तस्माच्च गायत्र्याख्यात् साम्न उपांशुनामको ग्रहो निर्मितः। तदाह—गायत्र्यात् साम्न उपांशुमिति। स्तोत्रियानवकात्मकः स्तोमस्त्रिवृत्। स च उपांशोर्निर्मितः। तदाह—उपांशोर्ग्रहात् त्रिवृतमिति। तस्मात् त्रिवृतो रथन्तराख्यं साम निर्मितम्। पृष्ठस्तोत्रस्य निष्पादकत्वाद् रथन्तरं साम पृष्ठम्।

'वसिष्ठ ऋषिरिति। प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिर्यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठोऽथो यद्वस्तृतमो वसति तेनो एव वसिष्ठः प्रजापतिगृहीतया त्वयेति प्रजापतिसृष्टया त्वयेत्येतत्प्राणं गृह्णामि प्रजाभ्य इति प्राणं पुरस्तात् प्रापादयत नानोपदधाति ये नाना कामाः प्राणे तांस्तद्दधाति सकृत्सादयत्येकं तत्प्राणं करोत्यथ यन्नाना सादयेत् प्राणꣳ ह विच्छिन्द्यात् सैषा त्रिवृदिष्टका यजुः सादनꣳ सूददोहास्तत् त्रिवृत् त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत्कृत्वोपदधाति' (श० ८।१।१।६)। तस्याद्वसिष्ठ ऋषिरुत्पन्नः। तस्य वसिष्ठस्य स्वरूपमाह—प्राणो वा इति। देहस्थितिहेतुत्वेनेन्द्रियाणां वासयितृत्वेन वसिष्ठ इति प्राण एवोच्यते। तदेवाह—यद्वा इति। यद्वै यस्मादेव नु निश्चितमिन्द्रियाणां मध्ये प्राणः श्रेष्ठः, अनुग्रहीतृत्वात्। तदनुगृहीतानि हीन्द्रियाणि स्वस्वव्यापारं कर्तुं प्रभवन्ति। तेन श्रेष्ठययोगेन प्राणो वसिष्ठो जातः। पक्षान्तरमाह—अथो इति। यद् यस्मात् प्राणो वस्तृतमोऽतिशयेन वासयिता सन् शरीरे वर्तते, तेनैव कारणेन वसिष्ठः। वस्तृशब्दादातिशायनिकेऽर्थे 'तुश्छन्दसि' (पा० सू० ५।३।५९) इतीष्ठनि 'तुरिष्ठेमेयस्सु' (पा० सू० ६।४।१५४) इति तृशब्दस्य लोपे वसिष्ठ इति रूपम्। प्रजापतिगृहीतयेति दशमो मन्त्रः। तं व्याचष्टे—प्रजापतिसृष्टयेति। कर्तृविशेषोपादानसामर्थ्यादत्र ग्रहिः सृज्यर्थकः। हे इष्टके, प्रजापतिसृष्टया त्वया प्रजाभ्यः सर्वप्रजार्थं प्राणं गृह्णामि सृजामि। प्रजापतिरनेन प्राणं पूर्वस्यां दिशि प्रापादयत

प्रावेशयत्, यजमानोऽप्यनेन मन्त्रेण प्राणं प्रपादयति प्रवेशयतीत्यर्थः। दशानां पूर्वदिगुपधेयानां प्राणभृतामुपधानस्य पृथक्त्वं विधाय स्तौति—नानोपदधातीति। ये नाना कामा इति। प्राणाख्ये वायौ ये नानाविधफलविषयाः कामाः सन्ति, तान् तेनोपधानेन स्थापितवान् भवतीत्यर्थः। सादनस्याप्युपधानवत् प्रसक्तं नानात्वं व्यावर्तयति—सकृत्सादयतीति। तत् तेन सकृत्सादनेन प्राणमेकमविच्छिन्नं करोति। व्यतिरेके बाधं दर्शयति—अथ यन्नाना सादयेदिति। पार्थक्येन सादने त्रिवृत्त्वसम्पत्तिविघातः स्यादित्यर्थः। त्रिवृत्त्वं विवृणोति—सैषेत्यादिना। सैषा प्राणभृदिष्टका त्रिवृत् त्रिगुणा। त्रैगुण्यमेव दर्शयति—यजुरिति। तत्तदुपधानमन्त्रो यजुः, तया देवतयेत्येतत्सादनम्, ता अस्येति सूददोहाः। तदेतत् त्रितयं मिलितं सत् त्रिवृत्। स्पष्टमन्यत्।

अध्यात्मपक्षे—अनया कण्डिकया परमेश्वरस्य सार्वात्म्यमुच्यते। अयं प्रत्यक्चैतन्याभिन्नः परमेश्वरः पुरो भुव आहवनीयाग्निरूपः। शेषं पूर्ववत्। पुरोभुवाग्निभौवायनप्राणादिवसिष्ठऋषिपर्यन्तः कार्यकारणभावेन प्रसिद्धः सकलोऽपि वैदिकः पदार्थजातोऽयं परमेश्वर एव, तज्जत्वात्। हे प्रज्ञे, प्रजापतिगृहीतया प्रजापतिनानुगृहीतया त्वयाऽहं प्रजाभ्यः प्रजाहितार्थं प्राणं प्राणस्यापि प्राणं परमात्मानं गृह्णामि हृदये धारयामि, 'प्राणस्तथानुगमात्' (ब्र० सू० १।१।२८) इति न्यायात्।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, यथायं पुरो भुवः पुरः पूर्वं यो भवति सोऽग्निस्तस्य भौवायनो भुवेन सत्तारूपेण कारणेन निर्वृत्तः प्राणो येन प्राणिति, स प्राणायनो प्राणा निर्वृत्ता यस्मात्। वसन्तो यः सुगन्धादिभिर्वासयति। वासन्ती वसन्तस्य व्याख्यात्री गायत्री या गायन्तं त्रायते सा। गायत्र्यै गायत्र्याः। गायत्रं गायत्र्येव छन्दः। गायत्रादुपांशु उपांशुगृहीता। उपांशोस्त्रिवृद् यस्त्रिभिः कर्मोपासनाज्ञानैर्वर्तते सः। त्रिवृतो रथन्तरं यद्रथं रमणीयैस्तारयति तत्। वसिष्ठ ऋषिश्च प्रजापतिगृहीतया स्त्रिया तया त्वया सह प्रजाभ्यः प्राणं गृह्णाति, तथा त्वया साकमहं प्रजाभ्यो बलं गृह्णामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्त्रियाः सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। भौवायनः प्राणः प्राणायन इत्यादीनामपि व्याख्यानं तथाविधमेव। न चाग्नेः प्रथमभुवत्वम्, वाय्वाकाशयोः ततः प्राग्भावित्वात्, श्रुतिविरोधाच्च। श्रुतौ तु प्राञ्चं ह्यग्निमुद्धरन्ति प्राञ्चमुपचरन्तीत्यादिना पूर्वादिक्सम्बन्धेन पुरोभुवत्वमुक्तम्। 'अथ दक्षिणतः' (श० ८।१।१।७), 'अथ पश्चात्तात्' (श० ८।१।२।१), 'अथोत्तरतः' (श० ८।१।२।४) इति श्रुतिषु दिशामेव प्रसङ्ग उक्तः। भुवेन सत्तारूपेण कारणेन निर्वृत्त इत्यपि रिक्तं वचः, सर्वस्यैव वस्तुजातस्य तथात्वात्। नह्यसिद्धेन कारणेन किञ्चिदुत्पद्यते। यः सुगन्धादिभिर्वासयति स वसन्तः, प्राणा निर्वृत्ता यस्माद् इत्यादिकमपि निःसारमेव। वसन्तस्य व्याख्यात्री गायत्रीत्यादिकमपि तथाविधमेव, निर्मूलत्वात्। त्रिवृद्रथन्तरादिव्याख्यानमप्येतादृशमनाघ्रातवेदार्थगन्धस्यैव शोभते, शतपथे पूर्वोक्तरीत्या तद्व्याख्यानात् ॥ ५४ ॥

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य मनो वैश्वकर्मणं ग्रीष्मो मानसस्त्रिष्टुब्ग्रैष्मी त्रिष्टुभः स्वारᳪ स्वारादन्तर्यामोऽन्तर्यामात् पञ्चदशः पञ्चदशाद् बृहद् भरद्वाज ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया मनो गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ—इस इष्टका को विश्व का निर्माता विश्वकर्मा नाम से प्रसिद्ध देवता दक्षिण दिशा से आर्यावर्त में वहन करता है। मन उस विश्वकर्मा का अपत्य है। ग्रीष्म ऋतु मन का अपत्य है। त्रिष्टुप् छन्द ग्रीष्म ऋतु से प्रकट होता है। त्रिष्टुप् छन्द से स्वार नामक साम प्रकट होता है। स्वार साम से अन्तर्याम ग्रह, अन्तर्याम से पंचदश स्तोम और पंचदश स्तोम से बृहत् साम प्रकट होता है। अन्न को धारण करने वाला मन सचेतन है। हे इष्टके, तुम प्रजापति द्वारा सादर गृहीत हो। तुम्हारी सहायता से मैं प्रजाओं का मन ग्रहण करता हूँ ॥ ५५ ॥

एभिर्मन्त्रैस्तृतीयं दशकं दक्षिणश्रोणेरारभ्योपधेयम्। विश्वकर्मा विश्वानि कर्माणि जगद्व्यापारादीनि यस्यासौ। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। अथवा विश्वं सर्वं करोति सृजतीति विश्वकर्मा वायुः। अयं दक्षिणा दक्षिणस्यां दिश्यार्यावर्ताद् भूयो वाति। तद्रूपां त्वां सादयामि। तस्य विश्वकर्मणोऽपत्यं मनः। अत एव वैश्वकर्मणं 'तस्येदम्' (पा० सू० ४।३।१२०) इत्यणि 'इनण्यनपत्ये' (पा० सू० ६।४।१६४) इति प्रकृतिभावे टिलोपाभावाद् रूपम्। मनोरूपां त्वां सादयामि। मनसोऽपत्यं ग्रीष्म ऋतुर्मानसः। मानसग्रीष्मरूपां सादयामि। ग्रैष्मी त्रिष्टुप्, ग्रीष्मस्येयं ग्रैष्मी ग्रीष्मोत्पन्ना त्रिष्टुप्छन्दः। तद्रूपां त्वां सादयामि। त्रिष्टुभ उत्पन्नं स्वारं साम। तद्रूपां त्वां सादयामि। स्वारादुत्पन्नोऽन्तर्यामग्रहः। तद्रूपां त्वां सादयामि। अन्तर्यामादुत्पन्नः पञ्चदशः स्तोमः। तद्रूपां त्वां सादयामि। पञ्चदशस्तोमादुत्पन्नं बृहत्पृष्ठम्। तद्रूपां त्वां सादयामि। भरद्वाज ऋषिर्बिभर्तीति भरन्, भरन् वाजमन्नं यः स भरद्वाजोऽन्नधर्ता मनः, मनसि स्वस्थे ह्यन्नादनेच्छोत्पत्तेः। ऋषिः सचेतनो मनोरूपः। तद्रूपां त्वां सादयामि। तथा च श्रुतिः—'मनो वै भरद्वाज ऋषिरन्नं वाजो यो वै मनो बिभर्ति सोऽन्नं वाजं भरति तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषिः' (श० ८।१।१।९) इति। प्रजापतिगृहीतया धातृसृष्टया त्वयेष्टकया प्रजाभ्यो मनो गृह्णामि। एभिर्दशभिर्मन्त्रैर्मन एव गृह्णामीत्यर्थः।

तथा चात्र ब्राह्मणम्—'अथ दक्षिणतः। अयं दक्षिणा विश्वकर्मेत्ययं वै वायुर्विश्वकर्मा योऽयं पवत एष हीदꣳ सर्वं करोति तद्यत्तमाह दक्षिणेति तस्मादेष दक्षिणैव भूयिष्ठं वाति मनो ह वायुर्भूत्वा दक्षिणतस्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।१।१।७)। दक्षिणस्यां दिश्युपधेयानां प्राणभृतां मन्त्रान् विधाय व्याचष्टे—अथ दक्षिणत इति। पुरस्तादुपधानानन्तरं दक्षिणस्यां दिशि 'अयं दक्षिणा' इत्यादिभिर्मन्त्रैर्दश प्राणभृत उपदध्यादित्यर्थः। अयं वै वायुरिति। योऽयमन्तरिक्षे पवते सञ्चरति सोऽयं वायुर्विश्वकर्मा विश्वं सर्वं जगत् कर्म कर्तव्यं यस्य सूत्रात्मनो वायोः सः। श्रूयते हि—'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रम्, वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि' (श० १४।६।७।६) इति। क्रियाशक्त्यात्मनाऽवस्थित एष खलु वायुरिदं सर्वं करोति। तस्माद्विश्वकर्मोच्यते। तत् तत्र तं वायुं दक्षिणेति दक्षिणदिग्वाचिना शब्देन यद् यस्मादाह, तस्मादेष वायुः प्राणः सन् दक्षिणैव शरीरस्य दक्षिणभाग एव भूयिष्ठमधिकतरं वाति सञ्चरते। मनो ह वायुर्भूत्वेत्यादि। सुखापरोक्ष्यसाधनमान्तरमिन्द्रियं मनः। तत्खलु प्राणवायुर्भूत्वा दक्षिणतो देहस्य दक्षिणभागे तस्थौ स्थितवत्। तस्मात्तदेव वाय्वात्मकं मनसो रूपमुपहितवान् भवति। 'तस्य मनो वैश्वकर्मणमिति। मनस्तस्माद्रूपाद्वायोर्निरमिमीत ग्रीष्मो मानस इति ग्रीष्ममृतुं मनसो निरमिमीत त्रिष्टुब् ग्रैष्मीति त्रिष्टुभं छन्दो ग्रीष्मादृतोर्निरमिमीत त्रिष्टुभः स्वारमिति त्रिष्टुभश्छन्दसः स्वारꣳ साम निरमिमीत स्वारादन्तर्याम इति स्वारात् साम्नोऽन्तर्यामं ग्रहं निरमिमीतान्तर्यामात् पञ्चदश इत्यन्तर्यामाद् ग्रहात् पञ्चदशꣳ स्तोमं निरमिमीत पञ्चदशात् बृहदिति पञ्चदशात् स्तोमाद् बृहत्पृष्ठं निरमिमीत' (श० ८।१।१।८)। तस्य मनो वैश्वकर्मणमिति। द्वितीयदशकस्य द्वितीयमन्त्रः। विश्वकर्मसंज्ञकाद् वायोर्जातं मनो वैश्वकर्मणम्। हे इष्टके, तद्रूपां त्वामुपदधामीति शेषः। एतन्मन्त्रप्रयोगेण तस्माद् विश्वकर्मसंज्ञकाद्वायोर्मन इन्द्रियं सृष्टवान्। ग्रीष्मो मानस इति तृतीयेन मन्त्रेण ग्रीष्माख्यमृतुं मनसः सकाशान्निर्मितवान्। ग्रीष्मादुत्पन्नं छन्दस्त्रिष्टुप्। त्रिष्टुप् च ग्रैष्मी। त्रिष्टुबादीनां स्त्रीलिङ्गत्वाद् ग्रैष्मीति। तथा च ग्रीष्मादृतोः सकाशात् त्रिष्टुबाख्यं छन्दो निर्मितवान्। त्रिष्टुभः स्वारमिति पञ्चमो मन्त्रः। स्वरसंज्ञकैरकारादिभिरेव वर्णैः समाप्यमानं साम स्वारम्, तदुत्पन्नमित्यर्थः। अन्तर्यामपदेन सोमग्रहः। पञ्चदशभिः स्तोत्रियाभिर्ऋग्भिर्निष्पाद्यः स्तोमः पञ्चदशः। बृहत्पृष्ठमिति। 'त्वामिद्धि हवामहे' इत्यस्यामृच्युत्पन्नं साम बृहत्। तच्च पृष्ठस्तोत्ररूपेण प्रयुज्यमानत्वात् पृष्ठम्।

'भरद्वाज ऋषिरिति। मनो वै भरद्वाज ऋषिरन्नं वाजो यो वै मनो बिभर्ति सोऽन्नं वाजं भरति। तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वयेति प्रजापतिसृष्टया त्वयेत्येतन्मनो गृह्णामि प्रजाभ्य इति मनो दक्षिणतः प्रापादयत नानोपदधाति ये नाना कामा मनसि तांस्तद्दधाति सकृत्सादयत्येकं तन्मनः करोत्यथ यन्नाना सादयेन्मनो ह विच्छिन्द्यात् सैषा त्रिवृदिष्टका तस्योक्तो बन्धुः' (श० ८।१।१।९)। भरद्वाज ऋषिरिति नवमो मन्त्रस्तं व्याचष्टे—मनो वा इति। एतन्निर्ब्रूते—अन्नं वाज इति। यः खलु प्राणी मनो बिभर्ति धारयति जीवनविशिष्टो भवतीत्यर्थः, स च वाजाख्यमन्नं भरति देहे धत्ते। तस्माद् भरणाद् वाजेन धार्यमाणत्वाच्च भरन् भ्रियमाणो वाजश्च यस्येति व्युत्पत्त्या मन एव भरद्वाज ऋषिः। मनो गृह्णामि प्रजाभ्य इत्यनेन मन्त्रभागेन दक्षिणदिशि प्राणमृदुपधानं कुर्वन् प्रजापतिर्दक्षिणतः शरीरस्य दक्षिणभागे मनः प्रापादयत प्रावेशयत्। उपधानस्य नानात्वं सादनस्य सकृत्त्वं पूर्ववद्विधाय स्तौति—नानोपदधातीत्यादिना। मनसि स्थिता ये नानाविधाः कामा अभिलाषविशेषाः, तांस्तत्र मनसि स्थापयति। एकं तन्मन इति। तत् तेन मनःसादनसकृत्त्वेन एकमविच्छिन्नं मनः सम्पादयति। पृथक्सादने तु दोषविशेषमाह—यन्नाना सादयेदिति। सैषा दशमीष्टका त्रिवृत्। स्पष्टार्थमन्यत्।

अध्यात्मपक्षे अयं परमेश्वराभिन्नः प्रत्यगात्मा दक्षिणा दक्षिणस्यां दिशि विश्वकर्मा हिरण्यगर्भरूपो वायुः। शेषं पूर्ववदूह्यम्। प्रजापतिगृहीतया त्वया बुद्ध्या अहं प्रजाभ्यो मनो मनसो मनः परमात्मानं गृह्णामि।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, यथा दक्षिणा दक्षिणतोऽयं विश्वकर्मा वायुरिवास्ति, तस्य वैश्वकर्मणं मनो यस्माद् विश्वानि कर्माणि निर्वृत्तानि भवन्ति, तद् मानसो मनस ऊष्मेव वर्तमानो ग्रीष्मो यो रसान् ग्रसते सः। ग्रैष्मी ग्रीष्मर्तुव्याख्यात्री ऋक्। त्रिष्टुप् छन्दः। त्रिष्टुभश्छन्दसः स्वारं तापाज्जातं तेजः, स्वाराद् अन्तर्यामोऽन्तर्मध्ये यामाः प्रहरा यस्मिन् समये सः। अन्तर्यामात् पञ्चदशः पञ्चदशानां तिथीनां पूरकः स्तोमः। पञ्चदशाद् बृहद् महान्। भरद्वाजो वाजोऽन्नं विज्ञानं वा बिभर्ति येन श्रोत्रेण तत्। ऋषिर्विज्ञापकः प्रजापतिगृहीतया विद्यया त्वया सह राजा प्रजाभ्यो मनो गृह्णातीति विज्ञानयुक्तं चित्तं गृह्णाति, तथा त्वया साकमहं विश्वस्माद्विज्ञानं गृह्णामि' इति, तदपि निरर्थकप्रतारणमात्रम्, विशृङ्खलत्वात्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वाच्च। विश्वकर्मपदस्य वाय्वर्थकत्वे तद्विद्वानिति कथमर्थः ? स च दक्षिणदेशादेव किमर्थं चलति ? वेदे तद्वर्णनस्य किं प्रयोजनम् ? मनस ऊष्मा कीदृशः ? तस्यास्पर्शवत्त्वेन तदयोगात्। ततश्च ग्रीष्मर्तुः कथं जायते ? त्रिष्टुभा कया रीत्या ग्रीष्मर्तु-व्याख्यानं भवति ? कथं च तस्मात् तापजं तेजः ? कथं च ततः पौर्णमासी भवति ? कथं च ततः श्रोत्रमिति सामाजिका विचारयन्तु॥ ५५ ॥

अ॒यं प॒श्चाद्वि॒श्वव्य॑चा॒स्तस्य॒ चक्षु॑र्वैश्वव्यच॒सं व॒र्षाश्चा॑क्षु॒ष्यो॒ जग॑ती वा॒र्षी जग॑त्या॒ ऋक्स॑म॒मृक्स॑मा॒च्छु॒क्रः शु॒क्रात् स॑प्तद॒शः स॑प्तद॒शाद्वै॑रू॒पं ज॒मद॑ग्नि॒र्ऋषिः॑ प्र॒जाप॑तिगृहीतया॒ त्वया॒ चक्षु॑र्गृह्णामि प्र॒जाभ्यः॑ ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ—यह पश्चिमगामी नेत्र ऋतु से उत्पन्न है, ऋतु चक्षु से प्रकट होती है, जगती छन्द वर्षा ऋतु से प्रकट होता है, जगती छन्द से ऋक्साम, ऋक्साम से शुक्र ग्रह, शुक्र ग्रह से सप्तदश स्तोम, सप्तदश स्तोम से वैरूप पृष्ठ और वैरूप पृष्ठ से चक्षु रूप जमदग्नि ऋषि प्रकट होते हैं। हे इष्टके, तुम प्रजापति द्वारा सादर गृहीत हो। तुमको मैं प्रजा के निमित्त चक्षु इन्द्रिय के रूप में ग्रहण करता हूँ ॥ ५६ ॥

अयं पश्चादित्यादिमन्त्रैर्द्वितीयं दशकमुत्तरश्रोणेरारभ्योपदधाति । अयं प्रसिद्धः पश्चात् प्रतीचीं दिशमञ्चति गच्छतीति पश्चात् प्रतीचीगमनशीलः । विश्वव्यचा विश्वं सर्वं विचति व्याप्नोतीति विश्वव्यचाः प्रजापतिः । अथवा विश्वं विचति उदितः सन् प्रकाशयतीति विश्वव्यचा आदित्यः । तद्रूपां त्वां सादयामि । तस्यादित्यस्य सम्बन्धि चक्षुः । अत एव वैश्वव्यचसं विश्वव्यचसो रवेरुत्पन्नं तद्रूपां सादयामि । चाक्षुष्यः चक्षुष उत्पन्ना वर्षा ऋतुस्तद्रूपां सादयामि । वर्षाभ्य उत्पन्नं जगती च्छन्दस्तद्रूपां सादयामि । जगतीच्छन्दस उत्पन्नम् ऋक्समसंज्ञं साम तद्रूपां सादयामि । ऋक्समादुत्पन्नो यः शुक्रग्रहस्तद्रूपां सादयामि । शुक्रादुत्पन्नो यः सप्तदशः स्तोमस्तद्रूपां त्वां सादयामि । सप्तदशात् स्तोमादुत्पन्नं यद् वैरूपं पृष्ठं तद्रूपां सादयामि । जमदग्निः, जमति जगत्पश्यतीति जमत्, अङ्गति सर्वत्र कुटिलमूर्ध्वं गच्छतीत्यग्निः, जमच्चासावग्निश्चेति । ऋषिः ऋषति जानातीति ऋषिः । ईदृशं यच्चक्षुस्तद्रूपां सादयामि । प्रजापतिसृष्टया त्वयेष्टकया प्रजार्थं चक्षुर्गृह्णामीति दशमन्त्रैश्चक्षुरेव गृह्णाति ।

एतदेवाह ब्राह्मणम्—'अथ पश्चात् । अयं पश्चाद्विश्वव्यचा इत्यसौ वा आदित्यो विश्वव्यचा यदा ह्येवैष उदेत्यथेदᳩं सर्वं व्यचो भवति तद्यत्तमाह पश्चादिति तस्मादेतं प्रत्यञ्चमेव यन्तं पश्यन्ति चक्षुर्ह्यादित्यो भूत्वा पश्चात्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।१।२।१)। अथ प्रतीच्यां दिश्युपधेयानां प्राणभृतां दशकस्य दश मन्त्रान् दर्शयन् क्रमेण व्याचष्टे—अथ पश्चादिति । 'अयं पश्चाद्विश्वव्यचाः' इति प्रथमो मन्त्रः । पश्चाद् अपरस्मिन्निति पश्चात् । 'पश्चात्' (पा० सू० ५।३।३२) इति सूत्रेण अपरशब्दस्य पश्चभावोऽस्तात्यर्थे आतिश्च प्रत्ययो निपात्यते । प्रतीच्यां दिशीति तदर्थः । व्यचतिर्व्याप्तिकर्मा विश्वं व्यचति व्याप्नोतीति विश्वव्यचाः । असौ द्युलोकस्थ आदित्यः । एतदेवाह—यदा ह्येवैष इति । यस्मिन् काले एष सूर्य उदेत्यथानन्तरमेवेदं सर्वं व्यचो व्यापनं भवति । तस्मादसौ विश्वव्यचा इत्यर्थः । तद्यत्तमाहेति । तमादित्यं पश्चादिति प्रत्यग्दिग्वाचिना शब्देन यद् यस्मात् प्रतिपादयति, तस्मादेव प्रतीचीदिक्सम्बन्धकारणादेतमादित्यं प्रत्यञ्चं प्रत्यङ्मुखमेव यन्तं गच्छन्तं पश्यन्ति जनाः । सर्वप्राणिनां चक्षुरेव ह्यादित्यो भूत्वा पश्चात् प्रत्यङ्मुखस्तस्थौ । तदेव चक्षुरात्मकमेव तदादित्यात्मकं रूपमुपहितवान् भवतीत्यर्थः । 'तस्य चक्षुर्वैश्वव्यचसमिति । चक्षुस्तस्माद्रूपादादित्यान्निरमिमीत वर्षाश्चाक्षुष्य इति वर्षाऋतुं चक्षुषो निरमिमीत जगती वार्षीति जगतीं छन्दो वर्षाभ्य ऋतोर्निरमिमीत जगत्या ऋक्सममिति जगत्यै छन्दस ऋक्समᳩं साम निरमिमीतर्क्समाच्छुक्र इत्यृक्समात् साम्नः शुक्रं ग्रहं निरमिमीत शुक्रात् सप्तदश इति शुक्राद् ग्रहात् सप्तदशᳩं स्तोमं निरमिमीत सप्तदशाद्वैरूपमिति सप्तदशात् स्तोमाद्वैरूपं पृष्ठं निरमिमीत' (श० ८।१।२।२) । तस्य चक्षुर्वैश्वव्यचसमिति द्वितीयो मन्त्रः । विश्वव्यचसो जातं वैश्वव्यचसम् । अनेन मन्त्रेण तस्मादादित्यरूपात् कारणात् चक्षुर्निर्मितवान्, प्रजापतिरिति शेषः । वर्षा ऋतुश्चाक्षुष्यः, तस्माच्चक्षुषः सृष्टाः । 'अप्सुमनःसिकतासमावर्षाणाम्' (लिङ्गानुशासनम् १।२९) इति स्मरणान्नियतबहुत्वेन एकस्मिन्नपि बहुत्वम् । वर्षाख्यमृतुं चक्षुषो निर्मितवान् । जगतीं छन्दो वर्षाभ्यः ऋतोर्निर्मितवान् । वर्षाभ्यो जाता वार्षी । जगत्या ऋक्सममिति । यत्साम ऋचा समं समाप्यते न न्यूनाधिकभावेन, तत् ऋक्समं साम जगतीच्छन्दसः सकाशात् सृष्टम् । तदेवाह—जगत्यै छन्दस इति । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । तस्माद् ऋक्समाख्यात् साम्नः शुक्राख्यः सोमग्रहः सृष्टः । सप्तदश इति । सप्तदशभिः स्तोत्रियाभिर्निष्पाद्यः स्तोमः सप्तदशः । तस्माच्च वैरूपाख्यं पृष्ठं साम निर्मितम् ।

'जमदग्निर्ऋषिरिति । चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदेनेन जगत्पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वयेति प्रजापतिसृष्टया त्वयेत्येच्चक्षुर्गृह्णामि प्रजाभ्य इति चक्षुः पश्चात् प्रापादयत नानोपदधाति

ये नाना कामाश्चक्षषि तांस्तद्दधाति सकृत् सादयत्येकं तच्चक्षः करोत्यथ यन्नाना सादयेच्चक्षुर्ह विच्छिन्द्यात् सैषा त्रिवृदिष्टका तस्योक्तो बन्धुः' (श० ८।१।२।३)। जमदग्निर्ऋषिरिति नवमो मन्त्रः। तद् व्याचष्टे—चक्षुर्वा इति। एनेन चक्षुषा जगद् रूपादिकं पश्यतीति यद् अथो अपि च चक्षुषैव मनुते जानातीति यत् तस्माद् हेतोर्जगन्मनुतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या वर्णलोपेन जमच्चक्षुः प्रकाशत्वादग्निर्दर्शनादृषिश्चेति 'जमदग्निर्ऋषिः' इति वाक्यतात्पर्येण चक्षुरेव प्रतिपाद्यत इत्यर्थः। प्रजापतिगृहीतयेति दशममन्त्रं पूर्ववद् व्याचष्टे—प्रजापतिसृष्टयेत्यादिना। पूर्ववदुपधाने नानात्वं सादने सकृत्त्वं च विधत्ते—नानोपदधातीत्यादिना। एकं तच्चक्षुरिति। एकमविच्छिन्नम्। नानासादने पूर्ववद्दोषमाह–नाना सादयेदिति। विच्छिन्द्याद् विच्छिन्नं प्रशीर्णं वियुक्तं वा कुर्यादित्यर्थः। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववत् सार्वात्म्यविवक्षयैव तानि तानि कार्याणि कारणानि च निरूपितानि। अयमात्मैव जमदग्निर्ऋषिः। चक्षुरप्ययमेव। प्रजापतिगृहीतया त्वया हे बुद्धे, प्रजाभ्यश्चक्षुषश्चक्षुः परमात्मानमेव वा अहं गृह्णामि। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे वरानने, यथायमादित्य इव विद्वान् विश्वव्यचा विश्वं व्यचति प्रकाशेनाभिव्याप्य प्रकटयति, सन् पश्चात् पश्चिमस्यां दिशि वर्तमान आदित्यो वैश्वव्यचसं प्रकाशकं चक्षुर्नयनं चाक्षुष्यश्चक्षुष इमा दर्शनीया वर्षा या मेघा वर्षन्ति ता वर्षा वर्षाणां व्याख्यात्री जगती जगद्गता जगत्या ऋक्समम् ऋचः सनन्ति सम्भजन्ति येन तद् ऋक्समम् ऋक्समात् शुक्रः पराक्रमः शुक्रात् सप्तदशः सप्तदशानां पूरकः सप्तदशाद् वैरूपं विविधानि रूपाणि यस्मात् तस्येदम्। यथा च जमदग्निः प्रज्वलिताग्निर्नयनम् ऋषिरूपप्रापकः प्रजापतिगृहीतया तया सह प्रजाभ्यश्चक्षुर्गृह्णाति, तथाहं त्वया साकं संसाराद् बलं गृह्णामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्। आदित्यो विद्वानित्यपि निर्मूलम्, लक्षणायां बीजाभावात्। पश्चिमदिशि वर्तमानः सूर्यः किमर्थं गृह्यते? न च विद्वान् सूर्यवत् सर्वजगत्प्रकाशको भवति। तस्य चक्षुषा कः सम्बन्धः? वर्षाः कथं चक्षुष्यः? वसन्तादिष्वपि तत्सम्भवात्। कथं च जगती तद्व्याख्यात्री? काचिज्जगती तद्व्याख्यात्री सर्वा वा? आद्यं चेत् का सा? न चान्तिमं सर्वासां तथाऽदर्शनात्। कथं च जगत्या ऋक्सेवनहेतुभूतं विज्ञानमुत्पद्यते? कथं च विज्ञानं तदर्थः? तस्माद् विज्ञानात् कथं पराक्रमोत्पत्तिः? तस्माच्च कथं सप्तदशं विज्ञानम्? कानि च तत्पूर्ववर्तीनि षोडश विज्ञानानि? सर्वथापि निरर्गलमुपेक्षणीयमेवैतद् व्याख्यानम् ॥ ५६ ॥

इदमुत्तरात् स्वस्तस्य श्रोत्रꣳ सौवꣳ शरच्छ्रौत्र्यनुष्टुप् शारद्यनुष्टुभ ऐडमैडान्मन्थी मन्थिन एकविꣳश एकविꣳशाद्वैराजं विश्वामित्र ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया श्रोत्रं गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ—उत्तर दिशा में स्वर्ग स्थित है। श्रोत्र स्वर्ग से सम्बद्ध है। शरद् ऋतु श्रोत्र से उत्पन्न होती है। शरद् ऋतु से अनुष्टुप् छन्द, अनुष्टुप् छन्द से ऐड साम, ऐड साम से मन्थी ग्रह, मन्थी ग्रह से एकविंश स्तोम और एकविंश स्तोम से वैराज साम प्रकट होता है। श्रद्धापूर्वक दूसरों की बात सुनने के कारण श्रोत्र सबका मित्र और ज्ञाता है। हे इष्टके, तुम प्रजापति के द्वारा सादर गृहीत हो, तुम्हारी सहायता से प्रजाओं के निमित्त मैं श्रोत्र इन्द्रिय का ग्रहण करता हूँ ॥ ५७ ॥

दशमन्त्रैश्चतुर्थं दशकमुत्तरांसादारभ्योपदधाति । उत्तराद् उत्तरस्यामित्युत्तरात् । 'उत्तराधरदक्षिणादातिः' (पा० सू० ५।३।३४) इत्यातिप्रत्ययः । स्वः सौति सर्वं जगत् प्रेरयतीति स्वः प्रजापतिः । उत्तरस्यां दिशि यदिदं स्वः प्रजापतिशरीरम्, हे इष्टके ! त्वं तद्रूपासि । अथवा उत्तराद् उत्तरस्यां सर्वस्मादुत्तरभागस्था या दिशः, यदिदं स्वः स्वर्गो लोकस्तां दिक् स्वर्गरूपां त्वां सादयामि । दिग्रूपेण बहुत्वे कथमेकवचनमिति चेन्न, 'क्रियाव्ययविशेषणानां नपुंसकत्वमेकत्वं च' इति वचनं व्याकरणान्तरगं गदाधरेण व्युत्पत्तिवादे कर्मविचार उद्धृतम्, तद्बलात् । तस्य स्वर्गस्य सम्बन्धि श्रोत्रम् । कीदृशं तदित्याह—सौवम् । स्वरिदं सौवम् 'तस्येदम्' (पा० सू० ४।३।१२०) इत्यण् । 'द्वारादीनां च' (पा० सू० ७।३।४) इत्यैजागमः । अव्ययानां भमात्रे टिलोपाद् रूपसिद्धिः । श्रोत्रादुत्पन्ना या शरत् सा श्रौत्री । तद्रूपां त्वां सादयामि । शरद उत्पन्ना अनुष्टुप् शारदी । अनुष्टुपछन्दोरूपां त्वां सादयामि । अनुष्टुभ उत्पन्नं यद् ऐडं साम तद्रूपां त्वां सादयामि । ऐडात् साम्न उत्पन्नो यो मन्थी ग्रहः, तद्रूपां त्वां सादयामि । मन्थिग्रहादुत्पन्नो य एकविंशः स्तोमः, तद्रूपां त्वां सादयामि । एकविंशात् स्तोमादुत्पन्नं यद् वैराजं पृष्ठं तद्रूपां त्वां सादयामि । विश्वामित्र ऋषिर्विश्वं सर्वं मित्रं येन सः । 'मित्रे चर्षौ' (पा० सू० ६।३।१३०) इति दीर्घः । विश्वामित्रर्षिरूपं यत् श्रोत्रं तद्रूपां त्वां सादयामि । प्रजापतिसृष्टया त्वयेष्टकया प्रजाभ्यः श्रोत्रं गृह्णामि । दशमन्त्रैः श्रोत्रमेव सादयति । ये नाना कामाः श्रोत्रे तांस्तद्दधाति । सकृत् सादयति । एकं श्रोत्रं करोति ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथोत्तरतः । इदमुत्तरात् स्वरिति दिशो वा उत्तरात् तद्यत्ता आहोत्तरादित्युत्तरा ह्यस्मात् सर्वस्माद्दिशोऽथ यत्स्वरित्याह स्वर्गो हि लोको दिशः श्रोत्रꣳ ह दिशो भूत्वोत्तरतस्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।१।२।४) । अथोत्तरस्यां दिश्युपधेयस्य प्राणभृद्दशकस्य मन्त्रदशकं विधाय व्याचष्टे—अथोत्तरत इत्यादिना । 'इदमुत्तरात् स्वः' इति प्रथमो मन्त्रः । उत्तरादिति पदस्य विवक्षितमर्थमाह—दिशो वा उत्तरादिति । एतदेव विवृणोति—तद्यदिति । तत् तत्र ता दिश उत्तरादिति शब्देन आह, तत्कारणमुच्यत इति शेषः । हि यस्माद् अस्माद् दृश्यमानात् स्थावरजङ्गमात्मकात् सर्वस्माज्जगतो दिशः प्राच्याद्या उत्तरा उत्कृष्टतराः, उत्तरभागे वर्तमाना वा, अतो हेतोरुत्तरादिति पदेन दिशः प्रतिपाद्यन्त इत्यर्थः । दिशां स्वर्गलोकात्मकत्वात् 'स्वः' इति पदेनापि दिश एवोच्यन्त इत्याह—अथ यत् स्वरिति । श्रोत्रं ह दिश इत्यादि । श्रोत्रं शब्दग्रहणसाधनमिन्द्रियम्, तत्स्वकारणात्मना दिग्रूपत्वं प्राप्य उत्तरत उत्तरस्यां दिशि तस्थौ । तद्रूपमिति । स्वकारणात्मकमेव दिगात्मकमेव रूपमुपहितवान् भवतीत्यर्थः । 'तस्य श्रोत्रꣳ सौवमिति । श्रोत्रं तस्माद्रूपाद्दिग्भ्यो निरमिमीत शरच्छ्रौत्रीति शरदमृतुꣳ श्रोत्राग्निरमिमीतानुष्टुप् शारदीत्यनुष्टुभं छन्दः शरद ऋतोर्निरमिमीतानुष्टुभ ऐडमित्यनुष्टुभश्छन्दस ऐडꣳ साम निरमिमीतैडान्मन्थीत्यैडात् साम्नो मन्थिनं ग्रहं निरमिमीत मन्थिन एकविꣳश इति मन्थिनो ग्रहादेकविꣳशꣳ स्तोमं निरमिमीतैकविꣳशाद्वैराजमित्येकविꣳशात् स्तोमाद्वैराजं पृष्ठं निरमिमीत' (श० ८।१।२।५) । तस्य श्रोत्रꣳ सौवमिति द्वितीयो मन्त्रः । दिगात्मकात् स्वर्गलोकाज्जातं श्रोत्रं सौवम् । तस्मात् स्वर्शब्दाभिधेयाद् रूपात् श्रोत्रेन्द्रियं दिग्भ्यः सकाशाद् निर्मितवानित्यर्थः । श्रोत्रादुत्पन्ना शरच्छ्रौत्री । तस्याः शरदः सकाशादुत्पन्ना अनुष्टुप् शारदी । तथाविधादनुष्टुप्छन्दस ऐडं साम उत्पन्नम् । इडाशब्दोऽन्ते विद्यते यस्य तद् ऐडं साम । तस्माच्च ऐडात् साम्नो मन्थिसंज्ञः सोमग्रहो निर्मितः । तस्मान्मन्थिग्रहाद् एकविंशाख्यः स्तोमः, तस्माच्च वैराजाख्यं पृष्ठं साम निर्मितम् । एतावदत्र प्रतिपाद्यम् । अक्षरयोजना पूर्ववत् । 'विश्वामित्र ऋषिरिति । श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिर्यदेनेन सर्वतः शृणोत्यथो यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति तस्माच्छ्रोत्रं विश्वामित्र ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वयेति प्रजापतिसृष्टया त्वयेत्येतच्छ्रोत्रं गृह्णामि प्रजाभ्य इति श्रोत्रमुत्तरतः प्रापादयत नानोपदधाति ये नाना कामाः श्रोत्रे तांस्तद्दधाति सकृत् सादय-

तच्छोत्रं करोत्यथ यन्नाना सादयेच्छ्रोत्रᳬ्ँ ह विच्छिन्द्यात् सैषा त्रिवृदिष्टका तस्योक्तो बन्धुः' (श०८।१।२।६)। श्रोत्रं वा इत्यादि। विश्वं सर्वं मित्रमनेन भवतीति विश्वस्य मित्रहेतुत्वाद् दर्शनसाधनत्वाच्च श्रोत्रं खलु विश्वामित्राख्य ऋषिरित्यर्थः। उक्तमेवार्थमाविष्करोति—यदेनेनेति। अथो यदस्या इति व्युत्पत्त्यन्तरप्रदर्शनम्। अथो इति पक्षान्तरे। अस्मै शृण्वते जनाय यद् यस्मात् सर्वतः सर्वासु दिक्षु मित्रं भवति सम्पद्यते, तस्माद्विश्वामित्र इत्यर्थः। श्रोत्रस्य विच्छेदो बाधिर्यम्।

अध्यात्मपक्षे—इदमुत्तरादित्यत्र पूर्वस्मान्मन्त्रादयमिति पदमनुवर्तनीयम्। सर्वस्मादुत्तरभागस्थाया दिशो यदिदं स्वं स्वर्गलोकः सा दिक् स्वर्गरूपा, अधिष्ठानसत्तातिरिक्तायाः कल्पितसत्ताया अभावात्। हे प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परमात्मन्, त्वं दिक्स्वरूपस्वर्गरूपोऽसि। एवं पूर्वोक्तेषु सार्वात्म्यबोधकेषु मन्त्रेषु सम्बोधनादिकमपि। तस्य स्वर्गस्य सम्बन्धि सौवश्रोत्ररूपोऽसि, श्रोत्रादुत्पन्नशरद्रूपोऽसि। तद्रूपां त्वां चिन्तयामीति शेषः। हे बुद्धे, प्रजापतिसृष्टया अनुगृहीतया प्रजाभ्यो हितार्थं श्रोत्रं गृह्णामि। प्रजानां श्रोत्रसिद्धये त्वां चिन्तयामीति पूर्ववत्। यद्वा श्रोत्रस्य श्रोत्रं परमात्मानं गृह्णामि ॥ ५७ ॥

इयमुपरि मतिस्तस्यै वाङ्मात्या हैमन्तो वाच्यः पङ्क्तिर्हैमन्ती पङ्क्त्यै निधनवन्निधनवत आग्रयण आग्रयणात् त्रिणवत्रयस्त्रिᳬ्ँशौ त्रिणवत्रयस्त्रिᳬ्ँशाभ्याᳬ्ँ शाक्वररैवते विश्वकर्म ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया वाचं गृह्णामि प्रजाभ्यो लोकं ता इन्द्रम् ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ—सबसे ऊपर विराजमान चन्द्र यह वाणी है। वाणी उस चन्द्ररूप मति से उत्पन्न है। वाणी से हेमन्त ऋतु, हेमन्त से पंक्ति छन्द, पंक्ति छन्द से निधन साम, निधन साम से आग्रयण ग्रह, आग्रयण ग्रह से त्रिणव और त्रयस्त्रिंश नामक दो साम एवं इन दो सामों से शाक्वर और रैवत नामक दो पृष्ठस्तोम प्रकट होते हैं। वाणी सम्पूर्ण संसार की रचना करने वाली है। हे इष्टके, तुम प्रजापति के द्वारा सादर गृहीत हो, तुम्हारी सहायता से प्रजाओं की नीरोगता की प्राप्ति के निमित्त इन दस मन्त्रों से मैं वाणी को ग्रहण करता हूँ ॥ ५८ ॥

'लोकम्पृणा दक्षिणाᳬ्ँसादध्यामध्यात् प्रदक्षिणमानुकान्तात् पूर्वस्मात्। (का० श्रौ० १७।६।५)। आत्मनो दक्षिणकोणादारभ्य आमध्यादधि स्वयमातृण्णापर्यन्तं लोकम्पृणा उपदध्यात्। तासां लोकम्पृणेत्यभिमन्त्रणम्। ता अस्येति सूददोहःसंज्ञकमन्त्रेणाधिवदनं स्पृष्ट्वा पठनमिति सूत्रार्थः। 'मध्ये पुरीषं निवपति पूर्ववत्' (का० श्रौ० १७।६।९)। आत्मनो मध्ये स्वयमातृण्णाया उपरि पूर्ववत् 'इन्द्रं विश्वा' (वा० सं० १२।५७) इति मन्त्रेण चात्वालात् पुरीषमादाय निवपेद् मध्ये राशिं कुर्यादिति सूत्रार्थः। तिस्र ऋचः प्रतीकोक्ताः 'लोकं पृण' (वा० सं० १२।५४), 'ता अस्य' (वा० सं० १२।५५), 'इन्द्रं विश्वा' (वा० सं० १२।५६) पूर्वमुक्त्वा निवपेदिति। दशमन्त्रैः पञ्चमं दशकं रेतःसिग्भ्यामुत्तरां प्रथमां कृत्वा प्रादक्षिण्येनोपधेयम्। उपरि ऊर्ध्वदेशस्थश्चन्द्रः, इयं मतिर्वाक्। मन्यते ज्ञायते यया सा मतिः। वागेव चन्द्रो भूत्वा उपरि तिष्ठति, तद्रूपां त्वां सादयामि, 'चन्द्रमा वा उपरि' (श० ८।१।२।७) इति श्रुतेः। तस्यै तस्याश्चन्द्ररूपाया मतेरुत्पन्ना, अत एव मात्या, मतेरियं मात्या या वाक् तद्रूपां त्वां सादयामि, 'वाचं तस्माद्रूपाच्चन्द्रमसो निरमिमीत' (श० ८।१।२।८) इति श्रुतेः। वाचोऽपत्यं वाच्यः, वाच उत्पन्नो यो हेमन्तस्तद्रूपां त्वां सादयामि। हेमन्तस्येयं हैमन्ती या पङ्क्तिः, तन्नामकं छन्दः, तद्रूपां त्वां सादयामि। पङ्क्तेरुत्पन्नं यन्निधनवत्संज्ञकं साम तद्रूपां त्वां सादयामि। निधनवतः साम्न उत्पन्नो य आग्रयणो ग्रहस्तद्रूपां त्वां सादयामि। आग्रयणादुत्पन्नौ यौ त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ द्वौ

स्तोमौ तद्रूपां त्वां सादयामि। त्रिणवत्रयस्त्रिंशाभ्यामुत्पन्ने ये द्वे शाक्वररैवते पृष्ठे तद्रूपां त्वां सादयामि। विश्वकर्मा विश्वं सर्वं करोति योऽसौ विश्वकर्मा ऋषिर्वागेव। वाचा हि सर्वं कुरुते, तद्रूपां त्वां सादयामि। प्रजापतिसृष्टया त्वयेष्टकया प्रजाभ्यो वाचं गृह्णामि। एभिर्दशमन्त्रैर्वाचमेव गृह्णाति।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ मध्ये। इयमुपरि मतिरिति चन्द्रमा वा उपरि तद्यत्तमाहोपरीत्युपरि हि चन्द्रमा अथ यन्मतिरित्याह वाग्वै मतिर्वाचा हीदꣳ सर्वं मनुते वाग्घ चन्द्रमा भूत्वोपरिष्टात् तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।१।२।७)। मध्यभाग उपधेयस्य प्राणभृद्दशकस्य दशमन्त्रान् प्रदर्शयन् व्याचष्टे—अथ मध्य इति। अथ चतसृषु दिक्षूपधानान्तरमग्निक्षेत्रस्य मध्यभागे दश प्राणभृत उपदध्यादित्यर्थः। तत्र 'इयमुपरि मतिः' इति प्रथमो मन्त्रः। उपरिशब्दस्य विवक्षितमर्थमाह—चन्द्रमा वा उपरीति। प्रतिज्ञातमर्थमुपपादयति—तद्यदिति। तं चन्द्रमसमुपरीत्यूर्ध्ववाचिना शब्देन यस्मात्कारणादाह तत्कारणमुच्यत इत्यर्थः। उपरि हीति। यस्मादुपरिष्टाद्दिश्याकाशे चन्द्रमा दृश्यते, तस्मात् तं सोममुपरि दिक्सम्बन्धादुपरीत्युच्यत इत्यर्थः। मतिः शब्दो ज्ञाने। मनुते जानाति हि यस्मादेवं तस्मान्मननसाधनत्वाद् वागिन्द्रियं चन्द्रमा भूत्वा चन्द्ररूपतां प्राप्य उपरिष्टादूर्ध्वदिशि तस्थौ। अतस्तदेव वागात्मकं रूपमुपहितवान् भवतीत्यर्थः।

'तस्यै वाङ् मात्येति। वाचं तस्माद्रूपाच्चन्द्रमसो निरमिमीत हेमन्तो वाच्य इति हेमन्तमृतुं वाचो निरमिमीत पङ्क्तिर्हैमन्तीति पङ्क्तिं छन्दो हेमन्तादृतोर्निरमिमीत पङ्क्त्यै निधनवदिति पङ्क्त्यै छन्दसो निधनवत्साम निरमिमीत निधनवत आग्रयण इति निधनवतः साम्नः आग्रयणं ग्रहं निरमिमीताग्रयणात्त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशावित्याग्रयणाद् ग्रहात्त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ स्तोमौ निरमिमीत त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशाभ्याꣳ शाक्वररैवते इति त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशाभ्याꣳ स्तोमाभ्याꣳ शाक्वररैवते पृष्ठे निरमिमीत' (श० ८।१।२।८)। तस्यै वाङ् मात्येति द्वितीयो मन्त्रः। मतेः सकाशाज्जाता वाग् मात्या। वाचं तस्मादित्यादि। तस्माद् वाक्कारणभूताद् रूपात् चन्द्रमसः सकाशाद् वाचं सृष्टवान् भवतीत्यर्थः। तस्या वाचः सकाशादुत्पन्नो हेमन्तो वाच्यः। तस्माद्धेमन्तादुत्पन्ना हैमन्ती पङ्क्तिः पङ्क्त्याख्यं छन्दः। पङ्क्त्यै पङ्क्त्याः सकाशाद् निधनवत् पञ्चभक्तिकस्य साम्नोऽन्तिमो भागो निधनम्, 'विश्वं समन्त्रिणं दहा' इत्यादि, तद्युक्तं साम निधनवत्, तदुत्पन्नमित्यर्थः। तस्माच्च निधनवतः सकाशाद् आग्रयणाख्यः सोमग्रहो जातः। तस्माद् आग्रयणात् त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ जातौ। त्रिरावृत्तस्तोत्रियानवकेन निष्पाद्यः स्तोमस्त्रिणवः। त्रयस्त्रिंशता स्तोत्रियाभिर्निष्पाद्यस्त्रयस्त्रिंशः। 'स्तोमे डविधिः' (पा० सू० ५।१।५८ वा० २) इति वार्त्तिककृत्स्मृतेः स्तोमवाचिनः पञ्चदशसप्तदशादयः शब्दा डप्रत्ययान्ताः। ताभ्यां त्रिणवत्रयस्त्रिंशाभ्यां सकाशात् शाक्वररैवताख्ये पृष्ठसामनी निष्पन्ने। 'विश्वकर्म ऋषिरिति। वाग्वै विश्वकर्मर्षिर्वाचा हीदꣳ सर्वं कृतं तस्माद्वाग्विश्वकर्मर्षिः प्रजापतिगृहीतया त्वयेति प्रजापतिसृष्टया त्वयेत्येतद्वाचं गृह्णामि प्रजाभ्य इति वाचमुपरिष्टात् प्रापादयत नानोपदधाति ते नाना कामा वाचि तांस्तद्दधाति सकृत्सादयत्येकां तद्वाचं करोत्यथ यन्नाना सादयेद्वाचꣳ ह विच्छिन्द्यात् सैषा त्रिवृदिष्टका तस्योक्तो बन्धुः' (श० ८ १।२ ९)। विश्वकर्मर्षिरिति मन्त्रस्य पूर्ववदिन्द्रियपरतामाह—वाग्वा इति। एतदुपपादयति—वाचा हीदमिति। वागिन्द्रियेण खलु कारणेन इदं सर्वं जगत् प्रजापतिना कृतम्। अत एव करणीयस्य वाक्पूर्वकत्वमन्यत्राम्नातम्—'यद्वै मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति' इति। विश्वं क्रियतेऽनयेति व्युत्पत्त्या वागेव विश्वकर्मा सैव दर्शनादृषिश्च। अन्यन्निगदव्याख्यातम्। प्रजापतिर्वाचं सृष्ट्वा ऊर्ध्वायां दिशि तां प्रावेशयत्।

पूर्वं व्याख्यातास्वनन्तरासु पञ्चसु कण्डिकासु प्राणमनश्चक्षुःश्रोत्रवाचां प्रजाभ्यो ग्रहणमित्यस्य चतुर्थीपञ्चमीभेदेन अर्थद्वयं प्रत्येतव्यम्। चतुर्थीपक्षे प्रजार्थं प्राणादीनां ग्रहणम्, पञ्चाशदिष्टकास्थापनेन प्रजानां

यजमानापत्यपश्वादीनां प्राणादयः पुष्टा भवन्तीत्यर्थः। पञ्चमीपक्षे प्रजाभ्यो नानालोकेभ्यः सकाशात् प्राणादीन् गृह्णामि मद्वशगान् करोमीति प्राणभृतामुपधानेन सर्वाः प्रजा मद्वशगा भवन्त्वित्यर्थ इति महीधराचार्याः। अत्र एकैकस्मिन् मन्त्रे प्रजापतिरिन्द्रियमृतुश्छन्दःसामविशेषग्रहस्तोमपृष्ठस्तोत्रसामऋष्यादीनां पदार्थानां यद्यपि लोकप्रसिद्धो जन्यजनकभावो नास्ति, तथापि मन्त्रार्थत्वेन मनसा भावयितुमिदमुक्तमित्यविरोधः। इत्थं पञ्चाशत्संख्याकैर्मन्त्रैर्यावन्तोऽर्था उक्ता एतदात्मकं खलु तदन्नं यत्प्राणभृदाख्यमन्नं सृष्टयादौ प्राणाश्च प्रजापतिश्च सह मिलिताः सृष्टवन्त इति। एतद्वै तदन्नं यत्प्राणाश्च प्रजापतिश्चासृजन्त। एतदेव 'एतावान् वै सर्वो यज्ञो यज्ञ उ एव देवानामन्नम्' (श० ८।१।२।१०) इति श्रुतौ प्रतिपाद्यते। अग्नि-प्राण-वसन्त-गायत्र्यादयो यावन्तोऽर्था अनुक्रान्ता एतावानेव सर्वो यज्ञः, सर्वेषां यज्ञसाधनानां कालछन्दःसामग्रहस्तोमपृष्ठादीनामेतन्मन्त्रेष्वन्तर्भूतत्वात्। तादृशश्च यज्ञो देवानामन्नम् उपजीवनीयो जीवनोपायः। अतस्तन्मन्त्रोपहितानां प्राणभृतामन्नरूपत्वं युक्तमेव। ताः प्राणभृतः प्रतिदिशं दशदशोपधीयन्ते। दशाक्षरा विराडिति दशसंख्यायोगाद् विराड्रूपता सम्पद्यते। लोके भुज्यमानं सर्वमन्नं विराडात्मकम्, अतोऽस्मिन् चित्येऽग्नौ सर्वमेवान्नजातं कृत्स्नं निरवशेषमेव प्राणभृदुपधानेन स्थापितवान् भवतीति। सर्वासु दिक्षूपधानेन सर्वत एवास्मिन्नेतत्कृत्स्नमन्नं दधाति (श० ८।१।२।११)। मनश्चक्षुरादिप्राणानां धारणादासां प्राणभृदित्यन्वर्थसंज्ञा सम्पन्ना। ननु 'अयं पुरो भुवः' (वा० सं० १३।५४) इत्यादिभिर्विभक्तैः पञ्चाशता मन्त्रैः पञ्चाशदिष्टका उपधेयाः। अस्मिन् पक्षे कथं पञ्चाशदिष्टकाः प्राजापत्या उपहिता भवन्ति। प्रजापतिगृहीतया इत्येकस्मिन्नेव मन्त्रे प्रजापतिनामनिर्देशादिति चेन्न, 'कथमस्यैताः सर्वाः प्राजापत्या भवन्तीति यदेव सर्वास्वाह प्रजापतिगृहीतया त्वयेत्येवमु हास्यैताः सर्वाः प्राजापत्या भवन्ति' (श० ८।१।३।२) इति श्रुत्या समाहितत्वात्। अस्या व्याख्यानेन सर्वं स्पष्टमतो व्याख्यायते। अस्याग्नेः सम्बन्धिन्य एताः पञ्चाशदिष्टकाः सर्वाः कथं प्राजापत्याः प्रजापतिदेवताका उपहिता भवन्तीति प्रश्नः। तस्मिन् पक्षे एकस्मिन्नेव हि मन्त्रे प्रजापतिगृहीतया इति पदं न सर्वत्र। अतः सर्वासां प्राजापत्यता न सम्भवतीति। अस्योत्तरमाह— यदेव सर्वास्वाहेति। यस्मादेव कारणात् सर्वास्वपि पञ्चाशदिष्टकासु यत् प्रजापतिगृहीतयेत्याह, अनेनैव खलु एताः प्राणभृतः सर्वाः प्राजापत्या भवन्ति।

अयमभिसन्धिः—यत् 'अयं पुरः' इत्यादीनां विभक्तानां मन्त्राणां प्रयोग एव न सम्भवति, अपरिसमाप्तार्थत्वात्। अयं पुर इत्यारभ्य प्रजाभ्य इत्यन्तेन वाक्येन ह्येकोऽर्थः परिसमाप्यते। एकार्थावच्छेदकत्वादेको मन्त्र इति प्रतीष्टकं सङ्ग एवावर्तनीयः। अतः सर्वास्वपीष्टकासु प्रजापतिगृहीतयेत्येतत् प्रजापतिशब्दसम्बन्धो भविष्यतीति सर्वासां प्राजापत्यतासिद्धिरिति। ननु प्रथमं ग्रहग्रहणं तदनु स्तोत्रं तदनु शस्त्रमित्येवमनुष्ठानक्रमो भवति, अत्र च गायत्रादिसामानि वैपरीत्येनोक्तानीति क्रमभङ्ग इति चेन्न, 'प्रतिपदा ग्रहो गृह्यत ऋचि साम गीयते' (श० ८।१।३।३) इत्यादिश्रुतौ तत्समाधानात्। प्रतिपद्यते ज्ञायते देवतास्वरूपमनयेति प्रतिपत्, तया खलु ऋचा प्रथममैन्द्रवायवादिग्रहो गृह्यते, ततः सामाधारभूतायाम् ऋचि साम गीयते, तत् तस्मात् साम्न ऋगाश्रितत्वाद् ऋचश्च प्रतिपद्रूपत्वाद् ग्रहग्रहणात् पूर्वभावित्वाद् ऋचां गायत्रीत्रिष्टुबादीनां साम्नां गायत्रसामादीनां चोपांश्वादिग्रहेभ्यः पूर्वमुपधानमुत्पत्तिक्रमानुरोधाद् युक्तमेव। प्रयोगक्रमानुसारेणाप्युपांश्वादिग्रहाणामुपरिष्टाद् उत्तरकाले उपांशोस्त्रिवृत् त्रिवृतो रथन्तरमित्यादिना त्रिवृदादीन् स्तोमान् रथन्तरादीनि पृष्ठसामानि चोपदधाति, अतो न क्रमभङ्गः।

अध्यात्मपक्षे—हे ब्रह्मन्, येयं वाग्रूपा मतिश्चन्द्रो भूत्वा ऊर्ध्वायां दिश्याकाशे तिष्ठति, त्वं तद्रूपमसि। या मतेरुत्पन्ना मात्या वाक् त्वं तद्रूपमसि। विश्वकर्म ऋष्यात्मकवाग्रूपमसि। हे बुद्धे, प्रजापतिसृष्ट्या त्वया

प्रजाभ्यः प्रजाहितार्थं वाचं वाचो ह वाचं परमात्मानं गृह्णामि चिन्तयामि। एवमन्यान्यपि प्रश्नोत्तराणि शतपथ-श्रुतौ स्पष्टानीति तत्रैव कणेहत्यालोचनीयानि।

दयानन्दस्तु –'हे विदुषि पत्नि, य इयमुपरि सर्वोपरि विराजमाना मतिः प्रज्ञा, तस्यै तस्या मात्या मतेर्भावः कर्म वा, वाग् वक्ति यया सा, वाच्यो वाचो भावः कर्म वा। हेमन्तो हन्ति उष्णतां येन सः। हैमन्ती हेम्नो व्याख्यात्री, पङ्क्तिश्छन्दः, पङ्क्त्या निधनवद् निधनं प्रशस्तं मृत्युव्याख्यानं विद्यते यस्मिंस्तत् साम। निधनवत आग्रयणः, अङ्गति प्राप्नोति येन तस्यायम्। आग्रयणात् त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ ताभ्यां शाक्वररैवतौ शक्तिधनप्रतिपादके विदित्वा विश्वकर्मर्षिर्वर्तते, तथाहं प्रजापतिगृहीतया त्वया सह प्रजाभ्यो वाचं विद्यासुशिक्षा-न्वितां वाणीं गृह्णामि' इति, एतदपि सर्वथा वैदिकवृत्तान्तानभिज्ञस्यैव शोभते, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। द्वादश-त्रयस्त्रिंश-साम-स्तोत्राणि कानि? किम्प्रमाणकानीत्यस्य वक्तुमशक्यत्वात्। ताण्ड्यादिब्राह्मणेषु स्तोमस्वरूपभेदा उक्ताः। तानविज्ञायैवायं यत्किञ्चित् प्रलपति। पाञ्चभक्तिकसाम्नोऽन्तिमभागस्य संज्ञा निधनमिति छान्दोग्योपनिषदादिभिर्ज्ञातुं शक्यते। शाक्वररैवतादिसामभेदमपि न जानात्ययं वराकः। कथं च पञ्चमीबोधितः कार्यकारणभावोऽत्रेति? प्रशस्तं मृत्युव्याख्यानं कस्मिन् साम्नि विद्यते? यथा कश्चन व्याघ्रशब्दस्य विशेषेण आसमन्ताद् जिघ्रतीति व्युत्पत्तिमभिप्रेत्य व्याघ्रमभिगच्छन् मृत्युमुपेयात्, तथैवास्य व्याख्यानम्। 'लोकं ता इन्द्रम्' इति पाठोऽस्यां कण्डिकायाम्। परम्पराप्राप्तत्वात्, कात्यायनसम्मतत्वाच्च स प्रामाणिक एव। सर्वथापि प्रमाणविधुरं दयानन्दीयं व्याख्यानम्॥ ५८॥

इति वेदार्थपारिजाते त्रयोदशोऽध्यायः।

चतुर्दशोऽध्यायः

ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवासि ध्रुवं योनिमासीद साधुया ।
उख्यस्य केतुं प्रथमं जुषाणाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! तुम स्थिर निवास वाली, अचल कारण वाली, उख्य अग्नि के पहले प्रथम चितिरूप स्थान को सेवन करती हुई स्थिर बनो । रेतःसिग्वेला नामक श्रेष्ठ स्थान पर बैठो । देवताओं के अध्वर्यु अश्विनीकुमार तुम्हें इस स्थान पर स्थापित करें ॥ १ ॥

पूर्वस्मिन्नध्याये त्रयोदशे प्रथमा भूलोकरूपा चितिरुक्ता, 'अयं वै लोकः प्रथमा चितिः' (श० ८।२।१।१) इति श्रुतेः । चतुर्दशेऽध्याये द्वितीयादिचितित्रयं वक्ष्यते, 'द्वितीयां चितिमुपदधाति' (श० ८।२।१।१) इति श्रुतेः । तस्यां चितौ पञ्चाश्विन्य इष्टकाः । द्वितीयचितिमन्त्रा देवदेवत्याः । 'आश्विनीर्ध्रुवक्षितिरिति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।८।१५) । पञ्चकण्डिकाभिराश्विनीसंज्ञका इष्टका रेतःसिग्वेलायामुपदध्यात् प्रतीष्टकं नित्ये इति सूत्रार्थः । पञ्चाश्विनीदेवत्याः प्रथमा विराट् चतस्रस्त्रिष्टुभो यजुरन्ताः । अश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वेति यजुः । आदित्यास्त्वार्षी त्रिष्टुबेकाधिका पादानियमात् । हे इष्टके, ध्रुवक्षितिर्ध्रुवा स्थिरा क्षितिर्निवासभूमिर्यस्याः सा । यस्यां भूमौ इष्टकावसतिस्तस्या भूमेश्चाञ्चल्याभावात् स्थैर्यमिति ज्ञातव्यम् । ध्रुवयोनिर्ध्रुवा विनाशरहिता योनिरुत्पत्तिहेतुर्मृद्रूपा यस्याः सा ध्रुवयोनिः । हे इष्टके, तादृशी त्वं स्वरूपतो ध्रुवासि, आमकपालादिभिः संयोज्य निर्मितत्वात् । साधुया अस्माभिः साधनीया उपधातव्या त्वं ध्रुवं योनिं स्थिरमग्निक्षेत्ररूपं स्थानम् आसीद आगत्य उपविश । किञ्च, उख्यस्य उखायां स्थितस्याग्नेः केतुं प्रज्ञापकं स्थानं वा प्रथमं द्वितीयायां चितौ मुख्यं स्थानं जुषाणौ सेवमानौ देवानामध्वर्यू उभा अश्विनौ इह अस्मिन्नग्निक्षेत्रे रेतःसिग्वेलायां वा हे इष्टके, त्वां सादयताम् । यद्वा साधुया साधुस्थानम् 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इत्यमो यादेशः । केचिदिदं यजुश्चतुर्थं पादमङ्गीकृत्य त्रिष्टुभमभिप्रयन्ति ।

अत्र ब्राह्मणम्—'द्वितीयां चितिमुपदधाति । एतद्वै देवाः प्रथमां चितिं चित्वा समारोहन्नयं वै लोकः प्रथमा चितिरिममेव तल्लोकꣳ संस्कृत्य समारोहन्' (श० ८।२।१।१) । इत्थं प्रथमचितावुपधेयानां प्राणभृतामुपधानं पुरीषनिवपनान्तं वर्णितम् । तावता प्रथमा चितिः समापिता । अथ द्वितीयस्याश्चितेरुपधानं विधत्ते—द्वितीयां चितिमुपदधातीति । इष्टकानां प्रस्तारश्चितिः । एतस्य द्वितीयचित्युपधानस्य प्रयोजनं प्रथमचितिप्रयोजनप्रतिपादनपूर्वकमुपपादयति—एतद्वै देवा इत्यादिना । एतद् एतर्हि खलु देवा उदीरितरूपां प्रथमां चितिं चित्वा समारोहन् सम्यगारोहणं कृतवन्तः । समारोहणीयमाह—अयं वै लोक इति । स्वयमातृण्णोपधानादौ पूर्वचितेर्भूलोकरूपतोक्ता । तथा च प्रथमचित्यात्मना इममेव भूलोकं संस्कृत्य तस्योपरि देवताः समारोहन् । 'तेऽब्रुवन् । चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवन्नित ऊर्ध्वमिच्छतेति ते चेतयमाना एतां द्वितीयां चितिमपश्यन् यदूर्ध्वं पृथिव्या अर्वाचीनमन्तरिक्षात्तेषामेष लोकोऽध्रुव इवाप्रतिष्ठित इव मनस्यासीत्' (श० ८।२।१।२) । तेऽब्रुवन्नित्यादि व्याख्यातपूर्वम् । इत ऊर्ध्वमिच्छतेति । इतोऽस्मात् प्रथमचितिरूपाद्

भूलोकाद् ऊर्ध्वं लोकमिच्छतेति । एवं परस्परं सम्प्रधार्य चेतयमानाः सन्तानन्तस्ते देवा एतां वक्ष्यमाणां द्वितीयां चितिमपश्यन् । तामेव लोकात्मना विशिनष्टि—यदूर्ध्वमिति । पृथिव्या ऊर्ध्वमुपरिभागः, अन्तरिक्षादर्वाचीनमधोभागः पृथिव्यन्तरिक्षयोर्मध्यवर्ती यो लोकस्तदात्मिका द्वितीया चितिरित्यर्थः । तत्राश्विनीनां प्रथममुपधानं विधित्सुराह—तेषामेष लोक इति । एष उदीरितलक्षणो लोकस्तेषां देवानामप्रतिष्ठित आधाररहित इवासीत् । 'तेऽश्विनावब्रुवन् । युवं वै ब्रह्माणौ भिषजौ स्थो युवं न इमां द्वितीयां चितिमुपधत्तमिति किं नौ ततो भविष्यतीति युवमेव नोऽस्या अग्निचित्याया अध्वर्यू भविष्यथ इति तथेति तेभ्य एतामश्विनौ द्वितीयां चितिमुपाधत्तां तस्मादाहुरश्विनावेव देवानामध्वर्यू इति' (श० ८।३।१।३) । ते देवास्तस्य लोकस्य प्रतिष्ठितत्वाय अश्विनावब्रुवन् । युवं युवां खलु ब्रह्माणौ परिवृढौ भिषजौ स्थः, अतो युवां नोऽस्माकमिमां द्वितीयां चितिमुपधत्तम् उपधानेन सम्पादयतमिति देवानां वचः श्रुत्वा अश्विनावब्रूताम् । ततो द्वितीयचित्युपधानान्नौ आवयोः किं प्रयोजनं भविष्यतीति । नोऽस्माकं सम्बन्धिन्या अस्या अग्निचित्याया युवामेवाध्वर्यू भविष्यथ इति देवानां वाक्यमश्विनावपि तथास्त्वित्यङ्गीकृत्य तेभ्यो देवेभ्य एतां वक्ष्यमाणां द्वितीयां चितिमुपाधत्ताम् उपहितवन्तौ । यस्मादेवमश्विभ्यामाध्वर्यवमाचरितं देवकर्तृकेऽग्निचयने, तस्मादेव कारणाद् अश्विनावेव देवानामध्वर्यू इत्याहुर्ब्रह्मवादिनः ।

'स उपदधाति । ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवाऽसीति यद्वै स्थिरं यत्प्रतिष्ठितं तद् ध्रुवमथ वा एषामेष लोकोऽध्रुव इवाप्रतिष्ठित इव मनस्यासीत्तमेवैतत्स्थिरं ध्रुवं कृत्वा प्रत्यधत्तां ध्रुवं योनिमासीद साधुयेति स्थिरं योनिमासीद साधुयेत्येतदुख्यस्य केतुं प्रथमं जुषाणेत्ययं वा अग्निरुख्यस्तस्यैष प्रथमः केतुर्यत्प्रथमा चितिस्तं जुषाणेत्येतदश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वेत्यश्विनौ ह्यध्वर्यू उपाधत्ताम्' (श० ८।२।१।४) । एवमुपोद्घातत्वेन द्वितीयचित्युपधानेऽश्विकर्तृत्वं प्रतिपाद्य औपोद्घातिकमाश्विनीनामुपधानं समन्त्रकं विधत्ते—स उपदधातीति । स अध्वर्युः प्रथममाश्विनीः पञ्चेष्टका उपदध्यात् । ध्रुवक्षितिरित्याद्यास्तन्मन्त्राः । अत्र प्रथममन्त्रे ध्रुवशब्दं कुर्वन् प्रागुक्तदोषपरिहाररूपं तस्य प्रयोजनमाविष्करोति—यद्वै स्थिरमिति । यत्खलु स्थिरमनश्वरं प्रतिष्ठितं लब्धास्पदं च तदुभयं ध्रुवं ध्रुवशब्दप्रतिपाद्यम् । एषामित्यादि । अथ खल्वेषां प्रागुक्तानां देवानां मनसि पृथिव्यन्तरिक्षमध्यवर्ती लोकोऽस्थिर इव निराधार इव च आसीत् । तमेव लोकमेतदेतेन ध्रुवशब्दोपेतमन्त्रकरणकोपधानेन स्थिरमनश्वरं प्रतिष्ठितं च कृत्वा प्रत्यधत्ताम् अश्विनौ समाहितवन्तौ । द्वितीयपादमनूद्य तत्रापि ध्रुवशब्दस्योक्तार्थपरतामाह—स्थिरं योनिमिति । तृतीयं व्याचष्टे—अयं वा अग्निरुख्य इति । उखायां भवोऽग्निरुख्यः । गर्भरूपेण स्थित उख्योऽग्निरेव शिरःपक्षाद्युपेतचित्याग्निरूपेण स्थितः । तस्य चोख्यस्याग्नेरेष प्रथमः केतुः प्रज्ञापकोऽवयवः, येयं प्रथमा चितिः । तमवयवं जुषाणा सेवमानेत्यर्थः सम्पद्यते । अश्विनाध्वर्यू इत्यादि निगदसिद्धम् ।

मन्त्रार्थस्तु—हे इष्टके, त्वं ध्रुवक्षितिः स्थिरनिवासा, ध्रुवयोनिः स्थिराधारा, ध्रुवा स्थिरस्वरूपा चासि । ध्रुवं स्थिरतरं योनिं प्रथमचितिलक्षणमासीद उपविश । साधुया अस्माभिः साधनीया । उख्यस्य उखायामुत्पन्नस्य चित्याग्नेः केतुं प्रज्ञापकं प्रथमं प्रथमचितिरूपं जुषाणा सेवमाना असि । तादृशीं त्वामध्वर्यू सह सादयतामत्र स्थापयताम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे ब्रह्मात्मज्ञाननिष्ठे, त्वं ध्रुवक्षितिर्निश्चलनिवासा ध्रुवयोनिः स्थिराधारा, स्थिरा बुद्धिरेव तस्या वसतिः । स्थिरं नित्यमपौरुषेयं वेदान्तशास्त्रमेव तस्या योनिः । ध्रुवासि स्थिरस्वरूपासि । ध्रुवं स्थिरतरं योनिं ब्रह्मात्मतत्त्वमभिलक्ष्याभिव्यञ्जिका सती आसीद । साधुया त्वमस्माभिः साधनीयासि, निष्ठाया अभ्यासादि-

प्रयत्नसाध्यत्वात्। उखायां बुद्धौ भवमुख्यं ज्ञानविज्ञानादिकं तस्य केतुं प्रज्ञानं साक्षिणं परमात्मानं सेवमानासि। तादृशीं त्वां ज्ञानयज्ञस्य अध्वर्यू निर्वाहकौ शास्त्राचार्यौ श्रोतृवक्तारौ अध्येत्रध्यापकौ वा सादयेताम्।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, या त्वं साधुया साधुना धर्मेण उख्यस्य उखायां स्थाल्यां भवस्य पाकसमूहस्य प्रथमं विस्तीर्णं केतुं प्रज्ञां जुषाणा प्रीत्या सेवमाना ध्रवक्षितिर्ध्रुवा निश्चला क्षितिर्जनपदो यस्याः सा। ध्रुवयोनिर्ध्रुवा योनिर्गृहं यस्याः सा ध्रुवा निश्चलासि, सा त्वं ध्रवं योनिं गृहमासीद। त्वामिहाध्वर्यू आत्मनोऽध्वरमहिंसनीयं गृहाश्रमादिकं यज्ञमिच्छू अश्विनौ अध्यापकोपदेशकौ सादयताम् अवस्थापयताम् इह गृहाश्रमे त्वां सादयताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्। अध्वर्यूपदस्य 'अध्वरं कामयत इति वा' (निरु० १।८) इति रीत्या यज्ञकामयित्रर्थत्वेऽपि गृहाश्रमस्य यज्ञत्वासिद्ध्या त्वदभिमतार्थासिद्धेः। नह्यहिंसनीयत्वमात्रेण गृहाश्रमस्य यज्ञत्वमुपपद्यते, संन्यासाश्रमस्यापि तथात्वेन तादृशार्थग्रहणे विनिगमनाभावात्। तथात्वेऽपि नाध्यापकोपदेशकयोः स्त्रियो गृहसादयितृत्वम्, अन्यथासिद्धत्वात्। पतिरेव तत्सादयिता भवति। परम्परया कथञ्चित् कारणत्वे त्वन्यथासिद्धत्वमेव। न वा तयोरश्विनोरिव नियतसहभावित्वं सौभ्रात्रत्वं वा, पृथग्व्यापारत्वात्॥ १॥

कुलायिनी घृतवती पुरन्धिः स्योने सीद सदने पृथिव्याः। अभि त्वा रुद्रा वसवो गृणन्त्विमा ब्रह्म पीपिहि सौभगायाश्विनावध्वर्यू सादयतामिह त्वा॥ २॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके! पक्षी के घोंसले के समान आकार वाली, होमे हुए घृत से युक्त, नीचे स्थित प्रथम चिति इष्टकाओं को धारण करने वाली तुम पृथ्वी के सुखदायक स्थान में स्थिर रहो। ग्यारह रुद्र और आठ वसु तुम्हारी स्तुति करें। इन मन्त्रों को ऐश्वर्य के निमित्त वृद्धि दो, यजमान का भाग्योदय हो। अध्वर्यु अश्विनीकुमार इस स्थान में तुमको स्थापित करें॥ २॥

हे इष्टके, त्वं कुलायिनी कुलायं नीडं गृहमस्ति यस्याः सा, 'कुलायो नीडमस्त्रियाम्' (अ० को० २।५।३७) इत्यमरात्। सा हि रेतःसिग्वेलायामिष्टकाभिरुपहिताभिर्गृहाकारा भवति। अत्र इनिः सादृश्यार्थकः। निवासस्थानवती वा। घृतवती भविष्यद्वृत्त्या। होष्यमाणेन आज्येन संयुता। इह हि वसोर्धाराद्या आहुतयो होष्यन्ते। पुरन्धिः पुरमिष्टकासमूहं दधातीति। अथवा पुरु बहुधा धीयते सम्यगवस्थाप्यत इति। तादृशी त्वं पृथिव्याः प्रथमचितिरूपाया भूमेः सम्बन्धिनि स्योने सुखरूपे स्थाने सीद उपविश। किञ्च, सौभगाय ऐश्वर्याय। रुद्रा वसव इत्युपलक्षणं सर्वदेवानाम्। सर्वे देवास्त्वामभिगृणन्तु स्तुवन्तु। इमा इमानि ब्रह्म ब्राह्मणानि मन्त्रात्मकानि पीपिहि आप्यायस्व, प्राप्नुहीति यावत्। ब्रह्मेत्यत्र 'सुपां सुलुक्....' (पा० सू० ७।१।३९) इति सुपो लुक्। 'पीङ् पाने' इति दैवादिकस्य 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७६) इति श्यनः श्लौ 'श्लौ' (पा० सू० ६।१।१०) इति द्वित्वे 'तुगादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।७) इत्यभ्यासदीर्घे पीपिहीति रूपम्। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'कुलायिनी घृतवती पुरन्धिरिति। कुलायमिव वै द्वितीया चितिः स्योने सीद सदने पृथिव्या इति पृथिवी वै प्रथमा चितिस्तस्यै शिवे स्योने सीद सदन इत्येतदभि त्वा रुद्रा वसवो गृणन्त्वित्येतास्त्वां देवता अभिगृणन्त्वित्येतदिमा ब्रह्म पीपिहि सौभगायेतीमा ब्रह्माव सौभगायेत्येतदश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वेत्यश्विनौ ह्यध्वर्यू उपाधत्ताम्' (श० ८।२।१।५)। द्वितीयं मन्त्रं पादशोऽनूद्य व्याचष्टे—कुलायिनीति।

कुलायमिव वा इति। कुलायो नीडम्, तदिव हि द्वितीया चितिर्भवति। यथा वृक्षादेरुपरि नीडमवतिष्ठते, तथा द्वितीयचितेरपि प्रथमचितेरुपर्यवस्थानात् तत्सादृश्यम्। द्वितीयपादे पृथिव्यै इति पदस्यार्थमाह पृथिवी वै प्रथमा चितिरिति। प्रथमचितेः पृथिवीरूपता प्राक् प्रतिपादिता (श० ८।२।१।१) इत्यत्र। तस्याः सम्बन्धिनि शिवे शोभने स्योने सुखकरे।

अथ मन्त्रार्थः—हे इष्टके, त्वं कुलायसदृशी, द्वितीया चितिः कुलायस्तत्सम्बन्धिनी, घृतमुदकमाज्यं वा तद्वती। पुरन्धिः पुरं शरीरं धीयते गर्भतया यस्यां सा, योषिद्रूपासि। सा त्वं पृथिव्याः प्रथमचितेः सम्बन्धिनि सुखकरे स्थाने सीद आस्व। रुद्रा वसवो देवास्त्वामभिष्टुवन्तु। सौभाग्याय यद्वा धनाय इमानि ब्रह्माणि परिवृढानि हविरादीनि पीपिहि अभिपालय वर्धय। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—हे ब्रह्मात्मप्रज्ञे, त्वं कुलायिनो देहमये वृक्षे बुद्धिमयकुलायसम्बन्धिनी असि। घृतवती घृतसार-स्नेहवती, ज्ञानवैराग्यादीनां भक्तिपुत्रत्वेन तत्सम्बद्धत्वात्। पुरन्धिः पुरं बहुगुणजातं शमदमादिकं दधातीति तथा। रुद्रवसूपलक्षिताः सर्वेऽपि देवास्त्वामभिगृणन्तु अभिगृणन्ति स्तुवन्ति। किञ्च, त्वं सौभगाय स्वस्याः साधकस्य च सौभाग्याय इमा इमानि ब्रह्म ब्रह्माणि ब्रह्मावबोधकमन्त्रान् पीपिहि अविद्यातत्कार्यात्मकप्रपञ्चापनोदनेन साफल्यापादनेन आप्यायस्व।

दयानन्दस्तु—'हे स्योने, यां त्वां रुद्रा मध्या विद्वांसः, वसव आदिमा विपश्चितो ब्रह्मदातृन् गृहीतॄनभि-गृणन्तु प्रशंसन्तु, सा त्वं सौभगाय एतानि पीपिहि प्राप्नुहि। घृतवती पुरन्धिः कुलायिनी कुलं यदेति तत्कुलायम्, तत्प्रशस्तं विद्यते यस्याः सा सती पृथिव्या भूमेः सदने सीद। अध्वर्यू अश्विना त्वेह सादयताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निरर्थककल्पनाबाहुल्यात्। 'स्योनम्' निघण्टौ (३।६।१५) सुखनामसु नपुंसकस्य स्योनमित्यस्य पाठात् 'स्योने' इति सप्तमीरूपम्, न तु सम्बोधनम्, स्त्रीलिङ्गत्वाभावात्। रुद्रवस्वादिशब्दैर्देवविशेषानपहाय विद्वत्सु आदिमध्यादिकक्ष्याकल्पनं निर्मूलमेव। कुलायिनीशब्दस्यापि प्रसिद्धकुलायशब्दप्रकृतिकतामपहाय 'कुलं यदेति तत्कुलायं तत्प्रशस्तं विद्यते यस्याः सा' इत्यादिकल्पनं निरर्थकमेव। तथा विवक्षायां कुलवती कुलीना आर्या सभ्या इत्यादयः प्रयोगाः स्युः। नहि लोके त्वां रुद्रा वसवः प्रशंसन्त्विति स्त्रियं कश्चिदुपदिशति ॥ २ ॥

स्वैर्दक्षैर्दक्षपितेह सीद देवानाᳪं सुम्ने बृहते रणाय। पितेवैधि सूनव आ सुशेवा स्वावेशा तन्वा संविशस्वाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके! बल की रक्षा करने वाली तुम देवताओं के रमणीय सुख को देने वाली इस दूसरी चिति में अपने बल के साथ स्थिर और सदा सुख देने वाली बनो, जिस प्रकार कि पिता पुत्र के लिये सुखदायक होता है। तुम सुख देने वाले शरीर के साथ यहाँ रहो। अध्वर्यु अश्विनीकुमार इस स्थान में तुमको स्थापित करें ॥ ३ ॥

हे इष्टके, त्वं स्वैः स्वकीयैर्दक्षैर्वीर्यैः सह दक्षपिता दक्षं वीर्यं पातीति वीर्यस्य पालयित्री सती इह द्वितीयायां चितौ सीद उपविश। किमर्थम्? देवानां सम्बन्धिने रणाय रमणीयाय बृहते सुम्ने सुम्नाय सुखाय सुखप्राप्त्यर्थम्। चतुर्थ्यर्थे सप्तमी। देवानां सुखार्थं तिष्ठेत्यर्थः। तत्र आ सर्वतः सुशेवा सुखेन सेवितुं शक्या सुष्ठु शोभनं शेवं सुखं यस्यास्तादृशी वा एधि भव। क इव? सूनवे पितेव। यथा जनकः सूनवे पुत्राय सुशेवः सुखयिता भवति तद्वत्। अथवा पुत्रार्थं पिता सुखेन सेव्यो भवति तद्वत्। तन्वा स्वकीयेन शरीरेण स्वावेशा सुखेन प्रवेशवती

सती संविशस्व अवस्थानं कुरु। यद्वा तृतीयार्थे प्रथमा। स्वावेशया सुखप्रवेशवत्या तन्वा शरीरेण संविशस्व अवस्थानं कुरु। शेषं पूर्ववत्।

अत्र ब्राह्मणम्—'स्वैर्दक्षैर्दक्षपितेह सीदेति। स्वेन वीर्येणेह सीदेत्येतद्देवानाꣳ सुम्ने बृहते रणायेति देवानाꣳ सुम्नाय महते रणायेत्येतत्पितेवैधि सूनव आ सुशेवेति यथा पिता पुत्राय स्योनः सुशेव एवꣳ सुशेवैधी-त्येतत् स्वावेशा तन्वा संविशस्वेत्यात्मा वै तनूः स्वावेशेनात्मना संविशस्वेत्येतदश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वेत्यश्विनौ ह्यध्वर्यू उपाधत्ताम्' (श० ८।२।१।६)। तृतीयं मन्त्रमनूद्य व्याचष्टे—स्वैर्दक्षैरिति। दक्षशब्दो वीर्यवचनः। बहुवचनं पूजार्थमभिप्रेत्याह—स्वेन वीर्येणेति। 'सुम्ने' इति चतुर्थ्येकवचने 'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते' इति ङेस्थाने यादेशस्य विकल्पितत्वात् 'अतो गुणे' (पा० सू० ६।१।९७) इति पररूपमेव। तृतीय-पादमनूद्य व्याचष्टे—पितेवैधीति। तथा चायमर्थः—हे इष्टके, दक्षपिता दक्षो वर्धयिताऽग्निः पिता पालको यस्याः सा तादृशी भूत्वा इह अस्मिन् स्थाने स्वेन वीर्येण उपविश। किमर्थम् ? देवानां महते रणाय रमणीयाय सुम्नाय सुखाय। यथा पिता सूनवे पुत्राय स्योनः सन् सुशेवः सुमुखो भवति, एवं त्वं देवानां सुखयित्री एधि भव। चतुर्थपादमनूद्य व्याचष्टे—स्वावेशा तन्वेति। अत्र तनूशब्दः शरीरवाचीत्याह—स्वावेशेनात्मनेति। सुष्ठु आवेश-यतीति स्वावेट्, 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति विच्, तस्य सर्वापहारिलोपे रूपम्, तया। तथा च स्वावेशेन सुखोपवेशनहेतुभूतेन आत्मना संविशस्व सम्यगुपविश।

अध्यात्मपक्षे—हे ब्रह्मात्मप्रज्ञे, स्वैर्वीर्यैस्त्वमिह ब्रह्मात्मन्यासीद तद्विषयावरणनिवर्तकत्वेन तदाभिमुख्येन तिष्ठ। कीदृशी त्वम् ? दक्षपिता दक्षं वेदान्तविचारनिपुणं साधकं पातीति। किमर्थं स्थातव्यं तत्राह—देवानां महते रमणीयाय सुम्नाय सुखाय। किञ्च, त्वमासमन्ताद् भावेन सुशेवा सुसुखा एधि भव। क इव ? यथा पिता जनकः सूनवे पुत्राय सुखयिता भवति तद्वत्। स्वावेशा सुखप्रवेशवत्या तन्वा सुगमेन स्वरूपेण साधकानां बुद्धौ अवस्थानं कुरु। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, त्वं यथा स्वैर्दक्षैर्बलैश्चतुरैर्भृत्यैर्वा सह वर्तमानो देवानां धार्मिकाणां विदुषां मध्ये बृहते महते रणाय संग्रामाय सुम्ने सुखे दक्षपिता दक्षस्य बलस्य चतुरभृत्यानां वा पिता पालको विजयेन वर्धते, तथैव एधि भव। सुम्न आसीद। पितेव सूनवे अपत्याय सुशेवा सुष्ठु सुखा स्वावेशा सुष्ठु आसमन्ताद् वेशो यस्याः सा तथाभूता सती तन्वा शरीरेण संविशस्व। अध्वर्यू अश्विनौ त्वामिह सादयताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्, पितेव सूनव इत्युपमानानुपपत्तेश्च। यथा पिता पुत्राय सुखाय ददाति तथा स्वलङ्कृता संविशस्व। पत्या सह प्रवेशवती शरीरेण प्रविशेति केन किं श्लिष्यते ? वेशशब्दस्य स्वलङ्कारार्थता कुतस्त्या ? विशतेस्तदर्थत्वाभावात् ॥ ३ ॥

पृथिव्याः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वे अभिगृणन्तु देवाः। स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणायजस्वाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! तुम पहली चिति की पूरक और जल के कारणीभूत रस से अभिन्न हो। सम्पूर्ण देवता तुम्हारी सब ओर से स्तुति करें। त्रिवृत् आदि स्तोम, रथन्तर आदि पृष्ठ जिसमें पढ़े जाते हैं, ऐसी हवन होने योग्य घृत से युक्त तुम इस दूसरी चिति में ठहरो। पुत्र, पौत्र आदि से युक्त धन को हमारे लिये सब ओर से दो। अध्वर्यु अश्विनीकुमार इस स्थान में तुमको स्थापित करें ॥ ४ ॥

हे इष्टके, त्वं पृथिव्याः प्रथमचितेः पुरीषं पूरकं वस्तु असि, 'पृथिवी वै प्रथमा चितिस्तस्या एतत्पुरीषमिव यद् द्वितीया' (श० ८।२।१।७) इति श्रुतेः। पृणाति पूरयतीति पुरीषम्, 'शॄपॄभ्यां किच्च' (उ० ४।२।७) इति पृणातेरीषन् प्रत्ययः। 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (पा० सू० ७।१।१०२) इत्युदादेशो रपरत्वं च। अप्सः अपः सनोति ददातीत्यप्सः। अप्सो नाम अपां कारणीभूतो रसः। तादृशरसरूपा त्वमसि। तां तादृशीं प्रथमचितिपूरिकां जलदरसभृतां त्वा त्वां विश्वे सर्वे देवा अभिगृणन्तु सर्वतः स्तुवन्तु। स्तोमपृष्ठा सप्तदशादिस्तोमैर्युक्तानि पृष्ठस्तोत्राणि यस्याः सा। अथवा स्तोमास्त्रिवृदादयः पृष्ठानि रथन्तरादीनि यस्याः सा। घृतवती होष्यमाणेन आज्येन युक्ता सती इह द्वितीयचितौ सीद तिष्ठ। ततोऽस्मे अस्मभ्यं प्रजावत् पुत्रपौत्रादियुक्तं द्रविणा द्रविणं धनम् आ समन्तात् यजस्व देहि। यजतिरिह दानार्थकः। अस्मे इत्यत्र 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति विभक्तेः शे आदेशः। शेषं पूर्ववत्।

अत्र ब्राह्मणम्—'पृथिव्याः पुरीषमसीति। पृथिवी वै प्रथमा चितिस्तस्या एतत्पुरीषमिव यद् द्वितीयाप्सो नामेति रसो नामेत्येतत्तां त्वा विश्वे अभिगृणन्तु देवा इति तां त्वा सर्वेऽभिगृणन्तु देवा इत्येतत् स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीदेति यान् स्तोमानस्यां तᳪस्यमानो भवति तैरेषा स्तोमपृष्ठा प्रजावदस्मे द्रविणाऽऽयजस्वेति प्रजावदस्मे द्रविणमायजस्वेत्येतदश्विनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वेत्यश्विनौ ह्यध्वर्यू उपाधत्ताम्' (श० ८।२।१।७)। चतुर्थं मन्त्रमनूद्य व्याचष्टे—पृथिव्याः पुरीषमसीत्यादिना। प्रथमचितेरुपरि पुरीषमुप्यते, द्वितीया चितिरपि तथेति तस्याश्चितेः पुरीषसाम्यम्। अप्सपदं व्याचष्टे—रसो नामेत्येतदिति। अप्स इत्युदकनामसु पठितत्वात् तदपहाय श्रुत्या तेन अप्सशब्देन रसः प्रतिपाद्यत इत्यर्थः। स्तोमपृष्ठा इति पदं व्याचष्टे—यान् स्तोमानिति। यान् त्रिवृदाद्यान् स्तोमान् तस्यमानो विस्तारयिष्यमाणो भवति, तैः स्तोमैरुपेतत्वात् स्तोमाः पृष्ठे यस्या इति व्युत्पत्त्या, एषा स्तोमपृष्ठा। द्रविणा इति द्वितीयार्थे आकार इत्याह—द्रविणमायजस्वेति। शेषं पूर्ववत्।

हे इष्टके, त्वं पृथिव्याः प्रथमचितेरुपरि पुरीषं रज इवासि। अप्सो रसोऽसि। तां तादृशीं त्वां विश्वेदेवा अभिगृणन्तु—इत्यादिमन्त्रार्थः पूर्वमुक्त एव।

अध्यात्मपक्षे—हे ब्रह्मात्मप्रज्ञे, त्वं पृथिव्या जीवभूतायाः परप्रकृतिरूपायाश्चितेः पुरीषमसि पूरकमसि, परिच्छिन्नायास्तस्या ब्रह्मात्मज्ञानेनैव पूर्णब्रह्मरूपताभिव्यक्तेः। अप्सो नाम रूपं नाम त्वमसि, अविद्यादिमलाधारहेतुत्वात्। तादृशीं त्वां विश्वेदेवा अभिगृणन्तु। स्तोमपृष्ठा स्तोमास्त्रिवृदादयः स्तावकत्वेन पृष्ठे यस्याः सा। घृतवती घृतगन्धिस्नेहवती असि। सा त्वमिह ब्रह्मणि विषये विषयित्वेन सीद, अन्तःकरणे वा सीद तिष्ठ। इदमत्रावधेयम्—सत्यां तस्यां प्रज्ञायां देशकालवस्तुभेदाद्यभावोपलक्षिते ब्रह्मणि देशकालादिकमध्यस्तत्वेन प्रतीयते। अनन्तानन्तस्वर्गवैकुण्ठादयोऽनन्तानन्तब्रह्मचैतन्यसागरे तरङ्गादय इव स्फुरन्ति। अनन्तानन्तजाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिसमाधयो विज्ञेयाश्च अत्यन्तासन्तोऽपि तत्र प्रतीयन्ते। तादृशमपरिच्छिन्नं ब्रह्मैवात्मा, न परिच्छिन्नो देहादिः। यथा दर्पणे प्रतिबिम्बाः, जले छाया, वियति नीलिमादि प्रतीयमानमपि मिथ्या, तथैव प्रपञ्चः प्रतीयमानोऽपि मिथ्या। एकमपरिच्छिन्नं चैतन्यमेव वृत्तिवृत्तिमद्विषयाणामधिष्ठानम्। स्वप्रकाशत्वेन साक्षिणो ज्ञातत्वेऽपि तद् ब्रह्म वेदान्तैर्युक्तिभिश्च ज्ञातव्यम्। सर्वदेशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यं सर्वभावाभावप्रकाशकं यद् ब्रह्म तत् प्रत्यक्चैतन्याभिन्नमेव। सर्वाणि देशकालवस्तूनि विशुद्धबोधे कल्पितानि, न तु बोधो देशे काले वा प्रतीयते। तादृशं ब्रह्म मदीयं त्वदीयं समेषामेव वा स्वरूपमेव। तदिदानीमपि सर्वदा सर्वत्रैवास्ते। अत एव विस्मृतकण्ठमणेरिव नित्यप्राप्तस्यैव प्राप्तिर्ज्ञानेनोपचर्यते।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, या स्तोमपृष्ठा स्तोमानां पृष्ठं ज्ञीप्सा यस्याः सा त्वमिह पृथिव्याः पुरीषं पालनम् अप्सो रूपं नाम आख्यां च धृतवत्यसि, तां त्वां विश्वेदेवा अभिगृणन्तु। इह गृहाश्रमे सीद। त्वाध्वर्यू अश्विनौ

इह सादयताम् । सा त्वं सत्वरमेव प्रजावद् द्रविणा यजस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पृष्ठपदस्य ङीप्सार्थतायाश्चिन्त्यत्वात् । 'अप्सः इति रूपनामसु' (निघ० ३।७।६) इत्यप्सशब्दस्य रूपपरत्वेऽपि तस्य नामशब्दस्य च कथं स्त्रिया विशेषणत्वम् ? पृथिव्याः पुरीषमित्यस्य तथैव स्थितिः । यद्यस्य मन्त्रस्य परमेश्वरो वक्ता, तदा स कथं तस्याः सकाशात् प्रजावद् द्रविणं याचते । न च सा मानुषी सर्वेभ्यस्तद्दातुं प्रभवति । न वा काचित् केभ्यश्चित् प्रजां ददाति ॥ ४ ॥

अदि॑त्यास्त्वा पृ॒ष्ठे सा॑दयाम्य॒न्तरि॑क्षस्य ध॒र्त्रीं वि॒ष्टम्भ॑नीं दि॒शामधि॑पत्नीं॒ भुव॑नानाम् ।
ऊ॒र्मिर्द्र॒प्सो अ॒पाम॑सि वि॒श्वक॑र्मा त॒ ऋषि॑र॒श्विना॑ध्व॒र्यू सा॑दयतामि॒ह त्वा॑ ॥५॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! तुम भुवर्लोक को धारण करने वाली हो, पूर्व आदि दिशाओं का स्तम्भन करने वाली, सब प्राणियों की स्वामिनी तुमको प्रथम चिति रूप पृथ्वी के ऊपर स्थापित करता हूँ । तुम जल का रस और तरंगें हो । प्रजापति तुम्हारे द्रष्टा हैं । अध्वर्यु अश्विनीकुमार तुम्हें इस स्थान में स्थापित करें ॥ ५ ॥

हे इष्टके, अदित्याः प्रथमचितिरूपाया भूमेरुपरि त्वा त्वां सादयामि स्थापयामि । कीदृशीं त्वाम् ? अन्तरिक्षस्य लोकस्य धर्त्रीं धारयित्रीम्, तथा प्राच्यादीनां दिशां विष्टम्भिनीं विविधकार्यार्थं स्तम्भयन्तीं व्यवस्थापयित्रीम्, भुवनानां सर्वेषामधिपत्नीम् आधिक्येन पालयित्रीम् । यस्यास्ते विश्वकर्मा प्रजापतिर्ऋषिर्द्रष्टाः सा त्वम् अपामूर्मिर्यश्च द्रप्सस्तदुभयरूपासि । शेषं पूर्ववत् ।

अत्र ब्राह्मणम्—'ता एता दिशः । ता रेतःसिचोर्वेलयोपदधातीमे वै रेतःसिचावनयोस्तद्दिशो दधाति तस्मादनयोर्दिशः सर्वत उपदधाति सर्वतस्तद्दिशो दधाति तस्मात् सर्वतो दिशः सर्वतः समीचीः सर्वतस्तत्समीचीर्दिशो दधाति तस्मात् सर्वतः समीच्यो दिशस्ता नानोपदधाति नाना सादयति नाना सूददोहसाधिवदति नाना हि दिशः' (श० ८।२।१।१८) एताश्चतस्र इष्टकाः सम्भूय प्रशंसति—ता एता इति । प्राच्यादिदिक्षूपधीयमानत्वात् ता दिगात्मिकाः । तासामुपधाने स्थानविशेषं विधाय स्तौति–ता रेतःसिचोरिति । इमे द्यावापृथिव्यौ हि रेतःसिचौ, अखिलजगदुत्पत्तिहेतुत्वात् । तत् तेन आश्विनीनां रेतःसिक्समीपोपधानेनानयोर्द्यावापृथिव्योः प्राच्याद्याश्चतस्रो दिशो दधाति स्थापयति । तस्मादिति लोकप्रसिद्धिकथनम् । सर्वासु दिक्षु क्रमेण चतसृणामुपधानं विधत्ते—सर्वत उपदधातीति । आसामुपधाने गुणान्तरं विधाय स्तौति—सर्वतः समीचीरिति । सर्वास्वपि दिक्षु समीचीरनूचीनाग्राः, न तु तिर्यगवस्थिता इत्यर्थः । उपधान-सादन-सूददोहसां नानात्वं विधाय स्तौति—ता नानोपदधातीति । 'अथ पञ्चमीं दिश्यामुपदधाति । ऊर्ध्वा ह सा दिक् सा या सोर्ध्वा दिगसौ स आदित्योऽमुमेवैतदादित्यमुपदधाति तामन्तरेण दक्षिणां दिश्यामुपदधात्यमुं तदादित्यमन्तरेण दक्षिणां दिशं दधाति तस्मादेषोऽन्तरेण दक्षिणां दिशमेति' (श० ८।२।१।१९) । अथ मध्ये उपधेयामाश्विनीं विधत्ते—अथ पञ्चमीमिति । इमां पञ्चमीमूर्ध्वदिगादित्यरूपेण स्तौति—ऊर्ध्वा हेत्यादिना । या इयं पञ्चमी इष्टका सा ऊर्ध्वा दिक् । सा इष्टकारूपा या सा ऊर्ध्वा दिक् । असौ एव सः प्रसिद्ध आदित्यः । ऊर्ध्वायां हि तस्य सञ्चरणम् । अतोऽमुमाकाशे दृश्यमानमेवादित्यमेतदेतेन पञ्चमेष्टकोपधानेनोपहितवान् भवतीत्यर्थः । तामन्तरेणेत्यादि । दक्षिणदिश्युपहिता येयं दिश्या तामन्तरेण तस्या अभ्यन्तरदेशे तां पञ्चमीमादित्यरूपामिष्टकामुपदध्यात् । तस्मात् कारणादेष आदित्यो दक्षिणां दिशमन्तरेण दक्षिणस्या दिशोऽभ्यन्तरदेशे एति गच्छति । 'अदित्यास्त्वा पृष्ठे सादयामीति । इयं वा अदितिरस्यामेवैनमेतत्प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयत्यन्तरिक्षस्य धर्त्रीं विष्टम्भनीं दिशामधिपत्नीं भुवनानामित्यन्तरिक्षस्य

ह्येष धर्त्ता विष्टम्भनो दिशामधिपतिर्भुवनानामूर्मिर्द्रप्सो अपामसीति रसो वा ऊर्मिर्विश्वकर्मा त ऋषिरिति प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा प्रजापतिसृष्टाऽसीत्येतदश्विनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वेत्यश्विनौ ह्यध्वर्यू उपाधत्ताम्' (श० ८।२।१।१०)। तन्मन्त्रमनूद्य व्याचष्टे—अदित्यास्त्वेति। अदितिशब्देनात्र पृथिवी विवक्षितेत्याह—इयं वा अदितिरिति। अस्यामेवैनमित्येनं पञ्चमेष्टकारूपमादित्यम्। आदित्यरूपतया वर्णयति—अन्तरिक्षस्य ह्येषेत्यादि। एष खलु सूर्योऽन्तरिक्षस्य धर्ता धारयिता, यथा दिशो न पतन्ति तथा तासां विष्टम्भनो विशेषेण स्तम्भयिता, भुवनानामधिकं प्रकाशवर्षादिना पालयिता। अतस्तद्रूपिण्या इष्टकाया अपि सर्वमेतदुपपद्यत इति विशेषणानामभिप्रायः, रसो वा ऊर्मिरिति। रस एव ह्यप्सु तरङ्गरूपेण वर्तते। तस्मादत्रोर्मिशब्दो रसपरः। एतदुक्तं भवति—हे इष्टके, अपां सम्बन्धी यो रसरूप ऊर्मिस्तरङ्गो द्रप्सो दृढश्च, त्वं तदुभयरूपासीति। प्रजापतिर्वै विश्वकर्मेति। विश्वं सर्वं जगत् कर्म कर्तव्यं येनेति व्युत्पत्तेर्विश्वकर्मा प्रजापतिः। हे इष्टके, उदीरितरूपायास्ते तव विश्वकर्मा ऋषिर्द्रष्टा। अस्य तात्पर्यमाह—प्रजापतिसृष्टाऽसीत्येतदिति।

अध्यात्मपक्षे—हे चितिरूपे भगवति, अदित्या अदीनायाः प्रकृतेरुपरि पृष्ठे त्वां सादयामि धारयामि, चिन्तयामीत्यर्थः। त्वमन्तरिक्षस्य धर्त्री धारयित्री, परमात्मरूपत्वात्। कीदृशीं त्वाम्? दिशां प्राच्यादीनां विष्टम्भिनीं संस्तम्भनकर्त्रीम्, सूर्यरूपया त्वयैव तस्या व्यवस्थापितत्वात्। पुनः कीदृशीम्? भुवनानां भूतजातानामधिपत्नीं स्वामिनीम्। त्वमपां द्रप्सः कठिन उपलः कूर्चादिरूपः, ऊर्मिः कल्लोलरूपः, एतदुभयरूपासि। विश्वकर्मा प्रजापतिस्ते द्रष्टा, प्रजापतेस्त्वदुपासकत्वात्। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, यस्ते विश्वकर्मा शुभाखिलकर्मा ते तव ऋषिर्विज्ञापकः पतिरहमन्तरिक्षस्य अन्तरक्षयविज्ञानस्य धर्त्रीं दिशां पूर्वादीनां विष्टम्भिनीं भुवनानामधिपत्नीमधिष्ठातृत्वेन पालिकां सूर्यामिव त्वादित्या भूमेः पृष्ठे उपरि सादयामि स्थापयामि। योऽपां जलानामूर्मिरिव ते द्रप्सो हर्षस्तेन युक्तासि, तां त्वेहाध्वर्यू अश्विना सादयताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनादेरनुपपत्तेः। नह्यनुपचारेण मनुष्यमात्रो विश्वकर्मा भवति, तस्य सीमितकर्मत्वात्। न वा पतिर्ऋषिर्विज्ञानदाता भवति, 'ऋषिर्दर्शनात्' (निरु० २।११) इति विरोधात्। न च विज्ञानदाता अध्यापकादिः पतिर्भवत्यन्तरिक्षस्य, न च सा अपामूर्मिर्द्रप्सो वा सम्भवति, भेदावभासात्। पूर्वादिदिशां धारयित्रीत्वविष्टम्भिनीत्वमपि तत्र खपुष्पायितम्। भुवनानां स्वामिनीत्वमपि तत्र न सम्भवति। पृथिव्याः पृष्ठे सर्वोऽपि तिष्ठति, न तत्र स्थापनापेक्षा ॥ ५ ॥

शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू अग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे। ग्रैष्मावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—ज्येष्ठ और आषाढ़ मास ग्रीष्म ऋतु से सम्बद्ध हैं। हे ऋतुरूप दोनों इष्टकाओं, तुम अग्नि के मध्य में स्थित हो, मेरे उत्कर्ष के निमित्त द्युलोक और भूलोक में स्थित हो, जल और औषधि को देने में समर्थ हो, समान कर्म वाली स्वयमातृण्णा आदि इष्टकाएँ तुम्हारा ही स्वरूप हैं। तुम द्युलोक और भूलोक के मध्य में समान चित्त वाली दूसरी इष्टकाओं के साथ ग्रीष्म ऋतु का सम्पादन करती हुई इस स्थान में स्थित रहो, जैसे देवता इन्द्र को प्राप्त होते हैं। हे ऋतव्य इष्टके! देवताओं के द्वारा स्थापित तुम अंगिरा ऋषि के समान दृढ़ता के साथ यहाँ रहो ॥ ६ ॥

'शुक्रश्च शुचिश्चेत्यृतव्ये पूर्वयोरुपरि' (का० श्रौ० १७।८।१६)। प्रथमचितावुपहितयोर्ऋतव्ययोरुपरि द्वे ऋतव्ये पद्ये प्राग्लक्षणेऽनूकमभित उदङ्मुख उपदध्यात्। शुक्रश्च शुचिश्चेति प्रत्येकमुपधाय ग्रैष्मावृतू इति मन्त्रशेषो द्वे अप्यालभ्य पाठ्य इति सूत्रार्थः। शुक्रो ज्येष्ठमासः शुचिराषाढः, तावुभौ ग्रीष्मसम्बन्धिनावृतू। हे ग्रीष्माख्य ऋतो, त्वं चीयमानस्याग्नेरन्तःश्लेषोऽसि यथा कुड्यस्यान्तर्दार्ढ्यार्थं काष्ठपाषाणादयः श्लेष्यन्ते तद्वत्। ममाग्निं चिन्वतो यजमानस्य ज्यैष्ठ्योत्कर्षार्थमिमे द्यावापृथिव्यौ स्वोचितमुपकारं कल्पेतां सम्पादयेताम्। आपश्च ओषधयश्च कल्पन्तां स्वोपकारं सम्पादयितुम्। समानव्रताः समानं व्रतं कर्म येषां ते। एकस्मिन् कर्मण्यवस्थिता आहवनीयाद्यग्नयः पृथक् कल्पन्ताम्, प्रत्येकं स्वोचितव्यापारं सम्पादयन्तु। किञ्च, इमे द्यावापृथिवी अन्तरा अनयोर्मध्ये वर्तमानाः समनस एकमनस्का येऽग्नयस्ते सर्वेऽपि ग्रीष्मसम्बन्धिनावेतावृत्ववयवा अभिकल्पन्तां सर्वतः सम्पादयन्त एतत्कर्म अभिसंविशन्तु। तत्र दृष्टान्तः—इन्द्रमिव देवाः। यथा अन्ये सर्वे देवा इन्द्रमभितः सेवन्ते, तद्वत्। हे ऋतव्ये इष्टके, युवां तया देवतया अङ्गिरस्वद् अङ्गिरसां कर्मणां च ध्रुवे स्थिरे सत्यौ सीदतम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथर्तव्ये उपदधाति। ऋतव एते यदृतव्ये ऋतूनेवैतदुपदधाति शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू इति नामनी एनयोरेते नामभ्यामेवैने एतदुपदधाति द्वे इष्टके भवतो द्वौ हि मासावृतुः सकृत् सादयत्येकं तदृतुं करोति' (श० ८।२।१।१६)। इत्थमाश्विनीर्विधाय ऋतव्ययोरुपधानं विधत्ते—अथर्तव्ये उपदधातीति। तत्प्रशंसति—ऋतव्य इति। संवत्सरात्मकस्य चित्यस्याग्नेः 'मधुश्च माधवश्च' इत्यादिमन्त्रैरुपधेया ऋतव्या इष्टका ऋतुस्थानीयाः। अतस्तदुपधानेनैव ऋतून् स्थापितवान् भवतीत्यर्थः। मन्त्रं विधाय व्याचष्टे—शुक्रश्च शुचिश्चेति। नामनी एनयोरिति। एनयोर्ग्रैष्मर्त्वात्मिकयोर्ऋतव्ययोरेते शुचिशुक्रशब्दरूपे नामनी, अतो नामभ्यामेव एतयोरुपधानं कृतं भवतीत्यर्थः। ऋतव्ये उपदधातीति विशिष्टविधिनैव सिद्धं द्वित्वमनूद्य स्तौति—द्वे इष्टके भवतो द्वौ हि मासावृतू इति। हिशब्दः सर्वजनप्रसिद्धिद्योतनार्थः। इष्टकयोर्द्वित्वात् पृथक् पृथक् सादनप्रसक्तौ आह—सकृत् सादयतीति। तेन सकृत्करणेन ऋतुमेकमद्वयात्मकं करोति यजमानः। 'तद्यदेते अत्रो-पदधाति। संवत्सर एषोऽग्निरिम उ लोकाः संवत्सरस्तस्य यदूर्ध्वं पृथिव्या अर्वाचीनमन्तरिक्षात् तदस्यैषा द्वितीया चितिस्तद्वस्य ग्रीष्म ऋतुस्तद्यदेते अत्रोपदधाति यदेवास्यैते आत्मनस्तदस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति तस्मादेते अत्रोपदधाति' (श० ८।२।१।१७)। ऋतव्ययोर्द्वितीयचितावुपधानं प्रशंसति—तद्यदेते अत्रेति। वसन्ताद्यृत्विष्टकानिष्पाद्यत्वात् एष चीयमानोऽग्निः संवत्सरः। स च संवत्सर इमे लोकाः खलु, संवत्सरात्मकेन प्रजापतिना सृष्टत्वात्। अग्नेः संवत्सररूपस्य लोकत्रयात्मकत्वकल्पनायाः प्रयोजनमाह—तस्य यदूर्ध्वमिति। पृथिव्याः प्रथमचितिरूपायास्तदु-परितनमन्तरिक्षादधस्तनं यदस्ति तदस्याग्नेर्द्वितीयचितिस्थानम्। तदु तदेव अस्य संवत्सररूपस्य ग्रीष्म ऋतुः। तत् तस्माद् एते इष्टके अत्र द्वितीयायां चितौ उपदधातीति यत् तत् तेन यदेवास्याग्नेरात्मनः शरीरस्येष्टकाद्वय-रूपमङ्गं विकलमभूत्, तद् विकलमस्मिन्नात्मन्येतदिदानीं प्रतिदधाति पुनः स्थापितवान् भवति। तस्मादेते इति निगमनम्। अयमत्र भावः—लोकत्रयात्मकस्य चित्याग्नेर्यत्पृथिव्यन्तरिक्षान्तरालरूपमङ्गं तद् द्वितीयचित्य-नुष्ठानेन, यत्तु संवत्सरात्मकस्य ग्रीष्मर्तुरूपं तदृतव्ययोरुपधानेन प्रतिहितं भवतीति। 'यद्वेवैते अत्रोपदधाति। प्रजापतिरेषोऽग्निः संवत्सर उ प्रजापतिस्तस्य यदूर्ध्वं प्रतिष्ठाया अवाचीनं मध्यात्तदस्यैषा द्वितीया चितिस्तद्वस्य ग्रीष्म ऋतुस्तद्यदेते अत्रोपदधाति यदेवास्यैते आत्मनस्तदस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति तस्मादेते अत्रोपदधाति' (श० ८।२।१।१८)। एष चीयमानोऽग्निः प्रजापतिः, सोऽपि संवत्सर एव। तस्य संवत्सरादभिन्नस्य प्रजापतिरूपस्याग्नेर्यत् प्रतिष्ठायाः प्रतिष्ठापादौ तस्या ऊर्ध्वं मध्यात् कटिप्रदेशादधस्तनं च यदस्ति। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—भगवद्भजनोन्मुखस्य साधकस्य कृते सर्वोऽपि स्वोचितमुपकारपरायणो भूयादित्यर्थे प्रथमार्थेनैव गतार्थतेति न पृथगर्थो निर्दिश्यते।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रीपुरुषौ, यथा मम ज्यैष्ठ्याय शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू ययोरग्नेरन्तः श्लेषोऽस्यास्तीति याभ्यां द्यावापृथिवी कल्पेताम्....तया देवतया परमेश्वररूपया सह युवामिमे द्यावापृथिवी ध्रुवे एतौ चाङ्गिरस्वद् ध्रुवं सीदतम्' इति, तदप्यज्ञानविजृम्भितम्। कस्यचिज्ज्यैष्ठ्याय शुक्रशुचिमासयोर्ग्रीष्मत्वाभावात्। न चात्र कफबोधकः कश्चन शब्दोऽस्ति, श्लेषश्लेष्मयोरैक्यायोगात्। संस्कृतव्याख्याने मध्य आलिङ्गनमित्युक्तम्, तेन स्वोक्तिविरोधश्च। श्रुतिविरोधश्च पदे पदे प्राप्त एव॥ ६॥

सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्देवैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा। सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्वसुभिः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा। सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजू रुद्रैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा। सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूरादित्यैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा। सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्विश्वैर्देवैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा॥ ७॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके! तुम ऋतुओं के साथ और जल के साथ प्रीतिमान् हो, बाल्य आदि अवस्था प्राप्त करने वाले प्राणों के साथ तथा इन्द्र आदि देवताओं के साथ प्रेम करने वाली हो। तुमको सबके हितकारी अग्निदेवता की तृप्ति के लिये ग्रहण करता हूं। अध्वर्यु अश्विनीकुमार तुम्हें इस दूसरी चिति में स्थापित करें। हे इष्टके! ऋतुओं के साथ, जल के साथ, वसुओं के साथ, प्राणों और देवताओं के साथ प्रीति रखनेवाली तुमको विश्व के हितकारी अग्निदेवता की तृप्ति के निमित्त स्थापित करता हूं। अध्वर्यु अश्विनीकुमार तुमको इस दूसरी चिति में स्थापित करें। हे इष्टके! ऋतुओं के साथ, जल के साथ, रुद्रों के साथ, प्राणों के साथ और देवताओं के साथ प्रीति रखने वाली तुमको विश्व के हितकारी अग्निदेवता के निमित्त स्थापित करता हूँ। अध्वर्यु अश्विनीकुमार तुमको इस तीसरी चिति में स्थापित करें। हे इष्टके! ऋतुओं के साथ, जल के साथ, आदित्य के साथ और प्राण देवताओं के साथ प्रीति करनेवाली तुमको सारे विश्व के हितकारी अग्निदेवता की प्रीति के निमित्त स्थापित करता हूँ। अध्वर्यु अश्विनीकुमार तुमको इस चौथी चिति में स्थापित करें। हे इष्टके! तुम ऋतुओं से, प्राणों से, सम्पूर्ण देवताओं से और प्राण देवताओं से सेवित हो, तुमको सब जगत् के हितकारी अग्निदेवता की प्रीति के लिये ग्रहण करता हूँ। अध्वर्यु अश्विनीकुमार तुमको इस पाँचवीं चिति में स्थापित करें॥ ७॥

'वैश्वदेवीः सजूर्ऋतुभिरिति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।८।१८)। सजूर्ऋतुभिरित्यादिभिः पञ्चभिर्मन्त्रैर्वैश्वदेवीसंज्ञकाः पूर्वादिदिक्षु मध्ये चोपदध्यादिति सूत्रार्थः। विश्वदेवदृष्टानि विश्वेदेवदेवत्यानि पञ्च यजूंषि। हे इष्टके, ऋतुभिर्वसन्तादिभिः सजूः समानप्रीतिरसि। वसन्तादीनां यादृशी प्रीतिस्तादृशीत्यर्थः। विधाभिर्विविधं जगद् दधति पोषयन्तीति विधा ब्रह्मादयः, तैः समानप्रीतिरसि। यद्वा—विधा आपः, 'आपो वै विधा

अद्भिर्हीद७ँ सर्वं विहितम्' (श० ८।२।२।८) इति श्रुतेः। ताभिः समानप्रीतिरसि। सजूर्देवैरिन्द्रादिभिर्वयोनाधैर्वयो बाल्यादि नह्यन्ति बध्नन्तीति वयोनाधाः प्राणा देवा दीप्यमानास्तैश्च सजूः समानप्रीतिरसि, 'प्राणा वै वयोनाधाः प्राणैर्हीद७ँ सर्वं वयुनं नद्धम्' (श० ८।२।२।८) इति श्रुतेः। यद्वा—वयोनाधैर्देवैश्छन्दोभिः सजूः समानप्रीतिरसि, 'अथो छन्दा७ँसि वै देवा वयोनाधाश्छन्दोभिर्हीद७ँ सर्वं वयुनं नद्धम्' (श० ८।२।२।८) इति श्रुतेः। यद्वा—ऋतुदेवप्राणान् जनयित्वा तैः सजूः सयुग्भूत्वा प्रजापतिर्यथा त्वामुपहितवान्, एवं तादृशैस्तैर्देवैः समानप्रीतियुक्तां त्वां वैश्वानराय अग्नये सर्वपुरुषाणां हितकारिवह्न्यर्थमहमुपदधामीति शेषः। एवमुपहितां त्वां देवानामध्वर्यू अश्विनौ इहास्मिन् क्षेत्रे सादयताम्। यद्वा—हे इष्टके, देवानामध्वर्यू अश्विनौ देवौ तां त्वा त्वामिह स्थाने द्वितीयचितौ सादयताम्। किमर्थम्? विश्वेभ्यः सर्वेभ्यो नरेभ्यो हिताय अग्नये अग्नितृप्तये। अग्नये त्वेति त्वाशब्दो या इति प्रथमार्थे। प्रातिपदिकमुपोर्व्यत्ययः। तां कां या त्वमृतुभिः सजूः। जोषणं जुट् प्रीतिः। 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' सम्पदादित्वाद् भावे क्विप्। 'सम्पदादिभ्यः क्विप्' (पा० सू० ३।३।९४ वा० ४) इति वार्त्तिकात्। 'समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु' (पा० सू० ६।३।८४) इति समानशब्दस्य सादेशः। एवं वसुभी रुद्रैरादित्यैर्विश्वेदेवैः सजूरित्युत्तरचतुर्मन्त्रेषु विशेषः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ वैश्वदेवीरुपदधाति। एषा वै सा द्वितीया चितिर्यामेभ्यस्तदश्विना उपाधत्तां तामुपधायेद७ँ सर्वमभवतां यदिदं किञ्च' (श० ८।२।२।१)। ऋतव्ययोरुपधानानन्तरं वैश्वदेवीनामुपधानं विधाय आख्यायिकया स्तौति—अथ वैश्वदेवीरिति। यामिष्टकामेभ्योऽर्थाय अश्विनौ उपाधत्ताम्, सैषा द्वितीया चितिः। तां द्वितीयामुपधायेदं सर्वमभवताम्, सर्वमिदं तयोः स्वाधीनमभूदित्यर्थः। सर्वशब्दस्यासङ्कोचं दर्शयति-यदिदं किञ्चेति। यत्प्रतीयते तत्सर्वमित्यर्थः। 'ते देवा अब्रुवन्। अश्विनौ वा इद७ँ सर्वमभूतामुप तज्जानीत यथा वयमिहाप्यसामेति तेऽब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथा वयमिहाप्यसामेति ते चेतयमाना एता इष्टका अपश्यन् वैश्वदेवीः' (श० ८।२।२।२) 'तेऽब्रुवन्। अश्विनौ वा इद७ँ सर्वमभूतामश्विभ्यामेवाश्विनोश्चितिमनूपदधामहा इति तेऽश्विभ्यामेवाश्विनोश्चितिमनूपादधत तस्मादेतामाश्विनी चितिरित्याचक्षते तस्माद्यथैव पूर्वासामुदर्क एवमेतासामश्विभ्या७ँ ह्येवाश्विनोश्चितिमनूपादधत' (श० ८।२।२।३)। ते देवा इदं सर्वमश्विनावेवाभूताम्, अतो यथा येन प्रकारेण इहास्मिन् वयमप्यसाम तत्तथा उपजानीत इति परस्परमब्रुवन्। पुनरब्रुवन् चेतयध्वमिति। एवं वदतामुक्तेरभिप्रायं श्रुतिरितरथा ब्रूते—चितिमिच्छतेति। इतस्ततो विक्षिप्ताया बुद्धिवृत्तेरैकाग्र्येणैकत्र समावेशश्चितिः। स्वातन्त्र्येण कार्यं साधयितुमशक्तास्ते देवा एवमब्रुवन्। कथं पूर्वमिदं सर्वमश्विनावेव अभूताम्, अतो वयमप्यश्विभ्यामेव साधनाभ्यां (तद्धस्तादित्यर्थः) तयोश्चितिमनुसृत्यैव वैश्वदेवीरुपदधामहा इति। एवमुक्त्वा ते तथैवाकुर्वन्। तस्मादश्विप्रधानत्वादेतां द्वितीयां चितिमाश्विनीत्याचक्षते तज्ज्ञाः। तस्मादश्विसाधितत्वाद् यथा पूर्वासामाश्विनीनाम् उदर्के मन्त्रस्यावसानम् अश्विनावध्वर्यू सादयतामित्येवंरूपम्, एवमेतासां वैश्वदेवीनामुदर्क इति शेषः।

'यद्वेव वैश्वदेवीरुपदधाति। ये वै ते विश्वे देवा एतां द्वितीयां चितिमपश्यन् ये त एतेन रसेनोपायंस्त एते तानेवैतदुपदधाति वा एताः सर्वाः प्रजास्ता रेतःसिचोर्वेलयोपदधातीमे वै रेतःसिचावनयोस्तत्प्रजा दधाति तस्मादनयोः प्रजाः सर्वत उपदधाति सर्वतस्तत्प्रजा दधाति तस्मात् सर्वतः प्रजा दिश्या अनूपदधाति दिक्षु तत्प्रजा दधाति तस्मात् सर्वासु दिक्षु प्रजाः' (श० ८।२।२।४)। यत्कारणाद् वैश्वदेवीरुपदधाति तदभिधीयत इत्यर्थः। ये खलु ते विश्वे देवा एवां वैश्वदेवीभिर्निर्मितां द्वितीयां चितिमपश्यन्, ते देवा एतेन रसेनोपायन् रसेन सङ्गता अभवन्नित्यर्थः। त एते प्रसिद्धा विश्वे देवाः। तानेव रसेनोपेतान् देवानेव एतद् एतेन

वैश्वदेवीनामुपधानेनोपदधात्यध्वर्युः। कोऽसौ रस इत्युच्यते—ता एताः सर्वाः प्रजा इति। ता रसत्वेन निर्दिष्टा इष्टका एताः परिदृश्यमानाः सर्वाः प्रजाः। एतासां स्थानमाह—ता रेतःसिचोर्वेलयेति। तस्माद्रेतःसिचोर्द्यावापृथिव्यात्मकत्वाद् अनयोर्द्यावापृथिव्योर्मध्ये प्रजा वर्तन्त इति शेषः। तत्रापि विशेषं सार्थवादमाह—सर्वत उपदधातीति। तत्राप्यश्विनीनामान्तर्यमाह—दिश्या अन्विति। दिश्या आश्विन्यः। ताः सर्वत उपहिताः, ता अनु एता अप्युपदध्यात्। 'यद्वेव वैश्वदेवीरुपदधाति। प्रजापतेर्विस्रस्तात् सर्वाः प्रजा मध्यत उदक्रामन्नेतस्या अधि योनेस्ता एनमेतस्मिन्नात्मनः प्रतिहिते प्रापद्यन्त' (श० ८।२।२।५)। विस्रस्तात्प्रजापतेर्मध्यतः सर्वाः प्रजा उद्गताः। मध्यं विशिनष्टि—एतस्या अधि योनेरिति। अधि इति पञ्चम्यर्थानुवादी। एतस्याः प्रजोत्पादिकाया योनेः सकाशाद् उदक्रामन्। ता उद्गताः प्रजापतिसम्बन्धिन्य एतस्मिन् मध्ये प्रतिहिते समाहिते सत्येनं प्रजापतिं पुरस्तात् प्रापद्यन्त। 'स यः स प्रजापतिर्व्यस्रꣳसत। अयमेव स योऽयमग्निश्चीयतेऽथ या अस्मात्ताः प्रजा मध्यत उदक्रामन्नेतास्ता वैश्वदेव्य इष्टकास्तद्यदेता उपदधाति या एवास्मात्ताः प्रजा मध्यत उदक्रामंस्ता अस्मिन्नेतत् प्रपादयति रेतःसिचोर्वेलया पृष्टयो वै रेतःसिचौ मध्यमु पृष्टयो मध्यत एवास्मिन्नेताः प्रजाः प्रपादयति····सर्वत एवास्मिन्नेताः प्रजाः प्रपादयति' (श० ८।२।२।६)। कोऽसौ विस्रस्तः प्रजापतिरिति तमाह—अयमेव स इति। उत्क्रान्ताः प्रजाः का इति तत्राह—एतास्ता इति। तद्यदेता वैश्वदेवीरत्र द्वितीयायां चिता उपदधाति, या एव प्रजा अस्मात् प्रजापतेर्मध्यतो मध्यदेशाद् उत्क्रान्ता ता एव पुनस्तत्र प्रपादयति। 'यद्वेव वैश्वदेवीरुपदधाति। एतद्वै प्रजापतिरेतस्मिन्नात्मनः प्रतिहितेऽकामयत प्रजाः सृजेय प्रजायेयेति स ऋतुभिरद्भिः प्राणैः संवत्सरेणाश्विभ्याꣳ सयुग्भूत्वैताः प्रजाः····प्रजनयति तस्माद् सर्वास्वेव सजूः सजूरित्यनुवर्तते' (श० ८।२।२।७)। अथासां पञ्चानां वैश्वदेवीनामुपधाने मन्त्रं विधातुमाह—यद्वेव वैश्वदेवीरित्यादिना। आत्मनः शरीरस्य एतस्मिन् मध्यमेऽङ्गे प्रतिहिते सत्यकामयत प्रजाः सृजेयेति। प्रजायेयेति सृज्यमानप्रजारूपेण मम प्रादुर्भावोऽप्यस्त्वित्यर्थः। एवं कामयमानः स ऋत्वप्प्राणसंवत्सराश्विभिः सयुक् तत्सहायो भूत्वा एता वक्ष्यमाणवैश्वदेव्याख्याः प्रजाः प्राजनयत्। तस्माद् एवं सयुग्भावाद्धेतोर्वैश्वदेवीनामुपधानमन्त्रेषु सजूः सजूरित्यनुवर्तते।

'सजूर्ऋतुभिरिति। तदृतून् प्राजनयदृतुभिर्वै सयुग्भूत्वा प्राजनयत् सजूर्विधाभिरित्यापो वै विधा अद्भिर्हीदꣳ सर्वं विहितमद्भिर्वै सयुग्भूत्वा प्राजनयत् सजूर्देवैरिति तद्देवान् प्राजनयद्यद्देवा इत्याचक्षते सजूर्देवैर्वयोनाधैरिति प्राणा वै देवा वयोनाधाः प्राणैर्हीदꣳ सर्वं वयुनं नद्धमथो छन्दाꣳसि वै देवा वयोनाधाश्छन्दोभिर्हीदꣳ सर्वं वयुनं नद्धं प्राणैर्वै सयुग्भूत्वा प्राजनयदश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वेत्यश्विभ्यां वै सयुग्भूत्वा प्राजनयत्' (श० ८।२।२।८)। अनुवृत्तिप्रकारं स्वयमेवाह—सजूर्ऋतुभिरिति। 'इति' एवं प्रतिमन्त्रमनुवर्तते। तत् तेन ऋतून् प्राजनयत्। ऋतूत्पादनमितरप्रजासृष्टेर्ऋतुसयुग्भावान्यथानुपपत्त्या समर्थयते—ऋतुभिर्वै सयुग्भूत्वा प्राजनयदिति। अन्यानिति शेषः। उत्पन्नस्य ऋतोः सयुग्भावमापद्य तत्साहाय्यवान् अन्यान् विश्वदेववस्वादीन् प्राजनयदित्यर्थः। एवमुत्तरेष्वपि 'सजूर्विधाभिः', 'सजूर्देवैः' 'सजूर्देवैर्वयोनाधैः' इत्यादिष्वनुषञ्जनीयभागेष्वपि द्रष्टव्यम्। सजूर्विधाभिरित्यनुषञ्जनीयो द्वितीयभागः। तत्र विधाशब्दार्थमाह–आपो वै विधा इति। तत्प्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयति–अद्भिर्हीति। विधीयते क्रियत आभिरद्भिरिति विधा आपः। हिशब्दोऽपां सर्वाश्रयत्वस्य प्रसिद्धिद्योतनार्थः। शिष्टं पूर्ववत्। इत्थं पञ्चस्वपि मन्त्रेषु पूर्वभागेऽनुषञ्जनीयमभिधाय प्रथमं मन्त्रं व्याचष्टे—सजूर्देवैरिति। तद्देवान् प्राजनयद् इत्यत्रत्यदेवशब्देन वक्ष्यमाणा वस्वादयः सर्वेऽपि देवा विवक्षिताः। यद्देवा इत्याचक्षत इति देवशब्देन येऽभिधीयन्ते, ते सर्वेऽप्यनेन विवक्षिता इत्यर्थः। उपरिष्टादनुषञ्जनीयप्रथमभागं व्याचष्टे—सजूर्देवैर्वयोनाधैरिति। वयोनाधशब्दार्थमाह—प्राणा वै देवा वयोनाधा इति। वयोनाधशब्दस्य प्राणाभिधानतामुपपादयति—प्राणैर्हीदं

सर्वं वयुनं नद्धमिति। वयो वयुनं नह्यन्ति बध्नन्ति ये ते वयोनाधाः प्राणाः। वयःशब्दस्य विवक्षितमर्थान्तरमाह—अथो छन्दांसि वै वयोनाधा इति। शिष्टं पूर्ववद् व्याख्येयम्। अनुषङ्गस्य द्वितीयभागमुदाहृत्य व्याचष्टे—अग्नये त्वा वैश्वानरायेत्यादिना। तृतीयभागं विधाय व्याचष्टे—अश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वेति। हे इष्टके, त्वामश्विनावध्वर्यू इह द्वितीयचितिप्रदेशे सादयतामिति।

'सजूर्वसुभिरिति दक्षिणतः। तद्वसून् प्राजनयत् सजू रुद्रैरिति पश्चात्तद्रुद्रान् प्राजनयत् सजूरादित्यैरित्युत्तरतस्तदादित्यान् प्राजनयत् सजूर्विश्वैर्देवैरित्युपरिष्टात्तद्विश्वान् देवान् प्राजनयत्ता वै समानप्रभृतयः समानोदर्का नाना मध्यतस्ता यत्समानप्रभृतयः समानोदर्काः समानीभिर्हि देवताभिः परस्ताच्चोपरिष्टाच्च सयुग्भूत्वा प्राजनयदथ यन्नाना मध्यतोऽन्या अन्या हि प्रजा मध्यतः प्राजनयत्' (श० ८।२।२।९)। द्वितीयेष्टकोपधानमन्त्रमुक्त्वा व्याचष्टे—सजूर्वसुभिरिति। दक्षिणत इति, उपदध्यादिति शेषः। तत् तेन एतन्मन्त्रसाध्येष्टकोपधानेन वसून् अष्टसंख्याकान् प्राजनयत्। सजू रुद्रैरिति तृतीयो मन्त्रः। रुद्रा एकादश, तन्मन्त्रेण पश्चादुपदध्यात्। सजूरादित्यैरिति चतुर्थेन मन्त्रेण उत्तरतः सादयेत्। सजूर्देवैरित्युपरिष्टात् सादयेत्। उक्तानां सादनमन्त्राणामाद्यन्तानुषङ्गसाम्यमाह—ता वै समानप्रभृतयः समानोदर्का इति। प्रभृतिरुपक्रमः। उदर्कोऽवसानम्। तौ सर्वासामिष्टकानां समानावित्यर्थः। कृत्स्नमन्त्राणां मध्यमभागस्य नानारूपतामाह—नाना मध्यत इति। 'सजूर्ऋतुभिः' इत्यादिकः सर्वासामुपक्रमः। मध्ये 'सजूर्देवैः सजूर्वसुभिः' इत्यादिकः पञ्चसु मन्त्रेषु एकैको मन्त्रः। अन्ते 'सजूर्देवैर्वयोनाधैः' इत्यादिक इत्यर्थः। एतत् त्रितयं प्रशंसति—ता यत्समानप्रभृतय इत्यादिना। 'समानीभिर्हि देवताभिः' 'पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्च' इति ऋत्वादिभिः पुरस्तात् 'सजूर्वयोनाधैः' इत्यादिभिरुपरिष्टाच्चेति विभागः। अन्या अन्या हि प्रजा इति प्रजानां वैलक्षण्यं वस्वादीनां विलक्षणत्वाद् द्रष्टव्यम्।

अध्यात्मपक्षे—हे प्रज्ञे, यथा ऋतुभिः समानजोषणो यथा च विधाभिरद्भिः सह समानजोषणो देवैश्चेन्द्रादिभिर्वयोनाधैर्देवैश्छन्दोरूपैः प्राणरूपैर्वा जोषणः परमेश्वरो वैश्वानराय विश्वेभ्यो नरेभ्यो हिताय अग्नये ज्ञानाग्नये त्वामुपहितवान्, एवमहमप्येताभिर्देवताभिः समानप्रीतिर्भूत्वा त्वामुपदधामि। अश्विनौ चाध्वर्यू इह पारम्पर्यादध्येत्रध्यापयितारौ त्वां सादयताम्, ऋतुविद्यादेवादीनामपि तत्र सहायकत्वात्। अथवा हे ब्रह्मात्मप्रज्ञे, या त्वमृत्वादिभिः समानप्रीतिरसि तां त्वा त्वाम् अश्विनावध्वर्यू इह बुद्धौ स्थापयताम्।

दयानन्दस्तु—हे स्त्रि पुरुष वा, यं यां वा त्वामिहाध्वर्यू अश्विना वैश्वानरायाग्नये विश्वेषां नराणामिदं हितं तस्मै अग्नये सुशिक्षाप्रकाशाय वयं यं च त्वा सादयेम स त्वम् ऋतुभिः सह सजूः। यः समानं प्रीणाति सेवते वा सः सजूः। विधाभिरद्भिः सह सजूः। देवैर्दिव्यगुणैर्वयोनाधैर्वयांसि जीवनादीनि गायत्र्यादीनि छन्दांसि वा नह्यन्ति यैः प्राणैस्तैर्देवैः सजूश्च भव। हे पुरुषार्थयुक्त स्त्रि पुरुष वा, यं त्वां वैश्वानरायाग्नये अध्वर्यू अश्विना सादयताम्, यं त्वा वयं च सादयेम, स त्वम् ऋतुभिः सह सजूर्विधाभिः सह सजूर्वसुभिः सह सजूर्वयोनाधैर्देवैः सह सजूर्भव विद्याध्ययनाय प्रवृत्ते ब्रह्मचारिणि ब्रह्मचारिणं यं वैश्वानरायाग्नयेऽध्वर्यू चाश्विना सादयताम्, यं त्वा वयं सादयेम, स त्वमृतुभिः सह सजूर्विधाभिः सह सजू रुद्रैः सह सजूर्वयोनाधैर्देवैः सह सजूर्भव। हे पूर्णविद्ये, त्वां वैश्वानरायाग्नयेऽश्विनौ सादयताम्, यं त्वा वयं सादयेम स त्वमृतुभिः सजूरादित्यैः सह सजूर्वयोनाधैः सह सजूर्भव। हे सत्यार्थोपासिके, यं त्वेह वैश्वानरायाग्नयेऽश्विना अध्वर्यू सादयताम्, यं त्वा वयं सादयेम, स त्वमृतुभिः सह सजूर्विधाभिः सह सजूर्विश्वदेवैः सह सजूर्वयोनाधैर्देवैः सह सजूर्भव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशसम्बोधनादौ मानाभावात्, गौणीवृत्त्याश्रयणात्, अध्याहारबाहुल्यात्, श्रुतिविरोधाच्च ॥ ७ ॥

प्राणं मे॑ पाह्यपानं मे॑ पाहि व्यानं मे॑ पाहि चक्षु॑र्म उर्व्या विभा॑हि श्रोत्रं॑ मे श्लोकय ।
अपः पिन्वौष॑धीर्जिन्व द्विपाद॑व चतु॑ष्पात् पाहि दिवो वृष्टिमेर॑य ॥८॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! तुम मेरी नाभि से ऊपर चलने वाली प्राण वायु की रक्षा करो, मेरी नाभि से नीचे चलने वाली अपान वायु की रक्षा करो, मेरे शरीर की संधिगत वायु की रक्षा करो। हे इष्टके ! तुम मेरे नेत्रों को विस्तीर्ण दृष्टि से देखने में समर्थ करो, मेरे कानों को शब्दों के श्रवण में समर्थ करो। हे इष्टके ! तुम्हारे प्रसाद से यह पृथ्वी वृष्टि के जल से सिंचित हो, औषधियाँ तृप्त हों। दो पैर वाले प्राणी मनुष्यों की तुम रक्षा करो, चौपाये पशुओं की रक्षा करो, द्युलोक से वर्षा को सब ओर प्रेरित करो ॥ ८ ॥

'प्राणभृतः प्राणं म इति' (का० श्रौ० १७।८।२०)। पञ्च यजुर्भिः प्राणभृत्संज्ञका इष्टकाः पूर्वादिषूपदधातीति सूत्रार्थः। पञ्च वायुदेवत्यानि यजूंषि। हे इष्टके, त्वं मे मदीयं प्राणं प्राणस्वरूपं वायुं पाहि रक्ष। एवमपानं मे पाहि। व्यानं वायुं च मे मम पाहि। उर्व्या विस्तीर्णया दृष्ट्या मे चक्षुर्विभाहि विशेषेण प्रकाशय, इष्टानिष्टदर्शनसमर्थं कुर्वित्यर्थः। मे मदीयं श्रोत्रं कर्णेन्द्रियं श्लोकय सङ्घाते शक्तं कुरु, बहुविधशास्त्रश्रवणसमर्थं कुर्वित्यर्थः। 'श्लोकृ सङ्घाते'। यद्वा—श्रोत्रं मे श्लोकय श्लोकं पाहि। श्लोक इति वाङ्नामसु (निघ० १।११।१)। वेदादिलक्षणवाक्समूहश्रवणधारणसमर्थं कुरु। यद्वा—श्रोत्रं श्लोकय स्तुत्यं कुरु वेदादिशास्त्रग्रहणेनैव श्रोत्रं प्रशस्यते। 'अपः पिन्वेत्यपस्याः' (का० श्रौ० १७।८।२१)। अपस्यासंज्ञकाः पञ्चेष्टकाः पञ्चभिर्मन्त्रैरुपदध्यादिति सूत्रार्थः। हे इष्टके, त्वमपो जलानि पिन्व सिञ्च। 'पिवि सेवने, सेचने चेत्येके' इति भौवादिकस्य रूपम्। ओषधीर्जिन्व प्रीणय, 'जिवि प्रीणने' इति रूपम्। द्विपाद् मनुष्यशरीरम् अव रक्ष। चतुष्पाद् गवादिपशुशरीरं पाहि पालय। यद्वा—द्विपाद् द्विपादं मनुष्यमव गोपाय। चतुष्पात् चतुष्पादं गवादिपशुं पाहि पालय। विभक्तिव्यत्ययः। दिवो द्युलोकसकाशाद् वृष्टिम् आसमन्दाद् ईरय आगमय प्रवर्तय।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ प्राणभृत उपदधाति। एतद्वै देवा अब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्ते चेतयमाना वायुमेव चितिमपश्यंस्तामस्मिन्नदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति' (श० ८।२।३।१)। प्राणभृत्संज्ञकानामिष्टकानामुपधानं विधाय स्तौति—अथ प्राणभृत इति। चेतयमानास्ते वायुमेव चितिमपश्यन्। तां वायुरूपां चितिमस्मिन् द्वितीयचितिप्रदेशेऽदधुः स्थापितवन्तः। तथैवायं यजमानोऽस्मिन्नेतद्दधातीति। 'प्राणभृत उपदधाति। प्राणो वै वायुर्वायुमेवास्मिन्नेतद्दधाति रेतःसिचोर्वेलयेमे वै रेतःसिचावनयोस्तद्वायुं दधाति तस्मादनयोर्वायुः सर्वत उपदधाति सर्वतस्तद्वायुं दधाति तस्मात् सर्वतो वायुः सर्वतः समीचीः सर्वतस्तत्सम्यञ्चं वायुं दधाति तस्मात् सर्वतः सम्यङ् भूत्वा सर्वाभ्यो दिग्भ्यो वाति दिश्यो अनूपदधाति दिक्षु तद्वायुं दधाति तस्मात् सर्वासु दिक्षु वायुः' (श० ८।२।३।२)। पुनः स्तोतुमनुवदति—प्राणभृत इति। प्राणो वै वायुरिति। वैशब्दो 'वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्' (ऐ० उ० १।४) इति श्रुत्यनन्तराम्नातवायुप्राणैकत्वप्रसिद्धिद्योतनार्थः। तासां स्थानमाह—रेतःसिचोर्वेलयेति। तस्मात् क्षित्यन्तरिक्षसंस्तुतरेतःसिचोर्निकटे प्राणभृतामुपधानाद् रेतःसिग्रूपयोरनयोः क्षित्यन्तरिक्षयोर्मध्ये वायुः सञ्चरतीति शेषः। सर्वतः समीचीरिति प्रागादिसर्वदिक्षु तिर्यक्त्वाभावेन आर्जवेन यथा वर्तन्ते तथा उपदध्यादित्यर्थः। तत् तेन तथोपधानेन वायुमपि सम्यञ्चम् अकुटिलं स्थापितवान् भवति। दिश्या अनूपदधातीति दिश्यानन्तर्यार्थवादो वैश्वदेवीष्टकावाक्यवद् व्याख्येयः। 'यद्वेव प्राणभृत उपदधाति। आस्वेवैतत्प्रजासु प्राणान् दधाति ता अनन्तर्हिता

वैश्वदेवीभ्य उपदधात्यनन्तर्हितांस्तत्प्रजाभ्यः प्राणान् दधाति प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि चक्षुर्म उर्व्या विभाहि श्रोत्रं मे श्लोकयेत्येतानेवास्वेतत्क्लृप्तान् प्राणान् दधाति' (श० ८।२।३।३)। प्रकारान्तरेण प्राणभृतः प्रशंसति—यद्वेव प्राणभृत इति। आस्वेव प्रजास्विति वैश्वदेवीनां प्रजारूपत्वेन संस्तुतत्वात् तासामनन्तरं प्राणभृतामुपधानेन प्रजासु प्राणान् स्थापितवान् भवति। तासामुपधानमन्त्रान् विधाय संगृह्य तात्पर्यमाह—प्राणं मे इत्यादिना। प्राणं मे पाहीति प्रथमः, अपानं मे पाहीति द्वितीयः, व्यानं मे पाहीति तृतीयः, चक्षुर्म उर्व्या इति चतुर्थो मन्त्रः। हे चतुर्थेष्टके, मे मम चक्षुरुर्व्या अविकृतया दृष्ट्या विभाहि विशेषेण दीपय। हे पञ्चमेष्टके, मे मम श्रोत्रं श्लोकय श्लाघनं कुरु। अत्र यद्यपि प्रथमेष्टकामन्त्र एव 'प्राणं मे' इति प्राणलिङ्गमुक्तम्, तथापि छत्रिन्यायेन लिङ्गमात्रमपेक्ष्य सर्वा अपि प्राणभृत इत्युच्यन्ते।

'अथापस्या उपदधाति। एतद्वै देवा अब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्ते चेतयमाना वृष्टिमेव चितिमपश्यंस्तामस्मिन्नदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति' (श० ८।२।३।४)। अपस्या विधाय प्रशंसति—अथापस्या इति। अब्लिङ्गैर्मन्त्रैरुपधेयत्वादपस्याः। यद्वा वृष्टिमेव चितिमपश्यन्नित्युक्तत्वादभेदादाप एव अपस्याः। 'अपस्या उपदधाति। आपो वै वृष्टिर्वृष्टिमेवास्मिन्नेतद्दधाति रेतःसिचोर्वेलयेमे वै रेतःसिचावनयोस्तद् वृष्टिं दधाति तस्मादनयोर्वर्षति सर्वत उपदधाति सर्वतस्तद्वृष्टिं दधाति तस्मात् सर्वतो वर्षति सर्वतः समीचीः सर्वतस्तत्समीचीं वृष्टिं दधाति तस्मात् सर्वतः सम्यङ्भूत्वा सर्वाभ्यो दिग्भ्यो वर्षति वायव्या अनूपदधाति वायौ तद्वृष्टिं दधाति तस्माद्यां दिशं वायुरेति तां दिशं वृष्टिरन्वेति' (श० ८।२।३।५) वृष्टिकर्मत्वादाप एव वृष्टिः। वायव्या अनूपदधातीति प्राणभृतामन्वित्यर्थः। शेषं स्पष्टम्। 'यद्वेवापस्या उपदधाति। एष्वेवैतत्प्राणेष्वपो दधाति ता अनन्तर्हिताः प्राणभृद्भ्य उपदधात्यनन्तर्हितास्तत्प्राणेभ्योऽपो दधात्यथो अन्नं वा आपोऽनन्तर्हितं तत्प्राणेभ्योऽन्नं दधात्यपः पिन्वौषधीर्जिन्व द्विपादव चतुष्पात्पाहि दिवो वृष्टिमेरयेत्येता एवैष्वेतत्क्लृप्ता अपो दधाति' (श० ८।२।३।६)। प्रकारान्तरेण स्तौति यद्वेवेति। एष्वेवैतदिति पूर्वोपस्थापितेषु प्राणेष्वेवापो दधाति, 'आपोमयः प्राणः' (छा० उ० ६।५।४) इति श्रुतेः। तासामभावे प्राणाः सीदन्तीत्यतः प्राणेष्वपां निधानं युक्तम्। आसां प्राणभृद्भ्यो व्यवधानाभावं विधत्ते—ता अनन्तर्हिता इति। तेन प्राणानामपां चाव्यवधानं कृतं भवति। अनन्तर्हितत्वस्य परम्परायितं प्रयोजनं दर्शयति—अथो इति। अथो अपि च अन्नं वा एतत्, अन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वादन्नस्य। तत् तेन अन्नं प्राणेभ्योऽनन्तर्हितं स्थापितवान् भवति। अपस्यानां मन्त्रान् विधाय संगृह्य तात्पर्यमाह—अपः पिन्वेति। हे इष्टके, त्वमपः पिन्व सेचय। तेन च ओषधीर्व्रीहियवाद्या जिन्व प्रीणय। तदन्तरं हे इष्टके, द्विपात् पादद्वयोपेतं यन्मनुष्यादिकं तद् अव रक्ष। तथा चतुष्पात् पश्वादिकं पाहि पालय। दिवः सकाशाद् वृष्टिमेरय आसर्वतः प्रेरय। इत्येतदिष्टकोपधानेन एता एवापः क्लृप्ताः स्वकार्यसमर्था एष्वेव प्राणेषु दधाति स्थापितवान् भवति।

अध्यात्मपक्षे—हे राजराजेश्वरि त्रिपुरसुन्दरि, त्वमपः पिन्व सेचय। सर्वं पूर्ववद् व्याख्येयम्, आञ्जस्येन प्राणापानव्यानरक्षणस्य तत्रैव सम्भवात्। सैव विशालया अनुग्रहोपेतया दृष्ट्या चक्षुर्दीपयति। सैव च श्रोत्रं श्लोकयति। भगवत्स्वरूपगुणचरित्रादिश्रवणावसरशक्त्यादिप्रदानेन श्रोत्रं श्लाघनीयं करोति। सैवापः सेचयति। ओषधीः प्रीणयति। द्विपदश्चतुष्पदश्च सैव रक्षति। दिवः सकाशाद् वृष्टिं चापि सैव प्रेरयति, तस्या अचिन्त्यानन्तशक्तिमत्त्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे पते स्त्रि पुरुष वा, त्वमुर्व्या बहुरूपया उत्तमफलप्रदया सह मे प्राणं नाभेरूर्ध्वगामिनं पाहि मेऽपानं यो नाभेरर्वाग् गच्छति तं पाहि। मे व्यानं विविधेषु शरीरसन्धिष्वनिति तं पाहि। चक्षुर्मे विभाहि।

श्रोत्रं मे श्लोकय शास्त्रश्रवणाय सम्बन्धय। अपः प्राणान् पिन्व पुष्णीहि। किञ्च, ओषधीः सोमयवादीन् जिन्व प्राप्नुहि। गतिकर्मा द्विपाद् मनुष्यादीन् अव चतुष्पाद् गवादीन् पाहि। दिवः सूर्यप्रकाशाद् वृष्टिमेरय। यथा सूर्यो दिवो वृष्टिं करोति, तथा गृहकृत्यमेरय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनासिद्धेः। किं स्त्रीपुंसादि-प्रार्थनया प्राणादिरक्षणं भवति? तत्रापि किं स्वीयं प्राणादिकं रक्षेति प्रार्थ्यते, प्रार्थयितुर्वा? सर्वस्य वा? नाद्यः, रागप्राप्तत्वादुपदेशानपेक्षणात्। नेतरौ, तत्राक्षमत्वात्। उर्व्या सह प्राणरक्षणं तु ततोऽप्यसम्भवम्। श्लोकय सम्बन्धयेत्यप्ययुक्तम्, धात्वर्थविरोधात्। अत एव वृष्टिमेरयेत्यत्रासम्भवदर्थकं समीक्ष्य गौणार्थताङ्गी-कृतेति दिक् ॥ ८ ॥

मूर्धा वयः प्रजापतिश्छन्दः क्षत्रं वयो मयन्दं छन्दो विष्टम्भो वयोऽधिपतिश्छन्दो विश्वकर्मा वयः परमेष्ठी छन्दो बस्तो वयो विवलं छन्दो वृष्णिर्वयो विशालं छन्दः पुरुषो वयस्तन्द्रं छन्दो व्याघ्रो वयोऽनाधृष्टं छन्दः सिꣳहो वयश्छदिश्छन्दः पृष्ठवाड् वयो बृहती छन्द उक्षा वयः ककुप्छन्द ऋषभो वयः सतोबृहती छन्दः ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—प्रजापति ने गायत्री छन्द होकर वय द्वारा ब्राह्मण जाति की रचना की है, दुःख से रक्षा करने वाली क्षत्रिय जाति और सुख देने वाले अनिरुक्त छन्द प्रजापति ही बने हैं। पालन करने वाले जगत् के स्तम्भनकर्ता प्रजापति संसार रूप पशु की अवस्था वाले छन्द बने हैं। परम पद में स्थित होने वाले सब के स्रष्टा प्रजापति वय द्वारा छन्द बने हैं, अर्थात् प्रजापति ने छन्द के प्रभाव से विविध कर्मचारी सेवावृत्तियुक्त शूद्र जाति को उत्पन्न किया है। प्रजापति ने अजा (बकरी) जाति को एकपद नामक छन्द से, सेचन में समर्थ मेष (भेड़) पशु को द्विपदा गायत्री छन्द से, किन्नरों की अवस्था को पंक्ति छन्द से, व्याघ्र आदि को विराट् छन्द से, सिंह आदि क्रूर पशुओं को अतिजगती छन्द से, पाँच वर्ष के पीठ पर भार वहन करने वाले पशु को बृहती छन्द से, सांड आदि को ककुप् छन्द से और भालू आदि को बारह अक्षर के त्रिपाद वाले सतोबृहती छन्द से उत्पन्न किया है ॥ ९ ॥

'वयस्याः पञ्च पञ्चानूकान्तेषु मूर्धा वय इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।८।२२), 'चतस्रः पुरस्तात्' (का० श्रौ० १७।८।२३)। दक्षिणोत्तरपश्चिमेष्वनूकान्तेषु पञ्च पञ्च पूर्वे तु चतस्रो वयस्यासंज्ञका इष्टका उपदधातीति सूत्रार्थः। एकोनविंशतिमन्त्रैरेकोनविंशतियजूंषि लिङ्गोक्तदेवत्यानि। वयःशब्दोपेतैर्मन्त्रैरुपधेया इष्टका वयस्या इत्युच्यन्ते। ता एव छन्दस्या अपि। पुरा खलु विस्रस्तात् प्रजापतेः शरीररूपकोशात् सृष्टाः पशवश्छन्दोरूपमास्थाय निरगच्छन्। प्रजापतिरपि गायत्र्यादिछन्दोरूपं कृत्वा पशुसम्बन्धिन्या तत्तद्वयोऽवस्थया तान् पशूनाप्नोत्। तत्र तावदादौ चतुर्भिर्मन्त्रैरष्टावयवात्मकं गायत्रीरूपं परिकल्प्यते। एवं गायत्रीछन्दोरूपेण परिकल्पितोऽसौ प्रजापतिः स्वयमेव मूर्धा पशुसम्बन्धिशिरो वयः शरीरावस्था। प्रजापतिरेव मूर्धलक्षणं वयोऽभवत्। अत एव मूर्ध्नि इतरावयवेभ्यः प्राधान्यं दृश्यते। यद्वा मूर्धा मूर्धवत्प्रधानः प्रजापतिर्गायत्रीरूपो भूत्वा वयो वयसा, विभक्तिव्यत्ययः, कृत्वा पशूनाप्नोदिति शेषः। हे इष्टके, तद्रूपां त्वां दधामीति सर्वत्र योज्यम्। प्रजापतिः स्वयमेव छन्दोऽभवत्। अनेन मन्त्रेण प्रजापतेर्द्वाववयवौ कल्पितौ। क्षत्रं क्षतात् त्रायत इति क्षत्रशब्देन क्षत्रियजातिगतो बलविशेषो लक्ष्यते। 'क्षत्रं द्रविणं वा' (निघ० २।१०।९)। बलमेव तस्य धनमिति यावत्। तादृशं वयः शरीरावस्था प्रजापतिरभवत्। मयन्दं छन्दः, मयं सुखं ददातीति तादृशमनिरुक्तं छन्दः प्रजापतिरभवत्। अधिपतिः अधिकं पालकः, अधिष्ठापयति वा, एतदात्मकं छन्दो भवति। विष्टम्भो वयो

विष्टभ्नोति जगत् कृत्स्नं शरीरं वेति तादृशः प्रजापतिर्वयः। तत्तत्पशुवयोऽवस्थावान् छन्दश्च स्वयमेव प्रजापतिरभवत्। विश्वकर्मा विश्वं सर्वं कर्म कर्तव्यं यस्य सः सर्वस्रष्टा प्रजापतिः परमेष्ठी परमे पदे तिष्ठतीति विश्वकर्मा वयश्छन्दश्चाभवत्। एवं प्रतिमन्त्रं द्वौ द्वौ अवयवावित्यष्टावयवः प्रजापतिर्गायत्रीरूपः परिकल्पितः। तथा चाष्टसंख्योपेतत्वात् सर्वच्छन्दःप्रकृतिभूतं गायत्रीच्छन्दो भूत्वा वयसा वयोऽवस्थया वक्ष्यमाणान् पञ्चदश पशून् प्रजापतिरगृह्णात्। वय इति 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति तृतीया-विभक्तेर्लुक्। वस्तः अजः। अत्र द्वितीयाविभक्तेः 'सुपां सुलुक' (पा० सू० ७।१।३९) इति 'सु' आदेशः। बस्तः अजः पशुः विवलं विविधं विशिष्टं वा बलं वरम् उत्कृष्टं वा विवलं छन्दोरूपमास्थाय उदक्रामत्। तं प्रजापतिर्गायत्रीरूपेण वयसा आप्नोत्। अथवा विबलं श्रुत्यनुसारं विबलं विगतं बलं यस्य तद् एकपदं छन्दो भूत्वा, द्वितीयपदाभावादर्थापरिसमाप्तेरर्थावबोधनाक्षमत्वात्, 'एषा वै सा गायत्री या तद् भूत्वा प्रजापतिरेतान् पशून् वयसाप्नोत्' (श० ८।२।३।१४) इति श्रुतेः। एवमुत्तरमन्त्रेष्वपि विभक्तिविपरिणामं कृत्वा प्रजापति-स्तत्तच्छन्दोरूपमास्थाय तत्तद्वयसा तांस्तान् पशून् जग्राहेति योज्यम्। वृष्णिर्वयः, विशालं छन्दः, विशालं द्विपदागायत्रीछन्दो भूत्वा वृष्णिं सेचनसमर्थं मेषं वयसा जग्राह। एकपदापेक्षया द्विपदागायत्रीच्छन्दो विशाल-मुच्यते। पुरुषो वयस्तन्द्रं छन्दः, तन्द्रं पङ्क्तिश्छन्दो भूत्वा उत्क्रान्तं पुरुषं पशुं वयसाप्नोत्। अनाधृष्टं विराट्छन्दो भूत्वा उत्क्रान्तं व्याघ्रं पशुं वयसा अग्रहीत्। सिंहो वयश्छदिश्छन्दः। छादयतीति छदिः, अतिच्छन्दा छन्दो भूत्वा उत्क्रान्तं सिंहं पशुं वयसाऽग्रहीत्। पृष्ठवाड् वयः, बृहतीछन्दः। पृष्ठे पृष्ठभागे वहतीति पञ्चवर्षः पशुः, बृहतीच्छन्दो भूत्वा उत्क्रान्तं पृष्ठवाहं पशुं वयसाग्रहीत्। उक्षा वयः ककुप्छन्दः। उक्षा सेचनसमर्थः पशुः ककुप्छन्दो भूत्वा उत्क्रान्तमुक्षाणं पशुं वयसा अगृह्णात्। यस्या आद्यन्तावष्टाक्षरौ पादौ, मध्यमो द्वादशाक्षरः सा ककुप्। ऋषभो वयः सतोबृहतीछन्दः। ऋषभः सेचनसमर्थोऽनड्वान्। सतोबृहतीछन्दो भूत्वा उत्क्रान्तमृषभं पशुं वयसाऽग्रहीत्। द्वादशाक्षरत्रिपादा सतोबृहती।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ छन्दस्या उपदधाति। एतद्वै देवा अब्रुवंश्चेतयध्वमिति। चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्ते चेतयमानाः पशूनेव चितिमपश्यंस्तामस्मिन्नदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति' (श० ८।२।३।७)। छन्दस्येष्टका विधाय प्रशंसति—अथ छन्दस्या इत्यादिना। चेतयमाना देवाः पशूनेव चितित्वेनापश्यन्। तां च पशुरूपां चितिमस्मिन् द्वितीयचयनेऽदधुः। अयं यजमानोऽपि तथैवास्मिन्नेतदिदानीं दधाति स्थापयति। 'छन्दस्या उपदधाति। पशवो वै छन्दाꣳसि पशूनेवास्मिन्नेतद्दधाति सर्वत उपदधाति सर्वतस्तत्पशून् दधाति तस्मात् सर्वतः पशवोऽपस्या अनूपदधात्यप्सु तत्पशून् प्रतिष्ठापयति तस्माद्यदा वर्षत्यथ पशवः प्रतितिष्ठन्ति' (श० ८।२।३।८)। छन्दःशब्देन पशवो विवक्षिता इति दर्शयति—पशवो वै छन्दांसीति। एतासामपस्यासान्निध्यं विधाय प्रशंसति—अपस्या अन्विति। तत् तेन अपस्यानन्तर्येण अप्सु उपजीवनीयासु पशून् प्रतिष्ठापयति स्थिरीकरोति। इदानीन्तनी या वृष्टिसमनन्तरभाविनी पशूनां प्रतिष्ठा साप्यपस्या, छन्दस्यानां मेलनप्रयुक्तेति दर्शयति—तस्माद्यदा वर्षति तदा पशवः प्रतितिष्ठन्तीति। 'यद्वेव छन्दस्या उपदधाति। प्रजापतेर्विस्रस्तात्पशव उदक्रामंश्छन्दाꣳसि भूत्वा तान् गायत्री छन्दो भूत्वा वयसाप्नोत्तद्यद् गायत्र्याप्नोदेतद्धि छन्द आशिष्ठꣳ सा तद् भूत्वा प्रजापतिरेतान् पशून् वयसाप्नोत्' (श० ८।२।३।९)। छन्दस्यानां पशुरूपत्वेन स्तुतिः कृता। पुनस्तामेव पशुरूपतां ज्येष्ठां दर्शयति—यद्वेव छन्दस्या इति। प्रजापतेर्विस्रस्ताद् विश्लिष्टाङ्गात् पशवो वक्ष्यमाणा अजादिलक्षणा उदक्रामन्। केन रूपेणेति चेत्, छन्दांसि भूत्वा वक्ष्यमाणाविवलादिछन्दोरूपमास्थाय। तान् उद्गतान् पशून् गायत्री छन्दो भूत्वा वयसा तत्तन्निर्गतपशूचितस्वशरीरपरिणामेन परिणतो भूत्वा। आप्नोत् पूर्वमन्तर्गतान् पशून् पुनः स्वस्मिन् कृतवान्। गायत्र्या यदाशुतरत्वं तद् गायत्रीद्वारा प्रजापतिना शीघ्रं या

सर्वपश्वाप्तिस्तन्मूलमिति दर्शयति—तद्यद् गायत्र्याप्नोदिति । यस्माद् गायत्र्यैव सर्वान् पशूनाप्नोत्, तस्मादेतच्छन्दो गायत्र्याख्यम् आशिष्ठम् आशुतरं हि श्रुत्या स्वयं प्रतिपादितोऽर्थः । पूर्वं तथासीदिति श्रुतिराह—सा तद् भूत्वेति । तत् तदा पूर्वं प्रजापतिः सा गायत्री भूत्वा एतान् पशून् वयसाप्नोत् ।

'मूर्धा वय इति । प्रजापतिर्वै मूर्धा स वयोऽभवत् प्रजापतिश्छन्द इति प्रजापतिरेव च्छन्दोऽभवत्' (श० ८।२।३।१०) । इत्थमिष्टकानां पशुरूपतामुपपाद्य पूर्वदिश्युपधेयानां चतसृणामिष्टकानां मन्त्रान् विधाय व्याख्यास्यन् अर्थान्निष्पन्नं गायत्रीरूपमिष्टमपि दर्शयति—मूर्धा वय इत्यादिना । प्रजापतिर्वै मूर्धा, स वयोऽभवदिति, उत्तरतस्तत्प्राप्तव्यपशूचिता वयोविशेषास्तेन तेन प्राप्तव्यास्तत्तच्छन्दोरूपाः पशवश्च वक्ष्यन्ते। अत्र तावत्तानि वयांसि तानि छन्दांसि सामान्येन प्रजा एवेति प्रतिपाद्यते । यथा प्रजापतिः सर्वेषां प्रधानम्, तथा मूर्धापि सर्वेषामङ्गानां प्रधानमिति प्राधान्येन विवक्षितत्वात् प्रजापतिरेव मूर्धेत्युच्यते । एवमुत्तरवाक्येष्वपि तत्तदुपचारबीजं द्रष्टव्यम् । वयोऽभवद् वयस्वानभवदित्यर्थः । यद्वा स प्रजापतिर्वै प्रसिद्धः प्रजापतिर्ननु मूर्धावयोऽभवत् । मूर्धरूपमत्युत्कृष्टं वयोऽभवत् । एवमुत्तरत्र मन्त्रत्रयेऽपि योज्यम् । प्रजापतिश्छन्द इति। प्रजापतिरेव वक्ष्यमाणं तद्विवलं छन्दोऽभवत्। अथवा प्रजापतिरेव छन्दः प्राजापत्याख्यं छन्दोऽभवदित्यर्थः । 'क्षत्रं वय इति । प्रजापतिर्वै क्षत्रꣳ स वयोऽभवन्मयन्दं छन्द इति यद्वा अनिरुक्तं तन्मयन्दमनिरुक्तो वै प्रजापतिः प्रजापतिरेव च्छन्दोऽभवत्' (श० ८।२।३।११)। क्षत्रं वय इति क्षत्रियजातितया बलविशेषो लक्ष्यते, तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रम्' (बृ० उ० १।४।११) इत्यादिश्रुतेः । अथवा क्षत्रमिति द्रविणनाम (निघ० २।१०।९) । बलमेव क्षत्रस्य द्रविणम् । शरीरपरिणामेन तद्रूपं प्राप्त इत्यर्थः । मयन्दं छन्द इति । मय इति सुखनाम (निघ० ३।५।७), तद्ददातीति मयन्दम् । अस्य प्रजापतिरूपत्वे बीजमाह—यद्वा अनिरुक्तं तन्मयन्द इति । सुखदस्वरूपस्य विशेषेण अनभिधानाद् लोकेऽपीदृक् सुखदमित्यविशेषितम्, सामान्येन मयन्दमिति व्यवहृतत्वादिदमनिरुक्तम् । प्रजापतेस्तु सर्वात्मकत्वाद् विशेषेण निर्वक्तुमशक्यत्वादनिरुक्तत्वम् । 'विष्टम्भो वय इति । प्रजापतिर्वै विष्टम्भः स वयोऽभवदधिपतिश्छन्द इति प्रजापतिर्वा अधिपतिः प्रजापतिरेव च्छन्दोऽभवत्' (श० ८।२।३।१२) । अत्र प्रजापतिर्वै विष्टम्भ इति वैशब्देन 'विष्टम्भो धरुणः पृथिव्याः' इत्यादिसर्वश्रुतिगता प्रजापतेः सर्वजगदवलम्बनप्रसिद्धिर्द्योत्यते । अधिपतिश्छन्द इत्यत्र प्रजापतेः सर्वाधिपतित्वम् 'सर्वस्याधिपतिः सर्वस्येशानः' (बृ० उ० ४।४।२२) इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धमुक्तम् । 'विश्वकर्मा वय इति । प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा स वयोऽभवत् परमेष्ठी छन्द इत्यापो वै प्रजापतिः परमेष्ठी ता हि परमे स्थाने तिष्ठन्ति प्रजापतिरेव परमेष्ठी छन्दोऽभवत्' (श० ८।२।३।१३) । अत्र प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा इति प्रजापतेर्विश्वकर्मत्वम् 'य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत्', 'यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा' इत्यादिप्रसिद्धिं दर्शयति। अत्र प्रजापतेः परमेष्ठित्वं शब्दद्वारकमिति दर्शयति—आपो वै प्रजापतिः परमेष्ठीति । जगत्सृष्टेः पूर्वमपां सर्जनात् तदभेदेनापां परमेष्ठिरूपप्रजापतिरूपत्वम् । अपामस्तु प्रजापतिरूपत्वमभेदात्, कथं पुनस्तासां परमेष्ठित्वमिति तद्दर्शयति—ता हि परमे स्थाने तिष्ठन्तीति, 'आदित्याज्जायते वृष्टिः' (म० स्मृ० ३।७६) इति स्मृतेः, 'दिवो वृष्टिमेरय' (वा० सं० १४।८), 'दिवो ह्यापः सन्नाः' इत्यादिश्रुतेश्च वृष्टेः परमस्थानभूतद्युसम्बन्धः ।

'तानि वा एतानि । चत्वारि वयाꣳसि चत्वारि छन्दाꣳसि तदष्टावष्टाक्षरा गायत्र्येषा वै सा गायत्री या तद् भूत्वा प्रजापतिरेतान् पशून् वयसाप्नोत् तस्माज्जीर्णं पशुं वयसाप्त इत्याचक्षते तस्माद् सर्वास्वेव वयो वय इत्यनुवर्ततेऽथ येऽस्मात्ते पशव उदक्रामन्नेते ते पञ्चदशोत्तरे वज्रो वै पशवो वज्रः पञ्चदशस्तस्माद्यस्य पशवो भवन्त्यपैव स पाप्मानꣳ हते वज्रो हैव तस्य पाप्मानमपहन्ति तस्माद्यां कां च दिशं पशुमानेति वज्रविहताꣳ हैव तामन्वेति' (श० ८।२।३।१४)। तान् गायत्रीछन्दो भूत्वेति यद् गायत्रीछन्द उक्तं तदिदानीं सम्पाद्य दर्शयति—तानि वा एतानि चत्वारि वयांसीत्यादिना । एषा वै सा गायत्रीति । एषेतीदानीं सम्पादितप्रकारा गायत्री या

प्राङ्निर्दिष्टा सा खलु। सा केति तामाह—या तद् भूत्वा प्रजापतिरिति। प्रजापतिर्यद् भूत्वा पशूनाप्नोत् सेत्यर्थः। 'वयोऽभवत', 'वयोऽभवत्' इति या प्रजापतेर्वयस आप्तिरुक्ता सा इदानीन्तनव्यवहारस्य मूलमिति दर्शयति—तस्माज्जीर्णं पशुं वयसाप्त इत्याचक्षत इति। यथा जीर्णं वृद्धं पशुं दृष्ट्वाऽसौ प्रभृतेन वयसाप्त इतीदानीं ब्रूते, तथा पूर्वमपि प्रजापतिर्वयसाप्नोदिति एष सत्यवादः। तस्माद् तस्मादेव वयसाप्तत्वादेव पशुस्थानीयासु सर्वास्वपीष्टकासु मूर्धा वयः, वस्तो वय इत्येवं वयःशब्दोऽनुवर्तते। इत्थं गायत्र्यात्मना सम्पन्नेन मन्त्रचतुष्टयेन आप्तस्य प्रजापतेः स्वरूपं दर्शितम्। अथाप्तव्यानां पशूनां स्वरूपं सामान्येन निर्दिशन्ती श्रुतिः पशूंस्तद्गतसंख्यां च प्रशंसति—अथ येऽस्मादिति। अस्माद् विस्रस्तात् प्राजापत्यङ्गाद् ये पशव उदक्रामन्, एते ते प्रसिद्धा वक्ष्यमाणा बस्तादय इत्यर्थः। के ते? कियन्तो वा? पञ्चदशेत्युत्तरम्। पञ्चदशस्तोमस्य प्रजापतेः सारभूतांशबाहुलक्षणावयवेभ्य उत्पन्नत्वाद्वा बाह्वोर्वधसाधनत्वाद् वज्रत्वम्। पशूनां वज्रत्वं स्वयमेव दर्शयति—तस्माद्यस्य पशवो भवन्तीति। पाप्मानं क्षुद्दारिद्र्यलक्षणं स पशुमान् अपहत एव भवति। वज्रो हैव वज्रः खलु तस्य पाप्मानमपहन्ति। अतो यद्धनन-साधनं तद् वज्रमिति सिद्धोऽर्थः। युक्तिभिरुपपादितमर्थं लोकस्थित्या द्रढयति—तस्माद्यां कां चेति। तां दिशं वज्रविहतामेवान्वेति, पशुभिरुपक्रान्तस्य वर्त्मनोऽप्रतिहतत्वात्।

'वस्तो वय इति। वस्तं वयसाप्नोत् विवलं छन्द इत्येकपदा वै विवलं छन्द एकपदा ह भूत्वाऽजा उच्चक्रमुः' (श० ८।२।४।१)। 'पञ्चदशोत्तरे' इति ये पशवः संग्रहेण निर्दिष्टाः, तानिदानीं दक्षिणोत्तरपश्चिमदिक्षु क्रमेणोपधेयेष्टकानां मन्त्रव्याख्यानप्रसङ्गेन दर्शयति—बस्तो वय इत्यादिना। बस्तः अजजातिः शरीरपरिमाण-विशेषः, वयो बस्ताकारः शरीरपरिमाणो बस्ततया प्रजापतिना स्वीकृत इत्यर्थः, 'अजेतराऽभवद् बस्त इतरः' इति श्रुतेः। 'बस्तं वयसाप्नोत्' इति तात्पर्यतो व्याख्यानं बस्तोचितवयो धृत्वा बस्तमाप्नोति। ब्राह्मणं तु मन्त्रपदयोर्विभक्ति विपरिणमय्य व्याचष्टे—बस्तः, बस्तमित्यर्थ। वयः, वयसेत्यर्थः। वयसा बस्तमाप्नोदिति वाक्यार्थः। एवं सर्वत्र व्याख्येयम्। एवं स्वाभाविकं पशूनां रूपमभिधाय उत्क्रमणसमये छन्दोरूपेण उत्क्रान्तत्वात् तद्रूपप्राप्तिमाह—विवलं छन्द इति। स्वीकृतवानिति शेषः। एतद् व्याचष्टे—एकपदा वै विवलं छन्द इति। विगतं बलं यस्या एकपदायाः सकाशादित्येकपदा वाग् विवलं छन्दः। पदद्वयाभावाद् एकपदाया विवलछन्दोरूपता युक्ता, अर्थापरिसमाप्तेः। ननु बस्तापरपर्यायेष्वजेषूत्क्रान्तेषु विवलच्छन्दोऽवाप्तिः कुत्रोपयुज्यते? इत्यत आह—एकपदा ह भूत्वाऽजा उच्चक्रमुरिति। एवमुत्तरत्र तत्तच्छन्दोवाक्यानि व्याख्येयानि। 'वृष्णिर्वय इति। वृष्णिं वयसाप्नोद्विशालं छन्द इति द्विपदा वै विशालं छन्दो द्विपदा ह भूत्वा वय उच्चक्रमुः' (श० ८।२।४।२)। वृष्णिनामा अविजातिः। व्याख्या पूर्ववत्। विशालं छन्द इति। अत्र द्विपदा वै विशालं छन्द इति द्विपदायामृचि पादद्वयसद्भावादेकपदापेक्षया युक्ता विशालछन्दोरूपता। उत्क्रमणसमयेऽवीनां द्विपदारूपाश्रयणाद् द्विपदारूपस्य विशालच्छन्दस आप्तिः प्रजापतेर्युक्तैव। 'पुरुषो वय इति। पुरुषं वयसाप्नोत्तन्द्रं छन्द इति पङ्क्तिर्वै तन्द्रं छन्दः पङ्क्तिर्हि भूत्वा पुरुषा उच्चक्रमुः' (श० ८।२।४।३)। 'व्याघ्रो वय इति। व्याघ्रं वयसाप्नोदनाधृष्टं छन्द इति विराड्वा····छन्दोऽन्नं वै विराडन्नमनाधृष्टं विराड्ढ भूत्वा व्याघ्रा उच्चक्रमुः' (श० ८।२।४।४)। वयसाप्तव्यस्य व्याघ्रस्यानाधृष्टत्वात् तदीयस्य छन्दसोऽप्यनाधृष्टत्वेनैव भवितव्यमित्येतद् व्याचष्टे—विराड्वा अनाधृष्टं छन्द इति। विराट्छन्दोऽन्नात्मना स्तौति—अन्नं वै विराडिति। अन्नत्वेन स्तुतौ बीजमनाधृष्टत्वसाम्यमिति दर्शयति—अन्नमनाधृष्टमिति। अन्नस्य धर्षणायोग्यत्वं सर्वप्रसिद्धम्।

'सिꣳहो वय इति। सिꣳहं वयसाप्नोच्छदिश्छन्द इत्यतिच्छन्दा वै छदिश्छन्दः सा हि सर्वाणि छन्दाꣳसि छादयत्यतिच्छन्दा ह भूत्वा सिꣳहा उच्चक्रमुरथावो निरुक्तानेव पशून्निरुक्तानि च्छन्दाꣳस्युपदधाति'

(श० ८।२।४।५)। छदिश्छन्द इति। सर्वेषां च्छन्दसामाच्छादकम्, न चैकपदा द्विपदा पङ्क्तिरित्येवमादीनि छन्दांसि यथा प्रसिद्धानि तादृशमिव छदिश्छन्दः, अतस्तस्यार्थमाह—अतिच्छन्दा वै छदिश्छन्द इति। यथा सिंहः सर्वान् पशूनतीत्य वर्तते, एवं तद्रूपं छन्दोऽप्यतिच्छन्दा इति युक्तम्। कुतस्तस्यातिच्छन्दस्त्वमिति तत्राह—सा हि सर्वाणि छन्दांसि छादयतीति। सर्वाण्यतिजगत्यादीनि छन्दांसि, 'सा' इति तच्छन्दोबद्धामृचमपेक्ष्य स्त्रीलिङ्गता। अस्याश्च इतो न्यूनच्छन्दसामन्तर्भावादतिच्छन्दस्त्वव्यपदेशः। अर्थात् छादनात् छदिरिति व्युत्पत्तिः प्रदर्शिता भवति। इत्थं दक्षिणत उपधेयानां पञ्चानामिष्टकानां पञ्च मन्त्रा व्याख्याताः। अथोत्तरतः पश्चाच्चोपधेयानां दशानामिष्टकानां मन्त्रान् विधाय व्याचिख्यासुरुक्तेभ्यो वक्ष्यमाणानां किञ्चिद्वैलक्षण्यमाह—अथातो निरुक्तानेव पशून्निरुक्तानि च्छन्दांस्युपदधातीति। उक्तवैलक्षण्यद्योतनार्थमथशब्दः। पूर्वत्र पशवो निरुक्ता अजाव्यादयः, छन्दांसि तु विवलादीन्यनिरुक्तान्युक्तानि। यद्वा पूर्वत्र छन्दांसि पशवश्चेत्युभयमप्यनिरुक्तम्, उत्तरत्र निरुक्तमिति विशेषः। पूर्वं हि प्रजापतिश्छन्दः, मयन्दं छन्द इत्युक्तत्वाच्छन्दसां मध्ये प्रजापतिमयन्दादेरपि गणनात्। वक्ष्यमाणास्तु पष्ठवाडादयस्तद्रूढ्यैदयुक्ता निरुक्ता एव छन्दांस्यपि बृहतीककुबादीनि निरुक्तान्येव। अत उत्तरत्र निरुक्तानेव पशून् निरुक्तानि छन्दांस्युपदध्यात्।

'पष्ठवाड् वय इति। पष्ठवाहं वयसाप्नोद् बृहती छन्द इति बृहती ह भूत्वा पष्ठवाह उच्चक्रमः' (श० ८।२।४।६)। तत्र प्रथमं पशुं छन्दश्च निरुक्तं दर्शयति—पष्ठवाडित्यादिना। पष्ठं पृष्ठभागः। तत्र भारं वोढुं शक्तः पष्ठवाट् तं पष्ठवाहं प्रजापतिराप्तव्यपष्ठवाड् योऽयं वयः शरीरविकारं प्राप्तवानित्यर्थः। बृहती छन्द इति बृहती ककुबादीनि छन्दांसि प्रसिद्धानि। बृहतीरूपेणोत्क्रान्तत्वात् प्रजापतिरपि बृहतीच्छन्दोऽभूदित्यर्थः। 'उक्षा वय इति। उक्षाणं वयसाप्नोत् ककुप् छन्द इति ककुब्भ भूत्वोक्षाण उच्चक्रमुः' (श० ८।२.४।७)। सेचनसमर्थः पशुरुक्षा। ककुप् छन्द इति। 'ककुन्मध्ये चेदन्त्यः' (पि० छ० ३।१९)। गायत्रयोः पादयोर्मध्ये जागतश्चेत्पादो भवति, तदा सा उष्णिक् ककुप्संज्ञां लभत इति तदर्थः। अष्टाक्षरयोर्मध्ये द्वादशाक्षर इति भावः। 'ऋषभो वय इति। ऋषभं वयसाप्नोत् सतोबृहती छन्द इति सतोबृहती ह भूत्वर्षभा उच्चक्रमुः' (श० ८।२।४८)। ऋषभस्ततोऽप्युत्कृष्टवयाः। सतोबृहती छन्द इति। आद्यतृतीयौ पादौ द्वादशाक्षरौ द्वितीयचतुर्थौ अष्टाक्षरौ चेत्सा सतोबृहतीनाम बृहत्यवान्तरविशेषः। 'अयुजौ जागतौ सतोबृहती' इति तल्लक्षणमिति सायणाचार्यः। पिङ्गलछन्दःसूत्रे तु—त्रिभिर्जागतैर्महाबृहती' (पि० छ० ३।३५)। त्रिभिर्जागतैः पादैश्छन्दो महाबृहती नामेति तदर्थं इति हलायुधः। 'सतोबृहती ताण्डिनः' (पि० छ० ३।३६)। इयमेव महाबृहती ताण्डिन आचार्यस्य मतेन सतोबृहती नामेति तदर्थः।

अध्यात्मपक्षे—प्रजापतिः परमेश्वरो मूर्धा सर्वेषां प्रधानश्छन्दः स्वतन्त्रो वयो वयस्वान् तत्तच्छरीरावस्थावान् जात इति शेषः। स एव क्षत्रं क्षत्रियजातिगतं बलं तदनुगुणं वयो मयन्दं सुखकरं छन्दः स्वातन्त्र्यं च गतवानिति शेषः। स एव विष्टम्भो जगद्धारकः। अधिपती राजादिः, तदुचितवयोऽवस्थावान्, छन्दस्तदुचितस्वातन्त्र्योपेतः, अभवदिति शेषः। प्रजापतिरेव परमेष्ठी परमे उत्कृष्टे ब्रह्मादिपदे स्थितः सन् विश्वकर्मा विश्वस्रष्टा भूत्वा तदुचितशरीरावस्थास्वातन्त्र्योपेतोऽभवत्। स एव बस्तः, अजस्तदुचितवयस्वान् विवलं छन्दो विगतबलस्वाच्छन्द्योऽभवत्। स एव वृष्णिर्मेषः, तदुचितवयस्वान् पूर्वापेक्षया विशालस्वातन्त्र्योऽभवत्। स एव पुरुषो मनुष्यस्तदुचितवयोऽवस्थावान् तन्द्रं पङ्क्तिश्छन्दः स्तुतोऽभवत्। स एव व्याघ्रस्तदनुगुणवयस्वान् विराट्छन्दः स्तुतोऽभवत्। तथैव सिंहस्तदनुगुणवयस्वान् अतिच्छन्दः स्तुतोऽभवत्। पष्ठवाडुष्ट्रादि तदनुगुणवयस्वान् बृहतीछन्दः स्तुतोऽभवत्। उक्षा तदनुगुणवयस्वान्। अन्यानि वाक्यानि रीत्याऽनया व्याख्येयानि।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि पुरुष वा, मूर्धा मूर्धवदुत्तमं ब्राह्मणकुलं प्रजापतिरिव च वयः कमनीयं मयन्दं यन्मयं सुखं ददाति तत् छन्दो विद्या धर्मः शमादिकं क्षत्रं क्षत्रियकुलमेरय। विष्टम्भो विशो वैश्यस्य विष्टम्भो रक्षणं येन सः। अधिपतिः अधिष्ठातेव त्वं वयो न्यायविनयपराक्रमव्याप्तं छन्दो बलयुक्तमेरय। विश्वकर्मा अखिलोत्तरकर्मकर्ता राजा परमेष्ठीव सर्वेषां स्वामीव त्वं वयः कमिता छन्दः स्वाधीन एरय। बस्तो व्यवहारैराच्छादित इव त्वं वयो विविधव्यवहारव्यापी विबलं विविधं बलं यस्मात् तच्छन्द एरय। वृष्णिः सुखसेचकस्त्वं विशालं विस्तीर्णं छन्दः स्वाच्छन्द्यम् एरय। पुरुषः पुरुषार्थयुक्त इव त्वं वयः सुखप्रापकं तन्द्रं कुटुम्बधारणं 'तन्त्रि कुटुम्बधारणे' छन्दो बलम् एरय। व्याघ्र इव त्वं यो विविधान समन्ताद् जिघ्रति स इव त्वं वयः कमनीयम् अनाधृष्टं धाष्ट्र्यं छन्दो बलम् एरय। सिंहः यो हिनस्ति पश्वादीन स इव त्वं वयः पराक्रमं छदिर् अपवारणं छन्दः प्रदीपनम् एरय। पष्ठवाडिव यः पृष्ठेन वहत्युष्ट्रादिः स इव त्वं बृहती महत्त्वं वयो बलवान् छन्दः पराक्रमम् एरय। उक्षेव सेचको वृषभ इव त्वं वयो बलिष्ठः ककुप दिशश्छन्द आनन्दम् एरय। ऋषभ इव गतिमान् पशुरिव त्वं वयो बलिष्ठः सतोबृहतीछन्दः स्वातन्त्र्यमेरय' इति, तत्सर्वमसङ्गतमेव, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, गौणार्थाश्रयणात्, मुख्यार्थत्यागात्, वयश्छन्दआदिपदानां निर्मूलशब्दार्थकल्पनाबाहुल्याच्च, श्रुतिसूत्रविरोधाच्च। 'तद्यानि वर्षिष्ठानि छन्दाᳬसि। ये स्थविष्ठाः पशवस्तान्मध्य उपदधाति मध्यं तत्प्रति पशुं वरिष्ठं करोति तस्मान्मध्यं प्रति पशुर्वरिष्ठोऽथ ये वीर्यवत्तमाः पशवस्तान् दक्षिणत उपदधाति दक्षिणं तदर्धं पशोर्वीर्यवत्तरं करोति तस्माद्दक्षिणोऽर्धः पशोर्वीर्यवत्तरः' (श० ८।२।४।१९) इत्यादिश्रुतिभिः स्पष्टमेव छन्दसां पशूनां च सम्बन्धे छन्दस्यानामिष्टकानां चयने उपधानमुक्तम्। ॥ ९ ॥

अनड्वान्वयः पङ्क्तिश्छन्दो धेनुर्वयो जगतीच्छन्दस्त्र्यविर्वयस्त्रिष्टुप् छन्दो दित्यवाड्वयो विराट् छन्दः पञ्चाविर्वयो गायत्रीच्छन्दस्त्रिवत्सो वय उष्णिक् छन्दस्तुर्यवाड्वयोऽनुष्टुप् छन्दो लोकं ता इन्द्रम् ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—प्रजापति ने पंक्ति छन्द से बलीवर्द को, जगती छन्द से धेनु को, त्रिष्टुप् छन्द से अठारह मास के पशु को, विराट् छन्द से धान्य वहन करने वाले पशुओं को, गायत्री छन्द से ढाई वर्ष के पशुओं को, उष्णिक् छन्द से तीन वर्ष के पशुओं को और अनुष्टुप् छन्द से चार वर्ष के पशुओं को उत्पन्न किया ॥ १० ॥

अनड्वान् अनः शकटं वहतीति तथोक्तो बलीवर्दः पङ्क्तिश्छन्दो भूत्वा उत्क्रान्तमनड्वाहं पशुं वयसाऽग्रहीत्। धेनुर्नवप्रसूता सवत्सा गौर्जगतीच्छन्दो भूत्वा उत्क्रान्ता, तां वयसाऽग्रहीत्। षण्मासात्मकः कालोऽविः षड्भिर्मासैः खलु ता जायन्त इत्यविशब्देन गर्भधारणं प्रारभ्य प्रसवपर्यन्तः षण्मासकालो लक्ष्यते। तिस्रोऽवयोऽस्येति त्र्यविरष्टादशमासात्मकः पशुस्त्रिष्टुप्छन्दो भूत्वोत्क्रान्तः, तं वयसाऽग्रहीत्। दित्यवाड् दितिं खण्डनमर्हतीति दित्यं धान्यं तद्वहतीति दित्यवाट्, यद्वा द्विवर्षः पशुर्दित्यवाट्, विराटछन्दो भूत्वोत्क्रान्तः, तं पशुं वयसाऽग्रहीत्। पञ्चाविः पञ्चावयो यस्य सः सार्धद्विवर्षः पशुर्गायत्रीच्छन्दो भूत्वोत्क्रान्तः, तं वयसा पर्यगृह्णात्। त्रिवत्सो वत्सो नवमासात्मकः कालः, त्रयो वत्सा यस्यासौ त्रिवत्सः पशुरुष्णिक्छन्दो भूत्वा उत्क्रान्तः, तं वयसा जग्राह। तुर्यवाट् तुर्यं चतुर्थं वर्षं वहतीति तथोक्तश्चतुर्वर्षः पशुः, अनुष्टुप्छन्दो भूत्वा उत्क्रान्तः, तं प्रजापतिर्वयसा जग्राह। एवं श्रुत्यनुसारेण मन्त्रा व्याख्याताः। 'दक्षिणश्रोणेरधि लोकम्पृणाः पूर्ववत्' (का० श्रौ० १७।८।२५)। दक्षिणश्रोणेरारभ्य पूर्ववत् प्रथमं द्वे ततो दश दश लोकम्पृणाः प्रदक्षिणमुपदध्यात्, ततः पूर्ववत् पक्षपुच्छचयनम्, ततः पुरीषनिवापः, ससर्चोपस्थानं चेति सूत्रार्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अनड्वान् वय इति। अनड्वाहं वयसाप्नोत् पङ्क्तिश्छन्द इति पङ्क्तिर्हं भूत्वाऽनड्वाह उच्चक्रमुः' (श० ८।२।४।९)। अनो वहनसमर्थोऽनड्वान्। अष्टाक्षरपञ्चपदा पङ्क्तिः। धेनुर्वय इति। धेनं वयसाप्नोज्जगती च्छन्द इति जगती ह भूत्वा धेनव उच्चक्रमुः' (श० ८।२।४।१०)। धेनुर्नवप्रसूतिका। अष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती। 'त्र्यविर्वय इति। त्र्यविं वयसाप्नोत् त्रिष्टुप्छन्द इति त्रिष्टुब्भभूत्वा त्र्यवय उच्चक्रमुः' (श० ८।२।४।११)। पश्चादुपधेयानां मन्त्रानाह—त्र्यविर्वय इति। त्रेधा मनसा वाचा कर्मणा अवतीति त्र्यविः, त्रैवार्षिको वा अविस्त्र्यविः। त्रिष्टुप्छन्द इति। चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप्। 'दित्यवाड् वय इति। दित्यवाहं वयसाप्नोद् विराट्छन्द इति विराड्ढ भूत्वा दित्यवाह उच्चक्रमुः' (श० ८।२।४।१२)। दित्यवाड् दितिरवखण्डनम्, तदर्हतीति दित्यं धान्यम्, तद्वहतीति तथोक्तः। अल्पानल्पवाहक इत्यर्थः। दशाक्षरा विराट्। 'पञ्चाविर्वय इति। पञ्चाविं वयसाप्नोद् गायत्री छन्द इति गायत्री ह भूत्वा पञ्चावय उच्चक्रमुः' (श० ८।२।४।१३)। पञ्चाविर्वय इति। पञ्चवार्षिकोऽत्यन्तवर्षीयान् वा अविः। गागत्री छन्द इति चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री। 'त्रिवत्सो वय इति। त्रिवत्सं वयसाप्नोदुष्णिक् छन्द इत्युष्णिग्घ भूत्वा त्रिवत्सा उच्चक्रमुः' (श० ८।२।४।१४)। त्रिवत्सस्त्रयो वत्सा यस्य साम्येन शक्ताः स त्रिवत्सः। उष्णिग् अष्टाविंशत्यक्षरा। 'तुर्यवाड् वय इति। तुर्यवाहं वयसाप्नोदनुष्टुप्छन्द इत्यनुष्टुब्भ भूत्वा तुर्यवाह उच्चक्रमुः' (श० ८।२।४।१५)। अनआदेरग्रतः प्रविश्य तुर्यत्वेन वोढुं शक्तस्तुर्यवाट्। द्वात्रिंशदक्षरानुष्टुप्। 'एते वै ते पशवः। यांस्तत्प्रजापतिर्वयसाप्नोत स वै पशुं प्रथममाहाथ वयोऽथ छन्दो वयसा च ह्येनांश्छन्दसा च परिगत्यात्मन्नधत्तात्मन्नकुरुत तथैवैनानयमेतद्वयसा चैव छन्दसा च परिगत्यात्मन् धत्त आत्मन् कुरुते' (श० ८।२।४।१६)। उपक्रमे प्रतिपादितमर्थं प्रतिज्ञापयन्नुपसंहरति—एते वै ते पशव इति। एते प्रागुक्ताः पशवस्ते वै बस्तो वय इत्यादिनोक्ताः खलु। के ते ? यांस्तत्प्रजापतिर्वयसाप्नोद् इत्युत्तरम्। तत् तदा यान् पशून् प्रजापतिर्वयसाप्नोत् त एत इत्यर्थः। सर्वेषु मन्त्रेषु पशुवयश्छन्दसां यत्पौर्वापर्यं तत्प्रशंसति—स वै पशुमिति। स प्रजापतिर्बस्तो वय इत्येवमादौ बस्तं पशुं पश्चात् वयः, तदनन्तरं विबलं छन्दः, तथा सत्येनं प्रथमनिर्दिष्टं पशुं वयसा स्वाभाविकेन रूपेण छन्दसा पलायनोचितैकपदादिरूपेण स परिगत्य आत्मन् आत्मनि अधत्त, धृत्वा च स्वात्मन्यकुरुत स्वात्मना सहैकीकृतवान्। तथैवैनान् यजमानोऽपि स्वात्मनि धत्ते। इति द्वितीया चितिः सम्पूर्णा।

अध्यात्मपक्षे—पूर्वकण्डिकाव्याख्यानवदेव व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि पुरुष, अनड्वानिव त्वं पङ्क्तिश्छन्दो वयो बलं प्रेरय। धेनुरिव त्वं जगती छन्दो जगदुपकारकमाह्लादकं वयः प्रजननं प्रेरय। त्र्यविरिव त्रयोऽव्यादयो यस्मात्तं त्रिष्टुप् त्रीणि कर्मोपासनाज्ञानानि स्तुवन्ति यया सा तथोक्ता। छन्दो वयः प्रापणम् एरय। दित्यवाडिव त्वं विराट् छन्दो वय एरय। पञ्चाविरिव त्वं गायत्री छन्दो वय एरय। त्रिवत्स इव त्वमुष्णिक् छन्दो वय एरय। त्रिवत्स इव त्वमुष्णिक् छन्दो वय एरय। तुर्यवाडिव त्वमनुष्टुप् छन्दो वय एरय' इति, तदपि पूर्ववदेव खण्डनीयम् ॥ १० ॥

इन्द्राग्नी अव्यथमानामिष्टकां दृꣳहतं युवम्।
पृष्ठेन द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं च विबाधसे ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र और अग्नि नामक देवताओं ! तुम दोनों अचल और वक्रता से रहित स्वयमातृण्णा नामक इष्टका को दृढ़ करो। हे स्वयमातृण्णा इष्टके ! तुम अपने ऊपर के भाग में पृथ्वी, स्वर्ग और अन्तरिक्ष को बाधित करने में समर्थ बनो ॥ ११ ॥

अथ तृतीया चितिः। इन्द्राग्नी विश्वकर्मा च तन्मन्त्राणामृषिः। 'तृतीयायाᳬ स्वयमातृण्णामिन्द्राग्नी इति मध्ये' (का० श्रौ० १७।९।१)। तृतीयायां चितावात्मनो मध्ये स्वयमातृण्णामुपदध्यादिति सूत्रार्थः। अनुष्टुप्। पूर्वोऽर्धर्च इन्द्राग्निदेवत्यः, उत्तरः स्वयमातृण्णादेवत्यः। अर्थानुरोधादुत्तरोऽर्धर्चः पूर्वं व्याख्यायते—विबाधस इति पुरुषव्यत्ययः, विबाधत इति। येयमिष्टका पृष्ठेन स्वकीयेनोत्तरभागेन च द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं च, लोकत्रयमित्यर्थः। विबाधते अभिभवति। हे इन्द्राग्नी, युवं युवाम् अव्यथमानाम् अचलन्तीम् अभङ्गुरां तामिष्टकां स्वयमातृण्णाख्यां दृंहतं दृढीकुरुतम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'तृतीयां चितिमुपदधाति। एतद्वै देवा द्वितीयां चितिं चित्वा समारोहन् यदूर्ध्वं पृथिव्या अर्वाचीनमन्तरिक्षात्तदेव तत्संस्कृत्य समारोहन्' (श० ८।३।१।१)। तृतीयां चितिं विधाय प्रशंसति—तृतीयां चितिमित्यादि। एतद्वै एतत्खलु पूर्वमासीद् यद् देवा द्वितीयां चितिं चित्वा समारोहन्। तत्किमित्याह—यदूर्ध्वं पृथिव्या इति। पृथिव्यन्तरिक्षयोर्मध्यदेशमारोहन्नित्यर्थः। तत्समारोहणकाले तदेव द्वितीयचितिस्वरूपं संस्कृत्य समारोहन्। 'तेऽब्रुवन्। चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवन्नित ऊर्ध्वमिच्छतेति ते चेतयमाना अन्तरिक्षमेव बृहतीं तृतीयां चितिमपश्यंस्तेभ्य एष लोकोऽच्छदयत्' (श० ८।३।१।२)। लोकान्तरसमारोहणेऽपि चितिसंस्कारमेवोपायत्वेनामनन्तस्ते देवाः परस्परं चेतयध्वमित्यब्रुवन्। चेतयमानास्तेऽन्तरिक्षमेव बृहतीं तृतीयां चितिमपश्यन्। अस्या बृहतीत्वमुत्तरत्र षट्त्रिंशत्संख्याकेष्टकासम्पादनेन वक्ष्यति—'त्रीणि द्वादशान्युपदधाति' (श० ८।३।३।८) इति कण्डिकायाम्। एषोऽन्तरिक्षलोक इष्टकाच्छादनाभिधः, अच्छदयद् आत्मानं छादित्वा आच्छन्नोऽभूत्, अस्पष्टोऽभूदित्यर्थः। 'त इन्द्राग्नी अब्रुवन्। युवं न इमां तृतीयां चितिमुपधत्तमिति। किं नौ ततो भविष्यतीति युवमेव नः श्रेष्ठौ भविष्यथ इति तथेति तेभ्य एतामिन्द्राग्नी तृतीयां चितिमुपाधत्तां तस्मादाहुरिन्द्राग्नी एव देवानाᳬ श्रेष्ठाविति' (श० ८।३।१।३)। ते देवा इन्द्राग्नी प्रति एवमब्रुवन्। युवं युवां नोऽस्मदर्थे इमां तृतीयामन्तरिक्षरूपां चितिमुपधत्तमिति। अथ तौ सर्वदेवेष्वात्मनः श्रैष्ठ्यं वृतवन्तौ। तच्च लब्ध्वा तृतीयां चितिमुपाधत्ताम्। तस्माद् वेदवादिन इन्द्राग्नी एव देवानां श्रेष्ठावित्याहुः। 'स वा इन्द्राग्निभ्यामुपदधाति। विश्वकर्मणा सादयतीन्द्राग्नी च वै विश्वकर्मा चैतां तृतीयां चितिमपश्यंस्तस्मादिन्द्राग्निभ्यामुपदधाति विश्वकर्मणा सादयति' (श० ८।३।१।४)। स खलु यजमानोऽपि, इन्द्राग्निभ्यां तृतीयां चितिमुपदधाति, उपधानमन्त्रे तथा प्रतिपादनात्। विश्वकर्मणा विश्वकर्मलिङ्गकेन मन्त्रेण सादयति। 'विश्वकर्मा त्वा सादयतु' इति हि मन्त्रः। ननु देवैः प्रार्थितत्वाद् इन्द्राग्निभ्यामुपधानम्, विश्वकर्मणः कः प्रसङ्ग इति तत्राह—इन्द्राग्नी च वै विश्वकर्मा च एतां तृतीयां चितिमपश्यन्निति। तस्मादित्युपसंहारः।

'यद्वेवेन्द्राग्निभ्यामुपदधाति। विश्वकर्मणा सादयति प्रजापतिं विस्रस्तं देवता आदाय व्युदक्रामंस्तस्येन्द्राग्नी च विश्वकर्मा च मध्यमादायोत्क्रम्यातिष्ठन्' (८।३।१।५)। उक्तमर्थमनूद्य प्रकारान्तरेण प्रशंसति—यद्वेवेन्द्राग्निभ्यामित्यादिना। पुरा किल विस्रस्तस्य प्रजापतेरेकैकमंशमादाय देवता व्युदक्रामन् विविधमुद्गताः। तस्य मध्यभागमिन्द्राग्नी च विश्वकर्मा च आदायोत्क्रम्याविष्ठन्। 'तानब्रवीत्। उप मेत प्रति म एतद्धत्त येन मे यूयमुदक्रमिष्टेति किं नस्ततो भविष्यतीति युष्मद्देवत्यमेव म एतदात्मनो भविष्यतीति तथेति तदस्मिन्नेतदिन्द्राग्नी च विश्वकर्मा च प्रत्यदधुः' (श० ८।३।१।६)। तान् मध्यदेशापहर्तॄन् प्रजापतिरब्रवीत्—उपमेतेति मा माम् उपेत उपगच्छत, उपगत्य च मे मदीयमेतदपहृतमङ्गं प्रतिधत्त सन्धानं कुरुत। तस्मादस्माकं को लाभः ? इति तैरुक्ते—ममात्मनः शरीरस्य सम्बन्धि एतदङ्गं तृतीयचितिरूपं युष्मद्देवत्यं यूयं देवता दीपयित्र्यो यस्य तद् युष्मद्देवतमिति

प्रजापतिनोक्तमाकर्ण्य तथेत्यङ्गीकृत्य तदङ्गमस्मिन् चयनात्मकप्रजापतिशरीरमध्यदेशे प्रत्यदधुः प्रतिनिहितवन्तः। 'तद्यैषा मध्यमा स्वयमातृण्णा। एतदस्य तदात्मनस्तद्यदेतामत्रोपदधाति यदेवास्यैषात्मनस्तदस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति तस्माद्देतामत्रोपदधाति' (श० ८।३।१।७)। किं तदङ्गमिति तत्राह—तद्यैषेति। स्वयमातृण्णा एव मध्ये उपधेयत्वेन प्राधान्यान्मध्यमचितिरूपास्ति। एतदस्य प्रजापतेरात्मनः शरीरस्य तद् विस्रस्तमङ्गम्। तद्यदेतां स्वयमातृण्णामत्र मध्यदेशे उपदधाति। 'इन्द्राग्नी अव्यथमानाम्। इष्टकां दृꣳहतं युवमिति यथैव यजुस्तथा बन्धुः पृष्ठेन द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं च विबाधस इति पृष्ठेन ह्येषा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं च विबाधते' (श० ८।३।१।८)। स्वयमातृण्णाया उपधानमन्त्रस्य पूर्वभागः स्पष्टार्थ इत्याह—इन्द्राग्नी अव्यथमानामित्यादिना। हे इन्द्राग्नी, युवं युवामव्यथमानां कुशलां युवाभ्यामुपधेयत्वाद् व्यथारहितां सुखितामित्यर्थः। दृंहतं दृढीकुरुतम्। हे स्वयमातृण्णेष्टके, त्वं पृष्ठेन द्यावापृथिवी अन्तरिक्षमिति लोकत्रयं विबाधसे अभिभवसि।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्राग्नी जीवेश्वरौ, युवामव्यथमानां प्रपञ्चोपप्लवैरनुपद्रुतामिष्टकां तद्वत् संसार-मण्डपभित्तिरूपां महामायां वा दृंहतं दृढीकुरुतम्। जीवः कर्मानुष्ठानेन तां द्रढयति, ईश्वरश्च सत्तास्फूर्तिप्रदानेन। हे महामाये, पृष्ठेन पृष्ठभागेन भित्तोष्टकेव द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं च न केवलं वहसि, अपितु विबाधसे लोकत्रयमभिभवसि।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्राग्नीव वर्तमानौ स्त्रीपुरुषौ, युवमव्यथमानां प्रज्ञां प्राप्य इष्टकामिव गृहाश्रमं दृंहतं दृढीकुरुतम्। यथा द्यावापृथिवी पृष्ठेन अन्तरिक्षं बाधेते, तथा दुःखानि शत्रूंश्च बाधेथाम्। हे पुरुष, त्वमेतस्याः स्वपत्न्याः पीडां विबाधसे, तथा चेयमपि तव पीडां बाधताम्' इति, तदप्युच्छृङ्खलत्वमेव व्याख्यातुर्बोधयति, तादृशसम्बोधने मानाभावात्। स्त्रीपुरुषयोश्च नहीन्द्राग्निद्वयवद् वर्तमानत्वं सम्भवति। लक्ष्मीनारायणौ गौरीशङ्करौ इत्येव स्यात्। तथात्वे च विबाधस इत्यस्य का गतिः? वचनव्यत्ययश्च निर्मूल एव, शत्रुदुःखादीना-मध्याहारोऽपि निर्मूल एव। पुनश्च प्रथमवचनेन परस्परदुःखबाधकत्वोपन्यास इत्येतत्सर्वमपि स्वैरित्वमेव द्योतयति। कीदृशीं परस्परसम्बन्धिनीं पीडां दम्पती बाधेते? ॥ ११ ॥

विश्वकर्मा त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे व्यचस्वतीं प्रथस्वतीमन्तरिक्षं यच्छान्तरिक्षं दृꣳहान्तरिक्षं मा हिꣳसीः। विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय। वायुष्ट्वाभिपातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—हे स्वयमातृण्णे ! विश्वकर्मा प्रजापति अवकाशयुक्त विस्तार वाली तुमको अन्तरिक्ष के ऊपर स्थापित करें। हे इष्टके ! तुम सम्पूर्ण प्राणियों के प्राण, अपान, व्यान, उदान नामक वायुबल की दृढ़ता के निमित्त, स्वगृह की प्रतिष्ठा और शास्त्रानुसार आचरण के निमित्त अन्तरिक्ष को गन्धर्व, अप्सरा आदि के धारणयोग्य बनाओ, अन्तरिक्ष को दृढ़ करो, अन्तरिक्ष को पीड़ा मत दो। वायु देवता तुम्हारी योगक्षेम की सम्पत्ति से, शुभकारी विशेष तेज से सब ओर से रक्षा करे। तुम्हारे जो अधिष्ठात्री देवता हैं, उन देवताओं से अनुगृहीत हुई तुम अंगिरा के समान निश्चल एवं दृढ़ बनो ॥ १२ ॥

वायुदेवत्यं विकृतिच्छन्दस्कं यजुः स्वयमातृण्णोपधाने विनियुक्तम्। हे स्वयमातृण्णे, विश्वकर्मा प्रजापतिस्त्वा त्वामन्तरिक्षस्य पृष्ठे उपरि सादयतु स्थापयतु। कीदृशीं त्वाम्? व्यचस्वतीम् अभिव्यक्तियुक्ताम्। पुनः कीदृशीम्? प्रथस्वतीं प्रथनं प्रथो विस्तारः, सोऽस्त्यस्या इति प्रथस्वती, ताम्। हे इष्टके, तादृशी त्वमन्तरिक्षं यच्छ यक्षगन्धर्वाप्सरोगणादिधारकतया नियमय। अन्तरिक्षं दृंह परोपद्रवाभावेन दृढीकुरु। तदन्तरिक्षं मा हिंसीः। किमर्थम्? विश्वस्मै सर्वस्मै प्राणाय अपानाय उदानाय, अर्थात् तत्तद्वायुवृत्तिलाभाय, प्रतिष्ठायै स्वगृहे स्थितिलाभाय, चरित्राय शास्त्रीयाचरणाय। प्राणिनामेतत् सर्वं लोकदार्ढ्ये सत्येव सम्भवतीति तदर्थमन्तरिक्षनियमनादिकं प्रार्थ्यते। किञ्च, सर्वस्य सिद्ध्यर्थमयं वायुस्त्वामभितः सर्वतः पातु। त्वत्सहचारितया पातु रक्षतु च। केन प्रकारेण रक्षणमिति चेदुच्यते—मह्या महत्या स्वस्त्या योगक्षेमसम्पत्त्या शन्तमेन अत्यन्तशुभकारिणा छर्दिषा दीप्तिविशेषेण, एतत्सर्वं सम्पाद्येति यावत्। तदाधिष्ठात्री या देवता, तया देवतयानुगृहीता ध्रुवा स्थिरा सती सीद उपविश। अङ्गिरस्वद् अङ्गिरसां चयनानुष्ठाने यथा त्वं ध्रुवा स्थिता तद्वदत्र सीदेत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम् 'विश्वकर्मा त्वा सादयत्विति। विश्वकर्मा ह्येतां तृतीयां चितिमपश्यदन्तरिक्षस्य पृष्ठे व्यचस्वतीं प्रथस्वतीमित्यन्तरिक्षस्य ह्येतत्पृष्ठं व्यचस्वत्प्रथस्वदन्तरिक्षं यच्छान्तरिक्षं दृꣳहान्तरिक्षं मा हिꣳसीरित्यात्मानं यच्छात्मानं दृꣳहात्मानं मा हिꣳसीरित्येवत्' (श० ८।३।१।९)। हि यस्माद् विश्वकर्मा सकलजगन्निर्माता देवः, एतां तृतीयां चितिं स्वयमातृण्णाख्यामपश्यत्, अतस्तन्मन्त्रोऽपि विश्वकर्मा त्वा सादयत्विति ब्रूते। कुत्र सादनम्? अन्तरिक्षस्य पृष्ठे, एतन्मध्यस्थानं यदन्तरिक्षस्य पृष्ठं न प्रसिद्धमन्तरिक्षमिति। तच्च व्यचस्वद् व्यञ्जनवत् प्रथस्वत् प्रथनं निम्नोन्नतत्वराहित्यम्, तद्वद्विस्तारवदित्यर्थः। अन्तरिक्षं यच्छेत्यादयस्त्रयो मन्त्रभागाः। तत्रत्यैरन्तरिक्षशब्दैरात्मैवाभिधीयते। तथा चात्मानं यच्छ, आत्मानं दृंह, आत्मानं मा हिंसीरित्यर्थो ज्ञातव्यः। तत्र मध्यस्थाने स्थापिता स्वयमातृण्णापि व्यचस्वती पृथस्वती च भवति। 'विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानायेति। प्राणो वै स्वयमातृण्णा सर्वस्मा उ वा एतस्मै प्राणः प्रतिष्ठायै चरित्रायेतीमे वै लोकाः स्वयमातृण्णा इम उ लोकाः प्रतिष्ठा चरित्रं वायुष्ट्वाभिपात्विति वायुष्ट्वाभिगोपायत्वित्येतन्मह्या स्वस्त्येति महत्या स्वस्त्येत्येतच्छर्दिषा शन्तमेनेति यच्छर्दिः शन्तमं तेनेत्येतत्सादयित्वा सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुरथ साम गायति तस्योपरि बन्धुः' (श० ८।३।१।१०)। विश्वस्मा इत्यादिमन्त्रभागस्य तात्पर्यमाह—प्राणो वा इति। येयं स्वमातृण्णा सा प्राणो वै, चित्यात्मशरीरस्य मध्ये प्राणरूपतयोपधीयमानत्वात्। अतस्तस्या उपधानम् एतस्मै परिदृश्यमानाय सर्वस्मै जगते तदर्थं प्राणाधारस्थानीयमित्यर्थः। एतदर्थं त्वामुपदधामीत्यन्वयः। अपानादीनामपि प्राणवृत्तिविशेषत्वात् प्राधान्येन प्राणस्यैव कीर्तनम्—प्राणो वै स्वयमातृण्णा इति। मन्त्रे 'प्रतिष्ठायै चरित्राय' इत्यनेन लोकत्रयं विवक्षितमिति व्याचष्टे—इमे वै लोका स्वयमातृण्णा इम उ लोकाः प्रतिष्ठा चरित्रमिति। प्रथममध्यमोत्तमचितिषु लोकत्रयरूपेणोपधेयत्वात् तिस्रः स्वयमातृण्णा इमे लोकाः खलु। इम उ इमे एव लोकाः प्रतिष्ठा चरित्रं चरत्यत्र कृत्स्नं जगदिति चरित्रम्। प्रतितिष्ठत्यत्रेति प्रतिष्ठा, इमे त्रयोऽपि लोकाश्चरित्ररूपाः। प्रतिष्ठात्मकत्वमस्य भूलोकस्यैव, तदर्थं त्वामुपदधामीत्यर्थः। वायुष्ट्वेत्यस्य व्याख्यानभूतं ब्राह्मणं स्पष्टम्। मह्या इत्यस्य व्याख्यानं महत्या इति। तदयं मन्त्रभागत्रयस्यार्थः—हे स्वयमातृण्णे, वायुर्महत्या प्रभूतया स्वस्त्या अविनाशेन शन्तमेन अत्यन्तसुखहेतुभूतेन छर्दिषा, गृहनामैतत् (निघ० ३।४।१८), त्वा त्वाम् अभिपातु सर्वतो गोपायतु। 'तया देवतया' इति मन्त्रेण सादयित्वा 'ता अस्य सूददोहसः' इति मन्त्रेणाधिवदति। गार्हपत्यचितौ (श० ७।१।१।२६) उक्त-

मस्यार्थवादमतिदिशति—तस्योक्तो बन्धुरिति । अथ अधिवदनानन्तरं साम स्वयमातृण्णाङ्गभूतं गायेत् । तत्प्रतिपादकं ब्राह्मणमुपर्यन्त्यचितौ प्रदर्शयिष्यते ।

अध्यात्मपक्षे—हे महामाये, विश्वकर्मा परमेश्वरस्त्वामन्तरिक्षस्य आकाशस्य चिदाकाशस्य पृष्ठे उपरि सादयतु, 'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला' (संक्षेपशारीरके, १।३१९) इत्युक्तेः । किमर्थं त्वां सादयतु ? इत्युच्यते—विश्वस्मै सर्वस्मै प्राणाय, सर्वस्य प्राणापानादिवृत्तिलाभाय । सर्वस्य च प्रतिष्ठायै स्थित्यै सर्वस्य चरित्राय कर्मोपासनज्ञानादिसम्पादनाय । कीदृशीं त्वाम् ? व्यचस्वतीं विविधाञ्चनवतीं प्रथस्वतीं देवनरतिर्यगादिविविधरूपेण विस्तारवतीम् । हे देवि, त्वमन्तरिक्षं भौतिकं यक्षगन्धर्वादिसहितमाकाशं यच्छ नियमय । तदेव दृढीकुरु । तच्च मा हिंसीः । वायुः सूत्रात्मा त्वामभिपातु तत्तत्कार्यसम्पादनेन साहाय्यमाचरतु । महत्या स्वस्त्या योगक्षेमरूपया शन्तमेन परमसुखमयेन छर्दिषा प्रकाशेम अभिपातु । या परदेवता त्वदधिष्ठानभूता तया देवतयाऽनुगृहीता सती ध्रुवा सती सीद । अङ्गिरस्वद् यथा प्राणानां सम्बन्धिनी भूत्वा स्थितासि तद्वत् ।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, विश्वकर्मा पतिर्यां व्यचस्वतीं प्रशस्तं व्यचो विज्ञानं सत्करणं यस्यास्तां प्रथस्वतीमुत्तमविस्तीर्णविद्यायुक्तामन्तरिक्षस्य आकाशस्य पृष्ठे भागे त्वां सादयतु संस्थापयतु । सा त्वं विश्वस्मै समग्राय प्राणाय अपानाय व्यानाय उदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय शुभकर्माचाराय अन्तरिक्षं जलं यच्छ । अन्तरिक्षं प्रशस्तं शोधितमुदकं दृंह । अन्तरिक्षं मधुरादिगुणयुक्तं रोगनाशकमुदकं मा हिंसीः । यो वायुः प्राण इव प्रियस्तव स्वामी मह्या महत्या स्वस्त्या सुखक्रियया छर्दिषा प्रकाशेन शन्तमेन अतिशयेन सुखकारकेण त्वामभिपातु । तया पत्याकारया देवतया दिव्यसुखप्रदानक्रियया सह अङ्गिरस्वद् सूत्रात्मवायुवद् ध्रुवा निश्चलज्ञानयुक्ता सीद स्थिरा भव' इति, तदपि विशृङ्खलम्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, पत्यौ विश्वकर्मत्वायोगात् । आकाशस्य पृष्ठं किम् ? कथं च तत्र स्त्रियाः स्थापनम् ? प्रथस्वतीपदेन उत्तमविद्या कथं गृहीता ? तत्स्थापनेन कथं प्राणादे रक्षणम् ? अत एव ते प्रतिष्ठा शुभाचरणं च खपुष्पायितमेव । अन्तरिक्षपदस्य जलार्थत्वेऽपि शोधितं जलं मधुरं रोगनाशकमिति कथमर्थः ? ध्रुवेति त्वद्रीत्या स्त्रिया विशेषणम् । ध्रौव्यं तद्विशेषणे ज्ञाने कथमुपपद्यते ॥ १२ ॥

राज्ञ्यसि प्राची दिग्विराडसि दक्षिणा दिक् सम्राडसि प्रतीची दिक् स्वराडस्युदीची दिगधिपत्न्यसि बृहती दिक् ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—हे दिश्या इष्टके ! तुम पूर्व दिशा में राजमान गायत्री रूप हो, दक्षिण दिशा में विराजमान त्रिष्टुप् रूप हो, पश्चिम दिशा में राजमान जगती रूप हो, उत्तर दिशा में विराजमान अनुष्टुप् रूप हो । स्वयं अधिक रक्षा करने वाली तुम पंक्ति छन्द रूप हो । मैं तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ १३ ॥

'अनूकेषु पञ्च दिश्या वैश्वदेवीवद्राज्ञ्यसीति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।९।२) । वैश्वदेवीवदिति प्रतिदिशं रेतःसिग्वेलायामनूकस्योपरि पञ्च दिश्यासंज्ञका इष्टका उपदध्यात् । अनूकः कोषः । तत्र पूर्वानूके उदङ्मुखः, दक्षिणस्यां दिशि प्राङ्मुखः, अपरस्यां दिशि दक्षिणामुखः, उत्तरस्यां दिशि प्राङ्मुखः, दक्षिणामुत्तरेण पञ्चमीमर्धपद्यामुदङ्मुख उपदध्यादिति सूत्रार्थः । वायुरपश्यत् । दिक्शब्दोपेतमन्त्रैरुपधेयत्वादासामिष्टकानां

दिश्या इति संज्ञा। दिग्देवत्यानि पञ्च यजूंषि। हे इष्टके, त्वं राज्ञी राजमाना सती दीप्यमाना सती प्राची पूर्वा दिग्भवसि। गायत्रीरूपासि। विराड् विविधं राजमाना सती दक्षिणा दिग्भवसि त्रिष्टुब्रूपासि। सम्राट् सम्यग्राजमाना सती प्रतीची दिग् जगत्यसि। स्वराट् परनिरपेक्षतया स्वयं राजमाना उदीची दिगसि अनुष्टुब्रूपासि। अधिपत्नी अधिकं पातीति तादृशी, त्वं बृहती प्रौढोर्ध्वा दिक् पङ्क्तिरसि। दिक्छन्दोरूपां त्वां सादयामीति सर्वत्र योज्यम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ दिश्या उपदधाति। दिशो वै दिश्या दिश एवैतदुपदधाति तद्याभिरदो वायुर्दिग्भिरनन्तर्हिताभिरुपैत्ता एतास्ता एवैतदुपदधाति ता उ एवामूः परस्तादर्वाक्स्तम्बं च लोगेष्टकाश्चोपदधात्यसौ वा आदित्य एता असूं तदादित्यं दिक्ष्वध्यूहति दिक्षु चिनोति ता यत्त्रैव स्युर्बहिर्धा तत स्युर्बहिर्धो वा एतद्योनेरग्निकर्म यत्पुरा पुष्करपर्णात्ता यदिहाहृत्योपदधाति तदेना योनौ पुष्करपर्णे प्रतिष्ठापयति तथो हैता अबहिर्धा भवन्ति ता अनन्तर्हिताः स्वयमातृण्णाया उपदधात्यन्तरिक्षं वै मध्यमा स्वयमातृण्णानन्तर्हितास्तदन्तरिक्षाद्दिशो दधात्युत्तरा उत्तरास्तदन्तरिक्षाद्दिशो दधाति रेतःसिचोर्वेलयेमे वै रेतःसिचावनयोस्तद्दिशो दधाति तस्मादनयोर्दिशः सर्वत उपदधाति सर्वतस्तद्दिशो दधाति तस्मात सर्वतो दिशः सर्वतः समीचीः सर्वतस्तत्समीचीर्दिशो दधाति तस्मात सर्वतः समीच्यो दिशः' (श० ८।३।१।११)। दिश्या नामेष्टका विधाय प्रशंसति—अथ दिश्या इति। दिग्लिङ्गैर्मन्त्रैरुपधेया दिश्याः, ताः, पञ्चोपदध्यात। तेन साक्षाद्दिश एव उपहितवान् भवति, दिक्तदुपधेययोरभेदात्। तद्याभिरिति। तत् तदा असौ विप्रकृष्टकाले प्रजापतिर्विस्रंसनावसरेऽनन्तर्हिताभिरतिरोहिताभिर्याभिर्दिग्भिः प्रजापत्यवयवभूताभिः सहितो वायुरूपेण उपगतः, ता एता इष्टका इति तासामुपधानेन दिश उपस्थापितवान् भवति। एतासां दिश्यानां प्रथमचितावेवोपहितत्वाद् मध्यमचितौ किमर्थं तदुपधानमित्याशङ्क्य अत्राप्युपधेयत्वं सोपपत्तिकमाह—ता उ एवामूरित्यादिना। ता उ एव ता अपि प्रजापतेर्दिग्रूपावयवस्था एव, या अमूर्दर्भस्तम्बं च लोगेष्टकाश्च परस्तात् ताभ्यः पूर्वं प्रथमचितौ उपदधाति। एता दिश्याः। असौ उपरि दृश्यमान आदित्यो रुक्मरूपेणोपहितः, अतोऽमुमादित्यं दिक्षु अध्यूहति, उपरि स्थापितवान् भवति। अतस्तत्रावश्यमेता उपधेया इत्यर्थः। ता दिश्या यद यदि तत्रैव स्युः प्रथमचितावेव भवेयुः, नात्र तत् तर्हि बहिर्धा भूगोलापेक्षया अत्यन्तं बहिरेव भवेयुः। तत्कथमिति तदुपपादयति—बहिर्धो वा एतद्योनेरग्निकर्म यत्पुरा पुष्करपर्णादिति। पुष्करपर्णोपधानस्य चितेर्योनिस्थानीयत्वात ततः पुरा यदग्निचयनलक्षणं कर्म क्रियते, तत्सर्वं योनेर्बहिर्धा बाह्यं खलु। यस्मादेवं तस्मात ता दिश्या यदिह तृतीयायां चितौ आहृत्योपदधाति तदेना दिश्या योनिभूते पुष्करपर्णे प्रतिष्ठापयति। तथा सति ता अबहिर्भूता भवन्ति। आसां स्वयमातृण्णानन्तर्हितत्वतदुत्तरभावित्व-रेतःसिङ्निकटभाक्त्व-सर्वतोभावित्व-सम्यक्त्वार्थवादाः पूर्ववदित्यादि सर्वं सायणाचार्याः स्पष्टयन्ति।

'यद्वेव दिश्या उपदधाति। छन्दांꣳसि वै दिशो गायत्री वै प्राची दिक् त्रिष्टुब् दक्षिणा जगती प्रतीच्यनुष्टुबुदीची पङ्क्तिरूर्ध्वा पशवो वै छन्दांꣳस्यन्तरिक्षं मध्यमा चितिरन्तरिक्षे तत्पशून् दधाति तस्मादन्तरिक्षायतनाः पशवः' (श० ८।३।१।१२)। छन्दोरूपेण पुनस्ताः प्रशंसति—यद्वेव दिश्या इति। कथं छन्दोरूपत्वमिति तत्राह—गायत्री वै प्राची दिगित्यादिना। प्रागादिदिशां गायत्र्यादिरूपत्वे लिङ्गमात्रं बीजम्। छन्दसां पशुरूपत्वे तु 'प्रजापतेर्विस्रस्तात्पशव उदक्रामन् छन्दांꣳसि भूत्वा' (श० ८।२।३।९) इति प्राक् प्रतिपादितम्। येयं मध्यमा चितिस्तदन्तरिक्षम्, अतोऽत्र दिश्यानामुपधानेन अन्तरिक्षे पशून् दधाति। तस्मादन्तरिक्षायतनाः पशवः, अवकाशेनोरस्यवष्टम्भाभावात्। 'यद्वेव दिश्या उपदधाति। छन्दांꣳसि वै दिशः पशवो वै छन्दांꣳस्यन्नं पशवो मध्यं

मध्यमा चितिर्मध्यतस्तदन्नं दधाति ता अनन्तर्हिताः स्वयमातृण्णाया उपदधाति प्राणो वै स्वयमातृण्णानन्तर्हितं तत्प्राणादन्नं दधात्युत्तरा उत्तरं तत्प्राणादन्नं दधाति रेतःसिचोर्वेलया पृष्टयो वै रेतःसिचौ मध्यम् पृष्टयो मध्यत एवास्मिन्नेतदन्नं दधाति'''सर्वत एवास्मिन्नेतदन्नं दधाति' (श० ८।३।१।१३)। अन्नरूपेणापि दिश्या इष्टकाः प्रशंसति— यद्वेवेति । अन्नं पशवः, उपभोग्यत्वात् । अन्यत् स्पष्टम् । पूर्वं स्वयमातृण्णाया अन्तरिक्षरूपत्वेन संस्तुतिः, इह तु प्राणरूपत्वेन । दिश्यानां च छन्द पशुद्वारा अन्नरूपत्वेन स्तुतिरिति विशेषः । 'राज्ञ्यसि प्राची दिक् । विराडसि दक्षिणा दिक् सम्राडसि प्रतीची दिक् स्वराडस्युदीची दिगधिपत्न्यसि बृहती दिगिति नामान्यासामेतानि नामग्राहमेवैना एतदुपदधाति ता नानोपदधाति नाना सादयति नाना सूददोहसाधिवदति नाना हि दिशः' (श० ८।२।३।१४)। 'राज्ञ्यसि' इत्यादयः पञ्च दिश्योपधानमन्त्राः, तेषां तात्पर्यतो व्याख्यानम्— नामान्यासामेतानीत्यादिकम् । राज्ञी, विराड् इत्यादीनि प्रागादिदिशां यानि नामानि, एतद् एतेन 'राज्ञ्यसि' इत्यादिमन्त्रेण तत्तन्नाम गृहीत्वैव एना इष्टका उपहितवान् भवति । हे प्राच्यामुपधेयेष्टके, त्वं राज्ञी एतन्नामिका भवसि । का सा ? प्राची दिक् । एवं सर्वेऽपि व्याख्येयाः । दिश्यानां पृथक् पृथग् मन्त्रभेदेनोपधानम्, पृथक् पृथक् सादनम्, पृथक् पृथग् अधिवदनं च । प्रागादीनां नानात्वात् पार्थक्यं युक्तमित्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे— हे महात्रिपुरसुन्दरि, त्वं राज्ञी राजमाना सती प्राचीदिग्रूपासि । विविधं राजमाना दक्षिणादिग्रूपासि । सम्यग्राजमाना प्रतीचीदिग्रूपासि । स्वराट् चितिरूपत्वाद् अन्यनैरपेक्ष्येण उदीचीदिग्रूपासि । अधिपत्नी अधिकं पातीति बृहती प्रौढोर्ध्वदिग्रूपासि, प्रत्यगभिन्नायाः परचिद्रूपायास्तस्याः सार्वात्म्यप्रतिपादनात् ।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, या त्वं प्राचीदिगिव राज्ञी राजमानासि भवसि, दक्षिणादिगिव विराडसि विविध· विनयविद्याप्रकाशयुक्तासि, प्रतीचीदिगिव सम्राडसि सम्यक् सुखे भूगोले राजमानासि, उदीची दिगिव स्वराडसि या स्वयं राजते सासि । बृहतीदिगिव अधिपत्नी गृहाधिकृता स्त्री असि, सा त्वं पत्यादीन् प्रीणीहि' इति, तदपि विश्रृङ्खलम्, प्राच्यादिदिशां साधर्म्यस्य स्त्रियामनिरूपणात् । न च स्त्रियां स्वराट्त्वादिकं सम्भवति, सर्वासु तदसम्भवात्, जडायां जीवरूपायां वा तस्यां स्वातन्त्र्यायोगात् ॥ १३ ॥

वि॒श्वक॑र्मा त्वा सादयत्व॒न्तरि॑क्षस्य पृ॒ष्ठे ज्योति॑ष्मतीम् । विश्व॑स्मै प्रा॒णाया॑पा॒नाय॑ व्या॒नाय॒ विश्वं॒ ज्योति॑र्यच्छ । वा॒युष्टेऽधि॑पति॒स्तया॑ दे॒वत॑याङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वा सी॑द ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! वायुरूप प्रजापति तुमको अन्तरिक्ष के ऊपर स्थापित करें । तुम यजमान के सम्पूर्ण प्राण अपान और व्यान के निमित्त अपनी सारी ज्योति प्रदान करो । वायु देवता तुम्हारे स्वामी हैं । उस अधिष्ठात्री देवता के प्रभाव से समष्टि प्राण के साथ तुम इस अग्निचयन कार्य में बिना हिले-डुले दृढ़ रूप से स्थित रहो ॥ १४ ॥

'विश्वकर्मेति विश्वज्योतिषमुपरि पूर्वस्याः' (का० श्रौ० १७।९।३)। प्रथमायां चिता उपहिताया विश्वज्योतिष उपरि यजमानकृतां द्वितीयां विश्वज्योतिषं पद्यामिष्टकां प्राग्लक्षणामुदङ्मुख उपदध्याद् विश्वकर्मेति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः । वायुदेवत्यं शक्वरीच्छन्दस्कं यजुः । हे इष्टके, विश्वकर्मा परमेश्वरो ज्योतिष्मतीं वायुरूपां त्वा त्वामन्तरिक्षस्य पृष्ठे उपरि सादयतु सर्वप्राणिनां प्राणवृत्तिलाभार्थम् । हे इष्टके, त्वं विश्वं सर्वं ज्योतिर्यच्छ प्रयच्छ, वायुस्ते तव अधिपतिः अधिदेवः । तया देवतया ध्रुवा स्थिरा सती अङ्गिरसां चयन इव अत्रापि प्रविष्टा वायोरन्तरिक्षस्य भागे सीद ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ विश्वज्योतिषमुपदधाति। वायुर्वै मध्यमा विश्वज्योतिर्वायुर्ह्येवान्तरिक्षलोके विश्वं ज्योतिर्वायुमेवैतदुपदधाति तामनन्तर्हितां दिश्याभ्य उपदधाति दिक्षु तद्वायुं दधाति तस्मात् सर्वासु दिक्षु वायुः' (श० ८।३।२।१)। विश्वज्योतिराख्यामिष्टकां विधाय स्तौति—अथ विश्वज्योतिषमिति। मध्यमाया विश्वज्योतिरिष्टकाया वायुत्वोक्तौ मध्यमचितेस्तद्रूत्वात् तद्देवताकान्तरिक्षस्थानीयत्वं बीजम्। ननु तथापि कथं वायोस्तच्छब्दवाच्यत्वम्? इति चेत्तत्राह—वायुर्ह्येवान्तरिक्षलोक इति। उपचारप्रयोजनमाह—वायुमेवैतदुपदधातीति। पूर्वेष्टकाभ्योऽस्या अव्यवहितत्वं विधाय स्तौति—तामनन्तर्हितामिति। 'यद्वेव विश्वज्योतिषमुपदधाति। प्रजा वै विश्वज्योतिः प्रजा ह्येव विश्वं ज्योतिः प्रजननमेवैतदुपदधाति तामनन्तर्हितां दिश्याभ्य उपदधाति दिक्षु तत्प्रजा दधाति तस्मात् सर्वासु दिक्षु प्रजाः' (श० ८।३।२।२)। इत्थं वायुरूपेण प्रशस्याथ प्रजारूपेणापि प्रशंसति—यद्वेव विश्वज्योतिषमित्यादिना। 'विश्वकर्मा त्वा सादयत्विति। विश्वकर्मा ह्येतां तृतीयां चितिमपश्यदन्तरिक्षस्य पृष्ठे ज्योतिष्मतीमित्यन्तरिक्षस्य ह्ययं पृष्ठे ज्योतिष्मान् वायुः' (श० ८।३।२।३)। स्वयमातृण्णावद्विश्वज्योतिषोऽपि विश्वकर्मणा सादनम्। अयं वायुरेव अन्तरिक्षस्य पृष्ठवर्ती ज्योतिष्मान्, तत्स्थानत्वात्। अतस्तदभेदेन इष्टकापि तद्रूपिणीत्यर्थः। 'विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायेति प्राणो वै विश्वज्योतिः सर्वस्मा उ वा एतस्मै प्राणो विश्वं ज्योतिर्यच्छेति सर्वं ज्योतिर्यच्छेत्येतद्वायुष्टेऽधिपतिरिति वायुमेवास्या अधिपतिं करोति सादयित्वा सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धः' (श० ८।३।२।४)। स्पष्टार्था कण्डिका।

अध्यात्मपक्षे—हे प्रज्ञे, विश्वकर्मा परमेश्वरस्त्वां ज्योतिष्मतीं चिदाभासयुक्तां त्वामन्तरिक्षस्य पृष्ठे चिदाकाशस्य उपरि तदाकाराकारितां स्थापयतु। विश्वस्मै प्राणाय प्राणादिवृत्तिलाभाय त्वं तदाकाराकारिता सती विश्वं ज्योतिर्यच्छ सर्वं प्रकाशं प्रयच्छ। वायुः सूत्रात्मा ते अधिपतिः। तया देवतया ध्रुवा सीद।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, यां ज्योतिष्मतीं बहुविज्ञानवेत्रीं विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायान्तरिक्षस्य जलस्य पृष्ठे उपरिभागे विश्वकर्मा सकलेष्टक्रियः सादयतु, सा त्वं विश्वं सर्वं ज्योतिर्विज्ञानं यच्छ गृहाण। यो वायुरिव ते प्राणप्रियोऽधिपतिरस्ति, तया देवतया सह ध्रुवाऽङ्गिरस्वत् सीद' इति, तदपि यत्किञ्चित्, जलस्य पृष्ठे तत्सादनानुपपत्तेः, नौव्यवहिते तत्सादनसम्भवेऽपि विशेषानुपपत्तेः। न च तेन प्राणादिपुष्टिरन्यथासिद्धेः। मनुष्येषु विश्वकर्मत्वं वायुत्वं चौपचारिकमेव। तस्मान्मुधैव श्रौतार्थत्यागः॥ १४॥

नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू अग्नेरन्तः श्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे। वार्षिकावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्॥ १५॥

मन्त्रार्थ—श्रावण और भाद्रपद ये दोनों वर्षा ऋतु के मास हैं। हे ऋतुरूप दोनों इष्टकाओं! तुम चीयमान अग्नि के अन्तर में स्थिर होकर दृढ़तापूर्वक रहने के लिये लगाई गई हो। मुझ यजमान के उत्कर्ष के निमित्त यह द्युलोक और भूलोक हमारे योग्य उपकार की कल्पना करें। जल और औषधि हमारा प्राधान्य सम्पादन करें। समान व्रत वाली अनेक नाम की अग्नियों की स्वयमातृण्णा आदि इष्टकाएँ उत्कृष्टता सम्पादित करें। यह द्यावापृथिवी के मध्य में वर्तमान एक मन वाली अग्नियाँ चयन की हुई वर्षा सम्बन्धी ऋतु को सम्पादित करके इस कर्म को सहारा दें, जैसे कि देवगण इन्द्र की परिचर्या करते हैं। हे इष्टके! उस प्रसिद्ध देवता द्वारा अंगिरा के समान स्थिर होकर तुम यहाँ रहो॥१५॥

'ऋतव्ये नभश्च नभस्यश्चेति' (का० श्रौ० १७।९।१४)। पूर्वयोर्ऋतव्ययोः पुरीषाच्छन्नयोरुपरि अवका निधाय प्राग्लक्षणे अर्धोत्सेधे पद्ये द्वे ऋतव्ये अनूकमभित उदङ्मुख उपदध्याद् नभश्च नभस्यश्चेति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। ऋतुदेवत्यमुत्कृतिछन्दस्कं यजुः। नभः श्रावणः। नभस्यो भाद्रपदः। एतावुभौ वार्षिकौ मासौ वर्षा ऋतुः। हे तादृश ऋतो, त्वं चीयमानस्याग्नेरन्तर्मध्ये व्यवस्थितः सन् श्लेषकोऽसि। यथा काष्ठपाषाणादयः कुड्यस्यान्तर्दार्ढ्याय श्लिष्यन्ते, तद्वन्ममाग्निं चिन्वतो यजमानस्य ज्यैष्ठ्याय उत्कर्षाय इमे द्यावापृथिवी कल्पेतां स्वोचितमुपकारं सम्पादयेताम्। यद्वा ममेति तवस्थाने व्यत्ययः। आपश्चौषधयश्च ज्यैष्ठ्याय कल्पन्ताम्। सव्रताः समानं व्रतं कर्म येषां ते तादृशा येऽग्नय इमे द्यावापृथिवी अन्तरा अनयोर्मध्ये वर्तमानाः समनस एकमनस्का येऽग्नयः, अन्यैरपि चिता ये तेऽपि वार्षिकमृतुमभिकल्पमानाः सम्पादयन्तोऽभिसंविशन्तु एतत्कर्म आश्रयन्तु। तत्र दृष्टान्तः—यथा देवा इन्द्रं परिचरणाय अभिसंविशन्ति, एवमन्येष्टका वर्षर्तुपरिचरणायाग्निमभिसंविशन्तु। अन्यत् पूर्ववत्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथर्तव्या उपदधाति। ऋतव एते यदृतव्या ऋतूनेवैतदुपदधाति नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू इति नामनी एनयोरेते नामभ्यामेवैने एतदुपदधाति द्वे इष्टके भवतो द्वौ हि मासावृतुः सकृत्सादयत्येकं तदृतुं करोत्यवकासूपदधात्यवकाभिः प्रच्छादयत्यापो वा अवका अपस्तदेतस्मिन्नृतौ दधाति तस्मादेतस्मिन्नृतौ भूयिष्ठं वर्षति' (श० ८।३।२।५)। 'अथर्तव्या उपदधाति' इत्यादिः 'एकं तदृतुं करोति' इत्यन्तो द्वितीयचितिवद् द्रष्टव्यः। नभश्च नभस्यश्चेति तयोरुपधानमन्त्रः। नभो नाम श्रावणो मासः, नभस्यो नाम भाद्रपदः, तावुभौ वर्षाख्यौ ऋतू। अवयवापेक्षया द्विवचनम्। ताश्चतस्र ऋतव्या अवकासूपधायावकाभिरेव प्रच्छादयेत्। अवका नाम ह्रदादिजलेषु स्तवकाकारेण प्ररोहन्तो हरितवर्णाः पदार्थाः, शैवलानीत्यर्थः। तासां चाप्सु एव जायमानत्वाद् आश्रयाश्रयिणोरभेदेन अबात्मता। ऋतव्यानामृतुत्वात् तेनावकास्थापनेन तस्मिन्नेवर्तौ अप एव स्थापितवान् भवति।

अध्यात्मपक्षे—व्याख्यानं पूर्ववद् (१३।२५) अनुसन्धेयम्।

स्वामी दयानन्दस्तु स्त्रीपुरुषावेव सम्बोधयति। तच्च पूर्ववन्निराकरणीयम्॥ १५॥

इषश्चोर्जश्च शारदावृतू अग्नेरन्तः श्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे शारदावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्॥ १६॥

मन्त्रार्थ—आश्विन और कार्तिक ये दो मास शरद् ऋतु से सम्बद्ध हैं। बाकी मन्त्र का अर्थ ऊपर के मन्त्र के जैसा ही है। विशेषता इतनी ही है कि यहाँ वर्षा ऋतु के स्थान पर शरद् ऋतु की चर्चा है॥ १६॥

'इषश्चोर्जश्चेत्यपरे' (का० श्रौ० १७।९।१६)। अपरे तथाविधे ऋतव्ये पूर्वयोरुपरि दधाति इषश्चोर्जश्चेति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। तेन तृतीयायां चितौ चतस्र ऋतव्याः। इतरासु द्वे द्वे इति। ऋतव्या नभस्वद्देवत्या। उत्कृतिच्छन्दः। यजुः। इष आश्विनः, ऊर्जः कार्तिकः, तौ शारदौ शरदृतुसम्बन्धिनौ मासौ। हे शरदृतो, त्वमग्नेश्चीयमानस्य श्लेषोऽसि। शेषं पूर्ववत्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथोत्तरे। इषश्चोर्जश्च शारदावृतू इति नामनी एनयोरेते नामभ्यामेवैने एतदुपदधाति द्वे इष्टके भवतो द्वौ हि मासावृतुः सकृत्सादयत्येकं तदृतुं करोत्यवकासूपदधात्यापो वा अवका अपस्तदेतस्यर्तोः पुरस्ताद्दधाति तस्मादेतस्यर्तोः पुरस्ताद्वर्षति नोपरिष्टात् प्रच्छादयति तस्मान्न तथेवोपरिष्टाद्वर्षति' (श० ८।३।२।६)। 'अथोत्तरे ऋतव्ये इष्टके अभिधीयेते इति शेषः। 'इषश्चोर्जश्च शारदावृतू' इत्युत्तरयोर्ऋतव्ययोरुपधानमन्त्रः। अत्रोत्तरयोर्ऋतव्ययोरवकासूपधानमेव, नोपर्यवकाभिश्छादनं कर्तव्यमित्यमुमर्थमिदानीन्तनवर्षणप्रकारप्रदर्शनमुखे-नोपपादयति—अवकासूपदधातीति। अधस्तादवकासम्बन्धाद्यथा ऋत्वादौ वृष्टिर्जायते, तथैवोपरिष्टात्तु तदृत्वन्ते वृष्टिर्नास्ति, अवकासम्बन्धाभावात्। अत एतस्य तादृग्विधत्वं सिद्धमित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—संवत्सरात्मनः कालस्यावयवभूता ऋतवः। चीयमानोऽग्निश्च तदभिन्न एव। अतो वार्षिकौ मासौ वर्षर्तुं शारदौ मासौ शरदृतुं सम्बोध्य कालात्मनोऽग्नेः संश्लेष उक्तः। त्वत्प्रसादान्ममोपासकस्य इमे द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ स्वोचितमुपकारं सम्पादयताम्। आपश्चौषधयश्च मम ज्यैष्ठ्याय कल्पन्ताम्। सव्रताः समनसोऽग्नय इमे द्यावापृथिवी अन्तरा अनयोर्मध्ये वर्तमाना आहवनीयादयो देवा इन्द्रमिव वर्षाख्यं शरदाख्यं च ऋतुं तदुपलक्षितं संवत्सराख्यं प्रजापतिम् अभिसंविशन्तु। हे ऋतव्ये ऋतुसम्बन्धिन्यौ मासद्वयाधिष्ठात्र्यौ देवते तया संवत्सररूपया देवतया अधिष्ठिते अनुगृहीते अङ्गिरसः प्राणा इव ध्रुवे सीदतम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, याविषश्चोर्जश्च शारदावृतू यथा मे ज्यैष्ठ्याय भवतो ययोरग्नेरन्तः श्लेषो मध्यस्पर्शोऽस्ति द्यावापृथिवी कल्पेताम्। आप ओषधयश्च कल्पन्ताम्। सव्रता अग्नयः पृथक् कल्पन्ताम्। येऽन्तरा समनसोऽग्नय इमे द्यावापृथिवी कल्पेताम्। शारदावृतू इन्द्रमिवाभिकल्पमाना देवा अभिविशन्तु। तथा तया देवतया सह अङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मासयोर्ऋतोश्च जाड्येन प्रार्थनीय-त्वानुपपत्तेः। न च तयोरवकाशपृथिव्योरप्युपकारकत्वं सम्भवति। आपश्चोषधयश्चापि मासद्वयात्मकर्तुप्रार्थनया नोपकारसम्पादनक्षमा भवितुं शक्नुवन्ति, न वा मनुष्या एतेषां प्रार्थनया समर्था भवितुं शक्नुवन्ति, न वा बाह्याश्चाभ्यन्तराश्चाग्नयस्तथा कर्तुं प्रभवन्ति, न वा ते सर्वे वार्षिकं शारदं वा ऋतुं समर्थं कर्तुं शक्नुवन्ति। किञ्च, देवा इन्द्रमिवेत्यस्यार्थोऽप्यस्पष्ट एव, त्वद्रीत्या तदनभ्युपगमात्। नह्यैश्वर्यतुल्यं देवा विद्वांसोऽभि-संविशन्ति॥ १६॥

आयु॑र्मे पाहि प्रा॒णं मे॑ पाह्यपा॒नं मे॑ पाहि व्या॒नं मे॑ पाहि॒ चक्षु॑र्मे पाहि॒ श्रोत्रं॑ मे पाहि॒ वाचं॑ मे पिन्व॒ मनो॑ मे जिन्वा॒त्मानं॑ मे पाहि॒ ज्योति॑र्मे यच्छ॥ १७॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके! तुम मेरी आयु की रक्षा करो, मेरे प्राण, अपान और व्यान वायु की रक्षा करो। मेरे दोनों नेत्रों की और दोनों कानों की रक्षा करो। मेरी वाणी को कामनाओं से पूर्ण करो, मेरे मन को प्रसन्नता से भर दो, मेरे शरीर की जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त रक्षा करो, मेरे प्राण रूप तेज की रक्षा करो॥ १७॥

'पूर्वार्धे प्राणभृतो दशायुर्म इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।९।७)। आत्मनः पूर्वभागे प्राणभृत्संज्ञका दशेष्टका उपदध्यादिति सूत्रार्थः। दश यजूंषि लिङ्गोक्तदेवत्यानि। हे इष्टके, मे मम आयुस्त्वं पाहि रक्ष। एवं प्राणमपानं व्यानं चक्षुः श्रोत्रं रक्ष। मे वाचं पिन्व सिञ्च, कामैः पूरयेत्यर्थः। मनो जिन्व प्रीणय। ममात्मानं जीवं पाहि। मह्यं ज्योतिस्तेजो यच्छ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ प्राणभृत उपदधाति । प्राणा वै प्राणभृतः प्राणानेवैतदुपदधाति ता दश भवन्ति दश वै प्राणाः पूर्वार्धे उपदधाति पुरस्ताद्धीमे प्राणा आयुर्मे पाहि ज्योतिर्मे यच्छेति प्राणो वै ज्योतिः प्राणं मे यच्छेत्येवैतदाह ता अनन्तर्हिता ऋतव्याभ्य उपदधाति प्राणो वै आयुर्ऋतुषु तद्वायुं प्रतिष्ठापयति' (श० ८।३।२।१४)। प्राणलिङ्गकमन्त्रोपधेयाः प्राणभृत इष्टकाः। ता दश एव। दश वै प्राणा इति सप्त शीर्षण्याः, द्वाववाञ्चौ, नाभिर्दशमीति। एतां चितिं पूर्वार्धे उपदध्यात्। तत्रोपपत्तिः—पुरस्ताद्धीमे प्राणा इति। पुरस्तात् शरीरस्य पुरोभागे इमे शीर्षण्यादयः प्राणाः, वर्तन्त इति शेषः। निगदव्याख्यातमन्यत्।

अध्यात्मपक्षे—हे प्राणभृत्परमेश्वरि, त्वं मे प्राणादिकं पाहि। 'प्राणापानौ तथा व्यानं समानोदानमेव च। यशः कीर्ति च लक्ष्मीं च सदा रक्षतु चक्रिणी॥' इत्युक्तेः॥ १७॥

मा छन्दः प्रमा छन्दः प्रतिमा छन्दो अस्त्रीवयश्छन्दः पङ्क्तिश्छन्द उष्णिक् छन्दो बृहती छन्दोऽनुष्टुप् छन्दो विराट् छन्दो गायत्री छन्दस्त्रिष्टुप् छन्दो जगती छन्दः॥ १८॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके! अन्तरिक्ष लोक का मनन करते हुए तुम्हें स्थापित करता हूँ, तुम प्रतीतिकारक द्युलोक की छादिका हो। प्रतिमा छन्द का मनन करते हुए तुमको स्थापित करता हूँ। पतनशील अन्न त्रिलोकी का छादक हो। अस्त्रीवय छन्द का मनन करते हुए, पंक्ति छन्द का मनन करते हुए, उष्णिक् छन्द का मनन करते हुए, बृहती छन्द का मनन करते हुए, अनुष्टुप् छन्द का मनन करते हुए, विराट् छन्द का मनन करते हुए, गायत्री छन्द का मनन करते हुए, त्रिष्टुप् छन्द का मनन करते हुए और जगती छन्द का मनन करते हुए तुमको यहाँ स्थापित करता हूँ! इन सब छन्दों के गुण तुम्हारे में विद्यमान हैं॥ १८॥

'छन्दस्या द्वादश द्वादशाप्ययेषु मा छन्द इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।९।८)। अप्ययाः पक्षपुच्छात्मसन्धयः। तेषु त्रिष्वप्ययेषु, अर्थाद् दक्षिणपक्षसन्धौ पुच्छसन्धौ उत्तरपक्षसन्धौ चानुक्रमभितो द्वादश द्वादश छन्दस्या इष्टका उपदध्यादिति सूत्रार्थः। अनूकः कोषः। षट्त्रिंशद्यजूंषि लिङ्गोक्तदेवत्यानि। मा छन्दो मीयत इति मा मितः, छादनाच्छन्दः, अयं लोको मितत्वात्, छन्नत्वाच्च। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। प्रमा छन्दः, अस्माल्लोकात् प्रमीयत इति प्रमा अन्तरिक्षलोकः। हे इष्टके, त्वं प्रमा अन्तरिक्षलोकरूपासि। प्रतिमा छन्दः, प्रतिमीयत इति प्रतिमा द्यौः, सा ह्यन्तरिक्षे प्रतिमिता। अस्त्रीवयश्छन्दः। अस्यते क्षिप्यत इत्यस्त्रि पतनशीलं वयोऽन्नं यस्मात् तदस्त्रिवयः। दीर्घश्छान्दसः। अस्त्रीवयो लोकत्रयरूपं छादनाच्छन्दः, तद्रूपासि। हे इष्टके, त्वं माच्छन्दोरूपा, प्रमाच्छन्दोरूपा प्रतिमाच्छन्दोरूपा, अस्त्रीवयश्छन्दोरूपासि। इतः स्पष्टान्येव छन्दांसि पङ्क्त्यादीन्यष्टौ। अर्थाद् हे इष्टके, त्वं पङ्क्त्युष्णिग्बृहत्यनुष्टुब्विराड्गायत्रीत्रिष्टुब्जगतीछन्दोरूपासीत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'मा च्छन्द इति। अयं वै लोको माऽयꣳ हि लोको मित इव प्रमाच्छन्द इत्यन्तरिक्षलोको वै प्रमाऽन्तरिक्षलोको ह्यस्माल्लोकात् प्रमित इव प्रतिमाच्छन्द इत्यसौ वै लोकः प्रतिमैष ह्यन्तरिक्षलोके प्रतिमित इवास्त्रीवयश्छन्द इत्यन्नमस्त्रीवयस्तद्यदेषु लोकेष्वन्नं तदस्त्रीवयोऽथो यदेभ्यो लोकेभ्योऽन्नꣳ स्रवति तदस्त्रीवयोऽथातो निरुक्तान्येव छन्दाꣳस्युपदधाति' (श० ८।३।३।५)। तत्र दक्षिणत उपधेयेष्टकानां मन्त्रान् विधाय व्याचष्टे—मा च्छन्द इत्यादिना। मासंज्ञया छन्दो माच्छन्दः। तच्चायं लोको वै भूलोकः खलु। मीयते परिच्छिद्यत इति मा इति व्युत्पत्तेः। एतल्लोकसाम्यमुपपादयति- अयं हि लोको मित इवेति। सर्वतः परिच्छिन्न एव,

पञ्चाशत्कोटियोजनविस्तारा पृथिवीति ह्याचक्षते। प्रमाच्छन्द इति द्वितीयो मन्त्रः। प्रकर्षेण मितः प्रमा, तत्संज्ञकश्छन्दोऽन्तरिक्षलोकः खलु। तल्लोकसाम्यमाह—अन्तरिक्षलोको ह्यस्माल्लोकात् प्रमित इवेति। भूलोकादप्यधिकतरेण मानेन मित इव वर्ततेऽन्तरिक्षलोकः। छादनाच्छन्दः। तथा च भूलोको माख्यं छन्दः, अन्तरिक्षलोकश्च प्रमाख्यं छन्दः। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। प्रतिमाच्छन्द इति तृतीयो मन्त्रः। असौ वै लोकः प्रतिमेत्यसौ द्युलोकः प्रतिमाच्छन्दः। कुतः ? एषोऽन्तरिक्षलोके प्रतिमित इव, अन्तरिक्षपरिमाणेन परिच्छिन्न इव वर्तते। अतः प्रतिरूपत्वेन मितत्वात् प्रतिमा असौ लोकः। चतुर्थं मन्त्रं विधाय व्याचष्टे—अस्रीवयश्छन्द इति। अन्नम् अस्रीवयः, लोकानां त्रित्वात् तन्निष्ठान्नस्यापि त्रित्वम्। अस्यते क्षिप्यत इत्यस्रि पतनशीलं वयोऽन्नं यस्मात्तदस्रिवयो लोकत्रयरूपं छादनाच्छन्दस्तद्रूपासि। यद्वा यदेभ्यो लोकेभ्य आहुतिपरिणामभूतमन्नं स्रवति तदस्रीवयः। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। यद्वा भूम्यादिलोकेभ्यो य आ समन्ताद् वृष्टिरूपेण स्रवति सोऽस्रीविः। छान्दसत्वादभिमतरूपसिद्धिः। लोकत्रयापेक्षया बहुवचनेऽस्रीवय इति। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। एवं ब्राह्मणेन मादीनां छन्दसामर्थाद् व्युत्पत्तयः प्रदर्शिताः। मादीनि हि गायत्र्यादिष्वपाठादनिरुक्तानि। अत उक्तेभ्यो वक्ष्यमाणानां वैलक्षण्यं दर्शयन्नुत्तरा अष्टाविष्टका विधत्ते—अथातो निरुक्तान्येव छन्दांस्युपदधातीति। अनिरुक्तेष्टकामन्त्रचतुष्टयादनन्तरं निरुक्तानि पङ्क्त्यादीनि प्रसिद्धानि छन्दांस्युपदधातीत्युच्यते।

अध्यात्मपक्षे—हे प्रत्यगभिन्नब्रह्मचिते, त्वं सर्वस्वरूपासि, ब्रह्मस्वरूपत्वात्, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० उ० ३।१४।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः। त्वं पृथिवीलोकात्मकमाच्छन्दोरूपासि, अन्तरिक्षलोकात्मकप्रमाच्छन्दोरूपासि, द्युलोकात्मकप्रतिमाच्छन्दोरूपासि, लोकत्रयात्मकलोकत्रयस्राव्यन्नरूपात्मकास्रीवयश्छन्दरूपासि। पङ्क्त्यादिछन्दोरूपा चासि।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, युष्माभिर्यया मीयते सा माच्छन्द आनन्दकरी, प्रमा यया प्रमीयते सा प्रमा प्रज्ञाच्छन्दो बलम्, प्रतिमीयते यया क्रियया सा प्रतिमाच्छन्दः स्वातन्त्र्यम्। अस्रीवयो यदस्यति कामयते च तदस्रीवयोऽन्नादिकं छन्दः बलकारि। पङ्क्तिः पञ्चावयो योगश्छन्दः प्रकाशः, उष्णिक् स्नेहनम्, छन्दः प्रकाशः, बृहती महती प्रकृतिः, छन्द आश्रयः। अनुष्टुप् सुखानामनुष्टम्भनम्, छन्दो योगः। विराड् विविधविद्याप्रकाशनं छन्दो विज्ञानम्, गायत्री गायन्तं त्रायते सा (ईश्वरः) छन्दस्तद्बोधः, त्रिष्टुब् यया त्रीणि सुखानि स्तोभति सा, छन्द आनन्दः। जगती गच्छति सर्वं जगद्यस्यां सा, छन्दः पराक्रमः। इत्येतत्सर्वं स्वीकृत्य विज्ञाय च सुखयितव्यम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वस्यैव निर्मूलत्वात्। एकस्यैव छन्दःशब्दस्य नैकधोच्चरितस्य आनन्दकरत्वादयोऽर्थाः कथमिति तु नोक्तम्। माप्रमादीनां तदुक्ता व्युत्पत्तयस्तु पूर्वोक्तश्रुतिविरुद्धा एव। पङ्क्त्यादीनां पञ्चावियोगादयोऽर्था निर्मूलाः, छन्दःशास्त्रविरुद्धाश्च। हे मनुष्याः, युष्माभिः सर्वं स्वीकृत्य विज्ञाय च सुखयितव्यमिति तु स्पष्टमेव व्याख्यातुः स्वकपोलकल्पना ॥ १८ ॥

पृथिवी छन्दोऽन्तरिक्षं छन्दो द्यौश्छन्दः समाश्छन्दो नक्षत्राणि छन्दो वाक्छन्दो मनश्छन्दः कृषिश्छन्दो हिरण्यं छन्दो गौश्छन्दोऽजा छन्दोऽश्वश्छन्दः ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—पृथिवी देवता वाले छन्द का मनन करते हुए मैं इस इष्टका को स्थापित करता हूँ। अन्तरिक्ष देवता वाले छन्द का, द्युलोक के देवता वाले छन्द का, वर्ष के देवता वाले छन्द का, नक्षत्र देवता वाले छन्द का, वाग् देवता वाले छन्द का, मन देवता वाले छन्द का, कृषि देवता वाले छन्द का, हिरण्य देवता वाले छन्द का, गो देवता वाले छन्द का, अजा देवता वाले छन्द का और अश्व देवता वाले छन्द का मनन करते हुए मैं इस इष्टका को स्थापित करता हूँ ॥१९॥

हे इष्टके, पृथिव्यादिदेवत्यानि यानि छन्दांसि, त्वं तद्रूपासि। स्पष्टमन्यत्। अत्र ब्राह्मणम्—'पङ्क्तिश्छन्दः। उष्णिक्छन्दो बृहतीछन्दोऽनुष्टुप्छन्दो विराट्छन्दो गायत्रीछन्दस्त्रिष्टुप्छन्दो जगतीच्छन्द इत्येतानि निरुक्तानि विराडष्टमानि छन्दाᳬंस्युपदधाति पृथिवीच्छन्दोऽन्तरिक्षं छन्द इति यान्येतद्देवत्यानि छन्दाᳬंसि तान्येवैतदुपदधात्यग्निर्देवता वातो देवतेत्येता वै देवताश्छन्दाᳬंसि तान्येवैतदुपदधाति' (श० ८।३।३।६)। तानि निरुक्तानि छन्दांसि दर्शयति—पङ्क्तिश्छन्द इत्यादिना। एतेषां प्रजापतिरूपता द्वितीयचितौ दर्शिता (श० ८।२।४।३–१५)। विराट्छन्दसः प्रसिद्धगायत्र्यादिछन्दोमध्ये पाठाभावात् 'द्वाभ्यां विराट्स्वराजौ' (पि० सू० ३।६०) इति पिङ्गलोक्तेर्गायत्र्यामन्तर्भावान्निर्दिष्टस्याप्यनिरुक्तवद् विराडष्टमानीति पुनरभिधानम्। पङ्क्तिश्छन्द इत्यादिमन्त्रैरुपहिता इष्टका निरुक्तछन्दोरूपाः, तासामुपधानेनेमानि छन्दांस्युपहितवान् भवति। पश्चादुपधेयानां द्वादशानामिष्टकानां ये मन्त्रास्तेषां प्रतीकमादाय तेषां समानार्थत्वेन मादिच्छन्दोरूपतामाशङ्क्य तद्भिन्नत्वमुपपादयन् तात्पर्यमाह—पृथिवीच्छन्दोऽन्तरिक्षं छन्द इति। एतद्देवत्यानि पृथिव्यन्तरिक्षादिदेवताकमन्त्रोपरिबद्धानि यानि छन्दांसि, तान्येवैतदुपदधाति। पूर्ववदुपधेयेष्टकामन्त्रप्रतीकमुपादाय व्याचष्टे—अग्निर्देवतेति। एता वै देवताश्छन्दांसि तान्येवैतदुपदधातीत्यग्निवातसूर्यादिदेवताः खलु छन्दांसि। अग्नेर्गायत्र्यभवदिति वाक्याद् देवताभ्यश्छन्दसामुत्पत्तेरुत्पादकोत्पाद्यानामभेदविवक्षया देवतानामेव छन्दस्त्वव्यपदेशः। निरुक्तानि पङ्क्त्यादिजगत्यन्तानि छन्दांस्यष्टादश्यां पृथिवीच्छन्दोऽन्तरिक्षं छन्द इत्यादीन्येकोनविंश्याम्, अग्निर्देवता वातो देवतेत्यादीनि विंश्यां कण्डिकायामस्मिन्नेवाध्याये वर्णितान्यनुसन्धेयानि।

अध्यात्मपक्षे—हे प्रत्यगभिन्नब्रह्मचिते, त्वं पृथिवीदेवताकमन्त्रोपरिबद्धच्छन्दोरूपासि। तथैवान्तरिक्षद्युलोकसमानक्षत्रवाङ्मनःकृषिहिरण्यगोऽजाश्वादिदेवताकास्तत्तत्प्रतिपादका ये मन्त्राः सन्ति, तदुपरिबद्धच्छन्दोरूपासि। वेदमन्त्रेषु पूर्वोक्ताः सर्वेऽर्थास्तत्तत्प्रसङ्गेषूक्ताः। ते ते मन्त्राः, ते तेऽर्थाः, तदीयच्छन्दांसि च त्वमेव भवसि, सर्वात्मत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रीपुरुषाः, यूयं यथा पृथिवीच्छन्दोऽन्तरिक्षं छन्दो द्यौश्छन्दः समाश्छन्दो नक्षत्राणि छन्दो वाक्छन्दो मनश्छन्दः कृषिश्छन्दो हिरण्यं छन्दो गौश्छन्दोऽजाश्छन्दोऽश्वच्छन्दोऽस्ति, तथा विद्याविनयधर्माचरणेषु स्वाधीनतया वर्तध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, छन्दःशब्दस्यार्थानां निर्मूलत्वात्, श्रुतिविरोधाच्च। नहि पृथिव्यादीनां स्वातन्त्र्यमस्ति, जडत्वात्। नहि मनुष्यैरजाश्वादयोऽनुकरणीया भवन्ति ॥ १९ ॥

अ॒ग्निर्दे॒वता॒ वातो॑ दे॒वता॒ सूर्यो॑ दे॒वता॑ च॒न्द्रमा॑ दे॒वता॒ वस॑वो दे॒वता॑ रु॒द्रा दे॒वता॑दि॒त्या दे॒वता॑ म॒रुतो॑ दे॒वता॒ विश्वे॑दे॒वा दे॒वता॒ बृह॒स्पति॑र्दे॒वतेन्द्रो॑ दे॒वता॒ वरु॑णो दे॒वता॑ ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—अग्नि देवता का मनन करते हुए मैं इस इष्टका को स्थापित करता हूँ। वायु देवता, सूर्य देवता, चन्द्रमा देवता, वसु देवता, रुद्र देवता, आदित्य देवता, मरुत् देवता, विश्वेदेव देवता, बृहस्पति देवता और इन्द्र देवता का मनन करते हुए मैं इस इष्टका को स्थापित करता हूँ ॥ २० ॥

हे इष्टके, त्वमग्न्यादिदेवतारूपासि। तां त्वामुपदधामीति शेषः। एवं सर्वत्र योज्यम्। अग्न्यादीनां देवतात्वं प्रसिद्धम्। 'अग्निर्देवता वातो देवतेत्येता वै देवताश्छन्दाᳬंसि तान्येवैतदुपदधाति' (श० ८।३।३।६) इति पूर्वस्यां कण्डिकायामुद्धृतेन ब्राह्मणेन, गायत्र्यादीनामग्न्यादिप्रभवत्वेन च कार्यकारणाभेदेनाग्न्यादिदेवतानां छन्दोरूपत्वमुक्तम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'स वै निरुक्तानि चानिरुक्तानि चोपदधाति । स यत्सर्वाणि निरुक्तान्युपाधास्यदन्तवद्धान्नमभविष्यदक्षेष्यत हाथ यत्सर्वाण्यनिरुक्तानि परोऽक्षꣳ हान्नमभविष्यन्न हैनदद्रक्ष्यंश्चन निरुक्तानि चानिरुक्तानि चोपदधाति तस्मान्निरुक्तमन्नमद्यमानं न क्षीयते' (श० ८।३।३।७) । अथ दक्षिणोत्तरपक्षपुच्छसन्धिषु निरुक्तानिरुक्तभेदेन द्विविधानामपि छन्दसामुपधानमन्यतरोपधानपक्षे दोषप्रदर्शनपुरःसरं प्रशंसति—स वै निरुक्तानि चेत्यादिना । स उपधाता यदि केवलं निरुक्तान्येवोपाधास्यत्, तर्हि छन्दसां पशुरूपत्वेनान्नत्वात् तेषां छन्दसां निःशेषोपधानेन मितत्वादन्नमप्यन्तवदेवाभविष्यत् । यथा द्विप्रस्थं त्रिप्रस्थमित्येवं निरुक्तिमापन्नं धयापितं सत् पुनश्चानिरुक्तस्यान्नस्यासम्भवादन्तवदेव भवति । तथा सति को बाधः ? इति चेत्तत्राह—अक्षेष्यत हेति । 'ह इति विनिग्रहार्थीयः' (निरु० १।५) । क्षयमापद्येत । अथोक्तवैपरीत्येन यदि सर्वाण्यपि छन्दांस्यनिरुक्तान्येवोपाधास्यत्, तर्हीदमिति निरुक्तत्वाभावादन्नं परोक्षमभविष्यत् । न हैनदद्रक्ष्यंश्चनेति । तथा सत्येतदन्नं जना नाप्यद्रक्ष्यन्, अस्पष्टत्वेनेन्द्रियाविषयत्वात् । अतो दोषद्वयासंस्पर्शायोपायमाह—निरुक्तानि चानिरुक्तानि चोपदधातीति । तस्मादुभयस्याप्यनुष्ठितत्वान्निरुक्तमन्नमद्यमानमप्यनिरुक्तस्यासंख्यातस्यान्यस्यान्नस्य सद्भावान्न संक्षीयते । अतः केषाञ्चिन्निरुक्तानां केषाञ्चिदनिरुक्तानां चोपधानं प्रशस्तम् । 'तानि वा एतानि । त्रीणि द्वादशान्युपदधाति तत् षट्त्रिꣳशत् षट्त्रिꣳशदक्षरा बृहत्येषा वै सा बृहती यां तद्देवा अन्तरिक्षं बृहतीं तृतीयां चितिमपश्यंस्तस्या एतस्यै देवा उत्तमाः' (श० ८।३।३।८) । प्रतिदिक्षु यद् द्वादशत्वं तद् बृहतीसम्पत्तिद्वारा स्तौति—तानि वा एतानीनि । छन्दसां यद् द्वादशकं द्वादशम्, तादृशानि त्रीणि द्वादशान्युपदध्यात् । मिलितानि षट्त्रिंशत्, बृहत्याश्च षट्त्रिंशदक्षराणि, अत एषा बृहती सम्पन्ना । तृतीयचित्युपक्रमे प्रतिपादिता या बृहती, 'अन्तरिक्षं बृहतीं तृतीयां चितिमपश्यन्' (श० ८।३।१।२) इति, तस्या एतस्मै देवा उत्तमाः, उपधीयन्त इति शेषः । ते च 'अग्निर्देवता वातो देवता' इत्यादिना निर्दिष्टाः ।

'यद्वेवैता इष्टका उपदधाति । प्रजापतेर्विस्रस्तात् सर्वाणि भूतानि सर्वा दिशोऽनु व्युदक्रामन्' (श० ८।३।३।९) । 'स यः स प्रजापतिर्व्यस्रꣳसत । अयमेव स योऽयमग्निश्चीयतेऽथ यान्यस्मात् तानि भूतानि व्युदक्रामन्नेतास्ता इष्टकास्तद्यदेता उपदधाति यान्येवास्मात्तानि भूतानि व्युदक्रामंस्तान्यस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति' (श० ८।३।३।१०) । 'तद्या दश प्रथमा उपदधाति । स चन्द्रमास्ता दश भवन्ति दशाक्षरा विराडन्नं विराडन्नम् चन्द्रमा अथ या उत्तराः षट्त्रिꣳशदर्धमासाश्च ते मासाश्च चतुर्विꣳशतिरर्धमासा द्वादश मासाश्चन्द्रमा वै संवत्सरः सर्वाणि भूतानि' (श० ८।३।३।११) । एता एवेष्टकाः पुनर्विस्रस्तप्रजापत्यवयवप्रतिसन्धानरूपत्वेन स्तौति यद्वेवैता इष्टका उपदधाति प्रजापतेरित्यादिना । प्रजापतिर्नाम चितिलक्षणोऽग्निः, ततो विस्रस्तानि भूतानीत्येताः षट्त्रिंशदिष्टकाः, अत एतासामुपधानेन विस्रस्तात् प्रजापतेर्निर्गतानां भूतानां प्रतिसन्धानं कृतं भवतीत्यर्थः । अथैताः पूर्वोक्ताभिः सह समुच्चित्य स्तौति—तद्या दशेत्यादिना । या दश प्रथमाः प्राणभृत उपहिताः स चन्द्रमाः । चन्द्रमोऽपेक्षया स इति पुंल्लिङ्गनिर्देशः । उक्तं चन्द्रमस्त्वमेवोपपादयति—ता दश भवन्तीत्यादिना । ताः प्राणभृतो दश विराडपि दशाक्षरा । सा तु अन्नम् । विराजोऽन्नत्वं प्रागुक्तम् (श० ८।३।२।१३) इत्यत्र । चन्द्रमा अपि अन्नमु अन्नमेव, 'एष वै सोमो राजा देवानामन्नम् । तं देवा भक्षयन्ति' (श० २।४।४।१५) इति श्रुतेः । ओषध्यादिरूपस्य तस्यान्नत्वं व्यक्तमेव । अथ या उत्तराः षट्त्रिंशत् छन्दस्याः सन्ति, तेऽर्धमासाश्च मासाश्च । मासापेक्षया 'ते' इति पुंल्लिङ्गनिर्देशः । चन्द्रमस उपचयापचयाभ्यां शुक्लकृष्णौ पक्षौ भवतः, तयोरावृत्त्या मासादिद्वारेण संवत्सरो निष्पद्यत इत्यभिप्रेत्य चन्द्रमा वै संवत्सर इत्युक्तम् । स च सर्वाणि भूतानि, संवत्सरकाले सर्वभूतानामुत्पत्तेः । 'तं यत्र देवाः समस्कुर्वन् । तदस्मिन्नेतानि सर्वाणि भूतानि मध्यतोऽदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति ता अनन्तर्हिता ऋतव्याभ्य उपधात्यृतुषु तत्सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठापयति' (श० ८।३।३।१२) ।

यस्मिन् काले देवास्तं प्रजापतिं समस्कुर्वन्, तदा सर्वाणि भूतानि मध्यदेशे स्थापयामासुः। तथैव देववदयं यजमानोऽप्येतेन छन्दस्येष्टकोपधानेन सर्वाणि भूतानि स्थापयति।

अध्यात्मपक्षे—हे चिते, त्वमेवाग्निर्देवता, त्वमेव वातो देवता, त्वमेव सूर्यो देवता, त्वमेव चन्द्रमा देवता, त्वमेव वसवो देवता, त्वमेव रुद्रादित्यमरुद्विश्वेदेवबृहस्पतीन्द्रवरुणाख्या देवताः, अतस्तां त्वामहमाश्रये।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रीपुरुषाः, युष्माभिरग्निर्देवता वातो देवता चन्द्रमा वसवः प्रसिद्धाग्न्यादयोऽष्टौ रुद्राः प्राणादय एकादश आदित्या द्वादशमासा वसुरुद्रादित्यसंज्ञका विद्वांसश्च मरुतो ब्रह्माण्डस्था मनुष्या विद्वांस ऋत्विजो विश्वे सर्वे देवा दिव्यगुणा मनुष्याः पदार्थाश्च बृहस्पतिर्बृहतो ब्रह्माण्डस्य पालको देवता इन्द्रो विद्युत् परमैश्वर्यं वा देवता वरुणो जलं वरगुणाढ्योऽर्थो वा देवता सम्यग्विज्ञेयाः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विज्ञेया इति पदस्य मूलेऽभावात्, विज्ञानफलानुक्तेश्च। नहि वेदे निरर्थकानि क्रिया ज्ञानानि चोपदिष्टानि। भूमिकायां योनिविशेषाणां देवत्वसाधनाच्च ॥ २० ॥

मूर्धासि राड् ध्रुवासि धरुणा धर्त्र्यसि धरणी। आयुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—हे वालखिल्ये! तुम प्रकाशवान् मूर्धा के समान उत्तम हो, धारण हेतु और स्थिर हो, तुम ध्रुव रूप से इस स्थान को धारण करो, तुम धारण करने वाली भूमि हो, धरणी रूप से इस स्थान को धारण करने में तत्पर बनो। आयु की वृद्धि के लिये तुमको स्थापित करता हूँ। कान्ति के लिये, अन्न की वृद्धि के लिये और कल्याण की वृद्धि के लिये तुमको स्थापित करता हूँ ॥ २१ ॥

'वालखिल्याः सप्त पुरस्तात्, प्राणभृद्भ्यो वाऽपराः, द्वादशभ्योऽपरास्तु, मूर्धासि राडिति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।९।१०-१३)। प्रागुक्ताः सप्त वालखिल्यसंज्ञका इष्टका दशप्राणभृद्भ्यः पूर्वा अपरा वोपदध्याद् मूर्धाऽसीत्यादिभिः सप्तभिर्मन्त्रैः। तु विशेषे। अपराः सप्त वालखिल्यास्तु द्वादश च्छन्दस्याभ्योऽपरा एवोपधेया यन्त्रीत्यादिभिः सप्तभिर्मन्त्रैरिति सूत्रार्थः। मूर्धासीत्यनुष्टुप्। यन्त्रीति परोष्णिक्। ऋग्द्वये चतुर्दश यजूंषि वालखिल्यादेवत्यानि। हे इष्टके, त्वं मूर्धा मूर्धवदुत्तमा राड् राजमाना चासि। हे इष्टके, त्वं ध्रुवा स्थिरा धरुणा धारणहेतुश्चासि। हे इष्टके, त्वं धर्त्री धारणं कुर्वती भूमिरूपा चासि। एवमिष्टकात्रयस्य त्रिलोकीरूपत्वम्। आयुषे त्वा आयुर्वृद्ध्यर्थं त्वामुपदधामि। वर्चसे कान्त्यर्थं त्वामुपदधामि। कृष्यै सस्यनिष्पत्तये त्वामुपदधामि। क्षेमाय सम्पादितधनरक्षणाय त्वामुपदधामि। तदेतत्सर्वं स्पष्टं ब्राह्मणे। तथाहि—

'अथ वालखिल्या उपदधाति। प्राणा वै वालखिल्याः प्राणानेवैतदुपदधाति ता यद् वालखिल्या नाम यद्वा उर्वरयोरसम्भिन्नं भवति खिल इति वै तदाचक्षते वालमात्राद् हेयं प्राणा असम्भिन्नास्ते यद्वालमात्रादसम्भिन्ना-स्तस्माद्वालखिल्याः' (श० ८।३।४।१)। वालखिल्येष्टका विधाय स्तौति—अथ वालखिल्या इति। प्राणत्वमुपरिष्टाद् वक्ष्यते। प्रतिज्ञापूर्वकं नाम निर्ब्रूते—ता यद्वालखिल्या नामेति। तत्प्रकारः प्रदर्श्यत इति शेषः। खिलस्वरूपं तावदाह—यद्वा इति। यदेव खलु क्षेत्रम् उर्वरयोः सर्वसस्याढ्ययोर्द्वयोः क्षेत्रयोरसम्भिन्नमस्पृष्टं भवति, स्वयमसस्यं भवतीत्यर्थः, तत्क्षेत्रं खिल इत्याचक्षते जनाः। 'पलिहर' इति भोजपुरीभाषायाम्। प्रकृते तत्कथमित्यत आह—वालमात्राद्धिति। इमे प्राणा वालमात्राद् व्यवधानादसम्भिन्ना असंस्पृष्टा अत एव खिलाः, खिला एव खिल्याः। यस्मादेवं तस्मात् प्राणा वालखिल्याः। देहे स्थितानां प्राणानां वालमात्रेणापि भेदाभावे देहेन साङ्कर्यं

स्यात्। प्राणानां वालमात्रनाडीव्यवधानं शास्त्रसिद्धम्। 'स वै सप्त पुरस्तादुपदधाति। सप्त पश्चात्तद्याः सप्त पुरस्तादुपदधाति य एवेमे सप्त पुरस्तात् प्राणास्तानस्मिन्नेतद्दधाति' (श० ८।३।४।२)। प्रसन्ना कण्डिका। 'अथ याः सप्त पश्चात्। एषामेवैतत्प्राणानामेतान् प्राणान् प्रतिप्रतीन् करोति तस्माद्यदेभिरन्नमत्ति तदेतैरत्येति' (श० ८।३।४।३)। तत्पश्चाद्भागे च सप्त उपदध्यात्। एषामेव पुरस्तादुपधीयमानेष्टकालक्षणसप्तप्राणानामेव एतद् एतेन पश्चादुपधानेन एतान् अधोवर्तिनः प्राणान् प्रतिप्रतीन् प्रतिनिधिरूपान् अथवा प्रतिकूलव्यापारवतः करोति। तेषामूर्ध्वमुखव्यापारः, एषां त्वधोमुख इति प्रातिकूल्यमेव दर्शयति—तस्माद्यदेभिरन्नमत्तीति। एभिः पुरस्ताद्वर्तमानैर्भक्षितमन्नमेतैरधो वर्तमानैरत्येति देहान्मलादिरूपेण अतिक्रमयति, निःसारयतीत्यर्थः। यद्यप्यूर्ध्व-प्राणेष्वेकस्यैवात्तृत्वम्, तथापीतरेषां षण्णां तदनुकूलव्यापारवत्त्वादत्तृत्वमुपचर्यते। एवमधस्तात् प्राणानामप्य-न्नापसारकत्वम्।

'यद्वेव सप्त पुरस्तादुपदधाति। सप्त वा इमे पुरस्तात् प्राणाश्चत्वारि दोर्बाहवाणि शिरो ग्रीवा यदूर्ध्वं नाभेस्तत्सप्तममङ्गेऽङ्गे हि प्राण एते वै सप्त पुरस्तात् प्राणास्तानस्मिन्नेतद्दधाति' (श० ८।३।४।४)। इत्थं प्राणात्मना पुरस्तात् पश्चाच्चोपधेयेष्टकाः प्रशस्येदानीं प्राणशब्दस्य विवक्षितमर्थमभिदधत् प्रकारान्तरेण स्तौति—यद्वेव सप्त पुरस्तादित्यादिना। के ते पुरस्तात् प्राणा इति तान् दर्शयति—चत्वारि दोर्बाहवाणीति। दोर्द्वयं बाहुद्वयं चेति चत्वार्यङ्गानि। मध्यसन्धेरुपरिभागो दोः, अधोभागो बाहुः, एवं चत्वारि दोर्बाहवाणि, शिरो ग्रीवा चेति द्वे अङ्गे, नाभेरूर्ध्वं यदेकमङ्गं तत्सप्तमम्। सर्वाणि मिलित्वोपरिष्टात् सप्त प्राणाः। नन्वेतान्यङ्गानि भवन्ति, कथमेषां प्राणत्वमिति तत्राह—अङ्गे अङ्गे हि प्राण इति। प्रत्यङ्गं प्राणाभावे तु तत्तदङ्गचेष्टैव नोपपद्यते। 'अथ याः सप्त पश्चात्। सप्त वा इमे पश्चात् प्राणाश्चत्वार्यूर्वष्ठीवानि द्वे प्रतिष्ठे यदवाङ्नाभेः तत्सप्तममङ्गेऽङ्गे हि प्राण एते वै सप्त पश्चात् प्राणास्तानस्मिन्नेतद्दधाति' (श० ८।३।४।५)। पादस्य मध्यसन्धेरुपरिभाग ऊरुः, अधोभागोऽष्ठीवशब्दवाच्यः। द्वे प्रतिष्ठे पादौ नाभेरधोऽङ्गं सप्तमम्। 'मूर्धासि राड्। ध्रुवासि धरुणा धर्त्र्यसि धरणी यन्त्री राड् यन्त्र्यसि यमनी ध्रुवासि धरित्रीत्येतानेवास्मिन्नेतद् ध्रुवान् प्राणान् यच्छति' (श० ८।३।४।६)। पुरस्तात् पश्चाच्चोपधेयानां मध्ये त्रींस्त्रीन् मन्त्रानुदाहृत्य संगृह्य तात्पर्यमाह—मूर्धासीत्यादिना। उत्तरत्र मूर्धादीनां त्रयाणां भूरादिलोकत्रयरूपेण स्तूयमानत्वान्मूर्धादिभिः शब्दैर्भूरादयो लोका विवक्षिताः। हे इष्टके, त्वं मूर्धासि मूर्धवदुत्कृष्टभूर्लोकरूपासि। मूर्धत्वं भूमेः सर्ववस्त्वाश्रयत्वात्। तथा राड् राजमानासि। हे द्वितीयेष्टके, त्वं ध्रुवा उभयतो लोकसद्भावाद् ध्रुवोऽन्तरिक्षलोकः, तद्रूपासि। तामेव विशिनष्टि—धरुणेति। सर्वस्य पक्ष्यादेरपि धारिका। हे तृतीयेष्टके, त्वं धर्त्र्यसि धरणी चासि। त एते त्रयो मन्त्राः। आयुषे त्वा, वर्चसे त्वा, कृष्यै त्वा, क्षेमाय त्वेति चत्वार आम्नास्यन्ते। ते तु स्पष्टार्थाः। तान् पृथगुदाहृत्य व्याख्यास्यति श्रुतिः। तत्र यन्त्री राड् इति पश्चादुपधेयानां प्रथमो मन्त्रः। एतेषां त्रयाणां स्वर्गादिक्रमणसाधनत्वेन स्तूयमानत्वादिष्टकाः स्वर्गादिरूपेण स्तूयन्ते—हे प्रथमेष्टके, त्वं यन्त्री सर्वस्य नियमयित्री राड् राजमाना, उक्तलक्षणस्वर्गरूपासीत्यर्थः। हे द्वितीयेष्टके, त्वं यमनी विशेषेण नियन्तृरूपा यन्त्री उक्तलक्षणान्तरिक्षरूपासीत्यर्थः। हे तृतीयेष्टके, त्वं ध्रुवा अविचलिता धरित्री सर्वस्य धारिका उक्तलक्षणपृथिवीरूपासीत्यर्थः। अग्रिमेष्टकोपधानमन्त्राश्चत्वारः। इषे त्वा, ऊर्जे त्वा, रय्यै त्वा, पोषाय त्वा—इत्येते उपरिष्टादाम्नास्यन्ते। ते स्पष्टार्थाः। निर्दिष्टानां षण्णां मन्त्राणां तात्पर्यमाह—एतानेवास्मिन्नेतद् ध्रुवान् प्राणान् यच्छतीति। एषु मन्त्रेषु ध्रुवसंशब्दनाद् एतानेव ध्रुवान् लोकान् ध्रुवप्राणात्मकान् कृत्वा अस्मिन् प्रजापतिशरीरात्मके चितिस्वरूपे एतेन मूर्धादिमन्त्रसाध्येष्टकोपधानेन यच्छति स्थापयतीत्यर्थः।

'यद्वेव वालखिल्या उपदधाति । एतद्वै देवा वालखिल्याभिरेवेमाँल्लोकान्त्समयुरितश्चोर्ध्वानमुतश्चार्वाचस्तथैवैतद्यजमानो वालखिल्याभिरेवेमाँल्लोकान्त्संयातीतश्चोर्ध्वानमुतश्चार्वाचः' (श० ८।३।४।७)। प्रकारान्तरेण स्तौति—यद्वेव वालखिल्या इत्यादिना। एतद्वै एतत्खलु पुरासीत्। देवाः पुरा वालखिल्याभिरिष्टकाभिरेवेमाँस्त्रींल्लोकान् समयुः सम्यगाप्तवन्तः। केन क्रमेणेत्युच्यते —इतो भूलोकाद् ऊर्ध्वान् अमुतः स्वर्गाद् अर्वाचोऽधस्तनान् इत्यारोहावरोहभेदाद् द्विप्रकारेण समयुरित्यर्थः। शेषं स्पष्टम्। 'मूर्धासि राडितीमं लोकमरोहन्। ध्रुवासि धरुणेत्यन्तरिक्षं लोकं धर्त्र्यसि धरणीत्यमुं लोकमायुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वेति चत्वारश्चतुष्पादाः पशवोऽन्नं पशवस्त एतैश्चतुर्भिश्चतुर्भिश्चतुष्पादैः पशुभिरेतेनान्नेनामुष्मिँल्लोके····प्रतितिष्ठति' (श० ८।३।४।८)। उक्तं प्रकारं विभज्य दर्शयति—मूर्धासीति। एतन्निगदसिद्धम्। पुरस्तादुपधेयेष्टकानां चतुरो मन्त्रानुदाहृत्य तात्पर्यं दर्शयति—आयुषे त्वेत्यादिना। एते चत्वारः पशवश्चतुष्पादाः। ते च अन्नम्। ते देवा एतैश्चतुभिर्मन्त्रैश्चतुःसंख्यासाम्येन चतुष्पादयुक्तैः पशुभिस्तद्रूपेणैतेनामुष्मिन् भूरादिक्रमेणारूढे स्वर्गे प्रतिष्ठिता अभूवन्। एवं पूर्वोक्तास्त्रयो मन्त्राः क्रमेण लोकत्रयाक्रमणस्थानीयाः, उपरितनाश्चत्वार आक्रान्तवतां देवानामन्नस्थानीया इति सिद्धा पुरस्तादुपधेयानां वालखिल्यानां स्तुतिः। 'स स पराङिव रोहः। इयमु वै प्रतिष्ठा ते देवा इमां प्रतिष्ठामभिप्रत्यायंस्तथैवैतद्यजमान इमां प्रतिष्ठामभिप्रत्यैति' (श० ८।३।४।९)। पश्चाद्वालखिल्याप्रसञ्जनार्थमाह—स स पराङिवेति। लोकानां त्रित्वेन तदारोहस्यापि त्रित्वात् तदपेक्ष्य स स इति वीप्सा। पराङिव पुनरावृत्तिरिव इयम्। ननु स्वर्गेऽपि प्रतिष्ठानं किं न स्यात्? इत्यत आह—इयमु वै प्रतिष्ठेति। सुकृतक्षये पुनर्भूलोके पतनात्। अस्याः प्रतिष्ठात्वं तु सर्वजीवाश्रयत्वात्। यस्मादेवं तस्माद्देवाः स्वर्गं प्राप्ताः सन्तोऽपीमां प्रतिष्ठां भुवमभिलक्ष्य प्रत्यायन् प्रतिमुखं प्राप्ताः। 'यन्त्री राडित्यमुं लोकमरोहन्। यन्त्र्यसि यमनीत्यन्तरिक्षलोकं ध्रुवासि धरित्रीतीमं लोकमिषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वेति चत्वारश्चतुष्पादा····' (श० ८।३।४।१०)। प्रतिगतिप्रकारं विभज्य दर्शयति—यन्त्री राडित्यमुं लोकमित्यादिना। एवमुत्तरांश्चतुरो मन्त्रान् प्रदर्शयन् भुवः प्रतिष्ठात्वमन्नत्वेन स्तौति—इषे त्वेत्यादिना।

अध्यात्मपक्षे—हे चिते, त्वं मूर्धासि मूर्धवत् सर्वोत्कृष्टासि। राड् राजमानासि, अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षस्य व्यवहारायोग्यत्वात्। ध्रुवासि कूटस्थासि। धरुणासि धरित्री असि, सर्वाधिष्ठानरूपत्वात्। त्वं धर्त्री धारणं कुर्वती धरित्रीरूपासि। आयुषे आयुर्वृद्ध्यर्थं वर्चसे कान्त्यर्थं कृष्यै सस्यादिनिष्पत्तये, क्षेमाय प्राप्तज्ञान-ध्यान-योग-लक्ष्म्यादिरक्षायै च त्वामुपाश्रये। 'अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः। तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥' (भा० पु० २।३।१०) इति श्रीमद्भागवतमहापुराणवचनात्।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, या त्वं सूर्यवन्मूर्धासि राडिव ध्रुवासि स्वकक्षायां गच्छन्त्यपि निश्चलासि। धरुणा धरणीव धर्त्र्यसि। तामायुषे त्वां वर्चसे त्वां कृष्यै त्वां क्षेमाय त्वामहं परिगृह्णामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, आयुरादीनां तदनधीनत्वात्। नहि कृषिकर्मण्यपि तदुपयोगः, हलबलीवर्दादिभिरन्यथासिद्धत्वात्॥ २१॥

यन्त्री राड् यन्त्र्यसि यमनी ध्रुवासि धरित्री। इषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा लोकं ता इन्द्रम्॥ २२॥

मन्त्रार्थ—हे वालखिल्ये! तुम नियम से युक्त विराजमान हो, इस स्थान में विराजमान हो, स्वयं नियम में रहती हुई सबको नियमित करने वाली हो, स्थिर धरणी भूमि रूप हो। हे वालखिल्ये! अन्न की प्राप्ति के निमित्त, बल की प्राप्ति के निमित्त, धन की प्राप्ति के निमित्त और धन की पुष्टि के निमित्त तुमको स्थापित करता हूँ॥ २२॥

हे इष्टके, त्वं यन्त्री नियमोपेता राड् राजमानासि। तथा स्वयमपि यन्त्री सती यमनी सर्वेषां नियमनकारिणी असि भवसि। ध्रुवा स्थिरा सती धरित्री भूमिरूपा चासि। अत्र पूर्वस्यां कण्डिकायां वर्णितो ब्राह्मणोक्तोऽर्थोऽनुसन्धेयः। हे इष्टके, इषेऽन्नाय त्वामुपदधामि। ऊर्जे बलाय त्वामुपदधामि। रय्यै धनाय त्वामुपदधामि। पोषाय धनपुष्ट्यै त्वामुपदधामि। चतसृणां पूर्वोक्तब्राह्मणानुसारेण पशुरूपेण संस्तवः। 'उत्तराश्रोणेरधि लोकम्पृणाः पूर्ववत्' (का० श्रौ० १७।९।१५)। तत उत्तरश्रोणेरारभ्य प्रदक्षिणं पूर्वानूकान्तं यावत् प्रथमचित्युक्तप्रकारेण लोकम्पृणा उपदध्यात्, ततः प्रत्यागत्य प्रागनूकस्य दक्षिणत आरभ्योत्तरश्रोण्यक्ष्णयादेशपर्यन्तं लोकम्पृणाशेषमुपदध्यात्। ततो दक्षिणपक्षपुच्छोत्तरपक्षेष्विति सूत्रार्थः। ततः पुरीषनिर्वापोपस्थाने। लोकम्, ता, इन्द्रम् इति तिस्र ऋचः प्रतीकगृहीताः—'लोकम्पृण छिद्रम्पृण' (वा० सं० १२।५४), 'ता अस्य' (वा० सं० १२।५५), 'इन्द्रं विश्वा' (वा० सं० १२।५६) इति। तत्र लोकम्पृणेत्यनया लोकम्पृणा उपदध्यात्। ता अस्येति सूददोहःसंज्ञकया अधिवदनं स्पृष्ट्वा पठनम्। 'इन्द्रं विश्वा' इति मन्त्रेण स्वयमातृण्णोपरि मृत्क्षेप इति पूर्वं व्याख्यातमनुसन्धेयम्।

तथा च ब्राह्मणम्—'अथ याः सप्त पश्चात्। य एवेमे सप्त पश्चात्प्राणास्तानस्मिन्नेतद्दधाति ता अनन्तर्हिता एताभ्यो द्वादशभ्य उपदधात्यनन्तर्हितांस्तदात्मनः प्राणान् दधाति स एष वायुः प्रजापतिरस्मिंस्त्रैष्टुभेऽन्तरिक्षे समन्तं पर्यक्नस्तद्यत्तृतीयां चितिमुपदधाति वायुं चैव तदन्तरिक्षं च संस्कृत्योपधत्तेऽथ लोकम्पृणे उपदधात्यस्यां स्रक्त्यां तयोरुपरि बन्धुः पुरीषं निवपति तस्योपरि बन्धुः' (श० ८।३।४।१५)। एवमेव 'अथ याः सप्त पश्चात्' इत्युत्तरवाक्यमपि व्याख्येयम्। सप्त पश्चात् प्राणाः 'चत्वायुर्वर्षीवानि' इत्यादिनोक्ताः। एताभ्यो द्वादशभ्य इति। मध्यत उपधेयाभ्यश्छन्दस्याभ्योऽनन्तर्हिता उपदध्यात्। स एषः प्राणभृदादिवालखिल्यान्त इष्टकारूपः प्राणशरीरवान् प्रजापतिरस्मिन् स्वयमातृण्णाद्युतव्यान्तैकादशेष्टकारूपे त्रैष्टुभेऽन्तरिक्षे समन्तं पर्यक्नः परिव्याप्तो वर्तते। तत् तस्मादिमां तृतीयां चितिमुपदधातीति यत्, तत् तेनोपधानेन वायुं चान्तरिक्षं च संस्कृत्योपहितवान् भवति। अथ लोकम्पृणे इति द्वे इष्टके उपदधाति। तयोर्ब्राह्मणमुपरि वक्ष्यते—'असौ वा आदित्यो लोकम्पृणा इति' (श० ८।७।२।१)। अथ पुरीषं निवपति। एतस्यापि ब्राह्मणमुत्तरत्र वक्ष्यत इत्यतिदिशति—तस्योपरि बन्धुरिति। 'असौ वा····अन्नं वै पुरीषम्' (श० ८।७।३।१-२) इत्यादिना वक्ष्यत इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे चिद्रूपे भगवति, त्वं यन्त्री नियन्त्री सर्वस्यैव प्रपञ्चस्य नियामिकासि राड् राजमानासि। त्वं यन्त्री सती स्वयं नियमवती सती सर्वेषां यमयित्री ध्रुवा सती धरित्री भूमिरूपा चासि। इषे वृष्ट्यै त्वा ऊर्जे बलाय रसाय च रय्यै धनलाभाय च पोषाय धनशरीरादिपुष्ट्यै च त्वामुपाश्रये। त्वां लोकं भोगरूपां ता इष्टकारूपामिन्द्रं परमात्मरूपां च त्वामुपाश्रये।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, या त्वं यन्त्री राड् यन्त्री भूमिरिवासि। यमनी ध्रुवा धरित्र्यसि। इषे इच्छासिद्धये ऊर्जे पराक्रमप्राप्तये पोषाय चाहं त्वां स्वीकरोमि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्त्रीमात्रात्तदसिद्धेः॥ २२॥

आ॒शुस्त्रि॒वृद् भा॒न्तः प॑ञ्चद॒शो व्यो॒मा स॑प्तद॒शो ध॒रुण॑ एकवि॒ꣳशः प्रतू॑र्तिरष्टाद॒शस्तपो॑ नवद॒शो॑ऽभीव॒र्तः स॑वि॒ꣳशो वर्चो॑ द्वावि॒ꣳशः स॒म्भर॑णस्त्रयोवि॒ꣳशो योनि॑श्चतुर्वि॒ꣳशो गर्भाः॑ पञ्चवि॒ꣳश ओज॑स्त्रिण॒वः क्रतु॑रेकस्त्रि॒ꣳशः प्र॑ति॒ष्ठा त्र॑यस्त्रि॒ꣳशो ब्र॒ध्नस्य॑ वि॒ष्टप॑ चतुस्त्रि॒ꣳशो नाकः॑ षट्त्रि॒ꣳशो वि॑व॒र्तो॑ऽष्टाचत्वारि॒ꣳशो ध॒र्त्रं च॑तुष्टो॒मः॥ २३॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! त्रिवृत् स्तोम तथा त्रिलोक में व्याप्त वायु देवता का ध्यान करते हुए त्रिवृत् आशु रूप तुमको मैं इस स्थान में स्थापित करता हूँ। पन्द्रह दिन में ह्रास और वृद्धि को पाने वाले पंचदश कला के अधिपति चन्द्रज्योति को नमन करते हुए तुम्हारा सादन करता हूँ। अनेक प्रकार से रक्षा करने वाले प्रजापति सप्तदश स्तोम रूप हैं। धारणकर्ता प्रतिष्ठारूप एकविंश स्तोम है। संवत्सर बारह महीना, पाँच ऋतु और एक वर्ष को मिलाकर अठारह अवयव वाला है। नवदश स्तोम तपोरूप है। सविंश स्तोम समावृत्ति रूप है। द्वाविंश स्तोम विशेष बल देने वाला है। त्रयोविंश स्तोम सम्यक् पुष्टि को देनेवाला है। चतुर्विंश स्तोम प्रजा का उत्पादक है। पंचविंश स्तोम सामगर्भ है। त्रिणव स्तोम तेज को देने वाला है। एकत्रिंश स्तोम यज्ञ के लिये उपयोगी है। त्रयस्त्रिंश स्तोम स्थिति का कारण है। चतुस्त्रिंश स्तोम सूर्य का स्वाराज्य निवासस्थान है। षट्त्रिंश स्तोम स्वर्ग को देने वाला है। अष्टाचत्वारिंश स्तोम साम के आवर्तनों से युक्त है और धारक होने से त्रिवृत्, पंचदश, सप्तदश, एकविंश - इन चार स्तोमों का समूहरूप है ॥२३॥

'उत्तरां पूर्वयोराशुस्त्रिवृदिति' (का० श्रौ० १७।१०।६)। पूर्वयोः पूर्वानूकान्तविहितयोर्दक्षिणोत्तरयोर्मध्ये उत्तरां जङ्घामात्रीमुदङ्मुख उपदध्यादिति सूत्रार्थः। अस्यां कण्डिकायामष्टादश यजूंषि। तत्र चतुर्णां मृत्युमोहिन्युपधाने विनियोगः, प्रतूर्तिरित्यादीनां चतुर्दशानां चार्धपद्योपधाने। चतुर्थीं चितिमृषयोऽपश्यन्। हे इष्टके, त्वं त्रिवृत् स्तोमरूपासि। अत्र त्रिवृत्पञ्चदशसप्तदशादिशब्दाः स्तोमविशेषवाचिनः। स्तोमाश्च त्रिवृतस्त्रिष्वस्य साम्न आवृत्तिभेदान्निष्पद्यन्ते। आवृत्तिप्रकारस्तु एकादशाध्याये पूर्वमुक्त एव। एकविंश-त्रिणव-त्रयस्त्रिंशाख्या आपस्तोमाः सामब्राह्मणे पठिताः। अष्टादशनवदशादयस्तु तेनैव न्यायेनोन्नेयाः। आवृत्तिप्रकारः सामसूत्रतोऽवगन्तव्यः। यद्वा—आशुर्वायुः, अश्नुते व्याप्नोति सर्वान् स्तोमान् सर्वांल्लोकान् वेत्याशुः। 'अशूङ् व्याप्तौ'। स हि त्रिवृत् त्रिषु लोकेषु वर्तत इति। क्विप्। सर्वभूतव्यापकत्वादाशुर्वायुः। त्वं तद्रूपासि। 'दक्षिणां दक्षिणयोर्भान्तः पञ्चदश इति' (का० श्रौ० १७।१०।८)। दक्षिणानूकान्तविहितयोर्दक्षिणोत्तरपद्ययोर्मध्ये भान्त इति मन्त्रेण दक्षिणां पद्यां प्रत्यङ्मुख उपदध्यादिति सूत्रार्थः। भान्तो वज्ररूपो यः पञ्चदशः स्तोमः, हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। यद्वा भान्तश्चन्द्रः पञ्चदशाहानि पूर्यमाणत्वात् पञ्चदशाहानि क्षीयमाणत्वात् पञ्चदशः। भा कान्तिरेव अन्तः स्वरूपं यस्यासौ। हे इष्टके त्वं तद्रूपासि। दक्षिणामुत्तरयोर्व्योमा सप्तदश इति' (का० श्रौ० १७।१०।९)। उत्तरानूकान्तविहितयोर्दक्षिणोत्तरपद्ययोर्मध्ये दक्षिणां पद्यां व्योमेति मन्त्रेण प्रत्यङ्मुख उपदध्यादिति सूत्रार्थः। व्योमा विविधमवतीति प्रजापतिः सप्तदशः स्तोमः। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। 'दक्षिणामपरयोर्धरुण एकवि१७ँश इति' (का० श्रौ० १७।१०।७)। अपरानूकान्तविहितयोर्दक्षिणोत्तरयोर्मध्ये दक्षिणां जङ्घामात्रीं धरुण इति मन्त्रेण दक्षिणामुख उपदध्यादिति सूत्रार्थः। धरुणो धारकः, प्रतिष्ठाभूत एकविंशः स्तोमः। यद्वा धरुण आदित्यः। स एकविंशावयवत्वाद् एकविंशः। द्वादशमासाः, पञ्चर्तवः, त्रयो लोकाः, आदित्य इत्यवयवाः। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। 'चतुर्दश प्रतिमन्त्रं प्रतूर्तिरष्टादश इति' (का० श्रौ० १७।१०।१०)। चतस्र उपधाय चतुर्दश अर्धपद्या उदङ्मुख उपदध्याच्चतुर्दशमन्त्रैरिति सूत्रार्थः।

अतः परं संवत्सररूपाण्युपदधाति। प्रतूर्तिः प्रकृष्टा तूर्तिस्त्वरा यस्य स अष्टादशः स्तोमः। यद्वा संवत्सरः प्रतूर्तिः, स ह्यष्टादशावयवः। द्वादशमासाः पञ्चर्तवः संवत्सरश्चेत्यवयवाः। तद्रूपां त्वामुपदधामीत्यर्थः। तपस्तपोरूपो नवदशः स्तोमः। यद्वा संवत्सर एव तपः। स हि शीतोष्णवर्षैस्तपतीति। स खलु नवदशः। द्वादश मासाः षड्तवः संवत्सर इति। हे इष्टके त्वं तद्रूपासि। अभीवर्तः, अभिवर्त्यत आवर्त्यत इत्यभीवर्तः, आवृत्तिरूपः सविंशः स्तोमः। यद्वा—अभिवर्तयत्यावर्तयति सर्वाणि भूतानीत्यभीवर्तः संवत्सरः। स च द्वादशमाससप्तर्तु-संवत्सररूपविंशतिसंख्यया सहितः। अत एव सविंशः। हे इष्टके, तद्रूपां त्वामुपदधामि। वर्चो बलविशेषप्रदो

द्वाविंशः स्तोमः। यद्वा वर्चः संवत्सरो वर्चस्वितमः, द्वादश मासाः सप्तर्तवो द्वे अहोरात्रे संवत्सरश्चेति द्वाविंशति-संख्योपेतत्वाद् द्वाविंशः। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। तद्रूपां त्वामुपदधामि। सम्भरणः सम्यग् बिभर्ति पोषयतीति त्रयोविंशः स्तोमः। सम्भरत्युत्पादयति संहरति विनाशयतीति वा सम्भरणः संवत्सरः। त्रयोदश मासाः सप्तर्तवो द्वे अहोरात्रे एकः संवत्सर इति त्रयोविंशावयवः। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। योनिः प्रजोत्पादकश्चतुर्विंशः स्तोमोऽसि। यद्वा योनिः सर्वस्थानभूतः संवत्सरश्चतुर्विंशतिपक्षात्मकः। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। गर्भाः, व्यत्ययेन बहुत्वम्। सामगर्भः पञ्चविंशः स्तोमोऽसि। यद्वा गर्भः संवत्सरः, भूतोत्पादकत्वाच्चतुर्विंशतिः पक्षा एकः संवत्सर इति। अधिकमासो भूत्वा ऋतुषु गर्भो भवतीति वा। ओज ओजस्वी, तेजस्वी। मतुब्लोपः। वज्रो वा ओजः, तद्रूपस्त्रिणवः स्तोमोऽसि। यद्वा ओजः संवत्सरश्चतुर्विंशतिः पक्षाः, अहोरात्रे द्वे, संवत्सरश्चेति त्रिणवः त्रिरावृत्ता नव यत्रासौ। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। क्रतुः करोति सर्वाणि भूतानीति क्रतुः। यज्ञोपयोगी एकत्रिंशः स्तोमोऽसि। यद्वा संवत्सर एव क्रतुः, स हि पक्षर्तुसंवत्सरात्मकत्वादेकत्रिंशः। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। प्रतिष्ठा प्रतितिष्ठत्यनेनेति प्रतिष्ठा स्थितिहेतुस्त्रयस्त्रिंशः स्तोमोऽसि। यद्वा संवत्सर एव प्रतिष्ठा, संवत्सरे सर्वस्य प्रतिष्ठितत्वात्, पक्षर्त्वहोरात्रसंवत्सरात्मकत्वात्। स हि त्रयस्त्रिंशः। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। ब्रध्नस्य बध्नाति तिमिरमिति ब्रध्नः सूर्यस्तस्य विष्टपं निवासस्थानम्। 'जगती लोको विष्टपं भुवनं जगत्' (अ० को० ३।१।६) इत्यमरकोषात्। ब्रध्नस्य विष्टपं स्वाराज्यं स्वतन्त्रत्वं तद्रूपस्तत्प्रदो यश्चतुस्त्रिंशः स्तोमस्तद्रूपासि। यद्वा संवत्सरो ब्रध्नस्य विष्टपम्, रविणैव कालनिर्माणात्। चतुर्विंशतिपक्षसप्तर्त्वहोरात्रसंवत्सरात्मकत्वाच्चतुस्त्रिंशः। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। नाकः स्वर्गः, अर्थात् स्वर्गप्रदः 'स्वर्गनाकत्रिदिवत्रिदशालयाः' (अ० को० १।१।६) इति कोषात्। षट्त्रिंशः स्तोमोऽसि। संवत्सरो वा नाकः। काम्यते सर्वैरिति कं सुखं न कमकं दुःखं तन्नास्ति यत्रासौ नाकः। तद्रूपो यः षट्त्रिंशः स्तोमः। संवत्सरो हि पक्षमासात्मकत्वात् षट्त्रिंशः। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। विवर्तः, विवर्त्यन्त आवर्त्यन्ते सामानि यत्रेति विवर्तः, अष्टाचत्वारिंशः स्तोमः। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। यद्वा संवत्सरो विवर्तः, विविधं वर्तन्ते भूतानि यत्रेति। स ह्यधिमासत्वेन षड्विंशतिः पक्षाः सप्तर्तवस्त्रयोदश मासा द्वे अहोरात्रे इत्यष्टाचत्वारिंशः। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। धर्त्रं धारकः, चतुष्टोमश्चतुरुत्तरः स्तोमश्चतुष्टोमः। मध्यमपदलोपी समासः। त्रिवृत्पञ्चदशसप्तदशैकविंशानां समूहः। हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। अथवा धर्त्रं वायुः, जगदाधारत्वात्। स एव चतुर्दिग्भिः स्तूयमानत्वाच्चतुष्टोमः। आदावन्ते च वायूपधानेन वायुना सर्वभूतानि वशीकरोतीति भावः। एतैरष्टादशमन्त्रैः स्तोमवादिभिः स्तोमरूपत्वं नीता अष्टादशेष्टका उपधेया इत्यर्थ इति महीधराचार्यः।

श्रीमदुव्वटाचार्यस्तु—अथो वायुर्वा आशुः शीघ्रः, त्रिवृत् त्रिलोकसञ्चारी। भान्तः पञ्चदशः, चन्द्रमा उच्यते। स हि भाति च पञ्चदशाहान्यापूर्यते चापक्षीयते च। व्योमा सप्तदशः संवत्सर उक्तः। स हि विविध-मवति प्राणिनः सप्तदशावयवश्च। धरुण एकविंश आदित्यः स्तोमो वोच्यते। प्रतूर्तिः संवत्सरः। स हि सर्वाणि भूतानि प्रतिरति प्रवर्धयति। तपः संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि तपति शीतोष्णवर्षैः। अभीवर्तः संवत्सरो हि सर्वाणि भूतान्यभिवर्तते। तेनाभिवृत्तेन हि ऋतुलिङ्गानि भूतेषु दृश्यन्ते। वर्च इति। 'संवत्सरो हि सर्वेषां भूतानां वर्चस्वितमः' (श० ८।४।१।१६) इति ब्रुवन्ती श्रुतिर्मतुब्लोपं दर्शयति। वर्चो वर्चस्वी महाभाग्यवान् संवत्सरः। संभरणः संवत्सरः। संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि सम्भरत्युत्पादयति संहरति वा विनाशयतीति। गर्भः संवत्सरस्त्रयोदशमास इहोच्यते। स च गर्भो भूत्वा ऋतून् प्रविशति। कथं पुनस्त्रयोदशो मास ऋतून् प्रविशति ? उच्यते—साग्रैरेकोनमासाहोरात्रैश्चन्द्रो द्वादशराशीन् विभ्रमति। आदित्यस्तु किञ्चिन्न्यूनैरेकषष्टिदिवसै राशिद्वयमतिक्रामति। स कालः सौर ऋतुर्भवति। तैश्च षड्भिः सौरैर्ऋतुभिः

संवत्सरो भवति । ततश्च एकस्मिन्नृतौ सौरचान्द्रौ मासौ भवतः, तिथिद्वयं चान्द्रमासादतिरिच्यते । एवं षड् ऋतुषु द्वादश तिथयः प्रविशन्ति । अपरेषु षट्स्वपरा द्वादश । अपरेषु त्रिषु षट्तिथयः । स एषोऽर्धतृतीयेषु संवत्सरेषु चान्द्रो मासः प्रविशति । स एवाधिमासः, स एव त्रयोदशो मासः सौरान् ऋतून् द्वाभ्यां तिथिभ्यां प्रविशतीति । अत्रावधेयम्—त्रयोदशस्य मासस्य कस्मिन्नप्येकस्मिन् ऋतौ प्रवेशो न नियन्तुं शक्यः। अतः षट्सु ऋतुषु न तस्यान्तर्भावः। किन्तु षडतिरिक्तः सप्तमः कश्चन ऋतुरङ्गीकरणीयः। तथा चाह श्रुतिः—'द्वादशमासाः सप्तर्तवो द्वे अहोरात्रे संवत्सरः' (श० ८।४।१।१६) इति । कालगणनायामृतूनामपि समावेशमाह भीष्मः—

> कलाः काष्ठाश्च युज्यन्ते मुहूर्ताश्च दिनानि च । अर्धमासाश्च मासाश्च नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ॥
> ऋतवश्चापि युज्यन्ते तथा संवत्सरा अपि । एवं कालविभागेन कालचक्रं प्रवर्तते ॥
>
> (म० भा०, विराट० ५२।१-२)

अत्र ब्राह्मणम्—'चतुर्थीं चितिमुपदधाति । एतद्वै देवास्तृतीयां चितिं चित्वा समारोहन्नन्तरिक्षं वै तृतीया चितिरन्तरिक्षमेव तत्संस्कृत्य समारोहन्' (श० ८।४।१।१)। चतुर्थचित्या उपधानं विधाय स्तौति—चतुर्थीं चितिमित्यादिना । अन्तरिक्षादूर्ध्वं दिवोऽर्वाचीनं यत्स्थानं तच्चतुर्थी चितिः । 'ते ब्रह्माब्रुवन् । त्वामिहोपदधामहा इति किं मे ततो भविष्यतीति त्वमेव नः श्रेष्ठं भविष्यसीति तथेति तेऽत्र ब्रह्मोपादधत तस्मादाहुर्ब्रह्मैव देवानाᳬ श्रेष्ठमिति तदेतया वै चतुर्थ्या चित्येमे द्यावापृथिवी विष्टब्धे ब्रह्म वै चतुर्थी चितिस्तस्मादाहुर्ब्रह्मणा द्यावापृथिवी विष्टब्धे इति स्तोमानुपदधाति प्राणा वै स्तोमाः प्राणा उ वै ब्रह्म ब्रह्मैवैतदुपदधाति' (श० ८।४।१।३) । ते देवा ब्रह्माख्यां देवतामब्रुवन् त्वामिहोपदधामहा इति । तान् ब्रह्म किं तेन मे भविष्यतीत्यब्रवीत् । ते देवास्त्वमेव श्रेष्ठं भविष्यतीत्यब्रुवन् । तथेति चोक्तास्ते ब्रह्मैवात्रोपादधत । तस्माद् वेदविदो वदन्ति ब्रह्मैव देवानां श्रेष्ठमिति । तत् तस्मात् परिवृढस्य ब्रह्मण उपहितत्वादेतया चतुर्थ्या चित्या इमे द्यावापृथिवी विष्टब्धे विशेषेण धृते । चतुर्थ्याश्चित्या विष्टम्भकारणमाह—ब्रह्म वै चतुर्थी चितिरिति । स्तोमसंज्ञका इष्टका विधाय ब्रह्मात्मना स्तौति—प्राणा वै स्तोमा इति । त्रिवृत्स्तोमस्य वायुत्वेन स्तूयमानत्वाद् वायोश्च प्राणत्वात् तत्प्राधान्येन सर्वेऽपि स्तोमाः प्राणा इत्युच्यन्ते । ते च प्राणा ब्रह्मैव, तदधिष्ठितत्वात् । अतस्तेनोपधानेन साक्षाद् ब्रह्मैवोपदधाति । 'यद्वेव स्तोमानुपदधाति । एतद्वै देवाः प्रजापतिमब्रुवंस्त्वामिहोपदधामहा इति तथेति स वै नाब्रवीत्किं मे ततो भविष्यतीति यदु ह किञ्च प्रजापतिर्देवेष्वीषे किमस्माकं ततो भविष्यतीत्येवोचुस्तस्मादु हैतद्यत्पिता पुत्रेष्विच्छते किमस्माकं ततो भविष्यतीत्येवाहुरथ यत्पुत्राः पितरि तथेत्येवाहैवᳬ हि तदग्रे प्रजापतिश्च देवाश्च समवदन्त स्तोमानुपदधाति प्राणा वै स्तोमाः प्राणा उ वै प्रजापतिः प्रजापतिमेवैतदुपदधाति' (श० ८।४।१।४) । पुनः प्रजापत्यात्मना स्तौति—यद्वेवेत्यादिना । पुरा देवाः प्रजापतिं चतुर्थचिता उपदधामहा इत्यब्रुवन् । स तु तथैवाङ्गीचकार ब्रह्मवत् किं मे ततो भविष्यतीति नोवाच । तदमुमर्थं लौकिकपितृपुत्रव्यवहारप्रदर्शनपूर्वकमुपपादयति—स वै नाब्रवीदित्यादिना । यदेव किञ्चित् फलं प्रजापतिर्देवानधिकृत्य ऐच्छत्, तदा देवाः किमस्माकं ततो भविष्यतीत्येवोचुः । तस्मादेव कारणाद् इदानीमपि पिता पुत्रेषु कार्यमिच्छते यदि किञ्चित्फलमिच्छति तदा स्वकर्तव्यप्रतिनिधित्वे किमस्माकं ततो भविष्यतीत्येव पुत्रा ब्रूयुः । अथ यत्पुत्राः पितरि इच्छेयुस्तर्हि तथैवेत्याह । पिता हि पुत्रार्थं कस्मिन्नपि फले साध्ये सति तथैवेत्यङ्गीकुर्यात्, किं ततः स्यादिति न ब्रूयादित्यर्थः । शेषं स्पष्टम् । अङ्गाङ्गिनोरभेदात् प्राण एव प्रजापतिः । अतः स्तोमोपधानेन प्रजापतिमेवोपदधाति ।

'ये वै ते प्राणा ऋषय एतां चतुर्थीं चितिमपश्यन् ये त एतेन रसेनोपायंस्त एते तानेवैतदुपदधाति स्तोमानुपदधाति प्राणा वै स्तोमाः प्राणा उ वा ऋषय ऋषीनेवैतदुपदधाति' (श० ८।४।१।५)। ये प्राणाख्या ऋषय एतां चतुर्थीं चितिमपश्यन्। एते चितिद्रष्टार ऋषयः प्राणाः। एतेन रसेन चतुर्थचित्यात्मना दृष्टेन सारेण उपायन्। ते प्रजापत्यात्मकतां प्राप्ता एव एते प्रसिद्धाः प्राणा इत्यर्थः। तानेव चितिरसाभिज्ञान् प्राणानेवोपदधाति। उक्तमृषित्वमुपजीव्य पुनः स्तौति—प्राणा उ वा ऋषय इति। स्तोमदर्शनाद् ऋषयः प्राणाः। 'यद्वेव स्तोमानुपदधाति। प्रजापतिं विस्रस्तं देवता आदाय व्युदक्रामंस्तस्य यदूर्ध्वं मध्यादवाचीनꣳ शीर्ष्णस्तदस्य वायुरादायोत्क्रम्यातिष्ठद्देवताश्च भूत्वा संवत्सररूपाणि च' (श० ८।४।१।६)। पुनर्विस्रस्तप्रजापत्यवयवप्रतिसन्धानरूपतया प्रशंसति—यद्वेवेत्यादिना। पितुः प्रजापतेः सर्वपुत्रसाधारणद्रव्यत्वाद् इतरदेवतावद् वायुरपि प्रजापतेर्मध्यभागशिरोभागयोर्मध्यदेशमादाय देवताश्च संवत्सररूपाणि च भूत्वा उत्क्रम्य अतिष्ठत्। 'तमब्रवीत्। उप मेहि प्रति म एतद्धेहि येन मे त्वमुदक्रमीरिति किं मे ततो भविष्यतीति त्वद्देवत्यमेव म एतदात्मनो भविष्यतीति तथेति तदस्मिन्नेतद्वायुः प्रत्यदधात्' (श० ८।४।१।७)। अथ तं वायुं प्रजापतिरब्रवीत्। मा माम् उपेहि मदीयमेतदङ्गं यत्त्वयापहृतं तत् प्रतिधेहि। येन मे अङ्गेन सह त्वमुदक्रमीः उत्क्रम्य गतवानसि। किं मे तत इति वायुनोक्ते त्वद्देवत्य-मेतदङ्गं भविष्यतीति प्रजापतिरुवाच। तथेत्युक्त्वा वायुस्तदङ्गं प्रत्यदधात्। 'तद्या एता अष्टादश प्रथमाः। एतदस्य तदात्मनः.....' (श० ८।४।१।८)। प्रतिहितो भागः क इति तं दर्शयति—तद्या इत्यादिना। प्रथमम् 'आशुस्त्रिवृत्' इत्यादि मन्त्रैरुपधेया या अष्टादशसंख्याकाः स्तोमेष्टकाः सन्ति, एतदेव तदङ्गमित्यर्थः। 'स पुरस्तादुपदधाति। आशुस्त्रिवृदिति य एष त्रिवृत्स्तोमस्तं तदुपदधाति तद्यत्तमाहाशुरित्येष हि स्तोमाना-माशिष्ठोऽथो वायुर्वा आशुस्त्रिषुवृत् स एष त्रिषु लोकेषु वर्तते तद्यत्तमाहाशुरित्येष हि सर्वेषामाशिष्ठो वायुर्ह भूत्वा पुरस्तात्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।९)। उपधानमनूद्य मन्त्रान् विधाय व्याचष्टे—स पुरस्तादित्यादिना। आशुस्त्रिवृदिति मन्त्रसाध्येष्टकोपधानेन य एव त्रिवृदाख्यः 'तिसृभ्यो हिङ्करोति' इत्याद्युक्तलक्षणः स्तोमोऽस्ति, तमेव तत्रोपदधाति। एवं पञ्चदशस्तोमादिष्वपि योज्यम्। त्रिवृतो यद्विशेषण-माशुरिति तद् व्याचष्टे—तद्यत्तमाहेति। तत् तत्र यद् येनाभिप्रायेण तं त्रिवृत्स्तोमम् आशुरित्याह मन्त्रः, सोऽभिप्रायोऽभिधीयत इत्यर्थः। एष हि त्रिवृत्स्तोमः खलु स्तोमानां पञ्चदशादीनां मध्ये आशिष्ठोऽतिशयेन आशुः, ऋचां नवकरूपेण शीघ्रं समाप्तेः। प्रकारान्तरेण मन्त्रं व्याचष्टे—अथो वायुर्वा आशुस्त्रिवृदिति। स च त्रिषु लोकेषु वर्त्तमानस्त्रिवृत्। अस्तु त्रिवृद् वायुः, तस्य आशुत्वविशेषणं कथमिति तदुपपादयति—त द्यत्तमाहेत्यादिना। अस्तु व्युत्पत्त्या वायुराशुस्त्रिवृत्, तथापि तस्य चितिसम्बन्धः कथमिति तत्राह—वायुर्ह भूत्वेत्यादि। पुरा त्रिवृत्स्तोमो वायुर्भूत्वा पूर्वस्यां दिशि देवानां चयनानुष्ठानसमये तस्थौ स्थितवान्। तदेव वायुरूपं पुरस्ताद्देशे उपदधाति यजमानः।

'भान्तः पञ्चदश इति। य एव पञ्चदशस्तोमस्तं तदुपदधाति तद्यत्तमाह भान्त इति वज्रो वै भान्तो वज्रः पञ्चदशोऽथो चन्द्रमा वै भान्तः पञ्चदशः स च पञ्चदशाहान्यापूर्यते पञ्चदशापक्षीयते तद्यत्तमाह भान्त इति भाति हि चन्द्रमाश्चन्द्रमा ह भूत्वा दक्षिणतस्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।१०)। दक्षिणत उपधेयद्वितीयेष्टकामन्त्रं व्याचष्टे—भान्त पञ्चदश इति। मन्त्रेण द्वितीयामिष्टकामुपदध्यात्। सप्तदशादिस्तोमाश्च सामब्राह्मणे तत्सूत्रे च द्रष्टव्याः। पञ्चदशस्तोमेष्टकोपधानेन साक्षात्तं स्तोममेवोपदधाति। भान्त इति पञ्चदश-स्तोमविशेषणम्। विशेषणविशेष्ययोः सामानाधिकरण्याय एकार्थपरतामाह—वज्रो वै भान्तो वज्रः पञ्चदश इति। मन्त्रस्यार्थान्तरमाह—अथो चन्द्रमा वै भान्तः पञ्चदश इति। पञ्चदशस्तोमस्य यथा स्तोत्रीयागत-

पञ्चदशसंख्यासम्बन्धः, एवं पञ्चदशशब्दाभिधेयस्य चन्द्रमसोऽपि पञ्चदशसंख्यायोगमाह—स च पञ्चदशाहान्यापूर्यत इत्यादि। सर्वजनदृश्योऽयमर्थः। उपचयापचयकालावच्छेदकत्वेन पञ्चदशानामह्नां सम्बन्धाच्चन्द्रोऽपि पञ्चदश उच्यते। एवं भान्तशब्दस्यापि चन्द्रे प्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयति—भाति हि चन्द्रमा इति। भाति दीप्यत इति भान्तश्चन्द्रः। 'दक्षिणतस्तस्थौ' इति लिङ्गादनेन मन्त्रेण दक्षिणत उपदध्यादित्यर्थः। एवमेवोत्तरतः पश्चादित्यनयोरपि वाक्ययोरभिप्रायः। 'व्योमा सप्तदश इति। य एव सप्तदशस्तोमस्तं तदुपदधाति तद्यत्तमाह व्योमेति प्रजापतिर्वै व्योमा प्रजापतिः सप्तदशोऽथो संवत्सरो वाव व्योमा सप्तदशस्तस्य द्वादशमासाः पञ्चर्तवस्तद्यत्तमाह व्योमेति व्योमा हि संवत्सरः संवत्सरो ह भूत्वोत्तरतस्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।११)। उत्तरत्रोपधेयेष्टकामन्त्रः—व्योमा सप्तदश इति। तत्र उभे अपि विशेष्यविशेषणे एकार्थवृत्तित्वप्रदर्शनाय प्रजापतिमेव ब्रूत इत्याह—प्रजापतिर्वै व्योमेति। विशेषेणावति सर्वमिति व्योमा। प्रजापतिः सप्तदश इति। सप्तदशत्वं स्पष्टयति—द्वादश मासाः पञ्चर्तव इति।

'धरुण एकवि꣡ꣳश इति। य एव एकवि꣡ꣳशस्तोमस्तं तदुपदधाति तद्यत्तमाह धरुण इति प्रतिष्ठा वै धरुणः प्रतिष्ठैकवि꣡ꣳशोऽथो असौ वा आदित्यो धरुण एकवि꣡ꣳशस्तस्य द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावेवादित्यो धरुण एकवि꣡ꣳशस्तद्यत्तमाह धरुण इति यदा ह्येवैषोऽस्तमेत्यथेद꣡ꣳ सर्वं ध्रियत आदित्यो ह भूत्वा पश्चात्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधात्यथ संवत्सररूपाण्युपदधाति' (श० ८।४।१।१२)। पश्चादुपधेयेष्टकामन्त्रमुदाहृत्य व्याचष्टे—धरुण एकविंश इति। आदित्यस्यैकविंशत्वं द्वादशमासपञ्चर्तुलोकत्रयात्मकान् पदार्थानपेक्ष्यास्यैकविंशतिसंख्यापूरकत्वादित्याह—द्वादशेत्यादिना। आदित्यस्य धरुणत्वमुपपादयति—यदा ह्येवैषोऽस्तमेत्यथेदं सर्वं ध्रियत इति। अस्तमयानन्तरं स्वस्वव्यापारस्य दृष्टिप्रसवाभावात् सर्वं निभृतं धृतमिव भवति, अतोऽसावेवादित्यो धरुण इति। इत्थं चतुर्दिक्षु वाय्वादिदेवतारूपाणां चतसृणामिष्टकानामुपधानमभिधायोत्तरत्रोपधेयानां चतुर्दशानामिष्टकानां संवत्सररूपतां प्रतिजानीते—अथ संवत्सररूपाण्युपदधातीति। 'प्रतूर्तिरष्टादश इति। य एवाष्टादशस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव प्रतूर्तिरष्टादशस्तस्य द्वादश मासाः पञ्चर्तवः संवत्सर एव प्रतूर्तिरष्टादशस्तद्यत्तमाह प्रतूर्तिरिति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि प्रतिरति तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।१३)। तानि क्रमेण दर्शयति—प्रतूर्तिरष्टादशेत्यादिना। प्रजापतेः प्रतूर्तित्वमुपपादयति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि प्रतिरतीति सर्वाणि भूतानि उद्दिश्य तत्तदुत्पत्त्यादिनिमित्तं स्वयं प्रतिरति, कलाकाष्ठादिक्रमेण वर्धते। शेषं पूर्ववत्।

'तपो नवदश इति। य एव नवदशस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव तपो नवदशस्तस्य द्वादश मासाः षड्तवः संवत्सर एव तपो नवदशस्तद्यत्तमाह तप इति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि तपति तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।१४)। 'अभीवर्तः सवि꣡ꣳश इति। य एव सवि꣡ꣳशस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वा अभीवर्तः सवि꣡ꣳशस्तस्य द्वादश मासाः सप्तर्तवः संवत्सर एवाभीवर्तः सवि꣡ꣳशस्तद्यत्तमाहाभीवर्त इति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतान्यभिवर्तते तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।१५)। 'वर्चो द्वावि꣡ꣳश इति। य एव द्वावि꣡ꣳशस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव वर्चो द्वावि꣡ꣳशस्तस्य द्वादश मासाः सप्तर्तवो द्वे अहोरात्रे संवत्सर एव वर्चो द्वावि꣡ꣳस्तद्यत्तमाह वर्च इति संवत्सरो हि सर्वेषां भूतानां वर्चस्वितमस्तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।१६)। 'सम्भरणस्त्रयोवि꣡ꣳश इति। य एव त्रयोवि꣡ꣳशस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव सम्भरणस्त्रयोवि꣡ꣳशस्तस्य त्रयोदश मासाः सप्तर्तवो द्वे अहोरात्रे संवत्सर एव सम्भरणस्त्रयोवि꣡ꣳशस्तद्यत्तमाह सम्भरण इति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि सम्भृतस्तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।१७)।

'योनिश्चतुर्विꣳश इति। य एव चतुर्विꣳशस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव योनिश्चतुर्विꣳशस्तस्य चतुर्विꣳशतिरर्धमासास्तद्यत्तमाह योनिरिति संवत्सरो हि सर्वेषां भूतानां योनिस्तस्तेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।१८)। 'गर्भाः पञ्चविꣳश इति। य एव पञ्चविꣳशस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव गर्भाः पञ्चविꣳशस्तस्य चतुर्विꣳशतिरर्धमासाः संवत्सर एव गर्भाः पञ्चविꣳशस्तद्यत्तमाह गर्भा इति संवत्सरो ह त्रयोदशो मासो गर्भोऽभूत्वर्तून् प्रविशति तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।१९)। 'ओजस्त्रिणव इति। य एव त्रिणवस्तोमस्तं तदुपदधाति तद्यत्तमाहौज इति वज्रो वा ओजो वज्रस्त्रिणवोऽथो संवत्सरो वा ओजस्त्रिणवस्तस्य चतुर्विꣳशतिरर्धमासा द्वे अहोरात्रे संवत्सर एवौजस्त्रिणवस्तद्यत्तमाहौज इति संवत्सरो हि सर्वेषां भूतानामोजस्वितमस्तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।२०)। 'क्रतुरेकत्रिꣳश इति। य एवैकत्रिꣳशस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव क्रतुरेकत्रिꣳशस्तस्य चतुर्विꣳशतिरर्धमासाः षडृतवः संवत्सर एव क्रतुरेकत्रिꣳशस्तद्यत्तमाह क्रतुरिति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि करोति तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।२१)।

अत्र ब्राह्मणे तपोऽभीवर्तवर्चःसम्भरणयोनिगर्भौजःक्रतुप्रतिष्ठाब्रध्नस्यविष्टपनाकविवर्तधर्त्रैस्त्रयोदशभिर्विशेषणैर्विशेष्या नवदश-सविंश-द्वाविंश-त्रयोविंशचतुर्विंश-पञ्चविंश-त्रिणवैकत्रिंश-त्रयस्त्रिंश-चतुस्त्रिंश-षट्त्रिंशाष्टाचत्वारिंश-चतुष्टोमाख्यास्त्रयोदशस्तोमा एव। तत्र पूर्वपूर्वस्तोमेभ्यश्चतुःस्तोत्रियाधिकस्तोमश्चतुष्टोमः। तस्य क्लृप्तिप्रकारो वाय्वायने सामसूत्रे प्रदर्शितः। शिष्टास्तत्तत्संख्याकाभिः स्तोत्रियाभिर्निष्पाद्यास्तत्रैव द्रष्टव्याः। एतैः सर्वैः सविशेषणैः स्तोमैः प्रजापतिरेवाभिधीयते। तस्य तावत्संख्यापूरकत्वं मासार्धमासपञ्चषट्सप्तर्तुलोकत्रयाहोरात्राद्यपेक्षया तत्र तत्रोक्तप्रकारेण द्रष्टव्यम्। तपआदिविशेषणानां संवत्सराभिधायकत्वं योजयित्वा प्रदर्श्यते। तथाहि—तपतीति तपः संवत्सरः। कथम्? संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि तेषामर्थाय तपति सकलभौतिकपदार्थपरिपाकस्य संवत्सरकालाधीनत्वात् तत्तद्भूततपनस्य भूतार्थता। संवत्सरः सर्वाणि भूतान्यभिवर्तते, तदर्थं पुनः पुनरावर्तत इत्यभीवर्तः। अभिवर्तनस्य भूतार्थत्वं पूर्ववद् द्रष्टव्यम्। संवत्सरः सर्वेषां भूतानां मध्ये वर्चस्वितमः, अतिशयेन वद्वानित्यर्थः। तत्तद्वतोरभेदाद् वर्चः संवत्सरः। यस्मात् सर्वाणि भूतानि सम्भ्रियन्ते स्वाङ्गैः सम्पूर्णैः, अतः सम्भरतीति सम्भरणः संवत्सरः। 'कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः' (म० भा० ११।१।२४८) इति स्मरणात् सर्वभूतोत्पत्त्याश्रयत्वाद् योनिरुच्यते। संवत्सरः कदाचित् त्रयोदशेनाधिकमासेन गर्भः। अतः 'संवत्सरो ह त्रयोदशो मासो गर्भो भूत्वर्तून् प्रविशति' (श० ८।४।१।१९) इत्युक्तम्। यथा गर्भो जननीजठरे प्रविष्ट एवमृत्वन्तःप्रवेशाद् गर्भत्वम्। अयमेव मासोऽधिको भवतीति नियमाभावात् कदाचित् कस्मिंश्चिदृतावनुप्रवेशात् ऋतून् प्रविशतीति बहुवचननिर्देशः। संवत्सरस्य ओजोरूपत्वमोजस्वित्वाभिप्रायेण। सर्वाणि भूतानि करोतीति क्रतुः। भूतशब्देन भूतविकाराः पदार्था उच्यन्ते।

'प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिꣳश इति। य एव त्रयस्त्रिꣳशस्तोमस्तं तदुपदधाति तद्यत्तमाह प्रतिष्ठेति प्रतिष्ठा हि त्रयस्त्रिꣳशोऽथो संवत्सरो वाव प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिꣳशस्तस्य चतुर्विꣳशतिरर्धमासाः षड् ऋतवो द्वे अहोरात्रे संवत्सर एव प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिꣳशस्तद्यत्तमाह प्रतिष्ठेति संवत्सरो हि सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।२२)। सर्वभूतानां प्रतिष्ठास्पदत्वात् संवत्सरः प्रतिष्ठा। 'ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिꣳश इति। य एव चतुस्त्रिꣳशस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिꣳशस्तस्य चतुर्विꣳशतिरर्धमासाः सप्तर्तवो द्वे अहोरात्रे संवत्सर एव ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिꣳशस्तद्यत्तमाह ब्रध्नस्य विष्टपमिति स्वाराज्यं वै ब्रध्नस्य विष्टपꣳ स्वाराज्यं चतुस्त्रिꣳशस्तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।२३)। चतुस्त्रिंशस्तोमात्मकस्य संवत्सरस्य ब्रध्नस्य विष्टपत्वं प्रतिपादयति—स्वाराज्यं वै ब्रध्नस्य विष्टपं स्वाराज्यं चतुस्त्रिंश इति। ब्रध्नो

बध्नाति तिमिरमित्यादित्यस्तस्य विष्टपं विशन्त्यत्र जना इति स्थानम्, ब्रध्नस्य विष्टपं तत् स्वाराज्यम्। स्वयमेव राजतेऽनन्यपरतन्त्रतयेति स्वराट्, तस्य भावः स्वाराज्यम्। सूर्यलोके हि तथाविधस्वाराज्योपपत्तेरत्र लोक एव स्वाराज्यमिति व्यपदिश्यते। 'नाकः षट्त्रिꣳश इति। य एव षट्त्रिꣳशस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव नाकः षट्त्रिꣳशस्तस्य चतुर्विꣳशतिरर्धमासा द्वादश मासास्तद्यत्तमाह नाक इति न हि तत्र गताय कस्मैचनाकं भवत्यथो संवत्सरो वाव नाकः संवत्सरः स्वर्गो लोकस्तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।२४)। नाकशब्देन षट्त्रिंशस्तोमो विशेष्यते। कथं स नाक इति तदुपपादयति—न हि तत्र गताय कस्मैचनाकं भवतीति। स्वर्गं प्राप्ताय कस्मैचन पुरुषाय अकं दुःखं न खलु भवति, अतो न विद्यतेऽकं यत्रेति नाकः। 'न वै तत्र जग्मुषे किञ्चनाकम्' (ता० म० ब्रा० २१।८।४) इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेश्च। 'षड्ढङ्गेति मासाꣳस्तान् मासेभ्यः संवत्सरꣳ संवत्सरादादित्यम्' (छा० उ० ४।१५।५) इति छन्दोगश्रुतेश्च। सुकृतिभिः प्राप्तव्यत्वात् संवत्सरो वाव नाकः, अत एव स स्वर्गो लोकः।

'विवर्तोऽष्टाचत्वारिꣳश इति। य एवाष्टाचत्वारिꣳशस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव विवर्तोऽष्टाचत्वारिꣳशस्तस्य षड्विꣳशतिरर्धमासास्त्रयोदश मासाः सप्तर्तवो द्वे अहोरात्रे तद्यत्तमाह विवर्त इति संवत्सराद्धि सर्वाणि भूतानि विवर्तन्ते तदेव तद्रूपमुपदधाति' (श० ८।४।१।२५)। 'संवत्सराद्धि सर्वाणि भूतानि विवर्तन्ते' इति श्रुतिप्रतिपादनात् सर्वभूतविवर्तनायतनत्वाद् विवर्तः संवत्सरः। 'धर्त्रं चतुष्टोम इति। य एव चतुष्टोमस्तोमस्तं तदुपदधाति तद्यत्तमाह धर्त्रमिति प्रतिष्ठा वै धर्त्रं प्रतिष्ठा चतुष्टोमोऽथो वायुर्वाव धर्त्रं चतुष्टोमः स आभिश्चतसृभिर्दिग्भिः स्तुते तद्यत्तमाह धर्त्रमिति प्रतिष्ठा वै धर्त्रं वायुरु सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा तदेव तद्रूपमुपदधाति स वै वायुमेव प्रथममुपदधाति वायुमुत्तमं वायुनैव तदेतानि सर्वाणि भूतान्युभयतः परिगृह्णाति' (श० ८।४।१।२६)। धर्त्रं चतुष्टोम इति। स च परमेष्ठ्येकोपधानमन्त्रः। उक्तं चतुष्टोमस्वरूपम् (अत्रैव १४ कण्डिकाव्याख्याने) धर्त्रंचतुष्टोमावुभावपि प्रतिष्ठात्मना स्तौति—प्रतिष्ठा वै धर्त्रं प्रतिष्ठा चतुष्टोम इति। यद् धर्त्रं धारकं वस्तु तस्य सर्वस्याप्याश्रयः संवत्सर इति धर्त्रशब्दवाच्यस्य संवत्सरस्य प्रतिष्ठात्मकता। चतुष्टोमस्यापि चतुःसंख्यायोगात् पादचतुष्टयोपेतमित्रेति प्रतिष्ठारूपत्वम्। प्रकारान्तरेण व्याचष्टे—अथो वायुरिति। वायोश्चतुष्टोमवाच्यत्वमाह—स आभिश्चतसृभिर्दिग्भिः स्तुत इति। वायोश्चतुर्दिङ्मध्ये सशब्दं सञ्चारात् चतसृभिर्दिग्भिः स्तुते स्तूयते इत्युपचर्यते। यकारलोपश्छान्दसः। ततश्च निमित्ताभावाद् दीर्घाभावः। अतश्चतसृभिः स्तूयमानत्वाच्चतुष्टोमः। वायुपक्षेऽपि धर्त्रशब्दस्य सङ्गतार्थतामाह—प्रतिष्ठा वै धर्त्रमिति। यद् धर्त्रं सा प्रतिष्ठा इत्येतत् पृथिव्यादौ दृष्टम्। वायुरपि सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा, प्राणरूपेण धारकत्वात्। एवं स्तोमविशेषणत्वपक्षेऽपि तपआदिशब्दा यथायोगं द्रष्टव्याः। शिष्टं त्रिवृदादिवाक्यवद् व्याख्येयम्। आद्यन्तस्तोमेष्टकयोर्वायुरूपतां स्तौति—स वै वायुमेव प्रथममित्यादिना।

अध्यात्मपक्षे—हे चिते, त्वमाशुस्त्रिवृत्स्तोमरूपासि, त्रिलोकवासिवायुरूपा वासि। हे चिते, त्वं भान्तो वज्ररूपो यः पञ्चदशस्तोमस्तद्रूपासि। भा कान्तिरेवान्तः अन्तर्गतं स्वरूपं यस्य तादृशचन्द्ररूपासीति। हे चिते, त्वं व्योमा सप्तदशस्तोमरूपासि। विविधमवतीति व्युत्पत्त्या संवत्सरात्मप्रजापतिरूपा वाऽसीति सर्वं पूर्ववदेव व्याख्यानम्, चितेः सार्वात्म्यप्रतिपत्तिपर्यवसानात्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं यस्मिन् संवत्सर आशुस्त्रिवृत् शीते चोष्णे द्वयोर्मध्ये च वर्तते सः। भान्तः प्रकाशः पञ्चदशः पञ्चदशानां पूरणः, पञ्चदशविधो व्योमा व्योमवद् विस्तृतः, सप्तदशो धरुणो धारणगुणः, एकविंश एकविंशतिधा प्रतूर्तिः शीघ्रगतिः, अष्टादशः अष्टादशधा तपः सन्तापः सन्तापिगुणः, नवदशः नवदशधा

अभीवर्तो य आभिमुख्ये वर्तते सः, सविंशः विंशत्या सह वर्तमानो वर्चो दीप्तिः, द्वाविंशः द्वाविंशतिधा सम्भरणः सम्यग् धारकः, त्रयोविंशः त्रयोविंशतिधा योनिः संयोजको वियोजको गुणः, चतुर्विंशः चतुर्विंशतिधा गर्भः गर्भधारणशक्तयः, पञ्चविंशः पञ्चविंशतिधा ओजः पराक्रमः, त्रिणवः सप्तविंशतिधा क्रतुः कर्म प्रज्ञा वा, एकत्रिंशः प्रतिष्ठा प्रतितिष्ठति यस्यां सा, त्रयस्त्रिंशो ब्रध्नस्य महतो विष्टपं व्याप्तिः, चतुस्त्रिंशः चतुस्त्रिंशद्विधो नाक आनन्दः, षट्त्रिंशः विवर्तः विविधं वर्तते यस्मिन् सः, अष्टाचत्वारिंशः धर्त्रः धारणः, चतुष्टोमः चत्वारः स्तोमाः स्तुतयो यस्मिन् संवत्सरे तं संवत्सरं विजानीत' इति, तत्सर्वं मूढजनप्रतारणमेव, उक्तविशेषणैः संवत्सरस्य विशेष्यत्वोक्तौ मानाभावात्। प्रकाशस्य पञ्चदशादिपदानि पञ्चदशधाद्यर्थपराणीत्यपि चिन्त्यम्। त्रिवृत् कथमायुः? शीतोष्णयोर्मध्ये कथं प्रकाशः? के चाकाशतुल्यविस्तारयुक्ताः? पञ्चदश प्रकाराः सप्तदशधा धारणगुणाः के के? एकविंशतिधा शीघ्रगतिमत्त्वं कथम्? किञ्च तत्र प्रमाणमित्यादिचोद्यानां परिहारानुक्तेः। अष्टादशधा सन्तापिगुणाः के? एकोनविंशतिधा के अभीवर्ताः? सविंशाः का दीप्तयः? द्वाविंशतिधा के धारणकारका गुणाः? चतुर्विंशतिधा का गर्भधारणशक्तयः? पञ्चविंशतिधा कः पराक्रमः? सप्तविंशतिधा कानि कर्माणि प्रज्ञा वा? काः परमेश्वरस्य त्रयस्त्रिंशद्व्याप्तयः? चतुर्विंशतिरानन्दाः के? अष्टाचत्वारिंशत्संख्याकानि धारणानि स्तुतिवाक्यानि किंप्रमाणकानि चेत्याद्यनुक्तेश्च। वस्तुतस्तु दुःसाहसमेव ईदृशं मन्त्राणां यत्किञ्चिदर्थापनम् ॥ २३ ॥

अ॒ग्नेर्भा॒गो॑ऽसि दी॒क्षाया॒ आधि॑पत्यं॒ ब्रह्म॑ स्पृ॒तं त्रि॒वृत्स्तोम॒ इन्द्र॑स्य भा॒गो॑ऽसि॒ विष्णो॒राधि॑पत्यं क्ष॒त्रँ स्पृ॒तं प॑ञ्चद॒शः स्तोमो॑ नृ॒चक्ष॑सां भा॒गो॑ऽसि धा॒तुराधि॑पत्यं ज॒नित्रँ॑ स्पृ॒तँ स॑प्तद॒शः स्तोमो॑ मि॒त्रस्य॑ भा॒गो॑ऽसि॒ वरु॑ण॒स्याधि॑पत्यं दि॒वो वृ॒ष्टिर्वात॑ः स्पृ॒त ए॑कवि॒ँ॒शः स्तोम॑ः ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके! तुम अग्नि के भाग को ग्रहण करने वाली हो, तुम्हारे ऊपर दीक्षा का आधिपत्य है। इस कारण तुमसे त्रिवृत् स्तोम द्वारा ब्राह्मण जाति मृत्यु से रक्षित हुई है। त्रिवृत् स्तोम का मनन करते हुए मैं तुम्हारा यहाँ सादन करता हूँ। हे इष्टके! तुम इन्द्र का भाग हो, तुम्हारे ऊपर विष्णु का आधिपत्य है। तुमने पंचदश स्तोम से क्षत्रिय जाति की मृत्यु के मुख से रक्षा की है। हे इष्टके! तुम मनुष्यों के शुभाशुभ को जानने वाले देवताओं का भाग हो, तुम्हारे ऊपर धाता का आधिपत्य हैं। सप्तदश स्तोम द्वारा तुमने वैश्य जाति की मृत्यु के मुख से रक्षा की है, सप्तदश स्तोम का मनन करते हुए मैं तुमको स्थापित करता हूँ। हे इष्टके! तुम प्राणों का भाग हो, तुम्हारे ऊपर वरुण का आधिपत्य है, एकविंश स्तोम के द्वारा तुम द्युलोक से सम्बद्ध वर्षा और पवन की मृत्यु के मुख से रक्षा करती हो ॥ २४ ॥

'दक्षिणां पूर्वयोरग्नेर्भाग इति' (का० श्रौ० १७।१०।११)। पूर्वानूकान्ते विहितयोर्जङ्घानाभ्योर्मध्ये दक्षिणां तन्नाम्नीमिष्टकां जङ्घामात्रीमुदङ्मुख उपदध्यादिति सूत्रार्थः। उत्तरेष्टका तु पूर्वमुपहिता। अत्र कण्डिकासु दश यजूंषि। तत्र चतुर्भिर्मृत्युमोहन्युपधानम्, षड्भिश्च षट्पद्योपधानम्। इमे दशेष्टकाः स्पृतसंज्ञकाः। हे इष्टके, या त्वमग्नेर्भागोऽसि, यस्यां च त्वयि दीक्षाया वाच आधिपत्यं स्वामित्वम्, यया च त्वया त्रिवृत् स्तोमः, त्रिवृता स्तोमेन, विभक्तिव्यत्ययः, ब्रह्म ब्राह्मण्यं स्पृतं पाप्मनो मृत्योरपनीतं रक्षितम्, अथवा यस्यां त्वयि त्रिवृत्स्तोमः, एतादृशगुणगणविशिष्टां त्वामुपदधामीति शेषः। 'स्पृ प्रीतिपालनयोः' स्वादिर्गणः। प्रीतिर्बलम्, पालनं जीवनमिति क्षीरस्वामी, 'वाग्वै दीक्षा' (श० ८।४।२।३) इति श्रुतेः। 'उत्तरामुत्तरयोरिन्द्रस्य भाग इति' (का० श्रौ० १७।१०।१४)। उदगनूकान्ते विहितयोर्दक्षिणोत्तरयोः पद्ययोर्मध्ये उत्तरामिन्द्रस्य भागोऽसीति मन्त्रेण प्रत्यङ्मुख उपदध्यादिति सूत्रार्थः। दक्षिणा तूपहिता। हे इष्टके, त्वमिन्द्रस्य भागोऽसि।

यस्यां त्वयि विष्णोराधिपत्यम्। यया त्वया पञ्चदशेन स्तोमेन क्षत्रं क्षत्रजातिः स्पृतं मृत्योर्मोचितम्। 'उत्तरां दक्षिणयोर्नृचक्षसां भाग इति' (का० श्रौ० १७।१०।१३)। दक्षिणानूकान्तविहितयोर्दक्षिणोत्तरयोः पद्ययोर्मध्ये उत्तरां पद्यां प्राङ्मुख उपदध्यादिति सूत्रार्थः। दक्षिणा तूपहिता। हे इष्टके, त्वं नृचक्षसां नॄन् शुभाशुभकर्तॄन् चक्षते जानन्तीति नृचक्षसो देवास्तेषाम्। चक्षिरत्र ज्ञानसामान्यार्थः। भागोऽसि। यस्यां त्वयि धातुराधिपत्यम्। यया त्वया सप्तदशेन स्तोमेन जनित्रमाश्चर्येण जायत इति। अथवा वैश्यजातिः 'विड् वै जनित्रम्' (श० ८।४।२।५) इति श्रुतेः। स्पृतं रक्षितम्। यद्वा ये नरो मनुष्याः सन्तश्चक्षते वेदं व्यक्तमुच्चारयन्ति ते नृचक्षस ऋत्विजः। तेषां भागोऽसि। दक्षिणा गवादिरूपासि। धातृप्रभृतेर्यदाधिपत्यं यच्च स्पृतं प्रीतिकारणं जनित्रं जननशीलमन्नं यश्च सप्तदशः स्तोमः, तत्सर्वं त्वमसि तद्रूपां त्वामुपदधामि। 'उत्तरामपरयोर्मित्रस्य भाग इति' (का० श्रौ० १७।१०।१२)। अपरानूकान्तविहितयोर्दक्षिणोत्तरयोर्जङ्घामात्र्योर्मध्ये उत्तरां जङ्घामात्रीं दक्षिणामुख उपदध्यादिति सूत्रार्थः। दक्षिणा तूपहिता। हे इष्टके, त्वं मित्रस्य प्राणस्य भागोऽसि। त्वयि वरुणस्य अपानस्य आधिपत्यम्। यया त्वया एकविंशेन स्तोमेन दिवो वृष्टिर्द्युसम्बन्धिनी वर्षा वातश्च स्पृतस्तादृशीं त्वां सादयामि।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ स्पृत उपदधाति। एतद्वै प्रजापतिरेतस्मिन्नात्मनः प्रतिहिते सर्वाणि भूतानि गर्भ्यभवत्तान्यस्य गर्भ एव सन्ति पाप्मा मृत्युरगृह्णात्' (श० ८।४।२।१)। अथ स्पृत्संज्ञकेष्टका विधाय स्तौति—अथ स्पृत उपदधातीत्यादिना। पुरा प्रजापतिरात्मनः स्वशरीरस्य सम्बन्धिन्येतस्मिन्नन्तरिक्षस्वर्गयोरन्तराललक्षणेऽङ्गे पूर्वोक्तेष्टकोपधानेन प्रतिहिते सति सर्वाणि भूतान्यपेक्ष्य गर्भी अभवद् भूतज्ञानलक्षणेन गर्भेण तद्वानासीत्। तान्यस्य प्रजापतेर्गर्भ एव सन्ति अवस्थितान्युदरस्थान्येव पाप्मा पापरूपो मृत्युरगृह्णात्। 'स देवानब्रवीत्। युष्माभिः सहेमानि सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योः स्पृणवानीति किं नस्ततो भविष्यतीति वृणीध्वमित्यब्रवीत्तं भागो नोऽस्त्वित्येकेऽब्रुवन्नाधिपत्यं नोऽस्त्वित्येके स भागमेकेभ्यः कृत्वाधिपत्यमेकेभ्यः सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योरस्पृणोद्यदस्पृणोत्तस्मात् स्पृतस्तथैवैतद्यजमानो भागमेकेभ्यः कृत्वाधिपत्यमेकेभ्यः सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योः स्पृणोति तस्मादु सर्वास्वेव स्पृत७ँ स्पृतमित्यनुवर्तते' (श० ८।४।२।२)। स प्रजापतिर्देवानब्रवीत्। हे देवाः! युष्मत्सहायो भूत्वाहं गर्भस्थानीमानि भूतानि मृत्योः सकाशात् स्पृणवानि स्पृतानि चलितानि करवाणीति। अथ देवैः किं नस्तत इति पृष्टो वृणीध्वमित्युक्तैर्वृतश्च केषाञ्चिद्देवानामिष्टकास्वध्यस्तरूपाणां ब्रह्मक्षत्रादिरूपाणां भूतानां भागम्, केषाञ्चिदाधिपत्यं च तत्तदभिलाषानुसारेण प्रदाय पश्चाद् देवसहायः सन् सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योरस्पृणोद् बलवन्ति कृतवान्। 'स्पृ प्रीतिपालनयोः' प्रीतिर्बलम्। पालनं जीवनमिति क्षीरस्वामी। प्रीतिवलनयोरित्येके, प्रीतिचलनयोरित्यन्ये। स्थितिचलनयोरिति केषाञ्चित् पाठः। प्रविचालितवानित्यर्थः। प्रसङ्गात् तन्नामनिर्वचनम्—यदस्पृणोत्तस्मात् स्पृत इति। स्परणात् स्पृत इत्युक्तं भवति। तथैव यजमानोऽप्येकेभ्यो भागमपरेभ्य आधिपत्यं दत्त्वा सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योः स्पृणोति। तस्मात् सर्वास्विष्टकासु स्पृतं स्पृतमित्यनुवर्तते। शेषं स्पष्टम्।

'अग्नेर्भागोऽसि। दीक्षाया आधिपत्यमिति वाग्वै दीक्षाग्नये भागं कृत्वा वाच आधिपत्यमकरोद् ब्रह्म स्पृतं त्रिवृत् स्तोम इति ब्रह्म प्रजानां त्रिवृता स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत्' (श० ८।४।२।३)। प्रथमेष्टकामन्त्रं विधाय व्याचष्टे—अग्नेर्भागोऽसीत्यादिना। हे इष्टके, त्वमग्नेर्देवस्य भागोऽसि। तथा दीक्षाया वाग्देव्या आधिपत्यमधिपतित्वं तव, त्वं दीक्षास्वामिकेत्यर्थः। ब्रह्म स्पृतं त्रिवृत्स्तोम इति भागान्तरम्। अत्र अध्यासाश्रयाणामिष्टकानामध्यस्यमानानां ब्रह्मक्षत्रादिभूतानां चाभेदस्य विवक्षितत्वात् तत्स्थं रूपमभिधीयते। प्रजानां भूतानां मध्ये

ब्रह्म ब्राह्मणजातिः स्पृतं पाप्मनो मृत्योः सकाशादपसारितम्। केन साधनेनेति ? तदुच्यते—त्रिवृत्स्तोम इति। ब्राह्मणानुसारं विभक्तिविपरिणमयितया। तव स्वभूतेन त्रिवृता स्तोमेन। तत्र दीक्षाशब्दस्योक्तार्थपरतामाह—वाग्वै दीक्षेति। वाग्देवताया दीक्षाभिमानिदेवतात्वाद्वा नियन्तव्यतया वाक्सम्बन्धाद्वा दीक्षा वागित्युच्यते। तामिष्टकामग्नये भागं कृत्वा दीक्षायै तस्या इष्टकाया आधिपत्यमकरोत् प्रजापतिः। भागान्तरं व्याख्यातुं ब्रह्म स्पृतं त्रिवृत्स्तोम इत्यस्य विभक्तिविपरिणामः कृतः। ब्रह्म प्रजानां त्रिवृता स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत्। अत्र ब्रह्मणस्त्रिवृत्स्तोमसम्बन्धे प्राथम्यं बीजम्, प्रजापतिमुखात् सहोत्पत्तिर्वा कारणं त्रिवृद्ब्रह्मणोः सम्बन्धे। एवमुत्तरेषां मन्त्राणां ब्राह्मणान्यपि व्याख्यातव्यानि। 'इन्द्रस्य भागोऽसि। विष्णोराधिपत्यमितीन्द्राय भागं कृत्वा विष्णव आधिपत्यमकरोत् क्षत्रꣳ स्पृतं पञ्चदशस्तोम इति क्षत्रं प्रजानां पञ्चदशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत्' (श० ८।४।२।४)। व्याख्यातप्रायं ब्राह्मणम्। पञ्चदशेन स्तोमेन प्रजानां मध्ये क्षत्रं क्षत्रियजातिर्मृत्योः पाप्मनोऽपसारितम्। 'नृचक्षसां भागोऽसि। धातुराधिपत्यमिति देवा वै नृचक्षसो देवेभ्यो भागं कृत्वा धात्र आधिपत्यमकरोज्जनित्रꣳ स्पृतꣳ सप्तदश स्तोम इति विड् वै जनित्रं विशं प्रजानाꣳ सप्तदशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत्' (श० ८।४।२।५)। देवा वै नृचक्षस इति। नृन् पुण्यपापकृतो मनुष्यान् साक्षितया चक्षते पश्यन्तीति नृचक्षसो देवाः। विड् वै जनित्रमिति। जायत इति जनित्रम्, विड् वैश्यजातिः, एतच्छूद्रस्याप्युपलक्षणम्। यद्वा सामान्येन विट्शब्दः प्रजामभिधत्ते। प्रजानां मध्ये जनित्रं विशं प्रजासामान्यं वा सप्तदशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत्। 'मित्रस्य भागोऽसि। वरुणस्याधिपत्यमिति प्राणो वै मित्रोऽपानो वरुणः प्राणाय भागं कृत्वाऽपानायाधिपत्यमकरोद्दिवोर्वृष्टिर्वातः स्पृत एकविꣳशः स्तोम इति वृष्टिं च वातं च प्रजानामेकविꣳशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत्' (श० ८।४।२।६)। मित्रः, मेथनं हिंसा मित्, ततस्त्रायत इति मित्रः प्राणः। ऊर्ध्वं निर्गच्छन्तं प्राणमावृणोतीति वरुणोऽपानः, वृष्टिं वातं चैकविंशस्तोमेनास्पृणोद् रक्षितवान्। यद्वा मित्रस्य हविर्लक्षणो भागः, यच्च वरुणस्याधिपत्यम्, यश्च दिवः सम्बन्धिनी वृष्टिर्वातश्च स्पृतः, एकविंशस्तोमश्च, तत् सर्वं त्वमसि।

अध्यात्मपक्षे—हे चिते, त्वमग्नेर्यो हविर्लक्षणो भागो यच्च वाग्देव्या आधिपत्यं यच्च प्रीतिकरं ब्रह्म यश्च त्रिवृत्स्तोमः, तत्सर्वं त्वमसि। तद्रूपां त्वां चिन्तये। तथा यश्चेन्द्रस्य भागो यच्च विष्णोराधिपत्यं यच्च प्रीतिकरं क्षत्रं यश्च पञ्चदशस्तोमः, तत्सर्वं त्वमसि। यश्च नृचक्षसां देवानां हविर्भागो यच्च धातुराधिपत्यं यच्च प्रीतिकरं जनित्रमन्नं वैश्यकुलं वा, यश्च सप्तदशस्तोमः, तत्सर्वं त्वमसि। यश्च मित्रस्य देवस्य भागो यच्च वरुणस्याधिपत्यं यच्च प्रीतिकारणं दिवो वृष्टिर्वातश्च एकविंशस्तोमश्च, तत्सर्वं त्वमसि। तद्रूपां त्वां चिन्तय इति यावत्।

दयानन्दस्तु—'यस्त्वं पञ्चदशस्तोमो नृचक्षसां भाग इवासि, स त्वं धातुः स्पृतं जनित्रमाधिपत्यं प्राप्नुहि। यस्त्वं सप्तदशस्तोमो मित्रस्य भाग इवासि स त्वं वरुणस्याधिपत्यं याहि। यस्त्वं वातः स्पृत एकविंशस्तोम इवासि तेन त्वया दिवो वृष्टिर्विधेया' इति, तत्सर्वं मूढजनप्रतारणमेव, सामप्रसिद्धत्रिवृत्स्तोमपञ्चदशस्तोमाद्यनभिज्ञानात्। मूले दीक्षा आधिपत्यमिति पठितम्। तत्सम्बन्धमपहाय ब्रह्मज्ञकुलस्याधिपत्यमिति कुतो लब्धम् ? एतादृशं व्याख्यानं व्याख्यातुर्धाष्टर्यमेव सूचयति। एवं क्षत्रकुलस्याधिपत्यमाप्नुहीत्यपि निर्मूलमेव। विष्णोः स्पृतमित्यस्य हिन्दीभाष्ये व्यापकस्येश्वरस्य प्रीत्या सेवितुं योग्यानां क्षत्रियाणामाधिपत्यं प्राप्नुहीत्युक्तम्। तत्कथं सङ्गतमिति तु विद्वद्भिर्विभावनीयम् ॥ २४ ॥

वसूनां भागोऽसि रुद्राणामाधिपत्यं चतुष्पात्स्पृतं चतुर्विꣳशः स्तोम आदित्यानां भागोऽसि मरुतामाधिपत्यं गर्भाः स्पृताः पञ्चविꣳशः स्तोमोऽदित्यै भागोऽसि पूष्ण आधिपत्यमोजः स्पृतं त्रिणवः स्तोमो देवस्य सवितुर्भागोऽसि बृहस्पतेराधिपत्यꣳ समीचीर्दिशः स्पृताश्चतुष्टोमः स्तोमः ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! तुम वसुगण का भाग हो, तुम्हारे ऊपर रुद्रों का आधिपत्य है। चतुर्विंश स्तोम के द्वारा तुमने चौपायों की मृत्यु के मुख से रक्षा की है। हे इष्टके ! तुम आदित्यगणों का भाग हो, तुम्हारे ऊपर मरुद्गणों का आधिपत्य है। पञ्चविंश स्तोम के द्वारा तुम गर्भों की मृत्यु के मुख से रक्षा करती हो। चतुर्विंश और पञ्चविंश स्तोम का मनन करते हुए मैं तुमको इस स्थान में स्थापित करता हूँ। हे इष्टके ! तुम अदिति का भाग हो, तुम्हारे ऊपर पूषा देवता का अधिकार है, तुमने त्रिणव स्तोम द्वारा प्रजा के ओज नामक आठवीं धातु की रक्षा की है। त्रिणव स्तोम के देवताओं का मनन करते हुए मैं तुमको स्थापित करता हूँ। हे इष्टके ! तुम सबके प्रेरक सविता देव का भाग हो, तुम्हारे ऊपर बृहस्पति देवता का अधिकार है। चतुष्टोम स्तोम के द्वारा तुमने सम्पूर्ण मनुष्यों के जाने योग्य दिशाओं की मृत्यु से रक्षा की है। चतुष्टोम स्तोम के देवताओं का मनन करते हुए मैं तुम्हारा यहाँ सादन करता हूँ ॥ २५ ॥

'षट् प्रतिमन्त्रं वसूनां भाग इति' (का० श्रौ० १७।१०।१५)। उदङ्मुख उत्तरामारभ्य दक्षिणसंस्थाश्चतुर्दशभ्योऽपराः षट्पद्या वसूनां भाग इत्यादिभिः षड्भिर्मन्त्रैरुपदध्यादिति सूत्रार्थः। हे इष्टके, त्वं वसूनां भागोऽसि। त्वयि रुद्राणामाधिपत्यम्। त्वया चतुर्विंशेन स्तोमेन प्रजानां चतुष्पाद् गवाश्वादिकं स्पृतं पापान्मोचितम्। त्वामुपदधामि। तत्तद्रूपां वा त्वामुपदधामि। या त्वमादित्यानां भागोऽसि, यस्यां त्वयि मरुतामाधिपत्यम्, यया त्वया पञ्चविंशेन स्तोमेन प्रजानां गर्भा मृत्यो रक्षिताः, तां त्वामुपदधामि। या त्वमदित्यै अदितेर्भूमेर्भागोऽसि, यस्यां त्वयि पूष्ण आधिपत्यम्, यया त्वया त्रिणवेन स्तोमेन प्रजानामोजो बलम्, अष्टमो धातुर्वा स्पृतं मृत्योर्मोचितम्, तां त्वामुपदधामि। या त्वं देवस्य सवितुर्भागोऽसि, यस्यां त्वयि बृहस्पतेराधिपत्यम्, यया त्वया चतुष्टोमेन स्तोमेन समीचीः समीच्यः सम्यगञ्चन्ति जना यासु ताः, दिशः स्पृता मृत्योर्मोचिताः तां त्वामुपदधामि।

अत्र ब्राह्मणम्—'वसूनां भागोऽसि। रुद्राणामाधिपत्यमिति वसुभ्यो भागं कृत्वा रुद्रेभ्य आधिपत्यमकरोच्चतुष्पात् स्पृतं चतुर्विꣳशस्तोम इति चतुष्पात् प्रजानां चतुर्विꣳशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत्' (श० ८।४।२।७)। अत्र चतुष्पादोपेतं पशुजातं 'स्पृतम्' इति सामान्याभिप्रायेण नपुंसकता। 'आदित्यानां भागोऽसि। मरुतामाधिपत्यमित्यादित्येभ्यो भागं कृत्वा मरुद्भ्य आधिपत्यमकरोद् गर्भाः स्पृताः पञ्चविꣳशस्तोम इति गर्भान् प्रजानां पञ्चविꣳशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत्' (श० ८।४।२।८)। सुप्रसन्ना कण्डिका। 'अदित्यै भागोऽसि। पूष्ण आधिपत्यमितीयं वा अदितिरस्यै भागं कृत्वा पूष्ण आधिपत्यमकरोदोजः स्पृतं त्रिणवस्तोम इत्योजः प्रजानां त्रिणवेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत्' (श० ८।४।२।९)। सुप्रसन्ना कण्डिका। ओजो बलम्, तत्कारणमष्टमो धातुर्वा, 'ओजो नामाष्टमो धातुः' इत्याचार्यस्मरणात्। 'देवस्य सवितुर्भागोऽसि। बृहस्पतेराधिपत्यमिति देवाय सवित्रे भागं कृत्वा बृहस्पतय आधिपत्यमकरोत् समीचीर्दिशः स्पृताश्चतुष्टोमस्तोम इति सर्वा दिशः प्रजानां चतुष्टोमेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत्' (श० ८।४।२।१०)। सुप्रसन्ना कण्डिका।

अध्यात्मपक्षे—हे परचिते, यो वसूनां हविर्लक्षणो भागः, यच्च रुद्राणामाधिपत्यं यच्च स्पृतं प्रीतिकरं चतुष्पात् पशुजातं यश्च पञ्चविंशस्तोमः, तत्सर्वं त्वमसि, अधिष्ठानसत्तातिरिक्तायाः कल्पितसत्ताया अनङ्गीकारात्। यश्चादित्यानां भागः, यच्च मरुतामाधिपत्यम्, ये च स्पृता गर्भाः, यश्च त्रिणवः स्तोमः, तत्सर्वं त्वमसि। यश्च सवितुर्भागः, यच्च बृहस्पतेराधिपत्यम्, यच्च स्पृतमोजः, यश्च चतुष्टोमस्तोमस्तत्सर्वं त्वमसि।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्! यस्त्वं वसूनां भागोऽसि, स त्वं रुद्राणामाधिपत्यं गच्छ' इत्यादिकमाह। तत्सर्वमपि निर्मूलम्, सर्वत्र गौणार्थाश्रयणात्। 'गर्भा गर्भतुल्या विद्याभिः शुभगुणैराच्छादिताः' इत्यपि निर्मूलम्, विगानात्। त्रिणवः सप्तविंशतिधा स्तोमः स्तोतव्य इत्यप्यसम्बद्धमप्रामाणिकं च ॥ २५ ॥

यवा॑नां भा॒गो᳕ऽस्यय॑वाना॒माधि॑पत्यं प्र॒जाः स्पृ॒ताश्च॑तुश्चत्वारि॒ᳪ॑शः स्तोम॑ ऋभू॒णां भा॒गो᳕ऽसि विश्वे॑षां दे॒वाना॒माधि॑पत्यं भू॒तᳪ स्पृ॒तं त्र॑यस्त्रि॒ᳪ॑शः स्तोम॑ः ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके! तुम शुक्ल पक्ष के भाग हो, तुम्हारे ऊपर कृष्ण पक्ष की तिथियों का स्वामित्व है, तुमने चत्वारिंश स्तोम के द्वारा प्रजाओं की मृत्यु के मुख से रक्षा की है। हे इष्टके! तुम ऋभु नामक देवताओं का भाग हो, तुम्हारे ऊपर सम्पूर्ण देवताओं का आधिपत्य है। त्रयस्त्रिंश स्तोम के द्वारा तुमने प्राणी मात्र की मृत्यु के मुख से रक्षा की है॥ २६ ॥

हे इष्टके, त्वं यवानां पूर्वपक्षाधिष्ठातृदेवानां भागोऽसि। अयवानामपरपक्षाधिष्ठातृदेवानामाधिपत्यं त्वयि। त्वया चतुश्चत्वारिंशेन स्तोमेन प्रजाः स्पृता रक्षिताः, तां त्वामुपदधामि। त्वमृभूणां देवविशेषाणां भागोऽसि, त्वयि विश्वेषां देवानामाधिपत्यम्, त्वया त्रयस्त्रिंशेन स्तोमेन भूतं प्राणिमात्रं स्पृतं रक्षितम्। तां त्वामुपदधामीति शेषः।

अत्र ब्राह्मणम्—'यवानां भागोऽसि। अयवानामाधिपत्यमिति पूर्वपक्षा वै यवा अपरपक्षा अयवास्ते हीदᳪ सर्वं युवते चायुवते च पूर्वपक्षेभ्यो भागं कृत्वाऽपरपक्षेभ्य आधिपत्यमकरोत् प्रजा स्पृताश्चतुश्चत्वारिᳪशस्तोम इति सर्वाः प्रजाश्चतुश्चत्वारिᳪशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत्' (श० ८।४।२।११)। यवायवशब्दयोः पूर्वपक्षापरपक्षवाचकत्वमुपपादयति—ते हीदमित्यादिना। ते पूर्वपक्षा अपरपक्षाश्च क्रमेणेदं सर्वं जगद् युवते चायुवते च यथाक्रमं मिश्रणामिश्रणं कुर्वन्ति। अयुवत इत्यत्र 'अमानोनाः प्रतिषेधे' इति [1]स्मरणाद् अ इति प्रतिषेधवाचि भिन्नं पदम्। पूर्वपक्षेषु चन्द्रस्य कलावृद्धिसद्भावात् सर्वजगदाप्यायनस्य च तदधीनत्वाद् युवत इत्युक्तम्, उक्तवैपरीत्याच्चायुवत इति। यद्वा मासर्तुसंवत्सरादिरूपस्य कालस्य पूर्वापरपक्षावृत्तिरूपत्वात् ते पूर्वापरपक्षरूपाः कालविशेषा इदं सर्वमुत्पत्त्यवस्थापन्नं युवते, विनाशावस्थापन्नं वियुवते चेत्यर्थः। 'ऋभूणां भागोऽसि। विश्वेषां देवानामाधिपत्यमित्यृभुभ्यो भागं कृत्वा विश्वेभ्यो देवेभ्य आधिपत्यमकरोद् भूतᳪ स्पृतं त्रयस्त्रिᳪशः स्तोम इति सर्वाणि भूतानि त्रयस्त्रिᳪशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत्तथैवैतद्यजमानः सर्वाणि भूतानि त्रयस्त्रिᳪशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योः स्पृणोति' (श० ८।४।२।१२)। इत्थं भूतानां मध्ये ब्रह्मक्षत्रादिभूतैकैकदेशमभिधायान्ते सर्वं भूतजातं संगृह्याभिधत्ते—भूतं स्पृतं त्रयस्त्रिंशः स्तोम इति। भूतशब्दस्य भविष्यदादिप्रतियोगिकालविशेषे प्रसिद्धेरत्राभि-

---

१. एतच्च 'चादयोऽसत्त्वे' (१।४।५७) इत्यत्र काशिकायां स्थितम्।

मतमर्थमाह— सर्वाणि भूतानीति। एतदेवाभिप्रेत्य विश्वेभ्यो देवेभ्य आधिपत्यमकरोदित्यन्ते विश्वेऽपि देवा उपात्ताः। 'ये देवासो दिव्येकादश स्थ' (वा० सं० ७'१९) इत्यादिकण्डिकासु त्रयस्त्रिंशत्संख्याकानां देवानामभिधानात्, 'त्रयस्त्रिंशद्वै सर्वा देवताः' (शाङ्खा० ब्रा० ८।६) इति श्रुतेश्च सर्वेषां देवानामेष्वन्तर्भावादुचितस्त्रयस्त्रिंशस्तोमोऽन्ते निर्दिष्ट इति वेदितव्यम्। इत्थं प्रजापत्यनुष्ठितमर्थं दृष्टान्तत्वेन प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकतया यजमानेऽपि योजयति—तथैवैतद्यजमानः सर्वाणि भूतानि त्रयस्त्रिंशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योः स्पृणोतीति। अन्तिमवाक्ये तथैवेतदित्यभिधानमितरवाक्येष्वप्येवं द्रष्टव्यमित्यवगमयितुम्। यद्वास्य सर्वोत्तार्थपरत्वादस्मिन्नेवाभिधानं कृतमिति।

अध्यात्मपक्षे—हे परचिते, यश्च यवानां पूर्वपक्षाधिष्ठातृदेवानां भागो हविर्लक्षणः, अयवानामपरपक्षाधिष्ठातृदेवानां च यदाधिपत्यम्, याश्च प्रीताः प्रजाः, यश्च चतुश्चत्वारिंशस्तोमः, तत्सर्वं त्वमसि। यश्च ऋभूणां भागो यच्च विश्वेषां देवानामाधिपत्यं यच्च स्पृतं भूतं यश्च त्रयस्त्रिंशः स्तोमः, तत्सर्वं त्वमेवासि। इत्थं ब्रह्मरूपायाश्चितेः सार्वात्म्यमिह विवक्षितम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, यस्त्वं यवानां मिश्रितानां भागः शरदृतुरिवासि, योऽयवानाममिश्रितानामाधिपत्यं प्राप्य प्रजाः स्पृताः करोति, यश्चतुश्चत्वारिंश स्तोमः, ऋभूणां मेधाविनाम्, 'ऋभुरिति मेधाविनामसु' (निघ० ३।१५।८), भागोऽसि, विश्वेषां देवानां भूतं स्पृतं सेवितमाधिपत्यं प्राप्य यस्त्रयस्त्रिंशः स्तोमोऽसि, स त्वमस्माभिः सत्कर्तव्यः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणेऽप्यसङ्गतेस्तादवस्थ्यात्, स्तोमानामर्थानवगमाच्च। शरदृतुः कथं यवानां भागः सेवनीयः? कथमयवानामाधिपत्येन प्रजानां स्परणम्? चतुश्चत्वारिंशः कोऽयं स्तुत्यः? इत्याद्यनुपपत्तेः॥ २६॥

सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू अग्नेरन्तः श्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे। हैमन्तिकावृतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम्॥ २७॥

मन्त्रार्थ—मार्गशीर्ष और पौष ये दोनों मास हेमन्त ऋतु के अवयव हैं। हे ऋतुरूप दोनों इष्टकाओं! तुम चीयमान अग्नि के अन्तर में स्थिर होकर दृढ़ता से बैठने के लिये लगाई गई हो, मुझ यजमान के उत्कर्ष के लिये यह द्युलोक और भूलोक अपने योग्य उपकार की कल्पना करें। जल और औषधि हमारा प्राधान्य सम्पादन करें। समान व्रत वाली अनेक नामों वाली अग्नि स्वयमातृण्णा आदि इष्टकाओं में उत्कर्ष का आधान करें, यह द्यावापृथिवी के मध्य में वर्तमान एक मन वाली अग्नियाँ हेमन्त ऋतु का सम्पादन कर इस कर्म को आश्रय दें। जैसे देवता इन्द्र की परिचर्या कर अपने अभीष्ट को पाते हैं, उसी प्रकार हमारी सारी इच्छाएँ इन इष्टकाओं के द्वारा प्राप्त हों। हे इष्टके! उस प्रसिद्ध देवता द्वारा अंगिरा के समान स्थिर होकर तुम यहाँ स्थित रहो॥ २७॥

'ऋतव्ये सहश्च सहस्यश्चेति' (का० श्रौ० १७।१०।१६)। अनूकमभित एकैकां पद्याम्, अर्थाद् द्वे पद्ये सहश्च सहस्यश्चेति मन्त्रेणोपदध्यादिति सूत्रार्थः। ऋतुदेवत्यं यजुः। सहो मार्गशीर्षः, सहस्यः पौषः। एतौ हैमन्विकौ हेमन्तावयवौ। शिष्टा कण्डिका (१३।२५) इत्यत्र व्याख्यातपूर्वा।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथर्तव्ये उपदधाति। ऋतव एते यदृतव्ये ऋतूनेवैतदुपदधाति सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू इति नामनी एनयोरेते नामभ्यामेवैने एतदुपदधाति द्वे इष्टके भवतो द्वौ हि मासावृतुः सकृत्सादयत्येकं तदृतुं करोति' (श० ८।४।२।१४)। अथर्तव्ये उपदधातीत्यादिकमृतव्येष्टकाब्राह्मणं पूर्वचितिब्राह्मणवद् व्याख्येयम्। 'तद्यदेते अत्रोपदधाति। संवत्सर एषोऽग्निरिम उ लोकाः संवत्सरस्तस्य यदूर्ध्वमन्तरिक्षादर्वाचीनं दिवस्तदस्यैषा चतुर्थी चितिस्तद्वस्य हेमन्त ऋतुस्तद्यदेते अत्रोपदधाति यदेवास्यैते आत्मनस्तदस्मिन्नेतत् प्रतिदधाति तस्मादेते अत्रोपदधाति' (श० ८।४।२।१५)। 'यद्वेवैते अत्रोपदधाति। प्रजापतिरेषोऽग्निः संवत्सर उ प्रजापतिस्तस्य यदूर्ध्वं मध्यादवाचीनꣳ शीर्ष्णस्तदस्यैषा चतुर्थी चितिस्तद्वस्य हेमन्त ऋतुस्तद्यदेते अत्रोपदधाति यदेवास्यैते आत्मनस्तदस्मिन्नेतत् प्रतिदधाति तस्मादेते अत्रोपदधाति' (श० ८।४।२।१६)। 'प्रजापतिरेषोऽग्निः, संवत्सर उ प्रजापतिः' इत्यर्थवादद्वयेन प्रजापतेर्लोकत्रयात्मकं संवत्सरात्मकं चेति यद्रूपद्वयम्, यच्च तस्य विश्लिष्टमङ्गम्, तत्प्रतिसन्धानस्थानीयमिति ऋतव्ययोः स्तुतिः कृतेति तात्पर्यार्थः। अन्यत्सर्वं पूर्ववदेव व्याख्येयम्।

आध्यात्मिकोऽर्थः पूर्वव्याख्यानस्थले पठनीयः।

दयानन्दीयं व्याख्यानं तत्समीक्षा चेत्युभयं तत्रैवावलोकनीयम्॥ २७॥

एकयाऽस्तुवत प्रजा अधीयन्त प्रजापतिरधिपतिरासीत्तिसृभिरस्तुवत ब्रह्मासृज्यत ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत् पञ्चभिरस्तुवत भूतान्यसृज्यन्त भूतानाम्पतिरधिपतिरासीत् सप्तभिरस्तुवत सप्त ऋषयोऽसृज्यन्त धाताऽधिपतिरासीत्॥ २८॥

मन्त्रार्थ—प्रजापति ने एक ही वाणी के साथ आत्मा की स्तुति की। उससे सारी प्रजा उत्पन्न हुई। प्रजापति उसके स्वामी बने। प्रजापति ने प्राण, उदान और व्यान से स्तुति कर वेदों की रचना की। वे वेदकर्ता कहलाये। प्रजापति ने पाँच प्राणों से स्तुति की। उससे पाँच भूत और सम्पूर्ण प्राणी प्रकट हुए। भूतपति महादेव उनके स्वामी हुए। प्रजापति ने दो कान, दो नासिका, दो आँख और एक जिह्वा—इन सातों की सहायता से स्तुति की। इससे सात ऋषि प्रकट हुए। जगत् के कर्ता देव उनके स्वामी बने॥ २८॥

'रेतःसिग्वेलायां च सप्तदश सर्वतो नव दक्षिणेनानूकꣳ सृष्टीरेकयाऽस्तुवतेति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।१०।१७)। सर्वासु दिक्षु रेतःसिग्वेलायां सृष्टिसंज्ञकाः सप्तदशेष्टका उपदध्यात्। तासां मध्ये प्रागनूकं दक्षिणेन नव, उत्तरेणाष्टौ। तेन प्रतिदिशं चतस्रश्चतस्रः पद्या दक्षिणतः पञ्चेति सूत्रार्थः। सप्तदश यजूंषि सृष्टीष्टकादेवत्यानि। कण्डिकार्थस्य स्पष्टतया प्रतिपत्त्यर्थं पूर्वं ब्राह्मणमुद्ध्रियते।

'अथ सृष्टीरुपदधाति। एतद्वै प्रजापतिः सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योर्मुक्त्वाऽकामयत प्रजाः सृजेय प्रजायेयेति' (श० ८।४।३।१)। 'स प्राणानब्रवीत्। युष्माभिः सहेमाः प्रजाः प्रजनयानीति ते वै केन स्तोष्यामह इति मया चैव युष्माभिश्चेति तथेति ते प्राणैश्चैव प्रजापतिना चास्तुवत यदु ह किञ्च देवाः कुर्वते स्तोमेनैव तत्कुर्वते यज्ञो वै स्तोमो यज्ञेनैवतत्कुर्वते तस्मादु सर्वास्वेवाऽस्तुवताऽस्तुवतेत्यनुवर्तते' (श० ८।४।३।२)। सृष्टिसंज्ञकाः

इष्टकाः विधाय स्तौति— अथ सृष्टीरुपदधातीत्यादिना। 'तद्यदसृजत तस्मात् सृष्टयः' (श० ८।४।३।२०) इति श्रुतेः सृष्टिशब्दोपेतमन्त्रैरुपधेयत्वात् सृष्टिशब्दवाच्यता। यद्यपि 'एकयाऽस्तुवत, सप्तविंशत्याऽस्तुवत' (श०८।४।३।३-१६) इत्यादौ सृष्टिशब्दो नास्ति, तथापि धातुमात्रं सृष्टानां प्राणिनां तत्सृष्टीनां च समूहे वर्तते। नहि कोऽपि धातुरेतं व्यभिचरतीति सर्वासामिष्टकानां सृष्टिशब्दवाच्यता द्रष्टव्या। पुरा प्रजापतिः पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वाणि भूतानि ब्रह्मक्षत्रादीनि पाप्मनो मृत्योः सकाशात् सर्वभूतानां स्वव्यक्तिरूपत्वाद् भूतसमष्टिरूपः स्वयं मृत्योः सकाशान्मुक्तः सन्नित्यर्थः। यद्वा भूतानां गर्भरूपावस्थानस्योक्तत्वात्तानि स्वयं मुक्त्वा इत्युच्यते। यद्वा मुक्त्वा मोचयित्वा देहारम्भककर्माणि तत्संस्कारविशेषांश्च प्रादुर्भाव्येत्यर्थः। अकामयत। किमिति ? प्रजाः सृजेयेति। सृष्टाभिस्ताभिः स्वयमेव प्रजायेयेत्यकामयत। स स्वयमेक एवाशक्तः सन् युष्माभिः सहितः प्रजायेयेति प्राणानब्रवीत्। प्रजापतेः स्थूलशरीरत्वात् प्राणाभावे केवलस्य शरीरस्य निर्वाहाभावात् सृज्यमानस्य प्राणिजातस्य शरीरप्राणसङ्घातात्मकत्वात् प्राणसाहाय्यमपेक्षितवानित्यभिप्रायः। इत्थं सृष्टिपुरुषसामग्रीमभिधाय सृष्टेः सामर्थ्यसव्यपेक्षत्वात् तस्याश्च कर्मजन्यत्वात् तद्रूपां सामग्रीं दर्शयति—ते वै केन स्तोष्यामह इति, अब्रुवन्निति शेषः। स्वव्यतिरिक्तस्य कस्याप्यन्यस्याभावाद् उद्गात्रादिस्थानीयेन केन स्तोष्यामह इति पृष्टवन्तः। अलमन्यैरस्मद्व्यतिरिक्तैः, परं मया च युष्माभिश्च स्तोष्यामह इति प्रजापतिरब्रवीत्। तथेति प्राणा अङ्गीकृत्य ते प्राणा प्रजापतयः प्राणैः स्वस्वरूपेण प्रजापतिना चास्तुवत। स्वात्मानमेव देवत्वादनन्यतयाऽभिधानम्, स्वयमेव कर्तारः स्वैरेव कारणभूतैरस्तुवतेत्यर्थः। स्तोत्रं त्रिवृदादिस्तोमसाध्यम्। स च स्तोमः किमर्थमपेक्ष्यत इत्यत आह—यद् ह किञ्च देवाः कुर्वत इति। यज्ञो वै स्तोम इति। स्तोमप्राधान्याज्ज्योतिष्टोमादियज्ञो नाम स्तोम एवेत्यर्थः। अस्तुवतास्तुवतेत्यनुवर्तत इति। तस्मात् सर्वस्या विकृतेः स्तोमसाध्यत्वात् सर्वास्विष्टकासु तत्तत्सृष्ट्यभिधायकेष्टकामन्त्र इति यावत्।

अयमभिप्रायः—प्रजापतिरिन्द्रियाद्यधिष्ठातृदेवान् मां स्तुवध्वमित्यब्रवीत्। ते च देवाः केन स्तोष्यामह इत्यवोचन्। एवमुक्तः प्रजापतिर्मया च युष्माभिश्च स्तुतिः करिष्यत इति प्रोवाच। इत्थं सर्वं निदानं स्पष्टमुक्तमुद्भने ब्राह्मणे। 'एकयाऽस्तुवतेति। वाग्वा एका वाचैव तदस्तुवत प्रजा अधीयन्तेति प्रजा अत्राधीयन्त प्रजापतिरधिपतिरासीदिति प्रजापतिरत्राधिपतिरासीत्' (श० ८।४।३।३)। तत्र प्रथमेष्टकामन्त्रं विधाय व्याचष्टे—वाग्वा एकेत्यादिना। यद्यपि परापश्यन्त्यादिभेदेन बहुविधा वाक्, तथापि वागात्मना एकत्वात् 'वाग्वा एका' इत्याह श्रुतिः। तत् तेन एकयाऽस्तुवतेति मन्त्रपाठेन वाच एकत्वात् साक्षाद् वाचैवाऽस्तुवत। यद्वा तदा प्रजासृष्टिसमये वाचैवाऽस्तुवत, अतो मन्त्रः 'एकयाऽस्तुवत' इत्याहेत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि व्याख्येयम्। एकया स्तोत्रियया अस्तुवत, एकेन स्तोमेनाऽस्तुवतेत्यर्थः। सैवैका स्तोत्रिया वागात्मना स्तुता भवति। भागान्तरमुदाहृत्य व्याचष्टे—प्रजा अधीयन्तेति प्रजा अत्राधीयन्तेति। अत्र सृष्टिप्रस्तावे प्रजा धारिता आसन्। दधातेः कर्मणि लङि बहुवचने रूपम्। अतः प्रजा अधीयन्तेति मन्त्र आहेत्यर्थः। अपरं भागान्तरमुदाहृत्य व्याचष्टे—प्रजापतिरधिपतिरासीदिति। अत्र प्रजासृष्टौ प्रजापतिः प्रजास्वाधिपत्यवानासीत्। तस्मान्मन्त्रः प्रजापतिरधिपतिरासीदित्याहेत्यर्थः। एवमुत्तरत्र षोडशमन्त्राणां तद्ब्राह्मणानां चापि व्याख्यानं द्रष्टव्यम्। अधीयन्तेत्यस्य स्थानेऽसृज्यन्तेति विशेषः।

प्रजापतिरेकया वाचा सहात्मानमस्तुवत अस्तुत स्तुतवान्। एनं देवाः प्रथममस्तुवत स्तुतिमकुर्वन्। ततः प्रजापतिना प्रजा अधीयन्त उदपाद्यन्त। 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' प्रजापत्यर्थमस्थाप्यन्तेति वा। सृष्टानां

प्रजानां प्रजापतिरेवाधिपतिरासीत् । एवं षोडश मन्त्रा व्याख्येयाः। तिसृभिः प्राणोदानव्यानैरस्तुवत अस्तुत। ब्रह्म ब्राह्मणजातिरसृज्यत सृष्टा । ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीद् ब्रह्मणस्पतिर्ब्राह्मणजातेः स्वाम्यभूत् । पञ्चभिः प्राणैरस्तुवत अस्तौत् । भूतानि पञ्चमहाभूतानि, असृज्यन्त सृष्टानि । भूतानां पतिर्देवविशेषोऽधिपतिरासीत् तेषां स्वाम्यभूत् । सप्तभिः श्रोत्रचक्षुर्नासावाग्रूपैः सप्तशीर्षण्यप्राणैरस्तुवत अस्तौत् । सप्त ऋषयोऽसृज्यन्त सृष्टाः। धाता जगत्स्रष्टा आद्यो देवोऽधिपतिरासीत् स्वाम्यभूदिति मन्त्रार्थः ।

'तिसृभिरस्तुवतेति । त्रयो वै प्राणाः प्राण उदानो व्यानस्तैरेव तदस्तुवत ब्रह्मासृज्यतेति····ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीदिति ब्रह्मणस्पतिरत्राधिपतिरासीत्' (श० ८।४।३।४) । ब्रह्म सर्वसृष्टिसाधनभूतो वेदराशिर्ब्रह्मेत्युच्यते, ब्रह्मणस्पतिस्तत्पालकश्च चतुर्वक्त्रोऽधिपतिरासीत् । यद्वा उत्तरत्र पञ्चदशभिरस्तुवतेत्यत्र पञ्चदशेन स्तोमेन क्षत्रसृष्टेरभिधास्यमानत्वादत्र त्रिवृत्स्तोमेन ब्राह्मणजातिर्विवक्षिता । तत्र ब्रह्मणस्पतिरग्निरधिपतिरुच्यते, 'आग्नेयो वै ब्राह्मणः' (श० ११।५।४।१२) इति श्रुतेः। 'पञ्चभिरस्तुवतेति । य एवेमे मनःपञ्चमाः प्राणास्तैरेव तदस्तुवत भूतान्यसृज्यन्तेति भूतान्यत्रासृज्यन्त भूतानां पतिरधिपतिरासीदिति भूतानां पतिरत्राधिपतिरासीत्' (श० ८।४।३।५) । मनःपञ्चमा इति । मन एकम्, पूर्वोक्ताः वाक्प्राणोदानव्यानाश्चेत्यवगन्तव्यम् । 'सप्तभिरस्तुवतेति । य एवेमे सप्त शीर्षन् प्राणास्तैरेव तदस्तुवत सप्त ऋषयोऽसृज्यन्तेति सप्तर्षयोऽत्रासृज्यन्त धाताऽधिपतिरासीदिति धाताऽत्राधिपतिरासीत्' (श० ८।४।३।६) । चक्षुःश्रोत्रनासारन्ध्रगताः षट् प्राणाः, वदनस्थ एक इति सप्त शीर्षण्याः प्राणाः । सप्त ऋषय इति । भरद्वाजः कश्यपोऽत्रिर्गौतमो विश्वामित्रो जमदग्निर्वशिष्ठः सप्तर्षयः। धाता देवता तेषामधिपतिरासीत् ।

अध्यात्मपक्षे—प्रजापतिः परमात्मा एकया वाचा प्रधानभूतया वाग्देवीरूपया सरस्वत्या तं परमात्मानमस्तौत् । तेन प्रजा उत्पादिताः । तासां प्रजापतिरेवाधिपतिरासीत् । पुनस्तिसृभिः प्राणोदानव्यानैरस्तौत् । ब्रह्म ब्राह्मणजातिः सृष्टा । ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत् तिसृभिरिति स्त्रीलिङ्गप्रयोगस्तु तदभिमानिदेवताभिप्रायेण। शेषं पूर्ववत् । अग्रिममन्त्रस्याप्येवमेवाध्यात्मिकोऽर्थो ज्ञातव्यः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः ! यः प्रजापतिरधिपतिः सर्वस्य स्वामीश्वर आसीत्तमेकया वाण्यास्तुवत स्तुवन्तु, सर्वा प्रजाश्चाधीयन्त अधीयताम् । यो ब्रह्मणस्पतिर्वेदस्य पालकोऽधिपतिरासीत्, येनेदं सर्वविद्यामयं ब्रह्म वेदोऽसृज्यत, तं तिसृभिः प्राणोदानव्यानगतिभिरस्तुवत स्तुवन्तु । येन भूतान्यसृजन्त यो भूतानां पतिरधिपतिरासीत् सर्वे मनुष्याः पञ्चभिः समानचित्तबुद्ध्यहङ्कारमनोभिः स्तुवन्तु । येन पञ्च मुख्याः प्राणा महत्तत्त्वमहङ्कारश्चेति सप्त ऋषयोऽसृज्यन्त, यो धाताधिपतिरासीत् । सप्तभिर्नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयेच्छाप्रयत्नैः स्तुवन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात् । 'प्रजा अधीयन्त वेदद्वारा विद्यायुक्ताः कृताः' इत्यपि निर्मूलम् । तथैव 'तिसृभिः प्राणोदानव्यानगतिभिः स्तुवन्तु' इत्यपि निर्मूलम्, ताभिः स्तुतेरसम्भवात् । चेतनाधिष्ठातारोऽभ्युपेयन्ते चेत्, तदापसिद्धान्तापातः । एवमुपरिष्टादपि दोषा अनुसन्धेयाः। श्रुतिविरोधस्तु पूर्वोक्तव्याख्यानेन स्पष्ट एव, उपरिष्टादसृज्यत असृज्यन्तेत्यादिश्रुतिभिस्तस्य स्पष्टीकृतत्वात् । एवमेव प्रजा अधीयन्त इत्यत्रापि सृष्टिप्रस्तावे प्रजा धारिता आसन्नित्येवार्थः, उदपाद्यन्तेति वा, अत्र प्रकरणेऽधीतेरप्रसङ्गात् । दधातेः कर्मणि लङि बहुवचने रूपमिति प्रागुक्तमेव । उदपाद्यन्तेत्यर्थः ॥ २८ ॥

नवभिरस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तादितिरधिपत्न्यासीदेकादशभिरस्तुवत ऋतवोऽसृज्यन्तार्तवा अधिपतय आसंस्त्रयोदशभिरस्तुवत मासा असृज्यन्त संवत्सरोऽधिपतिरासीत् पञ्चदशभिरस्तुवत क्षत्रमसृज्यतेन्द्रोऽधिपतिरासीत् सप्तदशभिरस्तुवत ग्राम्याः पशवोऽसृज्यन्त बृहस्पतिरधिपतिरासीत् ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—प्रजापति ने सात शिरोभाग स्थित द्वार और दो नीचे के द्वार, कुल नौ द्वार वाले शरीर को धारण करने वाले प्राणों की सहायता से प्रार्थना की । उससे अग्निष्वात्त आदि पितृगण उत्पन्न हुए । प्रजापति की अखण्डित शक्ति उनकी स्वामिनी बनी । इसीलिये पितृगण अपनी इस अखण्ड शक्ति की सहायता से श्राद्ध करने वालों के पास सब जगह पहुँच जाते हैं । प्रजापति ने दस प्राण और ग्यारहवीं आत्मा की सहायता से स्तुति की । उससे वसन्त आदि ऋतुएँ प्रकट हुईं । उनके ऋतुपालक देवविशेष स्वामी बने, प्रजापति ने दस प्राण, दो पाद (प्रतिष्ठा), एक आत्मा इन तेरह अभ्यन्तरीय संस्थानों से स्तुति की । उससे अधिमास सहित चैत्र आदि बारह मास उत्पन्न हुए । दो अयनों का अभिमानी वही उनका पालक हुआ । प्रजापति ने दस हाथ की अंगुलियाँ, दो हाथ, दो भुजा, एक नाभि का ऊर्ध्व भाग—इन पंचदश संस्थानों की सहायता से स्तुति की और क्षत्रिय जाति को उत्पन्न किया । इनका स्वामी इन्द्र बना । प्रजापति ने दस पैर की अंगुलियाँ, दो ऊरू, दो जानु, दो पाद और नाभि का अधोभाग—इन सत्रह अवयवों की सहायता से स्तुति की । इससे ग्राम के गौ आदि पशुओं की रचना हुई । बृहस्पति इनके स्वामी बने ॥ २९ ॥

नवभिः सप्त शिरःप्राणा द्वावधो मलमूत्रत्यागमार्गस्थाविति सम्भूय नव प्राणास्तैः प्रजापतिरस्तौत् । ततः पितरोऽग्निष्वात्तादयः सृष्टाः । अदितिरखण्डिता प्रजापतिशक्तिः सृष्टानां पितॄणामधिपत्नी स्वामित्वेनाधिकं पालयित्री आसीत् । एकादशभिः पूर्वोक्ता नव प्राणाः, दशमो नाभिः, एकादश आत्मा शरीरम्, तैरस्तुवत । ततो वसन्तादय ऋतवः सृष्टाः । आर्तवा ऋत्वभिमानिनो देवास्तेषां स्वामिनोऽभूवन् । त्रयोदशभिः, उक्ता एकादश द्वौ पादौ च सम्भूय त्रयोदश । तैः प्रजापतिरस्तौत् । ततो मासाश्चैत्रादयः सृष्टाः । षण्मासाभिमान्ययनद्वयात्मकः संवत्सरस्तेषामधिपतिरासीत् । पञ्चदशभिः, दश हस्ताङ्गुलयः करौ बाहू नाभेरूर्ध्वभागश्च तैरस्तौत् । ततः क्षत्रं क्षत्रियजातिः सृष्टा । इन्द्र ऐश्वर्यशाली तदभिमानी देवस्तस्याः स्वाम्यभूत् । सप्तदशभिः पादाङ्गुलयो दश ऊरू जानुनी पादौ नाभेरधोभागश्चेति । तैरेव प्रजापतिरस्तौत् । ततो ग्राम्या गवाश्वादयः पशवोऽजायन्त । बृहस्पतिस्तेषां स्वाम्यभूत् ।

अत्र ब्राह्मणम्—'नवभिरस्तुवतेति । नव वै प्राणाः सप्त शीर्षन्नवाञ्चौ द्वौ तैरेव तदस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तेति पितरोऽत्रासृज्यन्तादितिरधिपत्न्यासीदित्यदितिरत्राधिपत्न्यासीत्' (श० ८।४।३।७) । अवाञ्चौ द्वाविति । मलमूत्रद्वारस्थावित्यर्थः । पितरोऽग्निष्वात्ता बर्हिषदश्च असृज्यन्त । देवमाता अदितिरदीनत्वात् पितॄणामधिपत्न्यासीत् । 'एकादशभिरस्तुवतेति । दश प्राणा आत्मैकादशस्तेनैव तदस्तुवत ऋतवोऽसृज्यन्तेत्यृतवोऽत्रासृज्यन्तार्तवा अधिपतय आसन्नित्यार्तवा अत्राधिपतय आसन्' (श० ८।४।३।८) । 'नाभिर्दशमी' (तै० ब्रा० १।३।७।४) इति श्रुत्यन्तरान्नवभिः सहिताः पूर्वोक्ता दश, आत्मा देहः स चैकादशः । तस्मै एकादशाय अस्तुवत । आर्तवा ऋत्वभिमानिदेवाः, तेषामधिपतय आसन् ।

'त्रयोदशभिरस्तुवतेति। दश प्राणा द्वे प्रतिष्ठे आत्मा त्रयोदशस्तेनैव तदस्तुवत मासा असृज्यन्तेति मासा अत्रासृज्यन्त संवत्सरोऽधिपतिरासीदिति संवत्सरोऽत्राधिपतिरासीत्' (श० ८।४।३।९)। द्वे प्रतिष्ठे इति द्वौ पादावित्यर्थः। अन्यत् स्पष्टम्। 'पञ्चदशभिरस्तुवतेति। दश हस्त्या अङ्गुलयश्चत्वारि दोर्बाहवाणि यदूर्ध्वं नाभेस्तत्पञ्चदशं तेनैव तदस्तुवत क्षत्रमसृज्यतेति क्षत्रमत्रासृज्यतेन्द्रोऽधिपतिरासीदितीन्द्रोऽत्राधिपतिरासीत्' (श० ८।४।३।१०)। अत्र हस्तद्वयगता दशाङ्गुलयश्चत्वारि दोर्बाहवाणि दोर्द्वयं बाहुद्वयमिति चत्वारीत्यर्थः। नाभेरुपरिष्टाद्भागः सर्वोऽपि पञ्चदशः। क्षत्रं क्षत्रियजातिरसृज्यत, इन्द्रस्तस्या अधिपतिरासीत्। 'सप्तदशभिरस्तुवतेति। दश पाद्या अङ्गुलयश्चत्वार्यूर्वष्ठीवानि द्वे प्रतिष्ठे यदवाङ्नाभेस्तत्सप्तदशं तेनैव तदस्तुवत ग्राम्याः पशवोऽसृज्यन्तेति ग्राम्याः पशवोऽत्रासृज्यन्त बृहस्पतिरधिपतिरासीदिति बृहस्पतिरत्राधिपतिरासीत्' (श० ८।४।३।११)। पाद्याः पादयोर्भवा अङ्गुलयो दश, ऊर्वष्ठीवानि चत्वारि ऊरुद्वयमष्ठीवद्द्वयं च। अष्ठीवच्छब्देन जानुमण्डलभाग उच्यते। द्वे प्रतिष्ठे द्वौ पादौ। नाभेरधोभागः सप्तदशसंख्यापूरणः। ग्राम्याः पशवो गोमहिषाजादयः॥ २९॥

नवदशभिरस्तुवत शूद्रार्यावसृज्येतामहोरात्रे अधिपत्नी आस्तामेकविंशत्याऽस्तुवतैकशफाः पशवोऽसृज्यन्त वरुणोऽधिपतिरासीत् त्रयोविंशत्याऽस्तुवत क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्त पूषाधिपतिरासीत् पञ्चविंशत्याऽस्तुवतारण्याः पशवोऽसृज्यन्त वायुरधिपतिरासीत् सप्तविंशत्याऽस्तुवत द्यावापृथिवी व्यैतां वसवो रुद्रा आदित्या अनुव्यायस्त एवाधिपतय आसन्॥ ३०॥

मन्त्रार्थ—प्रजापति ने दस हाथ की अँगुलियों और ऊपर नीचे के नवद्वाररूप नौ प्राणों से स्तुति की। उससे शूद्र और वैश्य जाति उत्पन्न हुई। दिन और रात उनके स्वामी बने। बीस हाथ पैर की अँगुलियों और एक आत्मा से प्रजापति ने स्तुति की। इससे एक खुर वाले पशु उत्पन्न हुए। वरुण उनके स्वामी बने। बीस हाथ पैर की अँगुलियों, दो चरणों और एक आत्मा से प्रजापति ने स्तुति की। इससे क्षुद्र पशु अजा आदि उत्पन्न हुए। पूषा उनके स्वामी बने। बीस हाथ पैर की अँगुलियों, दो हाथ, दो चरण और एक आत्मा की सहायता से प्रजापति ने स्तुति की। उससे वन के कृष्णमृग आदि पशु उत्पन्न हुए। वायु उनके स्वामी बने। बीस हाथ-पैर की अँगुलियों, दो भुजाओं, दो ऊरू, दो प्रतिष्ठा, एक आत्मा इन सत्ताईस अवयवों की सहायता से प्रजापति ने स्तुति की। इससे स्वर्गलोक, भूलोक और अन्तरिक्ष लोक प्रकट हुए। वसुगण, रुद्रगण और आदित्यगण इनके अनुगत होने से क्रमशः यही तीन उक्त तीनों लोकों के स्वामी बने॥ ३०॥

नवदशभिः, दश हस्ताङ्गुलय ऊर्ध्वाधश्छिद्ररूपा नव प्राणाश्च नवदश, तैरस्तौत्। ततः शूद्रार्यौ शूद्रवैश्यौ असृजेतां सृष्टौ, 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' (पा० सू० ३।१।१०३) इति पाणिनिस्मरणात्। अहोरात्रे तयोः स्वामित्वेनास्ताम्। एकविंशत्या विंशतिः करचरणाङ्गुलय आत्मा चेत्येकविंशतिस्तया अस्तौत्। तत एकशफाः पशवोऽश्वादयः सृष्टाः। एकं शफं खुरः प्रतिपादं येषां ते, 'शफं क्लीबे खुरः पुमान्' (अ० को० २।८।४९) इत्यमरकोषवचनात्। वरुणस्तेषामधिपतिरासीत्। त्रयोविंशत्या करपादाङ्गुलयोविंशतिः पादौ आत्मा चेति त्रयोविंशतिस्तया अस्तौत्। ततः क्षुद्राः पशवोऽजादयः सृष्टाः। तेषां स्वामी पूषाऽभूत्। पञ्चविंशत्या विंशतिः करपादाङ्गुलयः करौ पादौ आत्मा चेति तैरस्तौत्। तत आरण्याः पशवः कृष्णमृगादयः सृष्टाः। तेषां स्वामी वायुरभूत्। सप्तविंशत्या

करपादाङ्गुलयः करौ पादौ आत्मा चेति तैरस्तौत्। ततो द्यावापृथिवी द्युभूलोकौ व्यैतां विशेषेण आगच्छतामित्यर्थः। विपूर्वादिण्गताविति धातोर्लङि प्रथमपुरुषद्विवचनम्। वसवोऽष्टौ रुद्रा एकादश आदित्या द्वादशेति ते अनुव्यायन् अन्वगच्छन्। त एव स्वामिनोऽभूवन्।

अत्र ब्राह्मणम्—'नवदशभिरस्तुवतेति। दश हस्त्या अङ्गुलयो नव प्राणास्तैरेव तदस्तुवत शूद्रार्यावसृज्येतामिति शूद्रार्यावत्रासृज्येतामहोरात्रे अधिपत्नी आस्तामित्यहोरात्रे अत्राधिपत्नी आस्ताम्' (श० ८।४।३।१२)। 'एकविꣳशत्याऽस्तुवतेति। दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या आत्मैकविꣳशस्तेनैव तदस्तुवतैकशफाः पशवोऽसृज्यन्तेत्येकशफाः पशवोऽत्रासृज्यन्त वरुणोऽधिपतिरासीदिति वरुणोऽत्राधिपतिरासीत्' (श० ८।४।३।१३)। एकशफाः पशवः गर्दभाश्वादयः, 'अप्सुयोनिर्वा अश्वः' (श० १३।२।२।१९) इति श्रुतेः, अपां च वरुणस्वामिकत्वादेकशफानां वरुणोऽधिपतिरासीदित्युक्तम्। 'त्रयोविꣳशत्यास्तुवतेति। दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या द्वे प्रतिष्ठे आत्मा त्रयोविꣳशस्तेनैव तदस्तुवत क्षुद्राः पशवोऽत्रासृज्यन्त····पूषाधिपतिरासीदिति पूषात्राधिपतिरासीत्' (श० ८।४।३।१४)। क्षुद्राः पशवोऽजाविप्रभृतयः, तेषां पूषा पुष्ट्यभिमानी देवोऽधिपतिः स्वामी इत्यभिप्रायः। 'पञ्चविꣳशत्यास्तुवतेति। दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्याश्चत्वार्यङ्गान्यात्मा पञ्चविꣳशस्तेनैव तदस्तुवतारण्याः पशवोऽसृज्यन्तेत्यारण्याः पशवोऽत्रासृज्यन्त वायुरधिपतिरासीदिति वायुरत्राधिपतिरासीत्' (श० ८।४।३।१५)। चत्वार्यङ्गानीति द्वौ पादौ पाणी चेत्यर्थः। आरण्यानां वायुरधिपतिरित्यर्थः। 'सप्तविꣳशत्यास्तुवतेति। दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्याश्चत्वार्यङ्गानि द्वे प्रतिष्ठे आत्मा सप्तविꣳशस्तेनैव तदस्तुवत द्यावापृथिवी व्यैतामिति द्यावापृथिवी अत्र व्यैतां वसवो रुद्रा आदित्या····अत्रानुव्यायंस्त एवाधिपतय आसन्निति त उ एवात्राधिपतय आसन्' (श० ८।४।३।१६)। द्यावापृथिवी अत्र व्यैतामिति। पूर्वसृष्टे द्यावापृथिव्यौ प्राण्युपकारार्थं विभक्ते अभवताम्। संसर्गस्तु शाखान्तर उक्तः—[1]'द्यावापृथिवी संसृष्टे आस्तां ते वियती अब्रूताम्' (तै० ब्रा० १।१।३।२)। द्यावापृथिव्योर्ग्रहणेन तदन्तरालवर्तिनोऽन्तरिक्षस्यापि ग्रहणं बोध्यम्। अत एव तत्तत्स्वामिनो वसवो रुद्रा आदित्या अनुव्यायन्नित्युक्तम्।

अध्यात्मपक्षे—नवदशभिः पूर्वोक्तैः परमात्मानं प्रजापतिरस्तौत्, ततः शूद्रार्यावसृज्येताम्, अहोरात्रे तयोरधिपत्नी स्वामिनावभूताम्। एवमेवान्यदपि व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं येनोत्पादिते अहोरात्रे अधिपत्नी आस्ताम्, येन शूद्रार्यावसृज्येताम्, तं परमात्मानमेकविंशत्यास्तुवत। येन निर्मितः पूषाधिपतिरासीत्, येन पशवोऽसृज्यन्त, तं त्रयोविंशत्यास्तुवत। येनोत्पादितो वायुरधिपतिरासीत्, येनारण्याः पशवोऽसृज्यन्त, तं पञ्चविंशत्यास्तुवत। येन सृष्टे द्यावापृथिवी व्यैताम्, येन रचिता वसवो रुद्रा आदित्या अनुव्यायन्, तं सप्तविंशत्यास्तुवत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्वसिद्धान्तभङ्गप्रसङ्गात्। तथाहि—शूद्रार्यावित्यत्र शूद्रस्यार्यस्य चोत्पत्तावभ्युपगम्यमानायां शूद्रा आर्यपदव्यपदेश्यायोग्या इत्यायातम्। सामाजिकैस्तु सर्व एवार्या उच्यन्त इत्यपसिद्धान्तापातः सुस्थिरः। किञ्चात्र पूर्वं ब्रह्मक्षत्रिययोरुत्पत्तिः समाम्नाता, तेनात्र शूद्रवैश्ययोरेवोत्पत्तिर्वक्तव्या। अत एव सिद्धान्तव्याख्याने 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' इति पाणिनिसूत्रमुद्धृतम्। 'मनुष्याणां त्रयोविंशतिसंख्याकैरवयवैः स्तुवन्तु' इत्यपि यत्किञ्चित्, अवयवेषु स्तावकत्वानुपपत्तेः। सिद्धान्ते तु स्रष्टुर्गुणाभिव्यञ्जनरूपा स्तुतिः सम्भवत्येव, 'अभिमानिव्यपदेशस्तु' (ब्र० सू० २।१।५) इति न्यायात्। तदधिष्ठातृदेवैर्वा तत्सम्भवः॥ ३०॥

---

१. तत्र तु—'द्यावापृथिवी सहास्तां ते वियती अब्रूताम्' इति पाठः।

नवविꣳशत्याऽस्तुवत वनस्पतयोऽसृज्यन्त सोमोऽधिपतिरासीदेकत्रिꣳशताऽस्तुवत प्रजा असृज्यन्त यवाश्चायवाश्चाधिपतय आसंस्त्रयस्त्रिꣳशताऽस्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासील्लोकं ता इन्द्रम् ॥ ३१ ॥

इति श्रीमाध्यन्दिनीयायां वाजसनेयसंहितायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ—बीस हाथ पैर की अंगुलियों और नौ प्राणों के छिद्रों से प्रजापति ने स्तुति की। इससे वनस्पति, अश्वत्थ, वट आदि की रचना की। उनके स्वामी सोम बने। बीस हाथ पैर की अंगुलियों, दस इन्द्रियों और एक आत्मा इन इकतीस अवयवों की सहायता से प्रजापति ने स्तुति की। इससे अन्यान्य सारी प्रजा की सृष्टि हुई। पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष इनके स्वामी बने। बीस अंगुलियों, दस इन्द्रियों, दो पाद और आत्मा इन तैंतीस अवयवों से प्रजापति ने स्तुति की। इससे अब तक उत्पन्न समस्त प्राणियों को शान्ति का लाभ हुआ, सारी प्रजा सुखपूर्वक रहने लगी। सत्य लोक में स्थित होने वाले प्रजापालक ईश्वर उनके स्वामी बने ॥ ३१ ॥

नवविंशत्या करपादाङ्गुलयो विंशतिः, सप्त शीर्षण्याः प्राणाः, द्वाववाञ्चौ, सम्भूय नवविंशतिस्तया। ततो वनस्पतयोऽश्वत्थवटाद्याः सृष्टाः। तेषां स्वामी सोम आसीत्। एकत्रिंशता करपादाङ्गुलयो विंशतिः, दशेन्द्रियाणि, आत्मा चैकत्रिंशत् तैरस्तुवत। ततः प्रजाः सृष्टाः। यवाः पूर्वपक्षाः, अयवा अपरपक्षाः, स्वामिनोऽभूवन्। त्रयस्त्रिंशता अङ्गुलय इन्द्रियाणि पादौ आत्मेति। तैर्देवैः सह प्रजापतिरस्तवत। ततो भूतानि सर्वे प्राणिनोऽशाम्यन् शान्ताः सुखिनोऽभूवन् परमेष्ठी परमे सत्यलोके तिष्ठतीति परमेष्ठी प्रजापतिः सर्वभूतानामधिपतिरासीत्, अत्र या या इष्टका येन येन मन्त्रेणोपधेया सा सा तन्मन्त्रोपदिष्टदेवतारूपेण ध्येयेत्यर्थः। 'उत्तराꣳसादधि लोकम्पृणाः पूर्ववत्' (का०श्रौ० १७।१०।१८)। उत्तरांसादारभ्य प्रागनूकोत्तरांसाक्षणया देशान्तराले मध्यपर्यन्तं ततो दक्षिणपक्षपुच्छोत्तरपक्षेषु प्रथमचितिवल्लोकम्पृणा उपधाय प्रत्येत्य प्रागनूकस्य दक्षिणत आरभ्य प्रदक्षिणमुत्तरांसाक्षणयादेशपर्यन्तं पूर्ववल्लोकम्पृणा उपदध्यात्। पुरीषनिवपनं सप्तर्चोपस्थानं च कुर्यादिति सूत्रार्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'नवविꣳशत्यास्तुवतेति। दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या नव प्राणास्तैरेव तदस्तुवत वनस्पतयोऽसृज्यन्तेति वनस्पतयोऽत्रासृज्यन्त सोमोऽधिपतिरासीदिति सोमोऽत्राधिपतिरासीत्' (श० ८।४।३।१७)। अत्र वनस्पतिशब्देन ओषध्यादयोऽपि विवक्षिताः, तासां पृथगनभिधानात्। 'एकत्रिꣳशतास्तुवतेति। दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या दश प्राणा आत्मैकत्रिꣳशस्तेनैव तदस्तुवत प्रजा असृज्यन्तेति प्रजा अत्रासृज्यन्त यवाश्चायवाश्चाधिपतय आसन्निति पूर्वपक्षापरपक्षा एवात्राधिपतय आसन्' (श० ८।३।१८)। विविच्याभिहितं संगृह्याभिधत्ते—प्रजा असृज्यन्तेति। तासां यवाश्चायवाश्चाधिपतय आसन्। अत एव प्रजा अधीयन्तेति न पुनरुक्तिः। तासां यवाश्चायवाश्चाधिपतय आसन्। सर्वासां प्रजानामुत्पत्तेः कालसव्यपेक्षत्वान्मासर्त्वादिकालस्य पूर्वपक्षापरपक्षावृत्तिसाध्यत्वात् तेषां तदधिपतित्वाभिधानमिति द्रष्टव्यम्। 'त्रयस्त्रिꣳशतास्तुवतेति। दश हस्त्याङ्गुलयो दश पाद्या दश प्राणा द्वे प्रतिष्ठे आत्मा त्रयस्त्रिꣳशस्तेनैव तदस्तुवत भूतान्यशाम्यन्निति सर्वाणि भूतान्यत्राशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीदिति प्रजापतिः परमेष्ठ्यत्राधिपतिरासीत्' (श० ८।४।३।१९)। त्रयस्त्रिंशेन स्तोमेन स्तुते सर्वाणि भूतान्यशाम्यन्

अपगतोपद्रवाण्यभवन् । त्रयस्त्रिंशस्तोमो हि सर्वेषां स्तोमानां श्रेष्ठः । अतः परमे निरतिशये स्थाने तिष्ठतीति परमेष्ठी, तादृशः प्रजापतिर्हिरण्यगर्भोऽत्राधिपतिरिति युक्तम् । 'ता वा एताः । सप्तदशेष्टका उपदधाति सप्तदशो वै संवत्सरः प्रजापतिः स प्रजनयिता तदेतेन वै सप्तदशेन संवत्सरेण प्रजापतिना प्रजनयित्रैताः प्रजाः प्राजनयत यत्प्राजनयदसृजत तद्यदसृजत तस्मात् सृष्टयस्ताः सृष्ट्वात्मन्....प्रपादयते रेतःसिचोर्वेलया पृष्ट्यो वै रेतःसिचौ मध्यम् पृष्ट्यो मध्यत एवास्मिन्नेताः प्रजाः प्रपादयति सर्वत उपदधाति सर्वत एवास्मिन्नेताः प्रजाः प्रपादयति' (श० ८।४।३।२०) । इष्टकागतां संख्यां स्तौति—ता वा एता इति । संवत्सरात्मकः प्रजापतिः सप्तदशः सप्तदशसमुदायात्मकः, द्वादश मासाः पञ्चर्तव इति सप्तदशता । स एव भूतानां प्रजनयिता तत्स्रष्टव्यं जगत्सृष्ट्वा स प्रजापतिस्तेन सप्तदशेन सप्तदशसंख्यात्मकेन संवत्सरलक्षणेन प्रजापतिना स्वकीयकालात्मकशरीरेण प्रजनयित्रा सर्वोत्पादकेन एता ब्रह्मक्षत्रादिरूपाः प्रजाः प्राजनयद् उदपादयत् । सर्वेषामेवोत्पत्तिमतां कालत एवोत्पत्तेः प्रजनयितृत्वम् । तद्यदसृजत तस्मात् सर्जनात् सृष्ट्य इत्युक्तम् । ननु सृष्टाः प्रजाः कथमिष्टकाः सृष्ट्य इत्युच्यन्ते ? इति चेन्नैष दोषः, इष्टकासु तासामध्यस्तरूपत्वात् । अन्यत् पूर्वं व्याख्यातमेव ।

अध्यात्मपक्षे—देवैः सह प्रजापतिर्नवविंशत्या हस्तपादयोर्विंशतिरङ्गुलयो नव प्राणास्तैरेतैः परमात्मानमस्तौत् । ततः प्रजा असृज्यन्त यवाश्चायवाश्च पूर्वापरपक्षास्तत्राधिपतय आसन् । तथैव एकत्रिंशताऽस्तौत् । ततो भूतान्यशाम्यन् शान्ताः सुखिनः सञ्जाताः । परमेष्ठी हिरण्यगर्भश्च तेषामधिपतिर्जातः । परमेश्वरानुग्रहेणैव प्रजापतिः सर्वमुत्पादितवान् । स एव सर्वजनकत्वात् सर्वाराध्य इत्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं येनोत्पादिताः सोमोऽधिपतिरासीत्, येन ते वनस्पतयोऽसृज्यन्त तं जगदीश्वरं नवविंशत्या स्तुवन्तु । यासां यवा मिश्रिताः पर्वतादय त्रसरेणवः, अयवाः प्रकृत्यवयवाः सत्त्वरजस्तमांसि गुणाः परमाणवश्चाधिपतय आसन्, ताः प्रजा येनासृज्यन्त तमेकत्रिंशतास्तुवत । यस्य प्रभावाद् भूतान्यशाम्यन्, यः प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत्, तं त्रयस्त्रिंशतास्तुवत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, येनोत्पादिताः सोम इत्यादेर्निर्मूलत्वात् । 'सोमेन ते वनस्पतय उदपाद्यन्त' इत्यप्यसाम्प्रतम्, निर्मूलत्वादेव । नवविंशतिरङ्गानि कानि ? कथं च तैस्तत्स्तुतिरित्याद्यनुक्तेः ॥ ३१ ॥

इति श्रीवेदार्थपारिजातभाष्ये चतुर्दशोऽध्यायः ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

अग्ने जातान् प्रणुदा नः सपत्नान् प्रत्यजातान् नुद जातवेदः ।
अधि नो ब्रूहि सुमना अहेडंस्तव स्याम शर्मंस्त्रिवरूथ उद्भौ ।। १ ।।

मन्त्रार्थ—हे सबको जानने वाले अग्निदेव ! हमारे पूर्व उत्पन्न शत्रुओं को पूरी तरह से नष्ट कर दो । अब उत्पन्न होने वाले शत्रुओं को भी नष्ट कर दो । अच्छे मन से क्रोधरहित होकर हमें वर प्रदान करो । हे अग्निदेव ! आपकी प्रसन्नता के कारण सुख से सम्पन्न होकर हम मनुष्य, पशु, धन धान्य आदि के प्रभवस्थान सदोमण्डप, हविर्धान्य और आग्नीध्र नामक तीन स्थानों में सदा यज्ञ का अनुष्ठान करें ।। १ ।।

चतुर्दशेऽध्याये द्वितीयतृतीयचतुर्थचितिमन्त्रा उक्ताः । पञ्चदशेऽध्याये पञ्चमचितिमन्त्रा उच्यन्ते । 'पञ्चम्यामन्तेष्वाश्विनीवदसपत्नाः, दक्षिणयोररत्न्यन्तरम्, अग्ने जातानिति प्रतिमन्त्रम्' (का०श्रौ० १७।११।१-३)। पञ्चम्यां चितौ प्रतिदिशमात्मनः प्रान्तेष्वाश्विनीवदसपत्नासंज्ञकाः पञ्चपद्या इष्टका 'अग्ने जातान्', 'सहसा जातान्', 'षोडशी' 'चतुश्चत्वारिᳪ शः' 'अग्नेः पुरीषम्' इति पञ्चभिर्मन्त्रैरुपदध्यादिति सूत्रार्थः । पञ्चमचिति-मन्त्राणां परमेष्ठी ऋषिः । तत्र द्वे अग्निदेवत्ये त्रिष्टुभौ । हे अग्ने, नः अस्माकं जातान् पूर्वमुत्पन्नान् सपत्नान् शत्रून् प्रणुद प्रकर्षेण नाशय । किञ्च, हे जातवेदः ! जातप्रज्ञान अग्ने ! अजातान् अनुत्पन्नांश्च इतः परमुत्पत्ति-प्रसक्तियुक्तांश्च प्रतिनुद उत्पत्तिप्रतिबन्धेन निराकुरु । प्रतीत्युपसर्गव्यवधानमार्षम् । किञ्च, सुमनाः स्नेहानुबन्धेन सानुग्रहचित्तः, अहेडन् अनादरमकुर्वन्, अनुपेक्षमाण इत्यर्थः । नः अस्मान् अधिब्रूहि अधिवद, उपदिशेति यावत्, यज्ञसम्बन्धिनीमितिकर्तव्यतामिति शेषः । किञ्च, त्वत्सम्बन्धिनि त्रिवरूथे वरूथं गृहं त्रयाणां वरूथानां समाहारस्त्रिवरूथम्, तस्मिन् । अत्र यज्ञगृहे सदो हविर्धानाग्नीध्ररूपे । कीदृशे ? शर्मन् शर्मणि सुखाश्रये । पुनः कीदृशे ? उद्भौ उद्भवति समृध्यते द्विपदचतुष्पदधनधान्यादिभिरित्युद्भिः, तस्मिन् । वयं स्याम भवेम । आर्षोऽयं प्रयोगो भवतेर्डिप्रत्ययेन साधनीयः । नह्याकरे पञ्चपाद्यामुणाद्यां वा डिप्रत्ययोपलब्धिः । यद्वा हे अग्ने, जातान् उत्पन्नान् सपत्नान् समानपतित्वदर्शिनः प्रणुद प्रेरय नाशय अपुनरागमनायेति । प्रत्यजातान् प्रतिज्ञाय प्रतिज्ञाय अजातान् अनुत्पन्नान् जनिष्यमाणान् नुद उत्पत्तिप्रतिबन्धेन अनुत्पादाय प्रेरय । शर्मन् शरणे आश्रये त्रिवरूथे त्रिपुरे उद्भौ उद्भिनत्ति अन्येषां यज्ञक्रतूनित्युद्भिः, तस्मिन् । शेषं पूर्ववत् ।

अत्र ब्राह्मणम्—'पञ्चमीं चितिमुपदधाति । एतद्वै देवाश्चतुर्थीं चितिं चित्वा समारोहन् यदूर्ध्वमन्तरिक्षा-दर्वाचीनं दिवस्तदेव तत्संस्कृत्य समारोहन्' (८।५।१।१) । विराजामुपधानमुपन्यस्यति—पञ्चमीं चितिमित्यादि । कुत एतदिति चेत्—'तेऽब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवन्नित ऊर्ध्वमिच्छतेति ते चेत-यमाना दिवमेव विराजं पञ्चमीं चितिमपश्यंस्तेभ्य एष लोकोऽच्छदयत्' (श० ८।५।१।२) । 'ते चेतयमाना विराजं पञ्चमीं चितिमपश्यन्' इति वचनात् 'एषा वै सा विराड् यां तद्देवा विराजं पञ्चमीं चितिमपश्यन्' (श० ८।५।१।५) इति वचनाच्च तेभ्यो देवेभ्यः, एष लोको यो नाम अच्छदयत् अरुचत् । यद्यपि 'छद अपवारणे' इति चुरादौ पठ्यते, तथापि धातूनामनेकार्थत्वादत्र रुच्यर्थता । तथा सत्येव तेभ्य इत्यत्र 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' (पा० सू० १।४।३३) इत्यनेन सम्प्रदानत्वं ततश्चतुर्थीति नान्या चतुर्थी युज्यते । 'तेऽकामयन्त ।

असपत्नमिमं लोकमनुपबाधं कुर्वीमहीति तेऽब्रुवन्नुप तज्जानीत यथेमं लोकमसपत्नमनुपबाधं करवामहा इति तेऽब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथेमं लोकमसपत्नमनुपबाधं करवामहा इति' (श० ८।५।१।३)। 'ते चेतयमानाः। एता इष्टका अपश्यन्नसपत्नास्ता उपादधत ताभिरेतं लोकमसपत्नमनुपबाधमकुर्वत····तस्मादेता असपत्नास्तथैवैतद्यजमानो यदेता उपदधात्येतमेवैतल्लोकमसपत्नमनुपबाधं कुरुते··· ' (श० ८।५।१।४) इति कण्डिकाद्वयेनैतेन असपत्नानां पञ्चानामिष्टकानामुपधानं तस्य च देवा द्रष्टार इत्युच्यते। सर्वतः सर्वासु दिक्षु। परार्द्धे परस्मिन्नग्नेर्मार्गेऽन्त्ये लोक इत्यर्थः। पञ्चम्या उपधानं च वक्ष्यति 'अन्तरेण दक्षिणस्यां दिश्याम्' (श० ८।५।१।१३) इति कण्डिकायाम्। 'अथ विराज उपदधाति। एषा वै सा विराड् यां तद्देवा विराजं पञ्चमीं चितिमपश्यंस्ता दश दशोपदधाति दशाक्षरा विराड् विराडेषा चितिः सर्वत उपदधाति यो वा एकस्यां दिशि विराजति न वै स विराजति यो वाव सर्वासु दिक्षु विराजति स एव विराजति' (श० ८।५।१।५)। अथ विराज इति। असपत्ना उपधाय अथ अनन्तरं विराज उपदधातीति क्रमवचनम्। अथ यदुक्तम्—'पञ्चमीं चितिमुपदधाति ते चेतयमाना दिवमेव विराजं पञ्चमीं चितिमपश्यन्' इति, किमियं पञ्चमी चितिः ? किं पूर्वमुक्त एवार्थोऽत्र पुनरुपन्यस्यते, आहोस्विदन्यासामेवेष्टकानामपूर्वमेवेदमुपधानमुपदिश्यते ? इति सन्देहनिवृत्त्यर्थमाह—एषा वै सा विराडिति। ननु च 'अथ विराजः' इति या विराज उपक्रान्ताः, कथं ता 'एषा वै सा विराट्' इत्येकवचनेन परामृश्यन्ते ? इति चेन्नैष दोषः, विराडक्षरास्तावच्छन्दोवचनास्ते संख्यासामान्याच्च प्रयुज्यन्ते। तच्च छन्दो दशाक्षरेणैवैकेनापि पादेन विराडित्युच्यते, चतुर्भिरपि। ततश्च तदनुकारेणायमत्र विराड् इष्टकानां दशके यदा प्रयुज्यते, तदा ते चत्वारो दशका इति कृत्वा विराज इति बहुवचनं भवति। यदा तु चत्वारिंशदक्षरा विराट् च तत्सामान्यादिष्टकानामपि चत्वारिंशदेव विराड् इत्येतदभिप्रायकमेतदेकवचनमेव भवतीत्युपपन्नम्। उपधीयमाना कीदृशी सा विराट् ? किं चत्वारिंशदात्मिका, आहोस्विद् दशात्मिका ? इत्यत आह—ता दश दशेति। दशात्मिका विराजो न चत्वारिंशदात्मिका इति तदर्थः। चत्वारिंशद्विराज इत्येतदात्मका एव लोकाः। चतस्रो विराजो दशात्मिकास्ताश्चत्वारिंशद्यजुष्मत्य इति। अत्र सायणभाष्ये व्याख्यान्तरमपि प्रपञ्चितम्। तत्तु तत एवावसेयम्।

'यद्वेवैता असपत्ना उपदधाति। एतद्वै प्रजापतिमेतस्मिन्नात्मनः प्रतिहिते सर्वतः पाप्मोपायतत स एता इष्टका अपश्यदसपत्नास्ता उपाधत्त ताभिस्तं पाप्मानमपाहत पाप्मा वै सपत्नस्तद्यदेताभिः पाप्मानꣳ सपत्नमपाहत तस्मादेता असपत्नाः' (श० ८।५।१।६)। एवं तावद्देवैरसपत्ना विराजश्च दृष्टा इत्येतदुक्तम्। सम्प्रति ब्राह्मणशेषेणाऽसपत्नासु प्राजापत्यं दर्शनं प्रपञ्च्यते। परेण च ब्राह्मणेन विराड् 'एतस्मिन्नात्मनः' इति तदूर्ध्वमध्या···· सर्वतः सर्वासु दिक्षु पाप्मा न क्षरणे पातव्यं तस्मादिति पाप्मा दृष्टादृष्टम् उपपातकम्। अदृष्टस्तावदधर्मः, तत्पूर्वश्चाध्यात्मिको मोहरागद्वेषमिथ्याभिनिवेशनिद्रालस्यप्रमादव्याधिगौरवादि', बाह्यश्चाकीर्तिप्रभवो विभूतिः। साधनवैगुण्यद्वेष्टा द्वेष्यदात्मको दन्दशूकोऽन्यो वा, न तु कुलशीतोष्णादि उपायतत इति (प्रयां तु उपरमन्ते यतस्तस्मिन्)। 'तद्यदेताभिः' इत्यनेन सोपपन्नताकारणभूता असपत्ना इत्येतद्दर्शयति। 'तद्वा एतत्क्रियते। यद्देवा अकुर्वन्निदं न्विमꣳ स पाप्मा नोपयतते यत्त्वेतत्करोति यद्देवा अकुर्वंस्तत्करवाणीत्यथो य एव पाप्मा यः सपत्नस्तमेताभिरपहते तद्यदेताभिः पाप्मानꣳ सपत्नमपहते तस्मादेता असपत्नाः सर्वत उपदधाति सर्वत एवैतत् पाप्मानꣳ सपत्नमपहते परार्ध उपदधाति सर्वस्मादेवैतदात्मनः पाप्मानꣳ सपत्नमपहते' (श० ८।५।१।७)। प्राजापत्यस्येतिहासस्यायमधियज्ञमुपसंहारः—यद्देवा अकुर्वन्निति। प्रजापतिवद् देवैरप्युपहिता इति बहुवचनम्। इतरथा त्वेवमवक्ष्यत् तद्वा एतत्क्रियते यत्प्रजापतिरकरोदिति। इदमिति सन्निहितं प्रमाणान्तरं दृश्यं दर्शयति। चतुर्थ्यां चितौ चितायां यजमानं स पाप्मा चोपयतते, इदं दृश्यत एव न वियोगः। एतस्यामवस्थायां स केन-

चिदाध्यात्मिकेन बाह्येन चोपद्रवेणासाध्यत इत्यर्थः। 'अथो य एव' इति यद्यप्यपूर्वपाप्मानमेनमपाहत तयोर्याभि-र्मनुष्यत्वात् तस्यास्त्येव कश्चित् पाप्मा। तम् 'एताभिरपाहते' यः सपत्नः पाप्मविशेष एव, यश्च समानार्थस्य पतिरेकार्थाभिलाषी सोऽपि सपत्नः समुच्यते। तस्य च भेदेन ग्रहणमिहासपत्नशब्दार्थः। एवदुक्तं भवति— असपत्नशब्दे सपत्नशब्दः पाप्मलक्षणार्थः। सपत्नः स पाप्मा इत्येवार्थः। सर्वत उपदधातीति सर्वत उपधानेन सर्वस्मादेवैतदात्मनः पाप्मानं सपत्नमुपहते। 'स पुरस्तादुपदधाति। अग्ने जातान् प्रणुदा नः सपत्नानिति यथैव यजुस्तथा बन्धुरथ पश्चात् सहसा जातान् प्रणुदा नः सपत्नानिति यथैव यजुस्तथा बन्धुः' (श० ८।५।१।८)। 'सर्वत उपदधाति' (श० ८।५।१।७) इति श्रुत्या दिशः प्राप्ताः। सर्वत उपधाने कां दिशं प्रारभ्योपदध्यादिति प्रश्ने पुरस्तात् प्रथमं ततः पश्चात् ततो दक्षिणतस्तत उत्तरतो मध्ये चेत्युत्तरम्। यद्यपीह दिग्विधानं स्पष्टं नास्ति, यथा गायत्र्यादिषु, तत्र हि—'तस्य शिरो गायत्र्यः। ता यद् गायत्र्यो भवन्ति गायत्रꣳ हि शिरस्तिस्रो भवन्ति त्रिवृद्धि शिरः पूर्वार्धे उपदधाति पुरस्ताद्धीदꣳ शिरः' (श० ८।६।२।६) इति दिग्विधानं स्पष्टम्, तथाप्येत-दनुरोधेनैवाश्विनीवदनूकमुत्तरेण द्वितीयेषु लोकेषूपधेया इति गम्यते। यथैव यजुरितीष्टकाशरीरोऽग्निरात्मन्युप-धीयत इत्यभिप्रायः। 'सा या पुरस्तादग्निः। सा या पश्चादग्निः साग्निनैव तत्पुरस्तात् पाप्मानमपाहताग्निना पश्चात्तथैवैतद्यजमानोऽग्निनैव पुरस्तात् पाप्मानमपहतेऽग्निना पश्चात्' (श० ८।५।१।९)। पूर्वकण्डिकोक्तमर्थं स्पष्टयति—सा या पुरस्तादित्यादिना। सा या पुरस्तादुपधीयत इष्टकाभ्योऽग्निरूपा इष्टका, साग्निनैव पुरस्तात् पाप्मानमपहत। तथैवैतदेतेन पुरस्तादिष्टकोपधानेन यजमानोऽग्निनैव पुरस्तात् पाप्मानं हन्ति, अग्निनैव पश्चादपि पाप्मानं हन्ति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर! त्वं जातानुत्पन्नान् सपत्नान् बाह्यानान्तरांश्च शत्रून् प्रणुदा नाशय। अजातान् प्रतिनुद तदुत्पत्तिप्रतिबन्धेन निवर्तय। किञ्च, अहेडन् अनादरमकुर्वन्, अनुपेक्षमाण इति यावत्। सुमनाः शोभनमनस्कः संस्त्वमस्माकमधिवद उपदिशस्व, प्राप्त्युपायानुष्ठानप्रकारमिति यावत्। किञ्च, वयं तव त्वत्सम्बन्धिनि त्रिवरूथे त्रयाणां स्थूल-सूक्ष्म-कारणदेहरूपाणां वरूथानां गृहाणां समाहारस्त्रिवरूथं तस्मिन्। शर्मन् शर्मणि सन्तोषावहे सुखाश्रये स्याम जीवन्मुक्ता भवेम। कीदृशे समाहारे? उद्भौ उद्भवन्ति सुखानि दुःखानि च यस्मिन्नसौ उद्भुः, तस्मिन्। ननु प्रार्थनामन्तरापि सर्वं स्वभावादेव त्रिवरूथे सम्भवन्ति, किमिति प्रार्थनयेति चेन्न, अज्ञानिनां विवेकाभावात् उद्भुतात्मनैव स्थितत्वात् शरीरत्रयव्यतिरिक्तात्मदर्शिन एव शरीरेऽ-वस्थानसम्भवात्। 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी। नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥' (भ० गी० ५।१३) इति श्रीमद्भगवद्गीतोक्तेः।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने राजन्, त्वं नो जातान् प्रसिद्धान् सपत्नान् प्रणुद। हे जातवेदः, अजातान् अप्रकटान् शत्रून् नुद। अहेडन् अनादरमकुर्वन् सुमनाः प्रसन्नस्वान्तस्त्वं नोऽस्मान् प्रति अधिब्रूहि अधिकमुपदिश। यतो वयं तव उद्भौ उत्कृष्टानि वस्तूनि भवन्ति यस्मिन् तस्मिन्, त्रिवरूथे त्रीणि वरूथानि आध्यात्मिकाधिदैविकाधि-भौतिकानि सुखानि यस्मिन् तस्मिन्, शर्मन् शर्मणि गृहे स्याम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्निपदेन राज्ञो ग्रहणे मानाभावात्। वरूथशब्दस्यापि त्वदुक्तार्थता स्वकपोलकल्पिता, निघण्टौ तृतीयेऽध्याये गृहनामसु वरूथशब्द-पाठात्। उणादौ स्वव्याख्यायामपि सुखस्य वरूथशब्दार्थानुक्तेः॥ १॥

सहꣳसा जातान् प्रणुदा नः सपत्नान् प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व।
अधि नो ब्रूहि सुमनस्यमानो वयꣳ स्याम प्रणुदा नः सपत्नान्॥ २॥

मन्त्रार्थ—हे सबको जानने वाले अग्निदेव ! अब तक उत्पन्न हुए हमारे सभी शत्रुओं का सभी ओर से बलपूर्वक नाश कर दो, भविष्य में होने वाले शत्रुओं को उत्पन्न ही मत होने दो। अच्छे मन से क्रोधरहित हो हमारे सभी शत्रुओं से हमारी रक्षा करो, हमें बलवान् बनाओ। आपके प्रसाद से हम सदा शत्रुओं से बढ़ चढ़ कर रहें, हमारे सभी प्रकार के शत्रुओं को आप नष्ट कर दें ॥ २ ॥

ततः पश्चाद् दक्षिणाभिमुखः 'सहसा जातान्' इत्यपरामुपदध्यात्। सहसा बलेन जातानुत्पन्नान् नोऽस्माकं सपत्नान् प्रणुद नाशय। यद्वा सहसा बलेन स्वशक्त्या उत्पन्नान् नः सपत्नान् प्रणुद। अजातान् उत्पत्स्यमानानपि प्रतिनुदस्व। आत्मनेपदमार्षम्। किञ्च, सुमनस्यमानोऽस्मासु शुभचित्तः सन् नोऽस्मानधिब्रूहि। शत्रुभ्योऽधिकान् वद। तथा सति तव सत्यवचनसङ्कल्पत्वात् त्वदधिवदनेन वयं सपत्नेभ्योऽधिकाः स्याम भवेम। नः सपत्नान् भूयो भूयश्च प्रणुद। पुनरुक्तिरादरार्था। सुमनस्यमान इति शोभनं मनो यस्यासौ सुमनाः, असुमनाः सुमना भवतीति सुमनस्यते 'भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः' (पा० सू० ३।१।१२) इत्यभूततद्भावे क्यङ्। लोपाभाव आर्षः। ततः शानच्।

अध्यात्मपक्षे—हे जातवेदः ! जातान् वेत्तीति जातवेदाः, अथवा जाता वेदा अस्माद्वा जातवेदाः परमेश्वरस्तत्सम्बुद्धौ। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे जातवेदः, हे राजन्, त्वं नः सहसा बलेन जातान् सपत्नान् विरोधिनः प्रणुद विजयस्व। तान् प्रत्यजातान् युद्धे अप्रकटान् शत्रुसेविनो मित्रान् जातवेदो जातप्रज्ञान नुदस्व पृथक्कुरु। सुमनस्यमानस्त्वम् अधि नो ब्रूहि विजयोपायविधिमुपदिश। वयं तव सहायाः स्याम। यान्नः सपत्नान् त्वं प्रणुद, तान् वयमपि प्रणुदेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अल्पज्ञस्योपदेशानधिकारात्, सर्वज्ञस्योपदेशप्रार्थनानुपपत्तेश्च ॥ २ ॥

षोडशी स्तोम ओजो द्रविणं चतुश्चत्वारिꣳशः स्तोमो वर्चो द्रविणम्। अग्नेः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वे अभिगृणन्तु देवाः। स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणा यजस्व ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! पंचदश कला और पक्ष के स्वामी आदित्यरूप षोडश वृत्तिमय स्तोम के प्रभाव से तुम्हें स्थापित करता हूँ। इस स्थल में तेज और धन की प्राप्ति हो। हे इष्टके ! चौवालीस आवृत्ति वाला चतुश्चत्वारिंश स्तोम रूप वज्र कान्तियुक्त धन प्राप्त करावे। रक्षक नाम से युक्त पंचदश कला वाले चन्द्र रूप अग्नि को तुम पूर्ण करने वाली हो, सभी देवता तुम्हारी स्तुति करते हैं। सम्पूर्ण स्तोमपृष्ठ मन्त्रों के प्रभाव से होमे हुए घृत से संयुक्त होकर तुम इस चौथी चिति के ऊपर ठहरो, हमें इस अनुष्ठान के फलस्वरूप पुत्र और धन की प्राप्ति कराओ ॥ ३ ॥

अथ दक्षिणत उपदध्यात्। इष्टकादेवत्यं यजुः। हे इष्टके, यस्यास्तव षोडशी पञ्चदशकलस्य पक्षस्य भर्ता य आदित्यरूपः स्तोमः षोडशावृत्त्युपेतो वा यः स्तोमः, यच्च ओजो बलरूपं द्रविणं धनं त्वं तदुभयरूपासि तां त्वामुपदधामि। अथोत्तरत उपदध्यात्। इष्टकादेवत्यं यजुः। हे इष्टके, यस्यास्तव चतुश्चत्वारिंशस्त्रिष्टुप् वज्राक्षरसम्मितः स्तोमश्चतुश्चत्वारिंशदावृत्त्या सम्पन्नो वा यः स्तोमः, यच्च वर्चोरूपं द्रविणं धनं तदुभयरूपां त्वामुपदधामि। अथ मध्ये पञ्चमीमुपदध्यात्। त्रिष्टुप्। अप्सः, न प्साति भक्षयति विनाशयतीत्यप्सो रक्षको नाम, 'प्सा भक्षणे', योऽग्निस्तस्याग्नेश्चन्द्ररूपस्य पञ्चदशकलस्य पुरीषमसि पूरयित्री भवसि। हे इष्टके, या

एवंविधा त्वं तां त्वां विश्वेदेवा अभिगृणन्तु स्तुवन्तु । स्तोमाः पृष्ठाश्च सन्ति यस्यां सा स्तोमपृष्ठा । अर्शआद्यच् । अर्थात् स्तोमैः पृष्ठैश्च युता । घृतवती घृतमस्ति यस्यां सा होष्यमाणघृतयुक्ता । सा त्वमिह चतुर्थ्यां चितौ सीद उपविश । अस्मे अस्मासु प्रजावत् पुत्रयुतं द्रविणं धनं यजस्व देहि ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ दक्षिणतः । षोडशी स्तोम ओजो द्रविणमित्येकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप् त्रैष्टुभमन्तरिक्षं चतस्रो दिश एष एव वज्रः पञ्चदशस्तस्यासावेवादित्यः षोडशी वज्रस्य भर्ता स एतेन पञ्चदशेन वज्रेणैतया त्रिष्टुभा दक्षिणतः पाप्मानमपाहत तथैवैतद्यजमान एतेन पञ्चदशेन वज्रेणैतया त्रिष्टुभा दक्षिणतः पाप्मानमपहते' (श० ८।५।१।१०) । षोडशिमन्त्रोपात्तास्त्रिष्टुभोऽन्तर्गता इति दर्शयति—षोडशी स्तोम इत्यादिना । त्रैष्टुभमन्तरिक्षमिति त्रिष्टुभो विकारभूतं त्रिष्टुभा वा सम्मितम्, दश दिश एकादशमन्तरिक्षं रुद्रायतनं चेति कृत्वा । तत्र उदयन्नेव सूर्यो मणिः, स च दश दिशोऽपेक्ष्य एकादशः । सूर्येणैव दिशो विभागाद् महत्यो दिशश्चतस्र इति पञ्चदशः । पञ्चदशपरिमाणमस्य वज्रस्येति पञ्चदशः । उत्पत्त्यैवं वज्रमात्रेण प्रत्ययो द्रष्टव्यः । तस्य च वज्रं यस्य पञ्चदशादित्यो भर्ता स च षोडशी । षोडशानां पूरण इत्येतस्मिन्नर्थे णिनिः । अथवा षोडशं स्थानमस्य यजमानस्यास्तीति षोडशी यजमानः । मत्वर्थीय एव णिनिः । एवं षोडश्युपादानेनैव वज्र इति त्रिष्टुभोऽनुपातं दर्शयित्वा प्रजापतिरेतेन ब्रूते, इमं मन्त्रार्थं दर्शयति । यः षोडशी स्तोम इति त्रिष्टुब् वज्रस्तं पाप्मानमपहते यद्येतेनोपधेयमुपदधातीति । एवमुत्तरत्रापि यश्चतुश्चत्वारिंशो वज्रस्तमुपदधामीति मन्त्रार्थः । अर्थे हि तद्यदेताभिरपाहतेतीष्टकाभिरपयातो दर्शितः । तेन मन्त्रे इष्टका वज्रात्मिका दर्शनीया इति । 'अथोत्तरतः । चतुश्चत्वारिꣳशस्तोमो वर्चो द्रविणमिति चतुश्चत्वारिꣳशदक्षरा वै त्रिष्टुप् त्रैष्टुभो वज्रः स एतेन चतुश्चत्वारिꣳशेन वज्रेणैतया त्रिष्टुभोत्तरतः पाप्मानमपाहत तथैवैतद्यजमान एतेन चतुश्चत्वारिꣳशेन वज्रेणैतया त्रिष्टुभोत्तरतः पाप्मानमपहते' (श० ८।५।१।११) । त्रिष्टुप्सम्मितो वज्रः, त्रिष्टुप् च चतुश्चत्वारिंशदक्षरा चतुर्भिः पादैः । तदुपहितवदेव वज्रः, एकैका दिगित्येवं संगृह्य एकादशं रुद्रस्थानमन्तरिक्षमपि चतुर्भिः पादैश्चतुश्चत्वारिंशद् भवति । 'अथ मध्ये । अग्नेः पुरीषमसीति ब्रह्म वै चतुर्थी चितिरग्निरु वै ब्रह्म तस्या एतत्पुरीषमिव यत्पञ्चम्यप्सो नामेति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ८।५।१।१२) । अग्निरु वै ब्रह्मेति चतुर्थ्यां चितौ ब्रह्मोपहितं तदग्न्यात्मकमिति दर्शयति । किंदेवत्या पुनरेषा ? पुरीषवती चन्द्रावतीति । अनन्तरं पूर्यते हैषा चन्द्रमाश्च दैवमन्नमिति । तथा च 'अप्सो नाम' इति मन्त्रवर्णस्य रसो नामेत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे राजराजेश्वरि, पञ्चदशकलस्य पक्षस्य भर्ता य आदित्यरूपः स्तोमः षोडशावृत्त्युपेतो वा यः स्तोमः, यच्च ओजो बलं द्रविणं धनं तदुभयरूपा त्वमसि । तां त्वामुपाश्रये । प्रशस्तानि षोडशाक्षराणि वा सन्ति स्वररूपाणि, उच्चारणे परानपेक्षत्वात्, यस्मिन् स मन्त्रस्तोमः स्तुतिसमूहरूपः, ओजो लोकोत्तरसामर्थ्यरूपं द्रविणमनन्तैश्वर्यं तत्सर्वं त्वमेवासि । चतुश्चत्वारिंशदावृत्त्या सम्पन्नो यः स्तोमस्त्रिष्टुब्रूपो वा यच्च वर्चस्तेजो यच्च द्रविणं तद्रूपा त्वमसि । यश्चाविनाशको नाम (जाठररूपेण धारकः) प्रसिद्धोऽग्निः, तस्य चन्द्ररूपस्य पञ्चदशकलस्य च पुरीषं पूरयित्री भवसि । हे देवि, यां त्वां विश्वेदेवा अभिगृणन्तु स्तुवन्ति स्तोमैः पृष्ठैः सामविशेषैश्च युता स्तुता सती त्वमिह भक्तहृदये सीद । अस्मभ्यं प्रजायुक्तं द्रविणं च देहि ।

दयानन्दस्तु—'यः षोडशी प्रशस्ताः षोडशकलाः सन्ति यस्मिन् स स्तोमः स्तोतुमर्हं ओजः पराक्रमः, द्रविणं धनं यश्चत्वारिंश एतत्संख्यापूरको ब्रह्मचर्यव्यवहारकरः स्तोमो स्तुवन्ति येन स नाम प्रसिद्धं द्रविणं च ददाति, योऽग्नेः पुरीषं पूर्तिकरं प्राप्तोऽप्सो न विद्यते परपदार्थस्य प्सो भक्षणं यस्य सः, तं त्वां तां च विश्वेदेवा अभिगृणन्तु । सा त्वं स्तोमपृष्ठा स्तोमाः पृष्ठा ज्ञापयितुमिष्टा यस्याः सा घृतवती सतीह गृहाश्रमे सीद । अस्मे

अस्मभ्यं प्रजावद् द्रविणं च आयजस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, षोडशी षोडशकलासम्पन्नः कोऽत्र वर्णितः ? इति तदनिरूपणात्। स्तोमशब्दस्य स्तोतुमर्हं इति कथमर्थः ? चत्वारिंश इत्यस्य ब्रह्मचर्यव्यवहारकर इति कथमर्थः ? कथं च स तत्संख्यापूरकः ? किं च तत्प्रमाणमित्याद्यनुक्तेश्च। वर्चं इत्यस्य अध्ययनमर्थोऽप्यसाम्प्रतम्। स्तोमपृष्ठाघटकपृष्ठपदस्य ज्ञापयितुमिष्टेत्यर्थोऽपि निर्मूल एव ।। ३ ॥

एवश्छन्दो वरिवश्छन्दः शम्भूश्छन्दः परिभूश्छन्द आच्छच्छन्दो मनश्छन्दो व्यचश्छन्दः सिन्धुश्छन्दः समुद्रश्छन्दः सरिरं छन्दः ककुप् छन्दस्त्रिककुप् छन्दः काव्यं छन्दो अङ्कुपं छन्दोऽक्षरपङ्क्तिश्छन्दः पदपङ्क्तिश्छन्दो विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः क्षुरोभ्रजश्छन्दः ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! जिसमें सब प्राणी चलते हैं, ऐसे भूलोक को मनन करते हुए तुम्हें मैं स्थापित करता हूँ। प्रभामण्डल से व्याप्त अन्तरिक्ष लोक को, सुखदायक द्युलोक को, सब ओर से व्याप्त कर वर्तमान दिशाओं को, अपने रस से शरीर को आच्छादित करने वाले अन्न को, प्रजापति रूप मन को, सब जगत् को व्याप्त करने वाले आदित्य को, नाड़ियों द्वारा शरीर को व्याप्त करने वाले प्राण वायु को, समुद्र के समान गम्भीर विकल्पयुक्त मन को, मुख से निकलने वाली वाणी को, शरीर को धारण करने वाले प्राण को, पिये हुए जल को परिणत करने वाले उदान को, तीन वेदों को, कुटिल गति से चलने वाले जल को, नाशरहित स्वर्गलोक को, चरण रखने के स्थान भूलोक को, सकल वस्तुओं के विस्तार स्थान पाताल को, तीव्रता से आकाश में चमकने वाले विद्युत्पुञ्ज को और आदित्य को मनन करते हुए सावधानी से मैं तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ४ ॥

'विराजो दश दश प्रतिदिशं पुरस्तात् प्रथममेवश्छन्द इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।११।५)। ततः सर्वासु दिक्षु दश दश सपत्नासंलग्ना अनूकमभितो विराट्संज्ञका इष्टका उपदध्यात्। ताश्च चत्वारिंशत्पद्या एवेति सूत्रार्थः। चत्वारिंशद्यजूंषि इष्टकादेवत्यानि। एवः, एति गच्छति सर्वजन्तुसमूहो यस्मिन्नित्येवः पृथिवीलोकः, स एव छन्दोरूपेण स्थितत्वात् छादकत्वाद्वा छन्दः। हे इष्टके ! त्वं तद्रूपासि, तां त्वामुपदधामीति शेषः। एवमुत्तरमन्त्रेषु श्रुत्युक्ता व्याख्या ज्ञेया, 'अयं वै लोक एवश्छन्दः' (श० ८।५।२।३) इति श्रुतेः। वरिवश्छन्दः, व्रियते आव्रियते प्रभामण्डलेनेति वरिवोऽन्तरिक्षं स एव छन्दः, 'अन्तरिक्षं वै वरिवश्छन्दः' (श० ८।५।२।३) इति श्रुतेः। शम्भूश्छन्दः शं सुखं भवत्यस्मादिति शम्भूर्द्युलोकः, 'द्यौर्वै शम्भूश्छन्दः' (श० ८।५।२।३) इति श्रुतेः। परिभूश्छन्दः परितो भवति व्याप्य वर्तत इति परिभूर्दिग्वाचकः, 'दिशो वै परिभूश्छन्दः' (श० ८।५।२।३) इति श्रुतेः। आच्छच्छन्दः, आच्छादयति स्वरसेन सर्वं शरीरमित्याच्छदन्नम्, 'अन्नं वा आच्छच्छन्दः' (श० ८।५।२।३) इति श्रुतेः। मनश्छन्दः प्रथमसृष्टं प्रजापत्यात्मकं यन्मनस्तदेव छन्दः, तद्रूपासि, 'प्रजापतिर्वै मनश्छन्दः' इति श्रुतेः। व्यचश्छन्दः, व्यचतिर्व्याप्तिकर्मा, विचति व्याप्नोति सर्वं जगदिति व्यच आदित्यः, 'असौ वा आदित्यो व्यचः' इति श्रुतेः। सिन्धुश्छन्दः स्यन्दते नाडीभिः शरीरं व्याप्नोतीति सिन्धुः प्राणवायुः, 'प्राणो वै सिन्धुश्छन्दः' (श० ८।५।२।४) इति श्रुतेः। समुद्रश्छन्दः समुद्द्रवन्त्यस्माद्विकल्पसमूहा इति समुद्रो मनः, 'मनो वै समुद्रः' इति श्रुतेः। यद्वा समुद्रसाम्याद् गाम्भीर्येण समुद्रो मनः। सरिरं छन्दः, सरिरं सलिलम्, रलयोरैक्यम्, सरति वदनगह्वरान्निर्गच्छतीति सरिरं वाक्, 'वाग्वै सरिरं छन्दः' इति श्रुतेः। ककुप्छन्दः कं सुखं शरीरे स्कुभ्नाति धारयतीति ककुप् प्राणः, सलोपश्छान्दसः, 'प्राणो वै ककुप्छन्दः' इति श्रुतेः। त्रिककुप्छन्दः त्रेधा कं पीतमुदकं स्कुभ्नातीति त्रिककुब् उदानः, 'उदानो वै त्रिककुप्छन्दः' इति श्रुतेः। काव्यं छन्दः कवेः क्रान्तदर्शिनः परमात्मन इदं काव्यं वेदत्रयीरूपं छन्दः, 'त्रयी विद्या काव्यꣳ छन्दः' इति

श्रुतेः। अङ्कुपं छन्दः। 'अकि कुटिलायां गतौ'। अङ्केन कुटिलगत्या आप्नोतीति अङ्कुपम् उदकम्, 'आपो वा अङ्कुपं छन्दः' इति श्रुतेः। अक्षरपङ्क्तिश्छन्दः, न क्षरतीत्यक्षरा नाशरहिता पङ्क्तिर्नक्षत्राणामावलिर्यस्या सा अक्षरपङ्क्तिर्द्यौः, 'असौ वै लोकोऽक्षरपङ्क्तिः' इति श्रुतेः। पदपङ्क्तिश्छन्दः पदानां चरणन्यासानां पङ्क्तयो यस्मिन्नसौ पदपङ्क्तिर्भूलोकः, 'अयं वै लोकः पदपङ्क्तिश्छन्दः' इति श्रुतेः। विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः, विस्तीर्यंत इति विस्तारा विस्तारिता प्रसारिता वस्तूनां पङ्क्तयो यत्रेति विष्टारपङ्क्तिर्दिक्, 'दिशो वै विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः' इति श्रुतेः। क्षुरोभ्रजश्छन्दः क्षुरति विलिखति व्याप्नोतीति वा क्षुरम्, भ्राजते दीप्यत इति भ्रजः, छान्दसो ह्रस्वः, क्षुरं तीव्रं यथा स्यात्तथा भ्रजः क्षुरोभ्रजः, छान्दस ओभावः, आदित्यः, 'असौ वा आदित्यः क्षुरोभ्रजश्छन्दः' (श० ८।५।२।४) इति श्रुतेः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ छन्दस्या उपदधाति। एतद्वै प्रजापतिः पाप्मनो मृत्योर्मुक्त्वाऽन्नमैच्छत् तस्मादु हैतदुपतापी वसीयान् भूत्वाऽन्नमिच्छति तस्मिन्नाशꣳसन्तेऽन्नमिच्छति जीविष्यतीति तस्मै देवा एतदन्नं प्रायच्छन्नेताश्छन्दस्याः पशवो वै छन्दाꣳस्यन्नं पशवस्तान्यस्मा अच्छदयंस्तानि यदस्मा अच्छदयंस्तस्माच्छन्दाꣳसि' (श० ८।५।२।१) प्रजापतिः पाप्मनो मृत्योरात्मानं मुक्त्वा मोचयित्वा अधियज्ञमेवान्नमैच्छत्। तस्मादु हैतदुपतापी उपतप्यतेऽनेनेत्युपतापो रोगः, सोऽस्यास्तीत्युपतापी आतुरः, वसीयान् भूत्वा, वसुशब्दः प्रशस्तवाची, तत ईयसुनि वसीयानिति। अत्र प्रशस्तता च रोगनिर्मुक्तौ सत्यां स्वस्थतायां पर्यवस्यति। ततश्च यथा प्रजापतिर्मृत्युमुक्तः सन् स्वस्थतायै अन्नमैच्छत्, तथैवाधुनातनोऽपि जनो रोगनिर्मुक्तो भूत्वा स्वस्थतायै अत्तुं वाञ्छति। तथा सति तत्पार्श्वस्था अयं जीवितं कामयते, अन्नमिच्छतीति मत्वा तस्मै अन्नं पचन्ति। तस्मै प्रजापतये एतदधियज्ञात्मकमन्नं छन्दस्यारूपं देवा दत्तवन्तः। एतदुक्तं भवति—एता इष्टकाश्छन्दांसि पश्वात्मकानि, पशवोऽन्नात्मकाः, तथा च छन्दस्येष्टकोपधानेन प्रजापतिशरीरमेवोपदधात्येवं मन्त्रार्थं श्रुतिर्दर्शयति। एवमुत्तरेष्वपि द्रष्टव्यम्। तानि छन्दांस्यस्मै प्रजापतयेऽच्छदयन्नाराधयन्नित्यर्थः। 'ता दश दशोपदधाति। दशाक्षरा विराड् विराड् कृत्स्नमन्नꣳ सर्वमेवास्मिन्नेतत्कृत्स्नमन्नं दधाति सर्वत उपदधाति सर्वत एवास्मिन्नेतत्कृत्स्नमन्नं दधाति' (श० ८।५।२।२)। 'एवश्छन्द इति। अयं वै लोक एवश्छन्दो वरिवश्छन्द इत्यन्तरिक्षं वै वरिवश्छन्दः शम्भूश्छन्द इति द्यौर्वै शम्भूश्छन्दः परिभूश्छन्द इति दिशो वै परिभूश्छन्द आच्छच्छन्द इत्यन्नं वा आच्छच्छन्दो मनश्छन्द इति प्रजापतिर्वै मनश्छन्दो व्यचश्छन्द इत्यसौ वा आदित्यो व्यचश्छन्दः' (श० ८।५।२।३)। 'सिन्धुश्छन्द इति। प्राणो वै सिन्धुश्छन्दः समुद्रश्छन्द इति मनो वै समुद्रश्छन्दः सरिरं छन्द इति वाग्वै सरिरं छन्दः ककुप्छन्द इति प्राणो वै ककुप्छन्दस्त्रिककुप्छन्द इत्युदानो वै त्रिककुप्छन्दः काव्यं छन्द इति त्रयी वै विद्या काव्यं छन्दोऽङ्कुपं छन्द इत्यापो वा अङ्कुपं छन्दोऽक्षरपङ्क्तिश्छन्द इत्यसौ वै लोकोऽक्षरपङ्क्तिश्छन्दः पदपङ्क्तिश्छन्द इत्ययं वै लोकः पदपङ्क्तिश्छन्दो विष्टारपङ्क्तिश्छन्द इति दिशो वै विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः क्षुरोभ्रजश्छन्द इत्यसौ वा आदित्यः क्षुरोभ्रजश्छन्द आच्छच्छन्दः प्रच्छच्छन्द इत्यन्नं वा आच्छच्छन्दोऽन्नं प्रच्छच्छन्दः' (श० ८।५।२।४)। इमाः कण्डिका मन्त्रव्याख्यानेनैव व्याख्याताः।

अध्यात्मपक्षे—हे राजराजेश्वरि त्रिपुरसुन्दरि, त्वमेवश्छन्दो भूलोकरूपासि। त्वमेव वरिवश्छन्दोऽन्तरिक्षलोकरूपासि। अन्यत्सर्वं पूर्ववदेव व्याख्येयम्, सार्वात्म्यविवक्षया तस्या एव सर्वरूपत्वप्रतिपादनात्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं परमप्रयत्नेन एवो ज्ञानं छन्द आनन्दं वरिवः सत्यसेवनं छन्दः सुखप्रदं शम्भूः सुखं भावुकश्छन्द आह्लादकारी व्यवहारः परिभूः सर्वतः पुरुषार्थी छन्दः सत्यदीपक आच्छच्छन्दो मनश्छन्दो व्यचश्छन्दः सिन्धुश्छन्दः समुद्रश्छन्दः क्षुरोभ्रजश्छन्दः सुखाय साध्नुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, छन्दआदिशब्दानां व्याख्यानस्य निर्मूलत्वात्, श्रुतिविरोधाच्च ॥ ४ ॥

आच्छच्छन्दः प्रच्छच्छन्दः संयच्छन्दो वियच्छन्दो बृहच्छन्दो रथन्तरं छन्दो निकायश्छन्दो विवधश्छन्दो गिरश्छन्दो भ्रजश्छन्दः सँस्तुप्छन्दोऽनुष्टुप् छन्द एवश्छन्दो वरिवश्छन्दो वयश्छन्दो वयस्कृच्छन्दो विष्पर्धाश्छन्दो विशालं छन्दश्छदिश्छन्दो दूरोहणं छन्दस्तन्द्रं छन्दोऽङ्काङ्कं छन्दः ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! शरीर के आच्छादक अन्न को, शरीर के प्रच्छादक जल को, व्यापार की निवारक रात्रि को, विशेष व्यापार के प्रवर्तक दिन को, रथ आदि के गमनस्थान भूलोक को, अत्यन्त शब्दकारक वायु को, भूत-प्रेत आदि के निवासस्थान अन्तरिक्ष लोक को, भक्षणयोग्य अन्न को, प्रकाशवान् अग्नि को, वैखरी और मध्यमा वाणी को, पृथ्वी लोक को, प्रभामण्डल को, बाल्य आदि अवस्था के हेतु अन्न को, जठराग्नि को, विविध ऐश्वर्य वाले स्वर्ग लोक को, स्पर्धामूलक अहंतत्त्व को, मनुष्यों के निवासस्थान भूलोक को, सूर्य की किरणों से आच्छादित अन्तरिक्ष लोक को, ज्ञान और अज्ञान को, आस्तिकता के निदर्शक अथवा गर्त, पाषाण आदि से युक्त जल को भक्तिभावपूर्वक स्मरण करते हुए मैं तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ५ ॥

आच्छादयति शरीरमित्याच्छद् अन्नम्, प्रच्छादयति शरीरमिति प्रच्छदन्नम्, 'अन्नं वा आच्छच्छन्दोऽन्नं प्रच्छच्छन्दः' (श० ८।५।२।४) इति श्रुतेः। संयत् संयच्छति व्यापारान्निवर्तयति जन्तूनिति संयद् रात्रिः, 'रात्रिर्वै संयच्छन्दः' (श० ८।५।२।५) इति श्रुतेः। वियद् विशेषेण यच्छन्ति गच्छन्ति व्यापारायेतस्ततो जना यत्रेति वियद् दिनम्, 'अहर्वै वियच्छन्दः' इति श्रुतेः। बृहद् विस्तीर्णं स्वः, 'असौ वै लोको बृहच्छन्दः' इति श्रुतेः। रथन्तरं रथैस्तीर्यते स्थानात् स्थानान्तरं गम्यते यत्र तद् रथन्तरं भूमण्डलम्, 'अयं वै लोको रथन्तरं छन्दः' इति श्रुतेः। निकायो नितरां कायति शब्दं करोति वृक्षादीनुन्मूलयन्निति निकायो वायुः, 'वायुर्वै निकायश्छन्दः' इति श्रुतेः। विवधो विविधं वध्यन्ते हन्यन्ते पापफलानि भोज्यन्ते भूतप्रेतादिरूपेण प्राणिनो यत्रेति विवधोऽन्तरिक्षम्, 'अन्तरिक्षं वै विवधश्छन्दः' इति श्रुतेः। गिरो गीर्यते भक्ष्यत इति गिरोऽन्नम्, 'अन्नं वै गिरः' (श० ८।५।२।५) इति श्रुतेः। भ्रजो भ्राजते दीप्यत इति भ्रजोऽग्निः, 'अग्निर्वै भ्रजश्छन्दः' इति श्रुतेः। संस्तुप्छन्दोऽनुष्टुप्छन्दः सम्यक् स्तुभ्यते रुध्यते वशीक्रियतेऽनयेति संस्तुप्, अनु निरन्तरं स्तुभ्यते वशीक्रियतेऽनयेत्यनुष्टुब् वाक्, 'वागेव सँस्तुप्छन्दो वागनुष्टुप्छन्दः' इति श्रुतेः। एवः, वरिव इति पदद्वयं पूर्वस्यां कण्डिकायां व्याख्यातम्। वयो बाल्यादिवयोहेतुभूतमन्नम्, 'अन्नं वै वयश्छन्दः' इति श्रुतेः। वयस्कृद् वयांसि बाल्यादीनि करोतीति वयस्कृद् जाठराग्निः, 'अग्निर्वै वयस्कृत्' इति श्रुतेः। विष्पर्धा विविधं स्पर्धन्ते ऐश्वर्याधिक्यदर्शनेन जना यत्रासौ विष्पर्धाः स्वर्गः, 'असौ वै लोको विष्पर्धाश्छन्दः' इति श्रुतेः। विशालं विशन्ति जना यत्रेति विशालं भूतलम्, 'तमिविशि' इत्यादिना औणादिकः कालन्प्रत्ययः, 'अयं वै लोको विशालं छन्दः' इति श्रुतेः। छदिश्छाद्यतेऽर्करश्मिभिरिति छदिरन्तरिक्षम्, 'अन्तरिक्षं वै छदिश्छन्दः' इति श्रुतेः। दूरोहणं दुःखेन रोढुमारोहणं कर्तुं शक्यं निष्कामज्योतिष्टोमादियज्ञप्रयासजातज्ञानसाध्यत्वादिति दूरोहणं रविः, 'असौ वा आदित्यो दूरोहणं छन्दः' इति श्रुतेः। तन्द्रं तद् द्राति कुत्सितं सीदति स्थानसङ्कोचेनेति तन्द्रं श्रेणी, 'स्पृहिगृहि' (पा० सू० ३।२।१५८) इत्यादिना तदो नान्तत्वं निपात्यते, 'पङ्क्तिर्वै तन्द्रं छन्दः' इति श्रुतेः। अङ्काङ्कम् अङ्के स्थले अङ्कानि गर्तपाषाणादिचिह्नानि यत्रेत्यङ्काङ्कं जलम्, 'आपो वा अङ्काङ्कं छन्दः' इति श्रुतेः। अत्रेष्टकानां भूलोकादिरूपेण स्तुतिः।

अत्र ब्राह्मणम्—'संयच्छन्द इति। रात्रिर्वै संयच्छन्दो वियच्छन्द इत्यहर्वै वियच्छन्दो बृहच्छन्द इत्यसौ वै लोको बृहच्छन्दो रथन्तरं छन्द इत्ययं वै लोको रथन्तरं छन्दो निकायश्छन्द इति वायुर्वै निकायश्छन्दो विवधश्छन्द इत्यन्तरिक्षं वै विवधश्छन्दो गिरश्छन्द इत्यन्नं वै गिरश्छन्दो भ्रजश्छन्द इत्यग्निर्वै भ्रजश्छन्दः सꣳस्तुप्छन्दोऽनुष्टुप्छन्द इति वागेव सꣳस्तुप्छन्दो वागनुष्टुप्छन्द एवश्छन्दो वरिवश्छन्द इति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ८।५।२।५)। सुप्रसन्ना कण्डिका। 'वयश्छन्द इति। अन्नं वै वयश्छन्दो वयस्कृच्छन्द इत्यग्निर्वै वयस्कृच्छन्दो विष्पर्धाश्छन्द इत्यसौ वै लोको विष्पर्धाश्छन्दो विशालं छन्द इत्ययं वै लोको विशालं छन्दश्छदिश्छन्द इत्यन्तरिक्षं वै छदिश्छन्दो दूरोहणं छन्द इत्यसौ वा आदित्यो दूरोहणं छन्दस्तन्द्रं छन्द इति पङ्क्तिर्वै तन्द्रं छन्दोऽङ्काङ्कं छन्द इत्यापो वा अङ्काङ्कं छन्दः' (श० ८।५।२।६)। इयमपि सुप्रसन्ना।

अध्यात्मपक्षे—हे राजराजेश्वरि परचिते, त्वम् अच्छत् प्रच्छदन्नादिरूपासि तां त्वामुपाश्रये। एवमन्यदपि पूर्ववदेव व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'मनुष्यैराच्छच्छन्दः प्रच्छच्छन्दः स्वीकृत्य प्रचार्यं प्रयतितव्यम्। आच्छद् आसमन्तात् पापनिवारकं कर्म छन्दः प्रकाशनं प्रच्छत् प्रयत्नेन दुष्टस्वभावदूरीकरणार्थं कर्म छन्द उत्साहनम्' इत्यादिकमाह। तत्सर्वं निर्मूलमेव, श्रुतिविरुद्धं चेत्युपेक्षणीयमेव ॥ ५ ॥

र॒श्मिना॑ स॒त्याय॑ स॒त्यं जि॑न्व॒ प्रेति॑ना॒ धर्म॑णा॒ धर्मं॑ जिन्वा॒न्वित्या॑ दि॒वा दिवं॑ जिन्व स॒न्धिना॒ऽन्तरि॑क्षेणा॒न्तरि॑क्षं जिन्व प्रति॒धिना॑ पृथि॒व्या पृ॑थि॒वीं जि॑न्व विष्ट॒म्भेन॒ वृष्ट्या॒ वृष्टिं॑ जिन्व प्र॒वया॒ह्नाह॑र्जिन्वानु॒या रात्र्या॒ रात्रीं॑ जिन्वो॒शिजा॒ वसु॑भ्यो॒ वसू॑न् जिन्व प्रके॒तेना॑दि॒त्येभ्य॑ आदि॒त्यान् जि॑न्व ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! तुम अन्न के प्रभाव से सत्य के निमित्त सत्यवाणी से प्रीति करो, देह में गति वाले अन्न के प्रभाव से धर्म के निमित धर्म से प्रीति करो, दिव्य लोक के निमित्त द्युलोक से प्रीति करो, बल आदि के आधार अन्न के प्रभाव से अन्तरिक्ष के निमित्त अन्तरिक्ष से प्रीति करो, प्रत्येक इन्द्रिय के आधार अन्न के प्रभाव से अन्तरिक्ष के निमित पृथ्वी से प्रीति करो, देहादि का स्तम्भन करने वाले अन्न के प्रभाव से वृष्टि के निमित्त वर्षा से प्रीति करो, देह में गमनागमन करने वाले अन्न के प्रभाव से दिन के निमित दिन से प्रीति करो, देहान्तर्गत बहत्तर नाडियों में गमनागमन करने वाले अन्न के प्रभाव से रात्रि के निमित्त रात्रि से प्रीति करो, समस्त प्राणियों के वांछनीय अन्न के प्रभाव से वसुगणों के निमित्त उनसे प्रीति करो, सुखानुभूति के कारण अन्न के प्रभाव से आदित्यों के निमित्त आदित्यों से प्रीति करो ॥ ६ ॥

'सर्वतोऽषाढावेलायाꣳ स्तोमभागा रश्मिना सत्यायेति प्रतिमन्त्रम्, पञ्चदश दक्षिणेनानूकम्' (का० श्रौ० १७।११।९-१०)। अषाढावेलायां सर्वासु दिक्षु स्तोमभागसंज्ञका एकोनत्रिंशदिष्टका रश्मिनेत्याद्येकोनत्रिंशन्मन्त्रैरुपदध्यात्। तन्मध्ये पञ्चदश स्तोमभागा इष्टकाः प्रागनूकं दक्षिणेन चतुर्दश प्रागनूकमुत्तरेणोपदध्यादिति सूत्रार्थः। एकोनत्रिंशद्यजूंषीष्टकादेवत्यानि। इमे मन्त्राः श्रुत्या त्रिधा व्याख्याताः। तत्र कण्डिकाद्वयपर्यन्तममुनोपहिता सती अदो जिन्वेति प्रथमः प्रकारः। अदोऽस्यमुष्मै त्वामुपदधामीति द्वितीयः प्रकारः। अधिपतिनोर्जोर्जं जिन्वेति तृतीयः प्रकारः। तथा च हे इष्टके, त्वं रश्मिना तेजोरूपेणान्नेन सत्याभिमानिदेवतार्थमुपहिता सती सत्यं जिन्वती प्रीणय। यद्वा सत्यायोपहिता सती सत्यं वचस्तर्पय।

तेजोवृद्धिप्रदत्वादन्नं रश्मिः, 'रश्मिरन्नम्' (श० ८।५।३।३) इति श्रुतेः। प्रेतिना प्रकर्षेण देहमेति गच्छतीति प्रेतिरन्नम्, तेन। 'धर्मणा' इत्यत्र विभक्तिव्यत्ययः। धर्मणा धर्मायोपहिता सती धर्मं जिन्व प्रीणयेति प्रकारेण सम्बन्धः। परस्तात् सर्वमन्त्रेषु द्वितीयं पदं चतुर्थ्यन्तं कार्यम्। अन्वित्या अन्वेति देहमनुगच्छतीत्यन्वितिरन्नम्, तया दिवा दिवेऽर्थाय दिवं जिन्व प्रीणय, 'अन्वितिरन्नम्' इति श्रुतेः। सन्धिना सम्यग् बलादिकं धीयतेऽस्मिन्निति सन्धिरन्नम्, तेन। अन्तरिक्षेण अन्तरिक्षाय उपहिता सती अन्तरिक्षं जिन्व। प्रतिधिना प्रतिधीयतेऽस्मिन्निति प्रतिधिरन्नम्, तेन। पृथिव्या पृथिव्यै उपहिता सती पृथिवीं जिन्व। विष्टम्भेन विष्टम्भयति धारयति देहमिति विष्टम्भोऽन्नं तेन। वृष्ट्या वृष्ट्यै उपहिता सती वृष्टिं जिन्व। प्रवया प्रकर्षेण वाति देहं गच्छतीति प्रवा अन्नम्, तया। अह्ना अह्ने उपहिता सती अहर्दिनं जिन्व। अनुया देहान्तर्गतद्वासप्तति-नाडीभिरनुयात्याप्नोति देहमित्यनुया अन्नम्, तया। तृतीयैकवचने 'आतो धातोः' (पा० सू० ६।४।१४०) इत्याकारलोपः। रात्र्या रात्र्यै उपहिता सती रात्रीं जिन्व। उशिजा उश्यते सर्वैः काम्यत इत्युशिगन्नम्, तेन। 'वश कान्तौ'। वसुभ्योऽर्थायोपहिता सती वसून् जिन्व। प्रकेतेन प्रकर्षेण कं सुखमीयतेऽनेनेति प्रकेतमन्नं तेन आदित्येभ्योऽर्थाय उपहिता सती आदित्यान् जिन्व।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ स्तोमभागा उपदधाति। एतद्वै प्रजापतेरेतदन्नमिन्द्रोऽभ्यध्यायत् सोऽस्मादुदचिक्रमिषत् तमब्रवीत् कथोत्क्रामसि कथा मा जहासीति स वै मेऽस्यान्नस्य रसं प्रयच्छेति तेन वै मा सह प्रपद्यस्वेति तथेति तस्मा एतस्यान्नस्य रसं प्रायच्छत् तेनैनꣳसह प्रापद्यत' (श० ८।५।३।१)। अथ स्तोमभागा इति। उपदधातीत्यतः परेणेतिहासेन तासामधिदैवं निरूपयन्नाह—एतद्वा इति। पूर्वमेतद्वै छन्दस्यात्मकं प्रजापतेरन्नमासीत्। तदिन्द्रः प्राणोऽभिध्यातवान्। स इन्द्रोऽस्मात्प्रजापतेरपक्रमितुमैच्छत्। तमिन्द्रं प्रजापतिरब्रवीत् कथा केन हेतुना मा पितरं जहासीति स प्रजापतिमुवाच अस्यान्नस्य छन्दस्यात्मकस्य रसं प्रयच्छेति। प्रजापतिरुवाच तेन रसेन सहैव त्वं मा मां प्रपद्यस्व, अर्थाद् मच्छरीररस एव भव। तथेत्यङ्गीकृते प्रजापतिस्तस्मा इन्द्राय एतस्य छन्दस्यात्मकस्य अधिदैवतया अध्यात्मस्यान्नस्य रसं प्रायच्छत्। तथैवानेन रसेन सहैव एनं प्रजापतिमिन्द्रः प्रपन्नः। 'स यः स प्रजापतिः। अयमेव स योऽयमग्निश्चीयतेऽथ यत्तदन्नमेतास्ताश्छन्दस्या अथ यः सोऽन्नस्य रस एतास्ता स्तोमभागा अथ यः स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः स एष एव स्तोमो यद्धि किञ्च स्तुवत एतमेव तेन स्तुवन्ति तस्मा एतस्मै स्तोमायैतं भागं प्रायच्छत्तद्यदेतस्मै स्तोमायैतं भागं प्रायच्छत्तस्मात् स्तोमभागाः' (श० ८।५।३।२)। स यः स प्रजापतिरिति। प्रजापत्यादीनि मन्त्राद्यात्मकानि शरीराणि दृश्यन्ते। तत्राध्यात्मादि-पक्षत्रयम्। योऽयमग्निश्चीयतेऽथ यत्तदन्नमिति ताश्छन्दस्या इति च तदधियज्ञमधिभूतं च। अथ यः सोऽन्नस्य रसस्ताः स्तोमभागा इत्यध्यात्मम्। यः स इन्द्रोऽसौ स आदित्य इति अधिदैवम्। रसाज्जायमानत्वाद्वाचो वाचैव स्तुवन्ति तदाह—आदित्यश्च स्तोमश्च यद्धि किञ्चित् स्तुवतः, एतमेव तेन स्तुवन्तीति। यतः परमात्मसपत्नकं देवाधिदेवाकारेणावस्थितं ततो भजनीयमित्यत्र हेतुभूतं प्रभवमित्यादिनिर्वचनम्। तथा च यथा प्राणः शरीरे तथा आदित्यमण्डलान्तर्वर्ती पुरुषः स एव वाचा स्तोमरूपेणासञ्जनीयः। तस्यैव भाग इति स्तोमभागशब्दे षष्ठीसमासं दर्शयति—अतः स्तोमस्य भागाः स्तोमभागा इति। आसामिष्टकानां भागवत्त्वात् स्त्रीलिङ्ग-बहुवचनेनोपधेयता।

'रश्मिना सत्याय सत्यं जिन्वेति। एष वै रश्मिरन्नꣳ रश्मिरेतं च तद्रसं च सन्धायात्मन् प्रपादयते प्रेतिना धर्मणा धर्मं जिन्वेत्येष वै प्रेतिरन्नं प्रेतिरेतं च तद्रसं च सन्धायात्मन् प्रपादयतेऽन्वित्या दिवा दिवं जिन्वेत्येष वा अन्वितिरन्नमन्वितिरेतं च तद्रसं च सन्धायात्मन् प्रपादयते तद्यदेतदाह तच्च तद्रसं च सन्धायात्मन् प्रपादयतेऽमुनादो जिन्वादोऽस्यमुष्मै त्वाधिपतिनोर्जोर्जं जिन्वेति त्रेधा विहितास्त्रेधा विहितꣳ ह्यन्नम्' (श० ८।५।३।३)।

स्तोमभागाः, छन्दस्या इत्यादिनिरूढबहुवचनान्तस्त्रीलिङ्गस्य व्युत्पत्तिमप्रदर्श्यैव मन्त्रमात्रपुरस्कारेणैव व्याख्यानमारभ्यते श्रुत्या—रश्मिनेति। एष वै रश्मिरित्यादिनेतिहासार्थं मन्त्राणामभिधानं दर्शयति। विश्वरूपस्य प्रजापतेः सत्यधर्मादिभिराकारैरवस्थितस्य रश्मिः स्थावरजङ्गमात्मकमन्नमादाय सञ्चरति सर्वाश्च प्रत्यङ्गभूता देवता रसेन तर्पयति। न केवलमात्मानं तर्पयति। तथैवायमध्यात्मं प्राणः सर्वान् प्राणान् प्राणिनामात्मानमवान्तररसेन तर्पयतीति प्रजापतिसंवादेन निष्पन्नम्। तच्चैतदधियज्ञमन्त्रेणेष्टकासु दर्शयते श्रुतिः। तत्र प्रथममन्त्रं व्याचष्टे—हे इष्टके, सत्याय सत्यात्मकाय प्रजापतये यदात्मने उपहिता सती सत्यमादित्यं जिन्व तर्पयेति। अत्र श्रुतिकृता व्याख्या—अमुना अदो जिन्वेति अदोऽस्यमुष्मै त्वाधिपतिनोर्जोर्जं जिन्वेति प्रथममन्त्रगणस्य द्विकण्डिकाद्यधिपठितस्य व्याख्यानम्। अमुना रश्मिना अदः सत्यं जिन्व। रश्मिना अन्नेन सत्याय उपहिता सती सत्यं जिन्व तर्पयेति द्वितीयमन्त्रगणस्य व्याख्यानम्। अदोऽसि अमुष्मै त्वा यथा प्रतिपदसि प्रतिपदे त्वा उपदधामीति। अधिपतिनोर्जोर्जं जिन्वेत्यधिपतिना ईश्वरेण ऊर्जा अन्नरसेन ऊर्जमन्नरसं जिन्व तर्पयेत्यर्थः। एवमेते मन्त्रास्त्रिषु स्थानेषु त्रेधा विहिताः। आयुक्ता इष्टकास्त्रेधा विहिताः। त्रेधा विहितमन्नम्। तत्र जङ्गमं तावत् पिता, माता, पुत्र इत्येव। स्थावरं तपो वृष्टिर्बीजमिति। तदनुकारेण मन्त्रोऽपि त्रेधा विहितः। तदनुकारा इष्टका इत्यभिप्रायः।

अध्यात्मपक्षे—हे परचिते, रश्मिना अन्नेन रसाय आराधिता सती सत्यं जिन्व प्रीणय। प्रेतिना अन्नेन धर्मणा धर्मणे धर्माय आराधिता सती धर्मं जिन्व प्रीणय। तादृशीं त्वामुपाश्रये। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, त्वं रश्मिना सत्याय सति वर्तमाने भवाय स्थूलाय पदार्थसमूहाय सूर्य इव नित्यसुखाय सत्यं जिन्व अव्यभिचारि कर्म प्राप्नुहि। प्रेतिना प्रकृष्टविज्ञानयुक्तेन धर्मणा न्यायाचरणेन धर्मं जिन्व जानीहि। अन्वित्या अन्वेषणेन दिवा धर्मप्रकाशेन दिवं सत्यप्रकाशं जिन्व। सन्धिना सन्धानेन अन्तरिक्षेण आकाशेन अन्तरिक्षमवकाशं जिन्व जानीहि। प्रतिधिना प्रतिदधाति यस्मिंस्तेन पृथिव्यां भूगर्भविद्यया पृथिवीं भूमिं जिन्व जानीहि। विष्टम्भेन विशेषेण स्तभ्नोति शरीरं येन तेन वृष्ट्या वृष्टिविद्यया वृष्टिं जिन्व जानीहि। प्रवया कान्तिमता अह्ना अहर्विद्यया अहर्दिनं जिन्व। अनुया यानुयाति तया रात्र्या रात्रिं जिन्व। उशिजा कामयमानेन वसुभ्योऽग्न्यादिभ्यो वसून् अग्न्यादीन् जिन्व। प्रकेतेन प्रकृष्टविज्ञानेन आदित्येभ्यो मासेभ्य आदित्यान् द्वादश मासान् जिन्व' इति, तदपि कल्पनामात्रम्, सत्यशब्दस्य स्थूलपदार्थत्वे मानाभावात्। सूक्ष्मपदार्थानामपि सति भवत्वात्। तथैवाव्यभिचारिकर्मार्थत्वमपि न युज्यते, ज्ञानस्याप्यव्यभिचारित्वोपपत्तेः। कथं च रश्मिशब्दे करणत्वं घटते? प्रेतिना प्रकृष्टविज्ञानयुक्तेन धर्मणा न्यायाचरणेनेत्यपि तथाविधमेव, निर्मूलत्वात्। दिवा धर्मप्रकाशेन दिवं सत्यप्रकाशमित्यपि नार्थः, विनिगमनाविरहात्। इत्थं सर्वत्रास्य स्वेच्छाचारितैव दृश्यते, सर्वत्रैव प्रायः शाब्दन्यायातिपातः। सन्धिनाकाशेन प्रतिधिना सम्बन्धेन विष्टम्भेन शरीरधारणभूतेन अन्नरसेन अवकाशपृथिवीवृष्टीनां कार्यकारणभावासिद्धेः, तत्तच्छब्दानां तत्तदर्थासिद्धेश्च, श्रुतिविरोधश्च। अनुयापदस्य रात्रिः, रात्रिपदस्य रात्रिविद्या, वसुपदस्य वसुविद्या अर्थं इत्यप्यसिद्धम्। लक्षणा गौणी च वृत्तिर्मुख्यार्थबाध एव सम्भवति, प्रकृते तदभावान्न काप्यनुपपत्तिः॥ ६॥

तन्तु॑ना रा॒यस्पोषे॑ण रा॒यस्पोषं॑ जिन्व स॒ꣳसर्पे॑ण श्रु॒ताय॑ श्रु॒तं जि॑न्वै॒डेनौष॑धीभि॒रोष॑धीर्जिन्वोत्त॒मेन॑ त॒नूभि॑स्त॒नूर्जि॑न्व वयो॒धसाधी॑ते॒नाधी॑तं जिन्वाभि॒जिता॒ तेज॑सा॒ तेजो॑ जिन्व॥ ७॥

मन्त्रार्थ—शरीर के वर्धक अन्न के प्रभाव से धन की पुष्टि के लिये धन की पुष्टि से प्रीति करो, प्रत्येक इन्द्रिय में फैलने वाले अन्न के प्रभाव से शास्त्र के निमित शास्त्र से प्रीति करो, प्रसिद्ध औषधियों के निमित्त औषधियों से प्रीति करो, पृथ्वी के उत्कृष्ट पदार्थ अन्न के प्रभाव से शरीर के निमित्त शरीर से प्रीति करो, शरीर के उपचयकारी अन्न के प्रभाव से अध्ययन के निमित्त अध्ययन से प्रीति करो, बलकारी अन्न के प्रभाव से तेज के निमित्त तेज से प्रीति करो ॥ ७ ॥

हे इष्टके, त्वं तन्तुना तन्यते विस्तार्यत इति तन्तुरन्नम्, तेन। रायस्पोषेण रायस्पोषाय धनपुष्ट्यै उपहिता सती रायस्पोषं जिन्व। संसर्पेण सम्यक् सर्पति देहे रसरक्तादिरूपेणेति संसर्पोऽन्नम्, तेन श्रुताय शास्त्राय उपहिता सती श्रुतं जिन्व। इडा अन्नम्, इडैवैडं प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकोऽण्। तेन औषधीभिरोषध्यर्थमुपहिता सती ओषधीः जिन्व। उत्तमेन उद्गतं तमो यस्मात् तद् उत्तममन्नमुत्कृष्टं वा तेन, तनूभिः शरीरार्थमुपहिता सती तनूः शरीराणि जिन्व। वयोधसा वयो दधाति पुष्णातीति वयोधा अन्नम्, तेन। अधीतेन अधीताय वेदाध्ययनाय उपहिता सती अधीतं वेदाध्ययनं जिन्व। अभिजिता अभि अभितः सर्वतो जीयते येनेत्यभिजित् सर्वजयहेतुरन्नम्, तेन। तेजसा तेजोऽर्थमुपहिता सती तेजो जिन्व। तत्तदवस्थाविशिष्टेनान्नेन साधनेन तत्तदर्थायोपहिता सती तत्तदर्थं प्रीणयेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे परचिते, त्वं तन्तुना अन्नेन रायस्पोषायोपाश्रिता सती रायस्पोषं जिन्व प्रीणय। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, त्वं तन्तुना विस्तृतेन रायस्पोषेण धनस्य पुष्ट्या धनस्य पोषं जिन्व प्राप्नुहि। सम्यक् प्रापणेन श्रुताय श्रवणाय श्रुतं श्रवणं जिन्व। इडाया अन्नस्येदं संस्करणमैडं तेन ओषधीभिरोषधिविद्यां जिन्व' इत्यादिकम्, तदपि यत्किञ्चित्, धनस्य पुष्ट्या धनपुष्टिं प्राप्नुहीत्यस्यासङ्गतेः, कार्यकारणभावस्य भेदनियतत्वात्। तथैव श्रवणाय श्रवणं जिन्वेत्यपि निरर्थकम्। अन्नसंस्करणस्यौषधीषु कथं करणत्वम्? अधीतेनाधीतमित्यपि तादृगेव ॥ ७ ॥

प्रतिपदसि प्रतिपदे त्वानुपदस्यनुपदे त्वा सम्पदसि सम्पदे त्वा तेजोऽसि तेजसे त्वा ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके! जिससे जीवन का अस्तित्व प्राप्त होता है, उस अन्न का रूप धारण कर अन्न की प्राप्ति के निमित तुम्हारा उपधान करता हूं। इन्द्रियों को अपने अपने कार्यों में समर्थ करने वाली तुम अन्न रूप हो, अन्न के निमित्त तुम्हारा उपधान करता हूं। तुम सम्पत्ति की दाता अन्न रूप हो, अन्न-सम्पत्ति के निमित्त तुम्हारा सादन करता हूं। शरीर में तेज का आधान करने वाली अन्न रूप तुम्हारा तेज के निमित्त सादन करता हूं ॥ ८ ॥

'अदोऽस्यमुष्मै त्वा' (श० ८।५।३।३) इति श्रुत्या व्याख्यातमन्त्रानाह—प्रतिपदसीति। द्वितीयस्य मन्त्रवर्गस्य व्याख्यानम्—हे इष्टके, त्वं प्रतिपत् प्रतिपद्यते जीवनमनेनेति प्रतिपदन्नम्, असि। प्रतिपदेऽन्नाय त्वामुपदधामीति शेषः। एवं सर्वत्र व्याख्येयम्। अनुपत् प्रतिदिनमनुपद्यत इत्यनुपद् अन्नम् असि। अनुपदेऽन्नाय त्वामुपदधामि। हे इष्टके, त्वं सम्पत् सम्पद्यत इति सम्पदन्नम्, असि। सम्पदेऽर्थाय त्वामुपदधामि। तेजसः कारणत्वात् तेजोऽन्नम्, तेजसे त्वामुपदधामि। तेजसेऽर्थायोपहिता सती तेजो जिन्व प्रीणय।

अध्यात्मपक्षे—हे परचिते, सर्वात्मरूपत्वात् त्वं प्रतिपदन्नरूपासि, तेन प्रतिपदेऽन्नाय त्वामुपाश्रये। एवमन्यदपि।

दयानन्दस्तु —'हे पुरुषार्थिनि विदुषि, त्वं प्रतिपदिव प्राप्यते या सा लक्ष्मीरसि। प्रतिपदे ऐश्वर्याय त्वां गृह्णामि। अनु पश्चात् प्राप्यते या सा अनुपत् शोभा। त्वं तत्तुल्यासि, तां त्वामनुपदे विद्याध्ययनपश्चात्प्राप्तव्याय त्वां गृह्णामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वैरूप्यात्। पूर्वं त्वं लक्ष्मीरूपासि, ऐश्वर्याय त्वां गृह्णामीत्युक्तम्, उत्तरत्र तु शोभारूपासि विद्याध्ययनपश्चात्प्राप्तव्याय त्वां गृह्णामीति। हिन्दीटीकायां तु पश्चात् प्राप्तव्यां त्वां गृह्णामीत्युक्तम्। नहि त्वदर्थमेव त्वां गृह्णामीति सम्भवति, प्रयोज्यप्रयोजकभावस्यैकत्रायोगात् ॥ ८ ॥

त्रिवृदसि त्रिवृते त्वा प्रवृदसि प्रवृते त्वा विवृदसि विवृते त्वा सवृदसि सवृते त्वा क्रमोऽस्याक्रमाय त्वा संक्रमोऽसि संक्रमाय त्वोत्क्रमोऽस्युत्क्रमाय त्वोत्क्रान्तिरस्युत्क्रान्त्यै त्वाऽधिपतिनोर्जोर्जं जिन्व ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके! तुम कृषि, वृष्टि और बीज से उत्पन्न अन्न हो, अन्न के निमित्त तुम्हारा सादन करता हूँ। तुम सब प्राणियों को अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त करने वाले अन्न का रूप हो, कार्यप्रवृत्ति के निमित्त तुम्हारा सादन करता हूँ। तुम प्रत्येक इन्द्रिय को अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त करने वाले अन्न का रूप हो, प्रवृत्ति के निमित्त तुम्हारा सादन करता हूँ। तुम जीवन के सहचारी अन्न का रूप हो, अन्न के निमित्त तुम्हारा सादन करता हूँ। तुम क्षुधा का तिरस्कार करने वाले अन्न का रूप हो, अन्नप्राप्ति के निमित्त तुम्हारा सादन करता हूँ। तुम सन्तान उत्पत्ति के बीज अन्न का रूप हो, सन्तानप्राप्ति के निमित्त तुमको उपहित करता हूँ। तुम जन्म के निदानभूत अन्न का रूप हो उत्पत्ति के निमित्त तुम्हारा सादन करता हूँ। तुम उत्कृष्ट गमन करने वाले अन्न का रूप हो, उत्क्रान्ति के निमित्त तुम्हारा सादन करता हूँ ॥ ९ ॥

हे इष्टके, त्वं त्रिवृत् कृषिवृष्टिबीजरूपेण त्रिगुणत्वात् त्रिधा वर्तत इति त्रिवृदन्नम् असि, तादृशीं त्वां त्रिवृतेऽन्नायोपदधामीति शेषः। प्रवृत् प्रवृणोति भूतानीति प्रवृदन्नम् असि, अतः प्रवृतेऽन्नाय त्वामुपदधामीति शेषः। विवृद् विशेषेण वर्तते भूतेष्विति विवृदन्नम् असि, विवृतेऽर्थाय त्वामुपदधामि। सवृत् सह वर्तत इति सवृद् अन्नमसि, तस्मै सवृते त्वामुपदधामि। आक्रम आक्राम्यति पराभवति क्षुधामित्याक्रमोऽन्नम्, त्वमाक्रमोऽसि, आक्रमाय त्वामुपदधामि। संक्रमः संक्राम्यति देह इति संक्रमोऽन्नम्, त्वं संक्रमोऽसि संक्रमाय त्वामुपदधामीति। उत्क्रमः सन्तानोत्पत्त्यै बीजरूपेण परिणम्योत्क्रामतीत्युत्क्रमोऽन्नम्, त्वं तद्रूपासि, उत्क्रमाय त्वामुपदधामि। उत्क्रान्तिरुत्कृष्टा क्रान्तिर्गमनं यस्याः सा उत्क्रान्तिरन्नम्। हे इष्टके, त्वमुत्क्रान्तिरसि, अत उत्क्रान्त्यै अर्थाय त्वामुपदधामि।

अथ तृतीयो व्याख्याभेदः—अधिपतिना अधिकं पातीत्यधिपतिः, तेन अधिकपालकेन ऊर्जा अन्नरसेन ऊर्जम् अन्नरसं जिन्व तर्पय। एवं मन्त्रेष्वभिधेयगतां क्रियां पर्यालोच्याभिधानव्युत्पत्तिः कृता। 'यत्तदन्नमेतास्ताश्छन्दस्या अथ यः सोऽन्नस्य रस एतास्ता स्तोमभागाः' (श० ८।५।३।२) इति श्रुतिरीत्या अन्नरूपाश्छन्दस्या इष्टकाः, अन्नरसरूपाः स्तोमभागा इष्टका इत्यन्नावस्थाभेदेन नामभेदस्तद्भेदाच्चेष्टकाभेदोपपत्तिः।

अध्यात्मपक्षे—हे परचिते परदेवते, त्वं त्रिवृदन्नरूपासि, सर्वाधिष्ठानत्वात्। त्रिवृतेऽन्नाय त्वामुपाश्रये। अन्यत् पूर्ववत्। हे परदेवते, अधिपतिना परमपालकेन ऊर्जान्नरसेन ऊर्जमन्नरसं जिन्व तर्पय, सर्वशक्तिमत्त्वात् ॥ ९ ॥

राज्ञ्यसि प्राची दिग्वसवस्ते देवा अधिपतयोऽग्निर्हेतीनां प्रतिधर्ता त्रिवृत्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳫं श्रयत्वाज्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु रथन्तरᳫं साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ।। १० ।।

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! तुम राजमान पूर्व दिशा का रूप हो, आठ वसु देवता तुम्हारे पालक हैं, अग्नि देवता तुम्हारी सारी बाधाओं को दूर करते हैं, त्रिवृत् स्तोम तुमको पृथ्वी पर स्थापित करें, आज्यनामक शस्त्र व्यथा के निवारण के लिये तुमको दृढ़ करें, रथन्तर साम अन्तरिक्ष लोक में प्रतिष्ठा के लिये तुमको दृढ़ करें, प्रथम उत्पन्न प्राण देवता आकाश के विशाल परिमाण के समान तुम्हारा विस्तार करें। इष्टका को बनाने वाला और उसका पालन करने वाला भी तुम्हारा विस्तार करे। इस प्रकार से वे सम्पूर्ण वसु आदि देवता एक विचार में स्थित होकर सुख-स्वरूप लोक के ऊपर स्वर्ग लोक में यजमान को अवश्य ही प्रतिष्ठित करें ।। १० ।।

'नाकसदोऽनूकेषु पूर्ववर्जमृतव्यावेलायामाश्विनीवद् राज्ञ्यसीति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।१२।१)। पूर्वानूके स्थानाभावात् पूर्वानूकवर्जं त्रिदिक्ष्वनूकेषु ऋतव्यावेलायामनूकोपरि राज्ञीत्यादिपञ्चकण्डिकाभिराश्विनीवन्नाकसत्संज्ञेष्टका उपदध्यादिति सूत्रार्थः। 'स पुरस्तादुपदधाति। राज्ञ्यसि' (श० ८।६।१।५) इति हि श्रुतिः। अत्र कण्डिकायां पञ्च यजूंषि लिङ्गोक्तदेवतानि। हे इष्टके, त्वं राज्ञी राजमाना पूर्वा दिगसि। वसवः पृथिव्यादयोऽष्टौ देवास्तेऽधिपतयोऽधिकं पालयितारः, अधिष्ठातारो वा। अग्निर्हेतीनामुपद्रवकार्यायुधानां प्रतिधर्ता प्रतीपतया धारयिता, निराकर्तेति यावत्। किञ्च, त्वा त्वां त्रिवृत्स्तोमः पृथिव्यां श्रयतु स्थापयतु। आज्यमाज्यनामकमुक्थं शस्त्रम् 'प्र वो देवायाग्नये' (ऐ० ब्रा० ३।४०) इत्यादिकम् अव्यथायै व्यथा विचलं तदभावाय त्वां स्तभ्नातु दृढीकरोत्विति यावत्। रथन्तरं साम अन्तरिक्षे लोके प्रतिष्ठित्यै प्रतिष्ठानाय त्वां स्तभ्नातु। प्रथमजाः प्रथमोत्पन्ना ऋषयः प्राणाः, 'प्राणा वा ऋषयः प्रथमजाः' (श० ८।६।१।५) इति श्रुतेः। देवेषु द्युलोकमध्ये दिव आकाशस्य मात्रया परिमाणेन वरिम्णा उरुत्वेन त्वां प्रथन्तु प्रथयन्तु। 'छन्दस्युभयथा' (पा० सू० ३।४।११७) इति शपः सार्वधातुकार्धधातुकोभयसंज्ञत्वाद् आर्धधातुकं मत्वा णिलोपः। आकाशवत् त्वां विशालां कुर्वन्त्वित्यर्थः। विधर्ता इष्टकानिर्माता चायमधिपतिरिष्टकापालकश्च त्वां प्रथयताम्। यद्वा विधर्ता विशेषेण धारयिता वागभिमानी देवः, अयमधिपतिः प्रधानभूतो देवो मनोऽभिमानी च, तौ द्वौ त्वां प्रथयताम्, 'विधर्ता चायमधिपतिश्चेति वाक् च मनश्च तौ हीदᳫं सर्वं विधारयतः' (श० ८।६।१।५) इति श्रुतेः। किञ्च, ते सर्वे वस्वादयो देवाः संविदाना ऐकमत्येनावस्थिताः सन्तो नाकस्य पृष्ठे कं सुखं न कम् अकम् दुःखम्, न अकं नाकं सुखम्, 'नभ्राण्नपात्' (पा० सू० ६।३।७५) इत्यादिनिपातनात् साधु। तस्य पृष्ठे स्वरूपे, सुखस्वरूप इति यावत्। स्वर्गे लोके यजमानं चकाराद् हे इष्टके ! त्वां च सादयन्तु। स्तोमाः सामानि च राजसूयप्रकरणे दशमेऽध्याये 'प्राचीमारोह' (वा० सं० १०।१०) इत्यादिपञ्चकण्डिकासु व्याख्यातानि।

अत्र ब्राह्मणम्—'नाकसद उपदधाति। देवा वै नाकसदोऽत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः स एषोऽत्र नाकः स्वर्गो लोकस्तस्मिन् देवा असीदंस्तद्यदेतस्मिन्नाके स्वर्गे लोके देवा असीदंस्तस्माद्देवा नाकसदस्तथैवैतद्यजमानो यदेता उपदधात्येतस्मिन्नेवैतन्नाके स्वर्गे लोके सीदति' (श० ८।६।१।१)। नाकसत्संज्ञकानां पञ्चेष्टकानामुपधानमेतासु

दशसु कण्डिकासु प्रपञ्च्यते। देवा वै नाकसदो····नाके स्वर्गे लोके देवा असीदन्निति। तेषां चाधियाज्ञिकानि शरीराणि। इष्टका अपि तदात्मिका एवेति नाकसदः। यजमानोऽप्यात्मरूपा एता उपधाय नाके स्वर्गे लोके सीदति। यद्वेव नाकसद उपदधाति। एतद्वै देवा एतं नाकꣳ स्वर्गं लोकमपश्यन्नेताः स्तोमभागास्तेऽब्रुवन्नुप तज्जानीत यथास्मिन्नाके स्वर्गे लोके सीदामेति तेऽब्रुवंश्चेतयध्वमिति चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथास्मिन्नाके स्वर्गे लोके सीदामेति' (श० ८।६।१।२)। 'ते चेतयमानाः। एता इष्टका अपश्यन्नाकसदस्ता उपादधत ताभिरेतस्मिन्नाके स्वर्गे लोकेऽसीदंस्तद्यदेताभिरेतस्मिन्नाके स्वर्गे लोकेऽसीदंस्तस्मादेता नाकसदस्तथैवैतद्यजमानो तदेता उपदधात्येतस्मिन्नेवैतन्नाके स्वर्गे लोके सीदति' (श० ८।६।१।३)। देवाः स्वर्गं लोकं कामयमाना एता नाकसद इष्टका अपश्यन्। ता उपधाय नाके लोकेऽसीदन्। तथैवैतद्यजमानोऽप्येता उपधाय नाके स्वर्गे लोके तिष्ठति। 'दिक्षूपदधाति। दिशो वै स नाकः स्वर्गो लोकः स्वर्ग एवैना एतल्लोके सादयत्यृतव्यानां वेलया संवत्सरो वा ऋतव्यः संवत्सरः स्वर्गो लोकः स्वर्गं एवैना एतल्लोके सादयत्यन्तस्तोमभागमेष वै स नाकः स्वर्गो लोकस्तस्मिन्नेवैना एतत् प्रतिष्ठापयति' (श० ८।६।१।४)। 'स पुरस्तादुपदधाति। राज्ञ्यसि प्राची दिगिति राज्ञी ह नामैषा प्राची दिग् वसवस्ते देवा अधिपतय इति वसवो हैतस्यै दिशो देवा अधिपतयोऽग्निर्हेतीनां प्रतिधर्तेत्यग्निर्हैवात्र हेतीनां प्रतिधर्ता त्रिवृत्त्वा स्तोमः पृथिव्याꣳ श्रयत्विति त्रिवृता हैषा स्तोमेन पृथिव्याꣳ श्रिताज्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नात्वित्याज्येन हैषोक्थेनाव्यथायै पृथिव्याꣳ स्तब्धा रथन्तरꣳ साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष इति रथन्तरेण हैषा साम्ना प्रतिष्ठितान्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेष्विति प्राणा वा ऋषयः प्रथमजास्तद्धि ब्रह्म प्रथमजं दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्त्विति यावती द्यौस्तावतीं वरिम्णा प्रथन्त्वित्येतद्विधर्ता चायमधिपतिश्चेति वाक् च तौ मनश्च तौ हीदꣳ सर्वं विधारयतस्ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्त्विति यथैव यजुस्तथा बन्धुः' (श० ८।६।१।५)। इत्युद्धृतेन ब्राह्मणेन मन्त्रस्य पूर्वोक्तं व्याख्यानं समर्थ्यते।

अध्यात्मपक्षे—हे परदेवते, त्वं राज्ञी राजमाना प्राची दिगसि। अष्टौ वसवो देवास्ते तव रक्षकाः सेवकाश्च। अग्निस्ते तव वधहेतूनामस्त्राणां धारयिता। त्रिवृत्स्तोमस्त्वामिष्टकारूपां पृथिव्यां स्थापयतु। आज्यं च उक्थं चाव्यथायै अविचलनायेष्टकारूपां त्वां स्तभ्नातु। रथन्तरं च साम त्वामन्तरिक्षलोके प्रतिष्ठानाय स्तभ्नातु। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, तेऽधिपतिर्यथा यस्या वसवो देवा अधिपतयस्तथा प्राची दिगिव राज्ञी असि। यथा हेतीनां प्रतिधर्ता त्रिवृत्स्तोमोऽग्निरस्ति तथा त्वाहं धरामि। पृथिव्यामव्यथाया उक्थं वक्तुमर्हमाज्यं घृतं श्रयतु। प्रतिष्ठित्यै प्रतितिष्ठन्ति यस्यां तस्यै रथन्तरं रथैस्तारकं साम एतदुक्तं कर्म स्तभ्नातु। यथान्तरिक्षे दिवो विद्युतो मात्रया लेशविषयेण वरिम्णा प्रथन्तु उपदिशन्तु। यथा चायं विधर्ता ते पतिर्वर्तते, तथा तेन सह त्वं वर्तस्व। यथा च सर्वे संविदाना विद्वांसो नाकस्य सुखप्रायस्य भूगोलस्य पृष्ठे उपरि लोके त्वां यजमानं च सादयन्तु, तथा युवां सीदेतम्' इति, तदपि सर्वथाऽसङ्गतमेव, वैदिकशब्दमर्यादानभिज्ञानात्। यो हि सामविधानताण्ड्यब्राह्मणादिप्रसिद्धं त्रिवृत्स्तोमरथन्तरादिसामस्तोत्रम्, आज्योक्थादिशस्त्रादिकं च न जानाति, स कथमिव वेदार्थं जानीयादिति। मनुष्येषु प्रयुक्तमस्त्रादिकं त्रिवृदग्निश्चेत् प्रतिधरेत्, कृतं तर्हि कवचादिधारणेन। कथं च तस्य स्तोमत्वम्। नहि स्तोमपदस्य स्तुतियोग्यगुणोऽर्थः, निष्प्रमाणत्वात्। न च पत्नीवज्रादिवद् घातयित्रीति विषमो दृष्टान्तः। सामपदस्य सिद्धान्तकर्मेति कथमर्थः? कथं च तद्रथैस्तारकं भवतीति सर्वथाप्युपेक्षणीयमिदं व्याख्यानम् ॥ १० ॥

विराडसि दक्षिणा दिग्रुद्रास्ते देवा अधिपतय इन्द्रो हेतीनां प्रतिधर्ता पञ्चदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳬं श्रयतु प्रउगमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु बृहत्साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! तुम विशेष रूप से राजमान दक्षिण दिशा हो, रुद्र तुम्हारे पालक हैं, इन्द्र देवता व्याधियों के निवर्तक हैं। पञ्चदश स्तोम तुमको पृथ्वी पर स्थापित करें। प्रउग नामक उक्थ दृढ़ता के निमित्त तुमको स्तम्भित करें। बृहत् साम अन्तरिक्ष में प्रतिष्ठा का कारण हो। प्रथम उत्पन्न प्राण देवता अपने विस्तृत परिमाण से तुम्हारा विस्तार करें। इष्टका का निर्माण करने वाला और उसका पालन करने वाला तुम्हारा विस्तार करे। वे सम्पूर्ण वसु आदि देवता एक मति में स्थिर होकर सुखस्वरूप लोक के ऊपर स्वर्ग लोक में यजमान को अवश्य ही प्रतिष्ठित करें॥ ११ ॥

अथ दक्षिणतः। हे इष्टके, त्वं विराड् विशेषेण राजमाना दक्षिणा दिगसि, तद्रूपां त्वामुपदधामीति शेषः। रुद्रा देवास्तवाधिपतयोऽधिष्ठातारः, इन्द्रो हेतीनां प्रतिधर्ता निवारकः। पञ्चदशस्तोमस्त्वां पृथिव्यां श्रयतु। प्रउगसंज्ञकमुक्थं 'वायुरग्रेगाः' (२७।३१) इति प्रउगं शस्त्रम्, अव्यथायै त्वां स्तभ्नातु दृढीकरोतु। बृहत्साम अन्तरिक्षे लोके प्रतिष्ठित्यै त्वा स्तभ्नातु। ऋषयः प्राणाः प्रथमजा देवेषु द्युलोकमध्येषु दिव आकाशस्य मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु प्रथयन्तु। विधर्ता चायमधिपतिश्च त्वां प्रथयताम्। ते सर्वे देवाः संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं त्वां च सादयन्त्विति।

अध्यात्मपक्षे—हे इष्टकाधिष्ठानरूपे परचिते, त्वं विशेषेण राजमाना दक्षिणा दिग्रूपासि। रुद्रा देवास्तवाधिपतयः। इन्द्रो देवराजो हेतीनां प्रतिधर्ता। पञ्चदशः स्तोमस्त्वामिष्टकारूपां श्रयतु स्थापयतु। प्रउगमुक्थमव्यथायै विचलनराहित्याय त्वां स्तभ्नातु। बृहत्साम प्रतिष्ठित्यै अन्तरिक्षे त्वा स्तभ्नातु। प्रथमजा ऋषयो देवेषु द्युलोकमध्ये दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथयन्तु। विधर्ता चायमधिपतिश्च प्रथयताम्।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, या त्वं विराड् दक्षिणा दिगिवासि, यस्यास्ते पत्यौ रुद्रा देवा अधिपतय इव, पञ्चदशस्तोम इन्द्रस्त्वां पृथिव्यां श्रयतु' इत्यादिकम्, तत्सर्वमप्यसम्बद्धमेव, दक्षिणस्या दिशो विशेषाभावात्, प्राचीप्रतीच्योरपि पदार्थैर्भासमानत्वाविशेषात्, पत्युर्मनुष्यस्य दिव्यवायुतुल्यत्वानिरूपणाच्च। प्रउगं कथनीयम्, उक्थम् उपदेशयोग्यवचनमित्यादि स्वाच्छन्द्यम्, शस्त्रविशेषस्य प्रउगस्यापरिज्ञानात् ॥ ११ ॥

सम्राडसि प्रतीची दिगादित्यास्ते देवा अधिपतयो वरुणो हेतीनां प्रतिधर्ता सप्तदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳬं श्रयतु मरुत्वतीयमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु वैरूपᳬं साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! तुम विशेष दीप्तिमान् पश्चिम दिशा हो, आदित्य देवता तुम्हारे पालक हैं, वरुण दुःखों को दूर करते हैं। सप्तदश स्तोम तुमको पृथ्वी के ऊपर दृढ़ करें, मरुत्वतीय शस्त्र दृढ़ता के निमित्त तुमको स्थापित करें, वैरूप साम प्रतिष्ठा के निमित्त अन्तरिक्ष में तुमको दृढ़ करें, प्रथम उत्पन्न प्राण देवता आकाश के विशाल परिमाण के समान तुम्हारा विस्तार करें। इष्टका को बनाने वाला और उसका पालन करने वाला भी तुम्हारा विस्तार करे। इस प्रकार से वे सम्पूर्ण वसु आदि देवता एक विचार में स्थिर होकर सुखस्वरूप लोक के ऊपर स्वर्ग लोक में यजमान को अवश्य ही प्रतिष्ठित करें॥ १२ ॥

अथ पश्चात्। हे इष्टके, त्वं सम्राट् सम्यग् राजत इति प्रतीची दिगसि आदित्यास्ते देवा अधिपतयः। वरुणो हेतीनां प्रतिधर्ता। सप्तदशस्तोमस्त्वां पृथिव्यां श्रयतु। मरुत्वतीयमुक्थम् 'आ त्वा रथं यथोतये' (ऋ० सं० ८।६८।१) इति, अव्यथायै त्वां स्तभ्नातु दृढीकरोतु। वैरूपं साम प्रतिष्ठित्यै त्वा स्तभ्नातु। शेषं पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षीयोऽप्यर्थः पूर्ववद् व्याख्येयः।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, त्वं प्रतीची दिगिव सम्राडसि। तस्यास्ते पतिरादित्या देवा अधिपतय इवार्यं सप्तदशस्तोमो वरुणो हेतीनां प्रतिधर्ता' इत्यादिकम्, तदपि तथाविधमेव, पत्न्याः समाद्वाधसिद्धेः। पत्युश्च सप्तदश-संख्यापूरकत्वादिकमपि सर्वमेव काल्पनिकम्, निर्मूलत्वात्॥ १२॥

स्वराडस्युदीची दिङ्मरुतस्ते देवा अधिपतयः सोमो हेतीनां प्रतिधर्तैकविꣳशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याꣳ श्रयतु निष्केवल्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु वैराजꣳ साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु॥ १३॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! तुम स्वयं विराजमान होने वाली उत्तर दिशा हो, मरुत् देवता तुम्हारे पालक हैं, सोम व्याधियों के निवारक हैं। एकविंश स्तोम तुमको पृथ्वी पर स्थापित करें, निष्केवल्य नामक शस्त्र दृढ़ता के निमित्त तुमको स्थापित करें। वैराज साम प्रतिष्ठा के निमित्त तुमको अन्तरिक्ष में दृढ़ करें। प्रथम उत्पन्न प्राणदेवता आकाश के विशाल परिमाण के समान तुम्हारा विस्तार करें, इष्टका को बनाने वाला और उसका पालन करने वाला भी तुम्हारा विस्तार करे, वसु आदि सभी देवता एक विचार में स्थिर होकर सुखस्वरूप लोक के ऊपर स्वर्ग लोक में यजमान को अवश्य ही प्रतिष्ठित करें॥ १३॥

अथोत्तरतः। हे इष्टके, त्वं स्वराडसि। स्वेनैव राजत इति स्वराट्। मरुतो देवा अधिपतयः। सोमो हेतीनां प्रतिधर्ता। 'अभि त्वा शूर नोनुमः' (ऋ० सं० ७।३२।२२) इत्यादिकं निष्केवल्यं शस्त्रम्। शेषं पूर्ववत्।

आध्यात्मिकोऽर्थोऽपि पूर्ववदेव योज्यः।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, यथा स्वराडुदीची दिगस्ति, तथा ते पतिर्भवतु' इत्यादिकम्, तदपि यत्किञ्चित्, तथा ते पतिर्भवत्वित्यस्य निर्मूलत्वात्। मूले तादृशशब्दाभावात्॥ १३॥

अधिपत्न्यसि बृहती दिग्विश्वे ते देवा अधिपतयो बृहस्पतिर्हेतीनां प्रतिधर्ता त्रिणवत्रयस्त्रिᳪंशौ त्वा स्तोमौ पृथिव्याᳪं श्रयतां वैश्वदेवाग्निमारुते उक्थे अव्यथायै स्तभ्नीताᳪं शाक्वररैवते सामनी प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्ष ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके ! तुम अधिक पालन करने वाली विशाल ऊर्ध्व दिशा हो, सम्पूर्ण देवता तुम्हारे पालक हैं, बृहस्पति देवता विघ्नों और दुःखों के निवारक हैं। त्रिणव और त्रयस्त्रिंश स्तोम तुम्हें पृथ्वी पर स्थापित करें, वैश्वदेव अग्निमारुत उक्थ तुम्हें दृढ़ करें, शाक्वर और रैवत दोनों साम प्रतिष्ठा के निमित्त तुम्हें अन्तरिक्ष में स्थापित करें। प्रथम उत्पन्न प्राणदेवता आकाश के विशाल परिमाण के समान तुम्हारा विस्तार करें। इष्टका को बनाने वाला और उसका पालन करने वाला भी तुम्हारा विस्तार करे। इस प्रकार से वे सम्पूर्ण वसु आदि देवता एक विचार में स्थिर होकर सुखस्वरूप लोक के ऊपर स्वर्ग लोक में यजमान को अवश्य ही प्रतिष्ठित करें ॥ १४ ॥

अथ मध्ये। हे इष्टके, त्वमधिपत्नी अधिकं पालयित्री बृहती प्रौढोर्ध्वा दिगसि। त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ त्वां पृथिव्यां श्रयताम्। वैश्वदेवाग्निमारुते उक्थे शस्त्रे अविचलनाय स्तभ्नीताम्। शाक्वररैवते सामनी अन्तरिक्षे स्थित्यै त्वां स्तभ्नीताम्। 'तत्सवितुर्वृणीमहे' (ऋ० सं० ५।८२।१) इत्यादिकं वैश्वदेवं शस्त्रम्। 'वैश्वानराय पृथुपाजसा' (ऋ० सं० ३।३।१) इत्यादिकमाग्निमारुतं शस्त्रम्। शेषं पूर्ववत्।

आध्यात्मिकोऽप्यर्थो पूर्ववदेव योज्यः।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, या त्वं बृहती अधिपत्नी सर्वासां दिशामुपरि वर्तमाना दिगिवासि, तस्यास्ते पतिर्विश्वेदेवा अधिपतयः सन्ति। तद्वद्यो बृहस्पतिर्हेतीनां प्रतिधर्ता त्वा च त्रिणवस्तोमौ च पृथिव्यामव्यथायै वैश्वदेवाग्निमारुते उक्थे च श्रयताम्, प्रतिष्ठित्यै शाक्वररैवते सामनी च स्तभ्नीताम्। यथा तेऽन्तरिक्षे प्रथमजा ऋषयो देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा त्वां प्रथन्ते तान् मनुष्याः प्रथन्तु, यथायमधिपतिर्विधर्ता सूर्योऽस्ति, यथा संविदाना विद्वांसो नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके सादयन्ति, यथा सर्वे यजमानं च सादयन्तु, तथा त्वं पत्या सह वर्तेथाः' इति, तत्तु साहसमात्रम्. सर्वासां दिशामुपरि वर्तमानाया दिशोऽनिरूपणात्, कीदृशं च साधर्म्यं तया पत्न्या इत्यनुक्तेश्च। केयं कस्य पत्नी, यैवं प्रशस्यते ? कस्याश्चिद्विशिष्टायाः सत्त्वे वेदस्येतिहासत्वापत्तिः। सर्वासामपि तथात्वं त्वसिद्धमेव। वक्ता चात्र कः ? न च विशिष्टः कश्चित्, इतिहासत्वापत्तेरेव। न च सर्वस्तथाऽनुपलम्भात्। तस्याः पृथिव्यामव्यथायै त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ कौ ? वैश्वदेवाग्निमारुते सामनी स्तभ्नीतामित्यादिकं सर्वमपि मूर्खजनप्रतारणमात्रमेव ॥ १४ ॥

अयं पुरो हरिकेशः सूर्यरश्मिस्तस्य रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानीग्रामण्यौ। पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ दङ्क्ष्णवः पशवो हेतिः पौरुषेयो वधः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—पूर्व दिशा में स्थापित इष्टका रूप अग्नि कनक वर्ण के केश वाला और सूर्य के समान किरण वाला है। उस अग्नि के रथविद्या में कुशल और रथयुद्ध में कुशल सेनानायक और ग्रामनायक दोनों वसन्त ऋतु हैं। रूप, लावण्य, सौभाग्य आदि गुणों की भण्डार, संकल्प और रूप आदि ज्ञान की आधारभूत अप्सरा दिशा और उपदिशा रूप हैं। काटने का स्वभाव धारण करने वाले व्याघ्र आदि पशु आयुध हैं। परस्पर हनन रूप वध शस्त्र हैं। इस प्रकार के अग्नि के सभी परिचारकों को हम नमस्कार करते हैं। वे सब हमको सुख दें, वे सब हमारी रक्षा करें। जिससे हम द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करने वाले हैं, उन सबको वे दाढ़ों से चबा जांय ॥ १५ ॥

'पुरीषमोप्योपर्ययं पुर इति पञ्चचूडाः प्रतिमन्त्रं प्रतिदिशं यथालिङ्गम्' (का० श्रौ० १७।१२।२-३)। उपधानानन्तरं नाकसदामुपरि तूष्णीं चात्वालमृदं प्रक्षिप्य तासामुपरि सर्वदिक्षु यथालिङ्गं लिङ्गमनतिक्रम्य वर्तत इति, अर्थाद् यल्लिङ्गको मन्त्रस्तद्दिशि तन्मन्त्रेण पञ्चचूडासंज्ञकाः पञ्चेष्टका उपदध्यादिति सूत्रार्थः। पञ्च यजूंषि लिङ्गोक्तदेवत्यानि। हरिकेशो हरयो हरितवर्णा हिरण्यवर्णाः केशाः केशसमा ज्वाला यस्यासौ सुवर्णवर्णार्चिः, 'हरिर्वाच्यवदाख्यातो हरित् कपिलवर्णयोः' इति विश्वकोषात्। सूर्यरश्मिः सूर्यो रश्मिर्यस्यासौ सूर्यरश्मिः। एवंभूतो योऽयमिष्टकारूपोऽग्निः पुरः पूर्वस्यां दिश्यवस्थापितः, तस्याग्ने रथगृत्सो रथौजाश्च सेनानीग्रामण्यौ, रथे गृत्सो मेधावी कुशलो रथगृत्सः, 'गृत्सो मेधावी, गृणातेः स्तुतिकर्मणः' (निरु० ९।५) इति यास्कोक्तेः। रथौजा रथे ओजस्तेजो यस्यासौ रथौजाः, रथयुद्धकुशल इत्यर्थः। चकारौ समुच्चयार्थौ। एतन्नामकौ सेनानीग्रामण्यौ सेनां नयतीति सेनानीः, सैन्यसंचालकः। ग्रामं नयतीति ग्रामणीः। सेनानीश्च ग्रामणीश्च सेनानीग्रामण्यौ परिचारकौ, तौ च वासन्तिकावृतू इत्यर्थः, 'वासन्तिकौ तावृतू' (श० ८।६।१।१६) इति श्रुतेः। तथा पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चेत्यप्सरसौ दिगुपदिग्रूपे यस्य परिचारिके स्तः। पुञ्जिकस्य पुञ्जीकृतस्य रूपलावण्यसौभाग्यादिगुणसमूहस्य स्थला आधारभूता। क्रतूनां सङ्कल्पानां रूपादिज्ञानानां स्थला स्थानभूता। पुञ्जिकस्य स्थलं यस्यां सा। क्रतूनां स्थलं यस्यां सेति बहुव्रीहिर्वा। दङ्क्ष्णवो दशनशीलाः पशवो व्याघ्रादयः। हेतिरायुधम्। पौरुषेयः पुरुषसम्बन्धी वधो हननम्। प्रहेतिः प्रकृष्टमायुधं यस्मिन्नस्त्रे मुक्ते रावणसेनेव परस्परं रिपवो घ्नन्ति स पौरुषेयो वधः, 'यदन्योन्यं घ्नन्ति स पौरुषेयो वधः प्रहेतिः' (श० ८।६।१।१६) इति श्रुतेः। यस्याग्नेरियं सामग्री, योऽयमग्निर्यौ च तस्य सेनानीग्रामण्यौ ये चाप्सरसौ ये च हेतिप्रहेती, तेभ्यः सर्वेभ्यः सर्वदा नमो नमस्कारोऽस्तु। ते सर्वे नोऽस्मान् मृडयन्तु सुखयन्तु। ते नोऽस्मानवन्तु रक्षन्तु। यं नरं वयं द्विष्मो यस्यानिष्टं चिन्तयामः, यश्च नो द्वेष्टि तमेषां पूर्वोक्तानां हेतिप्रहेतीनां जम्भे दंष्ट्राकराले मुखे वयं दध्मः प्रक्षिपामः। 'जभि नाशने'। जम्भयति नाशयतीति जम्भा, सा अस्मिन्नस्तीति जम्भं मुखम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ पञ्चचूडा उपदधाति। यज्ञो वै नाकसदो यज्ञ उ एव पञ्चचूडास्तद्य इमे चत्वार ऋत्विजो गृहपतिपञ्चमास्ते नाकसदो होत्राः पञ्चचूडा अतिरिक्तं वै तद्यद्धोत्रा यद्वु वा अतिरिक्तं चूडः स तद्यत् पञ्चातिरिक्तास्तस्मात् पञ्चचूडाः' (श० ८।६।१।११)। पञ्चचूडानामेष्टका उपदध्यात्। तथाह भगवान् परमर्षिः कात्यायनः—'पुरीषमोप्योपर्ययं पुर इति पञ्चचूडाः प्रतिमन्त्रं प्रतिदिशं यथालिङ्गम्' (का० श्रौ० १७।१२।२-३)। यज्ञरूपा नाकसदः। यजमानपञ्चमेष्वृत्विक्षु यज्ञाङ्गेषु पञ्चचूडत्वं संख्यासाम्यात्, 'आत्मा वै नाकसदः प्रजा पञ्चचूडाः' (श० ८।६।१।१३) इति श्रुतेः। 'दिशो वै नाकसदो दिश उ एव पञ्चचूडाः' (श० ८।६।१।१४) इति तत्प्रपञ्चः। 'एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इमाँल्लोकानुपरिष्टाद्रक्षाꣳसि नाष्ट्रा न हन्युरिति त एतानेषां लोकानामुपरिष्टाद् गोप्तॄनकुर्वत य एते हेतयश्च प्रहेतयश्च तथैवैतद्यजमान एतानेषां

लोकानामुपरिष्टाद् गोप्तॄन् कुरुते य एते हेतयश्च प्रहेतयश्च' (श० ८।६।१।१५)। अग्न्यादिभिरधिष्ठिता एव हेतिप्रहेतयो गोप्तार इति ज्ञातव्यम्। 'स पुरस्तादुपदधाति। अयं पुरो हरिकेश इत्यग्निर्वै पुरस्तद्यत्तमाह पुर इति प्राञ्चᳪ᳭ ह्यग्निमुद्धरन्ति प्राञ्चमुपचरन्त्यथ यद्धरिकेश इत्याह हरिरिव ह्यग्निः सूर्यरश्मिरिति सूर्यस्येव ह्यग्ने रश्मयस्तस्य रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानीग्रामण्याविति वासन्तिकौ तावृतू पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसाविति दिक् चोपदिशा चेति ह स्माह माहित्थिः सेना च तु ते समितिश्च दङ्क्ष्णवः पशवो हेतिः पौरुषेयो वधः प्रहेतिरिति यदन्योन्यं घ्नन्ति स पौरुषेयो वधः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्त्वति तेभ्य एव नमस्करोति ते नो मृडयन्त्विति त एवास्मै मृडयन्ति ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्म इति यमेव द्वेष्टि यश्चैनं द्वेष्टि तमेषां जम्भे दधात्यमुमेषां जम्भे दधामीति ह ब्रूयाद् यं द्विष्यात्ततो ह तस्मिन्न पुनरस्त्यपि तन्नाद्रियेत स्वयं निर्दिष्टो ह्येव स यमेवंविद् द्वेष्टि' (श० ८।६।१।१६)। अग्निर्वै अयं पुरो हरिकेशः। हि यतोऽग्निमेव प्राञ्चमुद्धरन्ति तमेव प्राञ्चमुपचरन्ति। अथ यद्धरिकेश इत्याह तेन हरिरिवाग्निर्हरिज्ज्वाल इत्युच्यते। सूर्यरश्मिरित्यस्य सूर्यस्य रश्मय इव रश्मयो यस्येत्यर्थ उक्तो भवति। तस्याग्नेः रथगृत्सो रथयुद्धकुशलः सेनानी रथौजाश्च ग्रामणीः, तौ च वासन्तिकावृतू। तस्य पुञ्जिकस्थला क्रतुस्थला चेत्यप्सरसौ दिक् चोपदिशा चेति स्माह माहित्थिरिति। सेना च समितिश्च ते। यद्वै सेनायां समितौ चर्त्यन्ते ते दङ्क्ष्णवः पशवः अन्यत् स्पष्टम्।

अध्यात्मपक्षे—हे चिदानन्दमयि परदेवते, योऽयमग्निर्हरिकेशः सूर्यरश्मिः, तस्य रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानीग्रामण्यौ, पुञ्जिकस्थला क्रतुस्थला चेत्यप्सरसौ, दङ्क्ष्णवः पशवो हेतिः पौरुषेयो वधः प्रहेतिः, तेभ्यो नमः। यस्याग्नेरीदृशं लोकोत्तरमुपकरणम्, त्वं तद्रूपासि, तद्रूपेणापि तवैवाविर्भावात्। तेनोऽवन्तु ते मृडयन्तु। यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः।

दयानन्दस्तु—'योऽयं पुरो हरिकेशः सूर्यरस्मिरस्ति, तस्य रथगृत्सो रथौजाश्च सेनानीग्रामण्यौ तस्य पुञ्जिकस्थला क्रतुस्थला चेत्यप्सरसौ, समूहस्थाना दिक् पुञ्जिकस्थला प्रज्ञाकर्मज्ञापनोपदिक् क्रतुस्थला। अप्सु प्राणेषु सरन्त्यौ ते अप्सरसौ। ये दङ्क्ष्णवः पशवः सन्ति, तेषामुपरि हेतिर्वज्रः पततु। यो पौरुषेयो वधः प्रहेतिरिव वर्तमानाः सन्ति तेभ्यो नमोऽस्तु। ये धार्मिका राजादयः सभ्या राजपुरुषाः सन्ति ते नोऽवन्तु। ते नो मृडयन्तु। ते वयं यं द्विष्मः, यश्च नो द्वेष्टि, तमेषां जम्भे दध्मः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, रश्मिमात्रस्य जडत्वात्, तस्योपकरणत्वेन सारथिवाहनाद्यसम्भवात्। सेनापतिग्रामाध्यक्षसदृशा अन्येऽपि रश्मय इत्यादिकमपि निरर्थकं प्रलपितमेव। कथङ्कारं प्रधानदिशां पुञ्जिकस्थलात्वम्? उपदिशां च कथं प्रज्ञाकर्मज्ञापकत्वम्? प्राणेषु च कथं तयोः सरणम्? रश्मिना च तेषां कः सम्बन्धः? हिंस्रपशूनामुपरि हेतिर्वज्रः पतत्विति किं त्वदीयशापेन वज्रपातः? पततुशब्दश्च मन्त्रे नास्त्येव।

आसां कण्डिकानां ब्राह्मणं तु पूर्वत्रास्मिन्नेवाध्याये दशमकण्डिकाव्याख्याने उपन्यस्तम्, तन्न विस्मर्तव्यम्॥ १५॥

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य रथस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानीग्रामण्यौ। मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ यातुधाना हेती रक्षाᳪ᳭सि प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः॥ १६॥

मन्त्रार्थ—यह दक्षिण दिशा में स्थापित इष्टका सकल कर्मकर्ता वायु का रूप है। रथ में स्थित हो शब्द करने वाला और रथ के ऊपर चित्र के समान स्थित हो नगर का शासन करने वाला सेनापति और नगररक्षक ग्रीष्म ऋतु यही है। सबके माननीय सर्वसाधारण के साथ रहने वाली ये दो अप्सराएँ हैं, राक्षसों का अवान्तर जातिभेद शस्त्र है, अतिक्रूर राक्षस शस्त्र है, इस प्रकार वायु के सम्पूर्ण परिवारकों के निमित्त नमस्कार हो। वे सब हमको सुख दें, वे सब हमारी रक्षा करें। जिससे हम द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करने वाले हैं, उनको हम इनकी दाढ़ों के बीच डालते हैं ॥ १६ ॥

अथ दक्षिणतः। हे इष्टके, अयं दक्षिणा, दक्षिणस्यां दिशीति दक्षिणा, 'दक्षिणादाच्' (पा० सू० ५।३।३६) इति सप्तम्यन्ताद् दक्षिणाशब्दाद् आचिप्रत्यये रूपम्। विश्वकर्मा विश्वं सर्वं कर्म यस्यासौ विश्वकर्मा, विश्वं करोतीति वा विश्वकर्मा, विश्वस्य रचयिता वायुः, 'अयं वै वायुर्विश्वकर्मा' (श० ८।६।१।१७) इति श्रुतेः। तस्य वायोः, रथस्वनो रथे स्थितः स्वनति शूरशब्दं करोतीति शूरोचितं निनदतीति रथस्वनः सेनानीः। रथेचित्रो रथे स्थितः सन् चित्र आश्चर्यकारी ग्रामणीः। 'हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्' (पा० सू० ६।३।९) इति सप्तम्या अलुक्। तस्य मेनका मानयन्त्येनामिति, सहजन्या जनैः सर्वैः सह स्थिता इति, अप्सरसां सर्वसाधारणत्वात्, एते अप्सरसौ परिचारिके। यातुधाना इति रक्षसामवान्तरजातिभेदः, हेतिः क्रूरा यातुधानास्तीक्ष्णहेतिरूपाः, अतिक्रूराणि रक्षांस्यतितीक्ष्णप्रहेतिस्वरूपाणि। यस्य वायोरिदं सर्वं वैभवं त्वं तद्रूपासि। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ दक्षिणतः। अयं दक्षिणा विश्वकर्मेत्ययं वै वायुर्विश्वकर्मा योऽयं पवत एष हीदꣳ सर्वं करोति तद्यत्तमाह दक्षिणेति तस्मादेष दक्षिणैव भूयिष्ठं वाति तस्य रथस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानीग्रामण्याविति ग्रैष्मौ तावृतू मेनका च सहजन्या चाप्सरसाविति दिक् चोपदिशा चेति ह स्माह माहित्थिरिमे तु ते द्यावापृथिवी यातुधाना हेती रक्षाꣳसि प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्त्विति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ८।६।१।१७)। द्यौर्मेनका पृथिवी सहजन्येति। स्पष्टमितरत्।

अध्यात्मपक्षे—हे परदेवते, अयं दक्षिणा दक्षिणस्यां दिशि वर्तमानो विश्वकर्मा वायुः। तस्य रथस्वनो रथेचित्रश्च सेनानीग्रामण्यौ। इत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम्। यस्येदृशं वैभवं त्वं तद्रूपासि। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा योऽयं विश्वकर्मा वायुर्दक्षिणा वाति, तस्य वायो रथस्वनश्च रथस्य स्वनः शब्द इव स्वनो यस्य सः। रथे रमणीये चित्रा चित्राण्याश्चर्यरूपाणि चिह्नानि यस्य सः। सेनानीग्रामण्याविव वर्तमानौ। यया मन्यते सा मेनका। सहजन्या सहोत्पन्ना अप्सरसौ वर्तेते। ये यातुधानाः सन्ति तेषामुपरि हेतिः पततु। रक्षांसि दुष्टकर्मकारिणस्तेषामुपरि प्रहेतिः। तेभ्यो नमो वज्रोऽस्तु। शिक्षका न्यायाधीशास्ते नोऽवन्तु' इत्यादिकम्, तदप्यसङ्गतमेव, निर्मूलत्वात्, रथस्वनरथेचित्रयोरनिरूपणात्। मेनका सहजन्या चान्तरिक्षे वर्तमानाः किरणा उक्ताः, किरणानां च जाड्यमेव। तथा च यया मन्यते सा मेनकेति व्युत्पत्तिर्विरुध्येत। न च किरणानां रथस्वनत्वम्, तथाऽननुभवात्। न च रमणीये रथे चिह्नयुक्तान्याश्चर्यमयानि कार्याणि दृश्यन्ते, न वा मनुष्याणां प्रार्थनामात्रेण प्रजापीडकेषु दुष्टेषु वा हेतिप्रहेतिपातो दृश्यते। वज्रोऽपि न तेषु पतति। ताभ्यामेव तन्निराकरणोपपत्तौ नम इत्यस्य वज्रार्थताकल्पनापि निरर्थिकैव। न च मनुष्येच्छामात्रेण वज्रपातो भवति। राज्ञा दण्डपातने तु न प्रार्थनापेक्षा, तत्प्रवृत्तेः संविधानाधीनत्वात्। पूर्वं नम इत्यस्य नमस्कार एवार्थ उक्तः। अत्र तु वज्र इति पूर्वापरविरोधोऽपि ॥ १६ ॥

अयं पश्चाद्विश्वव्यचास्तस्य रथप्रोतश्चासमरथश्च सेनानीग्रामण्यौ । प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसौ व्याघ्रा हेतिः सर्पाः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—यह पश्चिम दिशा में स्थापित इष्टका सारे विश्व के प्रकाशक आदित्य का रूप है। उसका रथयुद्ध में धैर्यवान् शूर और अनुपम रथी सेनापति और ग्रामप्रधान वर्षा ऋतु है। अपने वेशविन्यास आदि के द्वारा सर्वसाधारण का मन हरने में समर्थ और एक बार मुग्ध होकर क्लेश पाने वाले व्यक्ति को फिर मोह में डालने वाली दो अप्सराएँ हैं। व्याघ्र जीव शस्त्र है। सर्प तीक्ष्ण शस्त्र है। इस प्रकार आदित्य के इन समस्त परिवारकों को हम नमन करते हैं। वे सब हमको सुख दें, वे सब हमारी रक्षा करें। जिससे हम द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करने वाले हैं, उन सबको हम इनकी दाढ़ों के बीच डालते हैं ॥ १७ ॥

अथ पश्चात्। पश्चात् पश्चिमदेशे। अपरस्मिन् प्रदेशे इत्यर्थेऽपरशब्दस्य पश्चभावः, आतिश्च प्रत्ययः 'पश्चात्' (पा० सू० ५।३।३२) इति सूत्रेण निपात्यते। अयमादित्यो विश्वव्यचा विश्वं सर्वं विचति, उदयेन सम्भावयति, व्याप्नोतीति। असुन्। पश्चिमायां स्पष्टं दृश्यत इति पश्चात्। तस्य आदित्यस्य रथप्रोतो रथे स्थितः प्रोत इव स्थिरः, असमरथोऽसमोऽन्यै रथैरतुल्यो रथो यस्यासौ, तावेतौ सेनानीग्रामण्यौ। तौ च वार्षिकावृतू वार्षिकौ मासौ। प्रम्लोचन्ती प्रम्लोचति नरं प्रत्यात्मानं दर्शयतीति, अनुम्लोचन्ती अनु वारं वारं म्लोचतीत्यनुम्लोचन्ती, ते एते अप्सरसौ। व्याघ्राः प्रसिद्धा हेतिः, सर्पाः प्रहेतिः। सर्वमेतद्यस्य वैभवं हे इष्टके, त्वं तद्रूपासि। तेभ्यो नमोऽस्तु। इत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ पश्चात्। अयं पश्चाद्विश्वव्यचा इत्यसौ वा आदित्यो विश्वव्यचा यदा ह्येवैष उदेत्यथेद७ँ सर्वं व्यचो भवति तद्यत्तमाह पश्चादिति तस्मादेतं प्रत्यञ्चमेव यन्तं पश्यन्ति तस्य रथप्रोतश्चासमरथश्च सेनानीग्रामण्याविति वार्षिकौ तावृतू प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसाविति दिक् चोपदिशा चेति ह स्माह माहित्थिरहोरात्रे तु ते ते हि प्रम्लोचतोऽनुचम्लोचतो व्याघ्रा हेतिः सर्पाः प्रहेतिरिति व्याघ्रा हैवात्र हेतिः सर्पाः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्त्विति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ८।६।१।१८)। एतदनुसृत्यैव पूर्वोक्तं व्याख्यानम्। अहरेव प्रम्लोचन्ती रात्रिरेवानुम्लोचन्ती।

अध्यात्ममपि पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथायं विश्वव्यचा अस्ति विद्युद्रूपोऽग्निरस्ति, तस्य सेनानीग्रामण्याविव रथप्रोतश्चासमरथश्च प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसौ स्तः। यथा हेतिः प्रहेतिः सर्पा व्याघ्राश्च सन्ति, तेभ्यो नमोऽस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, कल्पनामात्रप्रसूतत्वात्, अत एव निर्मूलत्वाच्च ॥ १७ ॥

अयमुत्तरात् संयद्वसुस्तस्य ताक्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानीग्रामण्यौ। विश्वाची च घृताची चाप्सरसावापो हेतिर्वातः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—उत्तर दिशा में स्थापित इष्टका धन से प्राप्त होने वाला यज्ञ है। उसका अन्तरिक्ष में तीक्ष्ण पक्ष रूपी आयुधों का विस्तार करने वाला और अरिष्टनाशक अप्रतिहत आयुध वाला सेनानी और ग्रामपालक शरद् ऋतु है। घृताची और विश्वाची नामक दो अप्सराएँ हैं। जल शस्त्र है और पवन तीक्ष्ण शस्त्र है। इस प्रकार के यज्ञ के सभी परिवारकों का हम नमन करते हैं। वे सब हमको सुख दें। वे सब हमारी रक्षा करें। जिनसे हम द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करने वाले हैं, उन सबको हम इनकी दाढ़ों के बीच छोड़ते हैं॥ १८॥

अथोत्तरतः। उत्तराद् उत्तरस्मिन्निति। 'उत्तराधरदक्षिणादातिः' (पा० सू० ५।३।३४) इति सप्तमी-प्रधानेऽर्थे आतिः प्रत्ययः। अयम् उत्तरत उत्तरस्यां दिशि संयद्वसुः सम्यग् यन्ति गच्छन्ति वसूने धनार्थं यं प्रति स यज्ञः। यज्ञं गतेभ्यो हि दानमावश्यकम्। यज्ञस्योत्तरोपचारत्वाद् उत्तराद् यज्ञः। तस्य तार्क्ष्यस्तीक्ष्णेऽन्तरिक्षे क्षिपति पक्षाविति तार्क्ष्यः, अरिष्टनेमिः अरिष्टा अनुपहिंसिता नेमिरायुधं यस्यासौ, एतन्नामकौ सेनानीग्रामण्यौ। तौ च शारदावृतू शरत्सम्बन्धिनौ मासौ। विश्वाची विश्वं सर्वं प्रति अञ्चति या सा, सर्वसाधारणत्वात्। घृताची घृतमञ्चति भुङ्क्त इति तथोक्ता। घृतं ह्यप्सरसामन्नम्, 'घृतस्य स्तोकं सकृदह्न आश्नाम्' (ऋ० सं० १०।९५।१६) इत्युर्वशीवचनात्। आपः अपां समूहः, 'तस्य समूहः' (पा० सू० ४।२।३७) इत्यण्प्रत्ययः, हेतिः। वातः प्रहेतिः। तेभ्यो नमोऽस्त्वित्यादि पूर्ववत्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथोत्तरतः। अयमुत्तरात् संयद्वसुरिति यज्ञो वा उत्तराद् यत्तमाहोत्तरादित्युत्तरत उपचारो हि यज्ञोऽथ यत्संयद्वसुरित्याह यज्ञꣳ हि संयन्तीतीदं वस्विति तस्य तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानीग्रामण्याविति शारदौ तावृतू विश्वाची च घृताची चाप्सरसाविति दिक् चोपदिशा चेति स्माह माहित्थिर्वेदिश्च त ते स्रुक् च वेदिरेव विश्वाची स्रुग्घृताच्यापो हेतिर्वातः प्रहेतिरित्यापो हैवात्र हेतिर्वातः प्रहेतिरतो ह्येवोष्णो वात्यतः शीतस्तेभ्यो नमो अस्त्विति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ८।६।१।१९)। संयद्वसुर्यज्ञः। यतो यज्ञस्योत्तरतोऽयमुपचारो यद् यज्ञमागतेभ्यो दानमावश्यकम्। तस्मात् संयन्ति वसुने जना यं सोऽयं यज्ञः संयद्वसुः। तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानीग्रामण्यौ। तौ च शारदौ मासावेव। विश्वाची च घृताची च अप्सरसौ। ते च दिगुपदिग्रूपे। वेदिरेव विश्वाची स्रुग्घृताची। सा हि स्पष्टं घृतमञ्चतीति। अतो दक्षिणत उष्णो वायुर्वाति, उत्तरतः शीतो वायुर्ग्रीष्मर्तावपि। तस्मादापो हेतिर्वायुः प्रहेतिरिति।

अध्यात्मपक्षे—हे परदेवते, संयद्वसुर्यज्ञः, तस्य तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानीग्रामण्यौ, सर्वमेतद्यस्य वैभवं त्वं तद्रूपासि। तेभ्यस्त्वद्रूपेभ्यो नम इत्यादि पूर्ववदूहनीयम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथायमुत्तरात् संयद्वसुरिव शरदृतुरस्ति, तस्य सेनानीग्रामण्याविव तार्क्ष्य-श्चारिष्टनेमिश्च विश्वाची घृताची चाप्सरसौ स्तः। यथापो हेतिरिव वर्तिका वातः प्रहेतिरिवानन्दप्रदो भवति, तं ये युक्त्या सेवन्ते तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु....इत्यादिकम्' तदपि विसङ्गतमेव, श्रुतिविरोधात्। उक्तरीत्या श्रुत्या यज्ञ एव संयद्वसुरुक्तः। शारदावृतू तस्य सेनानीग्रामण्यावुक्तौ। न च सङ्गतिकरणाद्धेतोः शरदेव यज्ञ इति वाच्यम्, तथात्वे वसन्तादेरपि यज्ञत्वापत्तेः। तथैव वेदिरेव विश्वाची स्रुग् घृताची चोक्तेति तद्विरुद्धकल्पना निर्मूलैव॥ १८॥

अयमुपर्यर्वाग्वसुस्तस्य सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानीग्रामण्यावुर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसा-ववस्फूर्जन् हेतिर्विद्युत् प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः॥ १९॥

मन्त्रार्थ—यह मध्य दिशा में वर्तमान इष्टका पर्जन्य का रूप है। उसके सेना को जीतने वाले और सुन्दर सैन्य वाले सेनापति और ग्रामपालक हेमन्त ऋतु है, उर्वशी और पूर्वचित्ति नामक दो अप्सराएँ सब पुरुषों का मन हरने वाली हैं। भयजनक वज्र का शब्द शस्त्र और बिजली तीक्ष्ण शस्त्र है। इस प्रकार के पर्जन्य के सभी परिचारकों को हम नमस्कार करते हैं। वे सब हमको सुख दें, वे सब हमारी रक्षा करें। जिनसे हम द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करने वाले हैं, उन सबको चबा जाने के लिये हम इनकी डाढ़ों के बीच छोड़ते हैं॥ १९ ॥

अथ मध्ये। अयं पर्जन्य उपरि ऊर्ध्वदेशे 'उपर्युपरिष्टात्' (पा० सू० ५।३।३१) इत्यूर्ध्वदेशे इत्यर्थे उपरीति निपातितः। अर्वाग् अधोमुखं वसु धनं जलरूपं यस्मादसावर्वाग्वसुः, अधः प्रजाभ्यो जलं ददातीत्यर्थः। तस्य पर्जनस्य सेनजित् सेनां जयतीति तथोक्तः। 'इचापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' (पा० सू० ६।३।६३) इति ह्रस्वः। सुषेणः सुष्ठु सेना यस्यासौ सुषेणः, 'पूर्वपदात्' (पा० सू० ८।३।१०६) इति षत्वम्, ततो णत्वम्। तौ सेनानीग्रामण्यौ। तौ च हैमन्तिकावृतू। उर्वशी उरुः पृथुः कामो वशो यस्याः सा उर्वशी, पूर्वचित्तिश्च रूपातिशयात् पूर्वमेव पुंसां चित्तमुपैतीति पूर्वचित्तिः, एते अप्सरसौ तस्य परिचारिके। अथवा पूर्वं पुंसां चित्तं सौभाग्यातिशयात् तामभ्युपैतीति पूर्वचित्तिः, एते अप्सरसौ दिगुपदिग्रूपे। अवस्फूर्जन् वज्रनिर्घोषं कुर्वन्, स्फूर्जतिर्वज्रनिर्घोषे, पर्जन्यो हेतिः, विद्युत् तडित् प्रहेतिः। शेषं पूर्ववत्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ मध्ये। अयमुपर्यर्वाग्वसुरिति पर्जन्यो वा उपरि तद्यत्तमाहोपरीत्युपरि हि पर्जन्योऽथ यदर्वाग्वसुरित्याहातो ह्यर्वाग्वसु वृष्टिरन्नं प्रजाभ्यः प्रदीयते तस्य सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानीग्रामण्याविति हैमन्तिकौ तावृतू उर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसाविति दिक् चोपदिशा चेति ह स्माह माहित्थिराहुतिश्च तु ते दक्षिणा चावस्फूर्जन् हेतिर्विद्युत् प्रहेतिरित्यवस्फूर्जन् हैवात्र हेतिर्विद्युत् प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्त्विति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ८।६।१।२०)। 'एते वै ते हेतयश्च। यांस्तद्देवा एषां लोकानामुपरिष्टाद् गोप्तॄनकुर्वताथ यास्ताः प्रजा एते ते सेनानीग्रामण्योऽथ यत्तन्मिथुनमेतास्ता अप्सरसः सर्व एव तद्देवाः कृत्स्ना भूत्वा सह प्रजया सह मिथुनेनैतस्मिन्नाके स्वर्गे लोकेऽसीदंस्तथैवैतद्यजमानः सर्व एव कृत्स्नो भूत्वा सह प्रजया सह मिथुनेनैतस्मिन्नाके स्वर्गे लोके सीदति' (श० ८।६।१।२१)। सुस्पष्टः कण्डिकार्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे परदेवते, यस्यार्वाग्वसोरीदृशं वैभवं त्वं तद्रूपासि।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, अयमुपरि वर्तमानोऽर्वाग्वसुर्हेमन्तर्तुरस्ति, तस्य सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानीग्रामण्याविव मार्गशीर्षपौषौ मासौ' इति, तदपि श्रुतिविरुद्धमेव। उरु बहु अश्नाति यया सेति दीप्तिः, पूर्वा प्रथमा चितिः संज्ञानं यस्याः सा चाप्सरसावित्यप्यसाम्प्रतम्, श्रुतौ दिगुपदिग्रूपत्वोक्तेः॥ १९॥

अ॒ग्निर्मू॒र्धा दि॒वः क॒कुत्पतिः पृथि॒व्या अ॒यम्। अ॒पाᳪं रेताᳪंसि जिन्वति॥ २०॥

मन्त्रार्थ—यह अग्नि स्वर्गलोक का सिर के समान प्रधान और बैल के कन्धे के समान उन्नत, जगत् का महान् कारण है। सूर्य रूप से प्रकाश देने के कारण यह पृथ्वी का पालक है। यह जल के सार भाग को पुष्ट करता है। अर्थात् द्युलोक से गिरते हुए वर्षा के जल को यह अन्न आदि के पकाने की शक्ति देता है, अथवा आहुति के फल से वर्षा को उत्पन्न करता है॥ २०॥

'छन्दस्यास्तिस्रस्तिस्रोऽनूकान्तेषु पुरस्ताद् गायत्रीरग्निर्मूर्धेति प्रत्यृचम्' (का० श्रौ० १७।२।४)। वक्ष्यमाणा गायत्र्याद्याश्छन्दस्या एकैकस्मिन् स्थाने तिस्र उपदध्यात्। तासां मध्यमा पद्यानूके, तामभितो द्वे

अर्धपद्ये । अत्र पूर्वदिश्यनूकान्ते तिस्रो गायत्रीरिष्टका उपदध्याद् उदङ्मुखः प्राग्लक्षणाः, अग्निर्मूर्धेति प्रत्यृचम्, एवं वक्ष्यमाणा अपीति सूत्रार्थः । अयमग्निरादित्यरूपेण दिवो द्युलोकस्य ककुद् गोपृष्ठोन्नतावयववच्छ्रेष्ठः । मूर्धा शिरःस्थानीयः । पृथिव्याः पतिर्दाहपाककारित्वेन पालकोऽप्ययमपां जलानां रेतांस्युदककार्याणि स्थावरजङ्गम-शरीराणि जाठराग्निरूपेण जिन्वति प्रीणाति । इयमृक् तृतीये द्वादश्यां कण्डिकायां व्याख्यातपूर्वा ।

आध्यात्मिकोऽर्थो विशेषेण तत्रैवावसेयः ।

दयानन्दस्तु—'यथा हेमन्तर्तावयमग्निर्दिवः पृथिव्याश्च मध्ये मूर्धा ककुत्पतिः सन्नपां रेतांसि जिन्वति, तथैव मनुष्यैर्बलिष्ठैर्भवितव्यम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यथातथैवाद्यंशानां मन्त्रबाह्यत्वात् ॥ २० ॥

अ॒यम॒ग्निः स॑ह॒स्रिणो॒ वाज॑स्य श॒तिन॒स्पतिः॑ । मू॒र्धा क॒वी र॑यी॒णाम् ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—यह अग्नि सहस्र संख्या वाले और शत संख्या वाले अन्न का स्वामी, क्रान्तदर्शी और सभी प्रकार के धनों में प्रधान धन है ॥ २१ ॥

अयमग्निः पुरोवर्ती सहस्रिणः सहस्राणि बहूनि विद्यन्ते यस्यासौ सहस्री तस्य, शतिनः शतान्यनन्तानि विद्यन्ते यस्यासौ शती, तस्य वाजस्य अन्नस्य पतिः स्वामी, अनन्तान्नप्रद इत्यर्थः । तथा रयीणां धनानां मूर्धा शिरोवदुत्तमः । अग्निर्हि सर्वधनानां प्रधानभूतः, दृष्टादृष्टाभीष्टसाधनत्वात् । कविः क्रान्तदर्शी, अतीतानागत-वर्तमानद्रष्टा, अतस्तं स्तुम इति शेषः ।

अध्यात्मपक्षे—अयं प्रत्यगभिन्नोऽग्निः परमेश्वरः सहस्रिणः शतिनश्च वाजस्य धनस्य पतिः, रयीणां धनानां मूर्धा, सर्वधनसाध्यसुखसिन्धुस्वरूपत्वात् । कविः क्रान्तदर्शी सर्वदर्शी । तमहमाश्रये ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथायमग्निः सहस्रिणः शतिनो वाजस्य रयीणां च पतिर्मूर्धा कविरस्ति, तथैव यूयं भवत' इति, तदपि तुच्छम्, सम्बोन्धनोपसंहारयोर्निर्मूलत्वात् ॥ २१ ॥

त्वाम॑ग्ने॒ पुष्क॑रा॒दध्यथ॑र्वा॒ निर॑मन्थत । मू॒र्ध्नो विश्व॑स्य वा॒घतः॑ ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्ने ! प्राण ने जल के बीच में से मथ कर तुमको निकाला है । सम्पूर्ण संसार के यज्ञीय ऋत्विजों ने आदर के साथ तुम्हारा मन्थन किया है ॥ २२ ॥

इयमेकादशे द्वात्रिंशत्तमकण्डिकायां व्याख्यातपूर्वापि व्याख्यायते । हे अग्ने, अथर्वा एतदाख्य ऋषिः पुष्करादधि पद्मपत्रस्योपरि त्वां निरमन्थत निःशेषेण मथितवान्, 'पुष्करपर्णे ह्येनमुपश्रितमविन्दत्' (तै० सं० ५।१।४।४) इति श्रुतेः । कीदृशात् पुष्करपर्णात् ? मूर्ध्न उत्तमाङ्गवत् श्रेष्ठाद् विश्वस्य सर्वस्य जगतो वाघतो वाहकात् । इदं हि पुष्करपर्णमग्निमन्थनयज्ञनिष्पादनद्वारा सर्वं जगन्निर्वहति ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन्, अथर्वोपलक्षिता ऋषयस्त्वां पुष्कराद् हृदयकमलाद् ध्यानाभ्यासरूप-निर्मन्थनाद् आविर्भावितवन्तः । कीदृशात् पुष्करात् ? मूर्धवदुत्तमाद् विश्वस्य सर्वस्य वाहकात् । विश्वाधारस्य भगवतो धारकत्वात् सुतरां सर्ववाहकत्वमिति ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, यथा अथर्वा रक्षको वाघतः सुशिक्षिताभिर्वाग्भिरविद्या हन्यते येन स मेधावी, 'वाघत इति मेधाविनामसु' (निघ० ३।१५।२४) पठितत्वात् । पुष्कराद् अन्तरिक्षस्य अधि मध्ये मूर्ध्नः शिरोवद्वर्तमानमग्निं विद्युतं निरमन्थत मथित्वा गृह्णाति, तथैव त्वां बोधयामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, द्वितीयान्ताग्निशब्दस्य मूलेऽभावात्, मूर्धन् इत्यस्य तद्विशेषणानुपपत्तेश्च ॥ २२ ॥

भुवो॑ य॒ज्ञस्य॒ रज॑सश्च ने॒ता यत्रा॑ नि॒युद्भिः॒ सच॑से शि॒वाभिः॑ ।
दि॒वि मू॒र्धानं॑ दधिषे स्व॒र्षां जि॒ह्वाम॑ग्ने चक्षे ह॒व्यवाह॑म् ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! तुम जब हवि को धारण करने वाली जिह्वारूप ज्वाला को प्रकट करते हो, तब द्रव्य और देवता के त्यागरूप यज्ञ के एवं यज्ञ के परिणाम रूप जल के प्रवर्तक और प्रापक होते हो। मंगल रूप अश्वों के साथ तुम यहाँ आते हो और द्युलोक में स्वर्ग को देने वाले आदित्य को धारण करते हो ॥ २३ ॥

'पुरस्तात्त्रिष्टुभो रेतःसिग्वेलायां भुवो यज्ञस्येति' (का० श्रौ० १७।१२।७)। पूर्वस्यां दिशि रेतःसिग्वेलायां त्रिष्टुप्संज्ञकास्तिस्र इष्टकाः प्राग्लक्षणा उदङ्मुखास्त्रिष्टुप्छन्दस्काभिस्तिसृभिर्ऋग्भिरुपदध्यादिति सूत्रार्थः। तिस्र ऋच आग्नेय्यः। तत्रेयं प्रथमा त्रयोदशेऽध्याये पञ्चदश्यां कण्डिकायां व्याख्याता। हे अग्ने, भुवो भूर्लोकस्य तत्रानुष्ठितस्य यज्ञस्य तस्मिन् यज्ञे प्रवर्तकस्य रजसो रजोगुणस्य च त्वं नेता निर्वाहकः। यत्र यस्यां दिवि सूर्यरूपो भूत्वा नियुद्भिर्नितरां योज्यमानाभिरश्वाभिः शिवाभिः सचसे समवैषि सम्बन्धं करोषि, नियुतो वायोः' (निघ० १।१५।१०) इत्युक्तेर्नियुतो नाम वायोरश्वाः। तस्यां दिवि मूर्धानं शिरोवत् प्रधानमादित्यं दधिषे धारयसि। कीदृशं मूर्धानम् ? स्वर्षाम्, स्वः स्वर्गं सनोति ददातीति स्वर्षास्तम्। यद्वा स्वः स्वर्गे स्यति सदा तिष्ठति न ततोऽपसरतीति स्वर्षास्तम्। तथा अस्मिन् यज्ञे हव्यवाहं हव्यं वहतीति हव्यवाट्, तां जिह्वां हविषः प्रापिकां ज्वालां चकृषे करोषि।

अध्यात्मपक्षे हे अग्ने परमेश्वर, त्वं भुवो भूर्लोकस्य यज्ञस्य रजसश्च नेता प्रेरकः, यत्र यस्यां दिवि नियुद्भिर्नियुद्गुणविशिष्टाभिरश्वाभिः सहितं वायुं सचसे सेवसे, नियुद्भिर्वायुर्लक्ष्यते, यत्र च मूर्धानमादित्यं दधिषे धारयसि, कीदृशमादित्यम् ? स्वर्षाम्, स्वर्गलोकदातारम्, तत्र च हव्यवाहं हविर्वोढीं जिह्वां चकृषे करोषि, परमेश्वरस्यैवाग्निज्वालादिरूपेण देवेभ्यो हविषः प्रापकत्वात् ॥ २३ ॥

अबो॑ध्य॒ग्निः स॒मिधा॒ जना॑नां॒ प्रति॑ धे॒नुमि॑वाय॒तीमु॒षास॑म् ।
य॒ह्वा इ॑व॒ प्र व॒यामु॒ज्जिहा॑नाः॒ प्र भा॒नवः॑ सिस्रते॒ नाक॒मच्छ॑ ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—ज्ञान, श्रद्धा, द्विजतर्पण, सत्य आदि से सम्पन्न अग्निहोत्रियों की संविदा से अग्नि प्रज्वलित होता है। दीप्तिमान् अग्नि की किरणें स्वर्ग के चारों ओर उसी प्रकार फैलती हैं, जैसे कि पक्षी अपने पंखों की सहायता से वृक्षों की शाखाओं पर से आकाश में उड़ जाते हैं ॥ २४ ॥

अयमग्निर्जनानां ज्ञानश्रद्धाद्विजतर्पणसत्यादिनिष्ठानामग्निहोत्रिणां समिधा समिन्धनेन प्रत्यबोधि प्रतिबुद्ध्यते, कर्मणि स्वाधिकारं जानातीत्यर्थः। क इव ? यथा वत्स आयतीं समागच्छन्तीं धेनुं प्रतिबुद्ध्यते तद्वत्। यथा वा उषासम् उषःकालाधिष्ठात्रीं देवतां मनुष्याः प्रतिबुद्ध्यन्ते तद्वत्। आहुतिभिर्दीप्तस्य तस्याग्नेर्भानवो रश्मयो नाकमच्छ स्वर्गमभिप्राप्तुं प्र सिस्रते प्रसरन्ति। 'अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः (निरु० ५।२८)। तत्र दृष्टान्तः—यह्वा महान्तो जातपक्षाः पक्षिणो वयां वृक्षशाखां प्रोज्जिहानाः परित्यजन्तो नाकमाकाशं प्रति प्रसरन्ति तद्वत्। यद्वा जनानामृत्विजां सम्बन्धिन्या समिधा अग्निसमिन्धनसाधनेन काष्ठेन अग्निः प्रत्यबोधि प्रतिबोधितः प्रज्वलितो भवति। आयतीमागच्छन्तीमुषासं प्रातःकालं प्रति यथा धेनुं प्रतिबोधयन्ति उत्थापयन्ति जनाः, तथाग्निहोत्रिणोऽग्निमुद्बोधयन्तीत्यर्थः। तस्य प्रबुद्धस्याग्नेर्भानवः प्रोज्जिहानाः

नाकमभि प्र सिस्रते । तत्र दृष्टान्तः—वयां पक्षिणां मध्ये यह्वा महान्तः पक्षिणो यथा प्रोद्गच्छन्तः प्रसरन्ति, तद्वत् । विः पक्षी, तस्य षष्ठीबहुवचने छान्दसे गुणे वयामिति रूपम् । एकः प्रशब्द उज्जिहाना इत्यनेनापरः सिस्रते इत्यनेन च सम्बद्धयते । उषासमिति 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३।१।८५) इति ह्रस्वस्य दीर्घव्यत्ययः ।

अयमभिप्रायः—आयतीमागच्छन्तीं धेनुं गां वत्सो यथा प्रतिबुद्धयते, आयतीमुषासमुषसं प्रातःकालं यथा मनुष्याः प्रतिबुद्धयन्ते, तथायमग्निर्जनानामाहिताग्नीनां समिधा समिन्धनेन प्रत्यबोधि कर्मणि स्वाधिकारं जानाति । यथा यह्वा महान्तः, पक्षिण इति शेषः, वयां वृक्षशाखां प्रोज्जिहानाः परित्यजन्तो नाकमाकाशमच्छमभि सिस्रते प्रसरन्ति, तथा तस्याग्नेर्भानवः किरणा नाकं स्वर्गमच्छ अभि सिस्रते । अत्र धेनुमित्यत्र वत्सस्य, उषासमित्यत्र मनुष्या इत्यस्य, यह्वा इत्यत्र पक्षिण इत्यस्य च शेषत्वं द्रष्टव्यम् । यद्वा—अयमग्निर्जनानामाहिताग्नीनां समिधा अबोधि प्रज्वलितोऽभूत् । तत्र दृष्टान्तः—आयतीमुषासं प्रति धेनुमिव उषःकाले समागते सति दोहनार्थं समागतां धेनुं प्रति यथा वत्सः प्रतिबुद्धयते तद्वत् । उद्बुद्धयमानस्याग्नेर्भानवः किरणाः प्रोज्जिहानाः प्रकर्षेणोद्गच्छन्तो नाकमच्छ स्वर्गमभिप्राप्तुं प्र सिस्रते । तत्र दृष्टान्तः—यह्वा महान्तः पक्षिण इव वयां वीनां पक्षिणां मध्ये नाकमच्छ सिस्रते आकाशमभिप्राप्तुं प्रसरन्ति तद्वत् ।

अध्यात्मपक्षे—अयं ज्ञानाग्निर्जनानामधिकारिणां साधनचतुष्टयसम्पन्नानां समिधा ज्ञानसाधनेन वेदान्तश्रवणमननादिभिः प्रत्यबोधि प्रतिबुद्धयते प्रज्वलितो भवति । क इव ? यथा आयतीमागतां धेनुं प्रति वत्सो बुद्धयते, यथा वा आयतीमुषासं प्रातःकालं प्रति मनुष्यादयो बुद्धयन्ते तद्वत् । तस्य ज्ञानाग्नेर्भानवो रश्मयो नाकं दुःखातीतं परमात्मानम् अच्छ अभि प्राप्तुं सिस्रते प्रसरन्ति । यथा वयां पक्षिणां मध्ये यह्वा महान्तो जातपक्षा नाकमाकाशमभि सिस्रते तद्वत् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा समिधाऽयमग्निरबोधि प्रकाशते, आयतीमुषासं प्रति जनानां धेनुमिवास्ति यस्य, यह्वा इव महान्तो धार्मिका इव प्रवयां व्यापिकां सुखनीतिमुज्जिहाना उत्कृष्टतया प्राप्नुवन्तः प्रभानवः किरणा नाकमविद्यमानदुःखमाकाशम् अच्छ सम्यक् सिस्रते प्रापयन्ति तं सुखाय यूयं सम्प्रयुङ्ध्वम्' इति, तदपि निरर्थकमेव, असम्बद्धत्वात्, अत्रत्यस्य हिन्दीभाष्यस्य चास्पष्टत्वात् ॥ २४ ॥

अवो॑चाम क॒वये॒ मेध्या॑य॒ वचो॑ व॒न्दारु॑ वृष॒भाय॒ वृष्णे॑ ।
गवि॑ष्ठिरो॒ नम॑सा॒ स्तोम॑म॒ग्नौ दि॒वीव॑ रु॒क्मम॑रु॒व्यञ्च॑मश्रेत् ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—हम क्रान्तदर्शी उद्गातागण यज्ञ के योग्य श्रेष्ठ कामना करने में समर्थ अग्नि की स्तुति करने वाले वचनों का कथन करते हैं । वाणी में स्थिर होता हुआ पुरुष अन्न से युक्त स्तुति को आहवनीय अग्नि में उसी प्रकार अर्पित करता है, जिस प्रकार स्वर्ग में रोचमान आदित्य को सन्ध्यावन्दन, सूर्योपस्थान आदि में प्रयुक्त स्तुति अर्पित की जाती है ॥ २५ ॥

सामस्तोत्राणामुद्गातार ऋत्विजो वदन्ति । किं वदन्तीत्युच्यते—कवये क्रान्तदर्शनाय मेध्याय मेधे यज्ञे योग्यो मेध्यस्तस्मै । अग्नये अवोचाम स्तुतिरूपं वचो वाक्यमुक्तवन्तो वयम् । कीदृशं वचः ? वन्दारु वन्दनशीलं स्तुतितत्परम् 'शृवन्द्योरारुः' (पा० सू० ३।२।१७३) । वन्दतेऽभिवादयते स्तौति वेति वन्दारु । कीदृशाय अग्नये ? वृषभाय श्रेष्ठाय, कामानां वर्षित्रे फलदात्रे वा । आहुतिपरिणामाभिप्रायमेतत् । पुनः कीदृशाय ? वृष्णे

सेक्त्रे। अर्थाद् यूने परिणामादिविकारशून्यायेत्यर्थः, नित्यं नवोनायेति तात्पर्यम्। गविष्ठिर इदानीं गवि वाचि स्थिरोऽप्रच्याव्यो होता, 'गवियुधिभ्यां स्थिरः' (पा० सू० ८।३।९५) इति षत्वम्। नमसा अन्नेन युते स्तोमं स्तुतिम् अग्नौ आहवनोये, अश्रेद् आसञ्जयिष्यति, अग्निसम्बद्धं करिष्यतीत्यर्थः। अन्तर्भूतण्यर्थः श्रयतिः। लङ् च लृडर्थे, 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति वचनात्। 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इति शपो लुकि गुणः। कथमिव? दिवीव रुक्मम्। यथा द्युलोके रुक्मं रोचनमादित्यम्, उरु व्यञ्चं सन्ध्यावन्दनसूर्योपस्थानादिषु विशेषेण प्रयुक्ता उरवो बहवो व्यञ्चाः स्तुतयो गतयो वा यस्य सः, तमिव। अथवा उरुभिः स्तुतिभिर्भक्तिभिः स्वरसौष्ठवाद्युपेताभिर्युक्तम्। स्तोम आदित्येन आहवनीयो दिवा चोपमीयते।

अध्यात्मपक्षे—उद्गातारो होतारो भक्ताश्च भगवन्तं स्तुवन्ति। वयमग्नये परमेश्वराय वचोऽवोचाम नैकधा स्तुतिवाचमुक्तवन्तः। कीदृशायाग्नये? कवयेऽतीतानागतवर्तमानदर्शिने। पुनः कीदृशाय? मेध्याय परमपवित्राय, पावनानां पावनत्वात्। पुनः कीदृशाय? वृषभाय वृषो धर्मो भाति शोभते यस्मादसौ वृषभः, तस्मै। पुनः कीदृशाय? वृष्णे अभोष्टकामवर्षुकाय। कीदृशं वचः? वन्दारु वन्दनादियुक्तम्। गविष्ठिरो वाच्यस्खलितः, अथवा गवि उच्चभक्तिभूमिकायां स्थिरः स्थितो भक्तो नमसा हविर्नैवेद्याद्यन्नेन युक्तं स्तोमं स्तुतिसमूहम् अग्नौ भगवति, अश्रेत् आसञ्जयिष्यति। कुत्र किमिव? दिवि द्युलोके रुक्मं रोचमानम् उरुव्यञ्चं बहुभिः स्तुतिभिर्गतिभिर्वा युक्तमादित्यमिव।

दयानन्दस्तु—'वयं यथा गविष्ठिरो गोषु किरणेषु तिष्ठतीति दिवि सूर्यप्रकाश इव, उरुव्यञ्चम् उरुषु बहुषु विशेषेण अञ्चतीति उरुव्यञ्चस्तम्, रुक्ममादित्यं अश्रेत् श्रयेत्, तथा मेध्याय सर्वशुभलक्षणसङ्गताय पवित्राय वृषभाय बलिष्ठाय वृष्णे वृष्टिकर्त्रे कवये मेधाविने वन्दारु प्रशंसनीयं वचोऽग्नौ पावके नमसा अन्नादिना अवोचाम उच्याम' इति, तदप्यसङ्गतम्, विद्युदग्नेः सूर्यकिरणेषु सत्त्वे मानाभावात्। यदि किरणेषु तिष्ठति, तर्हि किरणा एव तदाश्रयभूताः, पुनः किमर्थमादित्याश्रयणम्? किञ्च, सूर्यस्य किरणाः प्रकाशाश्च परस्परमभिन्ना एवेति पृथग्वचनं निरर्थकमेव। किञ्च, कोऽयं कविः, यस्मै वन्दारुवचः प्रयोक्तव्यम्? न जीवः, निरर्थकत्वाद् रागप्राप्तत्वाच्च। नापीश्वरः, कवित्वादीनामन्यत्रापि सम्भवात्॥ २५॥

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे॥ २६॥

मन्त्रार्थ—यह अग्नि देवताओं का आह्वान करने वाला, यज्ञ में स्थित अथवा अतिशय यज्ञ कराने वाला, यज्ञों में ऋत्विजों के द्वारा स्तुत होकर इस कर्मस्थान में स्थापित किया गया है। पुत्रवान् यज्ञविद्या जानने वाले भृगुवंशी मुनियों ने यजमान के उपकारार्थ आश्चर्यरूप व्यापक शक्ति वाले इस अग्नि को प्रज्वलित किया था॥ २६॥

'जगतीश्च पश्चादयमिहेति' (का० श्रौ० १७।१२।८)। तिसृभिः पश्चाद्रेतःसिग्वेलायां तिस्रो जगती-संज्ञेष्टकाः प्राग्लक्षणा दक्षिणामुख उपदध्यादिति सूत्रार्थः। आसां मध्यमा पद्याऽनूके तामभितो द्वे अर्धपद्ये। तासु तिसृषु जगतोषु प्रथमेयमृक्। इयं च तृतीयेऽध्याये पञ्चदश्यां कण्डिकायां व्याख्याता॥ २६॥

अथ द्वितीया जगती—

जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविरग्निः सुदक्षः सुविताय नव्यसे।
घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद्विभाति भरतेभ्यः शुचिः॥ २७॥

मन्त्रार्थ—यजमानों का रक्षक, कर्म में सावधान, अति उत्साह युक्त, घृत को मुख में रखने वाला यह पवित्र अग्नि नवीन यज्ञ के निमित्त ऋत्विजों के द्वारा प्रकट किया गया है। यह अग्नि स्वर्ग को स्पर्श करने वाली विशाल कान्ति से प्रकाशमान् है ।। २७ ।।

योऽग्निर्भरतेभ्य ऋत्विग्भ्यः सकाशाद् अजनिष्ट जातः। तैर्मथितत्वात् तेभ्यो जातत्वोक्तिः। भरता[1] इति ऋत्विङ्नामसु (निघ० ३।१८।१) पठितम्। किमर्थं जात इति चेदुच्यते—नव्यसे नवीयसे नवतराय अतिशयेन नवं नवीयस्तस्मै। ईकारलोप आर्षः। अभिनवाय यागादिकर्मणे जात इत्यर्थः। कथंभूताय? नवीयसे सुविताय सूताय प्रसूताय कर्मणे यागाय। सूतेरिडागम आर्षः। सोऽग्निर्दिविस्पृशा द्युलोकस्पर्शिना बृहता ज्वालासमूहेनेति शेषः। द्युमत्कान्तिमद्यथा स्यात् तथा विभाति विविधं दीप्यते। कीदृशोऽग्निः? जनस्य यजमानस्य गोपाः। गोपायति रक्षतीति गोपाः, क्विप्। 'लोपो व्योर्वलि' (पा० सू० ६।१।६६) इति यकारलोपः। जागृविः जागरणशीलः कर्मणि रक्षायां च सावधानः। सुदक्षः सुष्ठु शोभनो दक्ष उत्साहो यस्य सः, अतिकुशल इत्यर्थः। घृतप्रतीको घृतं प्रतीके मुखे यस्य सः, तदुद्देश्येनान्यदेवतोद्देश्येन वा घृतस्य तन्मुखे हूयमानत्वात्। शुचिः शुद्धः, बहूनां हविषां भक्षणेनाप्यनुच्छिष्टत्वात्। अथवा शुचिः शोधकः। यद्वा—योऽयं जनस्य यजमानस्य गोपा गोपायिता अजनिष्ट जातः, जागृविः, जागर्तीति तथोक्तः। अम्लानज्ञान इत्यर्थः। सुदक्षः शोभनोत्साहः। सुविताय सुप्रभूताय। नव्यसे नवतराय कर्मणे। घृतप्रतीको घृतमुखः। बृहता महता दिविस्पृशा दिवं स्पृशतीति दिविस्पृक् तेन भानुना द्युमद् दीप्तिमत्। भरतेभ्य ऋत्विग्भ्योऽर्थाय। शुचिः शुद्धः। मनुष्येभ्यो जायमानोऽपि मनुष्यसम्बद्धैर्दोषैर्न लिप्यते। स विभाति विविधं दीप्यते।

अध्यात्मपक्षे—अयमग्निः परमेश्वरो जनस्य भक्तजनस्य गोपा रक्षकोऽजनिष्ट श्रीरामकृष्णादिरूपेणोत्पन्नः। जागृविः सदा भक्तरक्षणे जागरूकः। सुदक्षः शोभनोत्साहोऽतिकुशलो वा। घृतप्रतीको घृतमुखः, नवनीतप्रियत्वात्। शुचिर्भावानुसारेण सर्वेषां नैवेद्यानि भक्षयन्नप्यमेध्यो न भवति। किमर्थं जात इत्युच्यते? नव्यसे नवनवायमानाय सुविताय प्रसूताय चरित्राय, तच्चरितस्य श्रवणमात्रेण विश्वपावनत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यो जनस्य जातस्य गोपा रक्षको जागृविर्जागरूकः सुदक्षो घृतप्रतीकः प्रतीतिकरं जलमाज्यं वा यस्य सः। शुचिरग्निर्नव्यसे सुवितायाजनिष्टातिशयेन नवीनायोत्पादनीय ऐश्वर्याय जातः, बृहता महता दिविस्पृशा दिवि प्रकाशे स्पृशति येन तेन भरतेभ्य आदित्येभ्यो द्युमद् द्यौः प्रकाशोऽस्त्यस्मिन् तद् विभाति तं यूयं विजानीत' इति, तदपि न, सम्बोधनोपसंहारयोर्निर्मूलत्वात्, विद्युदग्निबोधस्य लौकिकोपायबोध्यत्वेनाज्ञातज्ञापकवेदस्य तद्बोधने तात्पर्यायोगात्। किञ्च, त्वद्रीत्या वेदस्यानादित्वेन तद्विहितस्य विद्युदग्निज्ञानस्य कथं नवीनत्वम्? कथं वा नव्यकार्यकरत्वं सम्भवति? घृतप्रतीक इत्यत्र प्रतीकशब्दस्य प्रतीतिकरत्वं कथमर्थः? कथं च प्रतीतेर्वृद्धिरर्थः? इत्यादिजाज्वल्यमानदोषाणां समुल्लासात् ॥ २७ ॥

त्वाम॑ग्ने॒ अङ्गि॑रसो॒ गुहा॑ हि॒तमन्व॑विन्दञ्छिश्रिया॒णं वने॑वने।
स जा॑यसे म॒थ्यमा॑नः॒ सहो॑ म॒हत्त्वामा॑हुः॒ सह॑सस्पु॒त्रम॑ङ्गिरः ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—निरन्तर यज्ञ में विचरण करने वाले हे अग्निदेव! अंगिरा ऋषि के वंश में उत्पन्न हुए ऋषियों ने निगूढ़ देश में स्थित, अनेक वनस्पतियों में निवास करने वाले तुमको खोजा है। वह तुम बड़े बल से मथ्यमान होने के कारण अरणि से उत्पन्न होते हो। इसी कारण मुनिगण तुमको बल का पुत्र और ब्रह्मज्योति कहते हैं ॥ २८ ॥

---

१. वस्तुतस्तु ऋत्विङ्नामसु भारतशब्दस्य पाठः। यज्ञद्वारेण कृत्स्नं भरन्तीति स्कन्दस्वामिरीत्या भरता अपि ऋत्विज एव।

हे अग्ने, यं त्वामङ्गिरसोऽङ्गिरोवंशोद्भवा ऋषयः, अन्वविन्दन् उपलब्धवन्तः, अन्विष्य प्रापुरित्यर्थः। कीदृशं त्वाम् ? गुहा गुहायां निगूढे प्रदेशे हितं स्थितम्, अप्सु प्रविष्टमित्यर्थः। 'अग्निर्देवेभ्य उदक्रामत् सोऽप आविशत्' इति श्रुतेः[1]। 'सुपां सुलुक्....' (पा० सू० ७।१।३९) इति गुहाशब्दात् सप्तमीलोपः। हे अग्ने, पुनर्नष्टं त्वां वने वने शिश्रियाणं नानावनस्पतिश्रितमङ्गिरसोऽन्वविन्दन्। 'नित्यवीप्सयोः' (पा० सू० ८।१।४) इति वनेपदस्य द्वित्वम्। स त्वमिदानीमपि जायसे उत्पद्यसे, अरणिभ्य इति शेषः। कीदृशस्त्वम् ? महत् सहो मथ्यमानो महता बलेन अरणिकाष्ठेभ्यो मथ्यमानः। महत्-सहस्-शब्दाभ्यां परस्यास्तृतीयाया लोपः। अतश्च कारणाद् हे अङ्गिरः ! अग्ने त्वां सहसस्पुत्रं सहसो बलस्य पुत्रमृषय आहुः, बलेन मथनाज्जायमानत्वात्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, त्वा अङ्गिरसस्तदुपलक्षिता ऋषयो गुहाहितं गुहायां बुद्धिरूपायां हितं स्थितमन्वविन्दन् उपलब्धवन्तः। शिश्रियाणं सर्वभूतेषु श्रितम्। कीदृशा अङ्गिरसः ? वने वने तपस्यमाना इति शेषः। स त्वं हे अङ्गिरो अग्ने, महता बलेन प्रयासेन मथ्यमानो ध्याननिर्मथनाभ्यां मनसि स्थिरीक्रियमाणो जायसे प्रादुर्भवसि। अतो मुनयस्त्वां सहसस्पुत्रमाहुः।

दयानन्दस्तु—'हे अङ्गिरोऽग्ने प्राणवत् प्रिय, त्वं मथ्यमानोऽग्निरिव विद्यया जायसे। यथा महत्सहोमयं सहसस्पुत्रं वने वने शिश्रियाणं गुहाहितं त्वामाहुरङ्गिरसोऽन्वविन्दन्, तथा त्वामहं दीपयामि' इति, तदपि तुच्छम्, प्रमाणमन्तरा लक्षणावृत्तेराश्रयणस्यायुक्तत्वात्, त्वद्रीत्या बलयुक्तस्य वायोः पुत्राप्रसिद्ध्या तद्दृष्टान्तानुपपत्तेश्च। न च रश्मौ रश्मौ पदार्थे पदार्थे कस्यचिन्मनुष्यस्य विदुषोऽविदुषो वा श्रयणं गुहाहितत्वं च सम्भवति। तस्मान्निरर्थकमेव तत्प्रलपनम् ॥ २८ ॥

सखा॑यः सं वः॑ स॒म्यञ्च॒मिष॒ꣳ स्तोमं॑ चा॒ग्नये॑।
वर्षि॑ष्ठाय क्षिती॒नामू॒र्जोन॑प्त्रे सह॑स्वते ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—यजमान ऋत्विजों से कहते हैं कि हे ऋत्विजों, मेरे साथ मित्रता का व्यवहार करने वाले तुम लोग मनुष्यों के परम उपकारक, जल के पौत्र रूप, बड़े बल वाले अग्निदेवता के निमित्त समीचीन नवीन हविरूप अन्न प्रदान करो और स्तोत्र का पाठ करो ॥ २९ ॥

'अपरास्ताभ्योऽनुष्टुभः सखायः सं व इति' (का० श्रौ० १७।१२।९)। जगतीभ्योऽपरास्तिस्रोऽनुष्टुप्संज्ञेष्टकाः प्राग्लक्षणा दक्षिणामुखः सखाय इति ऋक्त्रयेणोपदध्यादिति सूत्रार्थः। आसां मध्यमा पद्याऽनूके तामभितो द्वे अर्धपद्ये। तिस्रोऽनुष्टुभः। ऋत्विजो यजमानेन सम्बोध्यन्ते—हे सखायः ऋत्विजः, सम्यञ्चं समीचीनमिषमन्नं हविर्लक्षणं समीचीनं स्तोमं च अग्नये अग्निदेवतायै यूयं सम्पादयत। अग्निदेवताकं हविः कुरुतेत्यर्थः। त्रिवृत् पञ्चदशादिस्तोमं च वदतेत्यर्थः। व्यत्ययेन प्रथमास्थाने द्वितीयाबहुवचनं कृत्वा वसादेशे व इति रूपम्। समित्युपसर्गस्यापेक्षितः क्रियाविशेषोऽध्याहर्तव्यः, सम्पादयतेति। कीदृशायाग्नये ? क्षितीनां वर्षिष्ठाय। क्षियन्ति निवसन्ति भूमाविति क्षितयो मनुष्यास्तेषाम्। अतिशयेन वृद्धो वर्षिष्ठः, तस्मै वृद्धतमाय। 'प्रियस्थिर....' (पा० सू० ६।४।१५७) इति वृद्धशब्दस्येष्ठनि वर्षादेशः, सर्वपूज्यायेति यावत्। तथा ऊर्जो जलस्य नप्त्रे पौत्राय। अद्भ्यो वनस्पतयो जायन्ते, तेभ्योऽग्निरित्यपां पौत्रत्वमग्नेः। तथा सहस्वते सहो बलमस्यास्तीति सहस्वानग्निः, तस्मै। यद्वा हे सखायः शृणुत, वो युष्मान्, ब्रवीमीति शेषः। सम्यञ्चमेकीभूतम् इषं हविर्लक्षणमन्नं स्तोमं च त्रिवृत्पञ्चदशादि अग्नये, भरतेति शेषः। शेषं पूर्ववत्।

---

१. इयं श्रुतिनाधुनोपलभ्यते।

अध्यात्मपक्षे—हे सखायो मित्राणि, यूयं शृणुत वो युष्मान् ब्रवीमीति शेषः। सम्यञ्चं समीचीनमृत्कृष्टमिषं निवेदनीयमन्नं स्तोमं स्तुतिसमूहं चाग्नये परमात्मने समर्पयत। कीदृशायाग्नये ? क्षितीनां प्राणिनां वर्षिष्ठाय पूज्यतमाय, ऊर्जो जीवरसस्य नप्त्रे पौत्राय पौत्रवत् प्रियतमाय, सहस्वते प्रशस्तबलाय।

दयानन्दस्तु—'यथा विद्वांसः सखायः सन्तः क्षितीनां वो युष्माकमूर्जोनप्त्रे सहस्वते वर्षिष्ठायाग्नये यं सम्यञ्चमिषं स्तोमं च समाहुः, तथा यूयमनुतिष्ठत' इति तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणात्, सम्बोधनोपसंहारयोर्निर्मूलत्वाच्च ॥ २९ ॥

सꣳसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ। इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्याभर ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ—हे सेचन करने वाले अग्निदेव, तुम हमारे स्वामी हो, सम्पूर्ण यज्ञ-फलों को यजमान को प्राप्त कराते हो, तुम पृथ्वी के स्थान उत्तरवेदि में कर्म के निमित्त प्रदीप्त होते हो। तुम हमारे लिये सभी ओर से धन जुटाकर प्राप्त कराओ ॥ ३० ॥

हे वृषन्, वर्षति कामानिति वृषा तत्सम्बुद्धौ, सेक्तः अभीष्टवर्षणशील ! 'प्रसमुपोदः पादपूरणे' (पा० सू० ८।१।६) इत्युपसर्गाभ्यासः। इदिति पादपूरणोऽनर्थकः। अग्ने विश्वानि सर्वाणि वसूनि धनानि, अर्यः स्वामीश्वरः सन् त्वम् आलोच्यालोच्य समन्तात् संयुवसे संयौषि यजमानेन सङ्गमयसि, नोऽस्माकं यजमानानामिड इडायाश्च पदे कर्मार्थं समिद्धयसे दीप्यसे। यद्वा इडायाः पृथिव्याः पदे उत्तरवेदौ सन्दीप्यसे। यद्वा अर्यः स्वामी त्वं विश्वानि सर्वाणि फलान्यासमन्तात् संयुवसे। युवसे इति विकरणव्यत्ययः। ईदृशस्त्वं नोऽस्मभ्यं वसूनि आभर आहर। 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' (पा० सू० ३।१।१०३) इति निपातनम्। आभरेत्यत्र 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा० सू० ३।१।८४ वा०) इति हकारस्य भकारः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, हे वृषन् अभीष्टफलवर्षितः ! विश्वानि सर्वाणि वसूनि धनानि बाह्यान्याध्यात्मिकानि च आसमन्तात् संयुवसे भक्तैः सङ्गमयसि। इडाया गवाम्, जातावेकवचनम्। पदे गोष्ठे व्रजे समिध्यसे दीप्यसे, श्रीरामरूपेण सरय्वा उत्तरस्मिन् भागे कृष्णरूपेण वृन्दावने च। स त्वं नोऽस्मभ्यं वसूनि त्वदाकारा वृत्तीराभर सङ्गमय।

दयानन्दस्तु—'हे वृषन्नग्ने, अर्य वैश्य, त्वं सं समायुवसे मिश्रय। इडः प्रशंसनीयस्य पदे प्रापणीये समिध्यसे प्रदीप्यसे, स नो वसून्याभर' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य अग्नेपदस्य स त्वमिदमग्निनेत्यन्वयानुपपत्तेः, तदन्यस्य तृतीयान्तस्य तस्य मन्त्रेऽभावात्। न च वैश्यः प्रार्थयितृणामर्थाय धनमर्जयति, समेषां स्वाभीष्टसिद्धयर्थमेव प्रवृत्तिदर्शनात्। न च 'युवसे' इति पदस्यापि तत्र सङ्गतिः ॥ ३० ॥

त्वां चित्रश्रवस्तम हवन्ते विक्षु जन्तवः। शोचिष्केशं पुरुप्रियाग्ने हव्याय वोढवे ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ—कीर्ति और ऐश्वर्य से अतिविचित्र यजमानों के प्रिय हे अग्निदेव ! प्रजा के कल्याण के लिये ऋत्विक् और यजमान तुमको हवि का वहन करने के लिये बुलाते हैं ॥ ३१ ॥

हे चित्रश्रवस्तम ! चित्रं नानारूपं धनं कीर्तिर्वा यस्य स चित्रश्रवाः, अतिशयेन चित्रश्रवा इति चित्रश्रवस्तमस्तत्सम्बुद्धौ। हे पुरुप्रिय पुरूणां बहूनां यजमानानां प्रियः पुरुप्रियस्तत्सम्बुद्धौ। अथवा पुरवो बहवो यजमानाः प्रिया यस्य स पुरुप्रियस्तत्सम्बुद्धौ। अथवा पुरु बहु हव्यं प्रियं यस्य स पुरुप्रियस्तत्सम्बुद्धौ। हे अग्ने, विक्षु प्रजासु जन्तव ऋत्विग्यजमानास्त्वां हवन्ते आह्वयन्ति। 'ह्वः सम्प्रसारणम्' (पा० सू० ६।१।३२) इति

शपि विनापि निमित्तं सम्प्रसारणम्, छन्दसि दृष्टानुविधित्वात् । कीदृशं त्वाम् ? शोचिष्केशम्, शुच्यन्ते स्वभावतः पूता भवन्तीति शोचींषि ज्वालाः केशा इव केशस्थानीयानि वा यस्य स शोचिष्केशस्तम् । 'अर्चिशुचि·····' (उ० २।१०८) इति इसिः । 'ईशुचिर् पूतीभावे' इति दैवादिकस्य रूपम् । यत्तु व्याकरणज्ञानशून्येन दयानन्देन उणादिटीकायां शोचतीति शुचिरिति, तदत्यन्तं मन्दम्, ज्वालायास्तत्सिद्धान्ते जडत्वात् शोकाभावात् । किमर्थम् ? हव्याय वोढवे हव्यं वोढुं प्राप्तम् । विभक्तिव्यत्ययः । 'तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्·····' (पा० सू० ३।४।९) इति तवेप्रत्ययः ।

अध्यात्मपक्षे— हे अग्ने तेजस्विन् भगवन्, हे चित्रश्रवस्तम लोकोत्तरयशोदीप्त, हे पुरुप्रिय सर्वप्राणिपर-प्रेमास्पद, विक्षु प्रजासु बहवो भक्तास्त्वां हवन्ते आह्वयन्ति । कीदृशं त्वाम् ? शोचिष्केशं हिरण्यश्मश्रुत्वादि-विशिष्टमादित्यमण्डलस्थम् । किमर्थम् ? हव्यायाभीष्टाय ज्ञानवैराग्यादिप्राप्तये वोढवे हृदयकमले त्वां वोढुं धारयितुमित्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे पुरुप्रिय अद्भुतान्नाग्ने ! विक्षु प्रजासु हव्याय वोढवे वोढुं यं शोचिष्केशं सूर्यस्य रश्मय इव तेजांसि यस्य तं त्वां जन्तवो हवन्ते, तं वयमपि हवामहे' इति, तदपि तुच्छम्, मनुष्यस्य शोचिष्केशत्वानुपपत्तेः । न च 'हवामहे' इत्यस्य स्वीकुर्म इत्यर्थः, धात्वर्थानिनुरोधात् ॥ ३१ ॥

एना॒ वो॑ अ॒ग्निं नम॑सो॒र्जो नपा॑त॒माहु॑वे ।
प्रि॒यं चेति॑ष्ठमर॒तिᳩ स्व॑ध्व॒रं विश्व॑स्य दू॒तम॒मृत॑म् ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ— हे ऋत्विक् और यजमानों, तुम्हारे इस अन्न के द्वारा जलदेवता के पौत्र, यजमान की प्रीति के कारण, अतिशय चैतन्यधर्मा, ज्ञानदाता, सदा उद्यमी, श्रेष्ठ यज्ञ वाले, सम्पूर्ण गृहपाक आदि कार्य करने से दूतरूप, मरणरहित अग्निदेव को आदरपूर्वक तुम लोग यहाँ बुलाओ ॥ ३२ ॥

'अषाढावेलायाः पुरस्ताद् बृहतीरेना व इति ।' (का० श्रौ० १७।१२।१०) । अषाढायाः पुरस्ताद् उदङ्मुखस्तिस्रो बृहतीष्टकाः प्राग्लक्षणा एना व इति तिसृभिर्ऋग्भिरुपदध्यादिति सूत्रार्थः । आसां मध्यमा पद्या अनूके तामभितो द्वे अर्धपद्ये । तिस्रो बृहत्यः प्रगाथः । ऋग्द्वयग्रन्थनेन ऋक्त्रयसम्पादनं प्रगाथः । बृहती पूर्वा सतोबृहती उत्तरा । आभ्यां प्रग्रथनेन तिस्रो बृहत्यः सम्पादिताः । यस्यास्तृतीयः पादो द्वादशाक्षरोऽन्ये त्रयोऽष्टार्णाः सा बृहती । 'एना वोऽग्निं नमसोऽर्जोनपातमाहुवे । प्रियं चेतिष्ठमरतिᳩ स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम् ॥' इति । यस्याः प्रथमद्वितीयौ द्वादशार्णौ द्वितीयचतुर्थावष्टार्णौ सा सतोबृहती । 'स योजते अरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत् स्वाहुतः । सुब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसूनां देवᳩ राधो जनानाम् ॥' इति । तत्र बृहत्यास्तुरीयं पादं द्विरावर्त्य सतोबृहत्याः पूर्वार्धेन सह द्वितीया बृहती कृता । सतोबृहत्या द्वितीयं पादं द्विरावर्त्य तस्या एवोत्तरार्धेन सह तृतीया बृहती कृता । एवं तिस्रो बृहत्यः संहितायां पठिताः । तत्रावर्तितपादानामर्थान्तराभावाद् द्वे ऋचौ व्याख्यायेते इति महीधराचार्यः ।

हे ऋत्विग्यजमानाः, वो युष्माकं सम्बन्धिना एना एनेन नमसा हविर्लक्षणेन अन्नेन अग्निमहमाहुवे आह्वयामि । वो युष्माकमेनमग्निं नमसा हुवे इति वा । एना इत्यत्र तृतीयाया द्वितीयाया वा स्थाने आकारः । कीदृशमग्निम् ? ऊर्जोनपातम् अपां पौत्रं पौत्रवत् प्रियम्, यजमानानां प्रीतिहेतुम्, सर्वजनप्रियमिति वा । प्रियमिति पदमावर्त्योभयत्र योज्यम् । पुनः कीदृशम् ? चेतिष्ठम्, अतिशयेन चेतयितारम् । 'तुरिष्ठेमेयस्सु' (पा० सू० ६।४।१५४) इतीष्ठनि परे तृचो लोपः । अरतिम् अलं मतिं पर्याप्तमतिम् । यद्वा रतिरुपरमो विरामः, तद्रहितम्,

सततोद्युक्तम् । पुनः कीदृशम् ? स्वध्वरम्, सु शोभना अध्वरा यस्य स स्वध्वरः, तम् । यद्वा हे ऋत्विग्यजमानाः, वो युष्माकं सम्बन्धिनमग्निम्, एना एनेन नमसा नमस्कारेण युक्तोऽहं हुवे आह्वयामि । कीदृशमग्निम् ? ऊर्जो अन्नस्य नपातं विनाशयितारम् । पुनः कीदृशम् ? प्रियम्, प्रीतिहेतुं विश्वस्य सर्वस्य जगतो दूतं दूतवत् कार्यकारिणम् । सर्वस्य गृहे दाहपाकादिकार्यं करोत्यग्निः । अमृतं मरणरहितम्, मनुष्यादिवद् देवानां शीघ्रमरणायोगात् ।

अध्यात्मपक्षे—हे भक्ताः, वो युष्माकं सम्बन्धिनमेनमग्निं भगवन्तं नमसा नमस्कारेण हविर्लक्षणेन अन्नेन वा युक्तोऽहं हुवे । कीदृशमग्निम् ? प्रियं सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदम्, सर्वेषामात्मत्वात् । ऊर्जोऽतिबलवतो रावणादेर्नपातं विनाशयितारम् । चेतिष्ठम् अतिशयेन चेतनायुक्तम्, चेतनानां चेतनत्वात्, आत्मनामप्यात्मत्वात्, 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' (कठोप० २।२।१३) इति मन्त्रवर्णात् । अरतिं भक्तेभ्यो हिताय सदोद्यमशीलम् । अथवा अलंमतिं वा । स्वध्वरं सु सुष्ठु शोभनोऽव्यङ्गोऽध्वरो यज्ञो यस्मात् स स्वध्वरः, तम् । 'यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु । न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम् ॥' इति स्मरणात्, 'यत्पादपद्मस्मरणाद् यस्य नामजपादपि । न्यूनं कर्म भवेत् पूर्णं तं वन्दे साम्बमीश्वरम् ॥' (शिव० पु० कैलास० १२।६४) इति शिवमहापुराणवचनात्, 'मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः । सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसङ्कीर्तनं तव ॥' (भाग० पु० ८।२३।१६) इति श्रीमद्भागवतमहापुराणवचनाच्च । विश्वस्य जगतो दूतं दूयते सन्देशहरणादिनेति दूतः, तम् । नैकधा कष्टान् सोढ्वापि हितकारिणं सुहृदम् । 'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति' (भ० गी० ५।२९) इति श्रीमद्भगवद्गीतावचनात् । पुनः कीदृशम् ? अमृतम्, षड्विधभावविकारवर्जितम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाहं वो युष्मभ्यमेना एनेन पूर्वोक्तेन नमसा ग्राह्येणान्नेन नपातमपतनशीलं प्रियं चेतिष्ठं स्वध्वरं शोभना अहिंसनीया व्यवहारा यस्मात्तम्, अरतिम् नास्ति रतिश्चैतन्यं यस्मिंस्तम्, अमृतं कारकरूपेण नित्यम्, विश्वस्य दूतं सर्वत्राभिगन्तारम्, विद्युतमग्निमूर्जः पराक्रमाद् आह्वे स्वीकरोमि, तथा यूयं मह्यं जुहुत' इति, तदपि विसङ्गतमेव, मन्त्रे यथातथाशब्दाभावात्, अन्नस्य विद्युतोऽनुपकारकत्वाच्च । न चात्र परस्परार्थं तदङ्गीकरणम्, तथाऽदर्शनात् ॥ ३२ ॥

विश्वस्य दूतममृतं विश्वस्य दूतममृतम् । स योजते अरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत् स्वाहुतः ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—मरण धर्म रहित, सब के लिये दूत का काम करने वाले जिस अग्नि को हम बुलाते हैं, वह क्रोध-रहित होकर यज्ञ के भाग को भोगने वाले दो अश्वों को रथ में जोतता है और रथ पर चढ़ कर हमारी दी हुई आहुति को ग्रहण करने के लिये शीघ्र यहाँ आता है ॥ ३३ ॥

विश्वस्य सर्वस्य जगतो दूतं दूतवत् कार्यकारिणम्, अमृतममरणशीलमग्निमाह्वयामि । पुनर्वचनमादरार्थम् । अथ सतोबृहतीव्याख्यानम्—स योजत इति । यमग्निमाह्वयामि सोऽग्निररुषा अरुषौ रोषरहितावक्रोधनौ अश्वौ । विश्वभोजसा विश्वभोजसौ विश्वं भुञ्जाते इति विश्वभोजसौ, तौ सर्वस्य भोक्तारौ । उभयत्र द्वितीयाद्विवचने आकारः । भुजेरसुन् 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।१९०) इति । एवंविधावश्वौ रथे योजते युनक्ति । विशेषणाभ्यां विशेष्यमश्वपदं रथपदं चाध्याहार्यम् । स एव च दुद्रवद् द्रवति गच्छति । 'द्रु गतौ' इति भौवादिकस्य लुङि 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' (पा० सू० ३।१।४८) इति च्लेश्चङि द्वित्वे दुद्रवदिति

रूपम्, अडभावगुणाभावावार्षौ। कथम्भूतोऽग्निः ? स्वाहुतः सुष्ठु शोभनप्रकारेण आहुतः सन्। रथेन अस्मद् यज्ञे, आगमनायेति शेषः।

अध्यात्मपक्षे—विश्वस्य सर्वस्य दूतं दूतवद्धितकारिणम्, अमृतं मरणादिवर्जितं भगवन्तमहमाहुवे। आदरार्थमभ्यासः। सोऽत्रागमनाय अरुषा अक्रोधनौ विश्वभोजसा सर्वस्य भोक्तारौ अश्वौ रथे योजते युनक्ति। स स्वाहुतः सुष्ठु आहृत आहूतः, व्यत्ययेन ह्रस्वः, दुद्रवद् आगच्छतीति भक्तपारवश्यं द्योत्यते।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाहं विश्वस्य दूतं परितापकं विद्युदग्निममृतमाहुवे, तथा विश्वभोजसा विश्वस्य पालकेन अरुषा रूपवता पदार्थसमूहेन सर्वैः पदार्थैः सह वर्तते, स योजते। यः स्वाहुतः सम्यक्स्वीकृतः सन् दुद्रवद् स युष्माभिर्वेद्यः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अरुषा रूपरहितपदार्थसमूहेनेति व्याख्यानस्य निर्मूलत्वात्। न च विद्युतः सर्वलोकतापकत्वम्, तथात्वे सर्वलोकनाशापत्तेः। न चाप्येतद्वर्णनं फलपर्यवसायि, तदुद्भूतिप्रकारानिरूपणात्॥ ३३॥

स दुद्रवत् स्वाहुतः स दुद्रवत् स्वाहुतः। सुब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसूनां देवꣳ राधो जनानाम्॥ ३४॥

मन्त्रार्थ—हमारा यह यज्ञ श्रेष्ठ ऋत्विजों से युक्त है। इसके सारे कार्य भली-भाँति सम्पन्न हो रहे हैं। इसमें वह अग्नि भली-भाँति आहुत है। वह जहाँ यजमानों का दीप्यमान धन है, वहीं वसु, रुद्र आदि देवगणों के तीन सवन वाले यज्ञ में अवश्य आता है॥ ३४॥

क्व गच्छति सोऽग्निरित्याह— स इति। स एवाग्निः, रथारूढः सन् स्वाहुतः शोभनप्रकारेणाहुतः सन् दुद्रवत् द्रवति गच्छति यत्र सुब्रह्मा सु शोभनो ब्रह्मा यत्र सः, सुब्रह्मग्रहणं सर्वेषां शोभनर्त्विजामुपलक्षणार्थम्। एवंभूतो यज्ञः सुशमी सु शोभनाः शम्यः कर्माणि यस्मिन् सः, 'शमीति कर्मनामसु' (निघ० २।१।२३), शोभनकर्मवान् यज्ञः। वसूनां वसुरुद्रादित्यानां सवनत्रयदेवानाम्। वसुग्रहणं रुद्रादित्ययोरप्युपलक्षणार्थम्। देवं दीप्यमानम्। अर्थाद् यत्र यज्ञस्तत्र, तथा यत्र च जनानां यजमानानां देवं दीप्यमानं राधो धनं हविर्लक्षणं चास्ति, तत्राग्निर्गच्छतीत्यर्थः। एवं च आहुतोऽग्निर्यज्ञे हविर्भोक्तुं रथेऽश्वान्नियुज्य आश्वागच्छतीति सर्वकण्डिकार्थः।

अध्यात्मपक्षे—'स परमेश्वरः स्वाहुतः सुष्ठु रीत्या हुतो बलिपूजोपहारादिभिराहूतो यत्र सुब्रह्मा यज्ञस्तत्र दुद्रवद् गच्छति। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्। यद्वा सुब्रह्मा सु शोभनं कमनीयं सगुणं ब्रह्मोपास्यत्वेनास्ति यत्र, तादृशो यज्ञो यत्र तत्र गच्छति। सुशमी सुष्ठु शमो मनोनिग्रहोऽस्ति यस्मिन् सः। वसूनां वस्वादिदेवानामङ्गोपाङ्गतया अर्चनं यत्र सः। जनानां देवं दीप्यमानं ज्ञानविज्ञानलक्षणं राधो धनं यत्रास्ति, तत्र गच्छतीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, स स्वाहुतः सखिवद् दुद्रवत् स्वाहुतो विद्वानिव दुद्रवत् सुब्रह्मा सुष्ठुतया चतुर्वेदविद् यज्ञः सङ्गन्तुं योग्यः सुशमीव सुशमयितुमर्हो वसूनां पृथिव्यादीनां च देवं कमनीयं राधो धनमस्ति, तं यूयं प्रयुङ्ध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वस्यैतस्य वेदोपदेशमन्तरैव लोकतः सिद्धत्वात्। सुब्रह्मेत्यादिविशेषणानि तत्रासङ्गतान्येव, जडत्वात्। न च स सुशमी, तत्र संहारकत्वस्यापि दर्शनात्॥ ३४॥

अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो । अस्मे धेहि जातवेदो महि श्रवः ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—बल के पुत्र ज्ञानसम्पन्न हे अग्निदेव, तुम धेनुओं के और अन्न के अधिपति हो। तुम हमारे लिये ढेर सारा धन दो ॥ ३५ ॥

'अपरा गायत्रीभ्य उष्णिहोऽग्ने वाजस्येति' (का० श्रौ० १७।१२।१३)। गायत्रीभ्योऽपरास्तिस्र उष्णिहोऽग्ने इति ऋक्त्रयेण अर्धपद्यास्तिरश्चालिखिता उदगायताः प्राग्लक्षणा उदङ्मुख उपदध्यादिति सूत्रार्थः। तिस्र उष्णिहः। हे अग्ने, हे सहसो यहो बलस्य पुत्र ! सह इति बलनाम। यहुरिति पुत्रनाम। बलप्रयुक्तमन्थनाज्जायमानत्वाद् बलस्य पुत्रत्वम्। हे जातवेदो हे जातप्रज्ञ ! अस्मे अस्मभ्यं महि महत् श्रवो धनं धेहि प्रयच्छ। यतो हि त्वं गोमतो धेनयुक्तस्य वाजस्य बाह्यस्य धनान्तरस्य ईशानः, अतो धनं प्रयच्छेति भावः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, तेजोमय परमेश्वर, हे सहसो बलस्य कृते, यहो यातः पुण्यवशेन प्राप्तो हुतो विपदादिभ्यो रक्षार्थमिति यहुः, तत्सम्बुद्धौ, हे भगवन् हे जातवेदो, जातप्रज्ञ ! अथवा सहस्य बलस्याधिष्ठातुरिन्द्रस्य यहो पुत्रवदुपेन्द्र महि महत्त्वपूर्णं श्रवो यशो ज्ञानविज्ञानरूपं धनं वा अस्मभ्यं देहि। यतो हि त्वं गोमतो गवादियुक्तस्य वाजस्य धनान्तरस्य बाह्यस्य चेशानो भवसि।

दयानन्दस्तु—'हे सहसो यहो जातवेदो जातं विज्ञानं यस्य तत्सम्बोधने, त्वमग्निरिव वाजस्य गोमत ईशानः सन्नस्मे महि श्रवो धेहि' इति, तत्तुच्छम्, मनुष्यं प्रति धनयाच्ञोपदेशस्य वेदेऽयोगात्। न चात्र धारणमेव प्रार्थ्यते, तस्य रागप्राप्तत्वेन प्रार्थनासङ्गतेः ॥ ३५ ॥

स इधानो वसुष्कविरग्निरीडेन्यो गिरा । रेवदस्मभ्यं पुर्वणीक दीदिहि ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप अनेक मुखों वाले और कान्तिमान् हैं। सबके निवास के हेतु और क्रान्तदर्शी हैं। तीनों वेदों की वाणी से आपकी स्तुति की जाती है। आप प्रथम यज्ञप्रवर्तक हैं। हे अग्निदेव, आप हमारे निमित धन के साथ दीप्ति भी प्रदान कीजिये ॥ ३६ ॥

स पूर्वोक्तगुणः, अग्निरग्रे नयतीति तथोक्तः प्रथमं यज्ञप्रवर्तक, इधानो दीप्यमानः, वसुरुपकारभूतः, पाकतापप्रकाशैरुपकारकत्वात्। धनस्वरूपो वासयिता निवासहेतुर्वा। कविः क्रान्तदर्शनो मेधावी। ईडेन्य ईडितुं स्तोतुं योग्यः, औणादिक एन्यः प्रत्ययः। हे पुर्वणीक पुरु बहु रमणीयमनीकं मुखं यस्य सः, 'यतो ह्येव कुतश्चाग्नेरभ्यादधाति तत एव प्रदहति' (श० ४।६।३।१५) इति श्रुतेः। अस्मभ्यमस्मदर्थं रेवद् रयिमद् धनवद् यथा स्यात्तथा दीदिहि दीप्यस्व। दिवेः शपः श्लुः, द्वित्वम्, 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।७) इत्यभ्यासदीर्घः, 'लोपो व्योर्वलि' (पा० सू० ६।१।६६) इति वलोपः, 'रयेर्मतौ' (पा०सू० ६।१।३७) इति सम्प्रसारणेन रयिरस्यास्तीति रेवत्। त्वया तथा हविर्ग्राह्यं यथास्माकं धनावाप्तिः स्यादिति तात्पर्यम्।

अध्यात्मपक्षे—स त्वं पूर्वोक्तविशेषणो हे पुर्वणीक बहुमुख विश्वरूप, इधानः कोटिकोटिमार्तण्डमण्डल इव दीप्यमानः, वसुर्भक्तानां चिन्तामणिकोटिदुर्लभधनमसि। कविः सर्वज्ञः, अग्निः सर्वेषां देवानां नेता, गिरा त्रय्या रेवद् रयिमद् यथा स्यात्तथा दीप्यस्व।

दयानन्दस्तु—'हे पुर्वणीक ! पुरु बहु अनीकं सैन्यं यस्य तत्सम्बुद्धौ, हे विद्वन्, स त्वं गिरेडेन्यो गिरा वाण्या अन्वेषणीयः कविः समर्थ इधानः प्रदीप्तः सोऽग्निरिवास्मभ्यं रेवत् प्रशस्तधनयुक्तं दीदिहि प्रकाशय' इति,

तदपि तुच्छम्, मनुष्यान् प्रति वेदेन याच्ञोपदेशानुपपत्तेः। न च मनुष्यः प्रभूतं दातुं शक्नोति, तस्य परिच्छिन्नसाधनत्वात्। रागप्राप्ता च सा, न तत्र इधानप्रभृतीनि विशेषणानि सङ्गच्छन्ते। न च वेदस्य मनुष्यस्तावकत्वं सम्भवति, तस्य धर्मब्रह्मपरत्वात् ॥ ३६ ॥

क्षपो राजन्नुत त्मनाग्ने वस्तोरुतोषसः। स तिग्मजम्भ रक्षसो दह प्रति ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ—हे दीप्यमान करालवदन वज्र के समान दृढ़ दाढ़ों वाले अग्निदेव! आप स्वभाव से ही राक्षसों का नाश करने वाले हैं। इसलिये दिन और रात्रि में विचरण करने वाले राक्षसों को आप भस्म कर दीजिये ॥ ३७ ॥

हे राजन्, राजते दीप्यत इति राजा, तत्सम्बुद्धौ। हे तिग्मजम्भ! तिग्मास्तीक्ष्णा जम्भा दंष्ट्रा यस्य स तिग्मजम्भस्तत्सम्बुद्धौ। यद्वा 'तिग्मेति वज्रनाम' (निघ० २।२०।१४), तिग्मा वज्ररूपा दंष्ट्रा यस्य सः, तत्सम्बुद्धौ। हे अग्ने, स त्वं वस्तोरहःसम्बन्धिनः, 'वस्तोरित्यहर्नामसु' (निघ० १।९।१), उताप्युषस उषःकालसम्बन्धिनो रक्षसो राक्षसान् प्रति दह प्रत्येकं भस्मीकुरु। लिङ्गव्यत्ययेन रक्षस इति पुंस्त्वम्। 'छन्दसि परेऽपि' (पा० सू० १।४।८१) इति क्रियापदात् प्रत्युपसर्गस्य परत्वम्। कीदृशस्त्वम्? क्षपः क्षपयतीति क्षपः, 'क्षप प्रेरणे' इति चौरादिकस्य पचाद्यच्। रक्षसां क्षपयिता नाशयितासि। केन रूपेण नाशयितेति चेत्, त्मना स्वरूपेणैव, स्वभावत इति यावत्। 'मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः' (पा० सू० ६।४।१४१) इत्यात्मनस्तृतीयैकवचने आकारलोपः।

अध्यात्मपक्षे—हे राजन्, राजमानतिग्मजम्भवज्रद्रंष्ट्रनृसिंहकालरुद्र! 'वज्रदंष्टं त्रिनयनं कालकण्ठमरिन्दमम्' (स्कन्दमहापुराणे ब्रह्मोत्तरखण्डे ११ अध्याये) इति स्कन्दपुराणवचनात्। हे अग्ने, अग्निवद्दुर्धर्ष वस्तोरहःसम्बन्धिनः, उतापि उषस उषःकालसम्बन्धिनो रक्षसो रक्षांसि राक्षसान् प्रति दह। उत त्मना आत्मनापि स्वभावेनापि त्वं रक्षसां क्षपयितासि।

दयानन्दस्तु—'हे तिग्मजम्भ! तिग्मं तीव्रं जम्भो गात्रविनामं यस्मात्तत्सम्बुद्धौ राजन्नग्ने, स त्वं यथा तीक्ष्णतेजा अग्निः क्षपो रात्रीर् उत वस्तोर्दिनम् उतोषसः सायंसमयान् जनयति, तथा सुशिक्षां जनय। रक्षसस्तम इव तीव्रात्मना प्रतिदह' इति, तदपि विसङ्गतमेव, निर्मूलाध्याहारबाहुल्यात्, गौणार्थाश्रयणस्याप्रामाणिकत्वाच्च। गात्रविनामस्य तीक्ष्णतापि चिन्त्या ॥ ३७ ॥

भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः। भद्रा उत प्रशस्तयः ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—हे श्रेष्ठ ऐश्वर्य से सम्पन्न, ऋत्विजों के द्वारा बुलाये गये अग्निदेव! आप हमारे लिये कल्याणकारी बनिये। हमारे यज्ञ, दान आदि कल्याणकारी हों, हमारी प्रशस्तियाँ भी सुखकारी हों ॥ ३८ ॥

'भद्रो न इति ककुभस्ताभ्यो बृहत्यन्तरश्रुतेर्मन्त्रक्रमेण' (का० श्रौ० १७।१२।११)। भद्रो न इत्येभिर्मन्त्रैर्बृहतीनां पुरस्तान्मन्त्रक्रमेण तिस्रः ककुप्संज्ञका इष्टका उपदध्यादिति सूत्रार्थः। प्रगाथः। ककुप्सतोबृहतीभ्यां पादावृत्त्या तिस्रः ककुभः कृताः। पूर्वा ककुप् सतोबृहती उत्तरा। 'भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः। भद्रा उत प्रशस्तयः॥' इति ककुप्, मध्यः पादो द्वादशक आद्यतृतीयावष्टकाविति तल्लक्षणम्। 'भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये येना समत्सु सासहः। अव स्थिरा तनुहि भूरि शर्धतां वनेमा ते अभिष्टिभिः॥' इति सतोबृहती, आद्यतृतीयौ द्वादशकौ द्वितीयतुर्यावष्टकाविति तल्लक्षणम्। आवृत्तस्य

नार्थान्तरम्। हे सुभग, सुष्ठु शोभनानि भगान्यैश्वर्यधर्मादीनि यस्य स सुभगस्तत्सम्बुद्धौ। 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥' (६।५।७४) इति विष्णुपुराणवचनात्। हे षड्विधैश्वर्ययुक्त! आहुत ऋत्विग्भिराहुतो भवान् अग्निर्नोऽस्माकं भद्रो भन्दनीयः कल्याणकरो भवत्विति शेषः। रातिर्दानं भद्रा भवतु। अध्वरो यज्ञो भद्रो भवतु। उतापि प्रशस्तयः कीर्तयो भद्राः सुखदायिन्यः सन्तु।

अध्यात्मपक्षे—हे सुभग षड्भगोपेत परमेश्वर! तत्रैव निरुपचारेण षण्णां भगानां सम्भवात्। नोऽस्माकमाहुत आहुत्यादिभिः सत्कृतोऽग्निर्भद्रः सुखकरो भवतु। रातिर्भवदीयं दानं भद्रमस्तु। नोऽस्माकमध्वरो भद्रोऽस्तु। नोऽस्मत्कृताः प्रशस्तयो भवत्प्रशंसनानि भद्रा भवन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे सुभग विद्वन्, यथाहुतः सखाग्निः संगृहीतो धर्म इव भद्रो भजनीयो रातिर्भद्रा सेवनीया अध्वरो भद्रः कल्याणकरः, उत प्रशस्तयो भद्राः कल्याणप्रतिपादकाः स्युस्तथा त्वं नो भव' इति, तदपि तुच्छम्, सम्बोधनोपसंहारयोर्निर्मूलत्वात्॥ ३८॥

भ॒द्रा उ॒त प्रश॑स्तयो भ॒द्रं मनः॑ कृणुष्व वृत्र॒तूर्ये॑। येना॑ स॒मत्सु॑ सा॒सहः॑॥ ३९॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! जिस मन से संग्रामों में आप हमारे शत्रुओं का मर्दन करते हैं, उस मन को हमारे पापों के नाश के निमित कल्याणकारी बनाइये! हमारी प्रशस्तियाँ भी सुखकारी हों॥ ३९॥

अथ द्वितीया ककुप्। हे अग्ने, येन मनसा समत्सु संग्रामेषु त्वं सासहः शत्रूनभिभवसि, 'षह मर्षणे' छन्दस्यभिभवे च वृत्तिः, लङ्, द्वित्वाऽभावौ छान्दसौ, संहितायामभ्यासदीर्घः। तन्मनो वृत्रतुर्ये पापनाशाय शत्रुवधाय वा भद्रमस्मत्कल्याणकरं कृणुष्व कुरुष्व। वृत्रः पापम्, 'पाप्मा वै वृत्रः' (श० ६।४।२।३) इति श्रुतेः। तुर्यतिर्वधकर्मा, छान्दसो यकारः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, येन मनसा सङ्कल्पेन समत्सु रावणादिसंग्रामेषु त्वं सासहः शत्रून् पराजित्य अभिभवसि, तन्मनस्तादृशं सङ्कल्पं वृत्रतुर्येऽस्माकं पापनाशाय भद्रं कल्याणकरं कुरुष्व।

दयानन्दस्तु—'हे सुभग, येन नोऽस्माकं वृत्रतुर्ये भद्रं मनः, उतापि भद्राः प्रशस्तयो येन समत्सु सासहः स्यात्, तत्कर्म कृणुष्व' इति, तन्न, निर्मूलाध्याहारबाहुल्यात्, श्रुतस्य कर्मणो मनसस्त्यागेऽश्रुतस्य कर्मणोऽध्याहारे च मानाभावात्॥ ३९॥

येना॑ स॒मत्सु॑ सा॒सहोऽव॑ स्थि॒रा त॑नुहि॒ भूरि॒ शर्ध॑ताम्। व॒नेमा॑ ते अ॒भिष्टि॑भिः॥ ४०॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, जिस पराक्रम से आप संग्रामों में शत्रुओं का तिरस्कार करते हैं, उसी पराक्रम से आप शत्रुओं के मजबूत धनुषों की प्रत्यंचा को काट दें। आपके दिये हुए ऐश्वर्य भोग से हम सब सदा सुखी रहें॥ ४०॥

किञ्च, येन मनसा समत्सु संग्रामेषु त्वं सासहः शत्रूनभिभवसि, तेनैव भूरि बहुप्रकारं शर्धतां बलं कुर्वतां 'शर्ध इति बलनामसु' (निघ० २।९।७), शर्धं बलं कुर्वन्ति शर्धन्ति, शर्धन्तीति शर्धन्तस्तेषां सम्बन्धीनि स्थिरा स्थिराणि धनूंषि, अवतनुहि अवतारय ज्यारहितानि कारय। ततो शत्रुभिरप्रतिवध्यमानास्ते तवाभिष्टिभिरभीष्टयागैर्वयं वनेम सम्भजेम, भोग्यानि वस्तूनि सेवेमहि। वनेमा, येना इत्युभयत्र संहितायां दीर्घः।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, येन मनसा सासहः शत्रूनभिभवसि, तेनैव भूरि शर्धतां बहु प्रकारं बलमात्मनि कुर्वतां शत्रूणां सम्बन्धीनि स्थिराण्यायुधानि धनुरादीनि, अवतनुहि अवतारय ज्यारहितानि निर्वीर्याणि कुरु। ते तव अभिष्टिभिरभीष्टैर्योगैर्वयं वनेम अभीष्टभोग्यानि सेवेमहि।

दयानन्दस्तु—'हे सुभग, येन त्वं समत्सु सासहः स्यात् स त्वं भूरि शर्धतामस्माकं स्थिरा स्थिराणि सैन्यान्यवतनुहि विस्तृणु। ते अभिष्टिभिरिच्छाभिः सह वर्तमाना वयं तानि वनेम सम्भजेम' इति, तदपि विसङ्गतमेव, अवपूर्वस्य तनोतेर्विस्तारार्थे मानाभावात्, अवततधन्वा, अवतन्मसीत्यादाववतारणार्थत्वदर्शनात्। तदनुरोधेन धनूंषीत्येवाध्याहार्यं न सैन्यानि ॥ ४० ॥

अ॒ग्निं तं म॑न्ये॒ यो वसु॒रस्तं॒ यं यन्ति॑ धे॒नवः॑। अस्त॒मर्व॑न्त आ॒शवोऽस्तं॒ नित्या॑सो वा॒जिन॒ इषं॑ᳪ स्तो॒तृभ्य॒ आ भ॑र ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ—जो अग्निदेव ताप, पाक और प्रकाश करके हमारा उपकार करते हैं, धन रूप हैं, उन्हें मैं जानता हूँ। धेनुएँ जिस अग्नि को प्रज्वलित जानकर अपने-अपने घरों को आ जाती हैं, शीघ्रगामी बलवान् घोड़े जिस अग्नि को प्रज्वलित देखकर अश्वशाला को आ जाते हैं, हे अग्ने, तुम स्तुति करने वाले यजमान के लिये सब ओर से अन्न लाकर दो ॥ ४१ ॥

'अनूकान्ते दक्षिणे पङ्क्तीरग्निं तमिति' (का० श्रौ० १७।१२।१४)। दक्षिणेऽनूकान्ते तिस्रः पङ्क्तिसंज्ञा इष्टका उदग्लक्षणाः प्राङ्मुखः प्रत्यक्संस्था अग्निं तमिति तिसृभिर्ऋग्भिरुपदध्यादिति सूत्रार्थः। पङ्क्तिस्तृचः। यस्या द्वौ पादावष्टकौ सा पङ्क्तिः। वसुस्तापपाकप्रकाशैरुपकुर्वन् धनरूपो वसुरित्युच्यते, वसुर्वासयिता वा यस्तमग्निं मन्ये जानामि। धेनवो गावो यमग्निमुद्धृतं ज्ञात्वा अस्तं गृहं यन्ति गच्छन्ति दोहकालोऽस्माकं होमार्थं प्राप्त इत्याशयः। नित्यासो नित्याः शाश्वताः सर्वकालभाविनो वाजिनो बलवन्तोऽश्वा वेगवन्तो वा, सैन्धवाश्वाभिप्रायेण पुनर्वचनम्, यं दृष्ट्वा अस्तं यन्ति, नित्यत्वं वाजिनां तत्प्रवाहाभिप्रायेण, नित्यप्रहसितादिवत्, यमुपास्य गवाश्वादिकं लभ्यत इत्यर्थः, तादृश हे अग्ने! स्तोतृभ्यः स्तुतिकृद्भ्यो यजमानेभ्य इषमन्नमाभर आहर, देहीत्यर्थः। अधस्तनाश्चत्वारः पादाः परोक्षकृताः, अयं तु प्रत्यक्षकृतः। स्वामी हि पशूनामग्निः। [1]'यत्तज्जातः पशूनविन्दत' इत्युपक्रम्य 'तस्मात् सर्वान् ऋतून् पशवोऽग्निमभिसंयन्ति' इति श्रुतिः।

अध्यात्मपक्षे तमग्निं भोक्तृभोग्यसमूहस्याग्रे नेतारं तेजस्विनं परमात्मानमहं मन्ये प्रत्यगभेदेन साक्षात्करोमि। योऽसौ वसुर्धनं धनवदुपकारकः प्रियः, यमन्तर्यामिणमाश्रित्य धेनवो गाव इन्द्रियाणि यन्ति स्वमस्तं गृहमिव स्वस्वविषयं गच्छन्ति, अर्वन्तोऽश्वा आशवः शीघ्रगामिनो मनोबुद्धिचित्तानि नित्यासो नित्या वाजिनोऽस्तं यन्ति, विषया एव तेषां गृहम्, विश्रामहेतुत्वात्। हे अग्ने, स्तोतृभ्य इषमन्नं भौतिकं ज्ञानविज्ञानरूपमाध्यात्मिकं च आभर।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यो वसुरस्ति यमग्निं धेनवोऽस्तं यन्तीव नित्यासो वाजिन आशवोऽर्वन्तोऽस्तमिवाहं तं मन्ये, स्तोतृभ्य इषमाभर' इति, तदप्यनुपपन्नम्, अग्नेर्गृहरूपत्वानुपपत्तेः। धेन्वर्वद्वाजिन एव न गृहं व्रजन्ति, किन्तु मनुष्या अपि गृहं व्रजन्ति, अतो विशेषानुपपत्तिः ॥ ४१ ॥

---

१. उव्वटाचार्येणोद्धृताऽपीयं श्रुतिर्न साम्प्रतमुपलभ्यते।

सो अ॒ग्निर्यो वसु॑र्गृ॒णे सं यमा॒यन्ति॑ धे॒नवः॑ । समर्व॑न्तो रघु॒द्रुवः॒ सꣳ सु॑जा॒तासः॑ सू॒रय॒ इष॑ꣳ स्तो॒तृभ्य॒ आ भ॑र ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ— हमारी यह सुखसम्पत्ति अग्निदेव का ही प्रसाद है। मैं उसी की स्तुति करता हूँ। इस अग्नि को धेनुएँ प्राप्त करती हैं, शीघ्रगामी घोड़े प्राप्त करते हैं। अच्छे संस्कार वाले विद्वान् इस अग्नि की उपासना करते हैं। हे अग्निदेव ! तुम स्तुति करने वालों के लिये सब ओर से अन्न लाकर दो ॥ ४२ ॥

योऽग्निर्वसुर्वासयिता सोऽग्निः, तमग्निं विभक्तिव्यत्ययः, गृणे स्तौमि, 'गॄ शब्दे' क्र्यादिः, लटि तङि उत्तमैकवचने 'प्वादीनां ह्रस्वः' (पा० सू० ७।३।८०) इति रूपसिद्धिः। यद्वा योऽग्निर्गृणे स्तूयतेऽस्माभिः, व्यत्ययेन कर्मस्थाने कर्तृप्रत्ययः। यद्वा स एवाग्निर्यो वसुर्वासयितेति गीयते स्तोतृभिः, यमग्निं दृष्ट्वा धेनवो गावः समायान्ति, यं रघुद्रवो लघुद्रवणाः, रलयोरैक्याद् लघुद्रवः, 'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्' (अ० को० १।१।६४) इति कोषात्। लघु क्षिप्रं द्रवन्ति गच्छन्तीति लघुद्रवो लघुद्रवणाः, 'द्रु गतौ' भौवादिकः, क्विपि रूपम्। अर्वन्तोऽश्वाः समायान्ति। कथंभूता अश्वाः ? सुजातासः सु सुष्ठु शोभनं जातं जन्म येषां ते सुजाताः, 'आज्जसेरसुक्' (पा० सू० ७।१।५०) इत्यसुकि सुजातासः, कल्याणजन्मानः। सूरयः पण्डिताश्च यं समायान्ति, तादृश हे अग्ने, त्वं स्तोतृभ्य इषमन्नमाभर देहि।

अध्यात्मपक्षे—यो वसुः सर्वनिवासाश्रयो भगवानग्निरग्निवत्तेजस्वी तमग्निं परमात्मानं कृष्णमहं गृणे स्तौमि। यं दृष्ट्वैव धेनवो गावः समायान्ति सत्वरमायान्ति, न केवलं गावोऽपि तु यं दृष्ट्वा क्षिप्रगामिनोऽर्वन्तोऽश्वा अपि समायान्ति, सुजातासः कुलीनाः कल्याणाभिजनाः सूरयो विद्वांसोऽपि यं दृष्ट्वा श्रुत्वा च तदभिमुखाः समायान्ति, तमहं गृणे।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथाहं यो वसुरग्निस्तं गृणे, यं धेनवः समायान्ति, रघुद्रवोऽर्वन्तः सुजातासः सूरयः स्तोतृभ्य इषं समाभरन्ति, स स्तौति च, तथा त्वमेतानि समाभर' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, मूले यथेतिशब्दाभावाच्च। किञ्च, कोऽयं निवासहेतुरग्निः ? प्रसिद्धोऽग्निरीश्वरो वा ? नाद्यः, तस्य स्तुतौ तवापसिद्धान्तात्। परमात्मा चेत्, कथं तं धेनवो वाण्योऽर्वन्तश्च समायान्ति ? भावार्थे तु—'यथा अश्वाः शीघ्रं गत्वा अश्वारूढं ग्रामं प्रापयन्ति, तथैवाध्यापकाश्छात्रान् विद्यायाः पारं प्रापयन्ति' इति, तदपि निःसारम्, दृष्टान्तदार्ष्टान्तानुपपत्तेः। स्तोतृभ्यो विद्यार्थिभ्य इषं ज्ञानं समाभरेत्यादिकं सर्वथा गौणार्थमेव। दयानन्दस्तु प्रायेण सर्वत्रैव गौणार्थमेवाभ्युपगम्य मन्त्रान् व्याख्याति, मुख्यार्थमुपेक्षते। मुख्यार्थोपेक्षणं च प्रमाणमन्तरा अशक्यमेव, मुख्यार्थबाध एव लक्षणाद्यङ्गीकारात्। अत्र सूरिभिर्बहुधा पराक्रान्तम्।

गौणमुख्यार्थविचारः शब्दनये महत्त्वपूर्णः। यथोत्तरमीमांसायामानन्दमयाधिकरणे 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (ब्र० सू० १।१।१२) इति सूत्रे केचिदानन्दमयपदेन ब्रह्म गृह्णन्ति। 'तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (तै० उ० २।५) इति विकारवाचि प्रायः पठितम्। तत्किं पुच्छपदसमभिव्याहारादन्नमयादिषु चावयवपरत्वेन प्रयोगादानन्दमयवाक्येऽप्यवयवपरत्वात् पुच्छपदस्य तत्समानाधिकरणं ब्रह्मपदमपि स्वार्थत्यागेन कथञ्चिद् अवयवपरत्वेन व्याख्यायताम्, आहोस्विदन्नमयादिविकारवाचिप्रायःपठितमानन्दमयपदं प्रचुरानन्दवाचि ब्रह्मण्यप्रसिद्धं कयाचिद् वृत्त्या ब्रह्मणि व्याख्यायतामिति विचारे आनन्दपदाभ्यासेन ज्योतिःपदेनेव ज्योतिष्टोम आनन्दमयो लक्ष्यतामुतानन्दमयपदं विकारार्थकमस्तु, ब्रह्मपदं ब्रह्मण्येव स्वार्थेऽस्तु, आनन्दपदाभ्यासश्च स्वार्थे; पुच्छपदमात्रमवयवप्रायलिखितमधिकरणपरतया

व्याक्रियतामिति कृतबुद्धयो विदाङ्कुर्वन्तु । तत्र पुच्छपदमपि लाङ्गूले मुख्यं सदानन्दमयावयवे गौणमेव । तेन मुख्यशब्दार्थलङ्घनमवयवपरतायामधिकरणपरतायां च तुल्यमेव । अवयवप्रायलेखबाधश्च विकारप्रायलेखबाधेन तुल्य एव । ब्रह्मपदमानन्दमयपदमानन्दपदमिति त्रितयस्य स्वार्थलङ्घनं त्वधिकम् । तस्मान्मुख्यत्रितयलङ्घनाद-साधीयान् पूर्वः पक्षः । मुख्यत्रयानुगुण्येन तूत्तरपक्षो युक्तः । किञ्चानन्दमयपदस्य ब्रह्मार्थत्वे ब्रह्मपुच्छमिति न समञ्जसम्, एकत्रावयवावयविभावानुपपत्तेः । आधारपरत्वे च पुच्छशब्दस्य प्रतिष्ठेत्येतदप्युपपन्नतरं भवति । आनन्दमयस्य चान्तरत्वमन्नमयादिकोषापेक्षया ब्रह्मणस्त्वान्तरत्वमानन्दमयादपीत्यर्थादवगम्यत इति श्रुत्या नोक्तम् । तथा सत्यानन्दमयस्य प्रियाद्यवयवयोगोऽपि सङ्गच्छते । वाङ्मनसागोचरे तु परब्रह्मण्युपाधिमन्तर्भाव्य प्रियादियोगः, प्राचुर्यं च क्लेशेन व्याख्यातव्यम् । 'सोऽकामयत' (तै० उ० २।६) इत्याद्याः श्रुतयोऽपि ब्रह्मपरा नानन्दमयपराः । वेदसूत्रयोर्विरोधे तु 'गुणे त्वन्याय्यकल्पना' (जै० सू० ९।३।१७) इति रीत्या सूत्राण्येव श्रुत्यनुसारेण व्याख्येयानि ।

दयानन्दस्तु सर्वत्र प्रायेण गौणार्थतामेवाङ्गीकृत्य मन्त्रान् व्याख्यातीति सुधीभिर्विभावनीयम् ॥ ४२ ॥

उ॒भे सु॑श्चन्द्र स॒र्पिषो॒ दर्वी॑ श्रीणीष आ॒सनि॑ । उ॒तो न॒ उत्पु॑पूर्या उ॒क्थेषु॑ शवसस्पत॒ इष॑ꣳ स्तो॒तृभ्य॒ आभ॑र ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ—चन्द्रमा के समान आह्लाद देने वाले हे अग्निदेव ! तुम अपने मुख में घृतपान करने के निमित्त दर्वी के आकार वाले दोनों हाथों से उसे ग्रहण करते हो, हे बल के अधिपति, यज्ञ में स्तुति करने वाले हमको धन से परिपूर्ण करो, अन्य स्तुति करने वालों को भी अन्न दो ॥ ४३ ॥

हे सुश्चन्द्र सु सुष्ठु चन्द्र आह्लादक इति सुश्चन्द्रः, 'ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे' (पा० सू० ६।१।१५१) इति ह्रस्वात् परस्य चन्द्रशब्दस्य सुडागमः, तत्सम्बुद्धौ । हे सुष्ठु आह्लादकारिन्नग्ने ! अथवा चन्द्रमिति हिरण्यनाम (निघ० १।२।२) । शोभनं चन्द्रं हिरण्यं यस्मात् स सुश्चन्द्रस्तत्सम्बुद्धौ । यद्वा शोभनश्चन्द्र इव चन्द्रो धनदाता । शोभने चन्द्रे धनप्राप्तिर्भवतीति ज्योतिःशास्त्रे उक्तम्— 'आद्यश्चन्द्रः श्रियं कुर्याद् द्वितीये धनधान्यदः' इत्यादि । यद्वा शोभनं चन्दत्याह्लादयतीति सुश्चन्द्रस्तत्सम्बुद्धौ । हे अग्ने, आसनि त्वदीय आस्ये सर्पिष आज्यस्य सम्बन्धिन्यौ उभे दर्वी दर्वीसदृशहस्तौ, यद्वा सर्पिषः पानार्थं दर्वीसदृशौ हस्तौ, अथवा सर्पिषः सर्पिःसम्बन्धिन्यौ जुहूपभृतौ, श्रीणीषे सेवसे । हस्तप्रेरणपर्यन्तं सर्पिस्त्वया पीतमित्यर्थः । 'श्रीञ् पाके' क्र्यादिः, अत्राश्रयार्थः । उतो अपि च हे शवसस्पते बलस्याधिपते, उक्थेषु शस्त्रवत्सु यज्ञेषु नोऽस्मान् उत्पुपूर्या उत्कर्षेण पूरय, धनानि प्रापयेत्यर्थः । स्तोतृभ्यो यजमानेभ्य इषमन्नमाभर सम्पादय ।

अध्यात्मपक्षे—शोभनश्चन्द्र इव हे रामचन्द्र कृष्णचन्द्र वा, आसनि आस्ये सर्पिषो घृतस्य नवनीतस्य सम्बन्धिन्यौ दर्वी दर्व्यौ दर्व्याकारौ हस्तौ श्रीणीषे सेवसे । उतो अपि च, हे शवसस्पते बलस्याधिपते, उक्थेषु शस्त्रस्तोत्राद्युपेतेषु यज्ञेषु त्वदर्चालक्षणेषु नोऽस्मान्, उत्पुपूर्या ज्ञानवैराग्यादिभिः पूरय, स्तोतृभ्यश्च इषमाभर ।

दयानन्दस्तु—'हे सुश्चन्द्र अध्यापक, त्वं सर्पिषो दर्वी श्रीणीषे पचसि । आसनि आस्ये उभे द्वे पठन-पाठनक्रिये आभर । हे शवसस्पते, त्वमुक्थेषु वक्तुं श्रोतुमर्हेषु वेदविभागेषु नोऽस्मभ्यम्, उतो अपि च स्तोतृभ्य इषं चोत्पुपूर्याः' इति, तदप्यसङ्गतम्, 'उभे' इत्यस्य श्रुतदर्वीविशेषणोपपत्तावश्रुतपठनपाठनक्रियाक्षेपस्य निर्मूलत्वात्, तावत्येव विवक्षिते 'सर्पिषः श्रीणीषे' इत्यादिपदानां नैरर्थक्यापत्तेश्च । अध्यापके शवसस्पतित्वमपि

चिन्त्यमेव। तथैव शस्त्रेषु प्रसिद्धस्य उक्थशब्दस्य वेदविभागार्थकल्पनं श्रुतिषु बलात्कार एव। न चाध्यापकः सर्वेभ्योऽन्नं दातुं प्रभवतीति तदपि तात्पर्यशून्यमेव ॥ ४३ ॥

अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रꣳ हृदिस्पृशम्। ऋध्यामा त ओहैः ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आज हम इस यज्ञ को तुम्हारे नाम, रूप और कर्म के प्रतिपादन करने वाले फल-प्रापक साम मन्त्रों से उसी प्रकार समृद्ध करते हैं, जैसे कि अनेक स्तुतियों से अश्वमेध के यज्ञों को ब्राह्मण समृद्ध करते हैं, जिस प्रकार अतिप्रिय चिरकाल से मन में स्थित कल्याणरूपी यज्ञ के संकल्प को यजमान समृद्ध करते हैं ॥ ४४ ॥

'उत्तरे पदपङ्क्तीरग्ने तमद्येति' (का० श्रौ० १७।१२।१५)। उत्तरानूकान्ते तिस्रः पदपङ्क्तीष्टका उदग्लक्षणाः प्रत्यक्संस्थाः प्राङ्मुखोऽग्ने तमिति तिसृभिर्ऋग्भिरुपदध्यादिति सूत्रार्थः। तिस्रः पदपङ्क्तयः। यस्याः पञ्चाक्षराश्चत्वारः पादाः, एकः षडर्णः, सा पदपङ्क्तिः। यद्वा त्रयः पञ्चार्णाश्चतुर्थश्चतुरर्णः पञ्चमः षडर्ण इति, पञ्चकाश्चत्वारः षट्कश्चैकश्चतुर्थश्चतुष्को वा पदपङ्क्तिरित्युक्तेः। तत्राद्यायां चतुर्थश्चतुष्कः। हे अग्ने, ते तव तं प्रसिद्धं क्रतुं यज्ञमद्यास्मिन् दिने ऋध्यामा वयं समर्धयामः, समृद्धं करवामेत्यर्थः। आशिषि लोट्। संहितायां दीर्घः। कथमिव ? अश्वं न स्तोमैः, न इवार्थः, यथा स्तोमैः स्तुतिभिरश्वमाश्वमेधिकमश्वं विप्राः समर्धयन्ति तद्वत्। यथा वा क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम्। हृदि स्पृशतीति हृदिस्पृक् तं चिरं मनसि स्थितं भद्रं कल्याणं क्रतुं सङ्कल्पं समर्धयन्ति तद्वत्। यथा चिराभिलषितं सङ्कल्पं सन्तः सम्पादयन्ति, तथा अद्य ते पावकं क्रतुं समर्धयाम इत्यर्थः। क्रतुर्यज्ञः सङ्कल्पश्चेत्येकस्यैव क्रतुशब्दस्य दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सम्बन्धः। कीदृशैः स्तोमैः ? ओहैः, 'वह प्रापणे' वहन्ति फलं प्रापयन्तीत्योहाः, तैः। अथवा वहन्ति प्रतिपादयन्ति त्वन्नामबन्धुकर्मरूपाणीति वोहास्तैस्त्वन्नामगुणरूपादिप्रतिपादकैः फलप्रापकैः स्तुतिसमूहैर्दक्षिणाभिश्च यज्ञं समर्धयेमहीति समस्तार्थः। यद्वा—हे अग्ने, हृदिस्पृशमत्यन्तप्रियं ते त्वामद्य अस्मिन् कर्मणि ओहैः फलप्रापकैः स्तोमैर्ऋध्यामा समृद्धं करवाम। तत्रैको दृष्टान्तः—अश्वं न यथा लोके अश्वं घासादिप्रदानेन समर्धयन्ति तद्वत्। यथा वा क्रतुं ज्योतिष्टोमादि भद्रं कल्याणकरं सङ्गीतानुष्ठानेन समर्धयन्ति तद्वत्। भद्रं कल्याणमित्यग्निविशेषणं वा।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, ते तव प्रसिद्धं तं पावनं ज्ञानोपासनादिलक्षणं क्रतुमद्य ओहैः स्वरूपप्रतिपादकैः स्तोमैः स्तुतिसमूहैर्ऋध्यामा ऋध्यामः। तत्रैव दृष्टान्तद्वयम्—यथा अश्वमाश्वमेधिकं विप्राः समर्धयन्ति, यथा वा हृदिस्पृशमतिप्रियं मनसि स्थितं भद्रं कल्याणकरं क्रतुं सङ्कल्पं समर्धयेयुस्तद्वत्।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने अध्यापक, वयं ते तव सकाशादोहैः विद्यासुखप्रापकैः स्तोमैर्विद्यास्तुतिविशेषैर्वेदभागैरद्यास्मिन् वर्तमाने समयेऽश्वं न सुशिक्षितं तुरङ्गमिव भद्रं क्रतुं न प्रज्ञानमिव तं हृदिस्पृशं हृद्यात्मनि स्पृशति तं विद्याबोधं प्राप्य सततमृध्यामौ वर्धेमहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विद्याबोधस्याश्वेनोपमानायोगात्। प्रज्ञानबोधयोश्चैक्येनोपमानोपमेयभावो न युज्यते, तस्य भेदमूलकत्वात्। अग्निपदस्याध्यापकोऽर्थ इत्यपि चिन्त्यम् ॥ ४४ ॥

अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः। रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, अब आप सब प्रकार से समृद्ध, सम्यक् प्रकार से अनुष्ठित, कल्याण रूप, अमोघ फल वाले हमारे इस विशाल यज्ञ का उसी प्रकार निर्वाह कीजिये, जैसे कि सारथी रथ का निर्वाह करता है ॥ ४५ ॥

अधा अथ समनन्तरमेव, अधेत्यव्ययस्याऽथार्थत्वात्। 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) इति संहितायां दीर्घः। हिः पादपूरणः। अस्मदीयस्तोत्रानन्तरमेवानुष्ठीयमानस्य क्रतोरस्मद्यज्ञस्य भद्रस्य कल्याणरूपस्य दक्षस्य समृद्धस्य फलदानसमर्थस्य साधोः, साध्यते निष्पाद्यत इति साधुः, तस्यास्माभिः साधुतया निष्पादितस्य ऋतस्य अमोघफलस्य बृहतो महतः प्रौढस्य रथीः, रथोऽस्यास्तीति रथीः सारथिरिव बभूथ भव। सारथिर्यथा रथनिर्वाहं करोति तथा यज्ञनिर्वाहको भवेत्यर्थः। 'बभूथाततन्थजगृम्भ' (पा० सू० ७।२।६४) इत्यादिना निपातनात् साधुः। रथीरित्यत्र 'छन्दसीवनिपौ च' (पा० सू० ५।२।१०९ वा० २) इति वार्त्तिकेन ईप्रत्ययः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, अस्मदादिस्तोत्रानन्तरमेवास्मन्निष्पादितस्य क्रतोः सङ्कल्पात्मकस्योपासनस्य प्रज्ञानस्य वा रथीः सारथिर्भव, सारथिं विना रथस्येव त्वां विना अस्मत्सङ्कल्पस्य फलपर्यवसायित्वाभावात्। कीदृशस्य क्रतोः ? भद्रस्य कल्याणरूपस्य दक्षस्य भवसागरतारणक्षमस्य, साधोः सर्वसाधनेषु श्रेष्ठस्य ऋतस्य मोक्षफलस्य बृहतः प्रौढस्य।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, यथा त्वं भद्रस्य दक्षस्य साधोर्ऋतस्य बृहतः क्रतोः सकाशाद्रथीर्बभूथ, तथाऽधा हि वयमपि भवेम। अथ मङ्गले' इति, तदपि यत्किञ्चित्, शङ्खभेर्यादिवत् श्रुत्या मङ्गलार्थस्याप्यथशब्दस्य वाक्येऽनन्वयेन तदयुक्तेः। रथी रमणसाधनैर्यानैर्युक्तो भवेत्यपि न सङ्गतम्, तादृशार्थस्य रागप्राप्तत्वेनोपदेशानर्हत्वात्। ऋतस्य सत्यप्राप्तस्येत्यप्यसङ्गतम्, ऋतशब्दस्य तथाभूतेऽर्थेऽसङ्गतेः। बृहतो महाविषयस्येत्यप्यसङ्गतम्, तादृशेऽर्थे शक्तिग्रहाभावात्॥ ४५॥

ए॒भिर्नो॑ अ॒र्कैर्भवा॑ नो अ॒र्वाङ् स्व॒र्ण ज्योतिः॑। अग्ने॒ विश्वे॑भिः सु॒मना॒ अनी॑कैः॥ ४६॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, हमारे इन पढ़े हुए मन्त्रों से प्रसन्न होकर आप अपने सम्पूर्ण मुखों के साथ हमें दर्शन दीजिये, जैसे कि सूर्य आकाश में उदित होकर सम्पूर्ण जगत् को अपना साक्षात्कार कराता है॥ ४६॥

हे अग्ने, विश्वेभिर्विश्वैः सर्वैरनीकैस्त्वदीयसैन्यैः सहितः सुमनाः सौमनस्यं प्राप्त एभिरिदानीं क्रियमाणैर्नोऽस्मत्सम्बन्धिभिरर्कैरर्चनीयैः स्तोत्रैर्नोऽस्मान् प्रति अर्वाङ् समीपस्थोऽस्मत्संमुखो भव। अवरं समीपदेशमञ्चति गच्छतीत्यर्वाङ्। तत्र दृष्टान्तः—स्वर्णज्योतिः स्वः न ज्योतिः। न इवार्थे। यथा स्वः सूर्यरूपं ज्योतिरर्कैरर्चनीयैर्मन्त्रैः स्तुत उदयादारभ्य सर्वसमीपवर्ती भवति, तथा त्वं समीपस्थो भव, अनुगृहाणेत्यर्थः। यद्वा हे अग्ने, एभिरर्कैरर्चनीयैर्मन्त्रैर्नोऽस्माकं सम्बन्धिभिः, स्तूयमान इति शेषः। सुमनाः शोभनमनस्कः सन्नस्मान् प्रत्यर्वाङ् अभिमुखं च नो भव। कथमिव ? स्वर्णज्योतिः, यथा स्वराख्यं सूर्यात्मकं ज्योतिरुदयादारभ्यार्वागञ्चनं सत् सर्वप्राणिनोऽनुगृह्णाति, एवं भवानर्वागञ्चनो विश्वेभिः सर्वैरनीकैर्मुखैः सुमनाः सौमनस्यं प्राप्तोऽनुगृहाणेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—अयमेवार्थः। अर्वाग्भव अभिमुखो भव, वृत्तो अभिव्यक्तो भवेति विशेषः।

दयानन्दस्तु—हे अग्ने, त्वं नोऽस्मभ्यं विश्वेभिरनीकैः राजेव सुमना भव। एभिरर्कैर्नोऽस्मभ्यं ज्योतिरर्वाङ् स्वर्न भव' इति, तदपि चिन्त्यम्, राजभिन्नानां विदुषां सैन्यायोगात्। यदि च सैन्यानां राज्ञा सम्बन्ध इष्येत, तदप्यसङ्गतम्, मूले तादृशशब्दादर्शनात्, अर्वाक्पदस्याप्यनुत्कृष्टानुत्कृष्टान् कर्तुमञ्चतीति व्याख्यानमपव्याख्यानमेव, निर्मूलत्वात्। न चार्कशब्दस्य विद्वानर्थः, तादृशकोषाद्यभावात्। न विद्वान् स्वर्भवति, गुणद्रव्ययोरैक्यायोगात्। न च सादृश्यमपि सम्भवति, सुखे गुणावयवायोगात्, भूयोऽवयवगुणवत्त्वेनैव सादृश्यसम्भवात्॥ ४६॥

अग्निँ होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुँ सूनुँ सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम् । य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा । घृतस्य विभ्राष्टिमनुवष्टि शोचिषाजुह्वानस्य सर्पिषः ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ—दान आदि शुभ गुण वाला यह यज्ञीय अग्नि अपनी ऊँची ज्वालाओं से सब ओर से दी गई आहुति को लेकर देवताओं के समीप जाता है। अंग-अंग में फैलने वाले घृत के पान की निरन्तर इच्छा करता है। उस अग्नि को देवताओं को बुलाने वाले दानशील सबको सहारा देने वाले ब्रह्मज्योति के पुत्र सब प्रकार के ज्ञान से सम्पन्न सभी शास्त्रों के ज्ञाता ब्राह्मण के समान मैं जानता हूँ ॥ ४७ ॥

'पुरीषवत्याः पूर्वामतिच्छन्दसं प्राच्यौ पुरीषसहिते भद्रारातिर्वृत्रतूर्येऽवस्थिराग्निँ होतारमिति' (का० श्रौ० १७।१२।१६)। अग्नेः पुरीषमसीति पुरीषशब्दवता मन्त्रेणोपहिता पञ्चमी असपत्ना पुरीषवतीष्टका। तस्याः पुरस्तादतिच्छन्दससंज्ञकामिष्टकां पद्यां प्राग्लक्षणां प्राङ्मुख उपदध्यात्। भद्रारातिर्वृत्रतूर्ये अवस्थिरेति ककुभां चतुश्चतुरक्षरसहितया अग्निँ होतारमित्यृचा पुरीषवदतिच्छन्द इष्टके प्राग्लक्षणे पुरीषयुक्ते च भवतः। अनयोरन्तः पुरीषावापः कार्य इति सूत्रार्थः। अतिच्छन्दा अवसानत्रिकोपेताः। छन्दांसि गायत्र्यादीनि सप्तातिक्रान्ता अतिच्छन्दाः। चतुःषष्ट्यक्षरत्वादष्टिः, अत्यष्टिर्वा, ककुभामक्षरैः सहातिधृतिः। तं प्रसिद्धमग्निं होतारं देवानामाह्वातारमहं मन्ये जानामि। कीदृशमग्निम्? दास्वन्तं दातारम् 'दासृ दाने', वसुं वासयितारम्, सहसो बलस्य सूनुं पुत्रम्, बलपूर्वकमथनाज्जातत्वात्, जातवेदसं जातप्रज्ञानं जातो वेदो यस्माद्वा, 'त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः' (श० ११।५।८।३) इति श्रुतेः। विप्रं न जातवेदसं विप्रमिव जातसर्वशास्त्रज्ञानं तादृशं तमग्निमहं मन्ये। यो देवो दानादिगुणयुक्तः, स्वध्वरः सुष्ठु शोभनोऽभीष्टफलदोऽध्वरो यज्ञो यजनं यस्य सः। ऊर्ध्वया ऊर्ध्वोन्मुखया उन्नतया देवाच्या देवान् प्रत्यञ्चति गच्छतीति देवाची, तया देवान् प्रति गमनशीलया, कृपा कृप्यते इति कृप् तया क्लृप्त्या समर्थया, शोचिषा ज्वालया घृतस्य आज्यस्य विभ्राष्टिं विभ्रंशपातमनुवष्टि कामयते। कीदृशस्य घृतस्य? आजुह्वानस्य आसमन्ताद् हूयमानस्य सर्पिषः सर्पतीति सर्पिः, तस्याग्नेरङ्गे प्रसर्पणशीलस्य। य एतादृशोऽग्निस्तमग्निमहं जानामि उपासिं करोमि।

यद्वा—इममग्निं होतारं देवानामाह्वातारमहं मन्ये। कीदृशम्? वसुं धनं दास्वन्तं प्रयच्छन्तं सहसो बलस्य सूनुं पुत्रं जातवेदसं जगदभिज्ञं विप्रं ब्राह्मणं ब्रह्मविद्वरिष्ठमिव जातवेदसं परावरविदम्। योऽग्निर्देव ऊर्ध्वया अत्युन्नतया देवाच्या देवान् प्रति गच्छन्त्या कृपा क्लृप्त्या समर्थया ज्वालया स्वध्वरः सुष्ठु यागनिष्पादको भवति, यश्च घृतस्य विभ्राष्टिं विशेषदीप्तिं शोचिषा स्वकीयेन तेजसा अनुवष्टि अनुकामयते। कीदृशस्य? आजुह्वानस्य सर्वतो हूयमानस्य सर्पिषः सर्पणशीलस्य।

अध्यात्मपक्षे—यो देवो दीव्यति क्रीडते सृष्टिस्थितिलयादिभिरिति। स्वध्वरः सुष्ठु शोभनो मुक्तिदाता अध्वरो यजनं यस्य सः, देवाच्या देवं निर्गुणं परमात्मनम्, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' (श्वे० उ० ६।११) इति श्रुतेः। अञ्चति गच्छति प्राप्नोतीति देवाची, तया। कृपा समर्थया शोचिषा प्रकाशेन समर्थेन ब्रह्मप्रापकेन ज्ञानेन सहितस्य घृतस्य घृतगन्धिस्नेहस्य विभ्राष्टिं विशेषदीप्तिमनुवष्टि कामयते, तमग्निं प्रसिद्धमग्निं परमात्मानं होतारं भक्तानामाह्वातारं वसुं भक्तानामभीष्टधनरूपं दास्वन्तं मोक्षादिदातारं सूनुं कौशल्याया इति शेषः, देवक्या वा, सहसः सहो बलरूपम्, विभक्तिव्यत्ययः, सहसो बलस्य सूनुं वा, बहुजन्मनामन्ते महता प्रयत्नेन आविर्भावात्।

जातवेदसं वेदोत्पत्तिहेतुं विप्रं न ब्राह्मणमिव जातवेदसं परावरब्रह्मविदमहं मन्ये जानामि, साक्षात्करोमि उपाश्रये वा।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, य ऊर्ध्वया उपरि गत्या स्वध्वरः शोभनकारित्वादहिंसनीयः, देवाच्या देवानञ्चति तया कृपा समर्थया क्रियया देवो दिव्यगुणः शोचिषा दीप्त्या आजुह्वानस्य समन्ताद्धूयमानस्य सर्पिष आज्यस्य घृतस्योदकस्य विभ्राष्टि विविधा भ्राष्ट्यः प्रकाशनानि यस्मिन् तमनुवष्टि अनुप्रकाशते, तं होतारं सुखदातारं जातवेदसं सर्वेषु जातेषु पदार्थेषु विद्यमानं सहसो बलिष्ठस्य सूनुं पुत्रमिव वसुं दास्वन्तमन्नप्रदं जातवेदसमग्निं विप्रं न आप्तमिव अहं मन्ये, तथा यूयमपि मन्यध्वम्' इति, तदपि न सङ्गतम्, गौणार्थाश्रयणात्, देवपदस्य योनिविशेषार्थकस्य भूमिकायां साधितत्वाच्च। 'ऊर्ध्वया' इत्यस्य ऊर्ध्वगत्यर्थता च चिन्त्या। स्वध्वरः शोभनकर्मकारित्वादचिन्तनीय इत्यपि निर्मूलम्, तादृक्प्रत्ययाभावात्॥ ४७॥

अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः। वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳ रयिं दाः। तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः॥ ४८॥

मन्त्रार्थ—हे निर्मल स्वभाव वाले अग्निदेव, ब्रह्मरश्मि रूप आहवनीय रूप से गमन करने वाले, धन देने से कीर्तिमान् तुम हमारे अति समीप रहने वाले हो, हमारी रक्षा करने वाले हो, हमारे पुत्र आदि का कल्याण करो। हे निर्मल स्वभाव वाले, हमारे होमस्थान में आइये और अति दीप्तियुक्त धन को दीजिये। हम अत्यन्त कान्तियुक्त, सबको प्रकाशित करने वाले पूर्वोक्त गुणों से युक्त तुम्हारे मित्रों के कल्याण के निमित्त, सुख के निमित्त तुम्हारी प्रार्थना करते हैं॥ ४८॥

'अग्ने त्वमित्यनूकान्तेऽपरे द्विपदाः' (का० श्रौ० १७।१२।१७)। ततः पश्चादनूकान्ते तिस्रो द्विपदाः प्राग्लक्षणा उदकसंस्था दक्षिणामुखः (१) अग्ने त्वम्, (२) वसुरग्निः, (३) तं त्वा इति मन्त्रैरुपदध्यादिति सूत्रार्थः। आसां मध्यमा पद्या अनूके, तामभितो द्वे अर्धपद्ये। तिस्रो द्विपदा विराज आग्नेय्यः। तृतीयेऽध्याये २५-२६ स्थले कृतव्याख्याना अपि पुनः किञ्चिद् व्याख्यायन्ते। हे अग्ने, त्वं नोऽस्माकमन्तमोऽन्तिकतमः समीपस्थो भव। उतापि च त्राता रक्षको भव। शिवो मङ्गलरूपो भव। वरूथ्यो वरूथे गृहे नित्यं सन्निहितो भव। वसुर्वसुमानयमग्निर्वसुश्रवा वसुभिरिन्द्रादिदैवतैरादरेण श्रूयत इति। हे तादृश अग्ने, अच्छा अस्मदभिमुखं नक्षि प्राप्नुहि। द्युमत्तममतिशयेन दीप्तियुक्तं रयिं धनं दाः प्रयच्छ। हे शोचिष्ठ शुद्धतम दीदिव दीप्यमान, सखिभ्यः सखीनामस्माकं सुम्नाय सुखाय तं पूर्वोक्तगुणं त्वाम् ईमहे प्राप्नुमः॥ ४८॥

येन ऋषयस्तपसा सत्रमायन्निन्धाना अग्निꣳ स्वराभरन्तः।
तस्मिन्नहं निदधे नाके अग्निं यमाहुर्मनवस्तीर्णबर्हिषम्॥ ४९॥

मन्त्रार्थ—अग्नि को प्रदीप्त करके स्वर्ग की इच्छा करने वाले ऋषिगण चित्त को एकाग्र करके यज्ञरूपी तप करने को उद्यत हुए हैं। उस तप के पूरा होने पर स्वर्ग को प्राप्त कराने वाले अग्नि को मैं स्थापित करता हूँ। मननशील विद्वान् इस अग्नि को ही यज्ञ का प्रधान साधन मानते हैं॥ ४९॥

'पुनश्चितिं चोपरि तद्वद् येन ऋषय इति प्रत्यृचम्' (का० श्रौ० १७।१२।१९)। मध्योपहितस्यास्येष्टकस्य गार्हपत्यस्योपरि गार्हपत्यवदेव पुनश्चितिमुपदध्याद् येनेत्यष्टर्चेन प्रत्यृचमिति सूत्रार्थः। आग्नेय्योऽष्टौ षट् त्रिष्टुभो द्वे अनुष्टुभौ। ऋषयो वसिष्ठप्रभृतयो येन तपसा चित्तैकाग्र्येण सत्रमनेकयजमानकर्तृकं यागमायन्

आगतवन्तः सत्रं कर्तुमुद्यताः, अग्निमिन्धाना अग्निमादीपयन्तः, तथा स्वः स्वर्गलोकमाभरन्त आहरन्तः स्वीकुर्वाणाः, तेनैव तपसा ह सत्रमागत्य अग्निं सन्दीप्य स्वर्लोकं च स्वीकृत्य तस्मिन् तपसि सति नाके स्वर्गलोकनिमित्तमहमग्निं निदधे स्थापयामि। यमग्निं मनवो मननप्रधाना विद्वांसः स्तीर्णबर्हिषं स्तीर्णमाच्छादितं बर्हिर्यत्र स स्तीर्णबर्हिस्तं बर्हिरुपलक्षितसर्वयज्ञसाधनोपेतम्, 'मनसश्चेन्द्रियाणां च निग्रहः परमं तपः' इत्याप्तोक्तेः। यद्वा—येन स्वर्गेण निमित्तभूतेन ऋषयो वसिष्ठाद्यास्तपसा सन्तापयुक्तेनाग्निना सत्रमायन् सत्रमनुष्ठितवन्तः। कीदृशा ऋषयः ? अग्निमिन्धाना आहवनीयं प्रज्वालयन्तः। स्वराभरन्तः स्वर्गमाहर्तुमुद्यताः। अहमपि तस्मिन्नाके निमित्तभूते सत्यग्निं दधे स्थापयामि, यमग्निं मनवः पूर्वमनुष्याः स्तीर्णबर्हिषं प्रसारितयज्ञसाधनमाहुः, तमग्निं निदध इति सम्बन्धः।

अत्र ब्राह्मणम्—'येन ऋषयस्तपसा सत्रमायन्निति। अमूनेतदृषीनाहेन्धाना अग्निᳬ स्वराभरन्त इतीन्धाना अग्निᳬ स्वर्गलोकमाहरन्त इत्येतत्तस्मिन्नहं निदधे नाके अग्निमिति स्वर्गो वै लोको नाको यमाहुर्मनवस्तीर्णबर्हिषमिति ये विद्वाᳬसस्ते मनवस्तीर्णबर्हिषमिति सर्वदा हैव स स्तीर्णबर्हिः' (श० ८।६।३।१८)। प्रसन्ना कण्डिका।

अध्यात्मपक्षे—तपसा चित्तैकाग्र्येण ऋषयो वसिष्ठाद्याः सत्रमायन् ज्ञानसत्रं कर्तुमुद्यताः। कीदृशाः ? स्वः ब्रह्मात्मकं सुखमाभरन्तः। तस्मिन् तपसि सत्यहमपि नाके दुःखासंस्पृष्टमोक्षरूपनिमित्ते भगवन्तमग्निं निदधे हृदये धारयामि। यमग्निं भगवन्तं मनवः पूर्वं मननशीलाः स्तीर्णबर्हिषं विस्तारितयज्ञमाहुः।

दयानन्दस्तु—'येन कर्मणा तपसा धर्मानुष्ठानेन इन्धानाः प्रकाशमानाः स्वः सुखमाभरन्तः समन्ताद् हरन्त ऋषयो वेदार्थवेत्तारः सत्रं सत्रा सत्यं विद्यते यस्मिन् विज्ञाने तत्। सत्रा इति सत्यनामसु (निघ० ३।१०।३)। अग्निं विद्युदादिकमायन् प्राप्नुयुः, तस्मिन्नाकेऽविद्यमानदुःखे सुखे प्राप्तव्ये सति मनवो विद्वांसो यं स्तीर्णबर्हिषं स्तीर्णमाच्छादितं बर्हिरन्तरिक्षं येन तमग्निं अहं निदधे' इति, तदप्यापातरमणीयम्, सत्रपदस्य विज्ञानपरत्वेऽग्निसामानाधिकरण्यायोगात्। अन्वये सत्रमग्निं, भाषाभाष्ये च विज्ञानप्रयुक्तमग्निमित्युक्तम्, तच्च नोपपद्यते, अग्नेर्विज्ञानरूपत्वाभावात्। अद्यत्वे धर्मानुष्ठानमन्तरापि विद्युत्प्रादुर्भावदर्शनेन येन तपसेति सूचितधर्मानुष्ठानस्य कारणत्वमपि बाधितम्, अन्यथासिद्धत्वात्। न च तादृशमग्निं कश्चिद् मनुष्येषु धारयितुं शक्नोति, तस्य ताम्रतन्त्राद्याधारत्वप्रसिद्धेः। न चाविद्यमानदुःखं सुखं तेन प्राप्यते, तेनानेकनेत्ररोगाद्युत्पत्तिदर्शनात् ॥ ४९ ॥

तं पत्नी॑भिरनु॒गच्छेम देवाः पु॒त्रैर्भ्रा॒तृभि॑रु॒त वा॒ हिर॑ण्यैः।
नाकं॑ गृभ्णा॒नाः सु॑कृ॒तस्य॑ लो॒के तृ॒तीये॑ पृ॒ष्ठे अधि॑ रोच॒ने दि॒वः ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ—हे विद्वान् ऋत्विजों, भूमि से तीसरे द्युलोक के ऊपर शुभ कर्मों के फलरूप दीप्यमान आदित्यमण्डल में दुःखहीन स्थान को स्वीकार करते हुए हम स्त्री, पुत्र, भाई और सुवर्ण आदि द्रव्यों के साथ उस अग्नि देवता की सेवा करते हैं, जिससे कि हमें तीसरे स्वर्ग लोक की प्राप्ति हो ॥ ५० ॥

हे देवाः, दीप्यमाना ऋत्विजः, वयं सर्वे तमग्निं पत्नीभिः पाणिगृहीतीभिः स्त्रीभिः सह उतापि पुत्रैः सह भ्रातृभिश्च हिरण्यैः काञ्चनादिसाधनद्रव्यैश्च सह तमग्निमनुगच्छेम अनुसरेम, सेवेमहीत्यर्थः। कीदृशा वयम् ? तृतीये भूलोकमारभ्य त्रिसंख्यापूरके दिवः पृष्ठे रविमण्डले नाकं दुःखहीनं स्थानम् अधि गृभ्णाना अधिकं सुखस्थानं स्वीकुर्वन्तः। कीदृशे दिवः पृष्ठे ? सुकृतस्य लोके सम्यगनुष्ठितस्य शुभकर्मणः फलभूते। पुनः कीदृशे ? रोचने दीप्यमाने। एतच्च श्रुतिप्रामाण्यात्। तथा च ब्राह्मणम्—'तं पत्नीभिरनुगच्छेम देवाः। पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा

हिरण्यैरित्येतेनैनꣳ सर्वेणानुगच्छेमेत्येतन्नाकं गृभ्णानाः सुकृतस्य लोक इति स्वर्गो वै लोको नाकः स्वर्गं लोकं गृभ्णानाः सुकृतस्य लोक इत्येतत् तृतीये पृष्ठेऽधिरोचने दिव इत्येतद्ध तृतीयं पृष्ठꣳ रोचनं दिवो यत्रैष एतत् तपति' (श०८।६।३।१९) ।

अध्यात्मपक्षे—हे देवाः, भगवता सह क्रीडमाना भक्ता वयं सर्वे तमग्निं भगवन्तं परमेश्वरं पत्नीभिः पुत्रैर्भ्रातृभिरुत हिरण्यैर्धनादिभिरनुगच्छेम संराध्नुयाम । कीदृशा वयम् ? तृतीये कार्यकारणापेक्षया तृतीये कार्यकारणातीते दिवो द्योतनात्मकस्य बोधात्मकस्य पृष्ठे उपरि नाकं दुःखलेशरहितं स्थानम् अधिगृभ्णानाः प्रापञ्चिकसुखादधिकं ब्रह्मात्मकं सुखं स्वीकुर्वाणाः । कीदृशे दिवः पृष्ठे ? सुकृतस्य स्वनुष्ठितस्य ज्ञानाभ्यासस्य लोके फलभूते रोचने दीप्यमाने ।

दयानन्दस्तु—'हे देवा विद्वांसः, यथा यूयं तं गृह्णाना दिवः सुकृतस्य अधिरोचने तृतीये विज्ञानजे पृष्ठे लोके वर्तमानाः पत्नीभिः पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैः सह नाकं गच्छत, तथैतैः सहिता वयमनुगच्छेम' इति, तदप्यसङ्गतम्, यथा यूयं तथा वयमित्यंशस्य निर्मूलत्वात्, निरर्थकत्वाच्च । वैद्युताग्नेर्जडत्वात्तदनुगमनं नोपपद्यते, तस्य चेतनानुगामित्वात् । अनुगमनं नामानुसरणम्, तच्च सेवनापरपर्यायमुपासन एव पर्यवस्यतीति तवैवापसिद्धान्तः । सुकृतस्य सुन्दरस्य वेदोक्तकर्मण इत्यप्यसाम्प्रतम्, तस्य तत्रानुपयोगात् । न च तस्य प्रकाशयुक्तत्वम्, कर्मणो नीरूपत्वात् । तस्याधिरोचने तृतीये पृष्ठे लोके इत्यस्यासङ्गतिरेव । तृतीय इति पदस्य विज्ञानज इति व्याख्यानमप्यसङ्गतम्, निर्मूलत्वात् । न च पृष्ठशब्दस्य ज्ञीप्सितमर्थः, निर्मूलत्वात् । 'पृषु सेचने' इति भौवादिकस्य 'तिथपृष्ठ' (उ० ३।११) इत्यादिना निपातनात् तत्सिद्धेः । पृच्छतेर्निष्ठायां तु पृष्टमित्येव भवति, न तु पृष्ठमिति ॥ ५० ॥

आ वाचो मध्यमरुहद् भुरण्युरयमग्निः सत्पतिश्चेकितानः ।
पृष्ठे पृथिव्या निहितो दविद्युतदधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यवः ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ—यह जगत् का कर्ता, सत्पुरुषों का पालक, ज्ञानी, पृथ्वी के ऊपर स्थापित अत्यन्त प्रकाशमान अग्नि चयन के मध्य स्थान में स्थित होकर युद्ध की इच्छा वाले पापियों को अपने चरणों से रौंद दे ॥ ५१ ॥

अयमग्निर्वाचो मध्यं चयनस्थानम्, आरुहत् चयनस्थानस्योपर्यारूढः, 'एतद्ध वाचो मध्यं यत्रैष एतच्चीयते' (श० ८।६।३।२०) इति श्रुतेः । कीदृशोऽयमग्निः ? भुरण्युर्भर्ता, सर्वस्य जगत इति शेषः, 'भुरण्युरिति भर्तेत्येतत्' (श० ८।६।३।२०) इति श्रुतेः । पुनः कीदृशः ? सत्पतिः सतां पालकः । पुनः कीदृशः ? चेकितानः चेतयमानः, अभिज्ञानवानित्यर्थः । पुनः कीदृशः ? पृथिव्या भूमेः पृष्ठे उपरि निहितः स्थापितः । पुनः कीदृशः ? दविद्युतद् अत्यन्तं द्योतमानः, 'दाधर्तिदर्धर्तिदर्धर्षि·····' (पा० सू० ७।४।६५) द्युतेर्यङ्लुगन्तस्य शतर्यभ्यासस्य सम्प्रसारणाभावः, अत्वं विजागमश्च निपात्यते । सोऽयमेतादृशोऽग्निः ? ये पृतन्यवोऽस्माभिर्युद्धं चिकीर्षवः, पृतनां सेनां युद्धं वा इच्छन्तीति पृतन्यन्ति, 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) इति क्यचि 'कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः' (पा० सू० ७।४।३९) इति टिलोपः । पृतन्यन्तीति पृतन्यवः 'क्याच्छन्दसि' (पा० सू० ३।२।१७०) इत्युप्रत्यये रूपम् । अर्थात् पाप्मानस्तान् अधस्पदं पादयोरधः अधस्पदम्, 'कस्कादिषु च' (पा० सू० ८।३।४८) इति सकारे रूपम्, कृणुतां करोतु, बाह्यान् आन्तरांश्चास्मच्छत्रून् चरणाधश्चरान् करोत्विति यावत् । यद्वा अयमग्निर्वाचः स्तोत्ररूपाया वाचो मध्यं प्रतिपाद्यमर्थमारूढः स्तोत्रगतसर्वगुणयुक्तः । अन्यत् पूर्ववत् ।

अत्र ब्राह्मणम्—'आ वाचो मध्यमरुहद् भुरण्युरिति । एतद्ध वाचो मध्यं यत्रैष एतच्चीयते भुरण्युरिति भर्तेत्येतदयमग्निः सत्पतिश्चेकितान इत्ययमग्निः सताम्पतिश्चेतयमान इत्येतत्पृष्ठे पृथिव्या निहितो दविद्युतदिति पृष्ठे पृथिव्या निहितो दीप्यमान इत्येतदधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यव इत्यधस्पदं कुरुतां सर्वान् पाप्मन इत्येतत्' (श० ८।६।३।२०)। विशदा कण्डिका।

अध्यात्मपक्षे—अयमग्निः परमेश्वरो वाचो वेदलक्षणाया मध्यं हृदयमाशयं तात्पर्यगोचरतामारुहत्। स्वभावत एव वेदमहातात्पर्यगोचरः। भुरण्युः जगद्धारकः, अधिष्ठानत्वात्। सत्पतिः सतां पालकः। चेकितानः सर्वज्ञः। पृथिव्या भूमेर्मायाया उपरिष्टाद् निहितो नितरां स्थितो दविद्युतद् अतिशयेन द्योतते। ये पृतन्यवोऽस्माभिः कलहं कर्तुमिच्छन्ति तान् सोऽयमग्निः परमेश्वरः, अधस्पदम् अस्माकं पादयोरधस्तादवस्थितान् कुरुताम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, चेकितानो विज्ञानयुक्तः सत्पतिर्भवान् वाचो मध्यं वाचो मध्ये भवं प्राप्य यथायं भुरण्युः पोषकोऽग्निर्विद्वान् पृथिव्याः पृष्ठे उपरि भागे निहितो नितरां धृतो दविद्युतत् प्रकाशयति, आरुहद् रोहति, तेन ये पृतन्यवस्तानधस्पदं कृणुताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात्। वाचो मध्यमित्यस्य वाचो मध्ये भवमुपदेशं प्राप्येत्यपि तथाविधमेव, उपदेशस्य शब्दात्मकत्वेन तदयोगात्। सर्वस्यैव भूमेः पृष्ठे वर्तमानत्वात् तथोक्तिरपि न वैशेष्यावहा। धर्ममारोहतीति भाषाव्याख्यानमपि निर्मूलम्, तथाध्याहारे मानाभावात्। सर्वोऽपि लोकः शत्रूनधस्पदं कर्तुं वाञ्छतीत्ययमुपदेशोऽपि निरर्थक एव ॥ ५१ ॥

अयमग्निर्वीरतमो वयोधाः सहस्रियो द्योततामप्रयुच्छन्।
विभ्राजमानः सरिरस्य मध्य उप प्रयाहि दिव्यानि धाम ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ—महान् पराक्रमी, हवि ग्रहण करने वाले, सहस्र इष्टकाओं के तुल्य अग्निदेव कर्मों में प्रमाद न करते हुए प्रज्वलित हों, त्रिलोकी के मध्य में दीप्यमान दिव्य स्थानों को प्राप्त हों ॥ ५२ ॥

अयमग्निर्वीरतमः, अजति शत्रून् क्षिपतीति वीरः। 'स्फायितञ्चि' (उ० २।१२) इत्यादिना रक्प्रत्ययः। 'अजेर्व्यघञपोः' (पा० सू० २।४।५६) इति प्रकृतेर्व्यादेशः। अथवा वेति व्याप्नोति शत्रून् बलेनेति वीरः। 'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु' इति वीधातो रप्रत्ययः। अतिशयेन वीरो वीरतमः। वयोधाः, वयो हविर्लक्षणमन्नं धीयतेऽस्मिन्निति वयोधाः, अथवा वयो दधातीति वयोधाः। सहस्रिय इष्टकानां सहस्रेण सम्मितः, 'सहस्रेण सम्मितौ घः' (पा० सू० ४।४।१३५) इति घप्रत्ययः, सहस्रार्हो वा। तादृशोऽयमग्निः, द्योततां दीप्यताम्। अप्रयुच्छन् कर्मसु अप्रमाद्यन्। सरिरस्य लोकत्रयस्य, 'इमे वै लोकाः सरिरम्' (श० ८।६।३।२१) इति श्रुतेः। मध्ये विभ्राजमानो दीप्यमानो दिव्यानि धाम एषु लोकेषु लोकोत्तराणि धाम धामानि स्थानानि, स्वर्गं लोकमिति यावत्। उपप्रयाहि उपप्रयातु उपगच्छतु। अत्र पुरुषव्यत्ययः, मन्त्रस्य परोक्षकृतत्वात्। यद्वा—अयमग्निर्द्योततां कर्मण्यस्मिन् प्रकाशताम्। कीदृशोऽग्निः? वीरतमोऽतिशयेन शूरः। वयोधा आयुषो धाता स्थापयिता। सरिरस्य जलस्य मध्ये। अन्यत् पूर्ववत्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अयमग्निर्वीरतमो वयोधा इति। अयमग्निर्वीर्यवत्तमो वयोधा इत्येतत् सहस्रियो द्योततामप्रयुच्छन्निति सहस्रियो दीप्यतामप्रमत्त इत्येतद्विभ्राजमानः सरिरस्य मध्य इतीमे वै लोकाः सरिरं दीप्यमान एषु लोकेष्वित्येतदुप प्रयाहि दिव्यानि धामेत्युप प्रयाहि स्वर्गं लोकमित्येतत्' (श० ८।६।३।२१) इति।

अध्यात्मपक्षे—अयं प्रत्यक्षेणोपलभ्यमानोऽग्निः परमेश्वरो रामचन्द्रः। वीरतमः शूरतमः। वयोधा भक्तानामायुषोऽन्नस्य भोग्यस्य वा धाता। सहस्रियः अनन्तमूल्यार्हः। अथवा अनन्तेन योद्धसेनासमूहेन सम्मितः। सहस्रशब्दोऽनन्तवाची। द्योतताम्, भक्तहृदयेष्विति शेषः। अप्रयुच्छन् भक्तनामर्थे सदा सावधानः। सरिरस्य समुद्रस्य मध्ये लङ्कायां रक्षसां वधाय विभ्राजमानः। दिव्यानि धाम अथर्ववेदप्रसिद्ध-मयोध्याख्यं स्वर्गं गच्छतु।

दयानन्दस्तु—'योऽयं वीरतमो वयोधाः सहस्रियः सहस्रेण योद्धसमूहेन सम्मितः सरिरस्य अन्तरिक्षस्य मध्ये विभ्राजमानो विशेषेण विद्यान्यायाभ्यां देदीप्यमानोऽप्रयुच्छन् अप्रमाद्यन् अग्निरिव स भवान् सेनापतिर्द्योततां दीप्यताम्। दिव्यानि धाम धामानि त्वमुप प्रयाहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यमात्रे सेनापतौ प्रोक्तविशेषणानुपपत्तेः, वेदे मनुष्यस्तुतेर्निरर्थकत्वात् ॥ ५२ ॥

सम्प्रच्यवध्वमुप सम्प्रयाताग्ने पथो देवयानान् कृणुध्वम्।
पुनः कृण्वाना पितरा युवानाऽन्वाताᳪसीत त्वयि तन्तुमेतम् ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ—हे ऋषियो, तुम इस अग्नि के समीप आओ, समीप आकर शान्ति से बैठो। हे अग्निदेव, तुम देवयान मार्ग को सिद्ध करो। वाणी और मन से तरुण ऋषियों ने इस यज्ञ का तुम्हारी सहायता से क्रमपूर्वक विस्तार किया है ॥ ५३ ॥

ऋषीनाह मन्त्रद्रष्टा—हे ऋषयः, यूयमेतमग्निं सम्प्रच्यवध्वम् अग्निं प्रत्यागच्छत। आगत्य च उप-सम्प्रयात सम्यक श्रद्धाभक्त्यादिभिस्तं प्राप्नुत, वक्ष्यमाणश्रुतेः। अथाग्निमाह—हे अग्ने, देवयानान् पथः कृणुध्वं कुरु। वचनव्यत्ययः। देवा यायन्ते प्राप्यन्ते यैस्ते देवयानास्तान् देवलोकप्राप्तिहेतुभूतान् मार्गान् कुरु। हे अग्ने, यत ऋषय एतं तन्तुं यज्ञं त्वय्यन्वातांसीद अतानिषुः, अनुक्रमेण विस्तारितवन्तः। वचनव्यत्ययः। कीदृशा ऋषयः? पुनर्भूयः पितरा वाङ्मनसे युवानौ तरुणौ अयातयामौ अन्योन्यसङ्गतौ वा कृण्वानाः कुर्वाणाः। स्वादेः कृञः शानच्। विभक्तेराकारः। सङ्गते हि वाक् च मनश्च यज्ञं साधयतः, संयताभ्यां सङ्गताभ्यामेव च यज्ञसाधनतोपपत्तेः। यद्वा सम्प्रच्यवध्वं स्वकीयात् स्थानात् सम्यङ् निर्गच्छ। ततोऽस्मदीयं देवयजनमेत्य सम्प्रयात सम्यक प्राप्नुहि। ततो देवयानान् देवलोकप्राप्तिमार्गान् कृणुध्वं कुरु। पूजनार्थं बहुवचनम्। किं कुर्वन्? त्वयि पितरा मातापितरौ युवाना तरुणौ पुनर्भूयोभूयः कृण्वानाः कुर्वन् सोऽग्निस्तं तन्तुं यज्ञप्रवाहमन्वातांसीत्। ते वाङ्मनसे संयते कृत्वा जितेन्द्रियः सन् यज्ञमन्वातांसीद् अवतनोतु सम्पादयतु।

अत्र ब्राह्मणम्—'सम्प्रच्यवध्वमुपसम्प्रयातेति। अमूनेतदृषीनाह समेनं प्रच्यवध्वमुप चैनᳪ सम्प्रयातेत्यग्ने पथो देवयानान् कृणुध्वमिति यथैव यजुस्तथा बन्धुः पुनः कृण्वाना पितरा युवानेति वाक् च वै मनश्च पितरा युवाना वाक् च मनश्चैतावग्नी अन्वाताᳪसीत् त्वयि तन्तुमेतमिति योऽसावृषिभिस्तन्तुस्ततस्तमेतदाह' (श० ८।६।३।२२)। वाक् च मनश्च पितरा स्वोपकारेण जगतः पालयितारौ युवाना नित्यतरुणौ अन्वातां-सीत् ऋषिभिर्योऽसौ तन्तुस्ततस्तमेव तनुतामिति प्रार्थ्येते। वाङ्मनश्च एतावग्नी गार्हपत्याहवनीयौ, तत्पूर्वकत्वात्।

अध्यात्मपक्षे—हे ब्रह्मविदः, सम्प्रच्यवध्वं ब्रह्मात्मभावात् सम्यक् प्रच्यवध्वं प्रच्युता भवन्तु। कल्पितद्वैतबुद्धिभूत्वा भगवन्तं श्रीरामचन्द्रं श्रीकृष्णचन्द्रं वा सम्यग् उपसम्प्रयात श्रवणकीर्तनध्यानादिभि-

स्तत्सामीप्यं प्राप्नुध्वम्, 'द्वैतं मोहाय बोधात् प्राग् जाते बोधे मनीषया । भक्त्यर्थं भावितं द्वैतमद्वैतादतिसुन्दरम् ॥' इत्याचार्यैनरहर्युक्तेः । एष सिद्धान्तः श्रीमधुसूदनसरस्वतीपादैर्भक्तिरसायने वर्णितः, तद्भूमिकायां चास्माभिः सुभृशं सुस्थापितः । तत्रैव मनोहत्य आलोचनीयः । हे अग्ने भगवन् श्रीराम, देवयानान् पथो मार्गान् कृणुध्वं कुरुत । एते भक्ताः पितरौ वाक् च मनश्च युवानौ अन्योन्यसङ्गतौ कृण्वानाः कुर्वाणा एतं त्वयि ततं तन्तुं ध्यानात्मकं यज्ञमन्वातांसीद् अन्वातंशिषुः । वचनव्यत्ययः । अनुक्रमेण विस्तारितवन्तः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं विद्या उपसम्प्रयात । देवयानान् पथः सम्प्रच्यवध्वं सम्यग् गच्छत । धर्मं कृणुध्वम् । हे अग्ने, त्वयि पितामहे विद्यमाने सति पितरा कृण्वाना युवाना भूत्वा स्वयंवरं विवाहं कृत्वा पुनरेतं तन्तुमन्वातांसीत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रकरणप्राप्तमग्निं विहाय विद्यानां कर्मत्वापादाने प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गात्, धर्मशब्दमनध्याहृत्यापि देवयानानिति पदस्य कर्मत्वेनान्वयसम्भवात् । अग्नेः पितुः पितृत्वानिर्णयेन पितामहत्वानिर्णयोऽपि तदवस्थः । न च पित्रोर्विवाहमन्तरा पुत्रोत्पत्तिरिति कथमनुत्पन्नः पुत्रः पित्रोर्विवाहं पितामहाय वर्णयेत् ॥ ५३ ॥

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳसृजेथामयं च ।
अस्मिन् सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, तुम सावधान रहो । श्रौत और स्मार्त कर्म में यजमान से सम्पर्क करो । तुम्हारे प्रसाद से इष्टापूर्त कर्म से निष्पाप हुआ यह यजमान भी देवताओं के साथ रहने योग्य बन कर सबसे उत्कृष्ट स्वर्ग लोक में चिरकाल तक निवास करे ॥ ५४ ॥

हे अग्ने, त्वमुद्बुद्धयस्व प्रतिबुद्धो भव, अस्मद्विषये सावधानो भवेत्यर्थः । प्रतिजागृहि यजमानहिते जागरूको भवेत्यर्थः । यद्वा एनं यजमानं प्रतिजागृहि प्रतिदिनं जागरूकं सावधानं कुरु । तत इष्टापूर्ते इष्टं च पूर्तं च इष्टापूर्ते, 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (पा० सू० ६।३।१०९) इति साधु । इष्टं च आपूर्तं चेति रामायणतिलके (१।२१।८) नागेशः । संसृजेथां त्वत्प्रसादाद् यजमानेन श्रौतस्मार्ते कर्मणी संसृष्टे भवेताम्, अर्थादयं यजमान इष्टापूर्ताभ्यां संसृष्टो भवतु । ततः संसृष्टेष्टापूर्तो विगतकल्मषः सन् अस्मिन् सधस्थे देवैः सहस्थाने, अध्युत्तरस्मिन् सर्वोत्कृष्टे आदित्यलोके विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत । अनेन यजमानस्य विश्वैर्देवैः सालोक्यं प्रार्थ्यते । यद्वा अयं च त्वं च मिलित्वा इष्टापूर्ते श्रौतस्मार्तकर्मणी संसृजेथाम् । यद्वा हे विश्वेदेवाः, यूयं कृतेष्टापूर्तो निष्पापो यजमानश्च सधस्थे देवैः सह स्थितियोग्येऽस्मिन्नुत्तरस्मिन् सर्वोत्कृष्टे सूर्यलोके, अधि अधिकं चिरं सीदत तिष्ठतेत्यर्थः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिति । इममेतदग्निमाहोच्चैनं बुध्यस्व प्रति चैनं जागृहीतीष्टापूर्ते सꣳसृजेथामयं चेति यथैव यजुस्तथा बन्धुरस्मिन् सधस्थेऽध्युत्तरस्मिन्निति द्यौर्वा उत्तरꣳ सधस्थं विश्वे देवा यजमानश्च सीदतेति तद्विश्वैर्देवैः सह यजमानꣳ सादयति' (श० ८।६।३।२३) ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने प्रभो श्रीराम, त्वमस्मद्रक्षायामुद्बुद्धो भव, साधकं प्रति च जागृहि जागरूकं कुरु । अयं साधकस्त्वं चेष्टापूर्ते इष्टं हुतप्रहुतादिकं पूर्तं वापीकूपतडागादिनिर्माणकार्यं सम्पादयतम् । साधकः फलप्राप्त्यर्थम्, ईश्वरस्तु लोकसंग्रहार्थमिष्टापूर्ते सम्पादयतः । तेनास्मिन्नुत्तरस्मिन् सधस्थे देवानां सहस्थाने साकेते विश्वे देवाः सर्वे देवाः युवां च सर्वे यूयं सीदत । मर्यादापुरुषोत्तमो भगवान् स्वयं कर्माणि करोति मर्त्यशिक्षणार्थम्, 'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः' (भा० पु० ५।१९।५)

इति श्रीमद्भागवतमहापुराणवचनात्। अधिकारिसाधकांश्च भगवान् कर्माणि कारयति। तेन साधकैर्देवैश्च सहितः साकेते सर्वेभ्यः सालोक्यं ददाति ॥ ५४ ॥

येन॒ वह॑सि स॒हस्रं॒ येना॑ग्ने सर्ववेद॒सम्। तेने॒मं य॒ज्ञं नो॑ नय॒ स्व॑र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, तुम अपनी जिस सामर्थ्य से सहस्र दक्षिणा वाले यज्ञ को प्राप्त कराते हो, जिस सामर्थ्य से सर्वस्व दक्षिणा वाले यज्ञ को प्राप्त कराते हो, उसी सामर्थ्य से हमारे इस छोटे से यज्ञ को भी देवताओं के पास स्वर्ग में ले जाओ। यज्ञ के स्वर्ग में जाने से हमारा भी वहाँ जाने का रास्ता खुल जायगा ॥ ५५ ॥

हे अग्ने, येन हेतुना व्यापारेण सामर्थ्येन वा सहस्रं सहस्रदक्षिणाकं यज्ञं त्वं वहसि प्रापयसि, येन च सर्ववेदसं सर्वं वेदो धनं दक्षिणा यस्य तं सर्वस्वदक्षिणाकं यज्ञं वहसि, तेन सामर्थ्येन नोऽस्माकमिमं यज्ञं देवेषु गन्तवे देवान् प्रति गन्तुं स्वः स्वर्गं नय प्रापय। गमेस्तमर्थे तवेप्रत्ययः। यज्ञे स्वर्गं गतेऽस्माकमपि तत्र गमनं स्यात्, 'सोऽस्यैष यज्ञो देवलोकमेवाभिप्रैति तदनूची दक्षिणा यां ददाति सैति दक्षिणामन्वारभ्य यजमानः' (श० १।९।३।१) इति श्रुतेः।

अत्र ब्राह्मणम्—'येन वहसि सहस्रम्। येनाग्ने सर्ववेदसमित्येतद्वास्य प्रतिज्ञाततमं धाम येन सहस्रं वहति येन सर्ववेदसं तेनेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तव इति तेन न इमं यज्ञं नय स्वर्गं लोकं देवेषु गन्तव इत्येतदयं ते योनिर्ऋत्विय इति तस्योक्तो बन्धुरष्टाविंशिका उपदधाति तस्यो एवोक्तः' (श० ८।६।३।२४)।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, येन प्रभावेण। शेषं पूर्ववत्। अग्नेरप्यन्तर्यामिप्रेरितस्यैव तत्तत्कार्यकरणत्वमिति तत्कार्यमपि पारमेश्वरमेव कर्मेति मन्तव्यम्।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, त्वं तेनेह स्वर्गन्तवे येन सहस्रं वहसि, येन सर्ववेदसं वहसि, तेनेमं यज्ञं नोऽस्मांश्च नय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्ववेदसं सर्ववेदैस्वतं कर्मेति व्याख्यानस्य निर्मूलत्वात्, सर्ववेदसाभिधाने यज्ञविशेषेऽस्य शब्दस्य प्रसिद्धेश्च। स्वः सुखमित्यपि न सङ्गतम्, ब्राह्मणे स्वरिति पदस्य स्वर्गं लोकमिति व्याख्यानात् ॥ ५५ ॥

अ॒यं ते॒ योनि॑र्ऋ॒त्वियो॒ यतो॑ जा॒तो अरो॑चथाः।
तं जा॒नन्न॑ग्न॒ आरो॒हाथा॑ नो वर्धया र॒यिम् ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, यह तुम्हारा सायंकाल और प्रातःकाल सम्बन्धी उत्पत्ति का स्थान है। यहाँ से प्रकट होकर तुम कर्मकाल में प्रज्वलित होते हो, गार्हपत्य अग्नि को जानते, अर्थात् उसे अपना अंश मानते हुए तुम उसमें प्रविष्ट हो जाओ और हमारे निमित्त यज्ञ के साधनभूत धन को चारों तरफ से बढ़ाओ ॥ ५६ ॥

उभयत्र (३।१४, १२।५२) पठितेयं कण्डिका। अत्र पुनः पठिता। तृतीये व्याख्यातपूर्वेषा ॥ ५६ ॥

तप॑श्च तप॒स्य॑श्च शैशि॒रावृ॒तू अ॒ग्नेर॑न्तःश्ले॒षो॑ऽसि॒ कल्पे॑तां॒ द्यावा॑पृथि॒वी कल्प॑न्ता॒माप॒ ओष॑धयः॒ कल्प॑न्ताम॒ग्नयः॒ पृथ॒ङ्मम॒ ज्यैष्ठ्या॑य॒ सव्र॑ताः। ये अ॒ग्नयः॒ सम॑नसोऽन्त॒रा द्यावा॑पृथि॒वी इ॒मे। शैशि॒रावृ॒तू अ॒भि॒कल्प॑माना॒ इन्द्र॑मिव दे॒वा अ॒भि॒सं॒वि॑शन्तु॒ तया॑ दे॒वत॑याङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वे सी॑दतम् ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ—माघ और फाल्गुन मास शिशिर ऋतु के अवयव हैं, हे ऋतुरूप दोनों इष्टकाओं, तुम चीयमान अग्नि के अन्तर में स्थिरता और दृढ़ता के लिये लगाई गई हो, मुझ यजमान के उत्कर्ष के निमित्त यह द्युलोक और भूलोक मेरे योग्य उपकार की कल्पना करें, जल और औषधि हमारा वर्चस्व स्थापित करें। समान व्रत और अनेक नाम वाली अग्नि स्वयमातृण्णा आदि इष्टकाओं में उत्कर्ष का आधान करें। यह द्यावापृथिवी के मध्य में वर्तमान एक मन वाली अग्नियाँ शिशिर ऋतु सम्बन्धी कार्य का उसी प्रकार सम्पादन करें, जैसे देवता इन्द्र को परिचर्या कर उसको प्रसन्न करते हैं। हे इष्टके, उस प्रसिद्ध अंगिरा ऋषि के समान स्थिर होकर तुम यहाँ रहो॥ ५७॥

एवं पुनश्चित्युपस्थानमुक्त्वा पञ्चमचितिशेषभूतेष्टकोपधाने मन्त्रा उच्यन्ते—तपश्चेति। 'ऋतव्ये तपश्च तपस्यश्चेति' (का० श्रौ० १७।१२।२३)। प्राग्लक्षणे अनूकमभित उदङ्मुख ऋतव्ये द्वे पद्येष्टके उपदध्यादिति सूत्रार्थः। ऋतुदेवत्यं यजुः। उत्कृतिश्छन्दः। तपो माघः, तपस्यः फाल्गुनः। शैशिरौ ऋतू शिशिरर्तोरवयवौ। शिष्टं त्रयोदशेऽध्याये (१३।२५) व्याख्यातम्॥ ५७॥

प॒र॒मे॒ष्ठी त्वा॑ सादयतु दि॒वस्पृ॒ष्ठे ज्योति॑ष्मतीम्। विश्व॑स्मै प्रा॒णाया॑पा॒नाय॑ व्या॒नाय॒ विश्वं॒ ज्योति॑र्यच्छ। सूर्य॑स्तेऽधि॑पतिस्त॒या॑ दे॒वत॑याऽङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वा सी॑द॥ ५८॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके, वायुरूप विश्वकर्मा ज्योतिष्मती स्वरूप तुमको द्युलोक के ऊपर स्थापित करें। सूर्य तुम्हारा स्वामी है॥ ५८॥

'विश्वज्योतिषं परमेष्ठी त्वेति' (का० श्रौ० १७।१२।२४)। यजमानकृतां प्राग्लक्षणां पद्यां विश्वज्योतिषं तृतीयोपहिताया विश्वज्योतिष उपरि उपदध्यादिति सूत्रार्थः। सूर्यदेवत्यं यजुः। शक्वरीच्छन्दः। हे इष्टके, परमेष्ठी त्वां दिवः पृष्ठे उपरि सादयतु। सूर्यस्ते तवाधिपतिः पालकः। अन्यत् चतुर्दशेऽध्याये (१४।१४) व्याख्यातम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'परमेष्ठी त्वा सादयत्विति। परमेष्ठी ह्येतां पञ्चमीं चितिमपश्यद्दिवस्पृष्ठे ज्योतिष्मतीमिति दिवो ह्यसौ पृष्ठे ज्योतिष्मानादित्यः' (श० ८।७।२।२१)॥ ५८॥

लो॒क॒म्पृ॒ण छि॒द्रं पृ॑णाथो॑ सीद ध्रु॒वा त्वम्।
इ॒न्द्रा॒ग्नी त्वा॒ बृह॒स्पति॑र॒स्मिन् योना॑वसीषदन्॥ ५९॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके, तुम गार्हपत्य चयन स्थान में पूर्व इष्टकाओं से अनाक्रान्त होकर इस स्थान को पूर्ण करो और दृढ़तापूर्वक यहाँ स्थित हो जाओ। इन्द्र, अग्नि और बृहस्पति देवता ने इस स्थान पर तुमको स्थापित किया है॥ ५९॥

'दक्षिणाꣳसात् प्रत्यगरत्निमात्रादधि लोकम्पृणाः पूर्ववत्' (का० श्रौ० १७।१२।२५)। आत्मनो दक्षिणादाग्नेयकोणादपरस्यां दिश्यरत्निमात्रादधिपद्या लोकद्वयं परित्यज्य तृतीयलोकादारभ्य प्रथम-चितिवल्लोकम्पृणा पदध्यादिति सूत्रार्थः। इमां कण्डिकामारभ्य तिस्रोऽपि कण्डिका द्वादशेऽध्याये (१२।५४-५६) व्याख्याताः॥ ५९॥

ता अस्य सूददोहसः सोमꣳ श्रीणन्ति पृश्नयः ।
जन्मन् देवानां विशस्त्रिष्वारोचने दिवः ॥ ६० ॥

इन्द्रं विश्वा अवीवृधन् समुद्रव्यचसं गिरः ।
रथीतमꣳ रथीनां वाजानाꣳ सत्पतिं पतिम् ॥ ६१ ॥

प्रोथदश्वो न यवसेऽविष्यन् यदा महः संवरणाद् व्यस्थात् ।
आदस्य वातो अनुवाति शोचिरध स्म ते व्रजनं कृष्णमस्ति ॥ ६२ ॥

मन्त्रार्थ—द्युलोक सम्बन्धी अनेक प्रकार के जल और अन्न से संयुक्त वे प्रसिद्ध जलदेवता संवत्सर के तीन सवनों के मध्य में इस यज्ञ सम्बन्धी सोम को सम्यक् प्रकार से परिपक्व करते हैं ॥ ६० ॥

मन्त्रार्थ—सम्पूर्ण ऋक्, यजुः और सामवेद रूपी स्तुतियाँ समुद्र के समान व्यापक, सब रथियों के मध्य में अत्यन्त पराक्रमी, अन्न के पति, निज धर्म में रहने वालों के पालक इन्द्र के बल को बढ़ाती हैं ॥ ६१ ॥

मन्त्रार्थ—जिस समय बड़े अरणि काष्ठ से अग्नि प्रकाशित होती है, तब उसी प्रकार शब्द करती है, जैसे कि घोड़ा भोजन की इच्छा रहने पर घास के लिये हिनहिनाता है। अग्नि के प्रज्वलित होने के उपरान्त उसको बढ़ाने वाला वायु अग्नि की ज्वाला को देख कर वहन करता है। इसके उपरान्त हे अग्ने, उस समय तुम्हारा यह गमन कृष्ण वर्ण का होता है ॥ ६२ ॥

'प्रच्छाद्य पुरीषेण विकर्णी स्वयमातृण्णे शर्करे सꣳस्पृष्टे छिद्रे प्रोथदश्व इत्युत्तरां विकर्णीम्' (का० श्रौ० १७।१२।२६)। पञ्चमीं चितिं पुरीषेण पूर्ववत् प्रच्छाद्य शर्करामय्यौ परस्परसंलग्ने सच्छिद्रे विकर्णी स्वयमातृण्णासंज्ञके द्वे इष्टके दक्षिणोत्तरे उदङ्मुख उपदध्यात्, तयोर्मध्ये उत्तरदिश्यनूकरेखामध्ये प्रोथदश्व इति विकर्णीमिष्टकामुपदध्यादिति सूत्रार्थः। वशिष्ठदृष्टा आग्नेयी त्रिष्टुप्। अत्र मथ्यमानोऽग्निरुच्यते। यदा यस्मिन् काले महो महतः, विभक्तिव्यत्ययः, संवरणात् संव्रियतेऽग्निरस्मिन्निति संवरणमरणिकाष्ठम्, तस्मात्। व्यस्थाद् वितिष्ठते प्रकाशते तदा प्रोथत् प्रोथति शब्दायत इत्युव्वटाचार्यः। 'प्रोथति सूदति अश्व इवायमग्निः' इति भट्टभास्करः। अयमेव—'अप प्रोथ दुन्दुभे दुश्छुनान्' (वा० सं २९।५६) दुरववलिप्तान्, उपसर्गान्तरविकारः 'प्रोथृ पर्याप्तिगतौ' इत्याह। क्षरणे तु अपप्रोथनं हुङ्करणमिति। एवं प्रोथतेः शब्दसूदन हुङ्काराद्यर्थाः पुराणैः शिष्टैः प्रतिपादिताः। प्रोथतीत्यत्र 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इति तिप इकारलोपः। तत्रैव दृष्टान्तः—अश्वो न अश्व इव। यवसे घासे विषयभूते अविष्यन् यवसं भक्षयिष्यन् अश्वो यथा प्रोथति तद्वत्। अस्य वह्निज्वलनशब्दस्य आद् अनन्तरं वातो वायुरस्याग्नेरनुवात्यग्निमनुलक्ष्य प्रसरति, वाय्वग्न्योः परस्परं सख्यादिति भावः। कीदृशो वायुः? शोचिः शोचयति ज्वलयतीति शोचिः, अग्नेः सन्दीपमः। शोचिरिति निघण्टौ (१।१७।६) ज्वलन्नामसु पठितम्। यद्वा अस्याग्नेः शोचिर्ज्वालामनुलक्ष्य वातो वाति। अधेति निपातोऽथार्थः। अथ वातेनाग्नौ प्रज्वलिते सत्येतस्याग्नेर्व्रजनं व्रजत्यत्रेति गमनस्थानम्, कृष्णमस्ति श्यामं भवति। अविष्यन्निति 'अत्तिकर्मसु' (निघ० २।८।६) पठितम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ विकर्णीं च स्वयमातृण्णां चोपदधाति । वायुर्वै विकर्णी द्यौरुत्तमा स्वयमातृण्णा वायुं च तद्दिवं चोपदधात्युत्तमे उपदधात्युत्तमे हि वायुश्च द्यौश्च सꣳस्पृष्टे सꣳस्पृष्टे हि वायुश्च द्यौश्च पूर्वां विकर्णीमुपदधात्यर्वाचीनं तद्दिवो वायुं दधाति तस्मादेषोऽर्वाचीनमेव वातः पवते' (श० ८।७।३।९) । विष्णोः स्थानाकाराश्छिद्राः शर्कराः, स्वयमातृण्णाः स्वयंछिद्राः शर्कराः, तयोः पुरीषस्योपधानं त्रयोदशभिः कण्डिकाभिः प्रपञ्च्यते । 'यद्वेव विकर्णीं च स्वयमातृण्णां चोपदधाति । आयुर्वै विकर्णी प्राणः स्वयमातृण्णाऽऽयुश्च तत्प्राणं चोपदधात्युत्तमे उपदधात्युत्तमे ह्यायुश्च प्राणश्च सꣳस्पृष्टे सꣳस्पृष्टे ह्यायुश्च प्राणश्च पूर्वामुत्तरां विकर्णीमुपदधात्यायुषा तत्प्राणमुभयतः परिगृह्णाति' (श० ८।७।३।११) । 'प्रोथदश्वो न यवसे । अविष्यन् यदा महः संवरणाद् व्यस्थाद् आदस्य वातो अनुवाति शोचिरध स्म ते व्रजनं कृष्णमस्तीति यदा वा एतस्य वातोऽनुवाति शोचिरथैतस्य व्रजनं कृष्णं भवति' (श० ८।७।३।१२) । प्रसन्ने कण्डिके ।

अध्यात्मपक्षे—अयमग्निः परमेश्वरः प्रोथत् प्रोथति निःश्वासेन वेदं प्रकटयन् शब्दायते । कथमिव ? यथा अश्वो यवसे निमित्तेऽविष्यन् ग्रसिष्यन् शब्दायते तद्वत् । यदा महतः संवरणान्महतो मायामयादावरणाद् व्यस्थाद् व्युत्तिष्ठते, आवरणमपसार्याभिव्यज्यते श्रीरामश्रीकृष्णादिरूपेण, आद् अथ अनन्तरमेव वातो वायुजो हनुमान्, 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० सं० ९।४६।४) इतिवदत्र कार्ये कारणशब्दप्रयोगः, तमनुलक्ष्य वाति तमनुगच्छति । कीदृशो वातः ? शोचिः सन्दीपनः, तन्महिम्नः प्रख्यापकः । अथ ते तस्याग्नेर्व्रजनं प्राप्तिः कृष्णं सदानन्दमभिभवति । 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥' इति हि ब्रह्मवैवर्तपुराणवचनम् ।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, भवान् यवसेऽश्वो न प्रजाः प्रोथत् पर्याप्नुयात्, यदा महतः संवरणादाच्छादनादविष्यन् व्यवस्थाद् वितिष्ठेत्, आद् अस्य ते तव व्रजनं कृष्णं शोचिरस्ति, अथ स्मास्य तव वातोऽनुवाति' इति, तदपि न, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात् । प्रजापदाध्याहारोऽपि निर्मूल एव । वातपदं भृत्यपरमित्यपि चिन्तनीयम् । व्रजनं कृष्णं शोचिरप्यप्रसिद्धमेव । तस्मात् सिद्धान्तविरुद्धमेतदुपेक्षणीयमेव ॥ ६०–६२ ॥

आयोष्ट्वा सदने सादयाम्यवतश्छायायाꣳ समुद्रस्य हृदये ।
रश्मीवतीं भास्वतीमा या द्यां भास्या पृथिवीमोर्वन्तरिक्षम् ॥ ६३ ॥

मन्त्रार्थ—हे स्वयमातृण्णे, जगत् का पालन करने वाले, वर्षा से जगत् को आर्द्र करने वाले, आयु नाम से प्रसिद्ध आदित्य देवता के आश्रय रूप प्रधान हृदय स्थान में बहुत किरणों से प्रकाशमान तुमको स्थापित करता हूँ। तुम द्युलोक को प्रकाशित करती हो, भूलोक को प्रकाशित करती हो और विस्तीर्ण अन्तरिक्ष लोक को भी प्रकाशित करती हो ॥ ६३ ॥

'आयोष्ट्वेति स्वयमातृण्णाम्' (का० श्रौ० १७।१२।२६ । आयोरिति कण्डिकाद्वयेन विकर्णीदक्षिणां स्वयमातृण्णामुपदध्यादिति सूत्रार्थः । आयोः परमेष्ठीति द्वे यजुषी स्वयमातृण्णादेवत्ये । आद्यं ब्राह्मी उष्णिक्, द्वितीयम् आकृतिः । हे स्वयमातृण्णे, या त्वं द्यां द्युलोकं पृथिवीं भूलोकम्, उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षमन्तरिक्षलोकम्, आभासि आभासयसि प्रकाशयसि, तां त्वाम्, आयोर् एति निरन्तरं गच्छतीत्यायुरादित्यः, तस्य । अयनस्य वा । कीदृशस्य आयोः ? अवतः अवनस्य जगत्पालयितुः, दीप्यमानस्य वा । सदने अवस्थाने सादयामि । पुनः कीदृशस्य ? समुद्रस्य । सम्यग् उनत्ति आर्द्रीकरोतीति समुद्रस्तस्य । आदित्यो हि वृष्ट्या जगदार्द्रीकुर्वन् समुद्र

उच्यते। 'उन्दी क्लेदने'। कथंभूते सदने? छायायां आश्रये हृदये प्रधानदेशे। कीदृशीं त्वाम्? रश्मीवतीं किरणवतीम्। रश्मिपदस्य संहितायां दीर्घः। पुनः कीदृशीम्? भास्वतीं बहु शोभमानाम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ स्वयमातृण्णामुपदधाति। आयोष्ट्वा सदने सादयामीत्येष वा आयुस्तस्यैतत्सदनमवत इत्येष हीदꣳ सर्वमवति छायायामित्येतस्य हीदꣳ सर्वं छायायाꣳ समुद्रस्य हृदय इति समुद्रस्य ह्येतद् हृदयꣳ रश्मीवतीं भास्वतीमिति रश्मीवती हि द्यौर्भास्वत्या या द्यां भास्या पृथिवीमोर्वन्तरिक्षमित्येवꣳ ह्येष इमाँल्लोकानाभाति' (श० ८।७।३।१३)। अनेन ब्राह्मणेन आदित्य एवायुरिति स्पष्टमुक्तम्।

अध्यात्मपक्षे—हे प्रज्ञे, आयोर् एति निरन्तरं गच्छतीत्यायुर् आदित्यः, तस्य। आदित्यवत् स्वप्रकाशस्य परमात्मनोऽवतः सर्वपालकस्य समुद्रस्य समुद्रवदगाधस्य गम्भीरस्य हृदये प्रधानभूते छायायामाश्रये त्वां सादयामि स्थापयामि। कीदृशीं त्वाम्? रश्मीवतीं विविधवृत्तिरश्मियुक्ताम्, भास्वतीं दीप्तिमतीम्। त्वं कीदृशी? तत्राह—या त्वं द्यां पृथिवीम् उरु विस्तीर्णम् अन्तरिक्षम् आभासि प्रकाशयसि, तादृशीं त्वां सादयामीति।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि, या त्वं पृथिवीमन्तरिक्षम् उरु आभासि, तां रश्मीवतीं प्रशस्तविद्याप्रकाशयुक्ताम्, भास्वतीं त्वामायोः सदनेऽवतश्छायायां समुद्रस्य हृदयेऽहमासादयामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्त्रियः साधारण्या द्युपृथिव्यादिप्रकाशकत्वानुपपत्तेः। आयोरित्यस्य न्यायानुसारिण इत्यर्थोऽपि निर्मूलः, गत्यर्थस्य धातोरननुसारित्वात्॥ ६३॥

प॒र॒मे॒ष्ठी त्वा॑ सादयतु दि॒वस्पृ॒ष्ठे व्यच॑स्वतीं प्र॒थ॑स्वतीं दिवं॑ यच्छ दिवं॑ दृꣳह दिवं॒ मा हिꣳसीः। विश्व॑स्मै प्रा॒णाया॑पा॒नाय॑ व्या॒नायो॑दा॒नाय॑ प्रति॒ष्ठायै॑ च॒रित्रा॑य। सूर्य॑स्त्वा॒भिपा॑तु म॒ह्या स्व॒स्त्या छ॒र्दिषा॒ शन्त॑मेन॒ तया॑ दे॒वत॑याऽङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वे सी॑दतम्॥ ६४॥

मन्त्रार्थ—हे स्वयमातृण्णे, परमेष्ठी नामक प्रजापति तुम्हें अतिविस्तार युक्त द्युलोक में स्थापित करें। तुम यजमान को स्वर्ग में ले जाओ और स्थिर रूप से वहाँ बैठा दो, जिससे कि वह वहाँ से च्युत न हो। सम्पूर्ण प्राणियों के प्राण, अपान, व्यान, उदान की वृत्तियों के लाभ के लिये, अर्थात् वायुबल की दृढ़ता के लिये, स्वगृह की प्रतिष्ठा और शास्त्रानुसार आचरण करने के निमित्त द्युलोक को दृढ़ करो। सूर्य देवता योगक्षेम की सम्पत्ति से, शुभकारी विशेष तेज से तुम्हारी रक्षा करें। तुम्हारे जो अधिष्ठाता देवता हैं, उन देवताओं से अनुगृहीत हुई तुम अंगिरा ऋषि के समान निश्चल दृढ़ बनो॥ ६४॥

इयं कण्डिका चतुर्दशेऽध्याये (१४।१२) व्याख्याता। अंशतोऽत्रापि (१५।५८) स्थले। अत्र ब्राह्मणम्—'परमेष्ठी त्वा सादयत्विति। परमेष्ठी ह्येतां पञ्चमीं चितिमपश्यत्' (श० ८।७।३।१४)। 'यद्वेव परमेष्ठिनोपदधाति। प्रजापतिं विस्रस्तं देवता आदाय व्युदक्रामंस्तस्य परमेष्ठी शिर आदायोत्क्रम्यातिष्ठत्' (श० ८।७।३।१५)। 'तमब्रवीत्। उप मेहि प्रति म एतद्धेहि येन मे त्वमुदक्रमीरिति किं मे ततो भविष्यतीति त्वद्देवत्यमेव म एतदात्मनो भविष्यतीति तथेति तदस्मिन्नेतत् परमेष्ठी प्रत्यदधात्' (श० ८।७।३।१६)। 'तद्यैषोत्तमा स्वयमातृण्णा। एतदस्य तदात्मनस्तद्यदेतामत्रोपदधाति यदेवास्यैषात्मनस्तदस्मिन्नेतत् प्रतिदधाति तस्मादेतामत्रोपदधाति' (श० ८।७।३।१७)॥ ६४॥

सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमा स सहस्रस्योन्मासि साहस्रोऽसि सहस्राय त्वा ॥६५॥

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदवाजसनेयिमाध्यन्दिनसंहितायां पञ्चदशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेवता, तम सहस्र इष्टकाओं के प्रमाण के तुल्य हो, तम सहस्र इष्टकाओं की प्रतिनिधि हो, तम सहस्र इष्टकाओं की तुला हो, तुम सहस्र इष्टकाओं के उपयुक्त हो। अनन्त फल प्राप्ति के निमित्त मैं तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ ॥ ६५ ॥

'तिष्ठन्नग्निं प्रोक्षति हिरण्यशकलसहस्रेण शते द्वे द्वे प्रकिरति सहस्रस्येति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १७।१२।२६)। इष्टकाचितं सपक्षपुच्छमग्निं पश्चादुत्तरपूर्वदक्षिणपश्चिमेष्वेकस्मिन्नुदकपूर्णे पात्रे हिरण्यशकलानां सहस्रं प्रक्षिप्य तैः प्रोक्षेत्। तत्राग्नेः पश्चात् प्राङ्मुख उत्तरतो दक्षिणामुखः, पुरस्तात्प्रत्यङ्मुखः दक्षिणत उदङ्मुखः, पुनः पश्चात् प्राङ्मुखस्तिष्ठन्निति सूत्रार्थः। तत्र शकलसहस्रमध्ये द्वे द्वे शते सहस्रस्येत्येकैकेन मन्त्रेण प्रकिरेत्। पञ्च आग्नेयानि यजूंषि। हे अग्ने, त्वं सहस्रस्येष्टकानां प्रमा प्रमाणमसि। सहस्रस्य प्रतिमा प्रतिमानं प्रतिनिधिरसि। सहस्रस्य उन्मा उन्मानं तुलासि। साहस्रः सहस्रार्होऽसि। सहस्राय अनन्तफलाप्त्यै त्वा त्वां प्रोक्षामीति शेषः। हे चित्याग्ने, पूर्वभागावस्थितस्य इष्टकासहस्रस्य प्रमा तुल्योऽसि, तथा दक्षिणभागावस्थितस्य इष्टकासहस्रस्य प्रतिमा तुल्योऽसि, तथा पश्चिमदिग्भागावस्थितस्य इष्टकासहस्रस्य उन्मा तुल्योऽसि। उत्तरस्यां दिशि साहस्रः सहस्रसम्बन्ध्यसि। तथा ऊर्ध्वायां दिशि सहस्रसंख्याकफलसिद्धये त्वां प्रोक्षामि।

तत्र ब्राह्मणम्—अथैनꣳ हिरण्यशकलैः प्रोक्षति। अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतस्तस्मिन् देवा एतदमृतꣳ रूपमुत्तममदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतदमृतꣳ रूपमुत्तमं दधाति' (श० ८।७।४।७)। 'यद्वेवैनꣳ हिरण्यशकलैः प्रोक्षति·····' (श० ८।७।४।८)। 'द्वाभ्यां द्वाभ्याꣳ शताभ्याम्·····' (श० ८।७।४।९)। 'पश्चादग्रे प्राङ् तिष्ठन्। अथोत्तरतो दक्षिणाऽथ पुरस्तात् प्रत्यङ्ङथ जघनेन परीत्य दक्षिणत उदङ् तिष्ठंस्तद्दक्षिणावृत् तद्धि देवत्राऽथानुपरीत्य पश्चात् प्राङ्तिष्ठंस्तथो हास्यैतत् प्रागेव कर्म कृतं भवति' (श० ८।७।४।१०)। 'सहस्रस्य प्रमासि। सहस्रस्य प्रतिमासि सहस्रस्योन्माऽसि साहस्रोऽसि सहस्राय त्वेति सर्वं वै सहस्रꣳ सर्वमसि सर्वस्मै त्वेत्येतत्' (श० ८।७।४।११)। 'अथातश्चितिपुरीषाणामेव मीमाꣳसा। अयमेव लोकः प्रथमा चितिः पशवः पुरीषं यत्प्रथमां चितिं पुरीषेण प्रच्छादयतीमं तल्लोकं पशुभिः प्रच्छादयति' (श० ८।७।४।१२)। 'अन्तरिक्षमेव द्वितीया चितिः। वयाꣳसि पुरीषं यद् द्वितीयां चितिं पुरीषेण प्रच्छादयत्यन्तरिक्षं तद्वयोभिः प्रच्छादयति' (श० ८।७।४।१३)। 'द्यौरेव तृतीया चितिः। नक्षत्राणि पुरीषं यत् तृतीयां चितिं पुरीषेण प्रच्छादयति दिवं तन्नक्षत्रैः प्रच्छादयति' (श० ८।७।४।१४)। 'यज्ञ एव चतुर्थी चितिः। दक्षिणाः पुरीषं यच्चतुर्थीं चितिं पुरीषेण प्रच्छादयति यज्ञं तद्दक्षिणाभिः प्रच्छादयति' (श० ८।७।४।१५)। 'यजमान एव पञ्चमी चितिः। प्रजा पुरीषं यत्पञ्चमीं चितिं पुरीषेण प्रच्छादयति यजमानं तत्प्रजया प्रच्छादयति' (श० ८।७।४।१६)। 'स्वर्ग एव लोकः षष्ठी चितिः। देवाः पुरीषं यत् षष्ठीं चितिं पुरीषेण प्रच्छादयति स्वर्गं तल्लोकं देवैः प्रच्छादयति' (श० ८।७।४।१६)। 'अमृतमेव सप्तमी चितिः। तामुत्तमामुपदधात्यमृतं तदस्य सर्वस्योत्तमं दधाति तस्मादस्य सर्वस्यामृतमुत्तमं तस्माद्देवा अनन्तर्हितास्तस्मादु तेऽमृता इत्यधिदेवतम्' (श० ८।७।४।१७)।

'अथाध्यात्मम्। यैवेयं प्रतिष्ठा यश्चायमवाङ् प्राणस्तत्प्रथमा चितिर्माꣳसं पुरीषं यत्प्रथमां चितिं पुरीषेण प्रच्छादयत्येतदस्य तदात्मनो माꣳसैः संच्छादयतीष्टका उपधायास्थीष्टका अस्थि तन्माꣳसैः संच्छादयति

नाधस्तात् संच्छादयति तस्मादिमे प्राणा अधस्तादसंच्छन्ना उपरिष्टात् प्रच्छादयत्येतदस्य तदात्मन उपरिष्टान्मा७ँसैः संच्छादयति तस्मादस्यैतदात्मन उपरिष्टान्मा७ँसैः संच्छन्नं नावकाशते' (श० ८।७।४।१९)। 'यदूर्ध्वं प्रतिष्ठाया अवाचीनं मध्यात्। तद् द्वितीया चितिर्मा७ँसं पुरीषं यद् द्वितीयां चितिं पुरीषेण प्रच्छादयत्येतदस्य तदात्मनो मा७ँसैः संच्छादयतीष्टका उपधायास्थीष्टका अस्थि तन्मा७ँसैः संच्छादयति पुरीष उपदधाति पुरीषेण प्रच्छादयत्येतदस्य तदात्मन उभयतो मा७ँसैः संच्छादयति तस्मादस्यैतदात्मन उभयतो मा७ँसैः संच्छन्नं नावकाशते' (श० ८।७।४।२०)। 'मध्यमेव तृतीया चितिः। यदूर्ध्वं मध्यादवाचीनं ग्रीवाभ्यस्तच्चतुर्थी चितिर्ग्रीवा एव पञ्चमी चितिः शिर एव षष्ठी चितिः प्राणा एव सप्तमी चितिस्तामुत्तमामुपदधाति प्राणांस्तदस्य सर्वस्योत्तमान् दधाति तस्मादस्य सर्वस्य प्राणा उत्तमाः पुरीष उपदधाति मा७ँसं वै पुरीषं मा७ँसेन तत्प्राणान् प्रतिष्ठापयति नोपरिष्टात् प्रच्छादयति तस्मादिमे प्राणा उपरिष्टादसंच्छन्नाः' (श० ८।७।४।२१)। एतावता सन्दर्भेण श्रुतौ सप्तानां चितीनां क्रमाद् भूम्यन्तरिक्षद्युयज्ञयजमानस्वर्गामृतरूपत्वं प्रतिपाद्य तासां क्रमात् पशुवयोनक्षत्रदक्षिणाप्रजादेवामृतात्मना पुरीषेण प्रच्छादनमभिधाय तद्द्वाराधिदेवतरूपेण प्रशंसनम्। पुनस्तासामेव चितीनां सोपपत्तिकमध्यात्मरूपेण प्रशंसनं वर्णितम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वं सहस्रस्य अनन्तस्य सर्वस्य प्रमा प्रमाणमसि। सर्वस्य प्रतिमा प्रतिनिधिरसि। सर्वस्य उन्मा तुलासि। साहस्रः सर्वार्होऽसि। सर्वप्राप्त्यै त्वामहमाश्रये।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, विदुषि वा, यतस्त्वं सहस्रस्य प्रमेवासि, सहस्रस्य प्रतिमेवासि, सहस्रस्य उन्मेवासि, तस्मात् सहस्राय त्वां परमेष्ठी सत्ये व्यवहारे सादयतु' इति, तदप्यसङ्गतम्, मनुष्यस्य असंख्यजगत्प्रमाणत्वासम्भवात्, गौणार्थाश्रयणस्य निर्मूलत्वाच्च। गौणार्थोऽपि न मनुष्ये सङ्गच्छते, प्रमादितुल्यत्वानिरूपणात् ॥ ६५ ॥

इति वेदार्थपारिजातभाष्ये पञ्चदशोऽध्यायः ॥